





ॐ
 * श्रियै नमः *
 * श्रीमते रामानुजाय नमः *

श्री भाष्य भूमिका

यस्य प्रसाद कलयावधिरः शृणोति ।
 पंगुः प्रधावति जघेन च वक्ति मूकः ॥
 अन्धः प्रपश्यति सुतं लभते च धन्व्या ।
 तदेव मेघं चरदं शरणं गतोऽस्मि ॥१॥
 श्रीमाधवाङ्मि जलज द्वयं नित्यसेवा-
 प्रेमाभिलाशय पराकुशपादभक्तम् ।
 कामादि दोषहर मात्मपदा भित्तानां
 रामानुजं यत्तिप्रति प्रणमामि मूर्ध्ना ॥२॥

परम वैदिक श्री वैष्णव सम्प्रदाय निष्ठ महानुभावों को तथा
 अन्यान्य आस्तिक जनता को विदित हो है कि यह श्रीभाष्य नामक ग्रन्थ
 आदि शेषावतार भगवद् रामानुजाचार्य प्रणीत श्रीवेदव्यास निर्मित ब्रह्म
 सूत्रों का व्याख्यान है ।

चतुः सम्प्रदाय वैष्णवों में से इस परम वैदिक सम्प्रदाय की
 आशाचार्य महालक्ष्मी जी हैं । उन्हीं का नाम श्री है इस तात्पर्य से
 रामानुज स्वामी जी ने वेदान्त सूत्र के व्याख्यान का नाम श्रीभाष्य इस
 शब्द से प्रसिद्ध किया है अतः अन्याचार्यों के भाष्यों को श्रीभाष्य
 नहीं कह सकते हैं । श्रीरामानुजाचार्य प्रणीत होने से इसका नाम
 श्रीरामानुजभाष्य भी है । और सधारण नाम शारीरकमोक्षाभाष्य है ।

यह सम्प्रदाय कृत त्रेतादि युग में समस्त जगद् व्याप्त था
 अन्तु कलियुग में अचैदिक मत की क्रमशः वृद्धि होने से इसका ह्रास
 हो गया किन्तु भगवद् रामानुज से आदि शेष श्रीरामानुज रूप से अवतारों

हुये । और इस मत का अधिक रूप से प्रचार किये । अतः अनादि काल से प्रचलित श्री वैष्णवीय विशिष्टा द्वैत सिद्धान्त का नाम ही श्रीरामानुज सम्प्रदाय है । इस मत को अर्वाचीन कहने वाले मालूम होता है कि इस रहस्य को नहीं जानते हैं । और प्रायः जो विचार शील गुण प्राप्ति मनुष्य जब धर्मार्थ काम इस त्रिवर्ग से विरक्त होकर मोक्ष मार्ग में प्रवृत्त होता है तो वह पुरुष स॥स्त आचार्यों के ब्रह्म सूत्र गीता इत्यादि ग्रन्थों के भाष्यों को अच्छी तरह से पठनपाठन करके जब इस ग्रन्थ रत्न को देखता है तब इस सम्प्रदाय की उपासना भक्ति से और इन ग्रन्थों के विज्ञान से अपने को कृतार्थ मानता है यह बात लोकमान्य तिलक के गीता की भूमिका तथा अन्यान्य पाश्चात्य विज्ञानशाली विद्वानों के उल्लेख में विशेष पाई जाती है ।

और इस श्रीभाष्य की प्रशंसा में काशी के उत्तमोत्तम विद्वानों का इतिहास भी सुना जाता है कि एक समय बड़े २ धर्मज्ञ विद्वान रात्रि के समय गंगा जी के प्रवाह में नौका में बैठकर नृना शाखों की चर्चा करते हुये विश्व विख्यात श्रीशिवकुमार शास्त्री जी से कहा है कि महाराज ! आप सब शाखों के ज्ञाता हैं निष्पक्ष भाव से कहो कि ब्रह्मसूत्र का यथार्थार्थ किस भाष्य में है । तो उक्त शास्त्री जी ने हाथ उठा करके गंगा के प्रवाह में कहा कि ब्रह्मसूत्रों का यथार्थ व्याख्यान तो श्रीरामानुज भाष्य ही है ।

और श्री रामानुज स्वामी जी ब्रह्मसूत्रों का भाष्य निर्मित करके पश्चात् शारदामठ में (काश्मीर) गये । रामानुजचार्य का आगमन सुन करके स्वरस्वती स्वयं मूर्तिमती होकर अपने मन्दिर से आकर यतिराज रामानुज मुनि को देखकर (तस्य यथा कप्यास पुंडरीक मेव मक्षिणी) इस श्रुति का तात्पर्यार्थ पूछा तब रामानुज स्वामी ने श्रुतिका यथार्थ वर्णन किया इस विषय में श्लोक पाये जाते हैं:—

वाग्देवी स्वयमेवाशु श्रुत्याचार्यस्य पावनम्
तन्मन्दरा द्विनिर्गत्य विलोक्य यतिभूपतिम् ॥

कप्यास श्रुति तात्पर्यं वदेति व्याजहार सा ।
 तामुवाच ततो विद्वान्शारदायतिपुङ्गवः ॥
 कंजलं पिवतीत्यस्मात्कपि रित्युच्यते रविः
 तेन संस्फुरितं पद्मं कप्यास मिति गीयते ॥
 तत्तुल्ये लोचने विष्णो रित्यर्थोऽस्याः श्रुत्तेर्मतः ।
 तच्छ्रुत्वा शारदादृष्ट्वा श्रीभाष्यं तत्कृतं महत् ।
 शिरस्पारोप्य संभाव्य ततो बाहू प्रसार्य च ॥
 यतीन्द्र पाणिं संगृह्य नम्रचित्तं मिदं निजम् ।
 इत्यंगी कृत्य वाग्देवी श्रुत्यर्थं तेनभाषितम् ॥
 तस्या करोद्भाष्यकार इतिनामत्तदा मुदा
 हयग्रीवं कारयित्वा तस्मैदत्त्वा महोजसे ॥
 भाष्यकारोऽपि वाग्देवीं विस्मितो वाक्यमब्रवीत् ।
 त्वं मह्यं शारदे कर्तुं दयां को हेतुरुच्यताम् ॥
 तेनैवमुक्ता वाग्देवी भाष्यकारं वचोऽब्रवीत् ।
 पुराऽत्र शंकराचार्यः प्राप्तः पृष्ठोमयादितः ॥
 कप्यास श्रुतितात्पर्यमेवमव्यक्तोऽभर ।
 मर्कटासन संकाश मिति दास्यकरं वचः ।
 स्वाभाविकतयार्थस्य त्वयोक्तस्याधुना श्रुतेः ॥

कं नाम जल को पीने वाला सूर्य का नाम कपि है उस सूर्य की
 किरण से विकसित हुए कमल का नाम कप्यास है उस कमल के
 तुल्य भगवान् विष्णु के नेत्र हैं । यही इस मन्त्र का अर्थ है ।
 ऐसा तात्पर्यार्थ श्रवण करके शारदा अत्यन्त प्रसन्न हुई और
 श्रीरामानुजाचार्य कृत सकल शास्त्रों के महा सार गर्भित श्रीभाष्य को
 अपने मस्तक में आरोप करके और बाहु से रामानुज स्वामी का
 हस्त ग्रहण कर कहा आपने इस ग्रन्थ में कुछ भी प्रक्षिप्त
 नहीं मिलाया और यथार्थ रूप से श्रुत्यर्थ प्रकाशित किया,
 ऐसा अङ्गीकार करके श्रीभाष्यकार यह अचल नाम प्रसिद्ध

किया, और प्रसन्न होकर सकल विद्याप्रद हयग्रीव भगवान् की मूर्ति दीया। इसलिये अथावधि भाष्यकार के शिष्य प्रशिष्य हयग्रीव का आराधन करते आते हैं। भगवान् भाष्यकार विस्मित होकर कहे—हे शारदे ! आपका मेरे ऊपर दया करने का क्या कारण है ? तब शारदा प्रसन्न होकर बोली—“पहिले श्रीशङ्कराचार्य भी यहाँ आये थे, उनसे भी कल्यास भुति वाक्य तात्पर्य पूछा था, तो श्रीशङ्कराचार्य ने (मर्कटासन के सहस्र) बन्दर के पश्चात् भाग के तुल्य भगवन्नेत्र हैं। ऐसा हँसी का वचन कहा और यही अर्थ छान्दोग्योपनिषद् के प्रथमाध्याय के पष्ठ खण्ड सप्तम मन्त्रमें उनके भाष्यमें मिलता है। इस प्रकार स्थाली पुलाक न्याय से निष्पन्नपाती पुरुष अद्वैतमत की व्याख्या तथा अन्य मतों की व्याख्या को स्वयं समझ सकता है।

अतः श्रीरामानुजाचार्य ने ही इस प्रकार से सकल वेद-शास्त्रों के मर्मस्पर्शी भाष्योंको भली भाँति प्रकाशित किया है, जो अन्य लोगों ने खोंच खोंच करके भुति-स्मृति विरुद्ध अर्थ किया, इसलिये शङ्कराचार्य ने सरस्वती से क्षमा भी माँगी।

साकारं भुतिमुल्लंघ्य निराकार प्रवादतः।

यदधं मे कृतं देवि तदोपं क्षन्तुमर्हसि ॥

(ब्रह्माखण्ड गिरिकुत शङ्करविलासक विसमय निरूपण से)

इत्यादि प्रकार भुति स्मृति सूत्रों का जो अन्तर ज्वर था, उसको रामानुजाचार्य ने शमन किया। अतः सरस्वती ने साक्षान् आदि शेषावतार रामानुजाचार्य को नमस्कार किया। ऐसा सरस्वती और रामानुजाचार्य का सम्वाद पाया जाता है—

तस्मै रामानुजाचार्याय नमः परम योगिने।

यः भुति स्मृति सूत्राणां मन्तर्ज्वरं मशीशमन् ॥

इत्यादि इतिहासों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि ब्रह्मसूत्रों का अर्थ जिसको निष्पक्ष भाव से पढ़ना हो या देखना हो, उस व्यक्ति को रामानुजाचार्य कृत सात ग्रन्थों को अवश्य अध्ययन करना चाहिये।

[१] श्रीभाष्य, [२] गीता-भाष्य, [३] वेदार्थ-संग्रह, [४] वेदान्त-दीप, [५] वेदान्तसार, [६] गद्यत्रय, [७] भगवद्गाराधन ग्रन्थ, इति संचित भूमिका ।

श्रीरामानुजाचार्य के अवतार का वीज—

अस्ति वैकुण्ठ नगरं सर्व लोकेषु विश्रुतम् ।

नित्य मुक्तैः सेव्यमानं विष्णोः प्रीति करं शुभम् ॥

तत्र मध्ये मणिमयं मंडपं चास्ति शोभनम् ।

सहस्रस्तम्भ संयुतं विष्णोः प्रीति करं शुभम् ॥

तन्मध्ये सुमहाबाहुः फणि राजो महाबलः ।

सहस्र फण संयुक्तस्तत्रास्ते विमल श्रुतिः ॥

तस्योपरि महाबाहुः शङ्ख चक्र गदाधरः ।

इन्दीवरदल श्यामः पद्मपत्र निभेक्षणः ॥

एवं सर्वात्मनस्तस्य श्रीनिवासस्यशार्ङ्गिणः ।

श्रीहरेरुदभूत्काचिच्चिन्ता निर्हेतुका तदा ॥

केनोपायेन वैकुण्ठ मिमाञ्जन्तून्नयाम्यहम् ।

इति चिंतयमानेतु लोकनाथे हरौ तदा ।

शयामभूतः फणीशोपस्तमाह पुरुषोत्तमम् ।

काचिन्ता तव देवेश परिपूर्णस्य नित्यशः ॥

विष्णुरुवाच

भोगीश सुमहा वीर्य शृणुतद्वचनं मम ।

यदर्थं चिन्तयाम्यद्य संदश्य दुःखितान् जनान् ॥

श्रियासहायतीर्णोऽस्मि जनरक्षण हेतुना ।

अवतारेषु मां सर्वे मन्यन्ते प्राकृता जनाः ॥

राजानं चाऽपिऽगोपालं प्राकृतं पुरुषं यथा ।

तदर्थं चिन्तयाम्यद्य फणिराज महामते ॥

भोगिराज महाप्राज्ञ समर्थो जनरक्षणे ।

अवतीर्यभवान्भूमौ जनान् रक्षितुर्मदति ॥

श्रीशेषउवाच

तवाशक्यं महाबाहो कार्यं लोकेषु सर्वदा ।
 नास्तिविष्णो विशालाक्ष जन्तुरक्षणे तत्पर ॥
 तथापि कृपया विष्णो मां नियोक्ष्यसिरक्षणे ।
 त्वहासभूतेन मया कर्तव्यमविचारतः ॥
 प्रदक्षिणीकृत्य तदावबन्दे चरणौ हरेः ।
 फणिराजः प्रसन्नात्मा भूम्यां चक्रे मनस्तदा ॥
 चैत्रार्द्र सम्भवं विष्णोर्दर्शनस्थापनोत्सुकम् ।
 तुण्डोरमण्डले शेष मूर्तिं रामानुजं भजे ॥

(इन श्लोकों का भाव स्वयं प्रतीत हो रहा है)

संवत् १०७४

इस प्रकार से श्रीभूतपुरी में केशवयज्वा के घर मेघ राशि के सूर्य में आद्रा नामक नक्षत्र में साक्षान् शेष भगवान् की मूर्ति रामानुज रूप से प्रकट हुई और शुक्ल पक्ष के चन्द्र की तरह प्रति दिन वृद्धि को प्राप्त हुई, तब श्रीरामानुज स्वामी के पिता श्रीकेशवाचार्यजी ने यज्ञोपवीतेत्यादि संस्कार करके श्रीकाञ्चीपुरी में यादवप्रकाश की सन्निधि में वेदाध्ययन को भेजा तो श्रीस्वामीजी ने अल्प काल में समस्त वेद शास्त्रों का अध्ययन किया। यह विषय प्रपन्नामृत ग्रन्थ में प्रसिद्ध है।

इस अलौकिक वृद्धि को देख कर यादवप्रकाश को बड़ा मात्स्य हुआ और मरवा डालने का विचार भी किया, परन्तु भगवदनुग्रह से रक्षित रहे। यह विषय रामानुज जीवन-चरित्र में प्रसिद्ध है। पुनः किसी समय यादवप्रकाश अपने शिष्यों को छान्दोग्योपनिषद् पढ़ाते हुए [तस्य यथाकप्यास पुण्डरीक मेघमक्षिणी] इस मन्त्रका अर्थ करते थे कि कप्यास बन्दरके पश्चाद् भागके सदृश लालिमावाला पुण्डरीक माने जो कमल उसको तरह भगवान् का नेत्र हैं। इस अनर्थ का सुन के रामानुज स्वामी के नेत्रों से अश्रु-धारा प्रवाहित हुई और विलाप करने लगे, तब यादवप्रकाश बोले कि क्यों आपकी यह दशा हो रही है ?

फिर रामानुज स्वामी बोले इस मन्त्र का यह अर्थ नहीं है। तब यादव प्रकाश ने कहा कि कौन सा अर्थ है।

तब रामानुजाचार्य जी ने कहा (कंजलं पिबतीति कपिः सूर्य स्तेनास्पते—इति कप्यास कपि शब्द का अर्थ यह है कि (क माने जल उसको पि माने पीने वाला, खींचने वाला जो सूर्य उस सूर्य की किरण से खिला हुआ जो पुण्डरीक माने कमल उस कमल के सदृश भगवान् के नेत्र हैं, इस अर्थ को सुन करके सब लोग हर्षित हुए। इस विषय में कतिपय श्लोक पाये जाते हैं।

वक्तुकामः भुत्तेरर्थं यादवं वाक्यम ब्रवीत् ।

कप्यासमिति वाक्यस्य वक्ष्याम्यर्थं शृणु द्विज ॥

गम्भीरांभसि जातस्य प्रोचद्भानुकरैस्तदा ।

सम्फुलदलपद्मस्य सदृशो लोचने हरेः ॥

तस्याः भुत्तेरेवमर्थो वक्तव्यः शान्नचित्तमैः ।

पाद्गुण्य परिपूर्णस्य विष्णोरमिततेजसः ॥

मर्कटासन सादृश्यमुच्यते नेत्रयोस्त्वया ।

त्वयोदितमवबद्धार्थं भुत्वाशोचामियादव ॥

इस प्रकार रामानुजाचार्य का प्रभाव देखकर यादव प्रकाश पीछे स्वप्न में भगवान् की आज्ञा से और अपनी माता की प्रेरणा से श्री रामानुज स्वामी के चरणाभित होकर परम धाम को शोभित किया।

इसके पश्चात् श्री रामानुज स्वामी जी सामान्य शास्त्रों का अध्ययन छोड़कर अखिल फलप्रद वरदराज भगवान् का केंद्र बनने लगे।

फिर जनता के द्वारा रामानुजाचार्य जी का अद्वितीय प्रभाव भवण करके भीरुक्षेत्र वासी श्री यामुनाचार्य जी की इच्छा हुई कि ऐसे प्रतापी महापुरुष का दर्शन अवश्य करना चाहिये।

तत्पश्चात् अपने शिष्य महापूर्णचायजी को रामानुज स्वामीजी को लाने के लिये श्रीकांची भेजे । महापूर्ण स्वामी कांची में आकर देवराज भगवान् के दर्शनादि करके और कांची पूर्ण स्वामीजी से कुशल प्रश्नपूर्वक श्रीरामानुज स्वामी को भीयामुनाचार्यजी का सन्देश सुनाया, इस दिव्य सन्देश को सुनते ही रामानुज स्वामी महापूर्ण स्वामी के साथ श्रीरङ्गनगर को आये । इसके पश्चात् भगवान् श्रीरङ्गनाथजी ने विचार किया कि यदि यामुनाचार्य और रामानुजाचार्य का समागम हो जाय, तो यह दोनों शरणागति धर्म के द्वारा समस्त चेतनों को मोक्ष देने के वास्ते मेरे से प्रतिज्ञा करवा लेंगे । तो हमारी लीला विभूति की खोला ही अल्प हो जायगी । इस विषय में कतिपय श्लोक पाये जाते हैं—

तदा रंगेश्वरः भ्रामान् मनस्येव मचिन्तयत् ।
 रामानुजो यामुनश्च मिलितौ यशुभावपि ॥
 लीला विभूति रस्माकं तदानष्टा भवध्यति ।
 ततोऽर्चकमुखेनाह रंगेशो यामुनं प्रति ॥
 गच्छाद्यैव यत्ति भ्रेष्ठ दत्तं ते परमं पदम् ।
 ते नैवमुक्ते हरिणारामानुजविद्वत्तया ॥
 रंगेश्वरं प्रणम्याह यामुनः शिरसा हरिम् ।
 रंगेशानन्तरं मुक्तिं गच्छामि दिवसाष्टकात् ॥
 इति विज्ञाप्य योगीशस्तत्संभाषणलोलुपः ।
 मठं समासदञ्छीघ्र माकां क्षस्तस्य चागमम् ॥
 सुमहानपि योगीन्द्रः परतन्त्रस्ततोऽजसा ।
 अनवाप्य मनोभोष्टं स्वाचार्यांघ्रिमुपेयिवान् ॥

तब रङ्गनाथ भगवान् ने अर्चक में आवेश होकर यामुनाचार्यजी को कहा—हे यति-भ्रेष्ठ ! आपको मैंने परम पद दिया आज ही परम-पद को चलो । इस तरह से जब भगवान् हरि ने यामुनचार्यजी को आज्ञा की, तब रामानुज स्वामी को दर्शनाकांक्षा से यामुन मुनि बोले कि हे भगवन् ! आज से आठ दिन के पश्चात् मैं मुक्ति को

इस तरह से विज्ञापना करके योगीराज यामुन मुनि रामानुज स्वामीजी से सम्भाषण की इच्छा से मठ में आये; परन्तु परतन्त्र होने के कारण से रामानुजाचार्य के आने से पहिले मनोभीष्ट के बिना पूर्ण हुए परमपद को पधार गये ।

पुनः यामुनाचार्यजी के मृत-शरीर को समस्त रङ्गनगर का जन-समुदाय कावेरी के तट पर लाये । इसके बाद महापूर्ण स्वामी और रामानुज स्वामी कांचीपुरी से कावेरी के तट पर आये और वहाँ पर जनसमुदाय को देख कर आश्चर्ययुक्त हुए कि आज इतना श्रीवैष्णवादि जनसमुदाय इकट्ठा क्यों हुआ ? तब सुना कि श्रीयामुनाचार्य स्वामी परमपद को भूषित किये और सुनते ही मूर्च्छित होकर छिन्नमूल महावृक्ष के समान भूमि पर गिर पड़े और उस समय यामुन मुनि के वियोग-दुःख से मानो कि जैसे रामजी के वनवास के दुःख से वृक्ष भी म्लान हो गये और नदियाँ सूखने लगीं, ऐसी दशा रङ्गवासी जनता की हुई । तत्पश्चात् तत्तज्ज्ञान से उस शोकामि को शमन करके श्रीरामानुज स्वामीजी ने यामुनाचार्यजी के मृत-शरीर का दर्शन किया; परन्तु यामुन मुनि के हस्त में तीन ३ अंगुलियाँ संकुचित देखीं, तब यामुन मुनि के शिष्यों से प्रश्न किया कि महाराज क्री अंगुलियाँ सदा संकुचित रहती थी कि इसी समय संकुचित हुई ? ऐसा रामानुज स्वामी का वचन सुन करके शिष्य लोगों ने कहा कि पहिले तो विस्तृत थी, अब हम तो नहीं जानते हैं; कि क्यों संकुचित हुई परन्तु आप ही जान सकते हो । तब रामानुजाचार्यजी ने कहा—मालूम होता है कि महाराज के तीन मनोरथ हैं, उनको मैं पूर्ण करूँगा, तब वह अंगुलियाँ विस्तृत हो गईं ।

उन तीन मनोरथों के विषय में पूर्वाचार्यों के श्लोक श्रीरामानुज-जीवन-चरित्र में पाये जाते हैं ।

वैष्णावानां वचः भुत्वा लक्ष्मणार्यः परार्थविन् ।

, अभिप्रायं यामुनस्य ज्ञात्वा बुद्ध्या महामतिः ॥

मध्येद्विजानां सर्वेषां जगाद् वचनं तदा ।
प्रथमांगुलि विमोचनम्

ततः प्रोवाच धर्मात्मा वाक्यं रामानुजः पुनः ।
संगृह्य निखिला नर्थास्तत्त्वज्ञानपरं शुभम् ॥
श्रीभाष्यं च करिष्यामि जन रक्षणहेतुना ।
इत्युक्तिं वति विप्रेन्द्रे वचनं वदतां वरे ॥
महात्मा यामुनाचार्यो जहा वैकांगुलिं तदा ॥

द्वितीयांगुलि विमोचनम्

ततोऽन्यदर्थदं वाक्यं धीमान् रामानुजोऽवदत् ।
जीवेश्वरादींल्लोकेभ्यः कृपया यत्पराशरः ॥
संदर्शयन् तत्समाधानं तदुपाय गतीस्तथा ।
पुराण रत्नं संचक्रे मुनिवर्यः कृपानिधिः ॥
तस्यनाम्ना महाप्राज्ञ वैष्णवस्य च कस्यचित् ।
अभिधानं करिष्यामि निष्क्रियार्थं मुने रहम् ॥
अंगुलिं यामुनाचार्यो द्वितीयां सहसात्यजत् ।

तृतीयांगुलि विमोचनम्

अहं विष्णुमते स्थित्वा जनान् ज्ञान मोहितान् ॥
पञ्चसंस्कार सम्पन्नान् द्राविडाम्नायपारगान् ।
प्रपत्तिधर्मं निरतान् कृत्वा रक्षामि सर्वदा ॥
एवं रामानुजाचार्यं गदत्यात्म विदां वरे ।
इत्येवं लक्ष्मणाचार्यं पुनर्वदति निश्चले ।
कृतकृत्यो यामुनार्यः सोऽर्घशिष्टांगुलिं जहौ ॥
तत्रत्यपुरुषा दृष्ट्वा तच्चित्रं महद्भुतम् ।
रामानुजं महात्मानं मन्यन्ते पुरुषोत्तमम् ॥

इस प्रकार से श्रीरामानुज स्वामीजी ने तीन मनोरथ पूर्ण करने की प्रतिज्ञा की पुनः यामुन मुनि की उत्तर क्रिया करके समस्त जनता अपने-अपने आश्रमों को गई । तदनन्तर रामानुज स्वामी भी

यामुनाचार्य के वियोग से रङ्गनाथ का दर्शन किये बिना कांची को जाने लगे । तब वहाँ के श्रीवैष्णवों ने प्रार्थना की कि भगवद्दर्शन अवश्य करना चाहिये । तब रामानुज स्वामी ने कहा कि—

नमानसं रोचतेऽस्मिन्पुण्येऽपि सुमनोहरे ।

लोकेशमपि रंगेशं यामुनाशाङ्कुरच्छिदम् ॥

तं निर्दयं न पश्यामि मम दुःखकरं द्विजः ।

इत्युक्त्वा तैरनु ज्ञातस्तत्त्वेत्रात्तत्त्वं द्विजः ॥

काञ्चीपुरीं प्रतिययौ धीमान् रामानुजस्तदा ॥

इस पुण्य सुमनोहर नगर में मेरे मन को कोई पदार्थ अच्छा नहीं लगता है और लोकेश रङ्गनाथ के यामुन मुनि के आशारूप अङ्कुर का छेदन करने वाले निर्दयी का दर्शन भी न करूँगा । ऐसा कह कर और श्रीवैष्णवों से सन्मानित होकर श्रीकांचीपुरी को चले और फिर गृहस्थाश्रम में भी रहे, परन्तु वरदराज भगवान् का कैङ्कर्य करते रहे ।

पुनः श्रीयामुनाचार्यजी के आशीर्वाद से तथा भगवदनुग्रह से और कांचीपूर्ण इत्यादि महाभागवतों के सहवास से श्रीरामानुज स्वामी के मन में विचार हुआ कि जैसे त्रैवर्णिक पुरुष यज्ञोपवीतादि संस्कार के बिना वेदाध्ययन तथा गायत्री जप नहीं कर सकता है और बिना दर्शपौर्णमास-यज्ञ किये किसी भी यज्ञ करने का अधिकारी नहीं हो सकता, वैसे ही बिना पञ्चसंस्कार (तापः पुण्ड्रस्तथानाम मन्त्रो यागश्च पञ्चमः) किये भगवत्सेवा-पूजा का तथा मोक्ष पाने का भी अधिकारी नहीं हो सकता है ।

(प्रपन्नादन्येषां न च दिशति मुकुन्दोनि जपदम्) और शरणागत प्रपन्न को छोड़ कर भगवान् किसी को भी मोक्ष नहीं देते हैं । इसीलिये गीता में अर्जुन ने अपने को प्रपन्न तथा शिष्य शब्द से कहा है ।

कार्पण्य द्रोपोऽपहतस्वभावः पृच्छामित्वा धर्मं सम्मूढचेताः ।

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधिमां त्वां प्रपन्नम् ॥

इत्यादि नाना शास्त्रों के प्रमाण को देख कर रामानुज स्वामी कांची पूर्ण स्वामी से कहे कि आप भगवान् से ६ छः प्रश्न प्रति दिन पूछते हो, आज मेरा भी प्रश्न वरदराज भगवान् से निवेदन करके प्रातःकाल इस दास से कहियेगा । तब भगवत्-प्रिय कांचीपूर्ण स्वामी ने कहा कि कौनसा प्रश्न ? फिर रामानुज स्वामी ने कहा । इस विषय में कतिपय श्लोक पाये जाते हैं—

उपायेषु चकः साधु रन्तिम स्मरणं तथा ।

मोक्षः कदेति प्रष्टव्यः कर्माचार्यं समाश्रये ।

चतुर्थान् कर्तुंकामो मनस्या लोचितं मया ॥

विज्ञाप्य देवराजाय तेनोक्तं वचनं शुभम् ।

महं कथय्या ब्रूहि कांचीपूर्ण कृपानिधे ॥

१—मोक्ष-मार्ग के नाना उपाय हैं परन्तु कौनसा सुलभ है ? और २—अन्तिम कर्त्तव्य कौनसा है ? ३—प्रपन्न का मोक्ष कथ होगा ? और ४—मैं कौन से आचार्य का शिष्य बनूँ ? ५—पर तत्त्व कौनसा देवता है ? तथा ६—सिद्धान्त कौनसा भगवत् सम्मत है ? ऐसे छः प्रश्न करके अपने आश्रम पर गये । यद्यपि इस श्लोक में चार प्रश्न प्रतीत हो रहे हैं, तथापि उत्तर के श्लोक में छ उत्तर हैं । इस के बाद रात्रि के समय कांचीपूर्ण स्वामी सर्वान्तर्यामी सर्वज्ञ सर्वशक्ति भक्तवत्सल भगवान् वरदराज का पंखा करते थे । तब भगवान् ने स्वयं कहा—कि हे कांचीपूर्ण आज आपके मन में कुछ प्रश्न करने की चाहना सी मालूम हो रही है और मेरी भी भवण करने की इच्छा है । तब कांचीपूर्ण पूर्वोक्त रामानुज स्वामी के सन्देश सुनाये । फिर वरदप्रभु ने उत्तर दिया—

अहमेव परं तत्त्वं जगत्कारण कारणम् ।

चेत्रज्ञेश्वरयोर्महः सिद्ध एव महामते ॥

मोक्षोपायोन्यास एव जनानां मुक्तिमिच्छताम् ।

मद्भक्तानां जनानां च नान्तिममृतिरिष्यते ॥

देहावसाने भक्तानां वदामि परमं पदं
 पूर्णाचार्यं महात्मानं सनाभयं गुणाभयम् ॥
 इति रामानुजाचार्यं मयोक्तं वदसत्वरम् ।
 कांचीपूर्णश्च तद्वाक्यं निशम्य हरिणोदितम् ।
 रामानुजाय तत्सर्वं वरदोक्तं न्यवेदयत् ॥

समस्त जगत का कारण परतत्त्व नारायण मैं हूँ । और दूसरा उत्तर जीव तथा ईश्वर का भेद ही सिद्धान्त है । तीसरा उत्तर मोक्षोपाय शरणागति है । चतुर्थ प्रश्नोत्तर अन्त काल में यदि मेरे भक्त मेरा स्मरण न भी कर सकें तो भी उनकी मुक्ति होती है । पंचम प्रश्नोत्तर देहावसाने में शरणागत भक्त को परम पद देता हूँ । षष्ठ प्रश्नोत्तर सर्व गुणशाली महात्मा महापूर्णाचार्य के समाभयण हो जाओ । यह पदार्थ रामानुजाचार्य के लिये कहे ऐसा 'वरदराज भगवान्' ने कांची पूर्ण स्वामी से कहा । तब कांचीपूर्ण स्वामी प्रातःकाल रामानुज स्वामी जी से कहे ।

लक्ष्मणार्यस्तु तच्छ्रुत्वा कमलानन्दाच्छुभम् ।

चिन्तितस्यार्थं जातस्य मया तुल्यमिदं त्विति ॥

तत्पश्चात् श्रीस्वामी रामानुजाचार्य जी कांचीपूर्ण स्वामी के द्वारा वरद प्रभु की आज्ञा भवण करके श्री यामुनाचार्य जी के चरणाश्रित महापूर्णाचार्य के चरणाश्रित होने के लिये भीरंग नगर को पधारे । इसके बाद भगवद्गुणसे ही महापूर्ण स्वामी भी भीरंग क्षेत्र से कांची आ रहे थे । तब यह दोनों महापुरुषों का समागम मधुरान्तक नामक ग्राम में हुआ । और महापूर्ण स्वामी का दर्शन करके श्रीरामानुज स्वामी ने साष्टांग प्रणाम किया और कहा कि हे स्वामिन् इस दास को अपना चरणाश्रित करें । तब महापूर्ण स्वामी कहे कि देवराज भगवान् की सन्निधि में आपकी शरणागति होनी चाहिये फिर रामानुजाचार्यजी बोले कि हे स्वामिन् ! शरीर अनित्य है न मालूम पुनः क्या होगा । पहिले यामुनाचार्य स्वामी के दर्शन से भी यक्षित हुआ । अतः शीघ्र भगवान् समाभयण इस दास को करिये । इस विषय क श्लोक पाये जाते हैं ।

पुराहं यामुनाचार्यं द्रष्टुं कामस्त्वयासह ।
 कांच्याः समागतो ह्यस्मि सप्राप परमं पदम् ॥
 स्वपन्तं वापि भुञ्जानं गच्छन्तमपि वर्त्मनि ।
 युवानमपि बालं वा स्वयशे कुरुते विधिः ॥
 तस्मात्कार्यं शुभंधीमाब्धेयस्कामी नरोत्तमः ।
 रामानुजस्य वचनं महापूर्णो निशम्य तत् ॥
 इदं तथ्यं तदा मत्वा रामानुजमभाषत ।
 चक्रांकनं करिष्यामि त्वरमाणस्य तेऽधुना ॥

इस प्रकार से रामानुज स्वामी के वचन श्रवण करके महापूर्ण स्वामी ने पञ्च संस्कार करने की आज्ञा दी । पुनः उसी मधुरान्तक ग्राम में श्रीरामचन्द्र भगवान् की सन्निधि में श्री वैष्णवत्वदीक्षा प्रदान की । क्योंकि भगवत् सम्बन्ध बिना ज्ञान वैराग्य विधिया स्त्री के अलङ्कार वत् व्यर्थ है ।

सन्निधौरामचन्द्रस्य कोदण्डशरधारिणः ।
 तस्माभ्यां शंखचक्राभ्यां विधिनाग्नौ कृपानिधिः ॥
 लक्ष्मणार्यस्यभुजयोः सर्वलक्षणयुक्तयोः ।
 कृत्वांकनं तदा तस्मै लक्ष्मणार्यायधीमते
 आपन्नरक्षकं मंत्रं दास्य नामादिकं तथा ।
 अर्चारूपं देवराजं प्रददौ शिष्य वत्सलः ॥

इस तरह से महापूर्ण स्वामी ने रामानुजाचार्य का पंच संस्कार किया । पुनः उस ग्राम से दोनों कांची आये । तब महापूर्ण स्वामी ने समस्त शास्त्रों का प्रदान किया और तदन्तर श्रीरंग नगर पधारे ।

इस तरह से रामानुजाचार्य २० वर्ष पर्यन्त गृहस्थाश्रम में भी रहे । तदन्तर सन्यासाश्रम में प्रविष्ट हुये । सन्यासाश्रम में १०० शत वर्ष तक जीवित रहे इसीसे यतीन्द्र अथवा यतिराज यह आप का ही नाम है । जो चतुर्थाश्रम में शत चातुर्मास्य करता है वही यतिराज हो सकता है । इसलिये यह पद अन्याचार्यों पर संगत नहीं होता है । ०
 ऐसे १२० वर्ष तक आप इस भूलोक में रहे । तत्पश्चात् भक्तवत्सल

रंगनाथ की आज्ञा से श्रीयामुनाचार्य के पुत्रवररंगपूर्ण कांची आकर श्रीरामानुज स्वामी को श्रीरंगक्षेत्र में ले गये। तब श्रीरंगनाथ का दर्शन करके भीयामुन मुनि के मठ को शोभित किये।

इसके बाद महापूर्ण स्वामी की आज्ञा से अष्टादश १८ बार जाकर गोष्ठीपूर्ण स्वामी के पास मन्त्रार्थ अध्ययन किया फिर गोष्ठीपूर्ण स्वामी की आज्ञा से मालाधर स्वामी की सन्निधि में सहस्र गीति का व्याख्यान अध्ययन किया। पुनः उनकी आज्ञा से वररंगपूर्ण स्वामी की सन्निधि में सकल वेदान्तादि गूढार्थ रहस्यार्थ अध्ययन किया। और शैलपूर्ण स्वामी के पास वाल्मीकि रामायण का अध्ययन किया इस प्रकार से रामानुज स्वामी के पंचाचार्य हैं। पंचाचार्य करने का भाव यह है, यदि पाँच पदार्थ एक गुरु के पास हो तो बहुत अच्छा है और वही पूर्ण आचार्य हो सकता है। यदि उस गुरु के पास यह पंचांग न हो तो दूसरे गुरु से अध्ययन तथा भवण करके अपनी वैष्णवता पूर्ण करनी चाहिये।

तदन्तर यतिराज ने विचार किया कि मैंने पहिले यामुनाचार्य स्वामी के तीन मनोरथ पूर्ण करने की प्रतिज्ञा की थी। अब उनकी पूर्ति अवश्य करनी चाहिये।

और श्रीभाष्य लोक रक्षा के वास्ते निर्माण करना चाहिये। परन्तु व्यास जी के शिष्य वीधायन मुनि कृत वृत्ति के सहारे वेदान्त का व्याख्यान करना ठीक होगा। तब अपने शिष्य कुरेश को साथ लेकर शारदापीठ में (काश्मीर) आये और समस्त विद्वानों को शास्त्र विचार से पराजय करके और सरस्वती को प्रसन्न करके वीधायन वृत्ति लेकर श्रीरंगजी को आये।

पुनः द्रमिडभाष्य के तथा वीधायन वृत्ति के सिद्धित्रय के सहारे से श्री कुरेश स्वामी को लेखक बनाकर नाना वादियों के सिद्धान्तों का निराकरण करते हुये। विशिष्टाद्वैत तत्त्व प्रधान ब्रह्मसूत्रों का व्याख्यान रूप श्री भाष्य की रचना की।

अतः प्रारम्भ में लिखा है कि "भगवद्वोधायन कृतां विस्तृणां ब्रह्म सूत्र
श्रुति पूर्वाचार्याः संचिह्तिषुः स्तन्मतानुसारेण सूत्राक्षराणि व्याख्यास्यन्ते"

अर्थात् जैसे बोधायन मुनि ने व्याख्यान किया उसी रीति से
व्याख्या करूँगा जैसे श्री शंकराचार्य स्वतन्त्र मनमाने लिखे वैसा
न करूँगा भाव यह है कि श्री शंकराचार्य जी ने अपनी बौद्धिक
कल्पना से एक उपोद्घात भाष्य बनाया और उसकी समाप्ति में लिखते हैं
हैं (कि यथाचार्यमर्थः सर्वेषां वेदः न्तानां तथा वयमस्यां शारीरकमीमांसायां
प्रदर्शयिष्यामः) उपोद्घात भाष्य में मंगलाचरण न होने से शायर भाष्य
वत कुभाष्य कि आशंका भी है ।

इससे स्पष्ट है कि श्रीशंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्रों से अद्वैत का
निश्चय न करके अपनी कल्पना से अद्वैत का निश्चय किया । अतः
अद्वैत मत ब्रह्म सूत्र तथा श्रुतिमूल नहीं है - अस्तु ? । इस भीमाप्य तथा
सूत्रों में संक्षेप से तो प्रथम अर्थ पंचक है । प्रथमाध्याय में प्राप्य
ईश्वर स्वरूप का निरूपण है । और दूसरे अध्याय के प्रथम पाद से
द्वितीय पाद तक विरोधी स्वरूप का निरूपण है । तथा तृतीय चतुर्थ
पाद में सपरिकर प्रापक जीव स्वरूप का निरूपण है । तृतीयाध्याय में
संसार से वैराग्यपूर्वक सपरिकर मोक्षोपाय का निरूपण है । और
चतुर्थाध्याय में सपरिकर-फल का निरूपण है, यही अर्थ पंचक कहाता है ।

इस ग्रन्थ में चार अध्याय के १६ पाद हैं, प्रथम के प्रथम पाद में
जीवादिक के साक्षान् लिंग प्रतीत नहीं होते हैं और परमात्मा के साक्षान्
प्रतीत होते हैं । अतः जीव का उपास्यत्व निषेध कर त्रिविध उपासना
ईश्वर की बताई गई ।

प्रथमाध्याय के द्वितीय पाद में दोनों के बराबर प्रतीत होते हैं
जीवादि का उपास्यत्व निषेध पूर्वक ईश्वर ही उपास्य है ॥
और जगत् कर्ता है ।

प्रथमाध्याय के तृतीय पाद में स्पष्ट जीवादिक के लिंग प्रतीत
होते हैं और सामान्यतः ईश्वर के हैं । जड़ जीवादि का निराकरण

करके ईश्वर ही कारण और उपास्य है ॥ देवताओं का भी ब्रह्मोपासना में अधिकार है ।

प्रथमाध्याय के चतुर्थ पाद में साक्षात् जीवादिक के लिंग प्रतीत होते हैं जीवादि की आशंका निराकरण करके ब्रह्म कारण स्थापन किया गया है अर्थात् सगस्त शास्त्रों का यथार्थ संगति परमात्मा में ही होती है अतः इस अध्याय का नाम समन्वयाध्याय है ॥

द्वितीयाध्याय के प्रथम पाद में सांख्यादिक स्मृतियों से वेदान्त दर्शन की बाध शंका का निराकरण किया गया है । सूक्ष्म चित्त अचित्त के सहित एक ईश्वर के विज्ञान से सम्पूर्ण पदार्थों का विज्ञान होता है । अतः ब्रह्मज्ञान अवश्य करना चाहिये । यही परम पुरुषार्थ है ॥

द्वितीयाध्याय के द्वितीय पाद में प्रतिपक्षियों के कुतर्कों का खण्डन करते हुये अनुकूल तर्कों से वेदान्त वेशब्रह्म कारणवाद स्थापन किया गया है ।

द्वितीयाध्याय के तृतीय पाद में आकाशादि पञ्चतत्त्वों को कार्यात्त्व निरूपण करके जीवात्मा के धर्मरूप ज्ञान का संकोच विकास निरूपण करते हुये जीवस्वरूप को नित्यत्व स्थापन किया गया है । और जाव अणु परिमाण है ज्ञाता है और मुक्तिमें ज्ञान विभु हो जाता है । स्वरूप अणु ही रहता है । सौभरि अपि के तुल्य अपनी शक्ति से नाना शरीरों में सुखानुभव करता है ॥

द्वितीयाध्याय के चतुर्थ पाद में जीव के उपकरण इन्द्रिय प्रणादि को कार्यत्व स्थापन किया गया है । इन्द्रियों का अभिघाता भी परमात्मा है । अतः परमात्मा की कृपा से इन्द्रियों का विजय हो सकता है ।

तृतीयाध्याय के प्रथम पाद में धूम मार्ग से स्वर्गादि लोकों में गये कर्मनिष्ठ जीवों की पंचाहुति के द्वारा गर्भ प्रवेश होकर पुनः जन्ममरण का प्रकार पंचाग्नि विद्या का विचार किया गया है ।

तृतीयाध्याय के द्वितीय पाद में स्वप्न सुषुप्ति मरण मूर्च्छादि दुःस्वाकर तत्त्वमसि में त्वं शब्दवाच्य जीव को दशा का विचार करते

हुये तत् शब्द वाच्य श्रीमन्नारायण परब्रह्म तुरूपोत्तम को सदा समस्त सांसारिक कामादि हेय दोषों से रहित और समस्त कल्याण दिव्यगुणों का आकार है इस प्रकार, से जीव और ईश्वर का तथा प्रकृति का स्वरूप से और तत्त्व से स्वभाव से सर्वदा सत्यमेव समर्थन करके—और जीव तथा प्रकृति के अन्तर्यामी रूप से सर्व व्यापकत्व शक्ति से इन दो तत्त्वों से विशिष्ट एक परमात्मा साकार-सगुण है और सूक्ष्म चिद्-अचिद्-विशिष्ट-ब्रह्मकारण है—इस प्रकार से ईश्वर को कारण मानने पर विकारादि दोष अचिद् नामक प्रकृति में रह जाते हैं। अज्ञत्वादि दोष चिद् नामक जीव में रह जाते हैं। परमात्मा सदा शुद्ध सर्वज्ञादि गुणाकर ही है इसमें दृष्टान्त है कि जैसे जीवात्मा शरीरविशिष्ट रहता हुआ भी शरीर के बाल्यत्व, युवत्व, स्वविरत्व पड़ भावविकार जीवस्वरूप को स्पर्श नहीं करते हैं और जीव के ज्ञानादि चैतन्यपन भी शरीर में नहीं आता है—और लिंग शरीर हो या स्थूल शरीर हो सदा शरीर विशिष्ट रहता है—इसी प्रकार से जीव प्रकृति तथा ईश्वर इनके स्वाभाविक धर्मों का परस्पर सांकर्य नहीं होता है। जैसे चित्रपट में नाना नीलपीत वर्ण भिन्न भिन्न तन्तु में रहते हैं और एक चित्रपट यह मी व्यवहार होता है; इस सूक्ष्म विचार से सम्पूर्ण पदार्थों का स्वरूप-स्वभाव का सर्वथा भेद होता हुआ भी विशिष्टाकार से अभेद है; इस प्रकार से विशिष्टा द्वैतसिद्धान्त ही लोक और वेदों में प्रसिद्ध है—परन्तु स्थूल बुद्धि वालों को अद्वैत मालूम हो रहा है। और सम्पूर्ण फलप्रद ईश्वर है।

तृतीयाध्याय के तृतीय पाद में भगवत्प्राप्ति के साधन अनेक उपासना हैं जैसे सद्धिगा, दहरविद्या, शांडिल्याविद्या, भूमविद्या, प्रजापति विद्या, पंचाग्निविद्या, उपकोशलविद्या, शम्बरविद्या, अक्षिविद्या, वैश्वानर-विद्या इत्यादि बहुतसी उपासनायें हैं इस विषय में यह कथन है कि उपासक का सम्पूर्ण विद्याओं की उपासना से मोक्ष होगा कि एक से पूर्वपक्षों का कहना है सब विद्याओं की उपासना से मोक्ष होगा यदि एक से होगा तो अन्य उपासना व्यर्थ हैं। परन्तु वेदव्यास जी का

मत है कि सम्पूर्ण उपासनाओं का प्रथम ज्ञान करके जिससे फिर उपासक की रुचि हो उसी एक उपासना से मोक्ष हो जाता है ।

तृतीयाध्याय के चतुर्थ पाद में वर्णाश्रमानुकूल कर्मानुष्ठान करते हुये श्रीमन्नारायण की उपासना से ही मोक्षरूप फल होता है । इससे साधित है कि कर्म अंग है और उपासना (भक्तिरूपापन्न ज्ञान) अंगी है यह वेदव्यास का मत है और जैमिनि का मत है कि उपासना अंग है कर्म अंगी है कर्म से ही फल होता है । और वेदों कर्म का ही कथन है ।

वेदव्यास का सिद्धान्त है कि यद्यपि कर्मानुष्ठान फलोंकासा धन है परन्तु कर्म स्वयं अचेतन है वह अपने से फल कैसे देगा, उन शास्त्रोक्त कर्मानुष्ठान से प्रसन्न होकर ईश्वर फल देता है । अनेक उपासनाओं का फलैक्य होने से इस अध्याय का नाम उपसंहाराध्याय है । अनेक शास्त्राओं में निर्गुण सगुण वाक्य विरोध शमन को उपसंहार करते हैं ॥

चतुर्थाध्याय के प्रथम पाद में—परमात्मा की उपासना के आरम्भ से ही पूर्व पापों का विनाश होता है । उत्तर पापों का संसर्ग नहीं होता है । और बुद्धिपूर्वक पाप करता नहीं है । प्रारब्ध का भोगने से विनाश हो जाता है । इसी तरह से पुण्य को भी समझना चाहिये किसी शास्त्रा में ऐसा भी है कि जो श्रीमन्नारायण के उपासकों से वैर करता है उसको परमात्मा अपने भक्त का पाप देते हैं । और जो सहायक होता है उसको पुण्य देते हैं और शिष्य तथा पुत्रों को दाय गृह सम्पत्ति देते हैं—जो पुरुष विचार के साथ बुद्धि पूर्वक पाप करने में प्रवृत्त होता है और दूसरे का अनर्थ करता है । उसको कर्मों का भोग करना पड़ेगा उसको ईश्वर भोगाये बिना माफी नहीं देते हैं ।

चतुर्थाध्याय के द्वितीय पाद में शरीर से जीव की जब उत्क्रांति होती है उस समय सबसे पहिले वाणी का लय मन में होता है—इसके बाद सम्पूर्ण इन्द्रियों के सहित मन का लय प्राण में होता है प्राणवायु

के सहित जीव का संसर्ग परमात्मा में होता है—इस प्रकार से बुभुक्षु और मुमुक्षु की देह से उत्क्रमण समान ही है परन्तु जिसका मोक्ष होना हो उसकी भगवदनुग्रह से सुपुम्ना नाड़ी के द्वारा गमन होता है ।

४ अ० तृतीय पाद में सुपुम्ना के द्वारा ब्रह्म रन्ध्र से बाहर आकर उसको सूर्य की किरणें दिन के पास ले जाती हैं और दिवस का स्वामी शुक्ल पक्ष की सन्निधि में पहुँचाता है और शुक्ल पक्ष का अधिष्ठाता उत्तरायण की सन्निधि में ले जाता है । उत्तरायण का स्वामी वर्ष की सन्निधि में पहुँचाता है । और वर्ष का अधिष्ठाता देवलोक में ले जाता है देवलोक का अधिष्ठाता आदित्य लोक में पहुँचाता है । आदित्य लोक से चन्द्रलोक और चन्द्र लोक से विश्व लोक और विश्व लोक से वरुण लोक वरुण लोक से इन्द्र लोक और इन्द्र लोक से चतुर्मुख ब्रह्मलोक वहाँ पर ब्रह्माजी से सन्मानित होकर पंचतत्त्वों का भेदन करके विरजा नदी में स्नान करके लिंग शरीर का परित्याग होकर अमानव पुरुष के हस्त स्पर्श के बाद पार्षद देह की प्राप्ति होकर ब्रह्मालंकार से अलंकृत होता हुआ अनेक नित्य मुक्तों के साथ भी मणि भण्डप में जाकर भीभू नीलादेवियों के सहित भोमन्नारायण को साष्टांग करके और भगवान् से सन्मानित तथा भगवत् स्पर्श से आनन्दित होता हुआ सायुज्यादि मोक्ष का अनुभव करता हुआ नित्य कैवल्य करता हुआ पुनरावृत्ति रहित सर्व काल भीर्यकुण्ठ लोक में वास करता है यही ब्रह्म प्राप्ति का फल है ।

चतुर्थाध्याय के चतुर्थ पाद में प्रकृति सम्यन्ध से मुक्त हुये जीव का नाम मुक्त और आत्मा इत्यादि शब्दों से प्रसिद्ध रहता है । जब शरीर से रहता है उस समय जाग्रत अवस्था के समान सुखानुभव करता है और जब बिना शरीर का रहता है तब सुषुप्ति अवस्था के समान सुखानुभव करता है । संकल्प से सम्पूर्ण पदार्थ प्राप्त होते हैं ।

सशरीर अथवा अशरीर रहना मुक्त पुरुष की इच्छा के आधीन है । यह विषय छान्दोग्योपनिषद् के २ अ० प्रसिद्ध है । और जगतकी

उत्पत्ति रक्षा प्रलय और लक्ष्मी तथा कौस्तुभ मणि को छोड़कर परमात्मा के साथ समस्त भोग तथा लीलाओं की समानता है। मोक्षरूप फल का विचार होने से इस अध्याय का नाम फलाध्याय है। यह संक्षेप से समस्त ग्रन्थ का सारांश बताया गया है। अर्थात् ब्रह्म जिज्ञासा से लेकर अनाद्युत्तिरशब्दात् २ यहाँ तक इस ग्रन्थ का नाम ब्रह्म मीमांसा है और इसी का नाम शारीरकमीमांसा भी है। और इसी का नाम उत्तर मीमांसा तथा वेदान्त दर्शन भी है।

इस प्रसिद्ध वेद का नाम शरीर है और इस शरीर का सम्बन्धी जीव का नाम शरीर है और शारीर नामक जीव को आनन्द देने वाला ब्रह्म का नाम शारीरक है उसका जो मीमांसा माने विचार उसका नाम शारीरकमीमांसा है अथवा शरीर इस पद का काङ्क्षीन्याय से जीव तथा प्रकृति दोनों का ग्रहण करने से शरीर सम्बन्धी शारीर परमात्मा हुआ उसको प्रतिपादन करने वाला शास्त्र का नाम शारीरक हुआ। इस शारीरक पद से प्रकृति जीव शरीर वाला ब्रह्म इन तीन तत्त्वों का प्रतिपादन हुआ जीव तथा प्रकृति के सहित एक ब्रह्म का कथन होने से इस शास्त्र में विशिष्टाद्वैत का ही प्रतिपादन है। अतः अन्य मतों में यह शब्द सार्थक नहीं होता है। इस विशिष्टाद्वैत मत ने किसी का भी खण्डन नहीं किया है किन्तु सबका संशोधन किया है। विशिष्ट पदार्थ के अन्दर अद्वैत तथा द्वैत द्वैताद्वैत तथा शुद्धाद्वैत समस्त सिद्धान्तों का समावेश हो जाता है। जीव का अणु परिमाण है और ईश्वर विभु है। जो विभु होता है वह समस्त पदार्थों में व्यापक रहेगा। तो अन्तर्यामी रूप से ईश्वर जीव के भीतर है और व्यापकत्व होने से बाहर भी है सदा जीव के साथ अप्रुथक सिद्ध सम्बन्ध से रहता है। अद्वैत मत भी इस मत में समावेश हो जाता है इस प्रकार का अद्वैत शास्त्र संमत तथा ऋषि मुनियों का सम्मत है। मायावादी का अद्वैत शास्त्र विरुद्ध है।

द्वैत सिद्धान्त में जीव को अणु परिमाण तथा ईश्वर को विभु परिमाण होने से और जीव ईश का स्वरूप स्वभाव तथा तत्त्व से भेद

होने से द्वैत सिद्धान्त का समावेश भी विशिष्टाद्वैत में हो जाता है। और जो ईश्वर को जीव के भीतर न मान करके जीव के समीप रहकर शासन करता है और जिसने अल्प साधनानुष्ठान किया उस उपासक को मुक्ति में अल्प सुख होता है और जिसने अधिक किया उस उपासक को अधिकसुखानुभव होता है ऐसी विषमता इनको मुक्ति में भी नहीं छोड़ती है इत्यादि वेद विरुद्ध विषय अनादरणीय है।

अथ भेदामेद सिद्धान्त में भेदांश का समावेश भेद वाद में हो जायगा अमेदांश का समावेश अद्वैतवाद में हो जायगा। और अवशिष्टांश का तेज तिमिर न्याय से प्रत्यक्ष ही विरोध है। पृथक् खण्डन या मण्डन की आवश्यकता नहीं है।

अथ शुद्धाद्वैत सिद्धान्त में तीन अंश हैं सदर्श और चिदर्श तथा आनन्दांश। सदर्श से प्रकृति का ग्रहण चिदर्श से जीव का ग्रहण और आनन्दांश से ब्रह्म का ग्रहण। इस प्रकार से तत्त्वत्रय का प्रतिपादन होने से इस मत का समावेश भी विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में हो जाता है।

यदि यह तीनों अंश ब्रह्म स्वयं है तो विकारादि दोष ब्रह्म में आ जायेंगे तो शुद्धाद्वैत से अशुद्धाद्वैत हो जायगा। फिर जैसे अद्वैत मत में अधिया अज्ञानादि से आच्छादित अशुद्ध ब्रह्म का समर्थन हुआ वैसी ही शुद्धाद्वैत की दशा हुई।

अथ जो सिद्धान्त संक्षेप से लिखे गये और जो नहीं लिखे गये अचिन्त्याद्वैत तथा शिवविशिष्टाद्वैत इत्यादि जो कुछ भी हैं उन सबका अनुकूलांश का समावेश विशिष्टाद्वैत में हो जायगा-प्रतिकूलांश वेद विरुद्ध युक्ति विरुद्ध होने से सर्वथा अनादरणीय है।

और समस्त वेद, पुराण इतिहासों में तत्त्वत्रय जीव ईश्वर तथा प्रकृति का प्रतिपादन होने से विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त परिपूर्ण है और यह सिद्धान्त चतुर्दश भुवनों में व्याप्त है। और आधुनिक आर्य समाज ने भी अद्वैतादिक समस्त मतों का निराकरण करके इस तत्त्वत्रय दादि

विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त को किसी प्रकार से नहीं हटा सका और तत्त्वत्रय प्रतिपादक विशिष्टाद्वैत ही मानना पड़ा। अब जो लोग यह कहते हैं कि भारत में नाना मत हैं उनमें इसी से कलह होता है। परन्तु मालूम होता है कि उन महानुभावों ने विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त नहीं जाना है। इस भारत में एक विशिष्टाद्वैत के भीतर सय मतों का समावेश है। जैसे एक चक्रवर्ती सम्राट के राज्य के भीतर समस्त छोटे २ राजाओं का समावेश है और वह एक राज्य कहा जाता है। तैसे सतस्त छोटे २ मतों का व्यापक विशिष्टाद्वैत के भीतर समावेश है इसी तरह से सम्पूर्ण भारत में एक ही मत है और इस भारत में जो श्रेष्ठ ज्ञान वाले पुरुष हैं। उनमें कोई तरह का कलह भी नहीं है। और जहाँ कलह है भी वे अपने भोजन वस्त्र की चिन्ता से परस्पर में द्वेष किया करते हैं।

इस विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त की व्यापकता में विलक्षण श्लोक अधिकार संग्रह में पाया जाता है ॥

यद्येतं यत्ति सार्वभौमकथितं विद्यादधिघातमः

प्रत्पूषं प्रतितन्त्रमन्तिमयुगे कश्चिद्विपश्चित्तमः ।

तत्रैकवक्त्रकडित्युपैति विलयं तत्तन्मत स्थापना

दे वाक् प्रथमान है तु कथा कलोल कोलाहलः ॥

एवं यह सिद्धान्त युगान्तर में प्रचलित था परन्तु द्वापर में पराशर मुनि ने त्रिष्णु पुराण से रक्षा की उसके बाद वेदव्यास मुनि ने महाभारत के द्वारा रक्षा की। फिर पराङ्कुश स्वामी ने सहस्र गति के द्वारा रक्षा की। पुनः नाथ मुनि स्वामी ने न्याय तत्त्व नाम के ग्रन्थ से रक्षा की। उसके बाद यामुनाचार्य जी ने सिद्धित्रय आगम प्रामाण्य ग्रन्थों से सुरक्षित किया। उसके बाद श्रीरामानुजाचार्य जी ने श्रीभाष्य वेदान्त दीप इत्यादि ग्रन्थों से सुरक्षित किया। और चारों धर्मों की यात्रा की तथा चार दिशाओं को दिग्विजय किये। यह विषय प्रपञ्चा-
मृत में प्रसिद्ध है। इस प्रकार यामुन मुनि का प्रथम श्रीभाष्यादि रचने का मनोरथ पूर्ण किये।

श्रीभाष्य मित्थं कृपया लोकानुग्रह कारणात् ।

प्रथमं यामुनार्य स्य दुःखं महदपोहयत् ॥

श्रीरामानुज स्वामी के चरणाम्बित श्रीकुरेश सर्व शास्त्र विशारद थे वे उच्छ्वसित से रहते थे । किसी समय अधिक दृष्टि होने से उच्छ्वसित नहीं कर सके फिर स्नानादि करके हरि का आराधन किया और फल तथा ठाकुरजी का चरणोदक लेकर गृह में बैठ रहे । पुनः रात्रि में भगवान् के भोग का समय हुआ और काहली का शब्द भवण करके कुरेश स्वामी की पत्नी ने रङ्गनाथ से प्रार्थना की, आपका भक्त तो खुदा से पीड़ित है और आप भोजन कर रहे हो । तब सर्वज्ञ भगवान् ने अपने उत्तम नाम के अधिकारी को स्वप्न में आज्ञा की कुरेश को हमारा प्रसाद ले जाओ फिर अर्चक लोग प्रसाद को बड़े संमान से कुरेश स्वामी के आभ्रम पर ले गये । श्रीकुरेश साष्टांग प्रणाम कर प्रसाद लेकर अपनी भार्या से कहा कि आपने भगवान् से क्या प्रसाद की प्रार्थना की है वह बोली हूँ तब कुरेश स्वामी कहे कि आप ही प्रसाद पालो तब अपने पति की आज्ञा से पतिव्रता ने प्रसाद पाया । उसी प्रसाद से दशवें मास में दो पुत्र लवकुश के तुल्य उत्पन्न हुये । एकदा शौचादिक निवृत्ति के बाद रामानुज स्वामी ने गोविन्दाचार्य को कुरेश स्वामी के पुत्रों के लाने को भेजा । फिर श्री कुरेश और गोविन्दाचार्य उन दोनों पुत्रों को रामानुज स्वामी के पास लाये ।

इन दोनों पुत्रों को देखकर रामानुज स्वामी बड़े प्रसन्न हुये और गोविन्दाचार्य के द्वारा पञ्च संस्कार करवाया । बड़े लड़के का नाम पराशर और छोटे का नाम व्यास रखा । यह दोनों बड़े भक्त हुये । इस प्रकार यामुनाचार्य जी का जो पराशर और व्यास के नाम से सम्प्रदाय में किमी का नाम होना चाहिये वह हमारा मनोरथ भी रामानुज स्वामी ने पूर्ण किया ।

श्री पराशर नाम्ना च तयोर्तेष्वस्य बालयोः ।

श्री पराशर भट्टार्य इति नामा करोत तदा ॥

वेदव्यासाऽभिधानेन कृत्वा नामापरस्य च ।

द्वितीयं यामुनार्यस्य तद्दुःखं प्रममार्ज सः ।

तृतीय मनोरथ यामुन मुनि का यह था कि—

श्रीरामानुज वैष्णवत्व दीक्षा लेकर शरणागति धर्म का प्रचार करते हुये द्रविड वेद का विस्तार करेगा । ऐसा यामुन मुनि का मनोरथ था सो सब रामानुज स्वामी ने करके दिखाया और फिर रामानुज स्वामी का शिष्य गोविन्द भट्टार्य था उनके पुत्र का नाम श्री परांकुशपूर्णार्य रखा इस प्रकार ले रामानुज स्वामी ने तीनों मनोरथ पूर्ण किये ।

श्री परांकुश पूर्णार्य इति नाम विधाय च ।

तृतीयं यामुनार्यस्य तद्दुःखमुद वासयत् ॥

श्री यामुनार्यस्य जगद्वितार्थ मयूरयत्त्रीणि मनोरथानि ।

अवाप्त कामः सजगाम हर्ष रंगेशतो लक्ष्मणदेशि केन्द्रः॥

यद्यपि रामानुज स्वामी का अनन्त चरित्र है उनको विस्तार भय से न लिखकर परम पद जाने का अल्प चरित्र लिखता हूँ ।

जब श्रीरामानुज स्वामी की १२० वर्ष की अवस्था हुई तब विचार किया कि मनुष्य की शत वर्ष की आयु होती है और मेरे विंशति वर्ष अधिक हो गये हैं । अथ भगवान् से आशा लेकर परम पद जाना चाहिये । ऐसा विचार करके रंगनाथ का दर्शन करने को गये तब श्रीरंगनाथ भगवान् कहे कि—

आज आपने क्या विचार किया । तब रामानुजाचार्य बोले—

सौ वर्ष मनुष्य की आयु का निर्णय आपने किया है अब काल का अति क्रमण हो गया है तब रंगनाथ कहे कि काल का कर्ता तो मैं हूँ अभी कुछ दिनों तक इस भूमि में रहो फिर रामानुज स्वामी बोले कि शीघ्र मोक्ष प्रदान करिये मैं नहीं रहना चाहता हूँ । तब भगवान् प्रसन्न होकर कहे कि आपकी जो चाहना हो, वरदान माँग लो ।

तब रामानुज स्वामी ने कहा कि जो परमपद आपने मुझे दिया,

वही परम पद मेरे सम्बन्ध सम्बन्धी शिष्यों को देना । इस वचन को श्रवण करके भगवान् ने कहा—“ओ३म् तथास्तु ।”

दास्यामि काङ्क्षितं वत्सवरं वरय सुव्रत ।

एवं ध्रुवति रङ्गेशो सन्तुष्टो यत्तिराद् ततः ॥

लोको यः प्राप्यते स्वामिन् भवतः कृपयामया ।

अस्मत्सम्बन्ध सम्बन्धि चरमावधयश्चये ॥

सम्यग्गच्छन्तु तं लोकं जनास्ते तव शासनात् ।

वाढ मित्यभिधायाशु यतीन्द्राय महात्मने ॥

इस प्रकार प्रार्थना करके यतिराज मठ में आये । यह समाचार सब श्री वैष्णवों ने सुना और रामानुज स्वामी की सन्निधि में आकर कहा—आपके परम-पद जाने से संसार में अधर्म बढ़ेगा, तब श्रीवैष्णव किस प्रकार से कालक्षेप करेंगे ! तब रामानुज स्वामी ने ७२ वाक्यों का उपदेश दिया और यह सकल शास्त्रों का सारांश है । अत्यन्त रहस्यार्थ होने से और विस्तार-भय से इन वाक्यों का अर्थ यहाँ नहीं लिखता हूँ ।

इस प्रकार ७२ यहत्तर वाक्यों का अर्थ श्रवण करके बड़े-बड़े ज्ञानाधिक महात्मा कहे कि—भावी कलिकाल में होनेवाले श्रीवैष्णवों से इस गूढार्थ का पालन होना बड़ा कठिन है । कृपा करके सरल उपाय बताइये । तब रामानुज स्वामीजी महाराज ने पुनः ६ वाक्यों का उपदेश किया—

१—उपाय युद्धया कर्माणि मा कुरुष्वं महात्मकाः ।

कर्मणामेव कैङ्कर्यं प्राप्ये भगवतो मतिः ॥

तदीयं नाम कैङ्कर्यं श्रुत्वा श्रीभाष्यमादरात् ।

प्रवर्त्तयिष्वं तल्लोके तत्र शक्तिर्नृचेशदि ॥

२—पराङ्कुशादिमुनिभिर्दराभिर्दशिकोत्तमैः ।

कुतंप्रबन्धमभ्यस्य शिष्येभ्यो वदता निशाम् ॥

३—तत्रापि भवतां शक्तिर्नृस्थाद्यदि हि वैष्णवाः ।

दिव्यदेशेषु कैङ्कर्यं विष्णवे कुरुतानिशाम् ॥

४—तत्रापि भवतां बुद्धिर्यदि सम्यङ् ज्ञायते ।

कूटोर मपि कृत्वापि मठे मे यादवाचले ।

मुक्ताहं कारिणः सर्वे वासं कुरुत वैष्णवाः ।

५—नाप्येतद्भयतां वत्सरोचते यदि सुन्दरम् ।

द्वयार्थस्यानुसन्धानं यावज्जीव मतं द्रिताः ॥

कुर्वन्तः सम्यगेवार्था निर्भरा वसतादरात् ।

६—यदि नोत्पद्यते बुद्धिर्भवतां तत्र सत्तमाः ।

भूयतामवधानेन प्रवक्ष्ये चरमं हितम् ॥

ज्ञान भक्त्यादि युक्तस्य वैष्णवस्य महात्मनः ।

मुक्ताहं कारिणस्तस्य निदेशो वसतानिश्च ॥

अयं हि चरमोपायो नान्योपायस्ततः परम्

अस्मिन्नर्थे महार्लोकः भूयते लोकधिभुतः ॥

श्रीभाष्यं द्रविडागमं प्रवचनं श्रीशस्थलेष्वन्वहं ।

कैङ्कर्यं यदुशैल नित्य वसतिः सार्थोद्वयोच्चारणम् ॥

यत्र भागवताभिमान वसतिः श्रेयः सतामित्यलं ।

शिष्यान्प्राह यतीश्वरः परमगाद्विष्णोः पदं शाश्वतम् ॥

१—कर्मानुष्ठान को भगवत कैङ्कर्य समझ कर करना चाहिये, और और भगवन्मंत्र का जप करना और फलेच्छा नहीं रखनी चाहिये । श्रीभाष्य को आदर से भवण-मनन करना और श्री भाष्य का श्लोक में प्रचार करने से ईश्वर कैङ्कर्य हो जाता है ।

२—यदि इस में असमर्थ हो, तो पूर्वाचार्यों की गाथाओं का (द्रविड वेद) रात-दिन पठन-पाठन करना चाहिये ।

३—यदि यह न हो तो दिव्य-देशों में भगवत-कैङ्कर्य करना चाहिये और भगवन्मूर्तियों की प्रतिष्ठा करनी चाहिये ।

४—यदि यह भी न हो तो अर्थ के सहित निरन्तर द्वय मन्त्र का अनुसन्धान करना चाहिये । द्वयेन सततं स्फुरिताधरमित्यादि ।

५—यदि इस में शक्ति न हो तो दिव्य देशों में कुटी बना कर भी निरन्तर वास करना चाहिये, यदि इसमें शक्ति न हो तो ।

सबसे सुलभ उपाय यह है कि ज्ञान, भक्ति वैराग्य युक्त शरणागति धर्म के जानने वाला अहंकार, ममकार से मुक्त महात्मा के आश्रय सदा वास करना, इस प्रकार से समस्त भौवैष्णवों को नाना तरह के आचरण तथा उपदेश करते हुए ६० वर्ष तक अखण्ड श्रीरङ्गनगर में वास किये और ६० वर्ष के अन्दर श्रीभूतपुरी कांची मैल कोटा तथा चारों धामों की यात्रा में व्यतीत करके और सेतु से लेकर हिमालय तक तथा पूर्व समुद्र से लेकर पश्चिम समुद्र तक ऐसा कौन मनुष्य था ? कि जो स्वामी रामानुज का सम्बन्धी न हुआ हो और चार लक्ष वत्सोस हजार वर्ष की कलियुग की सीमा तक श्रीमण्य, तथा वेदार्थ संग्रह इत्यादि नाना ग्रन्थों को तथा नाना दिव्य देशों को स्थापन करके परम-धाम को शोभित किये ।

श्रीरङ्गवासेन यतीश्वरस्यपट्टिः समानामगमत् सुखेन ।
पट्टिस्तथान्या निगमाद्रि कांची श्रीभूतपूर्वाद्विषु वासतःकौ ॥
आसेतु सीताचलमभ्यभूमावापश्चिमप्रागूलराशि मध्ये ।
अशिष्यभूतोयति पुंगवस्य कश्चिज्जनः कापिन लक्ष्यते हि ॥

सम्यङ्निवृत्ताखिल विष्णुमाया,

तमो यतीन्द्राभयणाब्ज बन्धुः ।

सम्प्राप्त तत्त्वार्थ निधिर्हि मोक्षं,

सुखं प्रपेदेऽखिलजन्तु संघः ॥

और श्रीरामानुजाचार्य के अङ्गों में समस्ताचार्य वास करते हैं ।

मस्तकं श्रीशठरातिं नाथाख्यं मुखमण्डलम् ।

नेत्रयुग्मं सरोजाक्षं कपोलं राघवं तथा ॥१॥

वक्षस्थलं यामुनायं कण्ठं श्रीपूर्णं देशिकम् ।

बाहु द्वयं गोष्ठीपूर्णं शैलपूर्णस्तनद्वयम् ॥

कुञ्चितु वर रंगार्यं पृष्ठं मालाधरं तथा ।
 कटिकांची मुनि विद्याद्गोविन्दार्यं नितम्बकम् ॥ ३ ॥
 भद्रवेदान्तिनौ जंघे-उरु युग्मन्तु नम्युलम् ।
 कृष्णं जानुयुगञ्चैव लोकं श्रीपाद पंकजम् ॥ ४ ॥
 रेखां श्रीशैलनाथार्यं पादुकां चरयोगिनम् ।
 पुण्ड्रं सेनापतिं प्रोक्तं सूत्रं कूरपतिं तथा ॥ ५ ॥
 भागनेयं त्रिदण्डञ्च कापायश्चान्धपूर्णकम् ।
 मालाञ्चकुरुकेशार्यं छायां श्रीचापकिङ्करम् ॥ ६ ॥
 एवं रामानुजार्यस्थावयवानखिलान् गुरुन् ।
 अवयविनं महात्मानं रामानुजं मुनिं भजे ॥ ७ ॥
 गुरु मूर्त्यात्म योगीन्द्रं योध्यायेत्प्रत्यहं नरः ।
 सर्वान्कामान् वाप्नोति लभेशान्ते परमंपदम् ॥ ८ ॥

परिशिष्ट भाग

तत्पश्चात् श्रीरामानुजाचार्य के स्थापित किये हुये ७४ पीठस्थ
 आचार्य पुरुषों ने इस ग्रन्थ तथा मतका अधिक प्रचार किया । तदनन्तर
 श्रीलोकाचार्य स्वामी ने अनेक रहस्यार्थ ग्रन्थों से पुष्ट किया । तत्समकाल
 में श्रीवेदान्ताचार्यजी ने १६४ ग्रन्थों के द्वारा इस विशिष्टाद्वैत प्रतिपादक
 श्रीभाष्य की सुचारु रूप से रक्षा की ।

श्रीवेदान्ताचार्य के समकाल में यवनों का सामराज्य था वे लोग
 धार्मिक स्थानों पर आक्रमण करते हुये श्री रंगनगर जा पहुँचे वहाँ
 उत्तम उत्तम रत्न आदि वस्तु लेकर भी पुनः कौतुभमणि माँगने लगे
 तो श्रीवैष्णवों ने विचार किया कि अपने जीते ७ ही दे देना स्वरूपविरुद्ध
 और भगवद्विचार है तब श्रीलोकाचार्य भगवान् रंगनाथ की उत्सवमूर्ति
 लेकर पाण्ड्य देश (वन) को चले गये तदनन्तर यह समाचार यवनों ने सुना
 और क्रुधित होकर सब वैष्णवों को मार डाले पुनः पुस्तकालय में
 जाकर पुस्तकों का नाश करने लगे (अग्नि भी प्रज्वलित करने लगे,
 यह विषय यतीन्द्र प्रवणप्रभाव तथा गुरुपरम्परा प्रभाव में पाया

जाता है) तब श्रीवेदान्ताचार्यजी उस यवनी सेना के देखते हुये भी पुस्तकालय में जा पहुँचे उसी समय सुदर्शन भट्टाचार्यजी ने श्रीभाष्य तथा अपना पुत्र वेदान्ताचार्य को दिये। पुनः इन दोनों रत्नों को लेकर मरें हुये वैष्णों को अपने ऊपर डाल कर सात दिन तक छिपे रहे फिर भी यवनों ने थड़ी तलाशी की परन्तु भगवदनुग्रह से रक्षित रहे तत्पश्चात् यादवाद्रि चले गये। इसमें प्रमाणिक श्लोक मिलता है—

श्रीभाष्यं वैकटेशश्च सुदर्शनसुतद्वयम् ।

समादायाञ्चसाधीमान् यादवाद्रिं तदाययौ

लोकाचार्य सहायेन रंगेशः पाण्ड्यमण्डलम् ।

प्रतस्थे सहस्राऽरण्य चर्मना दुर्गमनेनच ॥

इस प्रकार १४ वर्ष में लौट कर पुनः श्रीरंगनाथ रंगनगर में विराजमान हुये। और वेदान्ताचार्य भी विराजमान हुये तदन्तर हयग्रीव भगवान् का आराधन करके इस सिद्धान्त की तथा श्रीभाष्य की रक्षा के लिये १६४ ग्रन्थों की रचना किये। ऐसे २ फटों से पूर्वाचार्य इस ग्रन्थ की रक्षा किये। परन्तु वर्तमान काफिक श्रीवैष्णवों का ध्यान इस तरफ नहीं जाता है यही शोचनीय विषय है।

तदनन्तर श्रीधरधर मुनि स्वामी ने अष्ट गद्दी स्थापित करके सुरक्षित किया [१ श्रीयानाचल योगी, २ भट्टनाथमुनि, ३ श्रीनिवासयति, ४ देवराज गुरु, ५ बाधूलवरद्वनारायण, ६ प्रतिवादिभयंकर, ७ रामानुज गुरु, ८ प्रणवार्तिहारी।] ये अष्ट गद्दियों के महापुरुष हैं। इस प्रकार से यह सम्प्रदाय दक्षिण देशमें अधिक रूपसे प्रचलित था परन्तु उत्तर देश में सामान्य रूप से प्रचलित रहा पुनः श्रीरंगाचार्यजी महाराज ने श्रीवृन्दावन में दिव्य देश स्थापित कर समस्त ग्रन्थों को द्रविड़ तैलंग अक्षरों से संस्कृत भाषा में अनुवाद किया। तब यह श्रीभाष्य काशी में भी छपा था परन्तु अब अत्यन्त दुर्लभ होने से आगे न छपने से करीब ७५ रु० कि० सूचोपत्रों में देखा जाता है। पुनः मूल मात्र मद्रास में प्रकाशित हुआ था, वह भी अब नहीं मिलता है। पुनः पं० श्रीधरणीधर शास्त्रीजी महाराज ने टीकाद्वय सहित

प्रकाशित किया है, यह पुस्तक उत्तर-दक्षिण भारत में इस मत का अधिक रूप से प्रचार कर रही है, परन्तु इसकी ६ जिल्द हैं, पठन-पाठन तथा प्रवेश की यात्रा में बड़ी ही असुविधा रहती है, पुनः मैंने कै-एक प्रेसवालों से पत्र-व्यवहार किया और स्वयं बातचीत भी की और संप्र-दाय के बड़े-बड़े धनिक महन्त तथा सेठों से भी बहुत कहा-सुना, परन्तु किसी ने भी इस कार्य में ध्यान न दिया। और मेरी इस पुस्तक में बड़ी अभिलाषा बढ़ती गई, पुनः मेरा संकल्प हुआ कि मैं वे० आ० परीक्षा उत्तीर्ण होकर प्रथम ही श्रीभाष्य का केन्द्र्य करूँगा।

तदन्तर १६३५ में काशी-संस्कृत कालेज से विशिष्टाद्वैत भाग में प्रथम ही उत्तीर्ण हुआ, तदन्तर प्रेस वालों से मामूली तरह से बातचीत हुई। उन्होंने कहा थोड़े खर्च में ही आपकी पुस्तक छपेगी। पुनः पीछे हिसाब करने को कहा, तो दो-दो हज़ारके करीब रु० बताये और इतना खर्चा न होनेसे मैं असमर्थ रहा, बड़ा चिन्ता होती रही पुनः पं० श्रीगोविन्दाचार्यजी के चरणाभित पं० लीलाधर शास्त्री ने कहा कि मैं संशोधन करने की सहायता दूँगा, आप कुछ उद्योग कीजिये। तब मैं कलकत्ते गया और वहाँ श्रीमान् सेठ हजारीमल सोमाणिजी तथा श्रीमान् सेठ किशनलाल वांगड़जी से प्रथम मुलाकात हुई और इन सज्जनों के पुरु-स्कार व परोपकार की दृष्टि से अनेक विघ्नों से ठोकर खाता हुआ भी इस पुस्तक की छपाई कागज के वास्ते कुछ चन्दा भी हुआ। अब जिन जिन सज्जनों ने इस कार्य में अपनी भद्रा-शक्ति के अनुसार सहायता दी है, उनकी धन्यवाद देते हुए उनकी नाम-स्मृति दी जाती है—

- श्री १०८ जगद् गुरु महन्त श्रीगदाधर रामानुजाचार्यजी पुरी,
- श्री मान् महन्त गोविन्दाचार्यजी उत्तर पार्वपुरी
- श्रीमान् सेठ नारायणदासजी, गोविन्ददासजी वांगड़ कलकत्ता,
- श्रीमान् सेठ किशनलालजी वांगड़, "
- श्री मान् सेठ हजारीमलजी सोमाणी "
- श्रीमान् सेठ कन्हैयालालजी गढ़ानी "
- श्री मान् बाबू सन्तोषकुमारजी मल्लिक "
- श्री मान् सेठ जगन्नाथजी जीवनमलजी तापड़िया

श्रीमान् सेठ ठाकुरदासजी साह (वैकर) अल्मोड़ा

उक्त महानुभावों के मनोरथों को श्रीमन्नारायण सदा पूर्ण करेंगे और आगे श्रीवेदान्ताचार्य कृत १६४ ग्रन्थों के जोर्णोंद्वार में तन, मन, धन से जल्द चेष्टा भी करेंगे ।

श्री १०८ पूज्यपाद पं० धरणीधर शास्त्रीजी महाराज के तथा अन्यान्य समस्त गुरुजनोंके चरण-कमलों में कोटिशः साष्टांग करता हूँ, जिनकी निर्हेतुक कृपा से ही मैंने इस दिव्य सूक्ति का आस्वादन किया और भगवद्भगवत्ताचार्य सेवा करनेका भी अवसर प्राप्त हुआ है।

यद्यपि इस ग्रन्थ-रत्न की भूमिका संस्कृत में ही होनी चाहिये थी, परन्तु बड़े-बड़े शिष्ट-सज्जनों की आज्ञा से सामान्य जनता के उपकार के लिये और जो संस्कृत नहीं जानते हैं, इस मत में पूर्ण-रीति से अद्धा-भक्ति रखने वाले हैं, उन महानुभावों को इस ग्रन्थ का तात्पर्य समझने के लिये हिन्दी में भूमिका लिखी है, अब जो मेरी अनवधानता से तथा हिन्दी प्रेसवालों के व संशोधक के भ्रम-प्रमाद कर्णापाटवादि से गलती रह गई है, उनको पाठक-गण क्षमा करें और संशोधन करके तात्पर्य समझ लें । ये पुस्तकें मनोवृत्ति से अखिलाण्ड-कोटि ब्रह्माण्ड-नायक परत्व सौलभ्य नाना गुण गणालंकृत श्रीमन्नारायण के श्रीचरण-कमलों में समर्पित करके श्री १०८ श्री गोपाळाचार्य स्वामीजी महाराज के तथा श्री पं० श्रीधराचार्य शास्त्रीजी महाराज के हस्त-कमलों में निवेदित तथा सुशोभित होती हुई समस्त जनता के हृदय-अन्वकार को विनिष्ट करती हुई, इस विशिष्टाद्वैत श्रीरामानुज सम्प्रदाय का अधिकार रूप से प्रचार करती जायेगी । शुभं भूयात् ॥

भगवद्भगवत्ताचार्य चरण-रेणु कृपा का कांक्षी "वेदा-ताचार्य"—
(धरणीधराऽपर नामधेय) पर्यतीय—

पं० धनीराम शास्त्री,

ज्ञानगूढ़ी, गृन्दावन (मथुरा)



। ॐ ।

॥ शिवे नमः ॥

• श्रीधराय नमः •



श्रीमते रामानुजाय नमः ॥

श्रीभगवद्रामानुजविरचितं—

❀ शारीरकमीमांसा श्रीभाष्यम् ❀

अखिलः भुवनजन्मस्थेममङ्गादिलीले
चिन्ततः विविधभूतघातरक्षैकदीक्षे ।
ध्रुतिशिरसि विदीप्ते ब्रह्मणि श्रीनिवासे
भवतु मम परस्मिञ्शेमुषी भक्तिरूपा ॥ १ ॥

❀ अथ श्लोके शास्त्र प्रतिपाद्यं देश भूतः परपक्ष प्रतिषेपार्थतत्सूचितो
भवति — 'जन्म-स्थेम भङ्गादि' शब्देन युगपत्सर्गादिकमनभ्युपगच्छन्तो भाट्ट-
प्राभाकरा व्यावर्तिताः । 'लीला' शब्देन साक्षीमात्रेभरवादि हेरय्य गर्भं व्युदासः ।
'चिन्ततेत्यादि' पदेन जीवानां परस्परं ब्रह्मणा च भेदमनभ्युपयन्तो ब्रह्मज्ञान
वादिनोऽपास्ताः । ध्रुति शिरसीत्यनेन वेद बाह्य चार्वाक यौद्धार्यत निरासः ।
तेनैव पदेनानुमानिकेभरवादिनो निरस्ताः । ब्रह्मणीत्यनेनाब्रह्मात्मक प्रधान परमाणु
कारणवादि सांख्य वैशेषिकादि व्युदासः । 'श्रीनिवास' शब्देन पाशुपतादि
व्युदासः । अनेनैवेभरोत्तीर्णं ब्रह्म वादिनो भेदाभेदवादिनश्च निरस्ताः ।
'शेमुषी' शब्देन ज्ञान-कर्म समुच्चयोपाय वादि व्युदासः । 'भक्ति रूपेति वाक्यार्थ-
ज्ञानमात्रोपायवादि व्युदासः । ननु प्रयोजक व्यापारो हि लीला, अतो भंगस्य
लीलास्ये युक्तेऽपि कथं प्रयोज्य व्यापार भूतयो जन्म स्थित्यो र्जीवात्वम् ; उच्यते-
यद्वा स्या प्रजायेयेति हि ध्रुतिः, अतः प्रयोजक व्यापार कर् प्रयोज्य व्यापारस्य
च लीलास्ये कथनेनोपादानत्वं फलितम्, लीला शब्देन निमित्तत्वं च ॥ भङ्गादी-
त्यन्तेन प्रथमाध्यायार्थः संचितः । अत्रास समस्त कामस्य व्यापारानुपपत्तिं परि-

पाराशर्यवचस्सुधामुपनिगदुधुग्धाब्धिमध्योद्धृतां
संसाराग्निविदीपनव्यपगतप्राणात्मसञ्जीवनीम् ।
पूर्वाचार्यसुरक्षिता बहुमतिव्याघानदूरक्षिता-
मानोतां तु निजार्क्षरैस्सुमनसो भौमाः पिबन्त्वन्वहम् ॥२॥

— (प्रथमाध्याये-प्रथमपादे-जिज्ञासाधिकरणम्) —

भगवदुद्योधायनकृतां विस्तीर्णां ब्रह्मसूत्रवृत्तिं पूर्वाचार्यास्सञ्चि-
क्षिपुः, तन्मातानुसारेण सूत्राक्षराणि व्याख्यास्यन्ते -

ओं ॥ अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥

अत्रायमथशब्दः ॥ भानन्तर्ये भवति । अतश्चाय्यो वृत्तस्य हेतुभावे ।
अधीतसाङ्गसशिरस्कवेदस्याधिगताल्पास्थिरफलकेवलकर्मज्ञानतया सं-
जातमोक्षाभिलाषस्यानन्तस्थिरफलब्रह्मजिज्ञासा ह्यनन्तरभाविनी ॥

ब्रह्मणो जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा । ब्रह्मण इति कर्मणि पष्ठौ,

हरता स्त्रीला शब्देन विरोध परिहार पर द्वितीयाध्यायार्थः सूचितः ॥ विनत-
रचाशब्दाभ्यां तृतीय वतुर्थाध्यायार्थो संक्षिप्तौ । एवमर्थं श्लोकेन प्रमेय शरीरं
संक्षिप्य पुनरर्थेन प्रमाण स्वरूपं संक्षिप्यते अति शिरसीत्यादिना ।

✦ प्रह्नी भूता न्यासोपासनात्मकरोप विद्या विशेष निष्ठा विवक्षिताः । भूत
सम्बन्धी प्रातो-भूत प्रातः । संभित संबन्धिनोऽपि तत एव कारणात्
भगवतो रक्षाः । यथा-आत्मोदयन्ति पितरः प्रतुल्यन्ति पितामहाः । वैष्णवो
नः कुले जातः स नरपतारयिष्यति ॥ १ ॥ पशु संतुष्यः पक्षी वा ये च वैष्णव
संभयाः । तेनैव ते प्रयास्यन्ति तद्विध्योः परमं पदमिति च । हृष्टप्रापणं पर्वन्ता-
निष्ठनिवारणं लक्षणा रक्षा । तस्यामेक दीधः प्रबानदीध इत्यर्थः । अप्यहं
जीवितं जह्यां त्वां वा सीते सलदमण्यामिस्यादि ।

॥ अज्ञानान्तर्यं इति सप्तम्यारशक्ति निरूपकत्वं रूप वाचकशार्थकताया तस्य
'भू' धात्वर्थे धर्मेऽभेदेनान्वयात् तस्याख्यातार्थाभ्यस्त्ये तस्य च प्रथमान्तार्थं, अथ
शब्दे स्वरूपं सप्तम्येनान्वयात्, एतत्सूत्रं घटकीं भूतातः शब्दशिरस्काभिन्नः,
अथ शब्दः अज्ञानान्तर्यं वाचकत्वाभिन्न धर्मयानिति बोधः ।

१ "कर्तृकर्मणोः कृति" इति विशेषविधानात् । यद्यपि सम्बन्धसामान्य-
परिग्रहेऽपि जिज्ञासायाः कर्मापेक्षत्वेन कर्मार्थत्वसिद्धिः, तथाऽप्या-
क्षेपतः प्राप्तादाभिधानिकस्यैव ग्राह्यत्वात् कर्मणि पट्टी गृह्यते । न च
२ "प्रतिपद्विधाना पट्टी न समस्यते" इति कर्मणि पठ्यास्समास-
नियेधशङ्कनोयः, ३ "कृद्योगा च पट्टी समस्यते" इति प्रतिप्रसव-
सम्भवात् ब्रह्मशब्देन च स्वभावतोऽनिरस्तनिखिलदोषोऽनवधिकाति-
शयसङ्ख्येयकल्याणगुणगणः पुरुषोत्तमोऽभिधीयते । सर्वत्र बृहस्प
गुणयोगेन हि ब्रह्मशब्दः । बृहस्प च स्वरूपेण गुणैश्च यत्रानवधिका
तशयं सोऽस्य मुख्योऽर्थः, स च सर्वेश्वर एव । अतो ब्रह्मशब्दस्तत्रैव
मुख्यवृत्तः । तस्मादन्यत्र तद्गुणलेशयोगादौपचारिकः, अनेकार्थकल्प-
नायोगात्, भगवच्छब्दयत् । तापत्रयानुरैरस्मृतत्वाय स एव जिज्ञासाः ।
अतस्सर्वेश्वर एव जिज्ञासाकर्मभूतं ब्रह्म ॥

ज्ञानुमिच्छा जिज्ञासा । इच्छाया इष्यमाणप्रधानत्वादिष्यमाण
ज्ञानमिह विधीयते ॥

मीमांसापूर्वभागज्ञातस्य कर्मणोऽलपास्त्रिफलत्वादुपगितन-
भावावसेयस्य ब्रह्मज्ञानस्यानन्ताक्षयफलत्वाच्च पृथ्वृत्तात्कर्मज्ञानादन-
न्तरं तत एव हेतोर्ब्रह्म ज्ञातव्यमित्युक्तं भवति । तदाह वृत्तिकारः—
४ "वृत्तात्कर्माधिगमादनन्तरं ब्रह्मविधिविषा" इति । यद्व्यति च
कर्मब्रह्ममीमांसयोरेकशास्त्र्यं—५ "संहितमेतच्छारीरकं जैमिनीयेन
पोडशलक्षणेनेति शास्त्रैकत्वसिद्धिः" । इति अतः प्रतिपिपादयिगिता-
र्थमेवेन पद्वकमेवदध्यायभेदवच्च पूर्वोत्तरमीमांसयोर्भेदः । मीमांसा-

अनिरस्त कतिपय दोषत्वं, निरस्त निखिल दोषत्वं च केवाचिद् पद्वानां
युक्तानां नित्यानामप्यस्तीति, तद्व्याख्यायकं स्वभावतो निरस्त निखिल दोष
इत्युक्तम्; नित्य सिद्धानामपि भागवद्वित्य संकल्पाधीनं हि नित्य निर्दोषत्वम् ।
स्वभावत इत्युत्तरत्रानुपपन्नः; तेन गुणानामप्यविद्या कल्पितत्वं एव व्यावृत्तिः ।

! मोक्ष रूपक प्रयोजनक प्रतिपत्ति विषयार्थकत्वमेक शास्त्र्यम् । मोक्षस्य
साक्षात्कर्म फलत्वाभावेऽपि परम्परया तत्त्वत्वमवतमेव ।

१ अष्टा० २ अ० ३ पा० १२ सू० । २ अष्टा० २ अ० २ पा० १० सू० वा० ।

३ अष्टा० २ अ० २ पा० ८ सू० वा० । ४ शोभायनवृत्तिः । ५ योषयनवृत्तिः ।

शास्त्रम्—१“अथातो धर्मजिज्ञासा” इत्यादस्य २“अनावृत्तिश्शब्दाद्-
नावृत्तिश्शब्दात्” इत्येवमन्तं सङ्गतिविशेषेण ? विशिष्टक्रमम् । तथाहि-
प्रथमं तावत् ३“स्वाध्यायोऽध्येतव्यः” इत्यध्ययनेनैव स्वाध्यायशब्द-
वाच्यवेदाख्याक्षरराशेर्ग्रहणं विधीयते ॥

तथाध्ययनं किरूपं कथं च कर्तव्यमित्यपेक्षायाम् ४“अथर्व-
ब्राह्मणमुपनयीत समध्यापयेत्” इत्यनेन,

५“आवर्ण्यां प्रौष्ठपद्यां वा उपाकृत्य यथाविधि ।

युक्तश्छन्दांस्यधीयीत मासान्विप्रोऽर्धपञ्चमान् ॥”

इत्यादिग्रन्थनियमविशेषोपदेशैर्ब्राह्मणपेक्षितानि विधीयन्ते ॥

एवं ससन्तानप्रसूतसवाचारनिष्ठासमुणोपेतवेदविदाचार्यो-
पनीतस्य ग्रन्थनियमविशेषयुक्तस्याऽचार्योच्चारणानुच्चारणरूपमक्षर-
राशिग्रहणफलमध्ययनमित्यवगम्यते ॥

अध्ययनं च स्वाध्यायसंस्कारः, ६“स्वाध्यायोऽध्येतव्यः”
इति स्वाध्यायस्य कर्मधावगमात् । संस्कारो हि नाम कार्यान्तरयो-
ग्यताकरणम् । संस्कार्यस्य च स्वाध्यायस्य युक्तम्, धर्मार्थकाममोक्ष-
रूपपुरुषार्थचतुष्टयतत्साधनावशोधिवात्, जपादिना स्वरूपेणापि
तत्साधनत्वाच्च ॥

एवमध्ययनविधिर्मन्त्रवत् नियमवदक्षरराशिग्रहणमात्रे पर्य-
वस्यति । अध्ययनगृहीतस्य स्वाध्यायस्य संभावत एव प्रयोजनवद-

१ अग्रमी संगति विशेषा अग्निप्रेताः पाठ क्रमः, येतनानां श्रिवर्गो प्रथम
प्रावण्य संभव रूपोऽर्थस्वभावः, औपनिषदेवङ्गादि भाव प्रति पादक वाक्येषु
यज्ञादि कर्मणा पदार्थत्वेन संबन्धः, कामुचिद् विद्यासु यज्ञ तदुपकरणार्थीनां
रुष्टि विशेषणत्वोक्तिः, कर्म ग्रहण विषयो रक्षणं दार्ष्टान्तिक भावः, विद्या कर्म-
शोरत्पाद्योपादक भावात् तत्त्वेष भूत विदारयोस्तु तत्कर्म भावत्वोपपत्तिः,
ध्यायान भूत मीमांसायां चोत्तर भागस्य पूर्व भागोक्त व्यावसायेकत्वत्वेति ॥

१ कर्ममी० १ अ० १ पा० १ सू० । २ शारीरकम् ४ अ० ४ पा० २२ सू० ।

३ यजुरारण्यके २ प्र० १२ अनु० । ४ शतपथब्राह्मणम् । ५ मनुस्मृ० ४ अ०
६२ श्लोक । ६ यजुरारण्यके २ प्र० १२ अनु० ।

र्थावबोधित्वदर्शनात् : गृहीतास्वाध्यायादयगम्यमानान् प्रयोजनयतो-
 ऽर्थानापाततो दृष्ट्वा तत्स्वरूपप्रकारविशेषनिर्णायफलवेदवाक्यविचार-
 रूपमीमांसाधवणेऽधीतवेदः पुरुषस्वयमेव प्रवर्तते । (तत्र कर्मविधि-
 स्वरूपे निरूपिते कर्मणामल्पास्थिरफलत्वं दृष्ट्वाऽध्ययनगृहीतस्वाध्यायै-
 कदेशोपनिषद्वाक्येषु चामृतसंस्करणान्तस्थिरफलापातप्रतीतिस्तन्निर्णाय-
 फलवेदान्तवाक्यविचाररूपशारीरकमीमांसायामधिकरोति । तथा च
 वेदान्तवाक्यानि केवलकर्मफलस्य क्षयित्वं ब्रह्मज्ञानस्य चाक्षयफलत्वं
 दर्शयन्ति—१ “तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते, एवमेवामुत्र पुण्य-
 चितो लोकः क्षीयते” २ “अन्तवदेवास्य तद्भवति” ३ “न ह्यध्रुवैः
 प्राप्यते” ४ “एलवा ह्येते अद्भुता यज्ञरूपाः” ५ “परीक्ष्य लोकान्
 कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायात् नास्त्यदृतः दृतेन तद्विज्ञानार्थं स
 गुरुमेवाभिगच्छेत्समिप्याणिश्रद्धोद्विगं ब्रह्मनिष्ठं ॥ तस्मै स विद्वानुप-
 सन्नाय सम्यक्प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं
 प्रोवाच (क) तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्” ६ “ब्रह्मविद्याप्रोति परम्”
 ७ “न पुनर्मृत्यवे तदेकं पश्यति” ८ “न पश्ये मृत्युं पश्यति”
 ९ “स स्वराड्भवति” १० “तमेव विद्वानमृत इह भवति”
 ११ “पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टतस्तत्तेनामृतत्वमेति”—
 इत्यादीनि ॥

ननु च—साङ्गवेदाध्ययनादेव कर्मणा स्वर्गादिकल्यणम्,
 स्वर्गादीनां च क्षयित्वं, ब्रह्मोपासनस्यामृतत्वफलत्वं च क्षायत एव ।
 अनन्तरं मुमुक्षुर्ब्रह्मजिज्ञासाधामेव प्रवर्तताम् ; किमर्था धर्मविचारा-
 पेक्षा ? । एवं तर्हि शारीरकमीमांसायामपि न प्रवर्तताम्, साङ्गाध्य-
 यनादेव कलस्वस्य क्षातत्वात् । सत्यम् ; आपातप्रतीतिर्विद्यत एव,
 तथापि न्यायानुगृहीतस्य वाक्यस्यार्थनिश्चायकवादापातप्रतीतो-

१ छान्दोग्ये ० ८ प्रपाठके १ खखडे ६ वा० । २ बृहदारण्यके ३ अध्याये ३
 ८ ब्राह्मणे १० वा० । ३ कठे २ वक्ष्या १० वा० । ४ मुण्डकोपनिषदि ३
 १ मुण्डके २ ख० ७ वा० । ५ मुण्ड-उ० १ मुण्डे २ ख० १२-१३ वा० ।
 ६ तैत्तिरीये छान्दः २ अ० १ अनु० १ वा० । ७ ८ छान्द-उ० ७ प्र० २६
 ख० वा० । ९ ब्रा-उ० ७ प्र० २५ ख० २ वा० । १० पुरुषसूक्ते २० वा० ।
 ११ श्वेताश्वतरे १ अ० ६ वा० । (क) प्र० या दिव्यः ॥

ऽप्यर्थस्तंशयविपर्ययो नातिवर्तते, अतस्तस्मिन्निर्णयाय वेदान्तवाक्य-
विचारः कर्तव्यः—इति चेत्, तथैव धर्मविचारोऽपि कर्तव्य इति
पश्यतु भवान् ॥

(लघुपूर्वपक्षः)

ननु च—ब्रह्मजिज्ञासा यदेव नियमेनापेक्षते, तदेव पूर्ववृत्तं वक्त-
व्यम् । न धर्मविचारापेक्षा ब्रह्मजिज्ञासायाः, अधीतवेदान्तस्यानधिगत-
कर्मणोऽपि वेदान्तवाक्यार्थविचारोपपत्तेः । कर्माङ्गाध्याप्युद्गीथाष्टपा-
सनान्यत्रैव चिन्तयन्ते, कृतद्वन्धिगतकर्मणो न शक्यं कर्तुम्, इति चेत् ;
अनभिज्ञो भवान् शारीरकशास्त्रविज्ञानस्य । अस्मिन् शास्त्रे अनाद्यविद्या-
कृतविविधभेददर्शननिमित्तजन्मजरामरणविधासांसारिकदुःखसागरनिम-
ग्नस्यनिश्चलदुःखमुलमिथ्याज्ञाननिवर्हणायाऽत्मैकत्वविज्ञानं प्रतिपिपाद-
यिष्यतम् । अस्य हि भेदावलम्बि कर्मज्ञानं कोपयुज्यते ? प्रत्युत विरु-
द्धमेव । उद्गीथादिविचारस्तु कर्मशेषभूत एव ज्ञानरूपत्वाविशेषादिद्वैध
क्रियते । स तु न साक्षात्सङ्गतः । अतो यत्प्रधानं शास्त्रं, तदपेक्षितमेव
पूर्ववृत्तं किमपि वक्तव्यम् ॥

षाडम्, तदपेक्षितं च कर्मविज्ञानमेव, कर्मसमुच्चितात् घाताद-
पवर्गभृतेः । यद्व्यति च—१ “सर्वापेक्षा च यज्ञादिभृतेरश्वत्” इति ।

॥ एकस्यसाग्नः पञ्च भागाः सन्ति, ते प्रस्तावोद्गीथं प्रतिहारो प
त्रय निषणाश्रयाः । एते भागा भक्ति शब्दाभिधेयाः, तासु पञ्च सुभक्तिषु प्रस्तावो-
द्गीथरपूर्वधीयते, उद्गीथः प्रणवपूर्वधीयते, तत्र पञ्च विध सामोपासनं कवि
द्विधीयते, लोकेषु पञ्चविधं सामोपासी तेति ॥ फरित्सा माचयवेषु पञ्चत्वेकैका-
चव बोपासनं विधीयते । तत्रोद्गीथा वयवभूत प्रणवोपासनं विधीयते ।
ओमित्येतद्वचर तु उद्गीथ सुपासीतेति । माङ्गाध्यानि कर्माङ्गभूतोद्गीथादि
विषयाणि । अनधिगत कर्मण उद्गीथाद्युपासनं चिन्तनं न शक्यं कर्तुमिति ॥

अवेक्षिते च कर्मण्यद्वाते केन समुच्चयः केन नेति विभागो न शक्यते
ज्ञातुम् । अतस्तदेव पूर्ववृत्तम् ॥

नैतद्युक्तं, सकलविशेषप्रत्यनीकचिन्मात्रब्रह्मविधानादेवाविद्या-
निवृत्तौ; अविद्यानिवृत्तिरेव हि मोक्षः । वर्णाश्रमविशेषसाध्यसाधनेत-
कर्तव्यताद्यनन्तविकल्पास्पदं कर्म सकलभेददर्शननिवृत्तिरूपाज्ञाननिवृत्तेः
कथमिव साधनं भवेत् ? । श्रुतयश्च कर्मणामनित्यफलत्वेन मोक्षविरो-
धित्वं, ज्ञानस्यैव मोक्षसाधनत्वं च दर्शयन्ति—१ “अन्तवदेवास्य
तद्भवति ” २ “ तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते । एवमेवामुल्ल पुण्य-
चितो लोकः क्षीयते ” ३ “ब्रह्मविद्याप्नोति परम् ” ४ “ ब्रह्म वेद ब्रह्मैव
भवति ” ५ “समेव विदित्वाऽतिमृत्युमेत” —इत्याद्याः ॥

यदपि चेदमुक्तं—यद्वादिकर्मापेक्षा विद्येति । तद्वस्तुविरोधात्
धृत्यक्षरपर्यालोचनया चान्तःकरणनैर्मल्यद्वारेण विविदिपोत्पत्तांशुप-
उपने, न फलोत्पत्तौ, “ विविदिपन्ति ” इति श्रवणात् । विविदि-
पायां जातायां ज्ञानोत्पत्तौ शमादीनामेवान्तरङ्गोपायतां धृतिरेवाऽह—
६ “ शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुस्समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवाऽत्मानं
पश्येत् ” —इति ॥

तदेवं जन्मान्तरशतानुष्ठितानभिसंहितफलविशेषकर्ममृदितक-
पायस्य विविदिपोत्पत्तौ सत्यां ७ “ सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवा-
द्वितीयम् ” ८ “सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ” ९ “ निष्कलं निष्क्रियं
शान्तम् ” १० “ अयमात्मा ब्रह्म ” ११ “ तत्त्वमसि ” इत्यादिवाक्य-

१ घृ-उ० २ अ० ८ प्र० १० वा० । २ घृ-उ० ८ प्र० १ ख० ६ वा० ।

३ तै-उ० आन० २ अ० १ अनु० १ वा० । ४ मुण्ड-उ० ३ मुण्ड० २ ख०

३ वा० । ५ अ०-उ० ३ अ० ८ वा० । ६ घृ-उ० ६ अ० ४ प्र० २३ वा० ।

७ घृ-उ० ६ प्र० २ ख० १ वा० । ८ तै-उ० आन० २ अ० १ अनु० १ वा० ।

९ अ०-उ० ६ अ० १३ वा० । १० घृ-उ० ६ अ० ४ प्र० २ वा० ।

११ घृ-उ० ६ प्र० ८ ख० ७ वा० ।

जन्यज्ञानाद्विद्या निवर्तते । वाक्यार्थज्ञानोपयोगानि च श्रवणमनननि-
 दिध्यासनानि । श्रवणं नाम वेदान्तवाक्यानि आत्मैकत्वविद्या प्रति-
 पादकानीति तत्त्वदर्शिनभाचार्यान्वयाययुक्तार्थग्रहणम् । एवमाचार्यो-
 पदिष्टस्यार्थस्य स्वात्मन्येवमेव युक्तमिति हेतुतः प्रतिष्ठापनं मननम् ।
 एतद्विरोध्यनादिभेदवासनानिरसनयास्यैवार्थस्यानवरतभावना निदि-
 ध्यासनम् । श्रवणादिभिर्निरस्तसंस्तमेदवासनस्य वाक्यार्थज्ञानम-
 विद्यां निवर्तयतीत्येवंरूपस्य श्रवणस्यावश्यापेक्षितमेव पूर्ववृत्तं ? वक्त-
 व्यम् । तच्च नित्यानित्ययस्तुयिवेकः, शमदमादिसाधनसम्पत्, इहामु-
 त्तफलभोगविरागः, मुमुक्षुत्वं चेत्येतत्साधनचतुष्टयम् । अनेन विना
 जिज्ञासांनुपपत्तौ, अर्थस्यभावादेवेदमेव पूर्ववृत्तमिति ज्ञायते ॥

एतदुक्तं भवति—ग्रन्थस्वरूपाच्छादिकाविद्यामूलमपारमार्थिकं
 भेददर्शनमेव बन्धमूलम् । बन्धश्चापारमार्थिकः । स च समूलोऽपार-
 मार्थिकत्वादेव ज्ञानेनैव निवर्त्यते । निवर्तकं च ज्ञानं तत्त्वमस्यादिवा-
 प्यजन्यम् । तस्यैतस्य वाक्यजन्यस्य ज्ञानस्य स्वरूपोत्पत्तौ कार्ये वा
 कर्मणो नोपयोगः । विविदिपायामेव तु कर्मणामुपयोगः । स च पाप-
 मूलरजस्तमोनिवर्हणद्वारेण सत्त्वविवृद्धया भवतीतीममुपयोगमभिप्रेत्य
 'ब्राह्मणादि विदिषन्ति' इत्युक्तमिति ॥

अतः कर्मज्ञानस्यानुपयोगात् उक्तमेव साधनचतुष्टयं पूर्ववृत्त-
 मिति वक्तव्यम् ॥

(लघुसिद्धान्तः)

अत्रोच्यते यदुक्तमविद्यानिवृत्तिरेव मोक्षः, सा च ग्रन्थविज्ञा-
 नादेव भवति ॥ इति । तदभ्युपगम्यते । अविद्यानिवृत्तये वेदान्तवा-
 क्यैर्विधिस्तितं ज्ञानं किंरूपमिति विवेचनीयम्—किं वाक्याद्वाक्यार्थ-
 ज्ञानमात्रम्, उत तन्मूलमुपासनात्मकं ज्ञानम् ?—इति । न तावद्वाक्य-
 जन्यं ज्ञानं, तस्य विधानमन्तरेणापि वाक्यादेव सिद्धेः, तावन्मात्रे-

१ किमपि ॥ इत्यधिकं कचित्पुस्तके दृश्यते ॥

णाविद्यानिवृत्त्यनुपलब्धेऽथ X । न च वाक्य-भेदवासनायामनिरस्तायां वाक्यमविद्यानिवर्तकं ज्ञानं न जनयति, जातेऽपि सर्वस्य सहसैव भेदज्ञानानिवृत्तिर्न दोषाय; चन्द्रकृत्वे ज्ञातेऽपि द्विचन्द्रज्ञानानिवृत्ति-
वत् । अनिवृत्तमपि छिन्नमूलत्वेन न बन्धाय भवति ॥—इति, सत्यां सामग्र्यां ज्ञानानुत्पत्त्यनुपपत्तेः; सत्यामपि विपरीतवासनायामातोप-
देशलिङ्गादिभिर्बाधकज्ञानोत्पत्तिदर्शनात् + । सत्यपि वाक्यार्थज्ञाने अना-
दिवासनया मात्रया भेदज्ञानमनुवर्तत इति भवता न शक्यते गक्तुम् ।
भेदज्ञानसामग्र्या अपि वासनाया मिथ्यारूपत्वेन ज्ञानोत्पत्त्यैव निवृत्तत्वात् ज्ञानोत्पत्तावपि मिथ्यारूपायास्तस्या अनिवृत्तौ निवर्त-
कान्तराभावात् कश्चिदपि नास्या वासनाया निवृत्तिः । वासनाकार्यं भेदज्ञानं छिन्नमूलमथ चानुवर्तत इति बालिशभाषितम् ÷ । द्विचन्द्र-
ज्ञानादौ तु बाधकसन्निधावपि मिथ्याज्ञानहेतोः परमार्थतिमिरादि-
दोषस्य ज्ञानबाध्यत्वाभावेनाविनष्टत्वात् मिथ्याज्ञानानिवृत्तिरवि-
रुद्धा । प्रबलप्रमाणबाधितत्वेन भयादिकार्यं तु निवर्तते । अपि च भेदवासनानिरसनद्वारेण ज्ञानोत्पत्तिमभ्युपगच्छतां कदाचिदपि ज्ञानो-
त्पत्तिर्न सेत्स्यति; भेदवासनाया अनादिकालोपचितत्वेनापरिमित-

X यद्वा शास्त्र विरोध-प्रत्ययविरोधरूपमिदं दूषणं ह्यं वदता भगवताच्चापस्तम्बेनाऽपि वाक्यार्थं ज्ञानमात्रस्य मोक्ष साधनत्वं निरस्तम् । यथा—
युद्धे जेम प्राप्यं तण्डास्त्रं विप्रतिपिद्धं, युद्धे चेन्ममप्राप्यमिदं न दुःख-
मुपलभेत, एतेन परं व्याख्यातमिति ।

+ यथा स्वविद्देशे सर्प इति वाक्यात् चिरं प्रमितः पुरो न तत्र सर्प इति आहोपदेशाज्जानाति । यथा च वनं न दग्धमिति भुत्वा चिरं भ्रान्तस्य पश्चात् तत्र गत्याहारादि लिङ्ग दर्शनेन दग्धमिति ज्ञानं जायते, यथा चिरं सर्पत्वेन वासिते बलुनि समीप गमनानन्तरमिन्द्रिय व्यापारेण रज्जु ज्ञानं सहैव जायते, तद्वदित्वभिप्रायेणातोदेश लिङ्गादिभिर्बाधक ज्ञानोत्पत्ति दर्शनावित्युक्तम् ।

÷ मृगं नृप्याम्भसि स्नातः शशा शृङ्गधनुर्धरः ।

पुप्य बन्ध्या सुतो याति स्व-पुष्पं कृतं शेषरः ॥

त्वात्, तद्विरोधिभावनायाश्चान्यत्वादनया तन्निरसनानुपपत्तेः । अतो चाक्षार्थज्ञानादन्यदेव ध्यानापोसनादिशब्दवाच्यं ज्ञानं वेदान्तवाक्यैर्विधित्सितम् । तथा च श्रुतयः—१ “विज्ञाय प्रज्ञां कुर्यात्” २ “अनुविद्य विजानाति” ३ “ओमित्येवाऽऽत्मानं ध्यायथ” ४ “निचाप्य तं मृत्युमुन्नात्प्रमुच्यते” ५ “आत्मानमेव लोकमुपासीत” ६ “आत्मा वा अरे † द्रष्टव्यश्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः” ७ “सोऽन्येष्टव्यस्स विजिज्ञासितव्यः”—इत्येव मायाः ॥

अत्र “निदिध्यासितव्यः” इत्यादिनैकार्थ्यात् “अनुविद्य विजानाति” “विज्ञाय प्रज्ञां कुर्यात्” इत्येवमादिभिर्वाक्यार्थज्ञानस्य ध्यानापोकारकत्वात् “अनुविद्य” “विज्ञाय” इत्यनूय “प्रज्ञां कुर्यात्” “विजानाति” इति ध्यानं विधीयते । ‘श्रोतव्यः’ इति चानुवादः—स्वाध्यायस्यार्थपरत्वेनाधीतवेदः पुरुषः प्रयोजनवदर्थवबोधित्यदर्शनात्तन्निर्णयाय स्वयमेव श्रवणे प्रवर्तते—इति श्रवणस्य प्राप्तत्वात् । श्रवणप्रतिष्ठार्थत्वान्मननस्य “मन्तव्यः” इति चानुवादः । तस्माद्ध्यानमेव विधीयते । वक्ष्यति च ८ “आवृत्तिरसकृदुपदेशात्” इति । तद्विदमयवर्गोपायतया विधित्सितं वेदनमुपासनमित्यवगम्यते, विद्युपास्योर्व्यतिकरेणोपक्रमोपसंसारदर्शनात्—९ “मनो ब्रह्मेत्युपासीत” इत्यत्र—“भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद,” १० “न स वेद अहृत्स्नो ह्येषः—आत्मेत्येवोपासीत”, ११—“यस्तद्वेद यत्स वेद स मर्येतदुक्तः” इत्यत्र—१२ “अनुम एतां भगवो देवतां शाधि यां देवतामुपास्से” इति ॥

† अत्र पाठ क्रमादर्थं क्रमो बलीयानिति न्यायेन श्रवण-मनन-निदिध्यासनान्तरं द्रष्टव्य इति संज्ञनीयम्, अन्यथा श्रवणादि विधिनामानर्थक्यात् ।

- १ वृ-उ० १ अ० ४ ब्रा० २१ वा० । २ छा-उ० ८ प्र० १२ ख० ६ वा० ।
 ३ मुण्ड-उ० २ मुण्ड० २ मु० ६ वा० । ४ कठ-उ० १ अ० ३ यज्ञी० १२ वा० ।
 ५ वृ-उ० ३ अ० ४ ब्रा० १२ वा० । ६ वृ-उ० ६ अ० ५ ब्रा० ६ वा० ।
 ७ छा-उ० ८ प्र० ७ ख० १ वा० । ८ शारीर० ४ अ० १ पा० १ सू० ।
 ९ छा-उ० ३ प्र० १८ ख० १ वा० । १० वृ-उ० ३ अ० ४ ब्रा० ७ वा० ।
 ११ छा-उ० ४ प्र० १ ख० ४ वा० । १२ छा-उ० ४ प्र० २ ख० २ वा० ।

ध्यानं च तैलधारावद्विच्छिन्नस्मृतिसन्तानरूपम् १ “ध्रुवा
स्मृतिः । स्मृतिलम्भे सर्वप्रवर्णानां चिप्रमोक्षः” — इति ध्रुवायास्मृते-
रपवर्गोपायत्वश्रवणात् । सा च स्मृतिर्दर्शनसमानाकारा—

२ “भिद्यते हृदयप्रस्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥”

इत्यनेनैकाध्यात् । एवं च सति ३ “आत्मा चा अरे द्रष्टव्यः”
इत्यनेन निदिध्यासनस्य दर्शनसमानाकारता विधीयते । भवति च
स्मृतेर्भयिनाप्रकर्षाद्दर्शनरूपता । वाक्यकारेणैतत्सर्वं प्रपञ्चितम्—४
“वेदनमुपासनं स्यात्तद्विषये श्रवणात्” — इति । सर्वसंप्रतिपत्तु
मोक्षसाधनतया विहितं वेदनमुपासनमित्युक्तम् । ५ “सदृष्टप्रत्ययं
कुर्याच्छब्दार्थस्य कृतत्वात्प्रयाजादियत्” — इति पूर्वं पक्षं कृत्या—
६ “सिद्धं तूपासनशब्दात्” इति वेदनप्रसङ्गदावृत्तं मोक्षसाधनमिति
निर्णीतम् । ७ “उपासनं स्याद्ध्रुवानुस्मृतिर्दर्शनाभिर्वचनाच्च” इति
तस्यैव वेदनस्योपासनरूपस्यालङ्घनावृत्तस्य ध्रुवानुस्मृतित्वमुप-
र्यणितम् ॥

सर्वं स्मृतिर्दर्शनरूपा प्रतिपादिता । दर्शनरूपता च प्रत्यक्ष-
तापत्तिः । एवं प्रत्यक्षतापञ्चामपथर्गसाधनभूतां स्मृतिं विशिष्टि—
८ “नायमात्मा प्रयत्नेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन । यमेवैव
वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैव आत्मा विवृणुते तन् स्वाम्” इति । अनेन
केवलध्वनमनननिदिध्यासनानामात्मप्राप्त्यनुपायत्वमुक्त्वा यमेवैव
आत्मा वृणुते तेनैव लभ्य इत्युक्तम् । प्रियतम एव हि वरणीयो
भवति । यस्यायं निरतिशयप्रियस्स पञ्चास्य प्रियतमो भवति । यथायं
प्रियतम आत्मानं प्राप्नोति, तथा स्वयमेव भगवान् प्रियतम इति
भगवतैवोक्तम्—

१ छा-उ० ७ प्र० २६ म० २ वा० । २ मुण्ड-उ० २ मु० २ ख० म० ।

३ पृ-उ० ६ म० २ वा० ६ वा० । ४ २, ६, ७, बोधायनश्रुतिः ।

५ मुण्ड-उ० ३ मु० २ ख० ३ वा० ।

१“तेषां सततयुक्तानां मज्जतां प्रीतिपूर्वकम् ।

वदामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥”

इति,

२“प्रियो हि क्षानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥”—

इति च ॥

अतस्साक्षात्काररूपा स्मृतिस्सर्वमाणात्यर्थप्रियत्वेन स्वयमप्य-
त्यर्थप्रिया यस्य, स एव परेणाऽत्मना चरणीयो भवतीति तेनैव
लभ्यते पर आत्मेत्युक्तं भवति । एवंरूपा ध्रुवानुस्मृतिरेव भक्तिशब्दे-
नाभिधीयते, उपासनपर्यायत्वाद्भक्तिशब्दस्य अतएव ध्रुतिस्मृतिभि-
रेवमभिधीयते—३“तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति” ४“तमेवं विद्वानमृत
इह भवति । नान्यः पन्था अयनाय विद्यते”,

५“नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्जया ।

शक्त एवविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवविधोऽञ्जुन ! ।

ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं य परन्तप ॥”

६“पुरुषस्स परः पार्थ ! भक्त्या लभ्यत्वनन्यया ॥” इति ॥

एवंरूपाया ध्रुवानुस्मृतेरसाधनानि यक्षादीनि कर्माणीति—

७“यक्षादिधुनेरभवत्” —इत्याभिधास्यते । यद्यपि विविदिपन्तीति
यक्षादयो विविदिषोत्पत्तौ विनियुज्यन्ते, तथाऽपि तस्यैव वेदनस्य
ध्यानरूपस्याहरहरनुष्टीयमामस्याभ्यासाधेयातिशयस्याऽप्रयाणादनुव-
र्तमानस्य ब्रह्मप्राप्तिसाधनत्वात्तदुत्पत्तये सर्वाण्याधमकर्माणि याव-
ज्जीवमनुष्ठेयानि । वक्ष्यति च—८भाप्रयाणात्तत्रापि हि दृष्टम्”

१ गीता १० अ० १० श्लोक । २ गीता ७ अ० १० श्लोक ।

३ श्वे-३० ३ अ० ८ वा० । ४ पुरुषसूक्तम् १० वा० । ५ गीता ११ अ०

४३, ४४ श्लोक । ६ गीता ८ अ० २२ श्लोक । ७ शारीरक मी० ३ अ०

४ पा० २६ सू० । ८ शा० ४ अ० १ पा० १२ सू० ।

१“अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात्” २“सहकारित्वेन च” —
इत्यादिषु । वाक्यकारश्च ध्रुवानुस्मृतेर्विवेकादिभ्य एव निष्पत्तिमाह—
३“तद्विधिर्विवेकविमोकाभ्यासक्रियाकल्याणानगसादानुद्वयैभ्यस्संभ-
वाभिर्यचनाश्च”—इति । विवेकादीनां स्वरूपं चाऽह—४“जात्याश्रय-
निमित्तादुष्टावज्ञात्कायशुद्धिर्विवेकः”—इति । अत्र निर्वचनम्—
५“आहारशुद्धौ सत्यशुद्धिस्सस्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः”—इति
६“विमोकः कामानभिध्वङ्गः” इति । ७“शान्त उपासीत” इति निर्व-
चनम् । ८“आरम्भणसंशोलनं पुनःपुनरभ्यासः” इति । निर्वचनं च
स्मार्तमुदाहृतं भाष्यकारेण—९“सदा तद्भावमायितः”—इति ।
१०“पञ्चमहायज्ञाधनुष्ठानं शक्तिः क्रिया” इति । निर्वचनम्—११क्रिया-
वानेप ब्रह्मविदांवरिष्ठः” १२“तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति
यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन”—इति च । १३“सत्याजवदयादानाहिं-
सानभिध्याः कल्याणानि” इति । निर्वचनं—१४“सत्येन लभ्यः”
१५“तेपामेवैयः—चिरजो ब्रह्मलोकः”—इत्यादि । “१६देशकालवैगुण्या-
च्छोकवस्त्वाधनुस्मृतेश्च तज्जं दैन्यमभास्वरत्वं मनसोऽवसादः”—इति ।
तद्विपर्ययोऽनवसादः । निर्वचनं—१७“नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः”—
इति । १८“तद्विपर्ययजातुष्टिरुद्धयः” इति । तद्विपर्ययोऽनुद्धयः । अति-
सन्तोषश्च विरोधीत्यर्थः । निर्वचनमपि—१९“शान्तो दान्तः”—इति ।
एवंनियमयुक्तस्याऽधमविहितकर्मानुष्ठानेनैव विद्यानिष्पत्तिरित्युक्तं
भवति ॥ तथा च ध्रुत्यन्तरम्—

॥२०“विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयर्थं सह ।

अविद्यया मृत्युं तीर्त्या विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥”—इति ॥

१ शा० ४ अ० १ पा० १६ सू० । २ शा० ३ अ० ४ पा० ३३ सू०
३ धोषायनसृतिः । ४ वृत्तिः । ५ छा-उ० ७ प्र० २६ ख० २ वा० । ६ वृत्तिः ।
७ छा-उ० ३ प्र० १४ ख० १ वा० । ८ वृत्तिः । ९ गीता ८ अ० ६ श्लो०
१० वृत्तिः । ११ मु०-उ० ३ मु० १ ख० ४ वा० । १२ वृ० उ० ६ अ० ४ ब्रा०
२२ वा० । १३ वृत्तिः । १४ मु०-उ० ३ मु० १ ख० २ वा० । १५ प्रश्न-उ० १ प्रश्ने
१५ १६ वा० । १६ वृत्तिः । १७ मु०-उ० ३ मु० २ ख० ४ वा० । १८ वृत्तिः ।
१९ वृ० उ० ६ अ० ४ ब्रा० २३ वा० २० ईशा-उ० ११ वा० ।

॥२० विद्या - ब्रह्मोपासन रूपाम् अविद्या - तदप्रभूत कर्मात्मिका च
एतदुभयं सह वेद ब्रह्माग्निभावेन महानुप्येयं वेदेत्यर्थः ।

अह्नाविद्याशब्दामिहितवर्णाधमविहितं कर्म। अविद्यया-कर्मणा।
मृत्युद्वानोत्पत्तिविरोधि प्राचीनं कर्म। तीर्त्वा-अपोह। विद्यया
क्षणेन। अमृतं ब्रह्म। अश्नुते प्राप्तोतीत्यर्थः। मृत्युतरणोपायतया
प्रतीता अविद्या विद्योत्तरद्विहितं कर्मैव, यथोक्तम् -

१ "इयाज सोऽपि सुबहून् यज्ञान् ज्ञानव्यपाधयः।

ब्रह्मविद्यामधिष्ठाय तनुं मृत्युमविद्यया ॥" इति ॥

ज्ञानविरोधि च कर्म पुण्यपापरूपम्। ब्रह्मज्ञानोत्पत्तिविरोधि-
त्वेनानिष्टफलतयोभयोरपि पापशब्दामिधेयत्वम्। अस्य च ज्ञान-
विरोधित्वं ज्ञानोत्पत्तिहेतुभूतशुद्धसत्त्वविरोधिरजस्तमोविषुद्धिद्वारेण
पापस्य च ज्ञानोदयविरोधित्वम्—२ "एष एवासाधुः कर्मकारयति
तं यमघो निनीयति"—इति धृत्याऽवगम्यते। रजस्तमसोर्यथार्थ-
ज्ञानावरणत्वं, सत्त्वस्य च यथार्थज्ञान हेतुत्वं भगवतैव प्रतिपादितं—
३ "सस्यात्सज्जायते ज्ञानम्" इत्यादिना। अतश्च ज्ञानोत्पत्तये पापं
कर्म निरसनीयम्। तन्निरसनं च अनभिसंहितफलेनानुष्ठितेन धर्मेण।
तथा च धृतिः—४ "धर्मेण पापमपनुदति"—इति। तदेवं ब्रह्मप्राप्ति
साधनं ज्ञानं सर्वधर्मकर्मपेक्षम्। अतोऽपेक्षितकर्मस्वरूपज्ञानं, केवल
कर्मणामल्पाखिरफलत्वज्ञानं च कर्ममीमांसायसेयमिति, सैवापेक्षिता
ब्रह्मजिज्ञासायाः पूर्ववृत्ता चकल्या ॥

॥ यद्यप्युदयनाद्योनयने स्वर्गं नरकं प्राप्य रूपे, तथाप्यसाधु कर्मणां
ज्ञान विरोधित्वं सिद्धयति, तथाहि—उच्चिनीयाऽधोनिनीययो निर्हेतुकत्वे
परमात्मनो वैषम्यं नैर्घृण्य प्रसंगात्, नेयव्य चेतन गोचरं यद्गृह्य इयं गति इय
निनीया निमित्तादि प्रभूतपुण्यपाप कर्तृविषयं विज्ञायते, तत्र गति इय
परांलोत्तरोपर साध्यसाधु कर्म कारयितृत्वमीश्वरस्य न भूतावेशादि यज्जीव
बुद्धयनपेक्षितं भवति, तथा सति ज्ञान विकीर्णाद्यभावाद्वायूदकाद्युत्थीन तूणादेरिय
संसारिणां शास्त्र वरयत्वाभावेन कर्मफल भोगानुपपत्तेः—

१ विष्णुपुराणे ६ स्कंध ६ अध्याये १२ श्लोक। २ कीपीनत्वां ३ अ०
४ या०। ३ गीता १४ अ० १७ श्लोक। ४ तैत्ति० १ प्रश्न नारायणे २०
अनु०

अपि च नित्यानित्यवस्तुविबेकादयम्, मीमांसाश्रवणमन्तरेण न संपत्स्यन्ते, फलकरणोत्तिकर्तयसाधिकारिणिशेषनिश्चयादृते, कर्म-
स्वरूपतत्फलतत्स्वित्वास्वित्वात्मनित्यत्वादीनां दुरवबोधत्वात्, एषां
साधनत्वं च विनियोगाच्चसेयम् । विनियोगश्च + श्रुतिलिङ्गादिभ्यः ।
स च तार्तीयः । उद्गोथाद्युपासनानि कर्मसमृद्धयर्थान्यपि ब्रह्मदृष्टि-
रूपाणि, ब्रह्मज्ञानापेक्षाणीति, इहैव चिन्तनीयानि । तान्यपि कर्माण्य-
नभिलंहितफलानि ब्रह्मविधीत्पादकानांति तत्साद्गुण्यापादनान्येतानि
सुतगमिहैव सङ्गतानि । तेषां च कर्मस्वरूपाधिगमापेक्षा ÷ सर्व
सम्भता ॥

❀ महापूर्वपक्षः ❀

यदध्याहुः—अशेषविशेषप्रत्यर्नाकचिन्मात्रं ब्रह्मैव परमार्थः,
तदतिरेकिनानाधिषष्ठादुद्येयतत्कृतज्ञानभेदादिसर्वतस्मिन्नेव—

+ इदं प्रदर्शनायमुक्तं कर्मविचारोक्तं कृत्स्न न्याय सापेक्षत्वाद्
ब्रह्मविचारस्य । एतानि हि कर्म मीमांसाध्यायानां प्रमेयाणि—प्रथमेऽध्याये
प्रमाणं लक्षणं वृत्तम् । द्वितीयेऽध्याये शास्त्र भेदः, कर्मभेदोवाभेदहेतुश्च
शब्दान्तराभ्यास संख्या गुण प्रक्रिया नामधेयानि । तृतीयेऽङ्गनिरूपणम्—ब्रह्मस्य
ज्ञापकानि श्रुतिलिङ्गाक्षयप्रकरणस्यानसमाख्यानानि । चतुर्थे—कार्यं
पुरुषार्थं भेद निरूपणेन पुरुषार्थैः कर्तव्यार्थानां प्रयुक्तिर्निरूपिता । पञ्चमे क्रमः—क्रम
प्रमाणानि श्रुत्यर्थपादप्रवृत्तिमुख्यकारणानि । षष्ठेधिकारिनिरूपणम् । सप्तमे
सामान्यातिदेशो निरूपितः । अष्टमे विशेषातिदेशः । नवमे उद्गः । दशमे
वाचः । एकादश द्वादशयोस्तन्त्र प्रसङ्गौ ।

÷ यत्तच्चीत वेदान्तस्य कर्माधिगमापेक्षा नास्तीत्युक्तं तदसङ्गतम्,
वेदान्तेष्वप्युपाय पर मुक्ति पर यावत् मात्राध्यायिनः पुरुषस्य ब्रह्मविचारेऽपि
तृतीय चतुर्थाध्याय मात्र अवलम्ब्य प्रसङ्गात् । तृतीय चतुर्थयोः प्रथम द्वितीयोक्तं
न्याय सापेक्षत्वमस्तीति चेत्तर्हि, कृत्स्नस्य ब्रह्मविचारस्य कर्मविचार न्याय
सापेक्षत्वात्सर्वत्र पूर्वं वृत्तवत् । “यश्च ययोः समोदोषः परिहारस्तयोः स्वयः” इति
न्यायान् ॥

परिकल्पितं मिथ्याभूतं—१ “सदैव ० सोम्येदमग्र आसीदेकमेवा-
द्वितीयम्” २ “अथ परा यथा तदक्षरमधिगम्यते यत्तद्वद्रेष्यमग्राह्य-
मगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं
तद्वद्वयं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः” ३ “सत्यं ज्ञानमनन्तं
ब्रह्म” ४ “निष्कलं निष्कीयं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्” ५ “यस्या-
मतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः । अविज्ञातं विज्ञानतां विज्ञात-
मविजानताम्” ६ “न दृष्टेर्दृष्टारं पश्येः न मतेर्मन्तारं मन्वीथाः”
७ “आनन्दो ब्रह्म” ८ “इदं सर्वं यदयमात्मा” ९ “नेह नानाऽस्ति
किञ्चन । मृत्योस्स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति” १० “यत्न
हि द्वैतमिव भवति तद्वितर इतरं पश्यति यत्न इयस्य सर्वमात्मैवाभूत्
तत्केन कं पश्येत्तत्केन कं विजानीयात्” ११ “वाचाऽऽरम्भणं विकारो
नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्” १२ “यदा ह्येवैष एतास्मिन्नुदरमन्तरं
कुरुते अथ तस्य मयं भवति” १३ “न स्थानतोपि परस्वोभयलिङ्गं
सर्वत्र हि” १४ “मायामात्रं तु कात्स्न्येनानभिध्यकस्वरूपत्वात्”

१५ “प्रत्यस्तमित भेदं यत्सत्तामात्रमगोचरम् ।

यच्चसामान्यसंवेद्यं तज्ज्ञानं ब्रह्म संक्षिप्तम् ॥”

१६ “ज्ञानस्वरूपमत्यन्तनिर्मलं परमार्थतः ।

तमेवार्थस्वरूपेण भ्रान्तिदर्शनतः स्थितम् ॥”

० मायायादि भवे पद्विध तात्पर्य लिङ्गेन तथा स्वगोप्दीनिष्ठ
स्थानुभव सहायेन च सर्वं वेदान्तानां निर्धर्मके ब्रह्मणि तात्पर्यम् । अतः सदे-
वेति विजातीय भेदो व्यावर्त्यते । एकमेवेति सजातीयभेदः । अद्वितीयमिति
स्वगत भावाभावरूपभेदः । एवं समस्ताद्वैत सिद्धान्ते आवागर्हः, तद् सर्वं
स्थाली पुलाक न्यायेनास्मिन्महा पूर्वपक्षे द्रष्टव्यम् ।

१ छा-उ० ६ प्र० २ ख० १ वा० । २ मु-उ० १ मु० १ ख० ६ वा० ।
३ तै-उ० आन० १ अनु० १ वा० । ४ श्वे उ० ६ अ० १६ वा ७ । ५ के-उ०
२ ख० ३ वा० । ६ बृ-उ० २ अ० ४ प्र० २ वा० । ७ तै-उ० अनु० ३ अनु० ।
८ बृ-उ० ४ अ० ४ प्र० ६ वा० । ९ बृ उ० ६ अ० ४ प्र० १६ वा० ।
१० बृ उ० ४ अ० ४ प्र० १४ वा० । ११ छा० ६ प्र० १ ख० ४ वा० ।
१२ तै उ० आन० ७ अनु० २ वा० । १३ शारी० ३ अ० २ पाद ११ सू० ।
१४ शा० ३ अ० २ पाद ३ सू० । १५ वि० पु० ६ अ० ७ अ० २३ ख० ।
१६ वि० पु० १, २, ६ ।

- १ "परमार्थस्त्वमेवैको नान्योस्ति जगतः पते! ॥"
- २ "यदेतद्दृश्यते मूर्तमेतद्धानात्मनस्तव ।
भ्रान्तिज्ञानेन पश्यन्ति जगदुरूपमयोगिनः ॥
ज्ञानस्वरूपमखिलं जगदेतद्बुद्धयः ।
अर्थस्वरूपं पश्यन्तो भ्राम्यन्ते मोहसंप्लवे ॥
ये तु ज्ञानविदश्शुद्धचेतसस्तेऽखिलं जगत् ।
ज्ञानात्मकं प्रपश्यन्ति त्वद्रूपं परमेश्वर ! ॥"
- ३ "तस्यात्मपरदेहेषु सतोऽप्येकमयं हि यत् ।
विद्यामं परमार्थो हि द्वैतिनोऽतथ्यदर्शिनः ॥"
- ४ "यद्यन्योऽस्ति परः कोऽपि मत्तः पार्थिवसत्तम ! ।
तदेवोऽहमयं चान्यो वक्तुमेवमपीक्ष्यते ॥"
- ५ "धेणुरभ्रविमेदेन मेदप्यङ्गादि संशितः ।
अमेदव्यापिनो वायोस्तथाऽसौ परमात्मनः ॥"
- ६ "सोऽहं स च त्वं स च सर्वमेतदात्मस्वरूपं त्यज मेदमोहम् ।
इतीरितस्तेन स राजवर्यस्तत्याज मेदं परमार्थदृष्टिः ॥"
- ७ "विमेदजनकेऽज्ञाने नाशमात्यन्तिकं गते ।
आत्मनो ब्रह्मणो मेदमसन्तं कः करिष्यति ॥"
- ८ "अहमात्मा गुडाकेश ! सर्वभूताशयस्थितः ॥"
- ९ "क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ! ॥"
- १० "न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥"

इत्यादिभिर्वस्तुस्वरूपोपदेशपरैश्शास्त्रैः— निर्विशेषचिन्मात्रं
ब्रह्मैव सत्यमन्यत्सर्वं मिथ्या—इत्यभिधानात् ॥

१ वि० पु० १.४. ३८ । २ वि० पु० १. ४. ३९. ४०. ४१ । ३ वि० पु०
२. १४. ३१ । ४ वि० पु० २. १३. २० । ५ वि० पु० २. १४. ३२ । ६ वि० पु०
२. १४. २३ । ७ वि० पु० ६. ७. २६ । ८ गी० १०. २० श्लो० । ९ गी० १३. ३ ।
१० गी० १०. ३१ ।

मिथ्यात्वं + नाम प्रतीयमानत्वपूर्वक्यथावस्थितवस्तुज्ञान-
निवर्त्यत्वम्, यथा रज्ज्वाद्यधिष्ठानसर्पादिः । दोषवशाद्धि तत्र
तत्कल्पनम् । एवं चिन्मात्रवपुषि परे ब्रह्मणि दोषपरिकल्पितमिदं
देवतिर्यङ्मनुष्यस्यायरादिभेदं सर्वं जगद्यथावस्थितब्रह्मस्वरूपावबोध-
याध्यं मिथ्यारूपम् । दोषश्च स्वरूपतिरोधानविविधधिचित्रविशेषकरी
सर्वसदनिर्वचनीयाऽनाद्यविद्या । १ “अनृतेन हि प्रत्यूढाः” २ “तेषां
सत्थानां सतामनृतमपिधानम्” ३ “नालदासीनो सदासीत्तदानीं
तम आसीत्तमसा गूढमग्नौ प्रकेतम्” ४ “मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मा-

+ निवर्त्यत्वमित्युक्ते मुद्गरादि निवर्त्यं घटादावति व्याप्तिः,
तत्परिहाराय ज्ञान शब्दः । तावतापि यत्किमदीश्वरादि सङ्कल्प रूप ज्ञान निवर्त्यं
वस्तुन्यति व्याप्तिः, सापि यथावस्थित वस्तु ज्ञान मात्र निवर्त्यत्वस्य विवक्षित-
त्वात् परिहृता भवति । प्रबल भ्रान्ति ज्ञाननिवर्त्यं सत्य रज्ज्वादिवति व्याप्ति
परिहाराय यथावस्थित शब्दः । यथावस्थित ज्ञाननिवर्त्यत्वमित्युक्ते सामानाधि-
करण्यं भीजायेत तदा भ्रान्ति ज्ञान निवर्त्यं व्यभिचारस्तदवस्थाः, तत्र ज्ञान
स्वरूपं हि यथावस्थितम्, विषयस्यैव ज्ञाप्यार्थत्वम्, अतो यथावस्थित ज्ञानमिति
सामानाधिकरण्यं शङ्का व्यावृत्त्यर्थं यथावस्थित वस्तु ज्ञान निवर्त्यत्वमित्युक्तम् ।
ज्ञान प्रागभावे व्यभिचार इति तद्व्युदासार्थं प्रतीयमानत्व पूर्वकं पदम् ।
ज्ञान प्रागभावोऽपि कदाचित् प्रतीयमानत्व पूर्वको निवर्त्यत इति चेन्न, नियमस्य
विवक्षितत्वात् । यथा सिद्धे शब्दार्थं सम्बन्धः, इत्यत्र सिद्ध एवेत्यवधारणस्य
विवक्षितत्वात् । यथा—‘अन्तर्बो वायुमदः’ इत्यादावप्य एव
भक्षयतीत्यवधारण सिद्धिस्तद्वत् । भूदलन ज्ञान निवर्त्यस्य रज्जुसर्पस्य यथा-
वस्थित वस्तु ज्ञान निवर्त्यत्वाभावादव्याप्तिरिति चेन्न, तस्यापि यथावस्थित वस्तु
ज्ञानेन निवर्तयितुं योग्यत्वात्, अतएव हि निवर्त्यत्वमित्युक्तं न तु निव-
र्तत्वमिति ॥

१ छा-उ० ८ प्र० ३ ख० २ वा० । २ छा-उ० ८ प्र० ३ ख० १ वा० ।

३ यजु० २ अष्ट० ८ प्र० १ यजु० । ४ रवे-उ० ४ अ० १० वा० ।

यिनं तु महेश्वरम् ॥ १ “ इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते ” २ “ मम माया दुरत्यया ” ३ “ अनादिमायया सुतो यदा जीवः प्रबुध्यते ” —इत्यादिभिः निर्विशेषचिन्मात्रं ब्रह्मैवाद्याद्यविद्यया सदसदनिर्वा-
च्यया तिरोहितस्वरूपं स्वगतनानात्वं पश्यतीत्यवगम्यते । यथोक्तम्—

४ “ ज्ञानस्वरूपो भगवान्यतोऽसाधशेषमूर्तिर्न तु वस्तुभूतः ।
ततो हि शैलाद्विधरादिभेदान् जानीहि विज्ञानचिज्जम्भितानि॥
यदा तु शुद्धं निजरूपि सर्वकर्मक्षये ज्ञानमपास्तदोषम् ।
तदा हि सङ्कल्पतरोः फलानि भवन्ति नो वस्तुषु वस्तुभेदाः॥”

५ “ तस्मान्न विज्ञानमृतेऽस्ति किञ्चित्कञ्चित्कदाचिद्ब्रह्मजं वस्तुजातम्
विज्ञानमेकं निजरूपमेव विभिन्नचिरैर्बहुधाऽभ्युपेतम् ॥
ज्ञानं विशुद्धं चिमलं विशोकप्रशेषलोभादिनिरस्तसङ्गम् ।
एकं सर्वैकं परमः परेशस्त्वं चासुखेवो न यतोऽन्यदस्ति ॥

६ सद्भाव एव भवतो मयोक्तो ज्ञानं यथा सत्यमसत्यमन्यत् ।

एतत्तु यत्संख्यषड्वारभूतं तन्नापि चोक्तं भुवनाश्रितं ते॥—इति

अस्याध्याविद्याया निर्विशेषचिन्मात्रब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानेन निवृत्तिं
वदन्ति—“ न पुनर्मृत्यवे तदेकं पश्यति ” “ न पश्यो मृत्युं
पश्यति ” “ यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनित्यने-
ऽमयं प्रतिष्ठां विन्दते । अथ सोऽमयं गतो भवति ” ७ “ भिद्यते
हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । शोयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्
दृष्टे परावरे ” ८ “ ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति ” ९ “ तमेव विदित्वा-
ऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्थाः ”—इत्याद्याश्रुतयः । अत्र मृत्युशब्देना-
विद्याऽभिधीयते । यथा सनत्सुजातवचनम्—१० “ प्रमादं वै मृत्युमहं
ब्रवीमि सदाऽप्रमादममृतत्वं ब्रवीमि ”—इति । ११ “ सत्यं ज्ञानमनन्तं
ब्रह्म ” १२ “ विज्ञानमातन्द्रं ब्रह्म ” इत्यादिशोधकवाक्यावसेयनिर्वि-

१ बृ ३०४ अ० २ ब्रा० १६ वा । २ गी० ७.१४ । ३ मा०-३० २ ख०
२१ वा । ४ वि० पु० २, १२, ३९, ४० । ५ वि० पु० २, १२, ४३, ४४ ।
६ वि०-पु० २, १२, ४२ श्लो० । ७ मु० २ मु० २ ख० ८ वा । ८ मु०-३ मु० २
ख० ६ वा । ९ श्वे०-३ अ० ८ वा । १० भारत० उद्योगपर्व० ४१ अ० ४
श्लो० । ११ तै०-आन० १ अनु० १ वा । १२ बृ०-२ अ० ६ ब्रा० २८ वा ।

शेषस्वरूपवशात्मैकत्वविधानं च १ “अथ योऽन्यां देयतामुपास्ते-
ऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद्” २ “अकृतस्नो ह्येषः”
३ “आत्मेत्येषोपासीत” ४ “तस्मिन्” ५ “त्वं वा अहमस्मि
भगवो देवते अहं वै त्यमसि भगवो देवते तद्योऽहं सोऽसौ योऽसौ
सोऽहमस्मि” इत्यादिव्याक्यसिद्धम् । वक्ष्यति चैतदेव—६ “आत्मे-
तूपगच्छन्ति ब्राह्मयन्ति च” इति । तथा च व्याक्यकारः—७ “आत्मे-
त्येष तु गृह्णीयात् सर्वस्य तन्निष्पत्तेः” इति ॥ अनेन च वक्ष्यात्मैक-
त्वविधानेन मिथ्यारूपस्य सकारणस्य बन्धस्य निवृत्तिर्युक्ता ॥

ननु च—सकलभेदनिवृत्तिः प्रत्यक्षविरुद्धा कथमिव शास्त्रज-
न्यविधानेन क्रियते ? । कथं वा ‘रज्जुरेपा न सर्पः’ इति ज्ञानेन
प्रत्यक्षविरुद्धा सर्पनिवृत्तिः क्रियते ? । तत्र द्वयोः प्रत्यक्षयोर्विरोधः ।
इह तु प्रत्यक्षमूलस्य शास्त्रस्य प्रत्यक्षस्य च—इति चेत्, तुल्ययोर्विरोधे
वा कथं बाध्यबाधकभावः ? । पूर्वोत्तरयोर्दुष्टकारणजन्यत्वतदभावा-
भ्याम्—इति चेत्, शास्त्रप्रत्यक्षयोरपि समानमेतत् ॥

एतदुक्तं भवति—बाध्यबाधकभावे तुल्यत्वसापेक्ष्यनिरपेक्ष-
त्वादि न कारणम्, ज्वालाभेदानुमानेन प्रत्यक्षोपमर्द्वायोगान् । तत्र
हि ज्वालैक्यं प्रत्यक्षे ग्राह्यम्यते । एवं च—सति द्वयोः प्रमाणयोर्वि-
रोधे यत्संभाव्यमानान्यथासिद्धिः, तदुबाध्यम् ; अनन्यथासिद्धमनय-
काशमितरद्वाधकम्—इति सर्वत्र बाध्यबाधकभावाभिर्णयः—इति ॥

तस्मादनादिनिधनाविच्छिन्नसम्प्रदायासम्भाव्यमानदोषगन्धा-
नवकाशशास्त्रजन्यनिर्विशेषनित्यगुदमुक्तयुद्धस्यप्रकाशचिन्मात्रब्रह्मा-
त्मभावावबोधेन सम्भाव्यमानदोषसाधकाशप्रत्यक्षादिसिद्धध्विध-
विकल्परूपबन्धनिवृत्तिर्युक्तैव । सम्भाव्यते च ध्विधविकल्परभेद-
प्रपञ्चब्राह्मिप्रत्यक्षस्यानादिभेदवासनादिरूपाविद्याव्यो दोषः । ननु—

१ वृ-३ अ० ४ प्र० १० वा० । २ वृ-३ अ० ४ प्र० ७ वा० ।

३ वृ-३ अ० ४ प्र० ७ वा० । ४ वृ० ६ प्र० ८ प्र० ७ वा० । ५ १ शारी०
४ अ० १ पा० ३ सू० । ७ वाक्यम् ।

अनादिदिधनाविच्छिन्नसम्प्रदायतया निर्दोषस्यापि शास्त्रस्य—“ज्यो-
तिष्टोमेन स्वर्गाकामो यजेत”—इत्येवमादेर्मैत्रायण्यनो वाध्यत्वम् प्रस-
ज्येत । सत्यम् । पूर्वापरापच्छेदे पूर्वशास्त्रयन्मोक्षशास्त्रस्य निरवका-
शत्वात्तेन बाध्यत एव । वेदान्तवाक्येष्वपि सगुणब्रह्मोपासनपराणां
शास्त्राणामयमेव न्यायः, निर्गुणत्वात्परस्य ब्रह्मणः । ननु च—२“यस्स-
र्घश्चसर्घचित्” ३“पराऽस्य शक्तिर्घिघिघैव ध्रूयते स्याभाषिकी दानव-
लक्रिया च” ४“सत्यकामस्सत्यसङ्कल्पः” इत्यादिब्रह्मस्वरूपप्रतिपाद-
नपराणां शास्त्राणां कथं बाध्यत्वम् ? निर्गुणवाक्यसामर्थ्यात्—
इति ब्रूमः ॥ एतदुक्तं ॥ भवति—“अस्थूलमनएवह्रस्वमदीर्घम्” ५“सत्यं
ज्ञानमनन्तं ब्रह्म” ६“निर्गुणम्” ७“निरञ्जनम्”—इत्यादिवाक्यानि—
निरस्तसमस्तविशेषकूटस्थनित्यचैतन्यम् ब्रह्म—इति प्रतिपादयन्ति,
इतराणि च सगुणम् । उभयविधवाक्यानां विरोधे तेनैवापच्छेदन्या-
येन निर्गुणवाक्यानां गुणापेक्षत्वेन परत्वाद्ब्रह्मीयस्यमिति न किञ्चि-
दपहीनम् ॥

‡ अपच्छेदे पूर्वापर शास्त्रयोः पौर्वापर्यं परमित्युत्पत्तिः प्रमात्, न पाठ
क्रमात् । “पञ्चविंशः समन्वारूपाः प्रसर्पन्ति—अप्ययुं प्रस्तोताऽन्यारभते,
प्रस्तोतारं प्रतिहृत्तां, प्रचिहृत्तारमुद्गाता, उद्गातारं ब्रह्मा, ब्रह्माणं यजमानः”
इति विहितस्यान्यारम्भस्य अपच्छेदे प्रायश्चित्तमुच्यते । बहिष्पवमानं प्रसर्पतां
यद्युद्गाताऽपच्छिद्येत, अदक्षिणः सयज्ञः संस्थाप्यस्तेन पुनर्यजेत तत्र तद्
दद्याद् यत्पूर्वस्मिन्दास्यन्स्वान्, अथ प्रतिहृत्ताऽपच्छिद्येत सर्वं येदं
दद्यादिति” —तदिदं शास्त्रद्वयं विषयः । अत्रोद्गातुं प्रतिहृत्ताः प्रयोग
भेदेनापच्छेदे स्वं एवं प्रायश्चित्तशास्त्रं प्रवर्तते, एकस्मिन्प्रयोगेवीगपथेनापच्छेदे-
सति, उद्गातुः प्रायश्चित्तं प्रवर्तते, तस्य वर्गप्रधानत्वात्, प्रधानापच्छेदस्यैव
समाधेयत्वात्, विकल्पेनानुष्ठानं वा । एकस्मिन्नेव पौर्वापरेणापच्छेदे पूर्वस्य
प्रायश्चित्त शास्त्रस्य पौर्वापर्यं परस्य प्रायश्चित्तं च कर्ममीमांसायामुक्तम्—पौर्वापर्यं
पूर्वं पौर्वापर्यं प्रकृति यत् ।” इति । ॥ ‘संचिस्तस्य च विस्तारः संक्षेपो विस्तृतस्य
च । एतदुक्तं भवतिना समाधिर्प्राक्कुलस्य च’ इति, ‘एतदुक्तं भवति शब्दार्थः ।

१ मु० २ ख० ७ या । ३ खे, १ अ० ८ या० । ४ छा० ८ प्र० १ ख० १ या ।

५ य० ५ अ० ८ ब्रा ८ ब्रा० । ६ तै० ब्रा० १ या । ७ आत्मोपनिषत् ।

८ अ० १ अ० १६ या० ।

ननु च — “सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म” इत्यत्र सत्यज्ञानादयो गुणाः प्रतीयन्ते ॥

नेत्युच्यते, सामानाधिकरण्येनैकार्थत्वप्रतीतिः । अनेकगुणविशिष्टाभिधानेऽप्येकार्थत्वमविरुद्धम् — इति चेत्, अनभिधानस्यो देवानां प्रियः । एकार्थत्वं नाम सर्वपदानामर्थेक्यम्, विशिष्टपदार्थाभिधाने विशेषणभेदेन पदानामर्थभेदोऽवर्जनीयः, ततश्चैकार्थत्वं न सिध्यति । एवं तर्हि सर्वपदानां पर्यायता स्यात्, अविशिष्टार्थाभिधायित्वात् । एकार्थाभिधायित्वेऽप्यपर्यायत्वमवहितमनाश्रयः, एकत्वतात्पर्यनिश्चयादेकस्यैवार्थस्य तत्तत्पदार्थविरोधिप्रत्यर्नीकत्वपरत्वेन सर्वपदानामर्थवत्त्वमेकार्थत्वमपर्यायता च ॥

एतदुक्तं भवति — लक्षणतः प्रतिपत्तव्यं ब्रह्म सकलेतरपदार्थविरोधिरूपम् । तद्विरोधिरूपं सर्वमनेन पदत्रयेण फलतो व्युदस्यते । तत्र सत्यपदं विकारास्पदत्वेनासत्याद्वस्तुनो व्यावृत्तब्रह्मपरम् । ज्ञानपदं चान्याधीनप्रकाशजडरूपाद्वस्तुनो व्यावृत्तपरम् । अनन्तपदं च देशतः कालतो वस्तुतश्च परिच्छिन्नव्यावृत्तपरम् । न च व्यावृत्तिर्मात्ररूपोऽभावरूपो वा धर्मः । अपि तु सकलेतरविरोधिब्रह्मैव । यथा शौक्यादेः काष्ण्यादिव्यावृत्तिस्तत्पदार्थस्वरूपमेव, न धर्मान्तरम् । एवमेकस्यैव वस्तुनस्सकलेतरविरोध्याकारतामवगमयदर्थवत्तरमेकार्थमपर्यायं च पदत्रयम् ॥

तस्मादेकमेव ब्रह्म । स्वयं ज्योतिर्निर्धूतनिखिलविशेषमित्युक्तं भवति । एवं चाप्यार्थप्रतिपादने सत्येव — १ “सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्” — इत्यादिभिरीकार्थ्यम् । २ “यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते” ३ “सदेव सोम्येदमग्र आसीत्” । ४ “आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्” — इत्यादिभिर्जगत्कारणतयोपलक्षितस्य ब्रह्मणः स्वरूपमिदमुच्यते — ५ “सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म” — इति । तत्र सर्वशान्नाप्रत्ययन्यायेन कारणवाक्येषु सर्वेषु सज्जातीययिजातीयव्यावृत्तमद्वितीयं ब्रह्मावगतम् । जगत्कारणतयोपलक्षितस्य ब्रह्मणोऽद्वितीयस्य प्रतिपि-

१ छा० ६ प्र० २ ख० १ वा० । २ तै० भृगु० १ अनु० । ३ छा० ६ प्र० २ ख० १ वा० । ४ ऐतरेयोपनिषत् १ अ० १ ख० १ वा० । ५ तै० आनन्द० १ अनु० १ वा० ।

पादयिष्यतं स्वरूपं तद्विरोधेन वक्तव्यम् । अद्वितीयत्वश्रुतिगुणतो-
ऽपि सद्वितीयतां न सहते । अन्यथा- १ 'निरञ्जनम्' २ 'निशुण्णम्'
इत्यादिभिश्च विरोधः । अतश्चेतल्लक्षणवाक्यमखण्डैकरसमेव प्रति-
पादयति । ननु च सत्यज्ञानादिपदानां स्वार्थप्रहाणेन स्वार्थविरोधि-
व्यावृत्तयस्तुस्वरूपोपस्थापनपरत्वे लक्षणा स्यात् । नैष दोषः, अभि-
धानवृत्तेरपि तात्पर्यवृत्तेर्वलीयस्त्वात् । सामानाधिकरण्यस्य होक्य
एव तात्पर्यमिति सर्वसम्मतम् । ननु च-सर्वपदानां लक्षणा न
दृष्टचरी । ततः किम् ? वाक्यतात्पर्याविरोधे सत्येकस्यापि न दृष्टा,
समभिव्याहृतपदसमुदायस्यैतत्तात्पर्यमिति निश्चिते सति द्वयोस्त्र-
याणां सर्वेषां वा तद्विरोधाय एकस्येव लक्षणा न दोषाय । तथा च
शास्त्रस्थैरभ्युपगम्यते । कार्यवाक्यार्थवादिभिलौकिकवाक्येषु सर्वेषां
पदानां लक्षणा समाधीयते । अपूर्वकार्यस्य लिङ्गादेर्मध्यवृत्तत्वात्
लिङ्गादिभिः क्रियाकार्यं लक्षणया प्रतिपाद्यते । कार्यान्वितस्वार्थाभि-
धायिनां चेतरेषां पदानामपूर्वकार्यान्वित एव मुख्यार्थ इति क्रिया-
कार्यान्वितप्रतिपादनं लाक्षणिकमेव । अतो वाक्यतात्पर्याविरोधाय
सर्वपदानां लक्षणाऽपि न दोषः । अत इदमेवार्थजानं प्रतिपादयन्तो
वेदान्ताः प्रमाणम् ॥

प्रत्यक्षादिविरोधे च शास्त्रस्य वलीयस्यमुक्तम् । सति च
विरोध वलीयस्त्वं वक्तव्यम् । विरोधे एव न दृश्यते, निर्विशेषसन्मा-
त्रग्रहणप्राप्तिवात्प्रत्यक्षस्य । ननु च-'घटोऽस्ति' 'पटोऽस्ति' इति नाना-
कारवस्तुविषयं प्रत्यक्षं कथमिव सन्मात्रप्राहीत्युच्यते । विलक्षण-
ग्रहणाभावे सति सर्वेषां ज्ञानानामेकविषयत्वेन धारावाहिकविधान-
वदेकव्यवहारहेतुतैव स्यात् । सत्यम् ; तथैवात्र विविच्यते । कथं ?
घटोऽस्तीत्यत्रास्तित्वं तद्भेदश्च व्यवहियते; न च द्वयोरपि व्यवहारयोः
प्रत्यक्षमूलत्वं संभवति, तयोर्मिश्रकालज्ञानफलत्वात्, प्रत्यक्षज्ञानस्य
चैकक्षणवर्तित्वात् । तत्र स्वरूपं वा भेदो वा प्रत्यक्षस्य विषय इति
विचिन्तनीयम् । भेदग्रहणस्य स्वरूपग्रहणतत्प्रतियोगिसारणसव्यपेक्ष-
त्वादेव स्वरूपविषयत्वमवश्याश्रयणीयमिति न भेदः प्रत्यक्षेण गृह्यते ।
अतो भ्रान्तमूल एव भेदव्यवहारः ॥

किञ्च भेदो नाम कश्चित्पदार्थो न्यायविद्भिर्निरूपयितुं न शक्यते । भेदस्तावन्न वस्तुस्वरूपम्, वस्तुस्वरूपे गृहीते स्वरूपव्यवहारपक्षस्यैव साद्वैदव्यवहारप्रसक्तोः । न च वाच्यं - स्वरूपे गृहीतेऽपि भिन्न इति व्यवहारस्य प्रतियोगिसरणसध्यपेक्षत्वात्, तत्सरणाभावेन तदानीमेव न भेदव्यवहारः—इति । स्वरूपमात्रमेववादिनो हि प्रतियोग्यपेक्षा च नोत्प्रेक्षितुं क्षमा, स्वरूपभेदयोस्वरूपत्वाविशेषात् । यथा स्वरूपव्यवहारो न प्रतियोग्यपेक्षः, भेदव्यवहारोऽपि तथैव स्यात् । 'हस्तः कर' इतिवत् 'घटो भिन्न' इति पर्यायत्वं च स्यात् । नापि धर्मः, धर्मत्वे सति तस्य स्वरूपाद्भेदोऽवश्याधयणीयः, अन्यथा स्वरूपमेव स्यात् । भेदे च तस्यापि भेदस्तद्धर्मस्तस्यापीत्यनवस्था । किञ्च जात्यादिविशिष्टवस्तुग्रहणे सति भेदग्रहणम्, भेदग्रहणे सति जात्यादिविशिष्टवस्तुग्रहणमित्यन्योन्याधयणम् । अतो भेदस्य दुर्निरूपत्वात्सन्मात्रस्यैव प्रकाशकं प्रत्यक्षम् ॥

किञ्च 'घटोऽस्ति', 'पटोऽस्ति', 'घटोऽनुभूयते', 'पटोऽनुभूयते' इति सर्वे पदार्थास्सत्तानुभूतिचटिता एव दृश्यन्ते । अत्र सर्वासु प्रतिपत्तिषु सन्मात्रमनुवर्तमानं दृश्यत इति तदेव परमार्थः । विशेषास्तु व्यावर्तमानतया अपरमार्थाः, रज्जुसर्पादिवत् । यथा रज्जुरधिष्ठानतयाऽनुवर्तमाना परमार्था सती, व्यावर्तमानास्सर्पभूदलनाम्बुधारादयोऽपरमार्थाः । ननु च—रज्जुसर्पादौ 'रज्जुरियं न सर्पः' इत्यादिरज्ज्वाद्यधिष्ठानयाथार्थज्ञानेन बाधितत्वात्सर्पादेरपारमार्थ्यम्, न व्यावर्तमानत्वात् । रज्ज्वादेरपि पारमार्थ्यं नानुवर्तमानतया, किञ्चबाधितत्वात् । अत्र तु घटादीनामबाधितानां कथमपारमार्थ्यम् ? उच्यते, घटादौ दृष्टा व्यावृत्तिस्सा किरूपेति विवेचनायम् । किं घटोऽस्तीत्यत्र पटाद्यभावः ? सिद्धं तर्हि घटोऽस्तीत्यनेन पटादीनां बाधितत्वम् । अतो बाधफलभूता विषयनिवृत्तिर्व्यावृत्तिः । सा व्यावर्तमानानामपारमार्थ्यं साधयति । रज्जुवत् सन्मात्रमबाधितमनुवर्तते । तस्मात्सन्मात्रातिरेकं सर्वमपरमार्थः । प्रयोगश्च भवति—सत्परमार्थः, अनुवर्तमानत्वात्, रज्जुसर्पादौ रज्ज्वादिवत् । घटादयोऽपरमार्थाः, व्यावर्तमानत्वात्, रज्ज्वाद्यधिष्ठानसर्पादिवत्—इति । एवं सत्यनुवर्तमानाऽनुभूतिरेव परमार्थाः, सैव सती ॥

ननु च—सन्मात्रमनुभूतेर्विषयतया ततो भिन्नम् । नैवम् ।
भेदो हि प्रत्यक्षाविषयत्वाद्बुद्धिर्निरूपत्वाच्च पुरस्तादेव निरस्तः । अत
एव सतोऽनुभूतिविषयभाषोऽपि न प्रमाणपदवीमनुसरति । तस्मा-
त्सदनुभूतिरेव ॥

सा च स्वतस्सिद्धा, अनुभूतित्वात् । अन्यतस्सिद्धौ घटादि-
यदननुभूतित्वप्रसङ्गः । किञ्च अनुभवापेक्षा चानुभूतेर्न शक्या कल्प-
यितुम्, सत्तयैव प्रकाशमानत्वात् । न ह्यनुभूतिर्यतमाना घटादिष्व-
प्रकाशा दृश्यते, येन परायत्तप्रकाशाऽभ्युपगम्येत ॥

अथैवं भनुपे उत्पन्नानामप्यनुभूतौ विषयमात्रमवभासते
'घटाऽनुभूयते' इति । न हि कश्चित् 'घटोऽयम्' इति जानन् तदानी-
मेवाविषयभूतामनिर्दभाचामनुभूतिमप्यनुभवति । तस्माद्बुद्ध्यादिप्रका-
शनिष्पत्तौ चक्षुरादिकरणसन्निकर्षदनुभूतेस्सिद्धा एव हेतुः ।
तदनन्तरमर्थगनकादाचित्कप्रकाशातिशयलिङ्गेनानुभूतिरनुमीयते ।
एवं तर्ह्यनुभूतेरजडाया अर्थवज्जडत्वमापद्यत इति चेत् ; किमिदम-
जडत्वं नाम ? न तावत्स्वसत्तायाः प्रकाशाव्यभिचारः, सुखादिष्वपि
नत्सम्भवात् ; नहि कदाचिदपि सुखादयस्सन्तो नोपलभ्यन्ते ;
अतोऽनुभूतिस्वयमेव नानुभूयते, अर्थान्तरं स्पृशतोऽनुक्त्यप्रस्य
स्वात्मस्पर्शवदशक्यत्वादिति ॥

तन्निदमनाकलितानुभवविभवस्य समतिथिजृम्भितम्, अनुभू-
तिव्यतिरेकिणो विषयधर्मस्य प्रकाशस्य रूपादिवदनुपलब्धेः ; उभया-
भ्युपेतानुभूत्यवशेषव्यवहारोपपत्तौ प्रकाशाव्यधर्मकल्पनानुपपत्तेः ।
अतो नानुभूतिरनुमीयते । नापि ह्यनान्तरसिद्धा । अपि तु सर्वं
साधयन्त्यनुभूतिस्वयमेव सिध्यति । प्रयोगश्च—अनुभूतिरनन्याः

* अनुभूतिरित्यादिनानुमान इयमभिमाणोक्तम् । अनुभूतिरनन्याधीन
स्वधर्मा ; स्वसम्बन्धाध्यान्तरे तद्वधर्मं हेतुत्वात् । अनुभूतिरनन्याधीन स्वव्यवहारा,
स्वसम्बन्धाध्यान्तरे तद् व्यवहार हेतुत्वात्—इत्येवं विभागः । अतएव हि परव
व्यवहार विशेष हेतोः स्वस्मिन्नपि तद् व्यवहार हेतुत्वमित्युत्तरत्र वक्ष्यते ।

धीनस्वधर्मव्यवहारा, स्वसम्बन्धादर्थान्तरे तद्धर्मव्यवहारहेतुत्वात् ; यस्वसम्बन्धादर्थान्तरे यद्धर्मव्यवहारहेतुस्स तयोस्वस्मिन्ननन्या-
धीनो द्रष्टः, यथा रूपादिश्चात्रुपत्वाद्वा । रूपादिर्हि पृथिव्याद्वा स्वस-
म्बन्धाद्याक्षुपत्वादि जनयन् स्वस्मिन्न रूपादिसम्बन्धाधीनश्चाक्षुप-
त्वाद्वा । अतोऽनुभूतिरात्मनः प्रकाशमानत्वे प्रकाशत इति व्यवहारे
च स्वयमेव हेतुः ॥

सेयं स्वरूपप्रकाशाऽनुभूतिर्नित्या च, प्रागभावाद्यभावात् । तद-
भावाच्च स्वतस्सिद्धत्वादेव । न ह्यनुभूतेस्स्वतस्सिद्धायाः प्रागभावस्व-
नोऽन्यतो याऽवगन्तुं शक्यते । अनुभूतिस्स्वाभावमवगमयन्ती, सती
तावन्नावगमयति । तस्यास्सत्त्वे विरोधादेव तदभावो नास्तीति कथं
सा स्वाभावमवगमयति ? एवमसत्यपि नावगमयति ; अनुभूतिस्व-
यमसती स्वाभावे कथं प्रमाणं भवेत् ? । नाप्यन्यतोऽवगन्तुं शक्यते,
अनुभूतेरनन्यगोचरत्वात् । अस्याः प्रागभाव साधयत् प्रमाणम्
'अनुभूतिरियम्' इति विषयीकृत्य तदभावं साधयेत्, स्वतस्सिद्ध-
त्वेन इयमिति विषयीकारानर्हत्वात्, न तत्प्रागभावोऽन्यतश्शक्या-
वगमः । अतोऽस्याः प्रागभावामावादुत्पत्तिर्न शक्यते वक्तुमित्युत्प-
त्तिप्रतिसम्बन्धाभ्यान्येऽपि भावविकारास्तस्या न सन्ति ॥

अनुत्पत्तेयमनुभूतिरात्मनि नानात्वमपि न सहने, व्यापकवि-
रुद्धोपलब्धेः- । न ह्यनुत्पन्नं नानाभूतं द्रष्टम् । भेदादीनामनुभाव्य-
त्वेन च रूपादेरिवानुभूतिधर्मत्वं न सम्भवति । अतोऽनुभूतेरनुभव-

÷ नानात्व व्यापकोत्पत्ति विरुद्धानुत्पत्त्युपलब्धेः । व्याप्तिं दर्शयति—न
ह्यनुत्पन्नं नानाभूतं दृष्टमिति । अस्य ग्रन्थस्य यवनुत्पन्नं तदनानाभूतं दृष्टमि-
त्यर्थो वक्तुं न युज्यते, ग्रन्थव्यतिरेकेणानुत्पन्नस्यानाना भूतस्य कस्यचिन्माया
वेकान्तिभिरनभ्युपगमात्, यदनानाभूतं, तवनुत्पन्नमित्युक्ते व्यापकजन्मनिवृत्त्या
व्याप्यनानात्वनिवृत्तिरुक्तं न स्यात् । तस्मादवमर्थः यन्नानाभूतं तवनुत्पन्नं न
दृष्टम्, अपि तुत्पत्तिमदेव दृष्टमिति जन्मनो नानात्वव्यापकत्वं दर्शितम्, अने-
नोत्पत्तिनिवृत्त्या नानात्वनिवृत्तिरित्यर्थं सिद्धम् । यथा—न ह्यनभिधूमवद्
दृष्टमित्युक्ते, अग्निमदेव धूमवदित्युक्तं स्यात्, तद्विहापि ।

स्वरूपत्वादेवान्योऽपि कश्चिदनुभाव्यो नात्या धर्मः; यतो निर्धूतानि-
खिलभेदा संचित् । अत एव नास्यास्वरूपातिरिक्त आश्रयो ज्ञाना
नाम कश्चिदस्तीति स्वप्रकाशरूपा सैयाऽत्मा, अजडत्वाच्च । अनात्म-
त्वव्याप्तं जडत्वं संचिदि व्यावर्तमानमनात्मत्वमपि हि संचिदो
व्यावर्तयति ॥

ननु च—अहं जानामीति घातृता प्रतीतिसिद्धा । नैयम्;
सा भ्रान्तिसिद्धा, रजततेव शुक्तिशकलस्य, अनुभूतेस्त्वात्मनि कर्तृ-
त्वायोगात् । अतो मनुष्योऽहमित्यत्यन्तबहिर्भूतमनुष्यत्वादिविशिष्ट-
पिण्डात्माभिमानवज्ज्ञातृत्वमप्यध्यस्तम् । घातृत्वं हि ज्ञानक्रिया-
कर्तृत्वम् । तच्च विक्रियात्मकं जडं विकारिद्रव्याहंकारप्रस्थितम-
विक्रिये साक्षिणि चिन्मात्रात्मनि कथमिव संभवति । दूष्यधीनसि-
द्धित्वादेव रूपादेरिव कर्तृत्वादेर्नात्मधर्मत्वम् । सुषुप्तिमूर्च्छांदावहं-
प्रत्ययापायेऽप्यात्मानुभवदर्शनेन नाऽत्मनोऽहंप्रत्ययगोचरत्वम् । कर्तृ-
त्वेऽहंप्रत्ययगोचरत्वे चाऽत्मनोऽभ्युपगम्यमाने देहस्येव जडत्वपरा-
यत्वानात्मत्वादिप्रसङ्गो दुष्परिहरः । अहंप्रत्ययगोचरात् कर्तृतया
प्रसिद्धाद्देहात्तत्क्रियाफलस्वगांदिर्मांकरात्मनोऽन्यत्वं प्रामाणिकानां
प्रसिद्धमेव । तथाऽहमथांज्ज्ञातुरपि विलक्षणस्साक्षी प्रत्यगात्मेति
प्रतिपत्तव्यम् । एवमविक्रियानुभवस्वरूपस्यैवाभिव्यञ्जको जडोऽप्यहं-
कारस्त्वाध्वयतया तमभिव्यनक्ति । आत्मस्थतयाऽभिव्यङ्ग्याभिव्यञ्जन-
मभिव्यञ्जकानां स्वभावः । दर्पणजलखण्डादिर्हि १ मुखचन्द्रविम्यगो-
त्वादिक्रमात्मस्थतयाऽभिव्यनक्ति । तत्कृतोऽयं ' जानाम्यहम् ' इति
भ्रमः । स्वप्रकाशाय अनुभूतेः कथमिव तदभिव्यङ्ग्यजडरूपाहङ्कारेणा-
भिव्यङ्ग्यत्यमिति माचोचः, रविकरनिकरामिव्यङ्ग्यकरतलस्य तद-
भिव्यञ्जकत्वदर्शनात्; जालकरम्भनिष्क्रान्तचुमणिकिरणानां यदभिव्य-
ङ्ग्येनापि करतलेन स्फुटतरप्रकाशो हि दृष्टचरः; यतोऽहं जानामीति
ज्ञानाऽयमहमर्थश्चिन्मात्रात्मनो न पारमार्थिको धर्मः; अत एव सुषुप्ति-
मुक्त्योर्नाग्वेति । तत्र ह्यहमर्थोऽस्त्वधिगमेन स्वाभाविकानुभवमात्र-
रूपेणाऽत्माऽवभासते । अत एव सुसोत्थितः कदाचिन्नामप्यहं न

ज्ञातयानिति परामृशति । तस्मात्परमार्थतो निरस्तसमस्तमेव विकल्पा-
निविशेषध्विन्मात्रैकरसकूटस्थनित्यसांविदेव भ्रान्त्या ज्ञातृज्ञेयज्ञानरूप-
विविधविचित्रभेदा विवर्तत इति तन्मूलभूताविद्यानिवर्हणाय
नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावब्रह्मात्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ता
आरभ्यन्ते—इति ॥

(महासिद्धान्तः)

तद्विदमौपनिषद् × परमपुरुषवरणीयताहेतुगुणविशेषविर-
हिणामनादिपापवासनादूषिताशेषशेषमुपीकाणामनधिगतपदवाक्यस्वरू-
पतद्व्याख्यायात्स्यप्रत्यक्षादिसकलप्रमाणवृत्ततद्वित्तिकर्तव्यतारूपसमीची-
नन्यायमार्गाणां विकल्पासहचिविधकुतर्ककल्ककल्पितमिति, न्याया-
नुगृहीतप्रत्यक्षादिसकलप्रमाणवृत्तयाथात्म्यविद्विज्ञानावरणीयम् ॥

× अयं कर्मविचारपूर्वबुद्धत्वविरोधिवस्तुसामर्थ्यं निरासार्थं
परोक्षानामुपायोपेयनियत्यानां प्रमायतर्कभासमूलत्वं प्रतिजानीते—
तद्विदमिति । औपनिषदपरमपुरुषभाष्येन 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं विदि'
इति श्रुति स्मारयति एतेनात्मब्रह्मिमतप्रमायप्रमेयविशेषसम्बन्धः श्रुत्यैव
म्यक्त इति सूचयति, परम शब्देनेवरातिरिक्त व्यावृत्तिः । वरणीयता हेतु गुण
विशेषविरहिणामित्यनेन "यमेवैव वृणुते तेन जन्मः" इत्यभिमतोपायविशेष
कथनं फलितम्, अनेन एवेन यदुशास्त्रज्ञ यदुग्रम्यकाराणां अमानुषपत्तिशक्ता च
परिहृता भवति, सम्यक् शास्त्रार्थज्ञानोत्पत्तौ भगवन्नक्षत्रेऽपि सामग्र्यन्तरभावेन
केवलशास्त्रपरिभ्रमस्य विकलहेतुत्वात् । यथा—“यस्य देवे परा भक्तिः”
इत्यादिकं श्रुतिः । स्मृतिश्च—“विद्याराजन् न ते विद्या भवविद्या न द्वीयते ।
विद्याहीनस्तमोऽवस्तो यमिजानासि केशवम् ॥ छतराष्ट्रः—गावद्वगणे ते का
विद्या या ते विद्या जवाहने । यया त्वमभिजानासि त्रियुगं मधुसूदनम् ॥
सज्जवः—मायां न सेवे भद्रं ते न युथा धर्मं मा चरे । शुद्धभावंगतो भक्त्या
शास्त्राद्वेषेभिर्जनाहंनम् ॥” इति । अत्र भक्त्या शुद्धभावं गतः शास्त्राज्जनानं
वेषीत्यनेन यथावच्छास्त्रार्थज्ञानोदयस्य भक्तिप्रापेक्ष्यं सिद्धम् । 'जायमानं हि
पुरुषं यं परयेन्मधुसूदनः । सात्यकः स तु विजयेः स वै मोक्षार्थचिन्तकः ॥
पश्यत्यनेन जायमानं ब्रह्मा रुद्रोऽथवा पुनः । रजसा तमसा चास्थ मानसं सम-
भिप्लुतम् । इति यचनाच्च तत्त्वार्थज्ञानस्य भक्तिप्रीतभगवत्कटाक्षप्रापेक्ष्यं
ज्ञायते ॥

तथाहि—निर्विशेषवस्तुवादिभिर्निर्विशेषे वस्तुनीदं प्रमाण-
मिति न शक्यते वक्तुम्, सविशेषवस्तुविषयत्वात्सर्वप्रमाणानाम् ।
यस्तु स्वानुभवसिद्ध इति स्वगोष्ठीनिष्ठस्समयः, सोऽप्यात्मसाक्षिक
सविशेषानुभवादेव निरस्तः, 'इदमहमदर्शम्' इति केनचिद्विशेषेण
विशिष्टविषयत्वात्सर्वेषामनुभवानाम् । सविशेषोऽप्यनुभूयमानोऽनु-
भवः केन त्रिषुक्त्याभासेन निर्विशेष इति निष्कृष्यमाणस्सत्ताति-
रेकिमिस्त्वासाधारणैस्त्वभावविशेषैर्निष्कृष्य इति । निष्कर्षहेतुभूते-
स्सत्तातिरेकिमिस्त्वासाधारणैस्त्वभावविशेषैस्सविशेष एवावतिष्ठते ।
अतःकैश्चिद्विशेषै विशिष्टस्यैव वस्तुनोऽन्ये विशेषा निरस्यन्त इति, न
कचिन्निर्विशेषवस्तुसिद्धिः । धियो हि धीत्वं स्वप्रकाशता च धातु-
र्विषयप्रकाशनस्त्वभावतयोपलब्धेः । स्वापमदमूच्छासु च सविशेष
एवानुभव इति स्वावसारे निपुणतरमुपपादयिष्यामः । स्वाभ्युपगताश्च
नित्यत्वादयो ह्यनेके विशेषास्सन्त्येव । ते च न वस्तुमात्रमिति
शक्योपपादनाः, वस्तुमात्राभ्युपगमे सत्यपि विधाभेदविवाददर्शनात्
स्वाभिमततद्विधाभेदैश्च स्वमतोपपादनात् । अतः प्रामाणिकवि-
शेषैर्विशिष्टमेव वस्त्विति वक्तव्यम् ॥

शब्दस्य तु विशेषेण सविशेष एव वस्तुन्यभिधानसामर्थ्यम्,
पदवाक्यरूपेण प्रवृत्तेः । प्रकृतिप्रत्यययोगेन हि पदत्वम् । प्रकृतिप्रत्य-
ययोरर्थभेदेन पदस्यैव विशिष्टार्थप्रतिपादनमवर्जनीयम् । पदभेदध्या-
र्थभेदनिबन्धनः । पदसंघातरूपस्य वाक्यस्यानेकपदार्थसंसर्गविशेषा-
भिधायित्वेन निर्विशेषवस्तुप्रतिपादनासामर्थ्यात्, न निर्विशेषवस्तुनि
शब्दः प्रमाणम् ।

प्रत्यक्षस्य निर्विकल्पकसविकल्पकमेद्भिन्नस्य न निर्विशेष-
वस्तुनि प्रमाणभावः । सविकल्पकं जात्याद्यनेकपदार्थविशिष्टविषयत्वा-
देव सविशेषविषयम् । निर्विकल्पकमपि सविशेषविषयमेव, सविक-
ल्पके स्वस्मिन्ननुभूतपदार्थविशिष्टप्रतिसंधानहेतुत्वात् । निर्विकल्पकं
नामकेनाचिद्विशेषेणनियुक्तसंग्रहणम्, न सर्वविशेषरहितस्य,
तथा भूतस्य कदाचिदपि ग्रहणादर्शनादनुपपत्तेश्च । केनचिद्विषये-
दमित्थमिति हि सयां प्रतीतिरुपजायते, त्रिकोणसामानाधिकरान-
विशेषेण यिना कस्याचिदपि पदार्थस्य ग्रहणायोगात् । अनो निर्विकल्प-
कमेकजानीयव्रह्मण्येव प्रथमपिण्डग्रहणम् । द्वितीयादिपिण्डग्रहणं

सचिकल्पकमित्युच्यते । तत्र प्रथमपिण्डग्रहणे गोत्वादेरनुवृत्ताकारता न प्रतीयते । द्वितीयादिपिण्डग्रहणेष्वेवानुवृत्तिप्रतीतिः । प्रथमप्रतीत्य नुसंहितयस्तु संस्थानरूपगोत्वादेरनुवृत्तिधर्मविशिष्टत्वं द्वितीयादि-पिण्डग्रहणायसेयमिति, द्वितीयादि ग्रहणस्य सचिकल्पकत्वम् । सास्ना-दिवस्तु संस्थान रूपगोत्वादेरनुवृत्तिर्न प्रथमपिण्डग्रहणे गृह्यत इति, प्रथमपिण्डग्रहणस्य निर्विकल्पकत्वम्, न पुनस्संस्थानरूपजात्यादेरग्रह-णात् । संस्थानरूपजात्यादेरप्यैन्द्रियकत्वाविशेषात्, संस्थानेन विना संस्थानिनः प्रतीत्यनुपपत्तेश्च प्रथमपिण्डग्रहणोऽपि ससंस्थानमेव चस्त्वित्यमिति गृह्यते ।

अतो द्वितीयादिपिण्डग्रहणेषु गोत्वादेरनुवृत्तिधर्मविशिष्टता संस्थानिवत्संस्थानवच्च सर्वदैव गृह्यत इति तेषु सचिकल्पकत्वमेव । अनः प्रत्यक्षस्य कदाचिदपि न निर्विशेषविषयत्वम् ॥

अतएव सर्वत्र भिन्नाभिन्नत्वमपि निरस्तम् । इदमित्यमिति प्रतीत्यादिदमित्यंभावयोरैक्यं कथमिव प्रत्येतुं शक्यते । तत्रेत्यंभाव स्सास्नादिसंस्थानविशेषः, तन्निशेष्यं द्रव्यमिदमंश इत्यनयोरैक्यं प्रतीतिपराहतमेव । तथाहि—* प्रथममेव वस्तु प्रतीयमानं सकले तरव्यावृत्तमेव प्रतीयते । व्यावृत्तिश्च गोत्वाविसंस्थानविशेषविशिष्ट-तयेत्यमिति प्रतीतेः । सर्वत्र विशेषणविशेष्यभावप्रतिपत्तौ तयोरत्य-न्तभेदः प्रतीत्यैव सुव्यक्तः । तत्र दण्डकुण्डलादयः पृथक्संस्थान-संस्थिताः स्वनिष्ठाश्च कदाचित्कचिद्द्रव्यान्तरविशेषणतयाऽवनिष्ठन्ते । गोत्वाद्यस्तु द्रव्यसंस्थानतयैव ऽपदार्थभूतास्सन्तो द्रव्यविशेषणतया अवस्थिताः । उभयत्र विशेषणविशेष्यभावस्समानः । तत्र एव तयो-र्भेदप्रतिपत्तिश्च । इयांस्तु विशेषः— पृथक्संस्थितिप्रतिपत्ति-योग्या दण्डादयः, गोत्वाद्यस्तु नियमेन तदनङ्गाः—इति

* अत्र जातिव्यक्तयोर्भेदाभेदे चत्वारो हेतवः परोक्षः प्रथमपिण्ड ग्रहणो, अभेदेन ग्रहणम्, एकस्यानुविद्धप्रत्ययो मत्पर्यायप्रत्ययनिरपेक्ष समानाधि करण पद प्रयोगः, सहोपलम्भनियमरवेति । अत्र सहोपलम्भ नियम समानाधिकरणप्रत्ययौ भेदाभेदसाधका, अभ्यां द्वावभेदसाधका । इदं हेतुचतुष्टयमाशङ्क्याह तथाहीति । अत्र महासिद्धान्ते समस्तटिप्पणीयविषयाः शत रूपययां दशमवादाद्वारभ्य त्रिंशद्वाक्यपर्यन्तविंशदमनुसन्धेवाः ।

अतो वस्तुविरोधः प्रतीतिपराहत इति प्रतीतिप्रकारनिवृत्त्यादेवोच्यते । प्रतीतिप्रकारो हि, इदमित्थमित्येव सर्वसम्मतः । तदेतत्सूत्रकारेण १ "नैकसिद्धसम्भवात्" इति सुव्यक्तमुपपादितम् ॥

अतः प्रत्यक्षस्य सविशेषविषयत्वेन प्रत्यक्षादिदृष्टसम्बन्धविशिष्ट-विषयत्वाद्नुमानमपि सविशेषविषयमेव । प्रमाणसङ्ख्याविवादेऽपि सर्वाभ्युपगतप्रमाणानामयमेव विषय इति न केनापि प्रमाणेन निर्विशेषवस्तुसिद्धिः । वस्तुगतस्वभावविशेषैस्तदेव वस्तु निर्विशेषमिति यद्वन्न जननीवन्ध्यात्वप्रतिष्ठायामिव स्ववान्विरोधमपि न जानाति ।

यत्तु—प्रत्यक्षं सन्मात्रग्राहित्वेन न भेदविषयम्, भेदश्च विकल्पासहत्यादुदुर्निरूपः—इत्युक्तम्, तदपि जात्यादिविशिष्टस्यैव वस्तुनः प्रत्यक्षविषयत्वाज्जात्यादेरेव प्रतियोग्यपेक्षया वस्तुनस्त्वस्य च भेदव्यवहारहेतुत्वाच्च दूरोत्सारितम् । सम्भेदवद्भूतपादिवच्च परस्परव्यवहारविशेषहेतोस्त्वसिद्धापि तद्व्यवहारहेतुत्वं युष्माभिरभ्युपेतं भेदस्यापि सम्भवत्येव । अत एव च नानवस्थाऽन्योन्याश्रयणं च । एकक्षणवर्तित्वेऽपि प्रत्यक्षज्ञानस्य तस्मिन्नेव क्षणे वस्तुभेदरूपतत्संस्थानरूपगोत्यादेर्गृहीतत्वात् क्षणान्तरग्राह्यं न किञ्चिद्विह तिष्ठति ॥

अपि च सन्मात्रग्राहित्वे 'घटोऽस्ति' 'पटोऽस्ति' इति विशिष्टविषया प्रतीतिरिच्छते । यदि च सन्मात्रातिरेकवस्तुसंस्थानरूप-जात्यादिलक्षणो भेदः प्रत्यक्षेण न गृहीतः, किमित्यश्वार्थो २ महिषदर्शने निवर्तते । सर्वासु प्रतिपत्तिषु सन्मात्रमेव विषयश्चेत्, तत्तत्प्रतिपत्तिविषयसहचारिणस्सर्वे शब्दा एकैकप्रतिपत्तिषु किमिति न स्मर्यन्ते किञ्च, अश्वे हस्तिनि च सम्भेदयोरेकविषयत्वेन उपरितनस्य गृहीतग्राहिणाद्विशेषाभावाच्च स्मृतिर्बलक्षणं न स्यात् । प्रतिसम्भेदनं विशेषाभ्युपगमे प्रत्यक्षस्य विशिष्टार्थविषयत्वमेवाभ्युपगतं भवति । सर्वेषां संभेदानामेकविषयतायामेकेनैव संभेदेनाशेषग्रहणादन्वयवि-

राद्यभायश्च प्रसज्येत । न च चक्षुषा सन्मात्रं गृह्यते, तस्य रूपरूपि-
रूपैकार्थसमवेतपदार्थप्राहित्वात् । नापि त्वच्चा, स्पर्शवद्वस्तुविषय-
त्वात् श्रोत्रादीन्यपि न सन्मात्रविषयाणि ; किन्तु शब्दरसगन्धलक्ष-
णविशेषविषयाण्येव । अतस्सन्मात्रस्य प्राद्वकं न किञ्चिदिह दृश्यते ।
निर्दिशेषसन्मात्रस्य च प्रत्यक्षेणैव ग्रहणे तद्विषयागमस्य प्राप्तविषयत्वे-
नानुधावकत्वमेव स्यात् । सन्मात्रग्रहणः प्रमेयभावश्च । ततो जडत्व-
नाशित्वाद्यस्त्वयैवोक्ताः । अतो वस्तुसंस्थानरूपजात्यादिलक्षणमेव-
विशिष्टविषयमेव प्रत्यक्षम् ; संस्थानातिरेकिणोऽनेकेत्वेकाकारबुद्धि-
योध्यस्यादर्शनात्, तावतैव गोत्वादिजातिव्यवहारोपपत्तेः । अतिरे-
कधावेऽपि संस्थानस्य सम्प्रतिपन्नत्वाच्च संस्थानमेव जातिः संस्थानं
नाम स्वासाधारणं रूपमिति यथावस्तु संस्थानमनुसन्धेयम् ; जाति-
ग्रहणेनैव मिश्र इति व्यवहारसम्भवात्, पदार्थान्तरादर्शनात्, अथा-
न्तरवादिनाऽप्यभ्युपगतत्वाच्च गोत्वादिरेव भेदः । ननु च—जात्या-
दिरेव भेदश्चेत्तस्मिन् गृहीते तद्व्यवहारवज्ज्ञेयव्यवहारस्स्यात् । सत्यम्,
भेदश्च व्यवहियत एव, गोत्वादिव्यवहारात् । गोत्वादिरेव हि सकले-
तरव्यावृत्तिः, गोत्वादौ गृहीते सकलेतरसजातीयबुद्धिव्यवहारयोर्नि-
वृत्तेः । भेदग्रहणेनैव ह्यभेदनिवृत्तिः । 'अयमस्मान्निष्ठा' इति तु व्यव-
हारे प्रतियोगिनिर्देशस्य तदपेक्षत्वात् प्रतियोग्यपेक्षया भिन्न इति
व्यवहार इत्युक्तम् ॥

यत्पुनर्घटादीनां विशेषाणां व्यावर्तमानत्वेनापारमार्थ्यमुक्तम्,
तदनालोचितबाध्यबाधकभावव्यावृत्त्यनुवृत्तिविशेषस्य भ्रान्तिपरि-
क्षितम् ॥

अयोर्मानयोर्ध्विरोधे हि बाध्यबाधकभावः । बाधितस्यैव
व्यावृत्तिः । अत्र घटपटादिषु देशकालभेदेन विरोध एव नास्ति ।
यस्मिन् देशे यस्मिन् काले यस्य सद्भावः प्रतिपन्नः, तस्मिन् देशे तस्मिन्
काले तस्याभावः प्रतिपन्नश्चेत् ; तत्र विरोधात् यत्नयतो बाधकत्वं
बाधितस्य च निवृत्तिः ; देशान्तरकालान्तरसम्बन्धितयाऽनुभूतस्यान्य
देशकालयोरभावं प्रतितीती न विरोध इति कथमत्र बाध्यबाधक-

भावः । अन्यत्र निवृत्तस्यान्यत्र निवृत्तिर्वा कथमुच्यते । रज्जुसर्पाद्विषु
तु न द्वेशकालसंयन्धनयैवाभावप्रतीतिः, विरोधो बाधकत्वं व्यावृत्ति-
श्चेति । देशकालान्तरदृष्टस्य—देशकालान्तरव्यावर्तमानत्वं
मिथ्यात्वव्याप्तं न दृष्टमिति न व्यावर्तमानत्वमात्रमपार-
माध्यहेतुः ॥

यत्तु—अनुवर्तमानत्वात्सत्परमार्थः—इति, तत्सिद्धमेवेति न
साधनमर्हति । अतो न सन्मात्रमेव वस्तु ॥

अनुभूतिसद्विषययोश्च विषयविषयिभावेन भेदस्य प्रत्यक्षसिद्ध-
त्वाद्याधितत्वाद्यानुभूतिरेव सतीत्येतदपि निरस्तम् ॥

यत्स्वनुभूतेस्वरूपप्रकाशत्वमुक्तम् । तद्विषयप्रकाशनयेत्यायां धातु-
रात्मनस्तथैव; न तु सर्वेषां सर्वदा तथैवेति नियमोऽस्ति, परानुभवस्य,
दानोपादानाद्विलिङ्गकानुमानप्राप्तविषयत्वात्, स्वानुभवस्याप्यतीतस्य
'अज्ञासिपम्' इतिप्राप्तविषयत्वदर्शनाच्च । अतोऽनुभूतिश्चेत् स्वतरसि-
द्धेति वक्तुं न शक्यते ॥

अनुभूतेरनुभाव्यत्वे, अननुभूतित्वमित्यपि दुरुक्तम् । स्वगताती-
तानुभवानां परगतानुभवानां चानुभाव्यत्वेनाननुभूतित्वप्रसङ्गात् ।
परानुभवानुमानानभ्युपगमे च शब्दार्थसम्बन्धग्रहणाभावेन समस्त-
शब्दव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गः । आचार्यस्यज्ञानवत्त्वमनुमाय तदुपस-
त्तिश्च क्रियते; सा च नोपपद्यते । नचान्यविषयत्येऽननुभूतित्वम्;
अनुभूतित्वं नाम वर्तमानदशायां स्वसत्तयैव स्वाश्रयं प्रति प्रकाशमा-
नत्वम्, स्वसत्तयैव स्वविषयसाधनत्वं या । ते चानुभवान्तरानुभाव्य
त्येऽपि स्वानुभवसिद्धे नापगच्छत इति नानुभूतित्वमपगच्छति ।
घटादेस्त्वननुभूतित्वमेतत्स्वभावविरहात्; नानुभाव्यत्वात् । तथाऽनु-
भूतेरननुभाव्यत्वेऽपि, अननुभूतित्वप्रसङ्गो दुर्धारः । गगनकुसुमादेर-
ननुभाव्यस्याननुभूतित्वात् ॥

गगनकुसुमादेरननुभूतित्वमसत्त्वप्रयुक्तम्, नाननुभाव्यत्वप्र-
युक्तम्—इतिचेत्; परं तर्हि घटादेरप्यज्ञानाविरोधित्वमेवाननुभूति-

स्वनिबन्धनम्, नानुभाव्यत्वमित्यास्वीयताम् । अनुभूतेरनुभाव्यत्वे, अक्षानाधिरोधित्वमपि तस्याः घटादेरिव प्रसज्यत इति चेत्, अननुभाव्यत्वेऽपि गगनकुसुमादेरिवाक्षानाधिरोधित्वमपि प्रसज्यत एव । अनेऽनुभाव्यत्वेऽननुभूतित्वमित्युपहास्यम् ॥

यत्तु—संविदस्त्वतस्सिद्धायाः प्रागभावाद्यभावादुत्पत्तिर्निरस्यते, तदन्धस्य जात्यन्धेन यष्टिः प्रदीयते । प्रागभावस्य ग्राहकाभावाद्भावे । न शक्यते वक्तुम् ; अनुभूत्यैव ग्रहणात् । कथमनुभूतिस्सती तदानीमेव स्वाभावं विरुद्धमवगमयतीति चेत् ; न ह्यनुभूतिस्त्वसमकालवर्तिनमेव विषयीकरोतीत्यस्ति नियमः, अतीतानागतयोरविषयत्वप्रसङ्गात् ॥

अथ मन्यसे—अनुभूतिप्रागभावादेस्सिद्धयतस्तत्समकालभावनियमोऽस्तीति; किं स्वयां क्वचिदेवं दृष्टम् ? येन नियमं ब्रवीषि । हन्त तर्हि तत् एव दर्शनात् प्रागभावविस्मय इति न ? तदपह्नुवः । तत्प्रागभावं च तत्समकालवर्तिनमनुगम्यः को ब्रवीति । इन्द्रियजन्मनः प्रत्यक्षस्य ह्येव स्वभावनियमः, यत्स्वसमकालवर्तिनः पदार्थस्य ग्राहकत्वम् ; न सर्वेषां ज्ञानानां प्रमाणानां च; सरणानुमानागमयोगिप्रत्यक्षादिषु कालान्तरवर्तिनोऽपि ग्रहणदर्शनात् । अत एव च प्रमाणस्य प्रमेयाविनाभावः—न हि प्रमाणस्य स्वसमकालवर्तिनाऽविनाभावोऽर्थसम्बन्धः; अपि तु यद्देशकालादिसम्यग्धितया योऽर्थोऽवभासते, तस्य तथाविधाकारमिदयात्वप्रत्यनीकता । अत इदमपि निरस्तम्—स्मृतिर्न बाह्यविषया नष्टेऽप्यर्थे स्मृतिदर्शनात्—इति ॥

अथोच्येत—न तावत्संविदप्रागभावः प्रत्यक्षावसेयः, अवर्तमानत्वात् । न च प्रमाणान्तरावसेयः, लिङ्गाद्यभावात् । न हि संविदप्रागभावव्याप्तमिह लिङ्गमुपलभ्यते २ । न चाऽगमस्तद्विषया दृष्टचरः । अतस्तत्प्रागभावः प्रमाणाभावादेव न सेत्स्यति—इति; यद्येवं स्वतः

१ तदभाव निहव इति पा० । २ नानुपपत्तिरपि कस्यचिदुच्यते० इति० कुपलक्षितं दृश्यते ।

स्त्विद्वत्त्वविभवं परित्यज्य १ प्रमाणाभावेऽवरुद्धचेत्, योग्यानुप-
लब्धैवाभावात्समर्थित ॥ इत्युपशाम्यतु भवान् ॥

किंच—प्रत्यक्षज्ञानं स्वविषयं घटादिकं स्वसत्ताकाले सन्तं
साध्यत्तस्य न सर्वदा सत्तामवगमयदुद्गृह्यत इति घटादेः पूर्वोत्तर-
कालसत्ता न प्रतीयते । तद्वप्रतीतिश्च संवेदनस्य कालपरिच्छिन्नतया
प्रतीतेः । घटादिविषयमेव संवेदनं स्वयं कालानवच्छिन्नं प्रतीतं चेत्,
संवेदनविषयो घटादिरपि कालानवच्छिन्नः प्रतीयतेति नित्यस्स्यात् ।
नित्यं चेत्संवेदनं स्वतस्त्विदं नित्यमित्येव प्रतीयेत । न च तथा
प्रतीयते ॥

एवमनुमानादिसंविदोऽपि कालानवच्छिन्नाः प्रतीताश्चेत्,
स्वविषयानपि कालानवच्छिन्नान् प्रकाशयन्तीति ते च सर्वे काला-
नवच्छिन्ना नित्यास्स्युः, २ संविदनुपपत्त्याद्विषयाणाम् । न च निर्वि-
षया काचित्संविदस्ति, अनुपलब्धेः । विषयप्रकाशनतयैवोपलब्धेरेव
हि संविदस्त्वयंप्रकाशता समर्थिता, संविदो विषयप्रकाशनतास्यभाव-
विरहे सति स्वयंप्रकाशत्वासिद्धेः, अनुभूतेरनुभवान्तराननुभाव्य-
त्वाच्च संविदस्तुच्छतैवस्यात् । न च स्वापमदमूर्च्छाविषु सर्वविषय-
शून्या केवलैव संवित्पनिस्फुरतीति वाच्यम्, योग्यानुपलब्धिपरा-
हृतत्वात् तास्यपि दशास्वनुभूतिरनुभूता चेत्, तस्याः प्रबोधसम-
येऽनुसंधानं स्यात्, न च तदस्ति ॥

नन्वभूतस्य पदार्थस्य स्मरणनियमो न दृष्टचरः । अतस्स्मरणा-
भावः कथमनुभवान्मायं साधयेत् ? उच्यते, निखिल संस्कारतिर-
स्कृतिकरदेहविगमादिप्रबलहेतुधिरहेऽप्यस्मरणनियमोऽनुभवान्मायमेव

॥ परेषांभावः प्रमाणास्याङ्गीकृतत्वाद्योग्यानुपलब्धैवेत्युक्तम् । स्वपक्ष
पर्यालोचनायामपि ज्ञानसमयोक्त्यानुपलब्धिर्नाम भावरूपावस्थान्तरोपलब्धिः,
पिपडत्वाद्युपलब्धिरेव हि घटस्य योग्यानुपलब्धिः ।

साधयति, न केवलमस्मरणनियमादनुभवाभावः, सुप्तोत्थितस्य 'इयन्तं कालं न किञ्चिदहमस्मात्सिपम्' इति प्रत्ययमर्शेनैव सिद्धेः । न च सत्यप्यनुभवे तदस्मरणनियमो विषयावच्छेदविरहादहंकारविगमा-
हेति शक्यते यकुम्, अर्थान्तराननुभवस्यार्थान्तराभावस्य ÷ चानु-
भूतार्थान्तरास्मरणहेतुत्वाभावात् । तास्वपि दशास्वहमर्थोऽनुवर्तत
इति च यक्ष्यते ॥

ननु स्वापदिदशास्वपि सविशेषोऽनुभवोऽस्तीति पूर्णमुक्तम् ।
सत्यमुक्तम् ; स त्वात्मानुभवः । स च सविशेष एवेति स्वापयिष्यते ।
इह तु सकलविषयविरहिणी निराश्रया च संविन्निषिध्यते । केवलैव
संविदात्मानुभव १ इति चेत्, सा च साधयेति ह्युपपादयिष्यते ।
अतोऽनुभूतिस्सती स्वयं स्वप्रागभावं न साधयतीति प्रागभावासिद्धिर्न
शक्यते यकुम् । अनुभूतेरनुभाव्यत्वसम्भोपपादनेनान्यतोऽप्यसि-
द्धिर्निरस्ता । तस्मात् प्रागभावासिद्ध्या संविदोऽनुत्पत्तिरूपपत्तिमती ।

यदप्यस्या अनुत्पत्त्या विकारान्तरनिरसनम् ; तदप्यनुपपन्नम्,
प्रागभावे व्यभिचारात् । तस्य हि जन्माभावेऽपि विनाशो दृश्यते ।
भावेऽप्यिति विशेषणे तर्ककुशलताऽऽविष्कृता भवति । तथाच भवद-
भिमतोऽविद्याऽनुत्पन्नैव विविधविकारास्पदं २ तत्तदज्ञानोदयाद-
भ्यवती चेति तस्यामर्शकान्त्यम् । तद्विकारास्सर्वे मिथ्याभूता इति
चेत्, किं भवतः परमार्थभूतोऽप्यस्ति विकारः ? येनैतद्विशेषणमर्थव-
द्भवति । न ह्यसावभ्युपगम्यते ॥

÷ घटानुभवः, पटविनाशश्चानुभूत कुडपाद्यस्मरणकारणं न दृष्टमित्यर्थः ।
ननु-कुडपादेः स्मरणं प्रति घटादेरकारणत्वात्तदभावो नास्याः स्मरण हेतुः,
इह तु स्मरण कारणस्याभावोऽस्मरण हेतुरेव । नैवं कुडपादिस्मरणं प्रति घटा-
देरिव—ज्ञातं ज्ञेययोरपि स्मरणं प्रति, अकारणत्वमकामेनापि स्वीकार्यमित्यभि-
प्रायेण ह्यर्थान्तराज्जः प्रयुक्तः ॥

यदपि—अनुभूतिरजत्वात्स्वसिन्धिभागं न सहते इति । तदपि नोपपद्यते, अजस्यैवाऽत्मनो देहेन्द्रियादिभ्यो विभक्तत्वाद्नादित्वेन चाभ्युपगताया अविद्याया आत्मनो व्यतिरेकस्यावश्याश्रयणीयत्वान् । १ स विभागो मिथ्यारूपइति चेत् ; जन्मप्रतिबद्धः परमार्थविभागः किं क्वचिद्द्रष्टव्यम् ? अविद्याया आत्मनः परमार्थतो विभागाभावे २ वस्तुतो ह्यविद्यैव स्यादात्मा । अवाधितप्रतिपत्तिसिद्धद्रूपमेदसमर्थनेन दर्शनभेदोऽपि समर्थित एव. द्वेयभेदाच्छेदनभेदवत् ॥

यदपि—३ नास्या दृशेद्रूशिखरूपाया च दृश्यः कश्चिदपि धर्मोऽस्ति; दृश्यत्वादेव तेषां न दृशिधर्मत्वम् इति च । तदपि स्वाभ्युपगतेः प्रमाणसिद्धैर्नित्यस्य स्वयंप्रकाशत्वादिधर्मैरुभयमनैकान्तिकम् । न च ते संवेदनमात्रम्, स्वरूपभेदात् । स्वसत्तयैव स्वाश्रयं प्रति कस्यचिद्विषयस्य प्रकाशनं हि संवेदनम् । स्वयंप्रकाशता तु स्वसत्तयैव स्वाश्रयाय प्रकाशमानता । प्रकाशाच्च चिद्विदशेषपदार्थसाधारणं व्यवहारानुगुणम् ॥

सर्वकालवर्तमानत्वं हि नित्यत्वम् । एकत्वमेकसंख्यावच्छेद इति । तेषां जडत्वाद्यभावरूपतायामपि तथाभूतैरपि चैतन्यधर्मभूतैस्तैरनैकान्त्यमपरिहार्यम् । संचिदि तु स्वरूपातिरेकेण जडत्वादिप्रत्यनीकत्वमित्यभावरूपो भावरूपो वा धर्मो नाभ्युपेतश्चेत् ; तत्तन्निषेधोक्त्या किमपि नोक्तं भवेत् ॥

अपिच संवित्सिध्यति वा न वा ? सिध्यति चेत् ; सधर्मता स्यात् । न चेत् ; तुच्छता, गगनकुसुमादिषु । सिद्धिरेव संविदिति

७ अनुभूतिर्न दृश्यधर्मवती, दृशित्वात्, यद् दृश्य धर्मवत्तत्र दृशिः, यथाघट इति अनुमान शरीरम्, यत्र दृश्यधर्मवत्तस्य, अदृशित्वं व्याप्तिरनुभूती भग्ना, तस्यादृशित्वं नित्यत्वादि धर्मवत्त्वादिति भावः ॥

१ स० चेति, पा० । २ वस्तुतोऽविद्यैवेति० पा० । ३ नास्या दृशिस्वरूपाया० इति- पा० ।

चेत्, कस्य कं प्रतीति यत्कथम् । यदि न कस्य चित्कंचित्प्रति, सा तर्हि न सिद्धिः । सिद्धिर्हि पुत्रत्वमिव कस्यचित्कंचित्प्रति भवति । आत्मन इति चेत्, कौऽयमात्मा ? ननु संविदेवेत्युक्तम् । सत्यमुक्तम् ; १ दुरुक्तं तु तत् । तथाति; कस्यचित्पुरुषस्य किंचिदर्थजातं प्रति सिद्धिरूपतया तत्संबन्धिनी सा संचित्सत्यं कथमिवाऽऽत्मभावमनुभवेत् ॥

एतदुक्तं भवति - अनुभूतिरिति स्वाध्यायं प्रति स्वसद्भावेनैव कस्यचिद्वस्तुनो व्यवहारानुगुण्यापादनस्वभावाद् ज्ञानावगतिसंविदाद्य-परनामा सकर्मकोऽनुभवितुरात्मनो धर्मविशेषो 'घटमहं जानामीम-मर्थमवगच्छामि पटमहं संवेष्टि' इति सर्वेषामात्मसाक्षिकः २ प्रसिद्धः । एतत्समावतया हि तस्यास्त्वयंप्रकाशता भवताऽप्युप-पादिता । अस्य सकर्मकस्य कर्तृधर्मविशेषस्य कर्मत्ववत्कर्तृत्वमपि दुर्घटमिति ॥

तथाहि; अस्य कर्तृस्त्विदत्वं कर्तृधर्मस्य संवेदनाख्यस्य सुखदुःखादेरिवोत्पत्तिस्थितिनिरोधाच्च प्रत्यक्षमीक्ष्यन्ते । कर्तृस्थैर्यं तावत् 'स एवायमर्थः पूर्वं मयाऽनुभूतः' इति प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्ष-सिद्धम् । 'अहं जानामि, अहमस्मासिपं ज्ञातुरेव ममेदानीं ज्ञानं नष्टम्' इति च संविदुत्पत्त्यादयः प्रत्यक्षसिद्धा इति कुतस्तदैक्यम् । एवं क्षणभङ्गिन्यास्संविद आत्मत्वाम्युपगमे पूर्वेषु दुर्घटमपरेषु; रिक्-महमदर्शम्' इति प्रत्यभिज्ञा च न घटते; अन्येनानुभूतस्य न ह्यन्येन प्रत्यभिज्ञानसंभवः ॥

किञ्च अनुभूतेरात्मत्वाम्युपगमे तस्याः नित्यत्वेऽपि ३ प्रति-सन्धानासम्भवस्तदवस्थः । प्रतिसन्धानं हि पूर्वापरकालसायिनमनु-भवितारमुपस्थापयति; नानुभूतिमात्रम् । अहमेवेदं पूर्वमप्यन्वभूवमिति । भवतोऽप्यनुभूते न ह्यनुभवितृत्वमिष्टम् । अनुभूतिरनुभूतिमात्रमेव । संबिभ्राम काचिन्निराध्या निर्विषया वाऽत्यन्तानुपलब्धेर्न संभवती-

१ दुरुक्तं तदिति० पा० । २ प्रत्यक्ष० इति० पा० । ३ प्रतिसन्धानाभाव० इति० पा० ।

त्युक्तम् । १ उभयाम्युपेता संविदेयाऽस्मेत्युपलब्धिपराहतम् । अनु-
भूतिमात्रमेव परमार्थ इति २ निष्कर्षकहेत्याभासाच्च निराकृताः ॥

ननु च—‘अहं जानामि’ इत्यस्मत्प्रत्यये योऽनिवर्मशः प्रकाश-
करस्सञ्चित्यार्थस्स आत्मा । तस्मिन् तद्बलनिर्भासिततया युष्मदर्थ-
लक्षणोऽहं जानामोति सिध्यन्नहमर्थञ्चिन्मात्रातिरेको युष्मदर्थ एव ।
नैतदेवम्, ‘अहं जानामि’ इति धर्मधर्मितया प्रत्यक्षप्रतीतिधिराधादेव ॥

किञ्च—

अहमर्थो न चेदात्मा प्रत्यक्त्वं नाऽत्मनो भवेत् ।
अहंबुद्ध्या परार्थात् प्रत्यगर्थो हि भिद्यते ॥
निरस्ताखिलदुःखोऽहमनन्तानन्दभाक् स्वराट् ।
भवेयमिति मोक्षार्थी श्रवणादौ प्रवर्तते ॥
अहमर्थविनाशश्चेन्मोक्ष इत्यध्ययस्यति ।
अपसर्पेदसौ मोक्षकथाप्रस्तावगन्धतः ॥
मयि नष्टेऽपि मत्तोऽन्या काचिज्जमिरघस्थिता ।
इति तत्प्राप्तये यत्नः कस्यापि न भविष्यति ॥
स्वसम्बन्धितया ह्यस्यास्सत्ता विप्रमितादि च ।
स्यसम्बन्धवियोगे तु घटिरिव न सिद्ध्यति ॥
छेत्तुश्चेद्यस्य चाभावे छेदनादेरसिद्धिरित् ।
अतोऽहमर्थो ज्ञातव्य प्रत्यगात्मेति निश्चितम् ॥
३ ‘विज्ञानारमणे’ ४ ‘केन जानात्येवे’ति च धृतिः ।
५ ‘एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ’ इति च स्मृतिः ॥
६ ‘नाऽत्मा ध्रुवे’ रित्यारभ्य सूत्रकारोऽपि बध्यति ।
७ ‘घोऽनप्ये’ त्यतो नाऽत्मा घृतिमात्रमिति स्थितम् ॥

अहं प्रत्ययसिद्धो ह्यस्मदर्थः, युष्मत्प्रत्ययविषयो युष्मदर्थः ।
तत्राहं जानामोति सिद्धो ज्ञाता युष्मदर्थ इति वचनं जननी मे बन्धु-
-

१ उभयाम्युपगतेति० पा० । २ निष्कर्षो० इति० पा० । ३ मृ० ४ अ० ४ पा०
१४ वा० । ४ । ५ गी० १३ अ० १ श्लो० । ६ शारी० २ अ० ३ पा० १८
सू० । ७ शारी० २ अ० ३ पा० १६ सू० ।

तिचद्रयाहृतार्थं च । नचासौ ज्ञाताऽहमर्थोऽन्याधीनप्रकाशः, स्वयं-
प्रकाशत्वान् । चैतन्यस्वभावता हि स्वयंप्रकाशता । यः प्रकाशस्वभावः,
सोऽनन्याधीनप्रकाशः, दीपवत् । नहि दीपादेस्वप्रभावनिर्भासित-
त्वेनाप्रकाशत्वमन्याधीनप्रकाशत्वं च । किं तर्हि ! १ दीपस्वयंप्रका-
शस्वभावस्वयमेव प्रकाशते; अन्यानपि प्रकाशयति २ स्वप्रभया ॥

एतदुक्तं भवति—यथैकमेव तेजोद्रव्यं प्रभाप्रभावदुरुपेणा-
वलिष्ठते । यद्यपि प्रभा प्रभावद्वयगुणभूता । तथाऽपि तेजोद्रव्यमेव,
न शौक्यादिवद्वगुणः । स्वाभयादन्यत्तापि वर्तमानत्वाद्गुरुपवत्त्वाच्च
शौक्यादिवैधर्म्यात्, प्रकाशवत्त्वाच्च तेजोद्रव्यमेव; नार्थान्तरम् ।
प्रकाशवत्त्वं च स्वस्वरूपस्यान्येषां च प्रकाशकत्वात् । अस्यास्तु गुण-
त्वव्यवहारो नित्यतदाभ्यस्तवच्छेयत्वनिबन्धनः ॥

न चाऽभयावयवा एव विशीर्णाः प्रचरन्तः प्रमेत्युच्यन्ते,
मणिद्युमणिप्रभृतीनां विनाशप्रसङ्गात् ॥

दीपेऽप्यवयवप्रतिपत्तिः कदाचिदपि न स्यात् । नहि विशर-
णस्वभावावयवा दीपाभ्यतुरङ्गुलमात्रं नियमेन पिण्डीभूता ऊर्ध्वमुद्गम्य
ततः पश्चाद्युगपदेव तिर्यगूर्ध्वमधश्चैकरूपा विशीर्णाः प्रचरन्तीति
शक्यं यक्तुम् ॥

अतस्सप्रभाका एव दीपाः प्रतिक्षणमुत्पन्ना विनश्यन्तीति
पुष्कलकारणक्रमोपनिपातात्तद्विनाशे विनाशाद्यावगम्यते । प्रभाया-
स्स्वाभयसमीपे प्रकाशाधिक्यमौष्ण्याधिक्यमित्याद्युपलब्धिव्यवस्था-
प्यमन्यादीनामौष्ण्यादिवत् । एवमात्मा चिद्रूप एव ३ चैतन्य-
गुण इति । चिद्रूपता हि स्वयंप्रकाशना ॥

तथाहि धृतयः—४ " स यथा सैन्धवघ्नोऽनन्नरोऽद्याहः
कृत्स्नो रसघ्न एव एवं या अरेऽयमात्माऽनन्तरोऽद्याहः कृत्स्नः

१ दीपः, प्रकाशेति० पा० । २ स्वप्रभयेति० पा० । ३ चैतन्यगुणक इति०
पा० । ४ वृ० ६ अ० २ ब्रा० १३ वा० ।

प्रज्ञानघन एव १ " विज्ञानघन एव " २ " अन्तार्य पुरुषस्त्वयं ज्यो-
निर्भयति " ३ " न विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते " ४ " अथ यो
वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा " ५ " कतम आत्मा योऽयं विज्ञानमयः
प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः " ६ " एष हि ७ द्रष्टा ध्रोता रसयिता
घ्राता मन्ता चोद्या कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः " ८ " विज्ञातारमरे केन
विजानीयात् " ९ " जानात्येवायं पुरुषः " १० " न पश्यो मृत्युं
पश्यति न रोगं नोत दुःखताम् " ११ " स उत्तमः पुरुषः " १२
" नोपजनं स्मरन्निदं शरीरम् " १३ " एवमेवास्य परिब्रूदुरि-
माभ्योऽशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तंगच्छन्ति " १४ " तस्माद्वा
एतस्मान्मनोभयादन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः " — इत्याद्याः । वक्ष्यति
च १५ ' शोऽतएव " इति ॥

अतस्त्वयंप्रकाशोऽयमात्मा घ्रातैवे, न प्रकाशमात्रम् । प्रकाश-
त्वादेव कस्यचिदेव भयेत्प्रकाशः, दीपादिप्रकाशपत् । तस्मात्ताऽत्मा
भवितुमर्हति संवित् । संविदनुभूतिज्ञानादिशब्दास्संवन्धिष्यन्ति इति
च शब्दार्थविदः । नहि लोकवेदयोर्जानातीत्यादेरकर्मकस्याकर्तृकस्य च
प्रयोगो द्रष्टृचरः ॥

यद्योक्तमजडत्वात्संविदेवाऽत्मेति, तत्रैवं प्रष्टव्यम्, अजड-
त्वमिति किमभिप्रेतम् ? स्वसत्ताप्रयुक्तप्रकाशत्वमिति चेत् ; तथा
सति दीपादिष्वनैकान्त्यम् । संविदतिरिक्तप्रकाशधर्मानभ्युपगमेना-
सिद्धिर्विरोधश्च । अयमिच्चरितप्रकाशसत्ताकत्वमपि, सुखादिषु
व्यभिचाराभिरस्तम् ॥

१ सू० ४ अ० ४ ब्रा० । २ सू० १ अ० ३ ब्रा० । ३ सू० १ अ० ३ ब्रा० । ४ सू० १ अ० ३ ब्रा० । ५ सू० १ अ० ३ ब्रा० । ६ सू० १ अ० ३ ब्रा० । ७ सू० १ अ० ३ ब्रा० । ८ सू० १ अ० ३ ब्रा० । ९ सू० १ अ० ३ ब्रा० । १० सू० १ अ० ३ ब्रा० । ११ सू० १ अ० ३ ब्रा० । १२ सू० १ अ० ३ ब्रा० । १३ सू० १ अ० ३ ब्रा० । १४ सू० १ अ० ३ ब्रा० । १५ सू० १ अ० ३ ब्रा० । १६ सू० १ अ० ३ ब्रा० । १७ सू० १ अ० ३ ब्रा० । १८ सू० १ अ० ३ ब्रा० । १९ सू० १ अ० ३ ब्रा० । २० सू० १ अ० ३ ब्रा० । २१ सू० १ अ० ३ ब्रा० । २२ सू० १ अ० ३ ब्रा० । २३ सू० १ अ० ३ ब्रा० । २४ सू० १ अ० ३ ब्रा० । २५ सू० १ अ० ३ ब्रा० । २६ सू० १ अ० ३ ब्रा० । २७ सू० १ अ० ३ ब्रा० । २८ सू० १ अ० ३ ब्रा० । २९ सू० १ अ० ३ ब्रा० । ३० सू० १ अ० ३ ब्रा० । ३१ सू० १ अ० ३ ब्रा० । ३२ सू० १ अ० ३ ब्रा० । ३३ सू० १ अ० ३ ब्रा० । ३४ सू० १ अ० ३ ब्रा० । ३५ सू० १ अ० ३ ब्रा० । ३६ सू० १ अ० ३ ब्रा० । ३७ सू० १ अ० ३ ब्रा० । ३८ सू० १ अ० ३ ब्रा० । ३९ सू० १ अ० ३ ब्रा० । ४० सू० १ अ० ३ ब्रा० । ४१ सू० १ अ० ३ ब्रा० । ४२ सू० १ अ० ३ ब्रा० । ४३ सू० १ अ० ३ ब्रा० । ४४ सू० १ अ० ३ ब्रा० । ४५ सू० १ अ० ३ ब्रा० । ४६ सू० १ अ० ३ ब्रा० । ४७ सू० १ अ० ३ ब्रा० । ४८ सू० १ अ० ३ ब्रा० । ४९ सू० १ अ० ३ ब्रा० । ५० सू० १ अ० ३ ब्रा० । ५१ सू० १ अ० ३ ब्रा० । ५२ सू० १ अ० ३ ब्रा० । ५३ सू० १ अ० ३ ब्रा० । ५४ सू० १ अ० ३ ब्रा० । ५५ सू० १ अ० ३ ब्रा० । ५६ सू० १ अ० ३ ब्रा० । ५७ सू० १ अ० ३ ब्रा० । ५८ सू० १ अ० ३ ब्रा० । ५९ सू० १ अ० ३ ब्रा० । ६० सू० १ अ० ३ ब्रा० । ६१ सू० १ अ० ३ ब्रा० । ६२ सू० १ अ० ३ ब्रा० । ६३ सू० १ अ० ३ ब्रा० । ६४ सू० १ अ० ३ ब्रा० । ६५ सू० १ अ० ३ ब्रा० । ६६ सू० १ अ० ३ ब्रा० । ६७ सू० १ अ० ३ ब्रा० । ६८ सू० १ अ० ३ ब्रा० । ६९ सू० १ अ० ३ ब्रा० । ७० सू० १ अ० ३ ब्रा० । ७१ सू० १ अ० ३ ब्रा० । ७२ सू० १ अ० ३ ब्रा० । ७३ सू० १ अ० ३ ब्रा० । ७४ सू० १ अ० ३ ब्रा० । ७५ सू० १ अ० ३ ब्रा० । ७६ सू० १ अ० ३ ब्रा० । ७७ सू० १ अ० ३ ब्रा० । ७८ सू० १ अ० ३ ब्रा० । ७९ सू० १ अ० ३ ब्रा० । ८० सू० १ अ० ३ ब्रा० । ८१ सू० १ अ० ३ ब्रा० । ८२ सू० १ अ० ३ ब्रा० । ८३ सू० १ अ० ३ ब्रा० । ८४ सू० १ अ० ३ ब्रा० । ८५ सू० १ अ० ३ ब्रा० । ८६ सू० १ अ० ३ ब्रा० । ८७ सू० १ अ० ३ ब्रा० । ८८ सू० १ अ० ३ ब्रा० । ८९ सू० १ अ० ३ ब्रा० । ९० सू० १ अ० ३ ब्रा० । ९१ सू० १ अ० ३ ब्रा० । ९२ सू० १ अ० ३ ब्रा० । ९३ सू० १ अ० ३ ब्रा० । ९४ सू० १ अ० ३ ब्रा० । ९५ सू० १ अ० ३ ब्रा० । ९६ सू० १ अ० ३ ब्रा० । ९७ सू० १ अ० ३ ब्रा० । ९८ सू० १ अ० ३ ब्रा० । ९९ सू० १ अ० ३ ब्रा० । १०० सू० १ अ० ३ ब्रा० ।

यद्युच्येत — सुखादिरव्यभिचरितप्रकाशोऽप्यन्यस्मै प्रकाश-
मानतया घटादिवज्जडत्वेनानाऽत्मा — इति । ज्ञानं या किं स्वस्मै
प्रकाशते ? तदपि हान्यस्यैवाहमर्थस्य ज्ञातृत्वमासते. अहं सुखीति-
वज्जानाम्यहमिति । अतस्त्वस्मै प्रकाशमानत्वरूपमजडत्वं संधिद्य-
सिद्धम्. तस्मात्स्वात्मानं प्रति स्वसत्तयैव सिध्यन्नजडोऽहमर्थ एवा-
ऽत्मा । ज्ञानस्यापि प्रकाशता तत्संबन्धायत्ता । तत्कृतमेव हि ज्ञानस्य
सुखादेरिव स्वाश्रयचेतनं प्रति प्रकटत्वमितरं प्रत्यप्रकटत्वं च । अतो
न वृत्तिमात्रमात्मा, अपि तु ज्ञातृत्वाहमर्थः ॥

अथ यदुक्तम् — अनुभूतिः परमार्थतो निर्धिषया निराश्रया च
सतां ज्ञान्तया ज्ञातृत्वाऽवभासते, रजततयेव शुक्तिः, निर्धिष्ठान-
भ्रमानुपपत्तेः. इति । तदुक्तम् ; तथा सत्यनुभवसामानाधिकरण्ये-
नानुभवितोऽहमर्थः प्रतीयेत, 'अनुभूतिरहम्' इति पुरोवस्थितमास्वर-
द्रव्याकारतया रजतादिरिव । अत्र तु पृथगवभासमानैवेयमनुभूतिर-
थाङ्तरमहमर्थं विशिनष्टि, दण्ड इव देवदत्तम् । तथाहि 'अनुभवा-
म्यहम्' इति प्रतीतिः । तदेवमस्मदर्थमनुभूतिविशिष्टं प्रकाशयन्ननु-
भवाम्यहमिति ग्रन्थयो दण्डमात्रे 'दण्डी देवदत्तः' इति प्रत्यतयद्वि-
शेषणभूतानुभूतिमात्रावलम्बनः कथमिव प्रतिपाद्येत ? ॥

यदप्युक्तम् — स्थूलोऽहमित्यादिवेहात्माभिमानयत एव ज्ञातृ-
त्वप्रतिभासनात् ज्ञातृत्वमपि मिथ्या — इति । तदुक्तम् ; आत्मतया
अभिमतया अनुभूतेरपि मिथ्यार्थं स्यात्, तद्वत् एव प्रतीतिः ।
सकलेतरोपमर्दिनस्य ज्ञानाबाधितत्वेनानुभूतेन मिथ्यात्वमिति चेत् ;
हन्तैवं सति तद्बाधादेव ज्ञातृत्वमपि न मिथ्या ॥

यदप्युक्तम् — अधिक्रियस्याऽत्मनो ज्ञानक्रियाकर्तृत्वरूपं ज्ञातृत्वं
न संभवति । अतो ज्ञातृत्वं विक्रियान्मकं तद्वं विकारास्यदायक-
परिणामाहङ्कारप्रस्थितमिति न ज्ञातृत्वमात्मनः ; अपित्यन्नः करणरूप-
स्याहङ्कारस्य । कर्तृत्वादिति हि रूपादिवद्द्रव्यधर्मः ; कर्तृत्वेऽहंप्रत्ययगोच-
रत्वे चाऽत्मनोऽभ्युपगम्यमाने देहस्यैवानात्मत्यपराकृत्यजडत्वादि-
प्रसङ्गश्चेति । नैनमुपपद्यते देहस्येवाचेतनत्यप्रकृतिपरिणामत्व-

दृश्यत्वपराकत्वपरार्थत्वादियोगादन्तःकरणरूपस्याहङ्कारस्य, चेतना-
साधारणस्वभावत्वाच्च ज्ञातृत्वस्य ॥

एतदुक्तं भवति—यथा देहादिदृश्यत्वपराकत्वादिहेतुभिस्त-
त्प्रत्यनीकद्रष्टृत्वप्रत्यक्त्वादेर्विविच्यते, एवमन्तःकरणरूपाहङ्कारोऽपि
तद्द्रव्यत्वादेव तैरेव हेतुभिस्तस्माद्विविच्यते—इति ॥

अतो विरोधादेव न ज्ञातृत्वमहङ्कारस्य, दृशित्ववत् । यथा
दृशित्वं तत्कर्मणोऽहङ्कारस्य नाभ्यपगम्यते, तथा ज्ञातृत्वमपि न
तत्कर्मणोऽभ्युपगन्तव्यम् ॥

न च ज्ञातृत्वं विक्रियात्मकम् ; ज्ञातृत्वं हि ज्ञानगुणाश्रयत्वम् ।
ज्ञानं चास्य नित्यस्य स्वाभाविकधर्मत्वेन नित्यम् । नित्यत्वं चाऽन्मनो
१ “ नाऽत्मा श्रुतेः ” इत्यादिषु वक्ष्यति । २ “ श्रोऽतएव ” इत्यत्र क्ष
इति व्यपदेशेन ज्ञानाश्रयत्वं च स्वाभाविकमिति वक्ष्यति । अस्य
ज्ञानस्वरूपस्यैव मणिप्रभृतीनां प्रभाश्रयत्वमिव ज्ञानाश्रयत्वमप्यविर-
ज्जमित्युक्तम् । स्वयमपरिच्छिन्नमेव ज्ञानं सङ्कोचविकासार्हमित्युपपा-
दयिष्यामः ॥

अतः क्षेत्रज्ञानावस्थार्या कर्मणां संकुचितस्वरूपं तत्तत्कर्मानुगुण-
तरतमभावेन वर्तते । तच्चेन्द्रियद्वारेण व्यवस्थितम् । तमिमामिन्द्रि-
य द्वारा ज्ञानप्रसरमपेक्ष्योद्यास्त मयव्यपदेशः प्रवर्तते । ज्ञानप्रसरे तु
कर्तृत्वमस्त्येव । तच्च न स्वाभाविकम् ; अपि तु कर्मकृतमित्यावक्रिय-
स्वरूप एवाऽत्मा । एवंरूपविक्रियात्मकं ज्ञातृत्वं ज्ञानस्वरूपस्याऽत्मन
एवेति न कदाचिदपि जडस्याहङ्कारस्य ज्ञातृत्वसम्भवः ॥

३ जडस्वरूपस्याप्यहङ्कारस्य चित्सांनिधानेन तच्छायापत्त्या
तत्सम्भय इति चेत् ; केयं चिच्छायापत्तिः ? किमहङ्कारच्छायापत्ति-
स्मांविदः ? उत संविच्छायापत्तिरहङ्कारस्य ? ॥

न तावत्संविदः, १ संविदो ज्ञातृत्वानभ्युपगमात् । नाप्य-
हङ्कारस्य, उक्तरोत्या २ तस्य जडस्य ज्ञातृत्वायोगात्, द्वयोरप्यच्चातृ-
पत्वाच्च, न ह्यच्चातृपाणां छाया दृष्टा ॥

अथ — अग्निसंपर्कादयःपिण्डौष्यवच्चित्संपर्काज्ज्ञातृत्वोपल-
ब्धिः—३ इति चेत्, नैतत्, संविदि ४ वस्तुतो ज्ञातृत्वानभ्युपगमादेव
न तत्संपर्कादहङ्कारे ज्ञातृत्वं तदुपलब्धिर्वा अहङ्कारस्य त्वचेतनस्य
ज्ञातृत्वासम्भवादेव सुतरां न तत्संपर्कात्संविदि ज्ञातृत्वं तदुप-
लब्धिर्वा ॥

यदप्युक्तम्—उभय वस्तुतो ज्ञातृत्वमस्ति । अहङ्कार-
स्त्वनुभूतेरभिव्यञ्जकस्मात्समाप्त्यामेवानुभूतिमभिव्यनक्ति, आदर्शादिवत्,
इति । तदप्युक्तम्, आत्मनस्त्वर्यज्योतिषो जडस्वरूपाहङ्काराभिव्यङ्ग्य-
त्वायोगात् ॥ तदुक्तं—

५ “ शान्ताङ्कार इवाऽवित्यमहङ्कारो जडात्मकः ।

स्वर्यज्योतिषमात्मानं व्यनकीति न युक्तिमत् ॥” इति

स्वर्यं प्रकाशानुभवाधीनसिद्धयो हि सर्वे पदार्थाः । तत्र तदा-
यत्प्रकाशोऽचिदहङ्कारोऽनुदितानस्तमितस्वरूपप्रकाशमशेषार्थसिद्धि-
हेतुभूतमनुभयमभिव्यनकीत्यात्मविदः परिहसन्ति ॥

किंच अहङ्कारानुभवयोस्त्वभावविरोधादनुभूतेरननुभूतित्वप्रस-
ङ्गाच्च न व्यङ्क्त्वव्यङ्ग्यभावः । यथोक्तं—

६ “ व्यङ्क्त्वव्यङ्ग्यत्वमन्योन्यं न च स्यात्प्रातिकूल्यतः ।

व्यङ्ग्यत्वेऽननुभूतित्वमात्मनि स्याद्यथा घटः ॥” इति ॥

अ च रविकरनिकराणां स्वाभिव्यङ्ग्यकरतलाभिव्यङ्ग्यत्वव-
त्संविदमिव्यङ्ग्योहङ्काराभिव्यङ्ग्यत्वं संविदस्सार्थायः, तत्रापि
रविकरनिकराणां करतलाभिव्यङ्ग्यत्वाभावात्, करतलप्रतिहनगतयो

१ संविदि इति पा० । २ तस्य ज्ञातृत्वेति पा० । ३ इति चेत् संविदि इति पा०

४ ज्ञातृत्वेति पा० । ५ । ६ आत्मसिद्धौ ।

हि रश्मयो बहुलास्त्वयमेव स्फुटतरमुपलभ्यन्त इति तद्बाहुल्यमात्र-
हेतुत्वात्करतलस्य नाभिव्यञ्जकत्वम् ॥

किंचास्य १ संवित्स्वरूपस्याऽत्मनो २ऽहंकारनिर्वर्त्याभिव्यक्तिः
किंरूपा? न तावदुत्पत्तिः, स्वतस्सिद्धतयाऽनन्योत्पाद्यत्वाभ्युपगमात् ।
नापि तत्प्रकाशनम्, तस्यानुभवान्तराननुभाव्यत्वात् । तत एव च
न तदनुभवसाधनानुग्रहः ॥

स हि द्विधाः श्रेयस्येन्द्रियसंबन्धहेतुत्वेन या, यथा जाति-
निजमुक्तादिग्रहणे व्यक्तिदर्पणादीनां नयनादीन्द्रियसंबन्धहेतुत्वेन;
बोद्धृगतकल्मषापनयनेन या, यथा परतरत्रायबोधनसाधनस्य शास्त्रस्य
शमदमादिना । यथोक्तम्—३ “ करणानामभूमित्याप्त तत्संबन्ध-
हेतुता ”—इति ॥

किंच अनुभूतेरनुभाव्यत्वाभ्युपगमेऽप्यहमर्थेन न तदनुभव-
साधनानुग्रहस्तु यच्चः; स ह्यनुभाव्यानुभवोत्पत्ति ४ प्रतिबन्धनिर-
सनेन भवेत् । यथा रूपादिग्रहणोत्पत्तिनिरोधिसंतमसनिरसनेन
चक्षुषो दीपादिना ।

न चेह तथाविधं निरसनीयं सम्भाव्यते । न तावत्संविदा-
त्मगतं तज्ज्ञानोत्पत्तिनिरोधि किंचिदप्यहंकारापनेयमस्ति । अस्ति
ज्ञानमिति चेत्; न, अज्ञानस्याहंकारापनोद्यत्वाभ्युपगमात् ।
ज्ञानमेव ज्ञानस्य निवर्तकम् ॥

न च संविदाश्रयत्वमज्ञानस्य सम्भवति; ज्ञानसमानाश्रयत्वा-
त्तत्समानविषयत्वाच्च ज्ञातृभाषविषयभावविरहिते ज्ञानमात्रे साक्षिणि
नाज्ञानं भवितुमर्हति; यथा ज्ञानाश्रयत्वप्रसक्तिशून्यत्वेन घटादेर्ना-
ज्ञानाश्रयत्वम् । तथा ज्ञानमात्रेऽपि ज्ञानाश्रयत्वाभावेन नाज्ञानाश्रयत्वं
स्यात् । संविदोऽज्ञानाश्रयत्वाभ्युपगमेऽपि आत्मतयाऽभ्युपगताया-

१ संविद्वरूपस्येति० पा० । २ बाह्यकारादीति० पा० । ३ आत्मसिद्धी० ।
४ प्रतिबन्धकेति० पा० ।

स्तस्या ज्ञानविषयत्वाभावेन ज्ञानेन न तद्गताज्ञाननिवृत्तिः । ज्ञानं हि स्वविषय एवाज्ञानं निवर्तयति, यथा रज्ज्यादौ । अतो न केनापि कदाचित्संविदाश्रयमज्ञानमुच्छिद्यते । अस्य च सर्वसदनिर्वचनीय-स्याज्ञानस्य स्वरूपमेव दुर्निरूपमित्युपरिष्ठाद्वक्ष्यते । ज्ञानप्रागभाव-रूपस्य चाज्ञानस्य ज्ञानोत्पत्तिविरोधित्वाभावेन न तभिरसनेन तज्ज्ञा-नसाधनानुग्रहः । अतो न केनापि १ प्रकारेणाहङ्कारेणानुभूतेर-भिव्यक्तिः ॥

न च स्वाश्रयतयाऽभिव्यङ्ग्याभिव्यञ्जनमभिव्यञ्जकानां स्वभावः; प्रदीपादिष्वदर्शनात्, यथावस्थितपदार्थप्रतीत्यनुगुणस्वाभाव्याश्च ज्ञान-नत्साधनयोरनुग्राहकस्य च । तच्च स्वतः प्रामाण्यन्यायसिद्धम् ॥

न च दर्पणादिमुखादेरभिव्यञ्जकः, अपि तु चाक्षुषनेत्रः प्रति-फलनरूपदायहेतुः । तदोपकृतञ्च तत्रान्यथावभासः । अभिव्यञ्जकस्तथा-लोकादिरेव ॥

न चेह तथाहङ्कारेण संविदि स्वप्रकाशायां तादृशदोषापादनं संभवति । व्यक्तेस्तु जातिराकार इति तदाश्रयतया प्रतीतिः; न तु व्यक्त्यव्यङ्ग्यत्वात् । अतोऽन्तःकरणभूताहङ्कारस्यतया संविदुपलब्धे-र्वस्तुतो दोषतो वा न किञ्चिदिह कारणमिति नाहङ्कारस्य ज्ञातृत्वं तथोपलब्धिर्वा । तस्मात्स्वत एव ज्ञातृतया सिद्धपक्षहमर्थ एव प्रत्यगात्मा । न ज्ञमिमात्रम् । अहंभावविगमे तु ज्ञप्तेरपि न प्रत्यक्त्व-सिद्धिरित्युक्तम् ॥

तमोगुणाभिभवात्परागर्थानुभवाभावाच्चाहमर्थस्य विधिकर-फु-टप्रतिभासाभावेऽप्या २ प्रबोधदहमित्येकाकारेणाऽत्मनस्फुरणात्सु-षुमावपि नाहंभावविगमः । भवद्विभिमताया अनुभूतेरपि तथैव प्रयेति वक्तव्यम् ॥

न हि सुप्तोत्थितः कश्चिदहंभाववियुक्तार्थान्तरप्रत्यनीकाकारा ज्ञप्तिरहमज्ञानसाक्षितया ३ ऽवतिष्ठत इत्येवंविधां स्वापसमकाला-

१ प्रकारेणानुभूतेरिति० पा० । २ प्रतियोजेति० पा० । ३ अवतिष्ठ इत्येव-मिति० पा० ।

मनुभूतिं परामृशति एवं हि सुमोत्थितस्य परामर्शस्तुल्यमहम-
स्याप्समिति ॥

१ अनेन प्रत्ययमर्शेन तदानीमप्यहमर्थस्यैवाऽत्मनस्तुल्यत्वं
ज्ञातृत्वं च ज्ञायते ॥

न च वाच्यं, यथेदानीं सुखं भवति; तथा तदानीमस्याप्समि-
त्येषा प्रतिपत्तिरिति; अतद्वृत्त्यात्प्रतिपत्तेः* । न चाहमर्थस्याऽत्मनो-
ऽस्थिरत्वेन तदानीमाहमर्थस्य सुखित्वानुसंधानानुपपत्तिः; यत्तत्सु-
षुप्तिवशायाः प्रागनुभूतं वस्तु सुप्तोत्थितो 'मयेवं कृतं मयेदमनुभूत-
महमेतद्वचोचम्' इति परामृशति । 'एतावन्तं कालं न किञ्चिदहमज्ञा-
सिपम्' इति च परामृशतीति चेत्; ततः किम्? न किञ्चिदिति
कृत्स्नप्रतिषेध इति चेत्; न, 'नाहमवेदिपम्' इति वेदितुरहमर्थस्यै-
वानुवृत्तेः; वेद्यविषयो हि स प्रतिषेधः । न किञ्चिदिति निषेधस्य
कृत्स्नविषयत्वे भवदभिमतानुभूतिरपि प्रतिषिद्धा स्यात् । सुषुप्ति-
समये त्वनुसंधायमानमहमर्थमात्मानं ज्ञातारमहमिति परामृश्य न
किञ्चिदवेदिपमिति वेदने तस्य प्रतिषिध्यमाने तस्मिन् काले निषि-
ध्यमानाया विच्छेत्स्तिद्धिमनुवर्तमानस्य ज्ञातुरहमर्थस्य चासिद्धिमने-
ने । 'न किञ्चिदहमवेदिपम्' इति परामर्शेन साधयन्तमिममर्थं देवा-
नामेव साधयतु ॥

'मामप्यहं न ज्ञातवान्' इति अहमर्थस्यापि तदानीमनु-
संधानं २ प्रतीयत इति चेत्; स्वानुभवस्वयञ्चनयोर्विरोधमपि न
जानन्ति भयन्तः । 'अहं मां न ज्ञातवान्' इति ह्यनुभवचक्षणे ।

* एवमर्थः—किं प्रतिपत्तिस्त्वाररयान्, उतानुपपत्त्याऽभ्युपगम्यते
इति विकल्प्य, यतद्रूपवान् प्रतिपत्तिरिति प्रतिपत्तिस्त्वारस्यं परिहृतं यथा
'मन्दमगच्छं मयुरमगायमिति परामर्शं वचनस्य । नहि तत्र यथेदानीं मान्यं
माधुर्यं च भवतितथा-अगच्छमगायमित्यर्थोपपद्यते, अपि तु गतिगानसमकालत्वमेव
माग्यमाधुर्ययोस्त्वयत्वं तद्वत् प्रत्यक्षं सुखित्वे, अपि स्वापसमकालीने-द्वयार्थः ॥

मामिति किं निषिध्यत इति चेत्; साधु पृष्टं भवता । तदुच्यते, अहमर्थस्य ज्ञातुरनुवृत्तेः न स्वरूपं निषिध्यते; अपि तु प्रबोधसमये-
ऽनुसंधीयमानस्याहमर्थस्य वर्णाश्रमादिविशिष्टता । अहं मां न ज्ञात-
वानित्युक्तं विषयो विवेचनीयः । जागरितावस्थानुसंहितजात्यादि-
विशिष्टोऽस्मदर्थो मामित्यंशस्य विषयः । स्वाप्ययावस्थाप्रसिद्धातिशद-
स्वानुभवैकतानाहमर्थोऽहमित्यंशस्य विषयः । अत्र सुप्तोऽहमी-
दृशोऽहमिति च मामपि न ज्ञातवानहमित्येव खल्वनुभवप्रकारः ॥

किंच, सुषुप्तावात्माऽज्ञानसाक्षित्वेनाऽस्त इति हि भवदीया
प्रक्रिया । साक्षित्वं च साक्षाज्ज्ञातृत्वमेव । न ह्यज्ञानतस्साक्षित्वम् ।
ज्ञातैव हि लोकवेदयोस्साक्षीति व्यपदिश्यते; न ज्ञानमात्मम् । स्मरति
च भगवान् पाणिनिः १ “साक्षाद्द्रष्टरि संज्ञायाम्” इति २ साक्षा-
ज्ज्ञातयैव साक्षिशब्दम् । स चायं साक्षी जानामीति प्रतीयमानो-
ऽस्मदर्थ एवेति कुतस्तदानीमहमर्थो न प्रतीयेत । आत्मने स्वयमवभा-
समानोऽहमित्येवावभासत इति स्वापाद्यवस्थास्वप्यात्मा प्रकाशमानो-
ऽहमित्येवावभासत इति सिद्धम् ॥

यत्तु—मोक्षदशायामहमर्थो नानुवर्तते—इति तदपेशलम् । तथा
सत्यात्मनाश एवापवर्गः प्रकारान्तरेण प्रतिज्ञातः स्यात् । न चाहमर्थो
धर्ममात्मम्; येन तद्विगमेऽप्यविद्यानिवृत्ताविव स्वरूपमवतिष्ठेत ।
प्रत्युत स्वरूपमेवाहमर्षं आत्मनः । ज्ञानं तु तस्य धर्मः, ‘अहं जानामि,
ज्ञानं मे जातम्’ इति चाहमर्थधर्मतया ज्ञानप्रतीतेरेव ॥

अपि च यः परमार्थतो भ्रान्त्या वाऽऽध्यात्मिकादिदुःखै-
र्दुःखितया ३ स्वात्मानमनुसंधत्ते ‘अहं दुःखी’ इति । सर्वमेतद्दुःख-
जातमपुनर्भयमपोह्य ‘कथमहमनाकुलस्त्वस्यो भवेयम्’ इत्युत्पन्नमोक्ष-
रागस्स एव तत्साधने प्रवर्तते । स साधनानुष्ठानेन यद्यहमेव न
भविष्यामोऽस्यवगच्छेत्; अपसर्पेदेवासी मोक्षकथाप्रस्ताधान् । ततश्चा-

धिकारिचिरहादेव सर्वं मोक्षशास्त्रमप्रमाणां स्यात् । अहमुपलक्षितं
१ प्रकाशमात्रमपवर्गेऽवतिष्ठत इति चेत् ; किमनेन ? मयि नष्टेऽपि
किमपि २ प्रकाशमात्रमपवर्गेऽवतिष्ठत इति मत्वा नहि काश्चित्
बुद्धिपूर्वकारी प्रयतते । अतोऽहमर्थस्यैव प्राप्तृतया सिद्धयतः प्रत्यगा-
त्मत्वम् । स च प्रत्यगात्मा मुक्तावप्यहमित्येव प्रकाशते, स्वस्मै प्रका-
शमानत्वात्, योयः स्वस्मै प्रकाशते स सर्वोऽहमित्येव प्रकाशने, यथा
तथावभासमानत्वेनोभयवादिसम्मतस्संसार्यात्मा । यः पुनरहमिति
न चकास्ति; नासौ स्वस्मै प्रकाशते, यथा अग्नादिः । स्वस्मैप्रकाशने चायं
मुक्तात्मा; ३ तस्मादहमित्येव प्रकाशते ॥

न चाहमिति प्रकाशमानत्वेन तस्याप्त्यसंसारित्वादिप्रसङ्गः ।
मोक्षचिरोधात्, अज्ञत्वाद्यहेतुत्वाच्चाहंप्रत्ययस्य । अज्ञानं नाम स्वरूपा-
ज्ञानमन्यथा ज्ञानं विपरीतज्ञानं वा । अहमित्येवाऽध्वनस्वरूपमिति
स्वरूपज्ञानरूपोऽहंप्रत्ययो नाप्त्यमापादयति; कुतस्संसारित्वम् । अपि
तु तद्विरोधित्वाच्चाशयत्येव ॥

ब्रह्मात्मभावापरोक्ष्यनिर्धूतनिरवशेषाविद्यानामपि यामदेवा-
दीनामहमित्येवात्मानुभवदर्शनाच्च । श्रूयते हि-४ “तद्वैतत्पश्यन्नु-
पिर्वामदेवः प्रतिपेदे अहं मयुरभवं सूर्यश्च” इति, ५ “अहमेकः प्रथम-
मासं वर्तामि च भविष्यामि च” इत्यादि । सकलेतराज्ञानविरोधि-
नस्सच्छब्दप्रत्ययमात्रभाजः परस्य ब्रह्मणो व्यवहारीऽप्येवमेव-६
“हन्ताहमिमास्तिष्ठो देवताः” ७ बहु स्यां प्रजायेय” ८ “स ईक्षत
लोकान्नु सृजा इति”; तथा “यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः” ९ “अहमात्मा गुडा-

१ प्रकाशमात्रमपवर्गेऽवतिष्ठत इति पा० । २ प्रकाशमात्रमवतिष्ठत इति पाठः ।
३ स तस्मादिति पा० । ४ बृ० ३ अ० ४ मा० १० वा० । ५ अथर्वशिरोप-
निषदि १ खण्डे । ६ छा० १ प्र० ३ ख० २ वा० । ७ तै० ब्रा० १ अनु०
२ वा० । ८ ऐतरेय १ अनु० १ ख० १ वा० । ९ गीता १२ अ० १८ श्लोक ।
१० गीता १० अ० २० श्लोक ।

केश" १ "न त्वेवाहं जातु नासम्" २ "अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा" ३ "अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तस्सर्वं प्रवर्तते-
४ "तेषामहं समुद्धर्ता सृष्ट्युसंसारसागरात्" ५ "अहं बीजप्रदः पिता" ६ "वेदाहं समतीतानि" - इत्यादिषु ॥

यद्यहमित्येवात्मनः स्वरूपम्, कथं ७ तर्ह्यहङ्कारस्य क्षेत्रान्त-
र्भावो भगवतोपदिश्यते ? ८ "महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव
च" इति । उच्यते, स्वरूपोपदेशेषु सर्वेष्वहमित्येयोपदेशात्तर्ह्येवात्म-
स्वरूपप्रतिपत्तेर्भाहमित्येव प्रत्यगात्मनस्स्वरूपम् । अव्यक्तपरिणाम-
मवस्थाहङ्कारस्य क्षेत्रान्तर्भावो भगवतैवोपदिश्यते । स त्वनात्मनि
देहेऽहंभावकरणहेतुत्वेन अहङ्कार इत्युच्यते । अस्य त्वहङ्कारशब्दस्य
अभूततद्भावेऽर्थेऽधिप्रत्ययमुत्पाद्य व्युत्पत्तिर्द्रष्टव्या । अयमेव त्वहङ्कार
उत्कृष्टजनावमानहेतुर्गर्वापरनामा शास्त्रेषु बहुशो हेयतया प्रतिपाद्यते ।
तस्मादबाधकापेताऽहंबुद्धिस्साक्षादात्मगोचरैव । शरीरगोचरा त्वहं-
बुद्धिरधिष्ठीय । यथोक्तं भगवता पराशरेण— ९ "भूयतां चाप्य-
धिद्यायाः स्वरूपं कुलनन्दन ! । अनात्मन्यात्मबुद्धिर्या" - इति । यदि
क्षितिमात्रमेवाऽऽत्मा, तदाऽनात्मन्यात्माभिमाने शरीरे क्षितिमात्रप्रति-
भासस्स्यात्, न ह्यातृत्वप्रतिभासः । तस्माज्ज्ञाताऽहमर्थ एवाऽऽत्मा
तदुक्तम् —

१० "अतः प्रत्यक्षसिद्धत्वाद्भुक्तन्यायागमान्वयात् ।

अधिद्यायोगतश्चाऽत्मा ज्ञाताऽहमिति भासते ॥" इति ॥

तथाच —

११ "देहेन्द्रियमनः प्राणधीभ्योन्योऽनन्यसाधनः ।

नित्यो ध्यायी प्रतिक्षेत्रमात्मा मिश्रस्त्वतस्सुखी ॥" इति ॥

१ गीता २ अ० १२ श्लोक । २ गीता ७ अ० ६ श्लोक । ३ गीता १० अ०
८ श्लोक । ४ गीता १२ अ० ७ श्लोक । ५ गीता ७ अ० ४ श्लोक ।
६ गीता ७ अ० २६ श्लोक । ७ तर्हि न स्याहङ्कारस्येति पा० । ८ गीता १३ अ०
५ श्लोक । ९ वि० पु० ६ अ० ७ अ० १, ११ श्लोक । १० तच्छ्रुत्वा यतामधिद्याया
इति पा० । १० ११ आत्म सिद्धौ ।

अनन्यसाधनस्वप्रकाशः । व्यापी-अतिसूक्ष्मतया सर्वाचेत-
नान्तः प्रवेशनस्यभावः ॥

यदुक्तम्—दोषमूलत्वेनान्यथासिद्धिसंभावनया । सकलभेदाव-
लम्बिप्रत्यक्षस्य शास्त्रबाध्यत्वम्—इति ॥

कोऽयं दोष इति चक्षव्यम्. यन्मूलतया प्रत्यक्षस्यान्यथासिद्धिः।
अनादिभेदवासनैव हि दोष इति चेत् ; भेदवासनायास्तिमिरादिवद्य-
थावस्थितवस्तुविपरीतज्ञानहेतुत्वं १ किमन्यत्र ज्ञातपूर्वम् ? अनेनैव
शास्त्रविरोधेन ज्ञास्यत इति चेत् ; न, अन्योग्याश्रयणात्, शास्त्रस्य
निरस्तनिखिलविशेषवस्तुबोधित्वनिश्चये सति भेदवासनाया दोषत्व-
निश्चयः, भेदवासनाया दोषत्वनिश्चये सति शास्त्रस्य निरस्तनिखि-
लविशेषवस्तुबोधित्वनिश्चय इति । किञ्च, यदि भेदवासनामूलत्वेन
प्रत्यक्षस्य विपरीतार्थत्वम् ; शास्त्रमपि तन्मूलत्वेन तथैव स्यात् ॥

अथोच्येन—दोषमूलत्वेऽपि शास्त्रस्य प्रत्यक्षावगतसकलभेद-
निरसनज्ञानहेतुत्वेन परत्याक्तप्रत्यक्षस्य बाधकम्—इति । तच्च;
दोषमूलत्वे ज्ञाते सति परत्यमकिञ्चित्करम् । रज्जुसर्पज्ञाननिमित्त-
भये सति भ्रान्तोऽयमिति परिज्ञातेन केनचित् 'नायं सर्पः मा भैषीः'
इत्युक्तोऽपि भयानिवृत्तिदर्शनात् । शास्त्रस्य च दोषमूलत्वं श्रवण-
बोलायामेव ज्ञातम् । श्रवणावगतनिखिलभेदोपमर्दिग्रहात्मैकत्वधि-
ज्ञानाभ्यासरूपत्वान्मननादेः ॥

अपि च इदं शास्त्रम्, एतच्चासंभाव्यमानदोषम् ; प्रत्यक्षं तु
संभाव्यमानदोषमिति केनावगतं त्वया ? न तावत्स्यतस्सिद्धा निर्धू-
तनिखिलविशेषाऽनुभूतिरिममर्थमवगमयति, तस्यास्सर्वविषयविरक्त-
त्वात्. शास्त्रपक्षपातविरहाच्च । नाप्यैन्द्रियिकं प्रत्यक्षम्, दोषमूलत्वेन
विपरीतार्थत्वात् । तन्मूलत्वादेव नान्यान्यपि प्रमाणानि । अतस्त्वप-
क्षसाधनप्रमाणानभ्युपगमाच्च स्वाभिमतार्थं सिद्धिः ॥

ननु व्यावहारिकप्रमाणप्रमेयव्यवहारोऽस्माकमप्यस्त्येव,
कोऽयं व्यावहारिको नाम ? आपातप्रतीतिसिद्धो युक्तिभिर्निरूपितो न
तथाऽवस्थित इति चेत्, किं तेन प्रयोजनम् ? प्रमाणतया प्रतिपक्षेऽपि
यौक्तिकयाधादेव प्रमाणकार्याभावात् । अथोच्येत—शास्त्रप्रत्यक्षयोः
१ द्वयोरप्यविद्यामूलत्वेऽपि प्रत्यक्षविषयस्य शास्त्रेण बाधो दृश्यते;
शास्त्रविषयस्य सद्द्वितीयब्रह्मणः पश्चात्तनवाधादर्शनेन निर्विशेषानु-
भूतिमात्रं ब्रह्मैव परमार्थः—इति । तदयुक्तम्, अबाधितस्यापि
दोषमूलस्यापारमार्थ्यनिश्चयात् ।

एतदुक्तं भवति—यथा सकलेतरकाचादिदोषरहित पुरुषान्त-
रागोचरगिरिगुहासु घसतस्तैमिरिकजनस्याज्ञातस्वतिमिरस्य सर्वस्य
तिमिरशेषाविशेषण द्विचन्द्रज्ञानमविशिष्टं जायते । न तत्र बाधक
प्रत्ययोऽस्तोति न तन्मिथ्या न भवतीति तद्विषयभूतं द्विचन्द्रत्वमपि
मिथ्यैव । दोषोऽयथार्थज्ञानहेतुः । तथा ब्रह्मज्ञानमविद्यामूलत्वेन
बाधकज्ञानरहितमपि स्वविषयेण ब्रह्मणा सह मिथ्यैव—इति । भवन्ति
चात्र प्रयोगाः, विवादाध्यासितं ब्रह्म मिथ्या, अविद्यावत् उत्पन्न-
ज्ञानविषयत्वात्, प्रपञ्चवत् । ब्रह्म मिथ्या, ज्ञानविषयत्वात्, प्रपञ्च-
वत् । ब्रह्म मिथ्या, असत्यहेतुजन्यज्ञानविषयत्वात्, प्रपञ्चवदेव ।

न च वाक्यं स्यात्प्रस्य हस्त्यादिविज्ञानस्यासत्यस्य परमार्थ-
शुभाशुमप्रतिपत्तिहेतुभाववदविद्यामूलत्वेनासत्यस्यापि शास्त्रस्य
२ परमार्थभूतब्रह्मविषयप्रतिपत्तिहेतु भावो न ३ विरुद्धः—इति,
स्यात्प्रज्ञानस्यासत्यत्वाभावात् । तत्र हि विषयाणामेव मिथ्यात्वम् ;
तेषामेव हि बाधो दृश्यते, न ज्ञानस्य, न हि मया स्वप्नबेलायामनुभूतं
ज्ञानमपि न विद्यत इति कस्यचिदपि प्रत्ययो जायते । दर्शनं तु विद्यते,
अर्था न सन्तीति हि बाधकप्रत्ययः । मायाविनो मन्त्रश्रीधादिप्रभवं
मायामयं ज्ञानं सत्यमेव प्रीतेर्भयस्य च हेतुः, तत्रापि ज्ञानस्याबाधित-
त्वात् । विषयेन्द्रियादिदोषजन्यं रज्ज्वादी सर्पाश्विघ्नानं सत्यमेव,
भयादिहेतुः । सत्यंवादष्टेऽपि स्वात्मनि सर्पसन्निधानादण्डबुद्धिः,
सत्यैव शंकाविषयबुद्धिर्मरणहेतुभूता । यस्तुभूत एव जलादौ मुष्मादि-
प्रतिमासो यस्तुभूतमुखगतविशेषनिश्चय हेतुः । एषां संवेदनानामुत्पा-

१ द्वयोरविद्यामूलत्वेऽपीति पाठः । २ परमार्थब्रह्म पाठः । ३ विदधते पाठः ।

स्तिमत्त्वादर्थक्रियाकारित्वाच्च सत्यत्वमवसीयते । इत्यादीनाम्,
१ अभावेऽपि कथं नवबुद्ध्यस्तस्या भवन्तीति चेत्, नैतत्, बुद्धीनां
सालम्बनत्वमात्रनियमात् ॥

अर्थस्य प्रतिभासमानत्वमेव ह्यालम्बनत्वेऽपेक्षितम्; प्रति-
भासमानता चास्त्येव दोषवशात् । स तु बाधितोऽसत्य इत्यवसीयते ।
अबाधिता हि बुद्धिस्तर्क्येवेत्युक्तम् ॥

रेखाया यर्णाप्रतिपत्तायपि नासत्यात्सत्यबुद्धिः, रेखायास्तस्य-
त्वात् । ननु — वर्णात्मना प्रतिपत्ता रेखा यर्णाबुद्धिहेतुः । वर्णात्मना
त्वसत्या । नैवम्, वर्णात्मनाया असत्याया उपायत्वायोगात् । असतो
निरुपाख्यस्य ह्युपायत्वं न दृष्टमनुपपन्नञ्च । अथ तस्यां यर्णाबुद्धेरुपा-
यत्वम् ; पर्यं तर्ह्यसत्यात्सत्यबुद्धिर्न स्याद्बुद्धेस्तस्यत्वादेव । उपायोपेय-
योरेकत्वप्रसङ्गश्च, उभयोर्वर्णाबुद्धित्वाविशेषात् । रेखाया अविद्यमानव-
र्णात्मनोपायत्वे चैकस्यामेव रेखायामविद्यमानसर्ववर्णात्मकत्वस्य तुल-
भत्वादेकरेखादर्शनात्सर्ववर्णप्रतिपत्तिरस्यात् । अथ पिण्डविशेषे देवा-
दत्तादिशब्दसंकेतवच्चतुर्ग्राह्यरेखाविशेषे ध्रोत्रप्राह्यवर्णविशेषसंकेतवशा-
द्वेखाविशेषो वर्णविशेषबुद्धिहेतुरिति । हन्त तर्हि सत्यादेव सत्यप्रति-
पत्तिः, रेखायास्तसंकेतस्य च सत्यत्वात्, रेखागवयादपि सत्यगवय-
बुद्धिस्तादृश्यनियन्धना, सादृश्यं च सत्यमेव ॥

न चैकरूपस्य शब्दस्य नाद्विशेषेणार्थमेवबुद्धिहेतुत्वेऽप्यसत्या-
त्सत्यप्रतिपत्तिः, नानानादामिद्व्यक्तस्यैकस्यैव शब्दस्य तत्तन्नादामिद्व्य-
ङ्ग्यत्वरूपेणार्थविशेषैस्तद्व संबन्धग्रहणवशादर्थमेवबुद्ध्युत्पत्तिहेतु-
त्वात् । शब्दस्यैकरूपत्वमपि न साधीयः, गकारादेषोऽधिकस्यैव धोत्र-
प्राह्यत्वेन शब्दत्वात् । अतोऽसत्याच्छास्त्रात्सत्यग्रहणविषयप्रतिपत्ति-
दुरूपपादा ॥

ननु न शास्त्रस्य गगनकुसुमवदसत्यत्वम् ; प्रागर्हैतज्ज्ञानात्स-
बुद्ध्युद्भवोऽप्यत्वात् । उत्पद्ये तत्त्वज्ञाने ह्यसत्यत्वं शास्त्रस्य । न तदा

शास्त्रं निरस्तनिश्चितमेदचिन्मात्रब्रह्मज्ञानोपायः । यदोपायस्तदा
अस्त्येव शास्त्रम्, अस्तीतिबुद्धेः । नैवम्, अस्ति शास्त्रं, अस्ति शास्त्र-
मिति बुद्धेर्मिथ्यात्वात् । ततः किम् ? इदं ततः ; मिथ्याभूतशास्त्र-
जन्यज्ञानस्य मिथ्यात्वेन तद्विषयस्यापि ब्रह्मणो मिथ्यात्वम् ; यथा
धूमबुद्ध्या गृहीतवाष्पजन्याग्निज्ञानस्य मिथ्यात्वेन तद्विषयस्याग्नेरपि
मिथ्यात्वम् । पश्चात्तन्वाधादर्शनञ्चासिद्धम् ; शून्यमेव तत्त्वमिति-
वाक्येन तस्यापि बाधदर्शनात् । तत्तु भ्रान्तिमूलमिति चेत्, एतदपि
भ्रान्तिमूलमिति त्वयैवोक्तम् । पाश्चात्त्यवाधादर्शनं तु तस्यैवेत्यलम-
प्रतिष्ठितकृतकपरिहनेन ॥

यदुक्तम्—वेदान्तवाक्यानि निर्दिशेयज्ञानैकरसवस्तुमात्रप्रति-
पादनपराणि, “ सदेव सोम्येदमग्र आसीत् ” इत्येवमादीनि—इति
तदयुक्तम्, एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिष्ठोपपादनमुखेन सच्छब्दवा-
च्यस्य परस्य ब्रह्मणो जगदुपान्त्यम्, जगन्निमित्तत्वम्, सर्वज्ञता,
सर्वशक्तियोगः, सत्यसङ्कल्पत्वम्, सर्वान्तरत्वम् ; १. सर्वाधारत्वम्,
सर्वनियमनमित्याद्यनेककल्याणगुणविशिष्टताम्, कृत्स्नस्य जगतस्तदा-
त्मकतां च प्रतिपाद्य, पर्यभूतब्रह्मात्मकस्त्वमसीति श्वेतकेतुं प्रत्युप-
देशाय प्रवृत्तत्वात्प्रकरणस्य । प्रपञ्चितभाष्यमर्थो वेदार्थ संग्रहे ।
अत्राप्यारम्भणाधिकरणे निपुणतरमुपपादयिष्यते ॥

(परविधायीस्त्वविशेषतश्च व्यवस्थापनम्)

२ “ अथ परा यया तदक्षरम् ” इत्यत्रापि प्राकृतान् हेयगु-
णान् प्रतिविध्य नित्यत्यधिभुत्वसूक्ष्मत्वसर्वगतत्वाव्ययत्वभूतयोनि-
त्वसार्वज्ञादिकल्याणगुणयोगः परस्य ब्रह्मणः प्रतिपादितः ॥

“ सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ” इत्यत्रापि सामानाधिकरण्यस्यानेक-
विशेषणविशिष्टैकार्थाभिधानव्युत्पत्त्या न निर्विशेषवस्तुसिद्धिः ।
प्रवृत्तिनिमित्तभेदेनैकार्थं ३ वृत्तित्वं सामानाधिकरण्यम् । तत्र सत्य-
ज्ञानादिपदमुख्यार्थगुणैस्तत्तद्गुणविरोध्याकारप्रत्यनीकाकारैर्वैकस्मि-
न्नेवार्थे पदानां प्रवृत्ती निमित्तभेदोऽवश्यमाश्रयणीयः । इयांस्तु विशेषः

एकस्मिन् पक्षे पदानां मुख्यार्थता; अपरस्मिन्नेषां लक्षणा । न चाज्ञानादीनां प्रत्यनीकता वस्तुस्वरूपमेव; एवंनेव पदेन स्वरूपं प्रति-
पन्नमिति पदान्तरप्रयोगवैयर्थ्यात् । तथा सति सामानाधिकरण्या-
सिद्धिश्च, एकस्मिन् वस्तुनि वर्तमानानां पदानां निमित्तमेदानाश्रय-
णात् । न च, एकस्यैवार्थस्य विशेषणमेवेन विशिष्टतामेदादनेकार्थत्वं
पदानां सामानाधिकरण्यविरोधि; एकस्यैव वस्तुनोऽनेकविशेषण-
विशिष्टताप्रतिपादनपरत्वात्सामानाधिकरण्यस्य, १^० भिन्नप्रवृत्तिनिमि-
त्तानां शब्दानामेकस्मिन्नर्थे वृत्तिस्सामानाधिकरण्यम्" इति हि
शाब्दिकाः ॥

यदुक्तम्, एकमेवाद्वितीयमित्यत्राद्वितीयपदं गुणतोपि सहितीयतां
न सहने; अतस्सर्वशाखाप्रत्ययन्यायेन कारणवाक्यानामद्वितीयव-
स्तुप्रतिपादनपरत्वमभ्युपगमनीयम्; कारणतयोपलक्षितस्याद्वितीयस्य
ब्रह्मणो लक्षणाभिदमुच्यते "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इति । अतो लिल-
क्षयिषितं ब्रह्म निगुणमेव; अन्यथा २^० "निगुणम्" ३^० निरञ्जनम् इत्या-
भिर्विरोधश्च—इति तदनुपपन्नं जगदुपादानस्य ब्रह्मणरख्ययतिरिक्ता-
धिष्ठात्रन्तरनिवारणेन विचित्र शक्तियोगप्रतिपादनपरत्वाद्वितीय-
पदस्य । तथैव विचित्रशक्तियोगमेवावगमयति—४^० "तदक्षैत बहु
स्यां प्रजायंयेति तत्तेजोऽसृजत" इत्यादि । अविशेषेणाद्वितीयमित्युक्तं
निमित्तान्तरमात्रनिषेधः कथं ध्यायतइति चेत्, सिसृक्षोर्ब्रह्मण उपा-
दानकारणत्वं "सदेव सोम्येदमग्रभासीदेकमेव" इति प्रतिपादितम् ।
कार्योत्पत्तिस्वाभावेन बुद्धिस्थं निमित्तान्तरमिति तदेवाद्वितीयपदेन
निषिद्धयत इत्यगम्यते । सर्वनिषेधे हि स्वाभ्युपगतास्सिद्धाधिपिनां
नित्यत्वादयश्च निषिद्धास्त्युः । सर्वशाखाप्रत्ययन्यायभात्र * भवतो
विपरोतफलः, सर्वशाखासु कारणान्वयिनां सर्वप्रत्वादीनां गुणाना-

० अत्र निगुणवादे अत्रमयत इत्युपासम्भोवा । सर्वशाखाप्रत्ययन्यायो
ऽनुक्तगुणरहीकार फलः, नवतगुणत्यागफल इति त्यत्य विपरीतफल इत्यर्थः ।

१ कैपटे बृहपादिके । २ मन्त्रिकोपनिषत् । ३ श्वे० ६ अ० ११ वा० । ४ छा०
६ प्र० २ ख० ३ वा०

मत्रोपसंहारहेतुत्वात् । अतः कारणवाक्यस्वभावाद्यपि “सत्यं ज्ञानमन-
न्तं ब्रह्म” इत्यनेन सविशेषमेव प्रतिपाद्यत इति विज्ञायते ॥

(निर्गुण सगुण वाक्ययोर्विषयविभागेनाविरोधः)

न च निर्गुणवाक्यविरोधः, ÷ प्राकृतहेयगुणविषयत्वात्तेषां
“निर्गुणं” “निरञ्जनं” “निष्कलं निष्कयं शान्तम्” इत्यादीनाम् ।
ज्ञानमात्रस्वरूपवादिभ्योऽपि श्रुतयो ब्रह्मणो ज्ञानस्वरूपतामभिदधति,
न तावता निर्विशेषज्ञानमात्रमेव तत्त्वम्, सातुरेव ज्ञानस्वरूपत्वात् ।
ज्ञानस्वरूपस्यैव तस्य ज्ञानाश्रयत्वं मणिधुमणिदीपादिवद्युक्तेमेवेत्यु-
क्तम् । सातृत्वमेव हि सर्वाश्रुतयो यदन्ति १ “यस्सर्वज्ञस्सर्ववित्”
“तदैक्षत” २ “सेयं देयतेक्षत” ३ “स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति”
४ “नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति
कामान्” ५ “ज्ञाक्षौद्वाचजावीशनीशौ” ६ “तमोश्चराणां परमं महेश्व-
रं तं देवतानां परमं च दैवतम् । पतिं पतीनां परमं परस्ताद्विदाम
दैवं भुवनेशमीदृशम्” ७ “न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्सम-
भ्याभ्यधिकश्च दृश्यते । पराऽस्य शक्तिर्विविधैव ध्रूयते स्वाभाधिकी
ज्ञानबलक्रिया च” ८ “एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्वि-
शाङ्को विजिघत्सोऽपिपासस्सत्यकामस्सत्यसङ्कल्पः”— इत्याद्याश्रु-
तयो सातृत्वप्रमुखान् कल्याणगुणान् ज्ञानस्वरूपस्यैव ब्रह्मणस्स्वभा-
विकान्वदन्ति, समस्तहेयरहिततां च । निर्गुणवाक्यानां सगुणवाक्या-
नां च विषयमपहतपाप्मेत्याद्यपिपासइत्यन्तेन हेयगुणान् प्रतिषिद्ध्य
“सत्यकामस्सत्यसङ्कल्पः” इति ब्रह्मणः कल्याणगुणान्विदधतीयं

÷ षट्ब्रह्मणो गुणशरीरविकारमन्म कर्मादि गोचरविधिप्रतिषेधवाचः ।
अन्योऽन्यमिदं विख्या न विरोधगन्धमहन्ति तत्र विधयः प्रतिषेधवाच्याः ॥

१ मुयट्ट १ मु० १ ख० १ वा० । २ छा० ६ प्र० ३ ख० २ वा० ।

३ ऐतरे १ ख० १ वा० । ४ कड० २ अ० २ पत्नी १३ वा० । ५ श्वे० १ अ० १ वा० ।

६ श्वे० ६ अ० ७ वा० । ७ श्वे० ६ अ० ८ वा० । ८ छा० ८ प्र० १ ख०
५ वा० ।

श्रुतिरेव चिदिनक्तीति सगुणनिर्गुणवाक्ययोर्विरोधाभावादन्यतरस्य
मिथ्याविषयताश्रयणमपि नाशङ्कनीयम् ॥

(आनन्दबल्लयास्सगुणविषयत्वम्)

१ “भीषाऽस्माद्धातः पयते” इत्यादिना ब्रह्मगुणानारभ्य
२ “ते ये शतम्” इत्यनुक्रमेण क्षेत्रज्ञानन्दातिशयमुक्त्वा ३ “यतो
याचो निवर्तन्ते । अप्राप्य मनसा सह । आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्”
इति ब्रह्मणः कल्याणगुणानन्त्यमत्यादरेण चतुर्थं धृतिः ॥

४ “सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता” इति
ब्रह्मवेदनफलमवगमयद्वाक्यं परस्य विपश्चितो ब्रह्मणो गुणानन्त्यं
प्रयोति । विपश्चिता ब्रह्मणा सह सर्वान् कामान् समश्नुते । काम्यन्त
इति कामाः कल्याणगुणाः । ब्रह्मणा सह तद्गुणान् सर्वानश्नुते ।
इत्यर्थः । बृहद्विद्यायां ५ “तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्” इति ब्रह्मगुण-
प्राधान्यं वक्तुं सह शब्दः । फलोपासनयोः प्रकारैक्यम् ६ “यथा-
मत्तुस्मिन् लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति” इति श्रुत्यैव
सिद्धम् ॥

(ज्ञेयत्वज्ञातृत्वनिषेधनिरासः)

७ “यस्यामतं तस्य मतम्, अविज्ञातं विजानताम्” इति
ब्रह्मणो ज्ञानाविषयत्वमुक्तं चेत्, ८ “ब्रह्मविदामिति परम्” ९ “ब्रह्म
वेदं ब्रह्मैव भवति” इति ज्ञानान्मोक्षोपदेशो न स्यात् । १० “असन्नेव
स भवति । असद्ब्रह्मेति वेदं चेत् । अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद । सन्तमेनं
ततो विदुः” इति ब्रह्मविषयज्ञानासङ्गावसङ्गावाभ्यामात्मनाशमात्म
सत्तां च यदति । अतो ब्रह्मविषयवेदनमेवा ११ पवर्गोपायं सर्वाश्नुतयो
विदधति । ज्ञानं चोपासनात्मकम् । उपास्यं च ब्रह्म सगुणमित्युक्तम् ।

१ २ तै० आन० ८ अनु० १ वा० । ३ तै० आन० ६ अनु० १ वा० ।
४ तै० आन० १ अनु० २ वा० । ५ छा० ८ प्र० १ ख० १ वा० । ६ छा०
३ प्र० १४ ख० १ वा० । ७ केनोप० २ ख० ३ वा० । ८ तै०-आन० १
अनु० १ वा० । ९ मुण्ड० ३ मु० २ ख० १ वा० । १० तै० आन० ६ अनु०
१ वा० । ११ अपवर्गाव सर्वा इति पाठः ।

१ "यतो वाचो निवर्तन्ते । अप्राप्य मनसा सह" इति ब्रह्मणोऽनन्त-
स्या २ परिच्छिन्नगुणस्य वाक्मनसयोरेतावन्निति परिच्छेदायोग्यत्व-
श्रवणेन ब्रह्मं तावदिति ब्रह्मपरिच्छेदज्ञानवतां ब्रह्माविज्ञातममतमित्यु-
क्तम्, अपरिच्छिन्नत्वादुब्रह्मणः । अन्यथा "यस्यामतं तस्य मतम्"
"विज्ञातमविज्ञानताम्" इति मतत्वविज्ञातत्ववचनं तत्रैव विरुध्यते ॥

यसु-३ "न दृष्टेर्द्रष्टारं—न मतेर्मन्तारम्" इति भ्रुतिर्द्रष्टे-
र्मतेर्व्यतिरिक्तं द्रष्टारं मन्तारं च प्रतिषेधति—इति; तद्वागन्तुकचैत-
न्यगुणयोगितया ज्ञातुरज्ञानस्वरूपतां कुतर्कसिद्धां मत्वा न तथाऽऽ-
त्मानं पश्ये; न मन्वीया; ; अपि तु द्रष्टारं मन्तारमप्यात्मानं दृष्टि-
मतिरूपमेव पश्येरित्यभिदधातीति परिहृतम् । अथवा दृष्टेर्द्रष्टारं
मतेर्मन्तारं जीवात्मानं प्रतिषिध्य सर्वभूतान्तरात्मानं परमात्मानमेवो-
पास्वेति वाक्यार्थः; अन्यथा ४ "विज्ञातारमरे केन विजानीयात्"
इत्यादिज्ञातृत्वध्रुतिविरोधश्च ॥

(आनन्दत्वानन्दित्वयोरपिरोधः, भेद तन्निषेध भुतीनामपिरोधत्व—
समर्थनम्)

५ "आनन्दो ब्रह्म" इति आनन्दमात्रमेव ब्रह्मस्वरूपं प्रतीयत
इति यदुक्तम्; तज्ज्ञानाश्रयस्य ब्रह्मणो ज्ञानं स्वरूपमिति वदतीति परिहृ-
तम् । ज्ञानमेव ह्यनुकूलमानन्द इत्युच्यते । ६ "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म"
इत्यानन्दरूपमेव ज्ञानं ब्रह्मेत्यर्थः । अत एव भवतामेकरसता । अस्य
ज्ञानस्वरूपस्यैव ज्ञातृत्वमपि-भ्रुतिशतसमधिगतमित्युक्तम् । तद्वदेव
७ " स एको ब्रह्मण आनन्दः " ७ " आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् " इति
व्यतिरेकिनिर्देशाच्च नाऽनन्दमात्रं ब्रह्म; अपि त्वानन्दि । ज्ञातृत्व-
मेव ह्यानन्दित्वम् ॥

१ तै-ब्रान० ३ अनु० १ वा० । २ अपरिमितगुणस्य पा० ३ वृ० १ अ० ४
ब्रा० २ पा० । ४ वृ० ४ अ० ४ ब्रा० १४ पा० । ५ तै-वृ० १ अनु० १ वा० ।
६ वृ० २ अ० ६ ब्रा० २८ वा० । ७ तै-ब्रान्. ८ अनु० ४ वा० । ८ तै-ब्रान्
६ अनु० १ वा० ।

यविदमुक्तम्—यत्नं हि द्वैतमिव भवति" २ "नेह नानाऽस्ति
किञ्चन । मृत्योस्स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" ३ "यत्र
त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्वेन कं पश्येत्" इति भेदनिषेधो बहुधा
दृश्यत इति; तत्कृत्स्नस्य जगतो ब्रह्मकार्यतया तदन्तर्यामिकतया च
तदात्मकत्वेनैक्यात्, तत्प्रत्यनोकनानात्वं प्रतिपिद्यते । न पुनः
"बहुस्यां प्रजायेय" इति बहुभयनसङ्कल्पपूर्वकं ब्रह्मणो नानात्वं श्रुति-
सिद्धं प्रतिपिद्यत इति परिहृतम् । नानात्वनिषेधाद्वियमपरमार्थधिप-
येति चेत्; न, प्रत्यक्षादिसकलप्रमाणानवगतं नानात्वं दुरारोहं ब्रह्मणः
प्रतिपाद्य तदेव बाध्यत इत्युपहास्यमिदम् ॥

४ "यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते । अथ तस्य भयं
भवति" इति ब्रह्मणि नानात्वं पश्यतो भयप्राप्तिरिति यदुक्तम्; तदसत्
५ "सर्वं खलिवद् ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत" इति तन्नाना-
त्वानुसन्धानस्य शान्तिहेतुत्वोपदेशात् । तथा हि सर्वस्य जगतस्तदु-
त्पत्तिस्थितिलयकर्मतया तदात्मकत्वानुसंधानेनात्र शान्तिर्विधीयते ।
अतो यथावस्थितदेवतिर्यङ्मनुष्यस्त्वावरादिभेदभिन्नं जगत् ब्रह्मात्मक-
मित्यनुसंधानस्य शान्तिहेतुतया अभयप्राप्तिहेतुत्वेन न भयहेतुत्व
प्रसङ्गः । एवं तर्हि "अथ तस्य भयं भवति" इति किमुच्यते; इदमु-
च्यते, ६ "यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तंऽनिलयनेऽभयं
प्रतिष्ठां विन्दते । अथ सौमयं गतो भवति इत्यभयप्राप्तिहेतुत्वेन
ब्रह्मणि या प्रतिष्ठाऽभिहिता; तस्या विच्छेदे, भयं भवतीति । यथाकं
महर्षिभिः—

७ "यन्मुहूर्तं क्षणं वाऽपि यासुदेवो न चिन्त्यते ।

सा हानिस्तन्महच्छिद्रं सा भ्रान्तिस्ता च विक्रिया ॥"

इत्यादि । ब्रह्मणि प्रतिष्ठाया अनन्तरमवकाशो विच्छेद एव ॥

१ बृ० ४ अ० ३ ब्रा० १४ वा० । २ बृ० ६ अ० ४ ब्रा० १६ वा० । ३ बृ०
४ अ० ४ ब्रा० १४ वा० । ४ सै० ब्रा० । ५ अनु० २ वा० । ६ ब्रा० ३ प्र० १४
ख० १ वा० । ७ सै० ब्रा० । ८ अनु० २ वा० । ९ गारुड पु० पूर्वख० २२२-२२ ।

यदुक्तम् १ "न स्थानतोऽपि" इति सर्वधिशेष रहितं २ ब्रह्मेति च वक्ष्यतीति; तत्र, सर्वधिशेष ब्रह्मेत्येव हि तत्र वक्ष्यति । ३ "माया-
मात्रं तु" इति च स्वप्नानामप्यर्थानां जागरितावस्थानुभूतपदार्थवै-
धर्म्येण मायामात्रत्वमुच्यते ४ इति जागरितावस्थानुभूतानामिव
पारमार्थिकत्वमेव वक्ष्यति ॥

(पुराणघट्टः, सविशेषपर स्मृति पुराणवचनानि)

स्मृतिपुराणयोरपि निर्विशेषज्ञानमात्रमेव परमार्थोऽन्यदपार-
मार्थिकमिति प्रतीयत इति यदभिहितम् । तदसत्—

५ "योमामज्जमनादि च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।"

६ "मत् स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥

न च मत् स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।

भूतभृज च भूतस्त्रो मेमांस्त्मा भूतभावनः ॥"

७ "अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलस्तथा ॥

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।

मयि सर्वमिदं प्रोक्तं सूत्रे मणिगणा इव ॥"

८ "विष्टम्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥"

९ "उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मैत्युदाहृतः ।

यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥

यस्मात्क्षरमन्तीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।

अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥"

१० "स सर्वभूतप्रकृतिं विकारान् गुणादिदोषांश्च मुनेष्यतीतः ।

अतीनसर्वावरणोऽखिलात्मा तेनामृतं यदुभयनोऽन्तराले ॥

समस्त कल्याणगुणात्मकोऽसौ स्वशक्तिलेशासृज ११ भूतसर्गः ।

इच्छागृहीताभिमतोरुदेहरससाधिताशेषजगद्वितोऽसौ ॥

१ शारी० ३ अ० ३ पा० ११ सू० । २ ब्रह्मेति वक्ष्यति पा० । ३ शारी० ३
अ० ३ पा० ३ सू० । ४ इति पारमार्थिकत्व पा० । ५ गी० १० अ०
३ श्लोकः । ६ गीता ६ अ० ४-२ श्लोकः । ७ गीता ७ अ० ६-७ श्लोकः ।
८ गीता १० अ० ४-२ श्लोकः । ९ गी० १२ अ० १०, १८ श्लोकः । १० वि० पु०
६ अ० २ अ० ८३, ८४, ८५, ८६, ८७ । ११ भूतसर्ग इति च पा० ।

तेजोबलैश्वर्यमहाबोधसुवीर्यशक्त्यादिगुणैकराशिः ।
 परः पराणां सकला न यत्न क्लेशादयस्सन्ति परावरेशो ॥
 स ईश्वरो व्यष्टिसमष्टिरूपोऽव्यक्तस्वरूपः प्रकटस्वरूपः ।
 सर्वेश्वरस्सर्गाद्व्यवसर्गवेत्ता समस्तशक्तिः परमेश्वराख्यः ॥
 संज्ञायते येन तदस्तदोषं शुद्धं परं निर्मल मेकरूपम् ।
 संदृश्यते वाऽप्यधिगम्यते वा तज्ज्ञानमज्ञानमतोऽन्यदुक्तम् ।
 १ " शुद्धे महाविभूत्याग्रे परे ब्रह्मणि शक्यते ।
 मैत्रेय भगवच्छब्दस्सर्वकारणकारणो ॥
 संभर्तेति तथा भर्ता भकारोऽर्ग्ययान्वितः ।
 नेता गमयिता स्रष्टा गकारार्थस्तथा मुने ॥
 ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसश्चिन्मयः ।
 ज्ञानवैराग्ययोश्चैव पण्णां भग इतीरणा ॥
 वसन्ति तत्र भूतानि भूतात्मन्यखिलात्मनि ।
 स च भूतेष्वशेषेषु वकारार्थस्ततोऽव्ययः ॥"
 २ " ज्ञानशक्तिबलैश्वर्याधीर्यतेजांस्यशेषतः ।
 भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेतुर्गुणादिभिः ॥"
 ३ " एवमेव महाशब्दो मैत्रेय भगवानिति ।
 परमज्ञप्रभूतस्य वासुदेवस्य नान्यगः ॥
 तत्र पूज्यपदार्थोक्तिपरिभाषासमन्वितः ।
 शब्दोऽयं नोपचारेण हान्यत्र ह्युपचारतः ॥"
 ४ " समस्ताश्शक्तयश्चेता नृप यत्न प्रतिष्ठिताः ।
 तद्विश्वरूपवैकल्यां रूपमन्यद्वरेर्महत् ॥
 समस्तशक्तिं रूपानि तत्करोति जनेश्वर ।
 देयतिर्यङ्मनुष्याख्याचेष्टार्थान्तं खलीलया ॥
 जगतामुपकाराय न सा कर्मनिमित्तजा ।
 चेष्टा तस्याप्रमेयस्य व्यपिन्यव्याहतात्मिका ॥"

१ वि० पु० ६ अ० २ अ० ७२, ७३, ७४, ७५ श्लोक । २ वि० पु० ६ अ०
 २ अ० ७६ श्लोक । ३ वि० पु० ६ अ० २ अ० ७६, ७७ श्लोक ।
 ४ वि० पु० ६ अ० ७ अ० ७०, ७१, ७२ श्लोक ।

- १ "एवंप्रकारममलं नित्यं व्यापकमक्षयम् ।
समस्तहेयरहितं विष्णुवाक्यं परमं पदम् ॥"
२ "परः पराणां परमः परमात्माऽऽत्मसंस्थितः ।
रूपवर्णादिनिर्देशविशेषणविधर्जितः ॥
अपक्षयविनाशाभ्यां परिणामद्विजन्मभिः ।
वर्जितशक्यते घवतुं यस्सदाऽस्तीति केवलम् ॥
सर्वत्रासौ समस्तं च घसत्यत्रेति वै यतः ।
ततस्स वासुदेवेति विद्वद्भिः परिपठ्यते ॥
३ तद्ब्रह्म परमं नित्यमजं ४ मक्षरमव्ययम् ।
एकस्वरूपं च सदा हेयाभावाच्च निर्मलम् ॥
तदेव सर्वमेवेतद्व्यक्ताव्यक्तस्वरूपयत् ।
तथा पुरुषरूपेण कालरूपेण च स्थितम् ॥"
५ "प्रकृतिर्या मयाऽऽख्याता व्यक्ताव्यक्तस्वरूपिणी ।
पुरुषध्याप्युमायेतौ लीयेते परमात्मनि ॥
परमात्मा च सर्वेषामाधारः परमेश्वरः ।
विष्णुनामा स वेदेषु वेदान्तेषु च गीयते ॥
६ "द्वे रूपे ब्रह्मणस्तस्य स्मृते चामूर्तमेव च ।
क्षराक्षरस्वरूपे ते सर्वभूतेषु च स्थिते ॥
अक्षरं तत्परं ब्रह्म क्षरं सर्वमिदं जगत् ।
एकदेशस्थितस्याग्नेज्योत्स्ना विस्तारिणी यथा ।
परस्य ब्रह्मणश्शक्तिस्तथेदमखिलं जगत् ॥"
७ " विष्णुशक्तिः परां प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाभ्यां तथाऽपरा ।
अविद्या कर्मसंधाऽन्या मतीया शक्तिरिष्यते ॥
यया क्षेत्रज्ञशक्तिस्ता वेष्टिता नृप सर्वगा ।

१ विष्णु० पु० १ अ० २२ अ० २३ श्लोक । २ वि० पु० १ अ० २ अ० १०, ११, १२ श्लोक । ३ विष्णु० पु० १ अ० २ अ० १३, १४ श्लोक । ४ अथवा पा० । ५ वि० पु० १ अ० ४ अ० ३१, ४० श्लोक । ६ वि० पु० १ अ० २२ अ० २५, २६ २७ श्लोक । ७ वि० पु० १ अ० ७ अ० ६१, ६२, ६३ श्लोक ।

संसारतापानखिलानवाप्नोत्यतिसन्ततान् ॥

तया तिरोहितत्वाच्च शक्तिः क्षेत्रज्ञसंज्ञिता ।

सर्वभूतेषु भूपाल तारतम्येन वर्तते ॥”

१ “प्रधानं च पुमांश्चैव सयभूतात्मभूतया ।

विष्णुशक्त्या महाबुद्धे दृता संधयधर्मिणी ॥

२ तयोस्सैव पृथग्भावकारणां संधयस्य च ।

यथा सक्तं जले यातो विभर्ति कणिकाशतम् ।

शक्तिस्साऽपि तथा विष्णोः प्रधानपुरुषात्मनः ॥”

३ “तदेतदक्षयं नित्यं जगन्मुनिराशिलम् ।

आविर्भावतिरोभावजन्मनाशविकल्पघनम् ॥”

इत्यादिना परं ब्रह्म स्वभावेन एव निरस्तनिखिलशेषगन्ध-
समस्तकल्याणगुणात्मकं जगदुत्पत्तिस्थितिसंहारान्तः प्रवेशनियम-
नादिलीलं प्रतिपाद्य कृत्स्नस्य चिद्विद्वस्तुनस्सर्वव्याप्यस्थितस्य,
पारमार्थिकस्यैव परस्य ब्रह्मणश्शरीरतया रूपत्वम्, शरीररूपतन्त्र-
शशक्तिविभूत्यादिदशशब्दैस्तत्तच्छब्दसामानाधिकरण्येन चाभिधाय-
तद्विभूतिभूतस्य चिद्वस्तुन स्वरूपेणावस्थितिमचिन्मिश्रतया क्षेत्रप्र-
रूपेण स्थितिं चोक्त्वा, क्षेत्रज्ञावस्थायां पुण्यपापात्मककर्मरूपाविद्या-
वेष्टितत्वेन स्वाभाविकज्ञानरूपत्याननुसन्धान ४ मच्चिद्रूपाकारत-
याऽनुसन्धानं च प्रतिपादितमिति परं ब्रह्म सविशेषम्; तद्विभूतिभूतं
जगदपि पारमार्थिकमेवेति प्रायते ॥

(परोक्तस्मृतिपुराणवचनानां समीचीनार्थं कथनम्)

“प्रत्यस्तमितभेदम्” इत्यत्र देवमनुष्यादिप्रकृतिपरिणामविशेष
संसृष्टस्याप्यात्मनस्वरूपं तद्वतभेदरहितत्वेन तद्विभेदवाचिदेवादि-

१ विष्णु० पु० २ अ० ७ अ० २१ श्लोक । २ वि० पु० २ अ० ७ अ० ३०
३१ श्लोक । ३ वि० पु० १ अ० २२ अ० ६० श्लोक । ४ अचिद्रूपतद्वर्था
पादः ।

शब्दागोचरं ज्ञानसत्कलक्षणं स्वसंवेद्यं योगयुङ्मनसो न गोचर-
इत्युच्यते इति । अनेन न प्रपञ्चापलापः । कथमिदमवगम्यत इति
चेत् । तदुच्यते अस्मिन् प्रकरणे संसारैकभेदजतया योगमभिधाय
योगाययवान् प्रत्याहारपर्यन्तांश्चोक्त्वा, धारणासिद्धयर्थं शुभाश्रयं
वक्तुं परस्य ग्रहणो विष्णोश्शक्तिशब्दाभिधेयं रूपद्वयं मूर्तामूर्त-
विभागेन प्रतिपाद्य, तृतीयशक्तिरूपकर्माख्याविद्यावेष्टितम् अचिद्वि-
शिष्टं क्षेत्रज्ञं मूर्ताख्यविभागं भावनात्त्रयान्वयादशुभमित्युक्त्वा,
द्वितीयस्य कर्माख्याविद्याविरहिणोऽचिद्विद्युक्तस्य ज्ञानैकाकारस्यामू-
र्ताख्यविभागस्य निष्पन्नयोगिध्येयतया योगयुङ्मनसोनालम्बनतया
स्वतःशुद्धिविरहाच्च शुभाश्रयत्वं प्रतिपिध्य, परशक्तिरूपमिदममूर्तम-
परशक्तिरूपं क्षेत्रज्ञाख्यमूर्तं च परशक्तिरूपस्याऽऽत्मनः क्षेत्रज्ञतापत्ति-
हेतुभूततृतीयशक्त्याख्यकर्मरूपाविद्या चेत्येतच्छक्तित्रयाश्रयो भगवद-
साधारण "मादित्यवर्णामि" त्यादिवेदान्तसिद्धं मूर्तरूपं शुभा-
श्रयइत्युक्तम् । अत्र परिशुद्धात्मस्वरूपस्य शुभाश्रयतानर्हतां वक्तुं
"प्रत्यस्तमितभेदं यत्" इत्युच्यते । तथाहि—

१ "न तद्योगयुजा शक्यं नृप चिन्तयितुं यतः ।

द्वितीयं विष्णुसंज्ञस्य योगिध्येयं परं पदम् ॥

समस्ताश्शक्तयश्चेताः नृप यत्र प्रतिष्ठिताः ।

तद्विश्वरूपवैरूप्यं रूपमन्यद्वरेर्महत् ॥ "

इति च वदति । तथा चतुर्मुखसनकसनन्दनादीनां जगदन्त-
र्घर्तिनामविद्यावेष्टितत्वेन शुभाश्रयतानर्हतामुक्त्या, यद्दानामेव पञ्च-
योगेन उद्भूतयोधानां स्वरूपापन्नानां च स्वतःशुद्धिविरहाद्भगवता
शीनकेन शुभाश्रयता निषिद्धा—

२ "आग्रहास्तम्भपर्यन्ता जगदन्तर्घर्षस्थिताः ।

प्राणिनः ३ कर्मजनितसंसारवशावर्तिनः ॥

१ विष्णु० पु० १ अ० ७ अ० २२, ६१, ७० श्लो० । २ भविष्यपुराणा-
न्तर्यामि विष्णुधर्म० १०४, अ० २३, श्लो० । ३ कर्मजनिताः
इत्यपि० पा० ।

१ यतस्ततो न ते ध्याने ध्यानिनामुपकारकाः ।
 अधिद्यान्तर्गतास्सर्वे ते हि संसारगोचराः ॥
 पश्चादुद्भूतबोधोऽध्याने नैवोपकारकाः ।
 नैसर्गिको न वै बोधस्तेषामप्यन्यतो यतः ।
 तस्मात्तदमलं ब्रह्म निसर्गादेव बोधवत् ॥ ”—

इत्यादिना परस्य ब्रह्मणो विष्णोस्वरूपं स्वासाधारणमेव
 शुभाशय इत्युक्तम् । अतोऽत्र न भेदापलापः प्रतीयते ॥

“ज्ञानस्वरूपम्” इत्यत्रापि ज्ञानव्यतिरिक्तस्यार्थजातस्य
 कृत्स्नस्य न मिथ्यात्वं प्रतिपाद्यते, ज्ञानस्वरूपस्याऽत्मनो वैचमनु-
 प्यायार्थाकारेणावभासो भ्रान्तिरित्येतावन्मात्रवचनात् । न हि शुक्ति-
 काया रजततयाऽवभासो भ्रान्तिरित्युक्ते जगाति कृत्स्नं रजतजात-
 म्मिथ्या भवति । जगद्ब्रह्मणोऽस्मानाधिकरण्येनैक्यप्रतीतिः, ब्रह्मणो
 ज्ञानस्वरूपस्यार्थाकारता भ्रान्तिरित्युक्ते सत्यार्थजातस्य कृत्स्नस्य
 मिथ्यात्वमुक्तं स्यादिति चेत्, तदसत्, अस्मिन् शास्त्रे परस्य ब्रह्मणो
 विष्णोर्निरस्ताज्ञानादिनिखिलदोषगन्धस्य समस्तकल्याणगुणात्मकस्य
 महाविभूतः प्रतिपन्नतया तस्य भ्रान्तिदर्शनासम्भवात् । सामानाधि-
 करण्येनैक्यप्रतिपादनं च बाधासहमविरुद्धं चैत्यनन्तरमेवोपपाद-
 यिष्यते । अतोऽयमपि श्लोको नार्थस्वरूपस्य बाधकः ॥

(उपबृंहणविधि निरूपणम्)

तथाहि—२ “यतो या इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि
 जीयन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । तद्विजिज्ञासस्व । तद्ब्रह्म ” इति
 जगज्जन्मादिकारणं ब्रह्मेत्यवसिते सति

१ भविष्यपुराणान्तर्गत श्रीविष्णुधर्म १०४ अ० २४, २५, २६ श्लो० ।
 २ तै० उ० ऋगुक्त्वात् १ अनु० ।

१ "इतिहासपुराणाभ्यां * वेदं समुपबृंहयेत् ।
विमेत्यल्पभृताद्धेदो मामथ प्रतरिष्यति ॥ "

इति शास्त्रेणार्थस्य इतिहासपुराणाभ्यामुपबृंहणं कार्यमिति
विज्ञायते । उपबृंहणं नाम विदितसकलवेदतदर्थानां स्वयोगमहिम-
साक्षात्कृत वेदतत्त्वार्थानां वाक्यैस्त्वावगतवेदवाक्यार्थव्यक्तीकरणम् ।
सकल २ शास्त्रागतस्य वाक्यार्थस्याल्पभागश्चवणादुदुरवगमत्वेन तेन
विना निश्चयायोगादुपबृंहणं हि कार्यमेव ॥

(विष्णुपुराण प्राशस्त्यम्)

तत्र पुनस्त्यवसिष्ठश्चरप्रदानलब्धपरदेवतापारमार्थ्यज्ञानवतो
भगवतः पराशरात्स्वावगतवेदार्थोपबृंहणमिच्छन्मैत्रेयः परिप्रच्छ—

३ "सोऽहमिच्छामि धर्मज्ञं श्रोतुं त्वत्तो यथा जगत् ।
बभूव भूयश्च यथा महामागं भविष्यति ॥
यन्मयं च जगद्वृक्षहन् यतश्चैतश्चराचरम् ।
लीनमासीद्यथा यत्र लयमेष्यति यत्रच ॥ " इत्यादिना ॥

अत्र ब्रह्मस्वरूपविशेषतद्विभूतिभेदप्रकारतद्वाराधन स्वरूपफल-
विशेषाश्च पृष्टाः । ब्रह्मस्वरूपविशेषप्रश्नेषु यतश्चैतश्चराचरमिति निमि-

* इतिहासेत्यादि श्लोके वेदशब्दो वेदान्तपरः, वेदोपबृंहणभूतेषु धर्म-
शास्त्रेतिहास पुराणेषु धर्म शास्त्राणि पूर्वभागोपबृंहणानि, इतिहासपुराणान्यु-
परितनभागोपबृंहणपराणीति हि विभागः । तत्र धर्मशास्त्रेषु ब्रह्मप्रतिपादनं—
कर्मणां तद्वाराधनरूपत्वं ज्ञापनार्थम् । इतिहास पुराणेषु कर्म प्रतिपादनं
कर्मणां ब्रह्मोपासनः इत्यत्र ज्ञापनार्थम् । इतिहासस्य पुराणेष्वभ्योऽभ्यर्हितत्वं विशेषः,
अल्पाप्तरमिति पुराण शब्दस्य पूर्वनिपाते प्राप्ते, अभ्यर्हितं पूर्वं प्रयोक्तव्यमिति
पूर्वनिपातितस्येतिहासस्याभ्यर्हितत्वं प्रतीतेः ॥

१ भार-आदिप) १-२७३ । २ शास्त्रानुगतस्य() पा० । ३ विष्णु) पु. १
अ) १ अ० ४, ५ श्लो. ।

तोपादानयोः पृष्टंत्याद्यन्मयमित्यनेन सृष्टिस्थितिलयकर्मभूतं जगत्कि-
मात्मकमिति पृष्टम् । तस्य चोत्तरं जगद्य स इति । इदं च तादा-
त्म्यमन्तर्यामिरूपेणाऽऽत्मतया व्याप्तिकृतम् । न तु व्याप्यव्यापकयो-
र्धस्त्वैक्यकृतम् । यन्मयमिति प्रश्नस्योत्तरत्वाज्जगद्य स इति
सामानाधिकरण्यस्य यन्मयमिति मयद्वयं न विकारार्थः, पृथक्
प्रश्नवैयर्थ्यात् । नापि प्राणमयादिवत्स्वार्थिकः, जगद्य स इत्युत्तरा-
नुपपत्तः । तदा हि विष्णुरेवेत्युत्तरमभविष्यत् । अतः प्राचुर्यार्थ एव ।
१ "तत्प्रकृतवचने मयद्" इति मयद् । कृत्स्नं च जगत्सच्छरीरतया
तत्प्रचुरमेव । तस्माद्यन्मयमित्यस्य प्रतिवचनं जगद्य स इति सामा-
नाधिकरण्यं जगद्वृद्धाणोऽंशशरीरात्मभावनिबन्धनमिति निश्चीयते ।
अन्यथा निर्विशेषवस्तुप्रतिपादनपरे शास्त्रेऽभ्युपगम्यमाने सर्वाण्ये-
तानि प्रश्नप्रतिवचनानि न संगच्छन्ते । तद्विवरणरूपं, कृत्स्नं च
शास्त्रं न संगच्छने । तथाहि सति प्रपञ्चमस्य किमधिष्ठानमित्येवं
रूपस्यैकस्य प्रश्नस्य निर्विशेषज्ञानमात्रमित्येवंरूपमेकमेवोत्तरं स्यात् ।
जगद्वृद्धाणोरेकद्रव्यत्वपरे च सामानाधिकरण्ये सत्यसङ्कल्पत्वादि-
कल्याणगुणैकतानता निखिलहेयप्रत्यनीकता च धाव्येत । सर्वाणु-
भास्पर्शं च ब्रह्म भवेत् । आत्मशरीरभाव एवेदं सामानाधिकरण्यं
मुख्यवृत्तमिति स्थाप्यते ॥ अतो—

२ "विष्णोस्सकाशादुद्भूतं जगत्तत्रैव च स्थितम् ।

स्थितिसंयमकर्ताऽसौ जगतांऽस्य जगद्य सः ॥ "

इति संग्रहेणोक्तमर्थं "परः पराणाम्" इत्यागम्य विस्तरेण
वक्तुं परब्रह्मभूतं भगवन्तं विष्णुं स्पेनैव स्वरूपेणावस्थितम् "अधि-
काराय" इति श्लोकेन प्रथमं प्रणम्य तमेव हिरण्यगर्भस्त्वाद्यतारशङ्कर-
रूपत्रिमूर्तिप्रधानकालक्षेत्रज्ञसमष्टिर्द्यष्टिकूपेणावस्थितं च नमस्करोति ।
तत्र "ज्ञानस्वरूपम्" इत्यर्थं श्लोकः क्षेत्रद्रव्यपृथात्मनाऽवस्थितस्य
परमात्मनस्त्वभावमाह । तस्मात्मात्र निर्विशेषवस्तुप्रतीतिः ॥

यदि निर्विशेषज्ञानरूपब्रह्माधिष्ठानमप्रतिपादनपरं शास्त्रम् ;
तर्हि—

१“निर्गुणस्याग्रमेयस्य ब्रुवस्याप्यमलात्मनः ।

कथं सर्गादिकर्तृत्वं ब्रह्मणोऽभ्युपगम्यते ॥”

इति चोद्यम् .

२“शक्यस्सर्वमावानामचिन्त्यज्ञानगोचराः ।

यतोऽतो ब्रह्मणस्तास्तु सर्गाद्या भावशक्यः ॥

भवन्ति तपतां श्रेष्ठ पाचकस्य यथोष्णता ॥”

इति परिहारश्च न घटते । तथाहि सति—निर्गुणस्य ब्रह्मणः
कथं सर्गादिकर्तृत्वं ? न ब्रह्मणः पारमार्थिकस्सर्गः ; अपि तु भ्रान्ति-
परिकल्पितः—इति चोद्यपरिहारो स्याताम् ॥ उत्पत्त्यादिकार्यं सत्त्वा-
दिगुणयुक्तापरिपूर्णकर्मवशेषु द्रष्टृमिति सत्त्वादिगुणरहितस्य परिपू-
र्णस्याकर्मवश्यस्य कर्मसम्बन्धानर्हस्य कथं सर्गादिकर्तृत्वं त्वमभ्युपगम्यत
इति चोद्यम् । द्रष्टृसकलयिसजातीयस्य ब्रह्मणो यथोदितस्वभावस्यैव
जलादियिसजातीयस्याग्नादेरीष्ण्यादिशक्तियोगवत्सर्वशक्तियोगो न
विरुध्यत इति परिहारः ॥

“परमार्थस्त्वमेवैकः” इत्याद्यपि न कृत्स्नस्यापारमार्थ्यं वदति ।
अपि तु कृत्स्नस्य तद्वात्मकतया तद्व्यतिरेकेणावस्थितस्यापारमार्थ्यम् ।
तदेवोपपादयति—३“तवैष महिमा येन व्याप्तमेतच्चराचरम्” इति ।
येन त्वयेदं चराचरं व्याप्तम् ; अतस्त्वद्वात्मकमेवेदं सर्वमिति त्वदन्यः
कोऽपि नास्ति । अतस्सर्वात्मतया त्वमेवैकः परमार्थः । अत इदमु-
च्यते—तवैष महिमा, या सर्वव्याप्तिः - इति । अन्यथा तवैषा भ्रान्ति-
रिति वक्तव्यम् । जगतः पते त्वमित्यादीनां पदानां लक्षणा च स्यात् ।
लीलया महीमुद्धरतो भगवतो महावराहस्य स्तुतिप्रकरणविरोधश्च ॥

यतः कृत्स्नं जगत् ज्ञानात्मना त्वयाऽऽत्मतया व्याप्तत्वेन तव मूर्तम् । तस्मात्त्वदात्मकत्वानुभवसाधनयोगधिरहिण एतत्केवलदेव-
मनुप्यादिरूपमिति भ्रान्तिज्ञानेन पश्यन्तीत्याह "यदेतद्ब्रूयते" इति ॥

न केवलं यस्तुतस्त्वदात्मकं जगद्देवमनुप्याद्यात्मकमिति दर्श-
नमेव भ्रमः, ज्ञानाकाराणामात्मनां देवमनुप्याद्यर्थाकारत्वदर्शनमपि
भ्रमइत्याह "ज्ञानस्वरूपमखिलम्" इति ॥

ये पुनर्धुंद्धिमन्तो ज्ञानस्वरूपात्मविदस्सर्वस्य भगवदात्मक-
त्वानुभवसाधनयोगयोग्यपरिशुद्धमनसम् । ते देवमनुप्यादिप्रकृति-
परिणामविशेषशरीररूपमिदमखिलं जगच्छरीरातिरिक्तज्ञानस्वरूपात्मकं
त्वच्छरीरं च पश्यन्तीत्याह "ये तु ज्ञानविदः" इति । अन्यथा श्लोका-
नां पौनःपुन्यम्, पदानां लक्षणा, अर्थविरोधः, प्रकरणविरोधः,
शास्त्रतात्पर्यविरोधश्च ॥

(प्रकार्यद्वैत प्रकाराद्वैत विवेकः)

"तस्यात्मपरदेहेषु सतोऽप्येकमयम्" इत्यत्र सर्वेप्यात्मसु
ज्ञानैकाकारतया समानेषु सत्सु देवमनुप्यादिप्रकृतिपरिणामविशेष-
रूपपिण्डसंसर्गकृतात्मसु देवाद्याकारेण द्वैतदर्शनमतमर्थमित्युच्यते ।
पिण्डगतमात्मगतमपि द्वैतं प्रतिपिध्यते । देवमनुप्यादिविधि-
विचित्रपिण्डेषु वर्तमानं सर्वमात्मयस्तु सममित्यर्थः । यथोक्तं
भगवता १ "शुनि चैव भवणाके च पण्डितास्समदर्शिनः" २ "निर्दोषं
हि समं ब्रह्म" इत्यादिषु, "तस्यात्मपरदेहेषु सतोऽपि" इति देहाति-
रिक्ते यस्तुनि स्वपरविभागस्योक्तत्वात् ॥

"यद्यन्योऽस्ति परः कोऽपि" इत्यत्रापि नात्मैक्यं प्रतीयते;
यदि मत्तः परः कोऽप्यन्य इत्येकसिद्धर्थे परशब्दान्यशब्दयोः प्रयोगा-
योगात् तत्र परशब्दस्वव्यतिरिक्तत्ववचनः । अन्यशब्दस्तस्यापि

ज्ञानैकाकारत्वाद्व्याकारत्वप्रतिषेधार्थः । एतदुक्तं भवति—यदि मद्ग्रथतिरिक्तः कोऽप्यात्मा मदाकारभूतज्ञानाकाराद्व्याकारोऽस्ति, तदाऽहमेवमाकारः, अयंचान्यादृशाकार इति शक्यते व्यपदेऽदुम् । नचैवमस्ति; सर्वेषां ज्ञानैकाकारत्वेन समानत्वादेवेति ॥

“वेणुरन्ध्रधिमेदेन” इत्यत्राप्याकारवैषम्यमात्मनां न स्वरूप-
कृतम् । अपितु देवादिपिण्डप्रवेशकृतमित्युपदिश्यते; नात्मैक्यम् ।
दृष्टान्ते चानेकरन्ध्रवर्तिनां वाय्वंशानां न स्वरूपैक्यम्; अपित्वाकार-
साम्यमेव । तेषां वायुत्वेनैकाकाराणां रन्ध्रमेदनिष्क्रमणकृतो हि
पङ्जादिसंज्ञाभेदः । एवमात्मनां देवादिसंज्ञाभेदः । यथा तैजसाप्य-
पार्थिवद्रव्यांशभूतानां पदार्थानां तत्तद्द्रव्यत्वेनैक्यमेव, न स्वरूपैक्यम् ।
तथा वायवीयानामंशानामपि स्वरूपभेदोऽवर्जनोयः ।

“सोऽहं स च त्वम्” इति सर्वात्मनां पूर्वोक्तं ज्ञानाकारत्वं
तच्छब्देन परामृश्य तत्सामानाधिकरण्येनाहं त्वमित्यादीनामर्थानां
ज्ञानमेवाऽकार इत्युपसंहरन् देवाद्याकारभेदेनाऽत्मसु भेदमोहं परि-
त्यजेत्याह । अन्यथा देहातिरिक्तात्मोपदेश्यस्वरूपे अहं त्वं सर्वमेतदा-
त्मस्वरूपमिति भेदनिर्देशो न घटते । अहं त्वमादिशब्दानामुपलक्ष्येण
सर्वमेतदात्मस्वरूपमित्यनेन सामानाधिकरण्यादुपलक्षणत्वमपि न
संगच्छते । सोऽपि यथोपदेशमकरोदित्याह “तत्याज भेदं परमार्थ-
वृष्टिः” इति । कुतश्चैप निर्णय इति चेत् देहात्मविवेकविषयत्वादुप-
देशस्य । तच्च ? “पिण्डः पृथग्यतः पुंसश्शिरः पाण्यादिलक्षणः”,
इतिप्रक्रमात् ॥

“धिमेदजनके ज्ञाने” इति च नात्मस्वरूपैक्यपरम् । नापि
जीवपरयोः भात्मस्वरूपैक्यमुक्तरीत्या निषिद्धम् । जीवपरयोरपि
स्वरूपैक्यं देहात्मनोरिव न संभवति । तथाच धृतिः २ “द्वा सुपर्णा
सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिपश्यजाने । तयोरन्याः पिप्पलं
स्याद्वस्थनश्लक्ष्ण्यो अभिचाक्षशीति” ३ “अनं पिपन्तो सुकृतस्य लोके

गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे । छायातपो ब्रह्मविदो यदन्ति पञ्चाग्नयो
 ये च त्रिणाचिकेताः ॥ ” १ “अन्तः प्रविष्टश्चास्ता जनानां सर्वात्मा”
 इत्याद्याः । अस्मिन्नपि शास्त्रे २ “ स सर्वभूतप्रकृति विकारान् गुणा-
 विदोपश्च मुने व्यतीतः । अतीतसर्वाधरणोऽखिलात्मा तेनाऽस्तुतं
 यद्बुवनान्तराले ” ३ “ समस्तकल्याणगुणात्मकोऽसौ ” ४. “ परः
 पराणां सकला न यत्र क्लेशादयस्सन्ति पराचरेशे ” ५ “ अविद्या
 कर्मसंघाऽन्या वृत्तीया शक्तिरिष्यते । यया क्षेत्रज्ञशक्तिस्सा वेष्टिता
 नृप सर्वगा ” इति भेदव्यपदेशात्, ६ “ उभयेऽपि हि भेदेनैनमधी-
 यते ” ७ “ भेदव्यपदेशाच्चान्यः ” ८ “ अधिकं तु भेदनिर्देशात् ”
 इत्यादिसूत्रेषु च १ “ य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न
 वेद यस्याऽत्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति ” १० “ प्राज्ञेना-
 त्मना संपरिष्यक्तः ” ११ “ प्राज्ञेनाऽत्मनाऽन्वारुहः ” इत्यादिभिर्ह-
 भयोरन्योन्यप्रत्ययनीकाकारेण स्वरूपनिर्णयात् ।

(मुक्तौजीवब्रह्मणोः स्वरूपैक्यनिरासः)

नापि साधनानुष्ठानेन निर्मुक्ताविद्यस्य परेण स्वरूपैक्यसंभयः
 अविज्ञाश्रयत्वयोग्यस्य तदनर्हत्वासंभवात् । यथोक्तम्—

१२ “परमात्मात्मनोर्योगः परमार्थ इतीष्यते ।

मिथ्यैतद्व्यवृत्त्यं हि नैति तद्वद्व्यतां यतः ॥ ” इति ॥

मुक्तस्य तु तद्धर्मतापत्तिरेवेति भगवद्गुगीतासूक्तम्—

१३ “इदं ज्ञानमुपाधित्य मम साधर्म्यमागताः ।

सर्वेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥” इति ॥

१ यजुराख्यके० ३ प्रश्ने० ५० पं० । २ ३ वि० पु० ६ अं० २ अ० ८३,
 ८४ श्लो० । ४ वि० पु० ६ अं० २ अ० ८२ श्लो० । ५ वि० पु० ६ अं०
 ७ अ० ६१; ६२ श्लो० । ६ शारी० १ अ० २ पा० २१ सू० । ७ शारी०
 १ अ० १ पा० २२ सू० । ८ शारी० २ अ० १ पा० २२ सू० । ९ बु०
 ५ अ० ७ ब्रा० २२ आत्मशब्दव्यतिपादो माध्यन्दिनशाखास्थः० । १० बु०
 ६ अ० ३ ब्रा० २१ अ० । ११ बु० ६ अ० ३ ब्रा० ३२ अ० । १२ वि०
 पु० २ अं० १४ अ० २७ श्लो० । १३ गी० १४ अ० २ श्लो० ।

इहापि

१ "आत्मभावं नयत्येनं तदुग्रहं ध्यायितुं मुने ।

विकार्यमात्मनःशक्त्या लोहमाकर्षको यथा ॥" इति ॥

आत्मभावम्—आत्मनस्त्वभावम् । नह्यार्कस्यस्वरूपापत्तिर-
कृष्यमाणस्य । वक्ष्यति च २ "जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहि-
तत्वाच्च" ३ "भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च" ४ "मुक्तोपसृप्यव्यप-
देशाच्च" इति । वृत्तिरपि ५ "जगद्व्यापारवर्जं समानो ज्योतिषा"
इति । द्रमिडभाष्यकारश्च ६ "देवतासायुज्यादशरीरस्यापि देवता-
वत्सर्वार्थसिद्धिस्त्यात्" इत्याह । धृतयश्च ७ "य इहात्मानमनुविद्य
प्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति"
८ "ब्रह्मविदामोति परम्" ९ "सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ।
ब्रह्मणा विपश्चिता" १० "एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्य । इमान्
लोकान् कामार्थीकामरूप्यनुसंवरज्" ११ "स तत्र पर्येति" १२ "रसो
यै सः । रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति" १३ "यथा नद्यः
स्थन्दमानास्समुद्रे अस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय । तथा विद्वान्ना-
मरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्" १४ "तदा विद्वान्
पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" इत्याद्याः ॥

परविद्यासु सत्वासु सगुणमेव ब्रह्मापास्यम् । फलं चैकरूपमेव ।

अतो विद्याविकल्प इति सूत्रकारेणैव—१५ "आनन्दादयः प्रधानस्य"

१ वि० पु० १ अ० ७ अ० ३० श्लो० । २ शारी०
४ अ० ४ पा० २१ सू० । ३ शारी० ४ अ० ४ पा० २१ सू० ।
४ शारी० १ अ० ३ पा० २ सू० । ५ बोधायनवृत्तिः ० । ६ द्रमिडभाष्यकार-
भाष्यम् ० । ७ छा० म प्र० १ ख० ६ । म ६ तै० आन० १ अनु० १, २ ।
८ तै० अनु० १० अनु० ६ । ९ छा० म प्र० १२ ख० ३ । ११ तै० आ०
७ अनु०, १ । १२ सु० ३ सु० २ ख० ८ । १३ सु० ३ सु० १ ख० ३ ।
१४ शारी० ३ अ० ३ पा० ११ सू० । १५ शारी० ३ अ० ३ पा० ७५ सू० ।

१ “विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात्” इत्यादिपूक्तम् । वाक्यकारेण च सगुणस्यैवोपास्यत्वं विद्याविकल्पश्चोक्तः—२ “युक्तं तद्गुणकोपासनात्” इति । भाष्यकृता व्याख्यातं च ३ “यद्यापि साधुतः” इत्यादिना । ४ “ब्रह्म चेद् ब्रह्मैव भवति” इत्यत्रापि—“५ “नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्” ६ “निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति” ७ “परं ज्योतिरूपसंपद्य स्येन रूपेणामिनिष्यद्यते” इत्यादिभिरैकाधर्मात् प्राकृतनामरूपाभ्यां विनिर्मुक्तस्य निरस्ततत्कृतभेदस्य ज्ञानैकाकारतया ब्रह्मप्रकारतोच्यते । प्रकारैक्ये च तत्त्वव्यवहारो मुख्य एव, यथा सेयं गौरिति ॥

अत्रापि—

८ “विज्ञानं प्रापकं प्राप्ये परे ब्रह्मणि पार्थिव ।

प्रापणीयस्तथैवाऽत्मा प्रक्षीणाशेषभावनः ॥” इति ॥

परब्रह्मध्यानादात्मा परब्रह्मवत् प्रक्षीणाशेषभावनः—कर्मभावनानाब्रह्मभावनोभयभावेनेति भावनात्रयंगहितः । प्रापणीय इत्यभिधाय—

९ “क्षेत्रज्ञः करणी ज्ञानं करणं तस्य यै द्विज ।

निष्पाद्य मुक्तिकार्यं हि कृतकृत्यं निवर्तयेत् ॥”

इति करणस्य परब्रह्मध्यानरूपस्य प्रक्षीणाशेषभावेनात्मस्वरूपप्राप्त्या कृतकृत्यत्वेन निवृत्तिवचनाद्यायत्तिद्वयानुष्ठेयमित्युक्त्या—

१० “तद्ब्रह्मभावेमापन्नस्तदाऽसौ परमात्मना ।

भयत्यभेदी भेदश्च तस्याज्ञानकृतो भवेत् ॥”

१ शारी० ३ अ० ३ पा०, ७५ सू० । २ वाक्यम् । ३ इमिदभाष्यकारीवम् ।

४ सु० ३ सु० २ ख० ३ । ५ सु० ३ सु० २ ख० ५ । ६ सु० ३ सु०

१ ख० ३ । ७ छा० ८ प्र० १२ ख० २ । ८, ९, १० वि० पु० ६ अ०

१० अ० १३; १४, १५ ।

इति मुक्तस्य स्वरूपमाह । तद्भाष्यः ब्रह्मणो भावः स्वभावः । न तु स्वरूपैक्यम्, तद्भावभावमापन्नइति द्वितीयभावशब्दानन्वयात् पूर्वोक्तार्थविरोधाच्च । यदुब्रह्मणः प्रक्षीणाशेषभावनत्वं तदापत्तिस्तद्भावमावापत्तिः । यदेवमापन्नस्तदाऽसौ परमात्मना अमेदी भवति-भेदरहितो भवति । शानैकाकारतया १ परमात्मनैकप्रकारस्यास्य तस्मान्भेदो देवादिरूपः । तदन्वयोऽस्य कर्मरूपाज्ञानमूलः । न स्वरूपकृतः स तु देवादिभेदः परब्रह्मध्यानेन मूलभूताज्ञानरूपे कर्मणि विनष्टं हेत्वभावाच्चवर्तत इत्यभेदी भवति । यथोक्तम्—

२ " ३ एकस्वरूपभेदस्तु बाह्यकर्मवृत्तिप्रजः ।

देवादिभेदेऽप्यध्वस्ते नास्त्येवात्ररणो हि सः ॥ " इति ॥

एतदेव विवृणोति " विभेदजनकेऽज्ञाने नाशमात्यन्तिकं गते । आत्मनो ब्रह्मणो भेदमसन्तं कः करिष्यति " इति । विभेदः—विधिधो भेदः—देवतिर्यङ्मनुष्यस्थापरात्मकः । यथोक्तं शौनकेनापि - ४ " चतुर्विधोऽपि भेदोऽयं मिथ्याज्ञाननिबन्धनः " इति । आत्मनि ज्ञानरूपे देवादिरूपविधिधोभेदहेतुभूतकर्माख्याज्ञाने परब्रह्मध्यानेनात्यन्तिकनाशं गते सति हेत्वभावादसन्तं परस्मात् ब्रह्मण आत्मनो देवादिरूपभेदं कः करिष्यतीत्यर्थः । " अविद्या कर्मसंज्ञाऽन्या " इति ह्यत्रैवाकम् ॥

" चेन्नैव चापि मां विद्धि " इत्यादिनाऽन्तर्यामिरूपेण सर्वस्याऽऽत्मतयैक्याभिधानम् । अन्यथा— " क्षरस्त्वर्षाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते । उत्तमः पुरुषस्त्यन्यः " इत्यादिमिश्रविरोधः । अन्तर्यामिरूपेण सर्वस्यामात्मत्वं तत्रैव भगवताऽभिहितम् - ५ " ईश्वरस्सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ", ६ " सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः "

१ परमात्मनैकस्वभावस्य० पा० । २ वि० पु० २ अ० १४ अ० २३ श्लो० ।

३ एकत्वं रूपेति० पा० । ४ विष्णुधर्म० १०० अ० २१ । ५ गी० १८ अ०

६१ श्लोक । ६ गी १२, १२ श्लोक ।

इति च । “अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः” इति च तदेवोच्यते । भूतशब्दो ह्यात्मपर्यन्तदेहयचनः । यतस्सर्वेषामयमात्मा ततः पर्य सर्वेषां तच्छरीरतया पृथगयस्थानं प्रतिपिध्यते “न तदस्ति चिना यस्यात्” इति; भगवद्विभूत्युपसंहारभायमिति तथैवाभ्युपगन्तव्यम् । तत इदमुच्यते—

१ “यद्यद्विभूतिमत्सर्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।

तत्तदेवायगच्छ त्वं मम तेजोशसंभवम्” ॥

२ “विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्” ॥ इति ॥

अतश्शास्त्रेषु न निर्विशेषवस्तुप्रतिपादनमस्ति । नाप्यर्थजातस्य भ्रान्तत्वप्रतिपादनम् । नापि चिदचिदाभ्वराणां स्वरूपभेदनिषेधः ॥

(समविधानुपपत्त्यारम्भः)

यदप्युच्यते—निर्विशेषे स्वयंप्रकाशे वस्तुनि दोषपरिकल्पित ३ मांशेशितव्याद्यनन्तविकल्पं सर्वं जगत् । दोषश्च स्वरूपतिरोधान-विविधविचित्रविक्षेपकरो सदनन्दनिर्वचनीयाऽनाद्यविद्या । सा चाय-श्याभ्युपगमनीया; ४ “अनृतेन हि प्रत्यूहाः” इत्यादिभिः श्रुतिभिः, ब्रह्मणस्त्वरूपस्यादिव्याक्यसामानाधिकरण्यावगतजीवैक्यानुपपत्त्या च । सा तु न सती, भ्रान्तिबाधयोरयोगात् । नाप्यसती, क्यातिबाधयो-भायोगात् । अतः कोटिद्वयविनिर्मुक्तैयमविद्येति तत्त्वविदः—इति । तदयुक्तम् ॥

(आध्रयानुपपत्तिः)

सा हि किमाश्रित्य भ्रमं जनयति ? न तावज्जीवमाश्रित्य; अविद्यापरिकल्पितत्वाज्जीवभावस्य । नापि ब्रह्माश्रित्य; तस्य स्वयं-प्रकाशज्ञानस्वरूपत्वेनाविद्याविरोधित्वात् । सा हि ज्ञानपाध्याऽभिमता ॥

५ “ज्ञानरूपं परं ब्रह्म तन्निवर्णं मृगात्मकम् ।

अज्ञानं चेत्तिरस्कुर्यात्कः ६ प्रभुस्तद्विधत्तन ॥

१, २ गी० १० अ० ४१; ४२ श्लोक । ३ ईश्वरेशितम्येति पा० । ४ ता० म प्र० ३ अ० २ । ५ इमे श्लोका नाथमुनिवृत्तयः । ६ प्रभुस्तद्विधत्तनः इति पा० ।

ज्ञानं ग्रह्येति चेत् ज्ञानमज्ञानस्य निवर्तकम् ।

ब्रह्मवत्तत्प्रकाशत्वात्तदपि ज्ञानिवर्तकम् ॥

ज्ञानं ग्रह्येति विज्ञानमस्ति ज्ञेत्स्यात्प्रमेयता ।

ब्रह्मणोऽनुभूतित्वं तद्वदुक्त्यैव प्रसज्यते ॥

ज्ञानस्वरूपं ग्रह्येति ज्ञानं तस्या अविद्याया बाधकम्, न स्वरूप-
भूतं ज्ञानमिति चेन्न, उभयोरपि ब्रह्मस्वरूपप्रकाशत्वे सत्यन्यतरस्या-
विद्याविरोधित्वमन्यतरस्य नेति विशेषानवगमात् ॥

एतदुक्तं भवति—ज्ञानस्वरूपं ग्रह्येत्यनेन ज्ञानेन ब्रह्मणि यस्त्व-
भावोऽवगम्यते, स ब्रह्मणस्त्वयंप्रकाशत्वेन स्वयमेव प्रकाशत इत्यवि-
द्याविरोधित्वे न कश्चिद्विशेषस्वरूपतद्विषयज्ञानयोः— इति । किं च—
अनुभवस्वरूपस्य ब्रह्मणोऽनुभवात्तराननुभाष्यत्वेन भवतो न तद्विषयं
ज्ञानमस्ति । अतो ज्ञानमज्ञानविरोधि ज्ञेत्स्वयमेव विरोधि भवतीति
नास्या ब्रह्माभ्यत्वसंभवः । शुक्त्याद्यस्तु स्वयाधात्स्यप्रकाशे स्वयम-
समर्थास्वाज्ञानविरोधिनस्तद्विवर्तने च ज्ञानान्तरमपेक्षन्ते । ब्रह्म तु
स्वानुभवसिद्धस्वयाधात्प्रमिति स्वाज्ञानविरोध्येव । तत एव नियत-
कान्तरे च नापेक्षते । अथोच्येत—ब्रह्मव्यक्तिरिक्तस्य मिथ्यात्वज्ञान-
मज्ञानविरोधि— इति । न; इदं ब्रह्मव्यतिरिक्तमिथ्यात्वज्ञानं किं ब्रह्म-
याधात्स्याज्ञानविरोधि ? उत प्रपञ्चसत्यत्वरूपाज्ञानविरोधीति विवे-
चनीयम् । न तावत् ब्रह्मयाधात्म्याज्ञानविरोधि, अतद्विषयत्वात् ।
ज्ञानाज्ञानयोरैकविषयत्वेन हि विरोधः । प्रपञ्चमिथ्यात्वज्ञानं तत्सत्य-
त्वरूपाज्ञानेन विरुध्यते । तेन प्रपञ्चसत्यत्वरूपाज्ञानमेव बाधितमिति
ब्रह्मस्वरूपाज्ञानं निष्ठत्येव । ब्रह्मस्वरूपाज्ञानं नाम तस्य सद्द्वितीयत्व-
मेव । तत्तु तद्व्यतिरिक्तस्य मिथ्यात्वज्ञानेन निवृत्तम् । स्वरूपं तु
स्वानुभवसिद्धमिति चेन्न; ब्रह्मणोऽद्वितीयत्वं स्वरूपं स्वानुभवसिद्ध-
मिति तद्विरोधि सद्द्वितीयत्वरूपाज्ञानं तदुबाधश्च न स्याताम् । अद्विती-
यत्वं धर्म इति चेन्न; अनुभवस्वरूपस्य ब्रह्मणोऽनुभाष्यधर्मधिरहस्य
भवतैव प्रतिपादितत्वात् ॥ अतो १ ज्ञानस्वरूपस्य ब्रह्मणो विरोधा-
देव नाज्ञानाभ्ययत्वम् ॥

(तिरोधानानुपपत्तिः)

किंच - अविद्यया प्रकाशैकस्वरूपं ब्रह्म तिरोहितमिति वदता स्वरूपनाश एवोक्तस्यात् । प्रकाश तिरोधानं नाम प्रकाशोत्पत्तिप्रति-
बन्धो विद्यमानस्य विनाशो वा । प्रकाशस्यानुत्पाद्यत्वाभ्युपगमेन
प्रकाश तिरोधानं प्रकाशनाश एव ॥

(स्वरूपानुपपत्तिः)

अपि च त्रिविधया निराश्रया स्वप्रकाशेयमनुभूतिस्वाश्रयदोष-
वशादनन्ताश्रयमनन्तविषयमात्मानमनुभवतीत्यत्र किमयं स्वाश्रयदोषः
परमार्थभूतः ? उतापरमार्थभूत इति विवेचनीयम् । न तावत्परमार्थः,
अनुभ्युपगमात् ; नाप्यपरमार्थः, तथा सति हि द्रष्टृत्वेन वा दृश्य-
त्वेन वा दृशिन्त्वेन वाभ्युपगमनीयः । न तावद्दृशिः, दृशिस्वरूपमेदा-
नभ्युपगमात् ; अमाधिष्ठानभूतायास्तु साक्षाद्दृशोर्माध्यमिक १पक्ष-
प्रसङ्गेनापारमार्थ्यानभ्युपगमाच्च । द्रष्टृदृश्ययोस्तदवच्छिन्नाया दृशोश्च-
काल्पनिकत्वेन मूलदोषान्तरापेक्षयाऽनवस्था स्यात् । अथैतत्परिजि-
होर्पया परमार्थसत्यनुभूतिरेव ब्रह्मरूपा दोष इति चेत् ; ब्रह्मैव
चेद्दोषः ; प्रपञ्चदर्शनस्यैव तन्मूलं स्यात् । किं प्रपञ्चतुल्याविद्यान्तरप-
रिक्त्वनेन ? ब्रह्मणो दोषत्वे सति तस्य नित्यत्वेनानिर्मोक्षश्च स्यात् ।
अतो यावद्ब्रह्मव्यतिरिक्तपरमार्थिकदोषानभ्युपगमः ; न तावद्ब्रह्मन्ति-
रूपपादिता भवति ।

(अनिर्वचनीयत्वानुपपत्तिः)

अनिर्वचनीयत्वं च किमभिप्रेतम् । सदसद्विलक्षणत्वमिति
चेत्, तथाविधस्य यस्तुनः प्रमाणशून्यत्वेन अनिर्वचनीयतैव स्यात् ।
एतदुक्तं भवति—सर्वं हि यस्तुजातं प्रतीतिव्यवस्थाप्यम् । सर्वा च
प्रतीतिस्सदसदाकारा । सदसदाकारायास्तु प्रतीतिस्सदसद्विलक्षणं

विषय इत्युभयपगम्यमाने सर्वं सर्वप्रतीतिविषयस्स्यात्—इति ॥

(प्रमाणानुपपत्तिः)

अथ स्यात्—यस्तुस्वरूपतिरोधानकरमान्तरबाह्यरूपविविधा-
ध्यासोपादानं सत्सदनिर्वचनीयमविद्याज्ञानादिपदवाच्यं यस्तुयाथा-
त्म्यं ज्ञाननिवर्त्यं ज्ञानप्रागभावातिरेकेण भावरूपमेव किञ्चिद्व्यस्तु
प्रत्यक्षानुमानाभ्यां प्रतीयते । तदुपहितग्रन्थोपादानभावाकारे स्वप्रका-
शचिन्मात्रवपुषि तेनैव तिरोहितस्वरूपे प्रत्यगात्मन्यहङ्कारज्ञानज्ञेयवि-
भारूपोऽध्यासः । तस्यैवावस्थाविशेषेणाध्यासरूपे जगति ज्ञानबाध्य-
सर्परजतादिवस्तुनत्तज्ज्ञानरूपाध्यासोऽपि जायते । कृत्स्नस्य मिथ्या-
रूपस्य तदुपादानत्वं च मिथ्याभूतस्यार्थस्य मिथ्याभूतमेव कारणं
भवितुमर्हतीति हेतुबलादयगम्यते । कारणाज्ञानविषयं प्रत्यक्षं तावत्
“अहमप्रो मामन्यं च न जानामि” इत्यपरोक्षावभासः । अयं तु न
ज्ञानप्रागभावविषयः स हि पट्टप्रमाणगोचरः । अयं तु अहं सुखीतिवद-
परोक्षः । अभावस्य प्रत्यक्षत्वाभ्युपगमेऽप्ययमनुभवो नात्मज्ञानाभा-
वविषयः, अनुभवयेलायामपि ज्ञानस्य विद्यमानत्वात्, अविद्यमानत्वे
ज्ञानाभावप्रतीत्यनुपपत्तेश्च ॥

एतदुक्तं भवति—अहमस्य इत्यस्मिन्ननुभवे अहमित्यात्मनो-
ऽभावधर्मितया ज्ञानस्य च प्रतियोगितयाऽवगतिरस्ति वा, न वा ?
अस्ति चेद्विरोधादेव न ज्ञानानुभवसम्भवः । नो चोद्धर्मिप्रतियोगिज्ञा-
नसव्यपेक्षो ज्ञानाभावानुभवस्तुतरां न संभवति । ज्ञानाभावस्यानुभवे-
यत्वे अभावाव्यप्रमाणविषयत्वे चैयमनुपपत्तिस्समाना । अस्याज्ञानस्य
भावरूपत्वे धर्मिप्रतियोगिज्ञानसद्भावेऽपि विरोधाभावादयमनुभवो
भावरूपाज्ञानविषय एवाभ्युपगन्तव्यः—इति । ननु च—भावरूपम-
प्यज्ञानं यस्तुयाथात्म्यावभासरूपेण साक्षिचैतन्येन विरुध्यते ।
मैवम्—साक्षिचैतन्यं न यस्तुयाथात्म्यविषयम्, अपि तु अज्ञानविष-
यम्; अन्यथा मिथ्याार्थावभासानुपपत्तेः । न ह्यज्ञानविषयेण, ज्ञानेनाज्ञानं
निवर्त्यत इति न विरोधः । ननु चेदं भावरूपमप्यज्ञानं विषयविशेष-
व्यावृत्तमेव साक्षिचैतन्यस्य विषयो भवति । स विषयः प्रमाणानधीन-

सिद्धिरिति कथमियं साक्षिचैतन्येनास्मदर्थव्यावृत्तमज्ञानं विपर्ययि-
यते नैव दोषः, सर्वं मेव वस्तुजातं ज्ञाततया अज्ञाततया वा साक्षिचैत-
न्यस्यविषयभूतम् । तत्र जडत्वेन ज्ञाततया सिध्यति न प्रमाणव्यवधाना-
पेक्षा । अजडस्य तु प्रत्यग्वस्तुनस्स्यत्यं सिध्यति न प्रमाणव्यवधाना-
पेक्षेति । सदैवाज्ञानस्य व्यावर्तकत्वेनावभासो युज्यते । तस्मान्न्यायो-
पवृद्धितेन प्रत्यक्षेण भावरूपमेवाज्ञानं प्रतीयते । तद्विदं भावरूपमेवाज्ञानं
भावरूपमज्ञानमनुमानेनापि सिध्यति- + विवादाध्यासितं प्रमाणज्ञानं
स्वप्रागभावाव्यतिरिक्तस्वविषयावरणस्य निवर्त्यस्य देशगतवस्त्यन्तरपूर्व-
कम् ; अप्रकाशितार्थप्रकाशकत्वात् ; अन्धकारे प्रथमोत्पन्नप्रदीपप्रभायत्-
इति ।

+ एवं प्रत्यक्षेणान्यायानुगृहीतेनाज्ञानस्य भावरूपत्वं न जानामीत्यनेना-
स्माभ्यस्तं च सिद्धम् । शास्त्रेष्वज्ञानशब्दवाच्यतया पराभिमतं कर्मण्यवृत्तिः
प्रत्यक्षतया सिद्धा । अस्य शास्त्रेष्वज्ञानादि शब्द वाच्यत्वं ज्ञान विरोधित्वान् ,
'अहमज्ञः'—इति प्रतिपन्नतया च सिद्धम् । अथ स्वविषयावरणस्य स्वनिवर्त्य-
त्वाभ्यां सहोपपादितकारं विशिष्टं चाज्ञानमनुमानेनापि साध्यते विवादाध्या-
सतमित्यादिना । ज्ञानमित्युक्ते—ब्रह्मस्वरूपस्य वस्त्यन्तरं पूर्वकत्वासंभवात्—
तद्व्यावृत्त्यर्थं प्रमाणं ज्ञानमित्युक्तम् । तथापि, धारावाहिकं ज्ञाने, उत्तरोत्तरं
विज्ञानानां सिपाधयिषितं वस्त्यन्तरं पूर्वकत्वाभावात् , तद्व्यावृत्त्यर्थं विवादाध्या-
सितमित्युक्तम् । तज्ज्ञानं किमित्यपेक्षायां व्यक्त्यर्थं प्रमाणं ज्ञानमित्युक्तम् । अयं
धर्मादर्शितः । अथ साध्यधर्ममाह—स्वप्रागभावेत्यादिना । वस्त्यन्तरपूर्वकमि-
त्युक्ते वटादि स्वविषय पूर्वकत्वेन सिद्धं साधनं इत्यादिति । तद्व्यावृत्त्यर्थमाह—
स्वदेशगतेत्युक्तिः । स्वाभ्यगतेत्युक्ते दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्यम् , नहितमोदीप-
गतम्, अतः स्वदेशगतेत्युक्तिः । धर्माधर्मं व्यावृत्त्यर्थमाह स्वनिवर्त्येति । ननु कथं स्वनि-
वर्त्यं शब्देन धर्माधर्मं व्यावृत्तिः ? ज्ञानोत्पत्ति हेतु भूतमदृष्टं ज्ञानोत्पत्त्या हि
नश्यति, मैवम् , सर्वेषां धर्माधर्माणां ज्ञान-लक्षणाभावात् , ज्ञानोत्पादक-
व्यतिरिक्तं धर्मादीनां पूर्वपक्षे स्वदेहे विद्यमानत्वात् । यद्वा, स्वनिवर्त्यं पदेन
संस्कारं व्यावृत्तिः, नहि संस्कारो ज्ञानेन निवर्त्यः । भवादिव्यावृत्त्यर्थमाह—स्व-
विषयावरणेति । प्रागभावाच्चैवं विधत्वात् तद्व्यावृत्त्यर्थमाह—स्वप्रागभाव

(तमसोद्रव्यत्वं समर्थनम्)

आलोकाभावमात्रं वा रूपदर्शनाभावमात्रं वा तमो न ? द्रव्यान्तरम्, तत्कथं भावरूपाज्ञानसाधने निदर्शनतयोपन्यस्यत इति चेत् ; उच्यते बहुलत्वविरलत्वाद्यवस्थायोगेन रूपवत्तया चोपलब्ध्येर्द्रव्यान्तरमेव तम इति निरययम् ÷ इति ॥

(अधिद्या प्रत्यक्षनिरासः)

अत्रोच्यते—“अहमज्ञो मामन्यं च न जानामि” इत्यत्रापि पक्षिसहितेन केवलेन च प्रत्यक्षेण न भावरूपमज्ञानं प्रतीयते । यस्तु ज्ञानप्राग्भावाधिययत्वे विरोध उक्तः ; स हि भावरूपाज्ञानेऽपि तुल्यः । विषयत्वेनाभ्यवत्वेन चाज्ञानस्य व्यावर्तकया प्रत्यगर्थः प्रतिपन्नो वा, अप्रतिपन्नो वा ? । प्रतिपन्नश्चेत् ; तत्स्वरूपाज्ञाननिवर्त्यं तदज्ञानं तस्मिन् प्रतिपन्ने कथमिव तिष्ठति । अप्रतिपन्नश्चेद्भावावर्तकाभ्यविषयज्ञानशून्यमज्ञानं कथमनुभूयेत ॥

व्यतिरिक्तेति । हेतुमाह—अप्रकाशितेति । साक्षाद्वा परम्परवाचाऽवाप्यव्यवहारानुगुण्य हेतुत्वं प्रकाशकत्वमिह विवक्षितम् । साक्षाद्वा परम्परया वेल्युक्ते हि दीपप्रभायां ज्ञाने च हेत्वनुगम सिद्धिः । इयं रजतमिति ज्ञानेऽति व्याप्ति परिहाराया वाप्य व्यवहारानुगुण्य हेतुत्वमित्युक्तम् । प्रकाशकत्वादित्युक्ते—धारावाहिक ज्ञाने उत्तरोत्तर ज्ञानानां प्रकाशकत्वेऽपि सिद्धान्तविरहितं प्रमाणाभावादेतोरनैकान्यस्येत्यादिति तद्वत्त्वस्यर्थमाह—अप्रकाशितार्थं प्रकाशकत्वादिति ॥

÷ भावरूपाज्ञान साधने तेजो भावरूपस्य तमसो दृष्टान्तोपादानमनुपपन्नमिति, तत्र तमो द्रव्यमेवेति यथा—तमोनामद्रव्यं बहुलं विरलं मेघक चक्षुः प्रतीतं केनापि क्विदपि न वाच्यं दृश्ये । अतः कल्प्योहेतुः प्रमितिरपि शास्त्री विजयते, निरासोक्तं चक्षुः पथयति हि तद्वर्णवशान् ॥ तमोद्रव्यमित्येवभाष्यकारमतं, सिद्धान्ते तस्या दूषितत्वात् ।

अथ—विशदस्वरूपावभासोऽज्ञानविरोधी; अविशदस्वरूपं तु प्रतीयत इत्याश्रयविषयज्ञाने सत्यपि नाज्ञानानुभवाविरोधः—इति । हन्त तर्हि ज्ञानप्रागभावोऽपि विशदस्वरूपविषयः । आश्रयप्रतियोगि-
ज्ञानं तु अविशदस्वरूपविषयमिति न कश्चिद्विशेषोऽन्यत्वाभिनिवेशात् । भावरूपस्याज्ञानस्यापि ह्यज्ञानमिति सिध्यतः प्रागभावसिद्धाविषय सापेक्षत्वमस्त्येव । तथा हि अज्ञानमिति ज्ञानाभावस्तदन्यस्तद्विरोधी वा ? । त्रयाणामपि तत्स्वरूपज्ञानापेक्षाऽवश्याश्रयणीया । यद्यपि तम-
स्वरूप प्रतिपत्तौ प्रकाशापेक्षा न विद्यते; तथाऽपि प्रकाशविरोधीत्व-
नेनाकारेण प्रतिपत्तौ प्रकाशप्रतिपत्त्यपेक्षाऽस्त्येव । भवदभिमताज्ञानं न कदाचित्स्वरूपेण सिध्यति अपित्यज्ञानमित्येव । तथा सति ज्ञाना-
भाववत्तदपेक्षत्वं समानम् । ज्ञानप्रागभावस्तु भवताऽप्यभ्युपगम्यते । प्रतीयते चेत्युभयाभ्युपेतौ ज्ञानप्रागभाव एव “अहमस्मो मामन्यं च न जानामि” इत्यनुभूयत इत्यभ्युपगन्तव्यम् ॥

नित्यमुक्तस्वप्रकाशचैतन्यैकस्वरूपस्य ब्रह्मणोऽज्ञानानुभवश्च न संभवति, स्वानुभवस्वरूपत्वात् । स्वानुभवस्वरूपमपि तिरोहितस्वरूपमज्ञानमनुभवतीति चेत् ; किमिदं तिरोहित-
स्वरूपत्वम् । अप्रकाशितस्वरूपत्वमिति चेत् , स्वानुभवस्वरूपस्य कथ-
मप्रकाशितस्वरूपत्वम् । स्वानुभवस्वरूपस्याप्यन्यतोऽप्रकाशित १ स्वरू-
पत्वमापद्यतइति चेत् ; एवं तर्हि प्रकाशाख्यधर्मानभ्युपगमेन प्रकाश-
स्यैव स्वरूपत्वादङ्गतस्वरूपनाश एव स्यादिति पूर्वमेवोक्तम् ॥

किञ्च—ब्रह्मस्वरूपतिरोधानहेतुभूतमेतदज्ञानं स्वयमनुभूतं सत् ब्रह्म तिरस्करोति । ब्रह्म तिरस्कृत्य स्वयं तदनुभवविषयो भवतीत्य-
न्योन्याश्रयणम् ॥

अनुभूतमेव तिरस्करोतीति चेत् , यद्यतिरोहितस्वरूपमेव ब्रह्माज्ञानमनुभवति; तदा तिरोधानकल्पना निष्प्रयोजना स्यात् ;

अज्ञानस्वरूपकल्पना च । ब्रह्मणोऽज्ञानदर्शनवत् अज्ञानकार्यतयाऽभि-
मतप्रपञ्चदर्शनस्यापि सम्भवात् । किञ्च—ब्रह्मणोऽज्ञानानुभवः किं
स्वतोऽन्यतो वा ? स्वतन्त्रेदज्ञानानुभवस्य स्वरूपप्रयुक्तत्वेनानिमोक्ष-
स्यात् । अनुभूतिस्वरूपस्य ब्रह्मणोऽज्ञानानुभवस्वरूपत्वेन मिथ्या-
रजतयाधकक्षानेन रजतानुभवस्यापि निवृत्तिवन्निवर्तकक्षानेनाज्ञाना-
नुभूतिरूपग्रहस्वरूपनिवृत्तिर्वा । अन्यतश्चेत्, किं तदन्यत् ? अज्ञा-
नान्तरमिति चेत् ; अनवस्था स्यात् । ब्रह्म तिरस्कृत्यैव स्वयमनुभव-
विषयो भवतीति चेत् ; तथा सतीदमज्ञानं काचादिवत् स्वसत्तया
ब्रह्म तिरस्करोतीति ज्ञानबाध्यत्वमज्ञानस्य न स्यात् ॥

अथेदमज्ञान स्वयमनादि, ब्रह्मणस्त्वसाक्षित्वं ब्रह्म स्वरूपतिर-
स्कृतिं च युगपदेव करोति । अतो नानवस्थाद्वयो दोषा इति नैतत् ;
स्वानुभवस्वरूपस्यब्रह्मणस्वरूपतिरस्कृतिमन्तरेणसाक्षित्यापादनायो-
गात् । हेत्वन्तरेण तिरस्कृतमिति चेत्, तर्ह्यस्यानादित्वमपास्तम् ।
अनवस्था च पूर्वोक्ता । अतिरस्कृतस्वरूपस्यैव साक्षित्यापादने ब्रह्मण-
स्त्वानुभवेकतानता च न स्यात् ॥

अपि च—अविद्यया ब्रह्मणि तिरोहिते तद्ब्रह्म न किञ्चिदपि
प्रकाशने ? उत किञ्चित्प्रकाशने ? पूर्वस्मिन् कल्पे प्रकाशमात्रस्वरूपस्य
ब्रह्मणोऽप्रकाशे तच्छतापत्तिरसङ्गदुका । उत्तरस्मिन् कल्पे सच्चिदानन्दै-
करसे ब्रह्मणि कोऽयमंशस्तिरस्क्रियते; को वा प्रकाशते ? निरंशो निर्वि-
शेषे प्रकाशमात्रे वस्तुन्याकारद्वयासम्भवेन तिरस्कारः प्रकाशश्च युग-
पन्न संगच्छेने । अथ सच्चिदानन्दैकरसं ब्रह्म अविद्यया तिरोहितस्व-
रूपमविशदमिषलक्ष्यत इति प्रकाशमात्रस्वरूपस्य विशदताऽविशदता
वा किंरूपा । एतदुक्तं भवति—यत्सांशस्त्वविशेषः प्रकाशविषयः;

तस्य सकलावभासो विशदावभासः । कतिपयविशेषगृहितावभासश्चा-
विशदावभासः । तत्र य आकारोऽप्रतिपन्नस्तस्मिन्नेव प्रकाशाभावादेव
प्रकाशावैशद्यं न विद्यते । यच्चांशः प्रतिपन्नस्तस्मिन्नेव तद्विषयप्रकाशो
विशद एव । अतस्सर्वत्र प्रकाशांशे अवैशद्यं न संभवति । विषयेऽपि
स्वरूपे प्रतीयमाने नद्विगत कतिपय विशेषाप्रतीतिरेवावैशद्यम् । तस्मा-
द्विषये निर्विशेषे प्रकाशमात्रे ब्रह्मणि स्वरूपे १ प्रकाशमाने नद्विगतक-
तिपयविशेषाप्रतीतिरूपावैशद्यं नामाद्यानकार्यं न संभवति ॥

अपिच—इदमविद्याकार्यमवैशद्यं तत्त्वज्ञानोदयाश्रितवर्तते न
या ? अनिवृत्तावपचर्गाभायः । निवृत्ती च यस्तु किं रूपमिति विवे-
चनीयम् । विशदस्वरूपमिति चेत्, तद्विशदस्वरूपं प्रागस्ति; न या ?
अस्ति चेदविद्याकार्यमवैशद्यं न निवृत्तिश्च न स्याताम् । नो चेन्मोक्षस्य
कार्यतया अनित्यता स्यात् ॥

अस्याद्यानस्याध्यानिरूपणादेयासंभयः पूर्वमेवाहुः । अर्प
च—अपरमार्थदोषमूलभ्रमवादिना निर्वाद्यद्यानभ्रमासंभवोऽपि दुरुप-
पादः; भ्रमहेतुभूतदोषदोषाधयत्ययदधिष्ठानापारमार्थ्येऽपि भ्रमोपपत्तेः ।
ततश्च सर्वशून्यत्वमेव स्यात् ॥

(अविद्यानुमाननिरासः)

यदुक्तमनुमानेनापि भानरूपमज्ञानं सिध्यतीति; तदयुक्तम् ।
अनुमानासंभवान् । ननूकमनुमानम् । सत्यमुक्तम् । दुरुक्तं
तु तत्; अज्ञानेऽप्यनभिमतज्ञानान्तरसाधनेन विरुद्धत्याज्जेनोः ।
तत्राज्ञानान्तरसाधने हेतोरनेकान्त्यम् । + साधने च तदज्ञानमज्ञान-

+ अस्य प्रमाणज्ञानस्य, अप्रकाशितार्थप्रकाशकत्वात् स्वविषयावरणात्ता-
नान्तर साधकत्वे सति तदज्ञानं ब्रह्मस्वरूपाच्छादकं सिपाधयिष्ठिमज्ञानमावृ-
णोति, तेनावृत्तत्वात्-तदज्ञानं ब्रह्मणा न साक्षाद्विषयते, अपरमार्थस्याप्रतीयमा-
नस्य कार्यकरत्वायोगादज्ञानकल्पनामिच्छता स्यात् । निरोधान रूपक्यार्थं हि
तत्कल्पना । यद्यसाक्षात्तमेव कार्यकरं नदा सत्तया कार्यकमिति कारादिधर्मस्य
स्याज्ञाननिवर्त्यं न स्यात् । पृथग्ज्ञानस्य ज्ञाननिवर्त्य-व-विषयज्ञानं, कारणतया-
अभिज्ञानाज्ञानान्तरसाधकत्वं तदसाधने धर्मवदन्त्ययुक्तम् ॥

• प्रकाशमाने कतिपयवितरे नि. पा. ७ । २. अंगवर्तीनि पा. ७

साक्षित्वं निधारयति । ततश्चाज्ञानकल्पना निष्फला स्यात्, दृष्टान्तश्च साधनविकलः; दीपप्रभाया अप्रकाशितार्थप्रकाशत्वाभावात् । सर्वत्र ज्ञानस्यैव हि प्रकाशकत्वम् । सत्यपि दीपे ज्ञानेन विना विषयप्रकाशाभावात् । इन्द्रियाणामपि ज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वमेव न प्रकाशकत्वम् । प्रदीपप्रभायास्तु चक्षुरिन्द्रियस्य ज्ञानमुत्पादयतो विरोधितमोनिरसनद्वारेणोपकारकत्वमाश्रमेव । प्रकाशक ज्ञानोत्पत्तौ व्याप्तिप्रमाणं चक्षुरिन्द्रियोपकारकहेतुत्वमपेक्ष्य दीपस्य प्रकाशकत्वव्यवहारः । नास्माभिर्ज्ञानतुल्यप्रकाशक त्वाभ्युपगमेन दीपप्रभा निर्दिशिता । अपि तु ज्ञानस्यैव स्वविषयावरणं निरसनपूर्वकप्रकाशकत्वमङ्गीकृत्येति चेन्न, न हि विरोधिनिरसनमात्रं प्रकाशकत्वम् ; अपि त्वर्थपरिच्छेदः । व्यवहारयोग्यतापादानमिति यावत् । तत्तु ज्ञानस्यैव । यद्युपकारकाणामप्यप्रकाशितार्थप्रकाशकत्वमङ्गीकृतम् तर्हीन्द्रियाणामुपकारकतमत्वेनाप्रकाशितार्थप्रकाशकत्वमङ्गीकरणीयम् । तथा सति तेषां सन्निवर्त्यवस्तुनन्तरपूर्वकत्वाभावाद्धेतोरनैकान्त्यमित्यलमनेन ॥

प्रतिप्रयोगाच्च-विषादाध्यासितमज्ञानं न ज्ञानमात्रब्रह्माधयम् ; अज्ञानत्वात् ; शुक्तिकाद्यज्ञानवत् । ज्ञानाधयं हि तत् । विषादाध्यासितमज्ञानं न १ ज्ञानमात्रब्रह्मावरणम् ; अज्ञानत्वात्, शुक्तिकाद्यज्ञानवत् । विषयावरणं हि तत् । विषादाध्यासितमज्ञानं न ज्ञाननिवर्त्यम् ; ज्ञानविषयानावरणत्वात् ; यत्, ज्ञाननिवर्त्यमज्ञानं तत् ज्ञानविषयावरणम् । यथा शुक्तिकाद्यज्ञानम् । ब्रह्म नाज्ञानास्पदम् ; स्मृत्यधिरहात् ; घटादिवत् । ब्रह्म नाज्ञानावरणम् ; ज्ञानाविषयत्वात् । यदज्ञानावरणं तज्ज्ञानविषयभूतम् ; यथा शुक्तिकादि । ब्रह्म न ज्ञाननिवर्त्याज्ञानम् ; ज्ञानाविषयत्वात् । यत् ज्ञाननिवर्त्याज्ञानम् ; तज्ज्ञानविषयभूतम् ; यथा शुक्तिकादि । विषादाध्यासितं प्रमाणज्ञानं स्वप्रागभावातिरिक्ताज्ञानपूर्वकं न भवति ; प्रमाणज्ञानत्वात् ; भवदभिगताज्ञानसाधनप्रमाणज्ञानवत् ॥

ज्ञानं न घस्तुनो विनाशकम् ; शक्तिविशेषोपबृंहणचिरहे सति ज्ञानत्वात् । यदस्तुनो विनाशकं तच्छक्तिविशेषोपबृंहितं ज्ञानमज्ञानं

च दृष्टम् ; यथेभ्वरयोगिप्रभृतिज्ञानम् ; यथा च मुद्रादि । भावरूपम-
ज्ञानं न ज्ञानविनाशम् ; भावरूपत्वात् , घटादिवदिति । अधोक्ष्येत—
बाधकज्ञानेन पूर्वज्ञानोत्पन्नानां भयादीनां विनाशो दृश्यते—इति ।
नैवम्—न हि ज्ञानेन तेषां विनाशः ; क्षणिकत्वेन तेषां खयमेव विना-
शात् ; कारणनिवृत्त्या च पश्चादनुत्पत्तेः । क्षणिकत्वं च तेषां ज्ञान-
घटुत्पत्तिकारणसन्निधान एवोपलब्धेः, अन्यथाऽनुपलब्धेऽभावा-
म्यते । अक्षणिकत्वे च भयादीनां भयादिहेतुभूतज्ञानसंनतायविशेषेण
सर्वेषां ज्ञानानां भयाद्युत्पत्तिहेतुत्वेनानेकमयोपलब्धिप्रसङ्गाच्च ॥

स्वप्रागभावरूप्यतिरिक्तवस्तुवन्तरपूर्वकमिति व्यर्थविशेषणोपादा-
नेन प्रयोगकुशलता चाऽविच्छिन्ना । अतोऽनुमानेनापि न भावरूपाज्ञान-
सिद्धिः । श्रुतितदर्थपत्तिभ्यामज्ञानासिद्धिरनन्तरमेव वक्ष्यते । मिथ्या-
र्थस्य हि मिथ्यैवोपादानं भवितुमर्हतीत्येतदपि १ “न बिलक्षणत्वात्”
इत्यधिकरणन्यायेन परिह्रियते । अतोऽनिर्वचनीयाज्ञानविषया न कानि-
दपि प्रतीतिरस्ति । प्रतीतिस्त्रान्तिबाधैरपि न तथाऽभ्युपगमनीयम् ।
प्रतीयमानमेव हि प्रतीति भ्रान्ति बाधविषयः । भाभिः प्रतीतिभिः
प्रतीत्यन्तरेण चानुपलब्धमासां विषय इति न युज्यते कल्पयितुम् ॥

शुक्त्यादिषु रजतादिप्रतीतेः, प्रतीतिकालेऽपि न ज्ञास्तीति
बाधेन चान्यस्यान्यथाभानायोगाच्च सदसदनिर्वचनीयमपूर्वमेवेवं
रजतं दोषवशात् प्रतीयतइति कल्पनीयमिति चेन्न ; तत्कल्पनायामप्य-
न्यस्यान्यथाभानस्यावर्जनोयत्वात् ; अन्यथाभानाभ्युपगमादेव ख्याति-
प्रवृत्तिबाधभ्रमत्वानामुपपत्तेरत्यन्तापरिदृष्टाकारणकवस्तुकल्पनायोगा-
त् कल्प्यमानं क्षीयमनिर्वचनीयम्, न तावदनिर्वचनीयमिति प्रतीयते;
अपितु परमार्थरजतमित्येव । अनिर्वचनीयमित्येव प्रतीतं चेत् ;
भ्रान्तिबाधयोः प्रवृत्तेरप्यसंभवः । अतोऽन्यस्यान्यथाभानाधिरहे प्रती-
तिप्रवृत्तिबाधभ्रमत्वानामनुपपत्तेस्तस्यापरिहार्यत्वाच्च, शुक्त्यादिरेव
रजताद्याकारेणावभासत इति भवताभ्युपगमनव्ययम् ॥

लयात्पन्तरथादिनां च सुदूरमपि गत्वाऽन्यथावभासोऽयस्या-
धयनीयः—असत्कृयातिपक्षे सदात्मना; आत्मकृयाति १ पक्षेऽर्था-
त्मना; अकृयातिपक्षेऽपि अन्यविशेषणमन्यविशेषणत्वेन; ज्ञानद्वयमेक-
त्वेन च; विषयासद्भावपक्षेऽपि विद्यमानत्वेन ॥

किंच—अनिर्वचनीयमपूर्वरजतमत्र ज्ञानमिति यद्वा तस्य
जन्मकारणां वक्तव्यम्; न तावत्तत्प्रतीतिः, तस्यास्तद्विषयत्वेन तदु-
त्पत्तेः प्रागात्मलाभायोगात् । निर्विषया जाता तदुत्पाद्य तत्रैव
विषयाकरोतीति महतामिदमुपपादनम् । अथेन्द्रियादिगतो दोषः,
तत्र; तस्य पुरुषाध्यत्येनार्थगतकार्यस्योत्पादकत्वायोगात् । नापां-
न्द्रियाणि, नेपां ज्ञानकारणत्वात् । नापि दुष्टानांन्द्रियाणि, तेषामपि
स्वकार्यभूने ज्ञान एव हि विशेषकरत्वं । अनादिमिदथाज्ञानोपादानत्वं
तु पूर्वमेव निरस्तम् ॥

किंच—अपूर्वमनिर्वचनीयमिदं वस्तुजातं रजतादिवुद्धिशब्दा-
भ्यां कथमिव विषयोक्तिरने, न घटादिवुद्धिशब्दाभ्याम् । रजतादि-
सादृश्यादिति चेत्; तर्हि तत्सदृशमित्येव प्रतीतिशब्दौ स्याताम् ।
रजतादिज्ञानियोगादिति चेत्; सा किं परमार्थभूता; अपरमार्थभूता
या; न तावत्परमार्थभूता, तस्या अपरमार्थान्वयायोगात् । नाप्यपर-
मार्थभूता, परमार्थान्वयायोगात् । अपरमार्थे परमार्थवुद्धिशब्दयो-
र्निर्वाहकत्वायोगाच्चेत्यलमपरिणतकृतकनिरसनेन ॥

(सत्कृयातिसमर्थनम्)

अथवा —

२ यथार्थं सर्वविज्ञानमिति चेद्विदां मतम् ।

धृतिस्मृतिभ्यस्सर्वस्य सर्वात्मत्वप्रतीतितः ॥

• आत्म कृतानिस्मृत्यानिर्कृत्यानिः कृयातिरन्वया ।

तथाऽनिर्वचन कृत्यातिरित्येतन्मप्याति पञ्चकम् ॥ १ ॥

योगाचारा माध्यमिकाममथा मीमांसका अपि ।

नैयायिका मायिनश्च प्रायः कृयातीः क्रमाजगुः ॥ २ ॥

१ पक्षे चाथा पा० । २ 'यथार्थं सर्वविज्ञानम्' इत्यारभ्य 'यवहारप्यवदित्यनिः'

इत्येतत्पर्यन्तं भाष्यकारीयाः श्लोकाः ० ।

१ "बहुस्या" मितिसंकल्पपूर्वसृष्ट्याद्युपक्रमे ।
 २ "तासां निवृत्तमेकैका" मितिधृत्यैव चोदितम् ॥
 निवृत्तकरणमेवं हि प्रत्यक्षेणोपलभ्यते ।
 यदग्नेरोहितं रूपं तेजसस्तदपामपि ॥
 शुक्लं कृष्णं पृथिव्याश्चेत्याग्नाचेव त्रिरूपता ।
 धृत्यैव दर्शिता तस्मात्सर्वे सर्वत्र संगताः ।
 पुराणे चैवमेवोक्तं वैष्णवे सृष्ट्युपक्रमे ॥
 ३ "नानाधीर्याः पृथग्भूतास्ततस्ते संहतिं विना ।
 नाशक्नुवन् प्रजास्त्रिष्टुमसमागम्य कृत्स्नशः ॥
 समेत्यान्योन्यसंयोगं परस्परसमाधयाः ।
 महदाद्या विशेषान्ता ह्यष्ट" मित्यादिना ततः ॥
 सूत्रकारोऽपि भूतानां त्रिरूपत्वं तथाऽबदत् ।
 ४ "व्यात्मकत्वात् भूयस्या" ५ दिति तेनाभिधाभिदा ॥
 सोमाभावे च पूतीकग्रहणं ६ धृतिचोदितम् ।
 सोमावयवसद्भावादितिन्यायविदो विदुः ॥
 ग्रीष्माभावे च नीवारग्रहणं ग्रीष्मिभावतः ।
 तदेव सदृशं तस्य ७ यत्तद्द्रव्यैकदेशभाक् ॥
 शुक्त्यादीरजतादेश्च भावः धृत्यैव बाधितः ।
 रूप्यशुक्त्यादि ८ निर्देशमेवो भूयस्त्यहेतुकः ॥
 रूप्यादिसदृशश्चायं शुक्त्यादिरूपलभ्यते ।
 अतस्तस्यात्र सद्भावः प्रतीतेरपि निश्चितः ॥
 कदाचिच्चक्षुरादेस्तु दोषाच्चलुक्त्यंशवर्जितः ।
 रजतांशो गृहीतोऽतो रजतार्थो प्रवर्तते ।

१ छा० उप० ६ प्र० २ ख० ३ वा० । २ छा० उप० ६ प्र० ३ ख० ३ वा० ।
 ३ वि० पु० १ अ० २ अ० २२, २३, २४ । ४ शारी० ३ अ० १ पा०
 २ सू० । ५ दित्वेतेना० पा० । ६ धृतिदर्शितम्० पा० । ७ यद्यद्द्रव्येति० पा० ।
 ८ निर्देशो० पा० ।

दोषहानौ तु शुक्त्यंशे गृहीते तन्निवर्तते ।
 अतो यथाथं रूप्यादिविज्ञानं शुक्तिकादिषु ॥
 बाध्यबाधकभावोऽपि भूयस्त्वेनोपपद्यते ।
 शुक्तिभूयस्त्वर्थैकल्यसाकल्यग्रहरूपतः ॥
 नानो मिथ्यार्थसत्यार्थविषयत्वनिबन्धनः ।
 पचं सर्वस्य सर्वत्वे व्यवहारव्यवस्थितिः ॥

स्वप्ने च प्राणिनां पुण्यपापानुगुणं भगवतैव तत्तत्पुरुषमात्रा-
 नुभाव्याः तत्तत्कालावसानाः तथाभूताभ्यर्थास्सृज्यन्ते । तथा हि
 श्रुतिः स्वप्नविषया १ “न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्ति ।
 अथ रथान् रथयोगान्पथस्सृजते । न तत्राऽनन्दा मुदः प्रमुदो
 भवन्ति । अथानन्दान्मुदः प्रमुदस्सृजते । न तत्र ७ वेशान्ताः पुष्करि-
 ण्यस्त्रयन्त्यो भवन्ति । अथ वेशान्तान्पुष्करिण्यस्त्रयन्त्यस्सृजते ।
 स हि कर्ता ” इति । यद्यपि सकलेतरपुरुषानुभाव्यतया तदानीं न
 भवन्ति । तथाऽपि तत्तत्पुरुषमात्रानुभाव्यतया तथाविधानर्थानी-
 भ्वरस्सृजति । स हि कर्ता । तस्य सत्यसङ्कुलपस्याऽभ्यर्थशकैस्तथा-
 विधं कर्तृत्वं सम्भवतीत्यर्थः । २ “य एषु सुतेषु आगतिं कामं कामं
 पुरुषो निर्मिमाणः । तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते । तस्मिँ-
 ल्लोकाश्चितास्सर्वे तद्बु नात्येति कश्चन ” इति च । सूत्रकारोऽपि
 ३ “सन्ध्ये सृष्टिराह हि ” ४ “निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च ” इति
 सूत्रद्वयेन स्वप्नेष्वर्थेषु जीवस्य स्रष्टृत्वमाशङ्क्य ५ “मायामात्रं तु
 कात्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात् ” इत्यादिना—न जीवस्य सङ्कुलप-
 मात्रेण स्रष्टृत्वमुपपद्यते । जीवस्य स्वाभाविकसत्यसङ्कुलपत्वादेः
 कृत्स्नस्य संसारदशायामनभिव्यक्तस्वरूपत्वात्, ईश्वरस्यैव तत्तत्पुरु-
 षमात्रानुभाव्यतया आभ्यगम्यता सृष्टिरियम् । “तस्मिँल्लोकाश्चि-
 तास्सर्वे तद्बु नात्येति कश्चन ” इति परमात्मैव तत्र स्रष्टृत्ववगम्यते—
 इति परिहरात् । अपवरकादिषु शयानस्य स्वप्नदृशः स्वदेहेनैव देशा-

१ श्रु० उप० ६ अ० ३ भा० १० । ७ वेशान्ताः ० पा० । २ कठ० २ अ०

५ बह्वी० ८ । ३, ४, ५ शारी० ३ अ० २ पा० १-२-३ सू० ।

न्तरगमनराज्याभिपेक्षिरश्चेदादयश्च पुण्यपापफलभूताशशयानदेह-
सरूपसंस्थानदेहान्तरसृष्टयोपपद्यन्ते ॥

पोतशङ्कादौ तु नयनवर्तिपित्तद्रव्यसंमिश्रा नायनरश्मयश्शङ्का-
दिभिस्संयुज्यन्ते । तत्र पित्तगतपीतिमाभिभूतशङ्कागतशुक्तिमा न
गृह्यते । अतस्सुवर्णानुलितशङ्कावत् पोतशङ्का इति प्रतीयते । पित्त-
द्रव्यं तद्गतपीतिमा चातिसौक्ष्म्यात्पार्थ्व्यार्थं गृह्यते । पित्तोपहतं न
तु स्वनयननिष्क्रान्ततयाऽतिसामोप्यात् सूक्ष्ममपि गृह्यते । तद्ग्रहण-
जनितसंस्कारसचिवनायनरश्मिभिर्दूरस्थमपि गृह्यते ॥

जपाकुसुमसमीपवर्तिस्फुटिकमणिरपि तत्प्रभाभिभूततया रक्त
इति गृह्यते । जपाकुसुमप्रभा चिन्तापि स्वच्छद्रव्यं संयुक्ततया
स्फुटतरमुपलभ्यत इत्युपलब्धव्यवस्थाप्यमिदम् । मर्याचिकाजल-
घानेऽपि तेजः पृथिव्योरप्यम्बुनो विद्यमानत्वादिन्द्रियदोषेण तेजः
पृथिव्योरग्रहणाद्वृष्टवशाच्चाप्बुनो ग्रहणाद्यथार्थत्वम् । अन्तातचक्रो-
ऽप्यन्तातस्य द्रुततरगमनेन सर्वदेशसंयोगादन्तरालाग्रहणात्तथा
प्रतीतिरुपपद्यते । चक्रप्रतीतावप्यन्तरालाग्रहणपूर्वकतत्तद्देशसंयुक्त-
तत्तद्ग्रस्तुग्रहणमेव । क्वचिदन्तरालाभावादन्तरालाग्रहणम्, क्वचि-
च्छैघ्रयादग्रहणमिति विशेषः । अतस्तदपि यथार्थम् । दर्पणादिषु
निजमुखादिप्रतीतिरपि यथार्था । दर्पणादिप्रतिहतगतयो हि नायन-
रश्मयो दर्पणादिदेशग्रहणपूर्वकं निजमुखादि गृह्यन्ति । तत्रापि अति-
शीघ्रयादन्तरालाग्रहणात्तथा प्रतीतिः ॥

दिङ्मोहेऽपि दिगन्तरस्यास्यां दिशि विद्यमानत्वाद्वृष्टवशेनै-
तद्विगंशयुक्तो दिगन्तरांशो गृह्यते । अतो दिगन्तरप्रतीतिर्यथार्था ।
द्विचन्द्रप्रज्ञानादावपि अङ्गुलवयवप्रमितिमिरादिभिर्नायननेत्रोगतिभेदेन
सामग्र्यभेदात्सामग्र्यमन्योन्यनिरपेक्षं चन्द्रग्रहणद्वयहेतुर्भवति ।

तत्रैका सामग्री स्वदेशविशिष्टं चन्द्रं गृह्णाति । द्वितीया तु किञ्चित्क-
 गतिश्चन्द्रसमीपदेशग्रहणपूर्वकं चन्द्रं स्वदेशयुक्तं गृह्णाति । अतस्सा-
 मग्रीद्वयेन युगपद्देशद्वयविशिष्टचन्द्रग्रहणे ग्रहणमेवेन ग्राह्याकारभेदादे-
 कत्यग्रहणाभावाच्च द्वौ चन्द्राविति भवति प्रतीतिविशेषः । देशान्तर-
 स्य तद्विशेषणत्वं देशान्तरस्य च, अगृहीतस्वदेशचन्द्रस्य च निरन्तरग्र-
 हणेन भवति । तत्र सामग्रीद्वित्वं पारमार्थिकम् । तेन देशद्वयविशिष्ट-
 चन्द्रग्रहणद्वयं च पारमार्थिकम् । ग्रहणद्वित्वेन चन्द्रस्यैव ग्राह्याकार-
 द्वित्वं च पारमार्थिकम् । तत्र विशेषणद्वयविशिष्टचन्द्रग्रहणद्वयस्यैक-
 पत्र चन्द्रो ग्राह्य इति ग्रहणे प्रत्यभिज्ञानवत् केवलचक्षुषस्सामर्थ्याभा-
 वान्नपज्ञानं तथैवावनिष्ठते । द्वयोश्चक्षुषोरेकसामग्र्यन्तर्भावेपि
 तिमिरादिदोषभिर्न चाक्षुषं तेजस्सामग्रीद्वयं भवतीति कार्यकल्प्यम् ।
 अपगते तु दोषे स्वदेशविशिष्टस्य चन्द्रस्यैकग्रहणवेद्यत्वादेकश्चन्द्र इति
 भवति प्रत्ययः । दोषकृतं तु सामग्रीद्वित्वं तत्कृतं ग्रहणद्वित्वं तत्कृतं
 ग्राह्याकारद्वित्वं चेति निरवद्यम् ॥

अतस्सर्वं विधानजातं यथार्थमिति सिद्धम् । क्यात्यन्तराणां
 दूषणानि तैस्तैर्वादिभिरेव प्रपञ्चितानीति न तत्र यत्नः क्रियते । अथ-
 वा किमनेन बहुनोपपादानप्रकारेण । प्रत्यक्षानुमानागमाख्यं प्रमाणजा-
 तमागमगम्यं च निरस्तनिखिलदोषगन्धमनश्चिक्रातिशयासंख्येयक-
 ल्याणगुणगणं सर्वज्ञं सत्यसङ्कल्पं परं ब्रह्माभ्युपगच्छतां किं न सेत्स्य-
 ति । किं नोपपद्यते । भगवता हि परेण ब्रह्मणा क्षेत्रज्ञपुण्यपापानुगुणं
 तद्भोग्यत्वायाखिलं जगत्सृजता सुखदुःखोपेक्षाफलानुभवानुभाव्याः
 पदार्थास्सर्वसाधारणानुभवविषयाः, केचन तत्तत्पुरुषमात्रानुभवविष-
 यास्तत्तत्कालावसानास्तथातथाऽनुभाव्यास्सृज्यन्ते । तत्र बाध्य-
 बाधकभायस्सर्वानुभवविषयतया तद्ग्रहिततया चोपपद्यत इति सर्वं
 समञ्जसम् ॥

(अविद्यापरत्वेन परीतध्रुतिनिर्वाहः)

यत्पुनस्सदसदनिर्वचनीयमग्नान् ध्रुतिसिद्धमिति, तदसन्

१ “अनृतेन हि प्रत्यूढाः” इत्यादिष्वनृतशब्दस्यानिर्वचनीयानभि-
धायित्वात् । अनृतेतरविषयो ह्यनृतशब्दः । अनृतमिति कर्मवाचि ।
२ “अनृतं पियन्तौ” इतिवचनान् । अनृतं—कर्मकलाभिसंधिरहितं
परमपुरुषाराधनवेपं तत्प्राप्तिकलम् । ३ अतः तद्व्यतिरिक्तं सांसारिक-
फलं कर्मानृतं ब्रह्मप्राप्तिधिरोधि ४ “एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति अनृतेन
हि प्रत्यूढाः” इति वचनात् ॥

५ “नासदासांशो सदासोत्” इत्यत्रापि सदसच्छब्दौ चिद्व-
चिद्व्यपिविषयी । उत्पत्तिवैलायां सत्यच्छब्दाभिहितयोश्चिद्व्यपि-
भूतयोर्वस्तुनोरप्ययकाले अचित्समष्टिभूतं तमश्शब्दाभिधेयं वस्तुनि
प्रलयप्रतिपादनपरत्वात्स यावत्स्य । नात्र कस्य चित्सदसदान्वयच-
नीयतोच्यते; सदसतोः कालविशेषे असद्भावमात्रवचनात् । अतः
तमश्शब्दाभिहितस्याचित्समष्टित्वं ध्रुत्यन्तरादवगम्यते—६ “अध्यक्त-
मक्षरे लीयते । अक्षरं तमसि लीयते” इति । सत्यम् तमश्शब्देना-
चित्समष्टिरूपायाः प्रकृतेस्सूक्ष्मावस्थोच्यते । तस्यास्तु ७ “मायां तु
प्रकृतिं विद्यात्” इति मायाशब्देनाभिधानादन्यवचनीयत्वमिति चेत् ;
नैतदेवम्—मायाशब्दस्यानिर्वचनायवाचित्वमिति चेत् न दृष्टमिति । मायाश-
ब्दस्य मिथ्यापर्यायत्वेनानिर्वचनायवाचित्वमिति चेत् ; तदपि नास्ति;
न हि सर्वत्र मायाशब्दो मिथ्याविषयः; आसुरराक्षसास्त्रादिषु सत्ये-
ष्वेव मायाशब्दप्रयोगात् । यथोक्तम्—

८ “तेन मायासहस्रं तच्छम्बरस्याऽशुगामिना ।

बालस्य रक्षता देहः ६ मैकैकशयेन सूक्ष्मितम् ॥” इति ॥

अतो मायाशब्दो विचित्रार्थसर्गकराभिधायी । प्रकृतेष्व माया-
शब्दाभिधानं विचित्रार्थसर्गकरत्वादेव । १० “अस्मान्मायी सृजने

१ छा० द प्र० ३ ख० २ । २ कठ० १ अ० ३ बह्वी० १ पा० । ३ अतस्त०
पा० । ४ छा० द प्र० ३ ख० १ । ५ यजु० २ अष्टकं द प्र० ६ अनु० ।
६ सुबाल० २ ख० । ७ श्वेताश्वतर० ४ अ० १० । ८ विष्णु० पु० १ अ०
१६ अ० २० श्लो० । ९ मैकैकत्र निपू० पा० । १० श्वेताश्वतरः ४ अ० ६ ।

विभ्वमेतत्तस्मिन्नान्यो मायया सन्निरुद्धः"-इति मायाशब्दवाच्यायाः प्रकृतेर्विचित्रार्थसर्गकरत्वं दर्शयति । परमपुरुषस्य च तद्वत्तामात्रेण मायित्वमुच्यते, नास्त्वनेन । जीवस्यैव हि मायया निरोधश्भूयते । "तस्मिन्नान्यो मायया सन्निरुद्धः" इति, १ अनादिमायया सुतो यदा जीवः प्रयुध्यते " इति च । २ " इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते " इत्यत्रापि विचित्राशक्तयोऽभिधीयन्ते । अत एव हि ३ "भूरि त्वष्ट्रेव राजति " इत्युच्यते । न हि मिथ्याभिभूतः कश्चिद्विराजते । ४ "मम माया दुरत्यया " इत्यत्रापि गुणमयीति चचनात्सैव त्रिगुणात्मिका प्रकृतिश्च्यत इति न धृतिभिस्सदसदनिर्वचनीयाज्ञानप्रतिपादनम् ॥

नाप्येक्योपदेशानुपपत्त्या; नहि १ " तत्त्वमसि " इति जीव-परयोरैक्योपदेशे सति सर्वज्ञे सत्यसङ्कल्पे सकलजगत्सर्गस्थितिविना-शहेतुभूतं तच्छब्दावगते प्रकृतं ब्रह्मणि विरुद्धाज्ञानपरिकल्पनाहेतुभूता काचिदप्यनुपपत्तिर्द्रष्टव्यते । ऐक्योपदेशस्तु 'त्यं' शब्देनापि जीवशरीर-कस्य ब्रह्मण एवाभिधानादुपपन्नतरः । ६ " अनेन जावेनाऽत्मना-ऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि " इति सर्वस्य वस्तुनः परमात्म-पर्यन्तस्यैव हि नामरूपभाक्त्वमुक्तम् । अतो न ब्रह्माज्ञानपरिकल्पनम् ॥

(स्मृतिपुराणानामविद्यापरत्यनिरासः)

इतिहासपुराणयोरपि न ब्रह्माज्ञानवादः कचिदपि दृश्यते । ननु ७ " उयोतीषि विष्णुः " इति ब्रह्मैकमेव तत्त्वमिति प्रतिज्ञाय ८ " ज्ञानस्वरूपो भगवान्यतोऽसौ " इति शैलान्ध्रिधरादिभेदभिन्नस्य जगतो ज्ञानैकस्वरूपब्रह्माज्ञानविजृम्भितत्वमभिधाय ९ " यदा तु शुद्धं निजकूपि " इति ज्ञानस्वरूपस्यैव ब्रह्मणः स्वस्वरूपावस्थितिबेलायां वस्तुमेवामावर्शनेनाज्ञानविजृम्भितत्वमेव स्वीकृत्य १० " वस्तुर्वास्ति

१ मायस्वरूपोपनिषद् २ ख० २१ । २ बृहदारण्यक ४ अ० ६ प्रा० १६ ।

३ । ४ गीता ७ अ० १४ श्लो० । ५ छा० ६ प्र० ८ ख० ७ पा० । ६ छा०

६ प्र० ३ ख० २ पा० । ७, ८, ९, १० वि० पु० अ० २ अ० १२ ।

किं १ "महो घटत्वम्" इति श्लोकत्रयेन जगदुपलब्धिप्रकारे-
णापि वस्तुभेदानामसत्यत्वमुपपाद्य २ "तस्माच्च विज्ञानमृते" इति
प्रतिज्ञातं ब्रह्मव्यतिरिक्तस्यासत्यत्वमुपसंक्षेप्य ३ "विज्ञानमेकम्"
इति ज्ञानस्वरूपे ब्रह्मणि भेददर्शननिमित्ताज्ञानमूलं निजकर्मवैति स्फु-
टोक्त्य ४ "ज्ञानं विशुद्धम्" इति ज्ञानस्वरूपस्य ब्रह्मणः स्वरूपं
विशोध्य ५ "सद्भावाच्च एवं भवतो मयोक्तः" इति ज्ञानस्वरूपस्य
ब्रह्मण एव सत्यत्वं नान्यस्य, अन्यस्य चासत्यत्वमेव; तस्य भुवन-
देस्सत्यत्वं व्यावहारिकमिति तत्त्वं तद्योपदिष्टमिति ह्युपदेशो दृश्यते ॥

नैतदेवम् ; अत्र भुवनकोशस्य विस्तोर्णं स्वरूपमुक्त्या, पूर्वम-
नुक्तं रूपान्तरं संक्षेपतः ६ "भूयताम्" इत्यारभ्याभिधीयते ।
चिद्विचिन्मिथे जगति चिदंशो बाह्यमनसागोचरस्वसंवेद्यस्वरूपभेदो
ज्ञानैकाकारतया अस्पृष्टप्राकृतभेदोऽविनाशित्वेनास्तिशब्दवाच्यः । अचि-
दंशस्तु चिदंशकर्मनिमित्तपरिणामभेदो विनाशीति नास्तिशब्दाभि-
धेयः । उभयं तु परब्रह्मभूतवासुदेवशरीरतया तदात्मकमित्येतद्वरूपं
संक्षेपेणात्राभिहितम् ॥

तथाहि—

७ "यदम्बु वैष्णवः कायस्ततो विप्र वसुन्धरा ।

पद्माकारा समुद्धृता पर्वताभ्याविसंयुता ॥"

इत्युम्बुनो विष्णोश्शरीरत्वेनाभ्युपरिणामभूतं ब्रह्माण्डमपि
विष्णोः कायः, तस्य च विष्णुरात्मेति सकलध्रुतिगततादात्म्योप-

१, २, ३, ४, ५ वि० पु० अं० २ अ० १२ श्लो० ३०, ३८, ३९, ४०, ४१,
४२, ४३, ४४, ४५ ।

* 'एषः' इतिपा० 'एषो भवतः' इतिपाठे त्वार्पत्वान्न मुपोलोपाभावः,
इति विष्णुविहीये ।

६ वि० पु० अं० २ अ० १२ श्लो० ३६ । ७ वि० पु० अं० २ अ० १२
श्लो० ३० ।

देशोपवृंहणरूपस्य सामानाधिकरण्यस्य “ ज्योतींषि विष्णुः ”
 इत्यारभ्य वक्ष्यमाणस्य शरीरात्मभावायैव निबन्धनमित्याहुः । अस्मिन्
 शास्त्रे पूर्वमप्येतदसंशुद्धम् — १ “ तानि सर्वाणि तद्वपुः ” २ “ तत्सर्वं
 वै हरेस्तनुः ” ३ “ स एव सर्वभूतात्मा विभ्वरूपो यतोऽध्ययः ”
 इति । तदिदं शरीरात्मभावायत्तं तादात्म्यं सामानाधिकरण्येन व्यप-
 दिश्यते “ ज्योतींषि विष्णुः ” इति । अत्रास्त्यात्मकं नास्त्यात्मकं
 च जगदन्तर्गतं वस्तु विष्णोः कायतया विष्ण्वात्मकमित्युक्तम् ।
 इदमस्त्यात्मकम्, इदं नास्त्यात्मकम्, अस्यच नास्त्यात्मकत्वे हेतु-
 रयमित्याह — “ ज्ञानस्वरूपो भगवान्यतोऽसौ ” इति । अशेषक्षेत्रज्ञा-
 त्मनाऽवस्थितस्य भगवतो ज्ञानमेव स्वाभाविकं रूपम् । न देवमनु-
 प्यादिवस्तुरूपम् । यत एवम्, तत एवाचिद्वस्त्वुप्यप्यशैलाब्धि-
 धरादयश्च तद्विज्ञानविजृम्भिताः; तस्य ज्ञानैकाकारस्य सतो देवाद्या-
 कारेण स्वात्मवैविध्यानुसंधानमूलाः देवाद्याकारानुसंधानमूलकर्म-
 मूला इत्यर्थः । यतश्चाचिद्वस्तु क्षेत्रज्ञकर्मानुगुणपरिणामास्पदं, ततस्त-
 ज्ञास्तिशब्दाभिधेयम्, इतरदस्तिशब्दाभिधेयमित्यर्थादुक्तं भवति ।
 तदेव चिद्वृणोति “ - यदा तु शुद्धं निजरूपि ” इति । यदेतन् ज्ञानैका-
 कारमात्मयस्तु देवाद्याकारेण स्वात्मनि वैविध्यानुसंधानमूलसर्वकर्म-
 क्षयाभिर्दोषं परिशुद्धं निजरूपि भवति, तदा देवाद्याकारेणैकीकृत्या-
 त्मकल्पनामूलकर्मफलभूतास्तद्गोचार्था वस्तुषु चरतुमेवा न भवन्ति ।
 ये देवादिषु वस्तुष्व्यात्मतयाभिमानेषु भोग्यभूता देवमनुष्यशैलाब्धि-
 धरादिवस्तुमेवाः; ते तन्मूलभूतकर्मसु विनष्टेषु न भवन्तीत्यचिद्व-
 स्तुनः कादाचित्कावस्थाविशेषयोगितया नास्तिशब्दाभिधेयत्वम्,
 इतरस्य सर्वदा निजसिद्धज्ञानैकाकारत्वेन अस्तिशब्दाभिधेयत्वमित्यर्थः ।
 प्रनिक्षणमन्यथाभूततया कादाचित्कावस्थायोगिनोऽचिद्वस्तुनो नास्ति-
 शब्दाभिधेयत्वमेवेत्याह — “ वस्त्यस्ति किम् ” इति । अस्तिशब्दाभि-

१, २ वि० पु० अ० १ अ० २२ श्लो० ८६, ३८ । ३ वि० पु० अ० १
 अ० २ श्लो० ६६ ।

धेयो ह्यादिमध्यपर्यन्तहीनस्सततैकरूपः पदार्थः, तस्य कदाचिदपि नास्तिबुद्ध्यनर्हत्वात् । अचिद्वस्तु किञ्चित् कचिदपि तथा भूतं न दृष्टव्यम् । ततः किमित्यत्राह—१“यद्यान्यथात्वम्” इति यद्वस्तु प्रतिक्षणमन्यथात्वं याति ; तदुत्तरोत्तरावस्थाप्राप्तया पूर्वपूर्वावस्थां जहातीति तस्य पूर्वार्थस्योत्तरावस्थायां न प्रतिसंधानमस्ति । अतस्सर्वदा तस्य नास्तिशब्दाभिधेयत्वमेव । तथा ह्युपलभ्यत इत्याह—“मही घटत्वम्” इति । स्वकर्मणा देयमनुष्यादिभावेन स्तिमितात्मनि-ध्यैस्वभोग्यभूतमचिद्वस्तु प्रतिक्षणमन्यथाभूतमालक्ष्यते—अनुभूयत इत्यर्थः । एवं सति किमप्यचिद्वस्तुस्तिशब्दार्हगादिमध्यपर्यन्तहीनं सततैकरूपमालक्षितमस्ति किम् ? न ह्यस्तीत्यभिप्रायः । यस्मादेवम्, तस्मात् ज्ञानस्वरूपात्मव्यतिरिक्तमचिद्वस्तु कदाचित्कचित् केवलास्ति-शब्दवाच्यं न भवतीत्याह—“तस्मान्न विज्ञानमृते” इति । आत्मा तु सर्वत्र ज्ञानैकाकारतया देवादिभेदप्रत्यनीकस्वरूपोऽपि देवादिशरीरप्र-वेशहेतुभूतस्वकृतविधिधर्ममूलदेवादिभेदमिज्ञात्मबुद्धिमिस्तेनतेन रू-पेण यदुधाऽनुसंहितइति तद्भेदानुसंधानं नात्मस्वरूपप्रयुक्तमित्याह—‘विज्ञानमेकम्’ इति ॥

आत्मस्वरूपं तु कर्मरहितम्, तत एव मलरूपप्रकृतिस्पर्शरहि-तम् । ततश्च तत्प्रयुक्तशोकमोहलोभाद्यशेषदेयगुणासङ्गि, उपचयाप-चयानर्हतयैकम्, तत एव सदैकरूपम् । तच्च वासुदेवशरीरमिति तदात्मकम्, अतदात्मकस्य कस्यचिदप्यभावादित्याह—“ज्ञानं विशु-द्धम्” इति । चिदंशस्सदैकरूपतया सर्वदाऽस्तिशब्दवाच्यः । अचिदं-शस्तु क्षणपरिणामित्वेन सर्वदा नाशगर्भइति सर्वदा नास्तिशब्दाभि-धेयः । एवंरूपचिदचिदात्मकं जगद्वासुदेवशरीरं तदात्मकमिति जग-द्याथात्म्यं सम्यगुक्तमित्याह—“सद्भाष एवम्” इति । अत्र ‘सत्यम्, असत्यम्’ इति “यदास्ति यदास्ति” इति प्रकान्तस्योपसंहारः । एत-ज्ञानैकाकारतया समम्, अशब्दगोचरस्वरूपभेदमेषाच्चिन्मिधं भुयना-धितं देयमनुष्यादिरूपेण सम्यगव्यवहारार्हभेदं यद्वर्तते; नत्र हेतुः

कर्मवैत्युक्तमित्याह—१“एतत्तु यत्” इति । तदेव विवृणोति—२“यज्ञः पशुः” * इति जगद्धायात्म्यज्ञानप्रयोजनं मोक्षोपाययतनमित्याह—३“यच्चैतत्” इति ॥

अत्र निर्विशेषे परे ब्रह्मणि तदाधये सदसदनिर्वचनीये चाज्ञाने, जगतस्तत्कल्पितधृत्वे चाऽनुगुणं किञ्चिदपि पदं न द्रव्यते । अस्ति-नास्तिशब्दाभिधेयं चिदचिदात्मकं कृत्स्नं जगत् परमस्य परेशस्य परस्य ब्रह्मणो विष्णोः कायत्वेन तदात्मकम् । ज्ञानैकाकारस्याऽत्मनो देवादिविविधाकारानुभवेऽचित्परिणामे च हेतुर्वस्तुयाथात्म्यज्ञानविरोधि क्षेत्रज्ञानां कर्मवैति प्रतिपादनात् अस्तिनास्तिसत्यासत्यशब्दानां च सदसदनिर्वचनीयवस्त्वभिधानासामर्थ्याच्च नास्त्यसत्यशब्दाव-स्तिसत्यशब्दविरोधिनौ । अतश्च ताभ्यामसत्त्वं हि प्रतीयते; नानिर्वचनीयत्वम् । अत्र चाचिद्वस्तुनि नास्त्यसत्यशब्दौ न तुच्छत्वमिध्या-त्यपरो प्रयुक्तौ; अपि तु विनाशित्यपरो । “वस्त्यस्ति किम्” “महो घटत्वम्” इत्यत्रापि विनाशित्वमेव ह्युपपादितम्; न निष्प्रमाणकत्वं, ज्ञानवाध्यत्वं वा; एकेनाकारेणैकस्मिन् कालेऽनुभूतस्य कालान्तरे परिणामविशेषेणान्यथोपलब्ध्या नास्तित्वोपपादनात् । तुच्छत्वं हि प्रमाणसंयन्धानर्हत्वं । बाधोऽपि यद्देशकालादिसम्बन्धितया यद-स्तीत्युपलब्धम्; तस्य तद्देशकालादिसम्बन्धितया नास्तीत्युपलब्धिः; न तु कालान्तरे, अनुभूतस्य कालान्तरे परिणामादिना नास्तीत्युपल-ब्धिः; कालभेदेन विरोधाभावात् । अतो न मिध्यात्वम् ॥

एतदुक्तं भवति—ज्ञानस्वपरूपात्मवस्तु आदिमध्यपर्यन्तहीनं सनतैकम्यरूपमिति सत्य एव सदाऽस्तिशब्दवाच्यम् । अचेतनं तु क्षेत्रज्ञभोग्यमूर्तं तत्कमानुगुणपरिणामि विनाशीति सर्वदा नास्त्यर्थ-गर्भमिति नास्त्यसत्य शब्दाभिधेयम्—इति ॥ यथोक्तम्—

१ वि. पु० २, १२, ४६. । २ वि. पु० २, १२ ४७. । ३ वि. पु० २, १२, ४६ ।

४ स्वे चानुगु० पा.

* यथा ‘पशुना यजेत’ इत्यत्र पशु प्राधान्येन ‘यज्ञः’ पशु शब्देनप्यवहिते, तथा चिदचिन्मिध्रे जगति ब्रह्मप्राप्त्यानाद्ग्रह्येति प्यवहारः ।

१“यत्तु कालान्तरेणापि नान्यसंप्रामुपैति वै ।

परिणामादिसंभूतां तद्वस्तु नृप तच्च किम् ॥”

२“अनाशी परमार्थश्च प्राज्ञैरभ्युपगम्यते ।

तत्तु न नास्ति न संदेहो नाशिद्रव्योपपादितम् ॥ इति ॥

देशकालकर्मविशेषापेक्षया अस्तित्वनास्तित्वयोगिनि वस्तुनि
केवलास्तित्वबुद्धिबोध्यत्वमपरमार्थ इत्युक्तम् । आत्मन एव केवलास्ति-
बुद्धिबोध्यत्वमिति स परमार्थ इत्युक्तम् । श्रोतुश्च मैत्रेयस्य—

४“विष्णवाधारं यथा चैतत्त्रैलोक्यं समवस्थितम् ।

परमार्थश्च मे प्रोक्तो यथाज्ञानं प्रधानतः ॥”

५ इत्यनुभाषणाच्च, “ज्योतींषि विष्णुः” इत्यादिसामानाधिकर-
ण्यस्याऽऽत्मशरीरभाव एव निबन्धनम् । चिदचिद्वस्तुनोऽस्तिनास्ति-
शब्दप्रयोगनिबन्धनं ज्ञानस्याकर्मनिमित्तस्याभाधिकरूपत्वेन प्राधान्यम् ;
अचिद्वस्तुनश्च तत्कर्मनिमित्तपरिणामित्वेनाप्राधान्यमिति प्रतीयते ॥

(निवर्तकानुपपत्तिः)

यदुक्तं—निर्विशेषब्रह्मविज्ञानादेवाविद्यानिवृत्तिं घटन्ति धृतयः—
इति । तद्वस्तु, ६“वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम् । आदित्यवर्णं तमसः
परस्तात् । तमेवं चिद्वानमृत इह भवति । नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय”
७“सर्वे निमेषा जघिरे विद्युतः पुरुषादधि” ८“न तस्येशो कश्चन तस्य
नाम ब्रह्मशः” ९“य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति” इत्याद्यनेकवाक्य-

१ वि० पु० अ० २ अ० १३, श्लो० १०० । २ वि० पु० अ० २ अ० १४ श्लो० २४ ।
३ नाशि ० पा० । ४ वि० पु० अ० २ अ० २ श्लो० २ । ५ इत्याद्यनु पा० ।
६ तैत्तिरीयारण्यके० ब्रह्ममेवे० पुरुषसूक्तम्० ३. १२. १३ महानाराणोपनिषद्विष
४ अ० । २. ३. ४ तैत्तिरीयारण्यके० ६, प्रभे० नारायणानुवाके०
१, अनु० म ३ १० ।

निरोधात् । ब्रह्मणस्सविशेषत्वादेव सर्वाण्यपि वाक्यानि सविशेषज्ञा-
नादेव मोक्षं वदन्ति । शोधकवाक्यान् अपि सविशेषमेव ब्रह्म प्रतिपाद-
यन्तीत्युक्तम् ॥

(तस्यमस्यादि वाक्यार्थविचारः)

÷ तस्यमस्यादिवाक्येषु सामानाधिकरण्यं न निर्विशेषयस्त्वै-
क्यपरम्, तत्त्वंपदयोस्सविशेषब्रह्माभिधायित्वान् । तत्पदं हि सर्वज्ञं
सत्यसङ्कल्पं जगत्कारणं १ ब्रह्म परास्मृशति—“तदैक्षत बहु स्याम्”
इत्यादिषु तस्यैव प्रकृतत्वात् । तत्समानाधिकरणां त्वंपदं च अचिद्विशि-
ष्टजीवशरीरकं ब्रह्म प्रतिपादयति, प्रकारद्वयावस्थितैक्यस्तुंपरत्वात्सा-
मानाधिकरण्यस्य । प्रकारद्वयपरित्यागे प्रवृत्तिनिमित्तमेवासंभवेन
सामानाधिकरण्यमेव परित्यक्तं स्यात् ; द्वयोः पदयोर्लक्षणा च ।
'सोऽयं देवदत्तः' इत्यापि न लक्षणा, भूतवर्तमानकालसंबन्धितयै-
क्यप्रतीत्यविरोधात् । देशभेदविरोधश्च कालभेदेन परिहृतः । “तदैक्षत
बहु स्याम्” इत्युपक्रमविरोधश्च । एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञानं च
न घटते । ज्ञानस्वरूपस्य निरस्तनिखिलदोषस्य सर्वज्ञस्य समस्तकल्या-
णगुणात्मकस्याज्ञानं तत्कार्यानन्तापुरुषार्थाश्रयत्वं च न भवति । बाधा-

÷ इह बलु 'सर्वं सत्त्विदं ब्रह्म' अयमात्मा ब्रह्म, तत्त्वमसि, इत्यादि
सामानाधिकरणपदघटितं वाक्यार्थो विचार्यते ॥ तत्पदं प्रयोज्य विशेष्यताविशिष्टाभे-
दसम्बन्धावच्छिद्य प्रकारताप्रयोजकत्वं तेन समं सामानाधिकरण्यत्वं ; नीलमुत्पल-
मित्वाद्यौ, उत्पल पदं प्रयोज्य विशेष्यताविशिष्ट प्रकारताप्रयोजकत्वात् नीलपदस्यो-
त्पलपदेन सामानाधिकरण्योपपत्तिः । प्रकारतायां विशेष्यतावैशिष्ट्यं च स्वानव-
च्छेदकधर्मावच्छिद्यत्वं स्वमित्पितोभय सम्बन्धेन । घटोघट इत्यादौ सामाना-
धिकरण्यवत्तरणाय प्रथमसम्बन्धनिवेशः । एवं रीत्या येदान्तं वादावल्यां-
सर्वमवधेयम् ।

र्थत्वे च सामानाधिकरण्यस्य त्वत्तत्पदयोरधिष्ठानलक्षणा निवृत्तिलक्षणा चेति लक्षणादयस्त एव दोषाः ॥

इयांस्तु विशेषः—नेदं रजतमिति यद्वप्रतिपन्नस्यैव बाधस्या-
गत्या पारिकल्पनम्; तत्पदेनाधिष्ठानानिरेकिधर्मानुपस्थापनेन बाधानु-
पपत्तिश्च । अधिष्ठानं तु प्राक्तिरोहितमतिरोहितस्वरूपं तत्पदेनोपस्था-
प्यत इति चेन्न, प्रागधिष्ठानाप्रकाशे तदाश्रयभ्रमबाधयोरसंभवान् ।
भ्रमाश्रयमधिष्ठानमतिरोहितमिति चेत्; तदेवाधिष्ठानस्वरूपं भ्रमयि-
रोधीति तत्प्रकाशे सुतरां न तदाश्रयभ्रमबाधौ । अतोऽधिष्ठानानिरे-
किपारमार्गिकधर्मतत्तिरोधानानभ्युपगमे भ्रान्तियार्थी दुरुपपादौ ।
अधिष्ठाने हि पुरुषमात्राकारे प्रतीयमाने तदतिरेकिणि पारमार्थिके
राजत्वे तिरोहिने सत्येय व्याधत्वभ्रमः । राजत्वोपदेशेन च तद्विवृत्ति-
र्भवति; नाधिष्ठानमात्रोपदेशेन; तस्य प्रकाशमानत्वेनानुपदेश्यत्वात्;
भ्रमानुपमर्दित्वाच्च ॥

जीवशरीरकजगत्कारणब्रह्मपरत्वे मुख्यवृत्तं पदद्वयम् । प्रकाश-
द्वयविशिष्टैकवस्तुप्रतिपादनेन सामानाधिकरण्यं च सिद्धम् । निरस्त-
निविलिदोपस्य समस्तकल्याणगुणात्मकस्य ब्रह्मणो जीवान्तर्यामित्व-
मप्यैश्वर्यमपरं प्रतिपादितं भवति । उपक्रमानुकूलता च । । एकवि-
ज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञोपपत्तिश्च; सूक्ष्मचिदचिद्वस्तुशरीरस्यैव ब्रह्मण-
स्स्थूलचिदचिद्वस्तुशरीरत्वेन कार्यत्वात् २ “तमीश्वराणां परमं महेश्व-
रम्” ३ “पराऽस्य शक्तिर्विविधैव ध्रुवने” ४ “भगवन्पाप्मा” सत्य-
कामसत्यसङ्कल्पः” इत्यादिश्रुत्यन्तराविरोधश्च ॥

“तत्त्वमसि” इत्यत्रोद्देश्योपादेयविभागः कथमिति चेत्;

नात्र किञ्चिदुद्दिश्य किमपि विधीयते; १“पेतदात्म्यमिदं सर्वम्” इत्यनेनैव प्राप्तवान् । अप्राप्ते हि शास्त्रमर्थवत् । इदं सर्वमिति सजीवं जगन्निर्दिश्य पेतदात्म्यमिति तस्यैव आत्मेति तत्र प्रतिपादितम् । तत्र च हेतुरुक्तः— २“संभूलास्तोम्येमास्सर्वाः प्रजास्सदायतनास्सत्प्र-
तिष्ठाः” इति; ३“सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्तः” इति चत् ॥

तथा धृत्यन्तराणि च ब्रह्मणस्तद्व्यतिरिक्तस्य चिदचिद्वस्तुनञ्च शरीरात्मभावमेव तादात्म्यं वदन्ति—४“अन्तः प्राणश्शशास्ता जनानां सर्वात्मा” ५“यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति स त आत्माऽन्तर्या-
म्यमृतः” ६“य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्या-
ऽत्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः” ७“यःपृथिवीमन्तरे संचरन्” इत्यादिभ्यः ८“यस्य मृत्युश्शरीरम् । यं मृत्युर्न वेद । एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः” ९“तत्सुप्ता । तदेवानुप्राविशत् । तदनुप्रविश्य । सद्य त्यक्त्वाभवत्” इत्यादौनि । अत्रापि—१०“अनेन जीवेनाऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि इति ब्रह्मात्मकजीवानुप्रवेशेनैव सर्वेषां वस्तुत्वं शब्दवाच्यत्वं च प्रतिपादितम् । तदनुप्रविश्य । सद्य त्यक्त्वाभवत्” इत्यनेनैकाध्यात्मिजोवस्यापि ब्रह्मात्मकत्वं ब्रह्मानुप्रवेशादेवेत्यवगम्यते । अतश्चिदचिदात्मकस्य सर्वस्य वस्तुजातस्य ब्रह्मतादात्म्यमात्मशरीर-
भावादेवेत्यवगम्यते । तस्मात् ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य कृत्स्नस्य तच्छरीत्वेनैव वस्तुत्वात्तस्य प्रतिपादकोऽपि शब्दस्तत्पर्यन्तमेव स्वार्थमभिदधाति । अतस्सर्वशब्दानां लोकव्युत्पत्त्यवगततत्त्वत्पदार्थविशिष्टब्रह्माभिधायित्वं सिद्धमिति “पेतदात्म्यमिदं सर्वम्” इति प्रतिज्ञातार्थस्य “तत्त्वमसि” इति सामानाधिकरण्येन विशेष उपसंहारः ॥

१, २ छा० ६ प्र० ८ ख० ७, ४ वा । ३ छा० ३ प्र० १४ ख० १ वा० ।
४ आरण्यके० ३ प्र० ११ अनु० २० पं० । ५ बु० २ अ० ७ भा० ३ ।
६ बु० २ अ० ७ भा० २२ विज्ञानस्थाने माध्यन्दिनपाठः । ७ सुबालोपनिषद् ०
८ ख० । ९ तै० ब्रा० ६ अनु० २ । १० छा० ६ प्र० ३ ख० २ ।

अतो निर्विशेषवस्तुवैक्यवादिनो भेदाभेदवादिनः केवलभेदवा-
दिनश्च वैयधिकरण्येन सामानाधिकरण्येन च ब्रह्मात्मभावोपदेशा-
स्सर्वे परित्यक्तास्स्युः । एकस्मिन्वस्तुनि कस्य तादात्म्यमुपादिश्यते ?
तस्यैवेति चेत् ; १ तत्स्यवाक्येनैवावगतमिति न तादात्म्योपदेशाय-
सेयमस्ति किञ्चित् । कल्पितभेदनिरसनमिति चेत् ; तत् न सामाना-
धिकरण्यतादात्म्योपदेशावसेयमित्युक्तम् । सामानाधिकरण्यं तु
ब्रह्मणि प्रकारद्वयप्रतिपादनेन विरोधमेवाऽवहेत् । भेदाभेदवादे तु
ब्रह्मण्येवोपाधिसंसर्गात्तत्प्रयुक्ता जीवगता दोषा ब्रह्मण्येव प्रादुष्यु-
रिति निरस्तनिखिलदोषकल्याणगुणात्मकब्रह्मात्मभावोपदेशा हि विरो-
धादेव परित्यक्तास्स्युः । स्वाभाविकभेदाभेदवादेऽपि ब्रह्मणस्स्यत एव
जीवभावाभ्युपगमात् गुणवद्दोषाश्च स्वाभाविका भवेयुरिति निर्दोष-
ब्रह्मतादात्म्योपदेशो विरुद्ध एव । केवलभेदवादिनां चात्यन्तभिक्षयोः
केनापि प्रकारेणैक्यासंभवादेव ब्रह्मात्मभावोपदेशा न संभयन्तीति
सर्ववेदान्तपरित्यागस्स्यात् ॥

(भर्पर्यवसानवृत्तिनिरूपणम्)

निखिलोपनिषत्प्रसिद्धं कृत्स्नस्य ब्रह्मशरीरभावमातिष्ठमानैः
कृत्स्नस्य ब्रह्मात्मभावोपदेशास्सर्वे सम्यगुपपादिता भवन्ति । जानिगु-
णयोरिव द्रव्याणामपि शरीरभावेन २ विशेषणत्वेन 'गौरवो मनुष्यो
देवो जातः पुरुषः कर्मभिः' इति सामानाधिकरण्यं लोकवेदयोर्मु-
ख्यमेव दृष्टव्यम् । जातिगुणयोरपि द्रव्यप्रकारत्वमेव 'खण्डो गौः'
'शुक्रः पटः' इति सामानाधिकरण्यनियन्धनम् । मनुष्यत्वादिवि-
शिष्टपिण्डानामप्यात्मनः प्रकारतयैव पदार्थत्वात् 'मनुष्यः पुरुष-
प्यण्डो योपिदात्मा जातः' इति सामानाधिकरण्यं सर्वत्रानुगतमिति
प्रकारत्वमेव सामानाधिकरण्यनियन्धनम्, न परस्परव्यावृत्ता
जात्यादयः । स्वनिष्ठानामेव हि द्रव्याणां कदाचित् कचिद्द्रव्यविशेष-
णत्वे मत्सर्थायप्रत्यगो दृष्टः, 'दण्डो कुण्डली' इति; न पृथक्
प्रतिपत्तिस्थित्यनर्हाणां द्रव्याणाम्; तेषां विशेषणत्वं सामानाधिक-
रण्यावसेयमेव ॥

यदि 'गौरवो मनुष्यो देवः पुरुषो योषित् पण्ड आत्मा कर्मभिर्जातः' इत्यत्र 'खण्डो मुखो गौः' 'शुक्रः पटः' 'कुष्णा पटः' इति जाति गुणयदात्मप्रकारत्वं मनुष्यादिशरीराणामिष्यते; तर्हि जातिव्यक्त्योरिव प्रकारप्रकारिणोऽशरीरात्मनोरपि नियमेन सह प्रतिपत्तिरस्यात्; न चैवं दृश्यते। नहि नियमेन गोत्वादियदात्माश्रयतयैवाऽत्मना सह मनुष्यादिशरीरं पश्यन्ति। अतो 'मनुष्य आत्मा' इति सामानाधिकरण्यं लाक्षणिकमेव। नैतदेवम्; मनुष्यादिशरीराणामप्यात्मैकाश्रयत्वम्, तदेकप्रयोजनत्वम्, तत्प्रकारत्वं च जात्यादितुल्यम्। आत्मैकाश्रयत्वमात्मविश्लेषे शरीरविनाशादवगम्यते। आत्मैकप्रयोजनत्वं च तत्कर्मफलभोगार्थतयैव सञ्जावात्। तत्प्रकारत्वमपि 'देवो मनुष्यः' इत्यात्मविशेषणतयैव प्रतीतेः। एतदेव हि गवादिशब्दानां व्यक्तिपर्यन्तत्वे हेतुः। एतत्सम्भावविरहादेव वण्डकुण्डलादीनां विशेषणत्वे 'वण्डो, कुण्डली' इति मत्वर्थीयप्रत्ययः। देवमनुष्यादिपिण्डानामात्मैकाश्रयत्वतदेकप्रयोजनत्वतत्प्रकारत्वस्यभावात् 'देवो मनुष्य आत्मा' इति लोकवेदयोस्सामानाधिकरण्येन व्यवहारः जातिव्यक्त्याऽनियमेन सह प्रतीतिक्रमयोऽज्ञाधुपत्यात्। आत्मनस्त्यक्त्वाच्चक्षुषा शरीरग्रहणवेलायामात्मानं गृह्यते। पृथग्रहणयोग्यस्य प्रकारतैकस्वरूपत्वं बुध्दमिति मायोचः; जात्यादिपक्षदेकाश्रयत्वतदेकप्रयोजनत्वतः विशेषणत्वेऽशरीरस्यापि तत्प्रकारतैकस्वभावत्वावगमात्। सहोपलम्भनियमरत्वेकसामग्रीयेष्टत्वनिवन्धन इत्युक्तम्। यथा चक्षुषा पृथिव्यादेर्गन्धरसादिसम्बन्धित्वं स्वाभाविकमपि न गृह्यते; एवं चक्षुषा गृह्यमाणं शरीरमात्मप्रकारतैकस्वभावमपि न तथा गृह्यते; आत्मग्रहणे चक्षुषस्ताम्र्यामायान् नैतायता शरीरस्य तत्प्रकारत्वस्यभावविरहः। तत्प्रकारतैकस्वभावत्वमेव सामानाधिकरण्यनिबन्धनम्। आत्मप्रकारतया प्रतिपादनसमर्थस्तु शब्दसहस्रं प्रकारतया प्रतिपादयति ॥

ननु च शाब्देऽपि व्यवहारे शरीरशब्देन शरीरमात्रं गृह्यत इति नामपर्यन्तता शरीरशब्दस्य। नैवम्; आत्मप्रकारभूतस्यैव शरीरस्य पदार्थविवेकप्रदर्शनाय निरूपणाभिष्कर्षकशब्दोऽयम्; यथा 'गोत्वं शुक्रमाकृतिगुणः' इत्यादिशब्दाः ॥

अतो गद्यादिशब्दयद्देवमनुष्यादिशब्दा आत्मपर्यन्ताः । एवं
देवमनुष्यादिपिण्डविशिष्टानां जीवानां परमात्मशरोरतया तत्प्रकार-
त्वात् जीवात्मयाचिनःशब्दाः परमात्मपर्यन्ताः । अतः परस्य ब्रह्मणः
प्रकारतयैव चिदचिद्वस्तुनः पदार्थत्वमिति तत्सामानाधिकरण्येन
प्रयोगः । अयमर्थो वेदार्थसंग्रहे समर्थितः ।

(मतान्तरेषु सामानाधिकरण्यानुपपत्तिः)

इदमेव शरीरात्मभावलक्षणं तादात्म्यम् १ “आत्मेति तूपग-
च्छन्ति ब्राह्मन्ति च” इति वक्ष्यति; २ “आत्मेत्येव तु गृहीयात्”
इति च वाक्यकारः ॥

(संग्रहेणसिद्धास्तोपन्यासः)

अत्रदं तत्त्वम्—अचिद्वस्तुनः, चिद्वस्तुनः परस्य च ब्रह्मणो
भोग्यत्वेन भोक्तृत्वेन चेशितृत्वेन च स्वरूपविवेकमाहुः काश्चन, धृतयः—
३ “अस्माग्मायी सृजते विभ्वमेतत्तस्मिन्भ्रान्त्यो मायया सशिरुद्धः”
४ “मायां तु प्रकृतिं त्रिगुणमायिनं तु महेभ्वरम्” ५ “क्षरं प्रधानम-
सृताक्षरं हरः क्षरायाम्नायीशने देव एकः”; अमृताक्षरं हर इति
भोक्ता निर्दिश्यते. प्रधानमात्मनो भोग्यत्वेन हरतीति हरः । ६ “स
कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनितान चाधिपः”
७ “प्रधानक्षेत्रप्रपत्तिर्गुणेशः” ८ “प्रति विभ्वस्याऽत्मेभ्वरं शाश्वतं
शिवमच्युतम्” ९ “ज्ञासौ ह्याग्नजायीशानीशौ” १० “नित्यो नित्यानां
चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्” ११ “भोक्ता
भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा” १२ “तयोरन्यः पिप्पलं स्वाह्वयनश्न-

१ शरी० ४ अ० १ पा० ३ सू० । २ वृत्ति० । ३, ४ श्वे० ४ अ० ५-१० ।
५ श्वे० १ अ० १० । ६ श्वे० ६ अ० ६ । ७ श्वे० ६ अ० १६ । ८ तै०
नारायणे० ११ अनु० ३ पा० । ९ श्वे० १ अ० ६ । १० कठ० ५ बर्ही० १३।
११ श्वे० १ अ० १२ । १२ मु० ३ मु० १ अ० १ ।

अन्यो अभिचाकशीति ॥ १ ॥ पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्त-
तस्तेनामृतत्वमेति ॥ २ ॥ अजामेकां लोहितं शुक्लकृष्णां बह्वीं प्रजां
जनयन्तीं सरूपाम् । अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्त-
भोगामजोऽन्यः ॥ ३ ॥ समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति
मुष्यमानः । जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमोशमस्य महिमानमिति धीतशोकः ॥
इत्याद्याः ॥ स्मृतावपि—

- ४ ॥ अहङ्कारइतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ १ ॥
५ ॥ सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विस्ृजाम्यहम् ॥
प्रकृतिं स्वामषष्टम्य विस्ृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ २ ॥
६ ॥ मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिस्सूयते सचराचरम् ।
हेतुनाऽनेन कौन्तेय जगद्धि परिवर्तते ॥ ३ ॥
७ ॥ प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्वयनादी उभावपि ॥
८ ॥ मम योनिर्महदुग्रह तस्मिन् गर्भे ब्रह्माहम् ।
सम्भवस्सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ ४ ॥ इति ॥

जगद्योनिर्भूतं महत् ब्रह्म मदीयं प्रकृत्याख्यं भूतसूक्ष्ममचिद्वस्तु
यत्, तस्मिन्भूतनाख्यं गर्भं यत्संयोजयामि, ततो मत्कृताष्टद-
चित्संसर्गाद्देवादित्याद्यरान्तानामचिन्मिश्राणां सर्वभूतानां सम्भवो
भवतीत्यर्थः ॥

- १ खे० १ अ० ६ । २ तै० ६ प्र० नारायणे० । १० अनु० ५ । ३ खे० ४
अ० ७ । ४ गी० ७ अ० ४, ५ श्लो० । ५ गी० १ अ० ७, ८ श्लो० ।
६ गी० अ० ६ १० श्लो० । ७ गी० १३ अ० १६ श्लो० । ८ गी० १४ अ०
३ श्लो० ।

एवं भोक्तृभोग्यरूपेणावस्थितयोस्सर्वावस्थावस्थितयोश्चिदचिन्ताः
परमपुरुषशरीरतया तन्निर्वाण्यस्थेन तदपृथक्सिद्धिं परमपुरुषस्य
चात्मत्वमाहुः काश्चन श्रुतयः—१ “यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या
अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो
यमयति ” इत्यारभ्य २ “य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा
न वेद यस्याऽत्मा शरीरं यं आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मा-
ऽन्तर्याम्यमृतः ” इति । तथा—३ “यः पृथिवीमन्तरे सञ्चर-
न्यस्य पृथिवी शरीरं यं पृथिवी न वेद ” इत्यारभ्य ४ “योऽक्षर-
मन्तरे सञ्चरन्त्यस्याक्षरं शरीरं यमक्षरं न वेद यो मृत्युमन्तरे सञ्चर-
न्यस्य मृत्युशरीरं यं मृत्युर्न वेद एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपा-
प्मा विध्यो देव एको नारायणः ”; अत्र मृत्युशब्देन तमशशब्दवाच्यं
सूक्ष्मावस्थमचिद्वस्त्वभिधीयते; अस्यामेवोपनिषदि—५ “अव्यक्तम-
क्षरे ६ लीयते । अक्षरं तमसि ७ लीयते ” इति वचनात् । ८ “अन्तः
प्रविष्टश्लास्ता जनानां सर्वात्मा ” इति च ॥

एवं सर्वावस्थावस्थितचिदचिद्वस्तुशरीरतया तत्प्रकारः परम-
पुरुष एव कार्यावस्थकारणावस्थजगद्रूपेणावस्थित इतीममर्थं द्वाप-
यितुं काश्चन श्रुतयः कार्यावस्थं कारणावस्थं च जगत् स एवेत्याहुः—
६ “सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तदैक्षत बहु स्यां
प्रजायेयेति तत्तेजोसृजत ” इत्यारभ्य १० “सन्मूलास्सोम्येमास्सर्वाः
प्रजास्सदायतनास्सधृतिष्ठाः । पेतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा
तत्स्वमसि श्वेतकेतो ” इति । तथा ११ “सोऽकामयत । बहु स्यां
प्रजायेयेति । स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा । इदं सर्वमसृजत ”
इत्यारभ्य १२ “सत्यं जानृतं च सत्यमभवत् ” इत्याद्याः ॥

१ मृ० ५ अ० ७ प्रा० ३ । २ मृ० २ अ० ७ प्रा० विज्ञानस्थाने माध्यन्दिन-
पाठ० २२ । ३, ४ सुबाल० ७ ख० । ५ सुबाल० २ ख० । ६, ७ विलीयते
पा० । ८ बहुरारण्यके० ३ प्रश्ने० विसि० ११ अनु० २१ पं० । ९ छा० ६
प्र० २ ख० १ । १० छा० ६ प्र० ८ ख० ६ । ११ । १२ तै० ब्रा०
६ अनु० २-३ ।

अत्रापि भृत्यन्तरसिद्धिश्चिदचितोः परमपुरुषस्य च स्वरूप-
विचेकस्मारितः - १ “ हन्ताहमिमास्तिष्ठो देवता अनेन जीवेना-
ऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरणाणि ” इति,—“तत्सृष्ट्वा । तदे-
वानुप्राविशत् । तदनुप्रविश्य । सद्यत्यद्याभवत्.....विज्ञानं चाधि-
ज्ञानं च । सत्यं चानृतं च सत्यमभवत् ” इति च । “ अनेन जीवेना-
ऽत्मनाऽनुप्रविश्य ” इति जीवस्य ब्रह्मात्मकत्वं, “ तदनुप्रविश्य सद्य-
त्यद्याभवत् ” “ विज्ञानं चाधिज्ञानं च ” इत्यनेनैकाध्यात् आत्म-
शरीरभावनियन्धनमिति विज्ञायते । एवंभूतमेव नामरूपव्याकरणं
२ “ तद्धेदे तद्वाव्याकृतमासीत् । तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत् ” इत्य-
त्राप्युक्तम् । अतः कार्यावयवः कारणावयवश्च स्थूलसूक्ष्मचिदचिद्वस्तु-
शरीरः परमपुरुष एवेति कारणात्कार्यस्यानन्यत्वेन कारणविज्ञानेन
कार्यस्य ज्ञाततयैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं समोहितमुपपन्नतरम् ।
“ अहमिमास्तिष्ठो देवता अनेन जीवेनाऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे
व्याकरणाणि ” इति, “ तिष्ठो देवता ” इति सर्वमचिद्वस्तु निर्दिश्य
तत्र स्वात्मकजीवानुप्रवेशेन नामरूपव्याकरणवचनात् सर्वे वाचका-
शब्दाः ३ अन्निद्विशिष्टजीवविशिष्टपरमात्मन एव वाचका इति
कारणावयवरमात्मवाचिना शब्देन कार्यवाचिनशब्दस्य सामाना-
धिकरण्यं मुख्यवृत्तम् । अतः स्थूलसूक्ष्मचिदचित्प्रकारं ब्रह्मैव कार्यं
कारणं चेति ब्रह्मोपादानं जगत् । सूक्ष्मचिदचिद्वस्तुशरीरकं ब्रह्मैव
कारणमिति ॥

ब्रह्मोपादानत्वेऽपि संघातस्योपादानत्वेन चिदचितोर्ब्रह्मणश्च
स्वभावासङ्करोऽप्युपपन्नतरः । यथा शुक्लकृष्णरक्ततन्तुसंघातोपादा-
नत्वेऽपि चित्रपदस्य तत्तत्तन्तुप्रदेश एव शीकल्यादिसंबन्ध इति
कार्यावस्थायामपि न सर्वत्र घणसङ्करः, तथा चिदचिदाध्वरसंघातो-
पादानत्वेऽपि जगतः कार्यावस्थायामपि भोक्तृत्वभोग्यत्वनियन्तृ-

त्वाद्यसङ्करः । तन्तूनां पृथक्स्थितियोग्यानामथ पुरुषेच्छया कदाचि-
त्संहनानां कारणत्वं कार्यत्वं च । इतः तु चिदभितोऽस्सर्वावस्थयोः
परमपुरुषशरीरत्वेन तत्प्रकारतयेव पदार्थत्वात्तत्प्रकारः परमपुरुष-
स्सर्वदा सर्वशब्दवाच्य इति विशेषः । स्वभावभेदस्तदसङ्करश्च तत्र
चात्र च तुल्यः । एवं च सति परस्य ब्रह्मणः कार्यानुप्रवेशेऽपि
स्वरूपान्यथाभावाभावाद्यविकृतत्वमुपपन्नतरम् । स्थूलावस्थस्य नाम-
रूपविभागविभक्तस्य चिदचिद्वस्तुन आत्मतयाऽवस्थानात्कार्यत्वम-
प्युपपन्नतरम् । अवस्थागतरापत्तिरेव हि कार्यता ॥

निर्गुणवादाश्च परस्य ब्रह्मणो हेयगुणासम्बन्धादुपपद्यन्ते ।
१ “अपहतपाप्मा विज्ञरो विमृत्युविंशोको विजिघत्सोऽपिपासः”
इति हेयगुणान् प्रतिषिध्य “सत्यकामस्सङ्कल्पः” इति कल्याणगु-
णान्यिदधती इयं भुक्तिरेवान्यत्र सामान्येनावगतं गुणनिषेधं हेयगु-
णविषयं व्यवस्थापयति ॥

ज्ञानस्वरूपं ब्रह्मेतिवाद्वा सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेर्निखिलहेयप्रत्य-
नीककल्याणगुणाकरस्य ब्रह्मणस्स्वरूपं ज्ञानैकनिरूपणीयं २ स्वयंप्रका-
शतया ज्ञानस्वरूपं चैत्यभ्युपगमादुपपन्नतरः । ३ “यस्सर्वज्ञस्सर्व-
वित्” ४ “पराऽस्य शक्तिर्विविधैव ध्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबल-
क्रिया च” ५ “विज्ञातारमरे केन विजानीयात्” इत्यादिकाः ज्ञान-
त्वमावेदयन्ति; ६ “सर्वं ज्ञानम्” इत्यादिकाश्च ज्ञानैकनिरूपणीय-
तया स्वप्रकाशतया च ज्ञानस्वरूपताम् ॥

७ “सोऽकामयत बहू स्याम्” ८ “तद्वैश्वत बहू स्याम्”
९ “तन्नामरूपान्धं व्याक्रियत” इति ब्रह्मैव स्वसङ्कुलादिचित्र-

१ छा० ८ प्र० १ ख० ५ । २ स्वप्रकाश० पा० । ३ मु० १ ख० १, २ ।
४ खे० १ अ० ८ । ५ वृ० १ अ० २ प्र० १५ । ६ तै० ज्ञान० १
ब्र० १ । ७ तै० आ० १ अ० २ । ८ छा० १ प्र० २ ख० ३ ।
९ वृ० १ अ० ४ प्र० ७ ।

स्थिरभस्वरूपतया नानाप्रकारमवस्थितमिति तत्प्रत्यनीकाद्यद्वात्मक-
वस्तुनानात्वमनस्यमिति तत्प्रतिपिष्यते - १ "मृत्योस्स मृत्युमा-
प्नोति य इह नानेव पश्यति" २ "नेह नानाऽस्ति किञ्चन"
३ "यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति" यत्र त्वस्य
सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्तत्केन कं विजानीयात् " इत्यादिना ।
न पुनः "बहु स्यां प्रजायेय" इत्यादिभृतिसिद्धं स्वसङ्कल्पकृतं
ब्रह्मणो नानानामरूपभाक्त्वेन नानाप्रकारत्वमपि निपिष्यते । "यत्र
त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्" ४ इत्यादिनिषेधवाक्यादौ च तत्स्थापि-
तम् - ५ "सर्वं तं परादायोऽन्यत्राऽत्मनस्सर्वं चेद्" ६ "तस्य ह
वा एतस्य महतां भूतस्य निश्चसितमेतद्यद्भवेदो यजुर्वेदः"
इत्यादिना ॥

एवं चिदचिद्विधभराणां स्वभावमेवं स्वरूपमेवं च वदन्तानां
कार्यकारणभावं कार्यकारणयोरनन्यत्वं च वदन्तीनां सर्वासां श्रुतो-
नामविरोधः, चिदचितोः परमात्मनश्च सर्वदा शरीरात्मभावं शरीर-
भूतयोः कारणदशायां नामरूपविभागानर्हसूक्ष्मदशापत्तिं कार्यदशायां
च तदहंस्थूलदशापत्तिं वदन्तोभिश्श्रुतिभिरेव ज्ञायत इति ब्रह्माज्ञान-
वाद्स्थौर्गाधिकब्रह्मभेदवादस्यान्यस्याप्यपन्यायमूलस्य सकलश्रुतिवि-
रुद्धस्य न कथञ्चिदप्यवकाशो दृश्यते । चिदचिद्विधभराणां पृथक्स-
भावतया तत्तच्छ्रुतिसिद्धानां शरीरात्मभावेन प्रकारप्रकारितया
श्रुतिभिरेव प्रतिपन्नानां ध्रुत्यन्तरेण कार्यकारणभावप्रतिपादनं
कार्यकारणयोरैक्यप्रतिपादनं च ह्यविरुद्धम् । यथा - आग्नेयादीन्
पञ्चधागानुत्पत्तिवाक्यैः पृथगुत्पन्नान् ७ समुदायानुवादिवाक्यद्वयेन
समुदायद्वयमपान्नान् ८ " × दर्शः पूर्णमासाभ्याम् " इत्याधिकार-
वाक्यं कामिनः कर्तव्यतया विदधाति; तथा चिदचिद्विधभराण्विधिक-

१, २ कठ० ४ पृष्ठी ० १०-११ । ३ वृ० ४ अ० ४ ब्रा० १४ ।
४ इतिनि० पा० । ५ वृ० ४ अ० ४ ब्रा० ६ । ६ सुखाख० २ ख० वृ० ४
४-१० ६-२-११ । ७ समुदायानुवादिवाक्य० पा० । ८ कात्यायनश्रौतनसू०
४-२-४७ ।

× आग्नेयः, ऐन्द्रं दधि, ऐन्द्रं पयश्च (साध्याम्) ।

* आग्नेयः, अग्नि सोमीयः, उपांशुश्च ।

स्वरूपसमाधानं १ “क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशने
 देव एकः ” २ “पतिं विभ्यस्याऽऽत्मेभ्यरम ” ३ “आत्मा नारायणः
 परः ” इत्यादिवाक्यैः पृथक् प्रतिपाद्य ४ “यस्य पृथिवी शरीरम् ”
 ५ “यस्याऽऽत्मा शरीरम् ” ६ “यस्याव्यक्तं शरीरम् । यस्याक्षरं
 शरीरम् । एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको
 नारायणः ” इत्यादिभिर्वाक्यैश्चिद्विज्ञोस्त्ववावस्थाशस्त्रिनयोः परमा-
 त्मशरीरतां परमात्मनस्तदात्मनां च प्रतिपाद्य शरीरीभूतपरमात्मा-
 मिधायिभिस्तद्ब्रह्मात्मादिशब्दैः कारणावस्थः कार्यावस्थश्च परमात्मैक
 एवेति पृथक्प्रतिपन्नं वस्तुव्रित्तयं ७ “सदेव सोम्येदमग्र आसीत् ”
 ८ “चेतदात्म्यमिदं सर्वम् ” ९ “सर्वं खल्विदं ब्रह्म ” इत्यादिवाक्यं
 प्रतिपादयति । चिदचिद्वस्तुशरीरिणः परमात्मनः परमात्मशब्देना-
 मिधाने हि नास्ति विरोधः यथा मनुष्यपितृशरीरकस्याऽऽत्म-
 विशेषस्य ‘अयमात्मा सुखो’ इत्यात्मशब्देनाभिधान इत्यलमनि-
 विस्तरेण ॥

(निवृत्त्यनुपपत्तिः)

यत्पुनरिदमुक्तम्—ब्रह्मात्मैकत्वविधानेनैवाविद्यानिवृत्तियुक्ता-
 इति, तद्व्युक्तम् *, बन्धस्य पारमार्थिकत्वेन धाननिवर्त्यत्वाभावात्
 पुण्यापुण्यरूपकर्मनिमित्तदेवादिशरीरप्रवेशतत्प्रयुक्तसुखदुःखानुभय-
 रूपस्य बन्धस्य मिथ्यात्वं कथमिव शक्यते वक्तुम् । एवंरूपबन्धनि-
 वृत्तिर्भक्तिरूपाग्नोपासनप्रीतपरमपुरुषप्रसादलभ्येति पूर्वमेवोक्तम् ।
 भवदभिमतस्यैक्यज्ञानस्य यथावस्थितवस्तुविपरीतविषयस्य मिथ्या-
 रूपत्वेन बन्धविबुद्धिरेव फलं भवति—१० “मिथ्यैतदन्यद्ब्रह्म हि

* तत्त्वमस्यादि वाक्यानां शतशः भवत्येऽपि च ।

अहं पूर्वमहं पूर्वं विवादो प्रस्य वादिनाम् ॥

१ श्वे० १ अ० १० । २, ३ तै० नारायणे० ११ अनु० ३-४ वा० । ४ गु०
 २ अ० ७ भा० ३ । ५ गु० २ अ० ८ भा०-विज्ञानस्थाने माध्यन्दिनपाठ० २२ ।
 ६ सुभाष० ७ ख० । ७ छा० ६ प्र० २ ख० १ । ८ छा० ६ प्र० ८ ख० ७ ।
 ९ छा० ३ प्र० १४ ख० १ । १० वि० पु० २ अ० १४ अ० २० श्लो० ।

नैति तदुद्भव्यतां यतः " इतिशास्त्रात् । १ " उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः " २ " पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा " इति जीवात्मविसृज्जातीयस्य तदन्तर्यामिणो ब्रह्मणो ज्ञानं परमपुरुषार्थलक्षणमोक्षसाधनमित्यु-
पदेशाच्च ॥

अपिच ३ भवद्भिमत्तस्यापि निवर्तकज्ञानस्य मिथ्यारूपत्वा-
त्तस्य निवर्तकान्तरं श्रुत्यम् । निवर्तकज्ञानमिदं स्वविरोधि सर्वं
भेदजातं ४ निवर्त्य क्षणिकत्वात्स्थायमेव ५ नश्यतीतिचेन्न; तत्स्वरूप-
तदुत्पत्तिविनाशानां काल्पनिकत्वेन विनाशतत्कल्पनाकल्पकरूपा-
विद्याया निवर्तकान्तरमन्वेपणीयम् । तद्विनाशो ब्रह्मस्वरूपमेवेति चेत्;
तथा सति निवर्तकज्ञानोत्पत्तिरेव न स्यात्, तद्विनाशो तिष्ठति तदु-
त्पत्त्यसम्भवात् ॥

अपिच चिन्मात्रब्रह्मव्यतिरिक्तकृत्स्ननिषेधविषयज्ञानस्य कोऽयं
ज्ञाता ? अध्यासरूप इति चेत्, न; तस्य निषेध्यतया निवर्तकज्ञान-
कर्मत्वात् तत्कर्तृत्वानुपपत्तेः । ब्रह्म ६ स्वरूपमिति चेत् ; ब्रह्मणो
निवर्तकज्ञानं प्रति ज्ञातृत्वं किं स्वरूपम् ; उताध्यस्तम् । अध्यस्तं
चेत्, अयमध्यासस्तन्मूलाविद्यान्तरं च निवर्तकज्ञानाविषयतया
तिष्ठत्येव । निवर्तकज्ञानान्तराभ्युपगमे तस्यापि स्वरूपत्वात् ज्ञान-
पेक्षयाऽनवस्था स्यात् । ब्रह्मस्वरूपस्यैव ज्ञातृत्वेऽसदीय एव पक्षः
परिगृहीतस्यात् । निवर्तकज्ञानस्वरूपं स्वस्य ज्ञाता च ब्रह्मव्यतिरि-
क्तत्वेन स्वनियत्यान्तर्गनमिति चन्न ' भूतलव्यतिरिक्तं कृत्स्नं देव-
दत्तेन च्छिद्यम् ' इत्यस्यामेव च्छेदनक्रियायामस्य च्छेत्तुरस्याश्छेदन-
क्रियायाश्च च्छेद्यानुप्रवेशचन्नवदुपहास्यम् । अध्यस्तो ज्ञाता स्वना-
शहेतुभूतनिवर्तकज्ञाने स्वयं कर्ता च न भवति, अनाशम्यापुरुषार्थ-
त्वात् । तन्नाशम्य ब्रह्मस्वरूपत्वाभ्युपगमे भेददर्शनतन्मूलाविद्या-
दानां कल्पनमेव न स्यात् । इत्यलमनेन विप्रहतमुद्गराभिघातेन ॥

१ गी० १२ अ० १० श्लो० । २ श्वे० १ अ० ६ । ३ भवद्भिमत्तस्य निव-
र्तकज्ञानस्यापि० पा० । ४ विनिवर्त्य० पा० । ५ विनश्यती० पा० । ६ स्वरु-
पमेवेति० पा० ।

तस्मादनादिकर्मप्रवाहरूपाज्ञानमूलस्याद्वयस्य तन्निवर्हण-
मुक्तलक्षणज्ञानादेव । नदुत्पत्तिश्चात्तरनुग्रीयमानपरमपुरुषाराधन-
वेयात्मयाथात्म्यबुद्धिविशेषसंस्कृतवर्णाश्रमोन्निकर्मलभ्या । नञ्
केवलकर्मणामन्यास्थिरफलत्वम्, अनभिसंहितफलपरमपुरुषाराधन-
वेयाणां कर्मणाम्, उपासनतमकक्षानोत्पत्तिद्वारेण ब्रह्मयाथात्म्यानु-
भवरूपानन्तस्थिरफलत्वं च कर्मस्वरूपज्ञानादूतं न द्रायते । केवला-
कारपरित्यागपूर्वकयथोक्तस्वरूपकर्मोपादानं च न सम्भवतीति कर्म-
विचारानन्तरं तत एव हेतोः ब्रह्मविचारः कर्तव्य इति 'अथातः'
इत्युक्तम् ॥

(अथ सूत्रकाराभिमतसूत्रार्थयोजनारम्भः)

तत्र पूर्वपक्षवादी मन्यते—वृद्धव्यवहारादन्यत्र शब्दस्य बोध-
कत्वशक्त्यवधारणासम्भवात्, व्यवहारस्य च कार्यबुद्धिपरत्वेन
कार्यार्थपक्षे शब्दस्य प्रामाण्यमिति कार्यरूपपक्षे चेदर्थः । अतो न
वेदान्ताः परिनिष्पन्ने परे ब्रह्मणि प्रमाणभावमनुभवितुमर्हन्ति । न
च पुत्रजन्मादिसिद्धयस्तुष्टिपक्षवाक्येषु न परहेतूनां कालत्रयवर्तिनामर्था-
नामानन्त्यात् १ सुलग्नसुखप्रसवादिहर्षहेत्यर्थान्तरपनिपानसम्भाव-
नया च प्रियार्थप्रतिपत्तिनिमित्तमुखविकासालिलङ्घनार्थविशेषबुद्धि-
हेतुत्वनिश्चयः, नापि व्युत्पन्नेतरपदविभक्त्यर्थस्य २ पदान्तरार्थ
२ निश्चयेन प्रकृत्यर्थनिश्चयेन वा शब्दस्य सिद्धयस्तुन्यभिधानशक्ति-
निश्चयः, ज्ञातकार्याभिधायिपदसमुदायस्य तदंशविशेषनिश्चयरूप-

१ सुलग्नप्रसवसुखप्रसवादि० पा० । २ निरचयेन वा० पा० ।

३ व्युत्पन्नेतरपदस्य पदान्तरार्थं निरचयोदाहरणमिदं कः कृजतीति
प्रश्नस्य विकः कृजतीति केनचिदुक्ते व्युत्पन्नं कृजति शब्देन व्युत्पत्तिमुना
पिकशब्दार्थो द्रायते, व्युत्पन्नेतर पद विभक्त्यर्थस्य प्रकृत्यर्थं निरचयोदाहरण-
मिदम्, काष्ठैः स्थापयामोदनं पचतीत्युच्यते व्युत्पन्नविभक्ति पचति शब्दाधन
व्युत्पत्तिमुना काष्ठादि प्रकृत्यर्थो द्रायत इति ॥

त्याप्तस्य । न च सर्पाङ्गीतस्य ' नार्यं सर्पो रज्जुरेपा ' इति शब्द-
 भ्रवणसमनन्तरं भयनिवृत्तिदर्शनेन सर्पाभाप्रबुद्धिहेतुत्थनिश्चयः;
 अत्रापि निश्चेष्टं निर्विशेषमचेतनमिदं वस्त्वित्याद्यर्थबोधेषु बहुषु
 भयनिवृत्तिहेतुषु सत्सु विशेषनिश्चयायोगात् । कार्यबुद्धिप्रवृत्ति-
 व्याप्तिबलेन शब्दस्य प्रवर्तकार्थावबोधि १ त्वमुपगतमिति सर्वपदानां
 कार्यपरत्वेन सर्वैः पदैः कार्यस्यैव विशिष्टस्य प्रतिपादनाज्ञान्यान्वि-
 तस्वार्थमात्रे पदशक्तिनिश्चयः । इष्टसाधनताबुद्धिस्तु कार्यबुद्धिद्वारेण
 प्रवृत्तिहेतुः; न स्वरूपेण, अतीतानागतवर्तमानेष्टोपायबुद्धिषु प्रवृत्त्य-
 नुपलब्धेः । ' इष्टोपायो हि मत्प्रयत्नादृते न सिध्यति; अतो मत्कृति-
 साध्यः, इतिबुद्धिर्यावन्न जायते; तावन्न प्रवर्तते । अतः कार्यबुद्धिरेव
 प्रवृत्तिहेतुरिति प्रवर्तकस्यैव शब्दयाच्यतया कार्यस्यैव वेदवेद्यत्या-
 त्परिनिष्पन्नरूपग्रहप्रसिद्धक्षानानन्तस्विरफलाप्रतिपत्तेः २ " अक्षय्यां
 ह वै चातुर्मास्ययाजिनस्तुकृतं भवति * इत्यादिभिः कर्मणामेव
 स्वरफलत्वप्रदिपादनाच्च कर्मफलाल्पास्विरत्वग्रहक्षानफलानन्तस्विर-
 त्वज्ञानहेतुको ग्रहविचारारम्भो न युक्तः—इति ॥

(अधिकरण सिद्धान्ते सिद्धयस्तुनि शब्दव्युत्पत्तिनिरूपणम्)

अत्राभिधीयते—निखिललोकविदितशब्दार्थसम्बन्धावधारण-
 प्रकारमपनुद्य सर्व ३ शब्दानामलौकिकैकार्थावबोधित्वावधारणं
 प्रामाणिका न बहुमन्बने । एवं किल बालाश्शब्दार्थसंबन्धमवधार-
 यन्ति—मातापितृप्रभृतिभिरभ्यातातमातुलादीन् शशिपशुनरभृगप-
 क्षिसर्पादींश्च ' एनमवेहि इमं चावधारय ' इत्यभिप्रायेण ४ अङ्गुल्या
 निर्विशयनिर्विशय तैस्तेऽशब्दैस्तेषुतेष्वर्थेषु बहुशशिक्षिनाशनैशशनै-
 स्तैस्तेरेव शब्दैस्तेषुतेष्वर्थेषु स्वात्मनां बुद्ध्युत्पत्तिं दृष्ट्वा शब्दार्थ-
 योस्संबन्धान्तरादर्शनात्संकेतयितृपुरुषाज्ञानाच्च तेष्वर्थेषु तेषां शब्दानां
 प्रयोगो बोधकत्वनियन्धन इति निश्चिन्यन्ति । पुनश्च व्युत्पन्नेतर-

१ त्वमवगत० पा० । २ आपस्तम्बश्रौतसू० २ प्रश्न० १ ख० १ सू० ।

३ शब्दानामलौकिकार्था० पा० । ४ अंगुल्यादिभिर्निर्विशय० तै० पा० ।

शब्देषु 'अस्य शब्दस्यायमर्थः' इति पूर्ववृद्धेशिक्षितास्सर्वशब्दानामर्थमवगम्य परप्रत्यायनाय तत्तदर्थविबोधि चाक्यजातं प्रयुज्जते । प्रकारान्तरेणापि शब्दार्थसंबन्धावधारणं सुशकम् केनचित्पुरुषेण हस्तचेष्टादिना 'विता ते सुखमास्ते' इति देवदत्ताय ज्ञापयेति प्रेषितः कश्चित् तज्ज्ञापने प्रवृत्तः 'विता ते सुखमास्ते' इति शब्दं प्रयुक्ते । पार्श्वस्योऽन्यो व्युत्पत्तिस्तुमूक्यच्चेष्टाविशेषस्तज्ज्ञापने प्रवृत्तमिमं ज्ञात्वाऽनुगतस्तज्ज्ञापनाय प्रयुक्तमिमं शब्दं भूत्वा 'अयं शब्दस्तदर्थ-युद्धिहेतुः' इति निश्चिनोति—इति कथं पय व्युत्पत्तिरिति निर्वन्धो निर्निबन्धनः । अतो वेदान्ताः परिनिष्पन्न परं ब्रह्म, तदुपासनं चापरिमितफलं बोधयन्तीति तन्निर्णयफलां ब्रह्मविचारः कर्तव्यः ॥

कार्यार्थत्वेऽपि चैवस्य ब्रह्मविचारः कर्तव्य एव । कथम् ।
 १ "आत्मा या अरे द्रष्टव्यश्चांतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः"
 २ "सोऽन्वेष्टव्यस्सविजिज्ञासितव्यः " ३ "विज्ञाय प्रज्ञां कुर्यात् "
 ४ " दहरोऽसिन्नन्तर आकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वापि विजिज्ञासितव्यम् " ५ " तन्नापि दह्म' गगनं विशोकस्तस्मिन्यदन्तस्त-
 दुपासितव्यम् " इत्यादिभिः प्रतिपन्नोपासनविषयकार्याधिकृतफल-
 त्वेन ६ "ब्रह्मविदाप्नोति परम् " इत्यादिभिर्ब्रह्मप्राप्तिश्रूयतइति ब्रह्मस्वरूपतद्विशेषणानां दुःखासंमिषदेशविशेषरूपस्वगांदिद्यत्, राश्री-
 सन्नप्रतिष्ठादिवत्, अपगोरणशतयातनासाध्यसाधनभावावद्य, कार्यो
 पयोगितयैव सिद्धेः ॥

(अपूर्वखण्डनम्)

' गामानय ' इत्यादिव्यगि वाक्येषु न कार्यार्थं व्युत्पत्तिः ;
 भवदमिमत्कार्यस्य दुर्निरूपत्वात् । कृतिभावभावि कृत्युद्देश्यं हि

१ वृ० ४ अ० ४ भा० २; १ अ० ५ भा० १ । २ वृ० ८ प्र० ७ अ० १ ।

३ वृ० १ अ० ४ भा० २१ । ४ वृ० ८ प्र० १ अ० १ । ५ तै—नारायणो०

१० अनु० २३ । ६ तै—आन० १ अ० १ ।

भवतः कार्यम् । कृत्युद्देश्यत्वं च कृतिकर्मत्वम् । कृतिकर्मत्वञ्च कृत्या-
प्राप्तुमिष्टतमत्वम् । इष्टतमं च सुखं वर्तमानदुःखस्य तन्निवृत्तिर्वा ।
तत्रेष्टसुखादिना पुरुषेण स्वप्रयत्नाद्भूते यदि तदसिद्धिः प्रतीता, ततः
प्रयत्नेच्छुः प्रयतते पुरुष इति न कचिदपीच्छाधिपयस्य कृत्यधीनसि-
द्धित्वमन्तरेण कृत्युद्देश्यत्वं नाम किञ्चिदप्युपलभ्यते । इच्छाधिपयस्य
प्रेरकत्वं च प्रयत्नाधीनसिद्धित्वमेव, ततएव प्रवृत्तेः । न च पुरुषानु-
कूलत्वं कृत्युद्देश्यत्वम्, यतस्सुखमेव पुरुषानुकूलम् । न च दुःख-
निवृत्तेः पुरुषानुकूलत्वम् ; 'पुरुषानुकूलं सुखं तत्प्रतिकूलं दुःखम्'
इति हि सुखदुःखयोस्स्वरूपविवेकः । दुःखस्य प्रतिकूलतया तन्निवृत्ति-
रिष्टा भवति ; नानुकूलतया । अनुकूलप्रतिकूलान्धयचिरद्दे स्वरूपेणा-
यस्यतिर्हि दुःखनिवृत्तिः । अतस्सुखन्यतिरिक्तस्य क्रियादेरनुकूलत्वं
न सम्भवति । न सुखार्थतया तस्याप्यनुकूलत्वम्, दुःखात्मकत्वा-
त्तस्य । सुखार्थतयाऽपि तदपादानेच्छामात्रमेव भवति । न च कृतिं
प्रति शेषित्वं कृत्युद्देश्यत्वम्, भवत्पक्षे शेषित्वस्यानिरूपणात् ॥

(शेषलक्षणम्)

न च परोद्देशप्रवृत्तकृतिव्याप्त्यर्हत्वं शेषत्वमिति तत्प्रतिस-
म्यन्धी शेषीत्यवगम्यते, तथा सति कृतेरशेषत्वेन तां प्रति तत्सा-
ध्यस्य शेषित्वाभावात् । न च परोद्देशप्रवृत्त्यर्हतायाश्शेषत्वेन
परशेषी, उद्देश्यत्वस्यैव निरूप्यमाणत्वात्, प्रधानस्यापि भृत्योद्दे-
शप्रवृत्त्यर्हत्यवशनाच्च । प्रधानस्तु भृत्यगोपणेऽपि स्वोद्देशेन प्रवर्तते
इति चेन्न, भृत्योऽपि हि प्रधानगोपणे स्वोद्देशेनैव प्रवर्तते । कार्य-
स्वरूपस्यैवानिरूपणात् 'कार्यप्रतिसम्यन्धी शेषः, तत्प्रतिसम्यन्धी
शेषी' इत्यप्यसङ्गतम् ॥

नापि कृतिप्रयोजनत्वं कृत्युद्देश्यत्वम् । पुरुषस्य कृत्याग्भा-
प्रयोजनमेव हि कृतिप्रयोजनम् । स चेच्छाधिपयः । नस्मादिष्ट्याति-
रेकिकृत्युद्देश्यत्वानिरूपणात्, कृतिसाध्यताकृतिप्रधानत्वरूपं कार्यं
कृतिरूपमेव ॥

नियोगस्यापि साक्षादपि विषयभूतसुखदुःखनिवृत्तिभ्यामन्य-
 त्वात्तत्साधनतयैवेष्टयं कृतिसाध्यत्वं च । अत्र एव हि तस्य क्रिया-
 तिरिकता; अन्यथा क्रियैव कार्यं स्यात्; स्वर्गकामपदसमभिव्याहा-
 रानुगुण्येन लिङ्गादिवाच्यं कार्यं स्वर्गसाधनमेवेति क्षणभङ्गिकमिति-
 रेकि स्थिरं स्वर्गसाधनमपूर्वमेव कार्यमिति स्वर्गसाधनतोह्येनेव
 ह्यपूर्वव्युत्पत्तिः । अतः प्रथममनन्यार्थतया प्रतिपन्नस्य कार्यस्यान-
 न्यार्थत्वनिर्यहणायापूर्वमेव पश्चात्स्वर्गसाधनं भवतीत्युपहास्यम्,
 स्वर्गकामपदान्वितकार्याभिधायिपदेन प्रथममप्यनन्यार्थतानभिधा-
 नात् । सुखदुःखनिवृत्तितत्साधनेभ्योऽन्यस्यानन्यर्थस्या कृतिसाध्यता-
 प्रतीत्यनुपपत्तेश्च । अपिच—किमिदं नियोगस्य प्रयोजनत्वम्, सुख-
 वन्नियोगस्याप्यनुकूलत्वमेवेति चेत्, किं नियोगस्सुखम्, सुखमेव
 ह्यनुकूलम् । सुखविशेषवन्नियोगापरपर्यायं चिलक्षणां सुखान्तरमिति-
 चेत्, किं तन्न प्रमाणमिति वक्तव्यम् । सानुभवश्चेत्, न; विषयवि-
 शेषानुभवसुखवन्नियोगानुभवसुखमिदमिति भवताऽपि नानुभूयते ।
 शास्त्रेण नियोगस्य पुरुषार्थतया प्रतिपादनात् । पश्चात्तु भोक्ष्यत इति
 चेत्, किं तन्नियोगस्य पुरुषार्थत्वयाचि शास्त्रम् । न तावद्भौतिकं
 वाक्यम्; तस्य दुःखात्मकक्रियाविषयत्वात्, तेन सुखादिसाधनत-
 यैव कृतिसाध्यतामात्रप्रतिपादनात् । नापि वैदिकम्; तं नापि स्वर्गा-
 दिसाधनतयैव कार्यस्य प्रतिपादनात् । नापि नित्यनैर्मात्तकशास्त्रम्;
 तस्यापि तदभिधायित्वं स्वर्गकामवाक्यस्यापूर्वव्युत्पत्तिपूर्वकामत्यु-
 क्तीत्या तं नापि सुखादिसाधनकार्याभिधानमवर्जनीयम् । नियतेहि-
 कफलस्य कर्मणोऽनुष्ठितस्य फलत्वेन तदानीमनुभूयमानाभाघरोगता-
 दिव्यतिरेकेण नियोगरूपसुखानुभवानुपलब्धेश्च नियोगस्सुखमित्यत्र
 न किञ्चन प्रमाणमुपलभामहे । अर्थवादादिष्वपि स्वर्गादिसुखप्रकार-
 कीर्तनवन्नियोगरूपसुखप्रकारकीर्तनं भवतापि न दृष्टव्यम् ॥

अतो विधिवाक्येष्वपि धात्वर्थस्य कर्तृव्यापारसाध्यतामात्रं
 शब्दानुशासनसिद्धमेव लिङ्गादेवाच्यमित्यध्ययसीयते । धात्वर्थस्य
 च यागाद्वैश्वदेवादिदेवतान्तर्यामिपरमपुरुषसमाराधनरूपता, समारा-

धितात्परमपुरुषात्फलसिद्धयेति १ “फलमत उपपत्तेः” इत्यत्र प्रतिपादयिष्यते । अनो वेदान्तोः परिनिष्पन्नं ब्रह्म बोधयन्तीति ब्रह्मोपासनफलानन्तरं स्थिरत्वं च सिद्धम् । चातुर्मास्यादिकर्मस्वपि केवलस्य कर्मणः क्षयिफलत्वोपदेशादक्षयफलध्वणं २ “वायुध्वा-
न्तरिक्षं चैतदमृतम्” इत्यादिव्यापेक्षिकं मन्तव्यम् ॥

अतः केवलानां कर्मणामरूपास्थिरफलत्वात् , ब्रह्मज्ञानस्य चानन्तरिफलत्वात्तन्निर्णायफलो ब्रह्मविचारारम्भो युक्त इति स्थितम् ॥

इति श्रीभाष्ये जिज्ञासाधिकरणम् ॥ १ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये—जन्माद्यधिकरणम् ॥ २॥)

‘किं पुनस्तद्वक्ष्य, यजिज्ञास्यमुच्यते’ इत्याह—

जन्माद्यस्य यतः । १ । १ । २ ॥

जन्मादीति—सृष्टिभ्यनिवृत्तम् । ३ तद्गुणसंविज्ञानो * बहुव्रीहिः । अस्य अखिलस्य विविधविचित्ररचनस्य नियतदेशकालफलभोगब्रह्मादि-

१ शारीर ५० १-२-३० । २ ५० उप० ४ अ० ३ प्रा० ३ वा० । ३ संवि-
ज्ञानबहुव्रीहिः ० पा० ।

● बहुव्रीहिर्हि द्विविधः, तद्गुणसंविज्ञानः, अतद्गुणसंविज्ञानरचेति । तत्र प्रथमतोऽप्यहरणं “सर्वादीनि सर्वनामानि” सम्यक्कर्मानय इत्यादि, द्विती-
यस्योदाहरणम्, चित्रगुणानय, इति ॥ तत्पञ्चार्थो विशेष्यः, गुणशब्दार्थरच-
विशेषणम् । तद्गुणो विशेष्यविशेषणो, सम्यक् एव कथमावच्छिन्नान्वयि, ज्ञापयतीति
स्युत्पत्त्या ; विशेष्यनिष्ठविषयतानिरूपितविषयतावच्छेदकावच्छिन्नविषयतानि-
रूपितविशेषणनिष्ठविषयताप्रयोजकत्वं, तद्गुणसंविज्ञानत्वम् । तदन्वयं च
अतद्गुणसंविज्ञानत्वम् ॥

स्तम्भपर्यन्तचेन्नक्षत्रमिधम्य जगतः । यतः—यस्मात्सर्वेश्वरान्निखिलदेय-
प्रत्यनीकस्वरूपारसत्यसंकल्पोत् ज्ञानानन्दाद्यनन्तकल्याणगुणात् सर्व
ज्ञात् सर्वशक्तेः परमकारुणिकात् परस्मात्पुसः सृष्टिस्थितिप्रलयाः
वर्तन्ते; तत् प्रहोति सूत्रार्थः ॥

(पूर्वपक्षः)

१ “भृगुर्वै चारुणि । यदृणं पितरमुपससार । अधीहि भगवो
ब्रह्म” इत्यारभ्य २ “यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन
जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । तद्विजिज्ञासस्य ।
तद्ब्रह्म” इति ध्रूयते । तत्र संशयः—किमस्माद्वाक्यात् ब्रह्म लक्ष-
णतः प्रतिपत्तुं शक्यते, न वा—इति । किं प्राप्तम् ? न शक्यमिति ।
न तावज्जन्मादयो विशेषणत्वेन ब्रह्म लक्षयन्ति, अनेकविशेषणव्या-
वृत्तत्वेन ब्रह्मणोऽनेकत्वप्रसक्तेः । विशेषणत्वं हि व्यावर्तकत्वम् ॥

ननु ‘देवदत्तश्श्यामो युवा लोहिताक्षश्ममपरिमाणः इत्यत्र
विशेषणयद्व्युत्प्रेक एव देवदत्तः प्रतीयते । एवमत्राप्येकमेव ब्रह्म
भवति । नैयम्—तत्र प्रमाणान्तरेणैक्यप्रतीतेरेकसिद्धान्तेन विशेषणा-
नामुपसंहारः । अन्यथा तत्रापि व्यावर्तकत्वेनानेकत्वमपरिहार्यम् ।
अत्र त्वनेनेव विशेषणेन लिलक्षयिषितत्वात् ब्रह्मणः प्रमाणान्तरेणै-
क्यमनवगतमिति व्यावर्तकभेदेन ब्रह्मबहुत्वमवर्जनीयम् ॥

ब्रह्मशब्दैक्यादाप्यैक्यं प्रतीयन् इति चेत् । न, अघातगो-
व्यक्तेः—जिघासोः पुरुषस्य खण्डो मुण्डः पूर्णभृङ्गो गौः इत्युक्ते
गोवदैक्येऽपि खण्डत्वादिव्यावर्तकभेदेन गोव्यक्तियद्व्युत्प्रेकप्रतीतेः ब्रह्म-
व्यक्तयोऽपि बह्वयस्म्युः । अन एव लिलक्षयिषिने वस्तुनि एषां
विशेषणानां संभूय लक्षणत्वमप्यनुपपन्नम् ॥

नाप्युपलक्षणत्वेन लक्षयन्ति, आकारान्तराप्रतिपत्तेः । उपल-
क्षणानामेकेनाकारेण प्रतिपन्नस्य केनचिदाकारान्तरेण प्रतिपत्तिहेतुत्वं
हि द्रष्टुं ‘यत्रार्थं सारसः, स देवदत्तकेशरः, इत्यादिषु ॥

ननु च १ ' १ सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ' इति प्रतिपन्नाकारस्य जगज्जन्मादीन्युपलक्षणानि भवन्ति । न, इतरेतरप्रतिपन्नाकारापेक्षत्वेन उभयोलक्षणवाक्ययोरन्योन्याधयणात् । अतो न लक्षणतो ब्रह्म प्रतिपत्तुं शक्यत इति ॥

(सिद्धान्तः)

एवं प्राप्तेऽभिधीयते—जगत्सृष्टिस्थितिप्रलयैरुपलक्षणभूतैर्ब्रह्म प्रतिपत्तुं शक्यते । न च उपलक्षणोपलक्ष्याकारव्यतिरिक्ताकारान्तराप्रतिपत्तैर्ब्रह्माप्रतिपत्तिः उपलक्ष्यं ज्ञानवधिकातिशयवृद्धत्वं, वृद्धिर्न च; वृद्धतेर्धानोक्तवर्थत्वात् तदुपलक्षणभूताश्च जगज्जन्मस्थितिलयाः । 'यतो, येन, यत्' इति २ प्रसिद्धवन्निर्देशेन यथाप्रसिद्धिं जन्मादिकारणमनूयते । प्रसिद्धिश्च ३ " सदेवसोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं " "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत" इत्येकस्यैव सच्छब्दवाच्यस्य निमित्तोपादानरूपकारणत्वेन तदपि 'सदेवेदमग्र एकमेवासीत्' इत्युपादानतां प्रतिपाद्य 'अद्वितीयम्' इत्यधिष्ठात्रन्तरं प्रतिपिष्य ३ "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत" इत्येकस्यैव प्रतिपादनात् । तस्मात् यन्मूला जगज्जन्मस्थितिलयाः तद्वृद्धोति जन्मस्थितिलयाः सन्निमित्तोपादानभूतं वस्तु ब्रह्मेति लक्षयन्ति । जगन्निमित्तोपादानताक्षितसर्वशक्त्यसत्यसङ्कल्पस्थयिचित्रशक्तिवाधाकारवृद्धत्वेन प्रतिपन्नं ब्रह्मेति च जन्मादीनां तथा प्रतिपन्नस्य लक्षणत्वेन नाकारान्तराप्रतिपत्तिरूपानुपपत्तिः ॥

जगज्जन्मादीनां विशेषणतया लक्षणत्वेऽपि न कश्चिद्विरोधः । लक्षणभूतान्यपि विशेषणानि स्वविरोधिष्यावृत्तं वस्तु लक्षयन्ति । अक्षातस्वरूपे वस्तुन्येकस्मिन् लिलक्षयिष्यतेऽपि परस्परविरोध्यनेकविशेषणलक्षणत्वं न भेदमापादयति । अत्र तु कालभेदेन जन्मादीनां न विरोधः ॥

१ तै० ब्राह्म० १, १ । २ प्रसिद्धजन्मादिकारणनिर्देशेन० पा० । ३ छा० उप० १, २, ३ ।

१“अतो वा इमानि भूतानि जायन्ते” इत्यादिकारणवाक्येन प्रतिपन्नस्य जगज्जन्मादिकारणस्य ब्रह्मणस्सकलेतरव्यावृत्तं स्वरूपमभिधीयते—२“सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म” इति । तत्र सत्यपदं-निरुपाधिकसत्तायोगि ब्रह्माऽह । तेन विकारास्पदमचेतनं तत्संख्यप्रश्नेतनञ्च व्यावृत्तः । नामान्तरभजनाह्रायस्थान्तरयोगेन तयोर्निरुपाधिकसत्ता-योगरहितत्वात् । ज्ञानपदं-नित्यासङ्कुचितज्ञानैकाकारमाह । तेन कदाचित् सङ्कुचितज्ञानत्वेन मुक्ता व्यावृत्ताः । अनन्तपदं-देशकाल-वस्तुपरिच्छेदरहितं स्वरूपमाह । सगुणत्वात्स्वरूपस्य स्वरूपेण गुणै-ज्ज्ञानस्त्यम् । तेन पुर्यपदद्वयव्यावृत्तकोटिद्वयविलक्षणास्सातिशय-स्वरूपसगुणाः नित्याः व्यावृत्ताः । विशेषणानां व्यावर्तकत्वात् । ततः ३“सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म” इत्यनेन वाक्येन जगज्जन्मादिनाऽवगत-स्वरूपं ब्रह्म सकलेतरवस्तुविसजातीयमिति लक्ष्यत इति नान्योन्या-ध्ययणम् । भूतस्सकलजगज्जन्मादिकारणं निरवयवं सर्वज्ञं ४ सत्यस-ङ्कुल्यं सर्वशक्ति ब्रह्म लक्षणतः प्रणिपत्तुं शक्यत इति सिद्धम् ॥

ये तु निर्विशेषवस्तु जिज्ञास्यमिति वदन्ति । तन्मते “ब्रह्म-जिज्ञासा” “जन्माद्यस्य यतः” इत्यसङ्गतं स्यात् । निरतिशयबृहत्-वृंहणं च ब्रह्मेति निर्वचनात् ; तच्च ब्रह्म जगज्जन्मादिकारणमित्य-चनाच्च । पञ्चमुत्तरेष्वपि सूत्रगणेषु सूत्रोदाहृतश्रुतिगणेषु च ईक्षणा-द्यन्वयदर्शनात् सूत्राणि सूत्रोदाहृतभूतयश्च न तत्र प्रमाणम् । तर्कश्च-साध्यधर्माव्यभिचारिसाधनधर्मान्वितयस्तुविषयत्वाच्च निर्विशेषव-स्तुनि प्रमाणम् । जगज्जन्मादि ५ भ्रमो यतस्तद्वृद्धेति स्रोत्येक्षा ६ पक्षेऽपि न निर्विशेषवस्तुसिद्धिः, भ्रममूलमज्ञानम्, अज्ञानसाक्षि ब्रह्मेत्यभ्युपगमात् । साक्षित्वं हि-प्रकारौकरसतयैवोच्यते । प्रकाशात्वं

तु जडाद्विषयवर्तकं, स्वस्य परस्य च व्यवहारयोग्यतापादनस्वभावेन भवति । तथा सति सविशेषत्वम् । तदभावे प्रकाशतैव न स्यात् । तुच्छतैव स्यात् ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाधोभाष्ये जन्माद्यधिकरणम् ॥२॥

(श्रीशारीरकमीमांसाधोभाष्ये शास्त्रयोनित्वाधिकरणम्)

जगज्जन्मादिकारणं ब्रह्म वेदान्तवेद्यमित्युक्तम् । तदयुक्तम् । तद्धि न वाक्यप्रतिपाद्यम् । अनुमानेन सिद्धेरित्याशङ्क्याह—

शास्त्रयोनित्वात् । १ । १ । ३ ॥

शास्त्रं यस्य योनिः कारणं प्रमाणम्, तच्छास्त्रयोनिः, तस्य भावश्शास्त्रयोनित्वम् । तस्मात् ब्रह्मज्ञानकारणत्वात् शास्त्रस्य, तद्यो-
नित्वं ब्रह्मणः । अत्यन्तातीन्द्रियत्वेन प्रत्यक्षादिप्रमाणाधिपयतया ब्रह्मणश्शास्त्रैकप्रमाणकत्वात् उक्तस्वरूपं ब्रह्म १ “यतो वा इमानि भूतानि” इत्यादियाक्यं बोधयत्येवेत्यर्थः ॥

(पूर्वः पक्षः)

ननु—शास्त्रयोनित्वं ब्रह्मणो न सम्भवति, प्रमाणान्तरवेद्यत्वाद्ब्रह्मणः । अप्राप्ते तु शास्त्रमर्थवत् ॥

किन्तहि तन्न प्रमाणम् । न तावत् प्रत्यक्षम् । तद्धि द्विविधम् । इन्द्रियसम्भवं योगसम्भवं चेति । इन्द्रियसंभवञ्च याज्ञसम्भवम्, आन्तरसम्भवञ्चेति द्विधा । बाह्येन्द्रियाणि विद्यमानसन्निकर्षयोग्यस्य विषयबोधजननानीति न सार्थसाक्षात्कारतन्निर्माणसमर्थपुरुषवि-
शेषविषयबोधजननानि । नाप्यान्तरम्, आन्तरसुखदुःखादिव्यति-
रिक्तबहिर्निर्गम्येषु तस्य बाह्येन्द्रियानपेक्षप्रवृत्त्यनुपपत्तेः । नापि

योगजन्यम् ; भायनाप्रकर्षपर्यन्तजन्मनस्तस्य विशदावभासत्येऽपि पूर्वानुभूतविषयस्मृतिमात्रत्वात् प्रामाण्यमिति कुतः प्रत्यक्षता; तदतिरिक्तविषयत्वे कारणाभावात् । तथा सति तस्य भ्रमरूपता । नाप्यनुमानं विशेषतो दृष्टं सामान्यतो दृष्टं वा; अतीन्द्रिये यस्तुनि सम्बन्धावधारणविरहात् विशेषतो दृष्टम् । समस्तयस्तुसाक्षात्कार-तन्निर्माणसमर्थपुरुषविशेषनियतं सामान्यतो दृष्टमपि न लिङ्गमु-पलभ्यते ॥

ननु च — जगतः कार्यत्वं तदुपादानोपकरणसम्प्रदानप्रयोज-नाभिन्नकर्तृकञ्चव्याप्तम् । अचेतनारब्धत्वं जगतश्चैतनाधीनत्वेन व्याप्तम् । सर्वं हि यदादिकार्यं तदुपादानोपकरणसम्प्रदानप्रयोजना-भिन्नकर्तृकं दृष्टम् । अचेतनारब्धमरोगं स्वशरीरमेकचेतनाधीनं च । सावयवत्वेन जगतः १ कार्यत्वम् ॥

उच्यते — किमिदमेकचेतनाधीनत्वम् ? न तावत्तदायत्तोत्प-त्तिस्थितित्वम् ; दृष्टान्तो हि साध्यधिकलस्यात्, न ह्यरोगं स्वश-रीरमेकचेतनायत्तोत्पत्तिस्थिति, तच्छरीरस्य भोक्तृणां भार्यादिसर्य-चेतनानामदृष्टजन्यत्वात्तदुत्पत्तिस्थित्योः । किञ्च — शरीरावयविनस्त्वा-वयवसमवेततारूपा स्थितिरवयवसंश्लेषविशेषव्यतिरेकेण न चेतन-मपेक्षते । प्राणनलक्षणा तु स्थितिः पक्षत्वाभिमाने स्थितिजलधिमही-धरादी न संभवतीति पक्षसपक्षानुगतामेकरूपां स्थितिं नोपलभामहे । तदायत्तप्रवृत्तित्वं तदधीनत्वमिति चेत् — अनेकचेतनसाध्येषु गुरु-तररथशिलामहीरुहादिषु व्यभिचारः । चेतनमात्राधीनत्वं सिद्ध-साध्यता ॥

किञ्च — उभयवासिसिद्धानां जीवानामेव लाघवेन कर्तृत्वा-भ्युपगमो युक्तः । न च जीवानामुपादानाद्यनभिमतया कर्तृत्वासंभवः; सर्वेषामेव चेतनानां पृथिव्याद्युपादानयागाद्युपकरणसाक्षात्कारसा-मर्थात् । यथेदानीं पृथिव्यादयो यागादयश्च प्रत्यक्षमीक्ष्यन्ते ।

उपकरणभूतयागादिशक्तिरूपापूर्वादिशब्दवाच्यादृष्टसाक्षात्काराभावे-
ऽपि चेतनानां न कर्तृत्वानुपपत्तिः, तत्साक्षात्कारानपेक्षणात्कार्या-
रम्भस्य । शक्तिमत्साक्षात्कार एव हि कार्यारम्भोपयोगी । शक्तेस्तु
ज्ञानमात्ममेवोपयुज्यते, न साक्षात्कारः । नहि कुलाढ्यादयः कार्योप-
करणभूतदण्डचक्रादिवत्तच्छक्तिमपि साक्षात्कृत्य घटमणिकादिका-
र्यमारभन्ते । इह तु चेतनानामागमाद्यगतयागादिशक्तिविशेषाणां
कार्यारम्भो नानुपपन्नः ॥

किञ्च—यच्छक्यक्रियं शक्योपादानादिविज्ञानञ्च, तदैव तद-
भिन्नकर्तृकं दृष्टम् । मही-मही १ धरमहार्णवादि त्वशक्यक्रियमशक्यो-
पादानादिविज्ञानं चेति न चेतनकर्तृकम् । अनौ घटमणिकादिसजा-
तीयशक्यक्रियशक्योपादानादिविज्ञानवस्तुगतमेव कार्यत्वं बुद्धिम-
त्कर्तृपूर्वकत्वसाधने प्रभवति । किञ्च—घटादिकार्यमनीश्वरेणाल्प-
ज्ञानशक्तिना सशरीरेण परिग्रह्यताऽनाप्तकामेन निर्मितं दृष्टमिति
तथाविधमेव चेतनं कर्तारं साध्यवन्नयं कार्यत्वहेतुस्सिपाधयिपित-
पुरुषसार्धश्यसवैभ्यर्थादिविपरीतसाधनाद्विरुद्धस्यात् । न चैतावता
सर्वानुमानाच्छेदप्रसङ्गः । लिङ्गिनि प्रमाणान्तरगोचरे लिङ्गबलोप-
स्थापिता २ विपरीतविशेषास्तत्प्रमाणप्रतिहतगतयो निवर्तन्ते । इह
तु सफलेतरप्रमाणाविषये लिङ्गिनि निम्बिलनिर्माणचतुरे, अन्यथ्य-
तिरेकाद्यगतायिनाभावनियमा धर्मास्सर्व एवाविशेषेण प्रसज्यन्ते ।
नियतकप्रमाणाभावात्तथैवावतिष्ठन्ते । अत आगमादृते कथमीश्वर-
स्सेत्यनि ॥

(अथ साक्षात्पूर्वं पक्षिणं प्रस्तौति)

अन्नाहुः—साध्यवत्यादेव जगतः कार्यत्वं न प्रत्याख्यातुं
शक्यते । भवन्ति च प्रयोगाः—विद्यादाध्यासितं भू-भूधरादि कार्यं,
साध्यवत्त्वात्, घटादिवत् । तथा विद्यादाध्यासितमयनि-जलधि-म-
हीधरादि कार्यं, महस्ये सति क्रियावत्त्वात्, ३ घटयत् । तनुमुय-

नादि कार्यं महत्त्वे सन्ति मूर्तत्वात्. १ घटत्रय - इति । साध्यवेषु
द्रव्येषु 'इदमेव क्रियते नेतरत्' इति कार्यत्वस्य नियामकं साध्यव-
त्वातिरेकि रूपान्तरं नोपलभामहे । कार्यत्वप्रतिनियतं शक्यक्रियत्वं
शक्योपादानादिविज्ञानतत्त्वं चोपलभ्यतइति चेत्-न; कार्यत्वेनानुमते-
ऽपि विषये ज्ञानशक्ती २ कार्यानुमेये-इत्यन्यथापि साध्यवत्त्वादिना
कार्यत्वं ज्ञातमिति ते च प्रतिपक्षे एवेति न कश्चिद्विशेषः । तथाहि-
घटमार्णकादिषु कृतेषु कार्यदर्शानुमिनकर्तृगततन्निर्माणशक्तज्ञानः
पुरुषोऽदृष्टपूर्वं विचित्रसन्निवेशं नरेन्द्रभवनमालोक्याद्यवसन्निवेश-
विशेषेण तस्य कार्यत्वं निश्चितं तदानीमेव कर्तुंस्तज्ज्ञानशक्तिर्वैच-
र्यमनुमिनोति । अतस्तनुभुवनादेः कार्यत्वे सिद्धे सर्वसाक्षात्कारत-
न्निर्माणादिनिपुणः कश्चित्पुरुषविशेषस्तिष्यत्येव ॥

किञ्च-सर्वचेतनानां धर्माधर्मनिमित्तेऽपि सुखदुःखोपभोगे
चेतनानधिष्ठितयोस्तयोरचेतनयोः फलहेतुत्वानुपपत्तेः सर्वकर्मानु-
गुणसर्वफलप्रदानचतुरः कश्चिदास्थेयः; यर्धकिनाऽनधिष्ठितस्य वाक्या-
देरचेतनस्य देशकालाद्यनेकपरिकरसन्निधानेऽपि गूपादिनिर्माणसा-
धनत्वाददर्शनात् । बीजाङ्कुरादेः पक्षान्तर्भागेन तैर्व्यभिचारापादनं
धोत्रिण्येतालानामनभिज्ञताविजृम्भितम् । तत एव सुखादिभिर्व्या-
भिचारवचनमपि तथैव । न च लाघवेनोभयथादिसंप्रतिपन्नक्षेत्रज्ञा-
नामेव ईदृशाधिष्ठातृत्वकल्पनं युक्तम्, तेषां सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्ट-
दर्शनाशक्तिनिश्चयान् दर्शनानुगुणैवहि सर्वत्रकल्पना नक्षेत्रज्ञ घट्टी-
श्वरस्या शक्तिनिश्चयोऽस्ति । अतः प्रमाणान्तरतो न तत्सिद्धयनुपपत्तिः
समर्थकर्तृपूर्यकत्वनियतकार्यत्वहेतुना सिध्यन् स्वाभाविकसर्वांग-
साक्षात्कारतन्त्रियमनशक्तिसंपन्न ३ एव सिध्यति ॥

(अथ कार्यत्व हेतोर्विरुद्धत्वं व्युदस्यति)

यस्यनैश्वर्याद्यापादनेन धर्मविशेषविपरीतसाधनत्वमुन्नातम् ।
तदनुमानवृत्तानभिज्ञत्यनियन्धनम्, सपक्षे सह दृष्टानां सर्वेषां कार्या-
स्याहेतुभूतानां च धर्माणां लिङ्गिन्यप्राप्तः ॥

एतदुक्तं भवति—केनचित् किञ्चित् क्रियमाणं स्रोतपत्तये कर्तुः स्विनिर्माणसामर्थ्यं स्वोपादानोपकरणज्ञानं चापेक्षते; न त्वन्यासामर्थ्य-मन्याज्ञानं च, हेतुत्वाभावात् । स्विनिर्माणसामर्थ्यस्वोपादानोपकरण-ज्ञानाभ्यामेव स्रोतपत्तावुपपन्नायां संबन्धितया दर्शनमात्रेणाकिञ्चित्क-रस्यार्थान्तराधानादेर्हेतुत्वकल्पनायोगात्—इति । किञ्च—क्रियमाणव-स्तुष्यतिरिक्तार्थाधानादिकं किं सर्वविषयं क्रियोपयोगि; उत कतिपय-विषयम् । न तावत्सर्वविषयम् ; नहि कुलालादिः क्रियमाणव्यतिरिक्तं किमपि न जानाति । नापि कतिपयविषयम्, सर्वेषु कर्तृषु तत्तद्ज्ञा-नाशक्यनियनेन सर्वेषामज्ञानादीनां व्यभिचारात् । अतः कार्यत्वस्या-साधकानामनीश्वरत्वादीनां लिङ्गिन्यप्राप्तिरिति न विपरीतसाध-नत्वम् ॥

कुलालादीनां दृष्टव्यत्वाद्यधिष्ठानं शरीरद्वारेणैव दृष्टमिति जगदुपादानोपकरणाधिष्ठानमीश्वरस्याशरीरस्यानुपपन्नमिति चेत्—न; संकल्पमात्रेणैव परशरीरगतभूतवेतालगरलाद्यपगमघ्निनाशदर्श-नात् । कथमशरीरस्य परप्रवर्तनरूपस्संकल्प इति चेत्—न शरीरा-पेक्षस्संकल्पः, शरीरस्य संकल्पहेतुत्वाभावात् । मन एव हि संकल्प-हेतुः । तदभ्युपगतमीश्वरेऽपि, कार्यत्वेनैव ज्ञानशक्तिद्यन्मनसोऽपि प्राप्तत्वात् । मानसस्संकल्पस्सशरीरस्यैव, सशरीरस्यैव समनस्क-त्वादिति चेत्—न, मनसो नित्यत्वेन देहापगमेऽपि मनसस्सद्भावे-नानैकान्त्यात् । अतो विचित्रावयवसन्निवेशविशेषतनुभुवनान्तिकार्य-निर्माणे पुण्यपापपरवशः परिमितशक्तिज्ञानः क्षेत्रज्ञो न प्रभवतीति निखिलभुवननिर्माणचतुरोऽन्विन्त्यापरिमितज्ञानशक्त्यैश्वर्योऽशरीर-स्संकल्पमात्रसाधनपरिनिष्पन्नानन्तविस्तारविचित्ररचनप्रपञ्चः पुरुष-विशेष ईश्वरोऽनुमानेनैव सिद्धयति । अतः प्रमाणान्तरावसेयत्वाद्ब-ल्लक्षणः नैतद्वाक्यं ब्रह्म प्रतिपादयति ॥

किञ्च—अत्यन्तमिन्द्रियैरेव सूक्ष्मद्रव्यकुलालयोर्निमित्तोपादान-त्वदर्शनेन आकाशादेर्निरवयवद्रव्यस्य कार्यत्वानुपपत्त्या च नैकमेव

ब्रह्म दृष्टस्त्वस्य जगतो निमित्तमुपादानं च प्रतिपादयितुं शक्नोति—
इति ॥

—*(सिद्धान्त)*

एवं प्राप्ते ब्रूमः—यथोकलक्षणं ब्रह्म जन्मादिवाक्यं बोधय-
त्येव । कुतः ? शास्त्रैकप्रमाणकत्वादुब्रह्मणः । यदुक्तं—साधययत्वादिना
काय सर्वं जगत् । कार्यं च तदुचितकर्तृविशेषपूर्वकं दृष्टमिति निखिल-
जगन्निर्माणतदुपादानोपकरणवेदनचतुरः कश्चिदनुमेयः—इति । तद-
युक्तम्, महीमहार्णवादीनां कार्यत्वेऽप्येकदैवकेन निर्मिता इत्यत्र
प्रमाणाभावात् । न चैकस्य घटस्येव सर्वंपामेकं कार्यत्वम्, येनैकदै-
वैकः कर्ता स्यात् । पृथग्भूतेषु कार्येषु कालभेदकर्तृभेददर्शनेन कर्तृका-
लैक्यनियमादर्शनात् । न च क्षेत्रज्ञानां चिच्चिन्नजगन्निर्माणाशक्त्या
कार्यत्यथलेन तदतिरिक्तकल्पनायाम् अनेककल्पनानुपपत्तेश्चैकः कर्ता
भयितुमर्हतीति क्षेत्रज्ञानामेवोपचितपुण्यविशेषाणां शक्तिर्वैचित्र्यदर्श-
नेन तंपामेवातिशयितादृष्टसंभावनया च तत्सञ्चिद्विषयकार्यहेतुत्वसं-
भवात् ; तदतिरिक्तात्यन्तादृष्टपुरुषकल्पनानुपपत्तेः । न च १युगपत्स-
र्वोत्पत्तिस्सर्वोच्छिन्नाश्च प्रमाणपद्वीमाधरोहतः, अदर्शनात्, क्रमेणै-
वोत्पत्तिविनाशदर्शनाच्च । कार्यत्वेन सर्वोत्पत्तिविनाशयोः कल्प्यमान-
योर्दर्शनानुगुण्येन कल्पनायां विरोधाभावाच्च । अतो बुद्धिमदैककर्तृ-
कत्वे साध्यं कार्यत्वस्यानैकान्त्यम् ; पक्षस्याप्रसिद्धविशेषणत्वम् ;
साध्यविकलता च दृष्टान्तस्य ; सर्वनिर्माणचतुरस्य एकस्याप्रसिद्धेः ।
बुद्धिमत्कर्तृकत्वमात्रे साध्ये सिद्धसाधनता ॥

सारं श्यसर्वशक्तियुक्तस्य कस्यचिदेकस्य साधकमिदं कार्यत्वं
किं युगपदुत्पद्यमानसर्ववस्तुगतम् ? उत क्रमेणोत्पद्यमानसर्ववस्तु-
गतम् ? युगपदुत्पद्यमानसर्ववस्तुगतत्वे कार्यत्वस्यासिद्धता । क्रमेणो-
त्पद्यमानसर्ववस्तुगतत्वे अनेककर्तृकत्वसाधनाद्विरुद्धता । अत्राप्येक-

कर्तृकत्वसाधने प्रत्यक्षानुमानविरोधश्शास्त्रविरोधश्च; 'कुम्भकारो जायते रथकारो जायते' इत्यादिभ्रवणात् ॥

अपिच—सर्वेषां कार्याणां शरीरादीनां च सत्त्वादिगुणकार्य-
रूपसुखाद्यन्वयदर्शनेन सत्त्वादिमूलत्वमवश्याश्रयणीयम् । कार्यैर्वैचि-
त्र्यहेतुभूताः कारणगता विशेषास्सत्त्वादयः । तेषां कार्याणां तन्मूल-
त्वापादनं तथुक्तपुरुषान्तःकरणधिकारद्वारेण । पुरुषस्य च तद्योगः
कर्ममूल इति कार्यविशेषादस्मायैव, ज्ञानशक्तिवत्कर्तुः कर्मसम्बन्धः
कार्यहेतुत्वेनैवावश्याभयणीयः; ज्ञानशक्तिर्वैचित्र्यस्य च कर्ममूलत्वात् ।
इच्छायाः कार्यारम्भहेतुत्वेऽपि विषयविशेषविशेषतायास्तस्यास्सत्त्वा-
दिमूलकत्वेन कर्मसम्बन्धोऽवर्जनीयः । अतः क्षेत्रज्ञा एव कर्तारः;
न तद्विलक्षणः कश्चिदनुमानात्सिद्ध्यति ॥

अभवन्ति च प्रयोगाः—तनुमुधनादि क्षेत्रज्ञकर्तृकम्, कार्य-
त्वात्, इयद्वत् । ईश्वरः कर्ता न भवति, प्रयोजनशून्यत्वात्, मुका-
त्मवत् । ईश्वरः कर्ता न भवति, अशरीरत्वात्तद्वदेव । न च क्षेत्रज्ञानां
स्वशरीराधिष्ठाने व्यभिचारः, तत्राप्यनादेस्सूक्ष्मशरीरस्य सद्भावात् ।
विमतिविषयः कालो न लोकशून्यः, कालत्वाद्वर्तमानकालवत्—
इति ॥

(अनुमानं मुखान्तरेण दूषयति)

अपिच—किमीश्वरस्सीशरीरोऽशरीरो वा कार्यं करोति । न
तावदशरीरः अशरीरस्य कर्तृत्वानुपलब्धेः । मानसान्यपि कार्याणि
सशरीरस्यैव भवन्ति, मनसो नित्यत्वेऽप्यशरीरेषु मुक्तेषु नत्कार्या-
दर्शनात् । नापि सशरीरः, विकल्पासहत्वात् । तच्छरीरं किं नित्यम् ?
उतानित्यम् ? । न तावन्नित्यम्, सावयवस्य तस्य नित्यत्वे जगतो-
ऽपि नित्यत्वाविरोधादीभ्यगसिद्धेः । नाप्यनित्यम्, तद्व्यतिरिक्तस्य

तच्छरीरहेतोस्तदानीमभावात् । सत्यमेव हेतुरिति चेत्—न, अशरीरस्य तदयोगात् । अन्येन शरीरेण सशरीर इति चेत्—न, अनवस्थानात् ॥

स किं सव्यापारो निर्व्यापारो वा ? । अशरीरत्वादेव न सव्यापारः । नापि निर्व्यापारः कार्यं करोति मुक्तात्मवत् । कार्यं जगदिच्छामात्रव्यापारकर्तृकमित्युच्यमाने पक्षस्याप्रसिद्धविशेषणत्वम् । दृष्टान्तस्य च साध्यहीनता । अतो दर्शनानुगुण्येन ईश्वरानुमानं दर्शनानुगुण्यपराहतमिति शास्त्रैकप्रमाणकः परब्रह्मभूतस्त्वेवंश्वरः पुरुषोत्तमः ॥

शास्त्रन्तु सकलेतरप्रमाणपरिदृष्टसमस्तवस्तुविसजातीयं सार्वज्ञ्यसत्यसङ्कल्पत्वादिमिथानवधिकातिशयापरिमितोदारगुणसागरं निखिलहेयप्रत्यनीकस्वरूपं प्रतिपादयतीति न प्रमाणान्तरासितवस्तुसाधर्म्यप्रयुक्तदोषगन्धप्रसङ्गः । यस्तु २ निमित्तोपादानयोरैक्यमाकाशादेर्निरवयवद्रव्यस्य कार्यत्वं चानुपलब्धम् अशक्यप्रतिपादनमित्युक्तम्, ४ तदवयवविरुद्धमिति ५ "प्रकृतिश्च प्रतिष्ठादृष्टान्तानुपरोधान्" ६ "न धियवध्रुतेः" इत्यत्र प्रतिपादयिष्यते । अतः प्रमाणान्तरागोचरत्वेन शास्त्रैकधिययत्वात् ७ "यतो वा इमानि भूतानि" इति वाक्यमुक्तलक्षणं ब्रह्म प्रतिपादयतीति सिद्धम् ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये शास्त्रयोनिर्वाधिकरणम् ॥३॥

१. ईश्वरसाधनं, पा ॥

२. त्वमनु, पा ॥

५. शारी, १-अ, ४-पा, २३ ॥

७. तै, धृष्ट, १-अनु ॥

२. निमित्तोपादानैक्यं, पा ॥

४. तदविरुद्ध, पा ॥

६. शारी, २-अ, ३-पा, १ ॥

८. इत्यादिवार्त्तं, पा ॥

—:(श्रीशारीरकमीमांसाश्रीभाष्ये समन्वयाधिकरणम् ॥४॥):-



यद्यपि प्रमाणान्तरांगोच्चरं ब्रह्म । तथापि प्रवृत्तिनिवृत्तिपर-
त्वाभावेन सिद्धरूपं ब्रह्म न शास्त्रं प्रतिपादयतीत्याशङ्क्याह—

तत्तु समन्वयात् । १ । १ । ४ ॥

प्रसक्ताशङ्कानिवृत्त्यर्थस्तु शब्दः । तत् शास्त्रप्रमाणकत्वं ब्रह्म-
णस्सम्भवत्येव । कुतः ? समन्वयात्-परमपुरुषार्थतयाऽन्वयस्सम-
न्वयः; परमपुरुषार्थभूतस्यैव ब्रह्मणोऽभिधेयतयाऽन्वयात् ॥

२एवमिव समन्वितो ह्यौपनिषदः पदसमुदायः— ३“यतो वा
इमानि भूतानि जायन्ते” ४“सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्विती-
यम् । तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत” ५“ब्रह्म वा इदमेक-
मेवाग्र आसीत्” ६“आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्” ७“तस्माद्वा
एतस्मादात्मन आकाशस्सम्भूतः” ८“एको ह वै नारायण आसीत्”
९“सत्यं धानमनन्तं ब्रह्म” १०“आनन्दो ब्रह्म” इत्येवमादिः ॥

न च व्युत्पत्तिसिद्धपरिनिष्पन्नवस्तुप्रतिपादनसमर्थानां पद-
समुदायानामस्त्रिलजगद्व्युत्पत्तिस्थितिविनाशहेतुभूताशेषदोषप्रत्यनीकाप-
रिमितोद्धारगुणसागरानयधिकातिशयानन्दस्वरूपे ब्रह्मणि समन्विता-
नां प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपप्रयोजनविरहादन्यपरत्वं . स्वधिपयाद्यबोधपर्य-
वसायित्यात्सर्वप्रमाणानाम् । नच प्रयोजनानुगुणा प्रमाणप्रवृत्तिः ।

१ पुरुषार्थस्य० पा ॥

३ तै० भू० १ अनु ॥

५ बृ० ३ अ० २ मा० ११ ॥

७ तै० आन० १ अनु ॥

९ तै० आन० १ अनु ॥

२ एवमेव० पा ॥

४ छा० ६ प्र० २ ख० १; ३ ॥

६ ऐतरेय० १ अ० १ ख० १ ॥

८ महोपनिषद्० १ अ० १ वा ॥

१० तै० भू० ६ अनु ॥

प्रयोजनं हि प्रमाणानुगुणम् । न च प्रवृत्तिनिवृत्त्यन्वयविरहिणः प्रयोजनशून्यत्वम् . पुरुषार्थान्वयप्रतीतिः । तथा सरूपपरेष्वपि 'पुत्रस्ते जातः, नायं सर्पः' इत्यादिषु हर्षभयनिवृत्तिरूपप्रयोजनवत्त्वं दृष्टम् ॥

(एवं सूत्राभर योजनार्थं संक्षेपेणार्थोक्तः, अर्थ तात्पर्यं यस्तु पूर्वपक्षं विस्तारेणावतारयति)

अत्राह—न वेदान्तवाक्यानि ब्रह्म प्रतिपादयन्ति प्रवृत्तिनिवृत्त्यन्वयविरहिणः शास्त्रस्यानर्थक्यात् । यद्यपि प्रत्यक्षादीनि वस्तुयाथात्म्यावबोधे पर्ययस्यन्ति; तथाऽपि शास्त्रं प्रयोजनपर्यवसाय्येव । न हि लोकवेदयोः प्रयोजनरहितस्य कस्यचिदपि वाक्यस्य प्रयोग उपलब्धचरः । न च किञ्चित् प्रयोजनमनुद्दिश्य वाक्यप्रयोगः श्रवणं वा सम्भवति । तत्र प्रयोजनं प्रवृत्तिनिवृत्तिसाध्येष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारात्मकमुपलब्धम्—'अर्थार्थी राजकुलं गच्छेत्' 'मन्दाग्निर्नाम्बु पिबेत्' १ 'सर्गकामो यजेत' 'न कलजं भक्षयेत्' २ इत्येवमादिषु यत्पुनस्सिद्धवस्तुपरेष्वपि 'पुत्रस्ते जातः, नायं सर्पः रज्जुरेवा' इत्यादिषु हर्षभयनिवृत्तिरूपपुरुषार्थान्वयो दृष्ट इत्युक्तम् । तत्र किं पुत्रजन्माद्यर्थात्पुरुषार्थावाप्तिः ? । उत तज्ज्ञानादिति धिघेचनीयम् । ३ सतोऽप्यज्ञातस्यार्थस्यापुरुषार्थत्वेन तज्ज्ञानादिति चेत्—तर्ह्यसत्यप्यर्थे ज्ञानादेव पुरुषार्थस्सिध्यतीत्यर्थपरत्वाभावेन प्रयोजनपर्यवसायिनोऽपि शास्त्रस्य नार्थसद्भावे प्रामाण्यम् । तस्मात्सर्वत्र प्रवृत्तिनिवृत्तिपरत्वेन ज्ञानपरत्वेन वा प्रयोजनपर्यवसानमिति कस्यापि वाक्यस्य परिनिष्पन्ने वस्तुनि तात्पर्यासम्भवाच्च वेदान्ताः परिनिष्पन्नं ब्रह्म प्रतिपादयन्ति ॥

अत्र कश्चिदाह—वेदान्तवाक्यान्वयपि कार्यपरतरयैव ब्रह्माण

१ जरन्मायावादिपक्षी द्वौ विधेते—तत्रैको निष्पपञ्चीकरण नियोग वादः, अन्योऽप्यान नियोगवादः । एतन्मतद्वयं, ध्यान नियोगवादि मुखेन शाङ्करादिमतं च दूषितवन्तमधिकरणं पूर्वं पश्चिमं प्रति सिद्धान्तं वक्ष्यन्, ईदानीं निष्पपञ्चीकरण नियोग वादं प्रस्तातिअत्र कश्चिदाहेति ॥

१ यजुषि, २ । कां ० ५ । प्रश्न. २-अनु ॥

२ इत्यादिषु० पा ॥

३ सतोऽप्यर्थस्याज्ञातस्य० पा ।

प्रमाणमाद्यमनुभवन्ति-कथं निष्प्रपञ्चमद्वितीयं दानैकरसं ब्रह्म अनद्य-
विद्यया सप्रपञ्चतया प्रतीयमानं निष्प्रपञ्चं कुर्यादिति ब्रह्मणः प्रपञ्च-
प्रविलयद्वारेण विधिविषयत्वम्-इति । कोऽसौ द्रष्टृदृश्यरूपप्रपञ्च
प्रविलयद्वारेण साध्यदानैकरसब्रह्मविषयो विधिः ? १ । २ "न दृष्टेर्द्र-
ष्टारं पश्येः । न मतेर्मन्तारं मन्वीथाः" इत्यादिः । द्रष्टृदृश्यरूपमेव-
इत्थं दृशिमात्रं ब्रह्म कुर्यादित्यर्थः । स्वतस्सिद्धस्यापि ब्रह्मणो निष्प्रप-
ञ्चनारूपेण प्रकार्यत्वमविरुद्धम्-इति ॥

(अधिकरणपूर्वपक्षी मीमांसकस्तदुपयति)

तदयुक्तम्- नियोगवाक्यार्थवादिना हि नियोगः, नियोज्यवि-
शेषणम्, विषयः, करणम्, इतिकर्तव्यता, प्रयोक्ता च वक्तव्याः* ।
तत्र हि नियोज्यविशेषणमनुपादेयम् । तच्च निमित्तं फलं मिति
द्विधा । अत्र किं नियोज्य विशेषणम् तच्च किं निमित्तं फलं वेति
विवेचनीयम् । ब्रह्मस्वरूपयाथात्म्यानुभवश्चेन्नियोज्यविशेषणम् ;
तर्हि न तन्निमित्तम् । जीवनादिवस्तस्यासिद्धत्वात् । निमित्तत्वे
च तस्य नित्यत्वेनापवर्गो उत्तरकालमपि जीवननिमित्ताग्निहोत्रादि-
यन् नित्यनक्षिपयानुष्ठानप्रसङ्गः । नापि फलं, नैयोगिकफलत्वेन
स्वर्गादिवदनित्यत्वप्रसङ्गात् ॥

* नियोगः अदृष्टम् । नियोज्य विशेषणं द्विविधम् निमित्तं फलञ्चेति ।
तत्र निमित्तम् " यावज्जीवमग्निं होत्रं जुहोति ; " फलम् स्वर्गम् । विषयः
यागादिः । करणम् प्रयत्नत्वं, कर्मत्वं, कृतित्वं वा । इति कर्तव्यता यथा करणी
यस्यात् । प्रयोक्ता यजमानः ।

कश्चात्र नियोगविषयः १। ब्रह्मैवेति चेत्-न, तस्य नित्यत्वे-
नाभाव्यरूपत्वात्, + अभावावर्थात्वाच्च । निष्प्रपञ्चं २ ब्रह्म साध्यमिति
चेत्-साध्यत्वेऽपि फलत्वेमेव । अभावावर्थात्वाच्च विधिविषयत्वम् ।
साध्यत्वञ्च कस्य ? किं ब्रह्मणः ?, उत प्रपञ्चनिवृत्तेः न तावद्ब्रह्मणः
सिद्धत्वात्, अनित्यत्वप्रसक्तेः । अथ प्रपञ्चनिवृत्तेः । न तर्हि ब्रह्म-
णस्साध्यत्वम् । प्रपञ्चनिवृत्तिरेव विधिविषय इति चेत्-न, तस्याः
फलत्वेन विधिविषयत्वायोगात् । प्रपञ्चनिवृत्तिरेव हि मोक्षः । स च
फलम् । अस्य च नियोगविषयत्वे निगोगात्माप्रपञ्चनिवृत्तिः, प्रपञ्चनि-
वृत्त्या नियोगः इतीतरेतराश्रयत्वम् ॥

अपि च—किं निवर्तनीयः प्रपञ्चो मिथ्यारूपः सत्यो वा । मि-
थ्यारूपत्वे ज्ञाननिवर्त्यत्वादेव नियोगेन न किञ्चिद्विषयोजनम् । नियो-
गस्तु निवर्तकज्ञानमुत्पाद्य यद्वद्वारेण प्रपञ्चस्य निवर्तक इति चेत्-
तत्त्वस्यैवाक्यादेव ज्ञातमिति नियोगेन न प्रयोजनम् । वाक्यार्थज्ञानादेव
ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य कृत्स्नस्य मिथ्याभूतस्य प्रपञ्चस्य बाधितत्वात् सप-
रिक्तरस्य नियोगस्यासिद्धिश्च । प्रपञ्चस्य निवर्त्यत्वे प्रपञ्चनिवर्तको
निर्यागः किं ब्रह्मस्वरूपमेव, उत तद्व्यतिरिक्तः । यदि ब्रह्मस्वरूपमेव
निवर्तकस्य नित्यतया निवर्त्यप्रपञ्चसद्भाव एव न सम्भवति । नित्य-
त्वेन नियोगस्य विषयानुष्ठानसाध्यत्वं च न घटते । अथ ब्रह्मस्वरूप-
व्यतिरिक्तः । तस्य कृत्स्नप्रपञ्चनिवृत्तिरूपविषयानुष्ठानसाध्यत्वेन
प्रयोक्तो च नष्ट इत्याश्रयाभावादसिद्धिः । प्रपञ्चनिवृत्तिरूपविषयानु-

+ अभव्य रूपत्वाद् असाध्यत्वात् । अभावावर्थात्वाच्च भावार्थाः कर्मा शब्दाः,
द्विधिरूपत्वाभावादित्यर्थः ।

० स्वभावयात् प्रपञ्चमिथ्यात्वं ब्रह्मनिर्विण्णस्वरूपाद् वाक्यादित्यर्थः ।

प्राप्तेनैव ब्रह्मस्वरूपव्यतिरिक्तस्य कृत्स्नस्य निवृत्तत्वात् । न नियोगनिष्पाद्यं मोक्षाख्यं फलम् । किञ्च-प्रपञ्चनिवृत्तियोगकरणस्य इति कर्तव्यताऽभावात्, अनुपकृतस्य च करणत्यायोगाच्च करणत्वम् । कथम् इतिकर्तव्यताऽभावा इति चेत्-इत्थम्-अस्येतिकर्तव्यता भावरूपा ? अभावरूपा ? या । भावरूपा च करणशरीरनिष्पत्तितदनुग्रहकार्यमेव भिन्ना । उभयविधा च न सम्भवति । नहि मुद्गराभिघातादिवत् कृत्स्नस्य प्रपञ्चस्य निवर्तकः कोऽपि दृश्यत इति दृष्टार्था न सम्भवति नापि निष्पन्नस्य कारणस्य कार्योत्पत्त्यानुग्रहस्त्वसम्भवति, अनुग्राहकांशसद्भावेन कृत्स्नप्रपञ्चनिवृत्तिरूपकरणस्वरूपासिद्धेः । ब्रह्मणोऽद्वितीयत्वज्ञानं प्रपञ्चनिवृत्तिरूपकरणशरीरं निष्पादयतीति चेत्-तेनैव प्रपञ्चनिवृत्तिरूपो मोक्षस्त्वसिद्ध इति न करणादिनिष्पाद्यम् अदृश्यत इति पूर्वमेवोक्तम् । अभावरूपत्वे चाभावादेव न करणशरीरं निष्पादयति । नाप्यनुग्राहकः । अतो निष्प्रपञ्चब्रह्मविषयो विधिर्न सम्भवति ॥

(अथ ध्याननियोगवादिपक्षमुपक्षिपति)

अन्योऽप्याह—यद्यपि वेदान्तवाक्यानां न परिनिष्पन्नब्रह्मस्वरूपपरता प्रामाण्यम् । तथाऽपि ब्रह्मस्वरूपं सिध्यत्येव । कुतः ? ध्यानविधिसामर्थ्यात् । एवमेव हि सामानन्ति-२“आत्मा वा धरे द्रष्टव्यः निदिध्यासितव्यः” ३“य आत्मा अगहतपाप्मा सोऽन्वेष्टव्यस्त विजिज्ञासितव्यः” ४“आत्मैत्येवोपासीत” “आत्मानमेव लोकांमुपासीत” इति । अत्र ध्यानविषयो हि नियोगस्याविषयभूत-ध्यानं ध्येयैकनिरूपणीयम् इति ध्येयमाक्षिपति । स च ध्येयस्त्वक्यनिर्दिष्ट आत्मा । स किरूप इत्यपेक्षायां तत्स्वरूपविशेषसर्पणद्वारेण ५“सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म” ६“सदेव सौम्येदमग्र आसीत्” इत्ये-

१. अभावत्वादेव, पा० ॥

२. छा. ८ प्र. ७, ख. १ ॥

३. तै० ब्राह्म. १ अनु ॥

४. बृ० ४ अ. ४ प्रा २ ॥

५. बृ. ३. अ. ४ प्रा. ७ १२ ॥

६. छा. १. प्र. २ ख. १ ॥

वमादीनां वाक्यानां ध्यानविधिशेषतया प्रामाण्यम्—इति । विधिवि-
पयभूतध्यानशरीरानुप्रविष्टब्रह्मस्वरूपेऽपि तात्पर्यमस्त्येव । अतः
“एकमेवाद्वितीयम्” १ “तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि भ्येतकेतो”
२ “नेहानानाऽस्ति किञ्चन” इत्यादिभिर्ब्रह्मस्वरूपमेकमेव सत्यं तद्व्य-
तिरिक्तं सर्वं मिथ्येत्यवगम्यते । प्रत्यक्षादिभिर्मैदावलम्ब्य च कर्मशा-
स्त्रेण भेदः प्रतीयते । भेदाभेदयोः परस्परविरोधे सत्यनाद्याविद्यामु-
लत्वेनापि भेदप्रतीत्युपपत्तेरभेद एव परमार्थ इति निश्चीयते । तत्र
ब्रह्मध्याननियोगेन तत्साक्षात्कारफलेन निरस्तसमस्ताविद्याकृतवि-
विधभेदाद्वितीयत्वानैकरसब्रह्मरूपमोक्षः प्राप्यते ॥

न च वाक्याद्वाक्यार्थज्ञानमात्रेण ब्रह्मभावसिद्धिः, अनुप-
लब्धेः, विविधभेददर्शनानुवृत्तेः । तथा च सति श्रवणादिविधान-
मनर्थकं स्यात् ॥

(अथसाक्षान्मायावादिना स्वमतं पञ्चाद्वियक्षता प्रथमं
ध्याननियोगवादिपक्षस्यप्रतिक्षेपमाशङ्कते)

अथोच्येत—‘रज्जुरेवा न सर्पः’ इत्युपदेशेन सर्पभयनिवृत्ति-
दर्शनात् रज्जुसर्पवत् शब्दस्य च मिथ्यारूपत्वेन ध्यानवाध्यतया तस्य
वाक्यजन्यज्ञानेनैव निवृत्तिर्युक्ता ; न नियोगेन । नियोगसाध्यत्वे
मोक्षस्यानित्यत्वं स्यात्, स्वर्गादिवत् मोक्षस्य नित्यत्वं हि सर्ववादि-
सम्प्रतिपन्नम् । किञ्च धर्माधर्मयोः फलहेतुत्वं स्वफलानुगवानुगुणश-
रीरोत्पादनद्वारेणोति ब्रह्मादिस्वावरान्तचतुर्विधशरीरसम्बन्धरूपसं-
सारफलत्वमवर्जनीयम् । तस्मान्न धर्मसाध्यो मोक्षः । तथा च भृतिः
३ “न हवे सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति । अशरीरं वा
वसन्त न प्रियाप्रिये स्पृशतः” इति । अशरीरत्वरूपे मोक्षधर्माधर्मसा-

ध्यप्रियाप्रियचिरहृदयवणात्, न धर्मसाध्यमशरीरत्वमिति विज्ञायते । न च नियोगविशेषसाध्यफलविशेषवत् ध्याननियोगसाध्यमशरीर-
त्वम्, अशरीरत्वस्य स्वरूपत्वेनासाध्यत्वात् । यथाऽऽहुः श्रुतयः—
१“अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् । महान्तं विभुमात्मानं
मत्वा धीरो न शोचति” २“अप्राणो ह्यमनाश्शुभ्रः” ३“असङ्गो ह्ययं
पुरुषः” इत्याद्याः । अतोऽशरीरत्वरूपो मोक्षो नित्य इति न धर्म-
साध्यः । तथा च धृतिः— “अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृता-
कृतान् । अन्यत्र भूताद्भव्याश्च यस्तत्पश्यसि तद्वद” इति ॥

अपिच—उत्पत्तिप्राप्तिविकृतिसंस्कृतिरूपेण चतुर्विधं हि
साध्यत्वं मोक्षस्य न सम्भवति । न तावदुत्पाद्यः, मोक्षस्य ब्रह्मस्वरूप-
त्वेन नित्यत्वात् । नापि प्राप्यः, आत्मस्वरूपत्वेन ब्रह्मणो नित्यप्राप्त-
त्वात् । नापि विकार्यः, दध्यादिवदनित्यत्यप्रसङ्गादेव । नापि संस्का-
र्यः ; संस्कारो हि षड्वोपापनयनेन वा गुणाधानेन वा साध्यति । न
तावद्वोपापनयनेन, नित्यशुद्धत्वानुब्रह्मणः । नाप्यतिशयाधानेन, अनाधे-
यातिशयरूपत्वात् । नित्यनिर्विकारत्वेन स्वाध्यायायाः पराध्यायायाश्च
क्रियाया अधिपयतया न निर्घर्षणेनाऽवशादिवदपि संस्कार्यत्वम् । न
च देहस्थया ज्ञानादिक्रियाया आत्मा संस्क्रियते ; किं त्वविद्यागृहीत-
स्तत्सङ्गतोऽहङ्कर्ता । तत्फलानुभवोऽपि तस्यैव । न चाहङ्कर्तृवाऽऽत्मा,
तत्साक्षित्वात् । तथा च मन्त्रवर्णः— १“तयो रग्यः पितृपलं स्वादृत्ति
अनश्नन्तान्यो अभिव्याकशीणि” इति । २“मात्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्ते-
त्याहुर्मनीषिणः” ३“एको देवस्सर्वभूतेषु गृहस्मर्त्तव्यापी सर्वभूतान्त-
रात्मा । कर्माध्यक्षस्सर्वभूताधिवासस्साक्षी चेता केनालो निर्गुणश्च”

१ क० १ कठ० २ ब्रह्मी २२० १४ ॥

३ मुण्ड० २ सु० १ ल० २ ॥

१ ३० यु० अ० ३ मा० २ प० ॥

४ षोपापनयनेन गुणाधानेन वा० ॥

२ मुण्ड ३ सु १ ल, १ ॥

५ कठ, ३ ब्रह्मी ४ ॥

७ रवेन, ६ अ ११ ।

८४ "सपर्यगाच्छुक्रमकायमग्रणःमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्" इति च ।
अविद्यागृहीतावहङ्कृतुं रात्मस्वरूपमनाधेयातिशयं नित्यशुद्धं निर्विकारं
निष्कृष्यते । तस्मादात्मस्वरूपत्वेन न साध्यो मोक्षः ॥

यद्येवं किं वाक्यार्थज्ञानेन क्रियते इति चेत्—मोक्षप्रतिबन्ध-
निवृत्तिमात्रमिति धूमः । तथा च श्रुतयः—६ "त्वं हि नः पिता यो-
ऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसि" इति, ७ "भुतं ह्येवमेव भगवद्बु-
द्बुशेभ्यस्तस्मिन् शोकमात्मविदिति सोऽहं भगवश्शोचामि तं मा भग-
वान् शोकस्य पारं तारयतु" ८ "तस्मै मृदितकपायाय तमसः पारं
दर्शयति भगवान् सनत्कुमारः" इत्याद्याः । तस्मान्नित्यस्यैव मोक्षस्य
प्रतिबन्धनिवृत्तिर्वाक्यार्थज्ञानेन क्रियते । निवृत्तिस्तु साध्याऽपि

ॐ शुक्रम् अविद्या रहितम्, वासना रहितं वा । शुद्धम्-अपाप विद्धम्
कर्म फल रहितं च । पर्यगात् गत्यर्था बुद्धयर्थाः, अमन्यतेत्यर्थः ।

"अमन्यतेत्यर्थं इति"—आत्मानमिति शेषः । यद्यपि "सपर्यगात्,
स आत्मा, यस्तु सर्वाणि भूतानि" इत्यादौ प्रकृत आत्मा पर्यगात् परितरस-
मन्तादगात् सर्वगत इत्यर्थः । शुक्रमित्यादृष्यशब्दाः पुच्छिन्नत्वेन परिणेषाः सद्-
त्युपक्रमानुसारात् । अकायः किञ्च शरीर रहितः । अग्रणः अग्रतः । अस्नाविरः
सिरा रहितः । अग्रणास्नाविगम्यां स्थूल देह राहित्यमुक्तम् । शुक्रमिति बाष्पा-
शुद्धि विरह उक्तः । शुद्ध इत्यान्तर रागाद्यभावः ॥ अपाप विद्धः धर्माधर्मादि
रहित इति शङ्करादिभि र्भ्याख्यातम् ।

१ मुण्ड, ३ मु. १ ख. १ ।

३ म्वे. ६ अ. ११ ।

५ अस्थायिरं, पा ।

७ छा. ७ प्र. १ ख ३ ॥

२ कठ. ३ पृष्ठी. ४ ।

४ ईशा. ८ ।

६ प्रश्न. ६ प्रश्न ८ ॥

८ छा. ७ प्र. २६ ख. २ ॥

प्रध्वंसाभावरूपा न विनश्यति । १ "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" २ "तमेव विदित्वाऽनिमृत्युमेनि" इत्यादिवचनं मोक्षस्य वेदनानन्तरभावितां प्रतिपादयन्नियोगव्यवधानं प्रतिकुण्ठि । नच विदिक्रियाः ३ कर्मत्वेन वा ध्यानक्रियाकर्मत्वेन वा कार्यानुप्रवेशः, ४ उभयविधकर्मत्वप्रतिषेधात् । ५ "अन्यदेव तद्विदितादधो + ६ अविदितादधि" ७ "येनेदं सर्वं विजानाति नत्केन विजानीयात्" इति । तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदि-
दमुपासते' इति च ॥

नचैतायता शास्त्रस्य निर्विपर्ययत्वम्, अविद्याकल्पितभेदनिवृत्ति-
परत्याच्छास्त्रस्य । न हीदन्तया ब्रह्म विपर्ययीकरोति शास्त्रम्, अपि तु
अधिपर्यं प्रत्यगात्मस्वरूपं प्रतिपादयदविद्याकल्पितज्ञानज्ञातृज्ञेयविभागं
निवर्तयति । तथा च शास्त्रं—६ "न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः" इत्येवमादि । नच
ज्ञानादेव बन्धनिवृत्तिरिति भयगादिविधिव्यानर्थक्यम्, स्वभावाप्रवृत्तमक-
लेतरविकल्पविमुखीकरणद्वारेण वाक्यार्थावगतिहेतुत्वादीपाम् । न च
ज्ञानमात्रात् बन्धनिवृत्तिर्न दृष्टेति वाच्यम्, बन्धस्य मिथ्यारूपत्वेन
ज्ञानोत्तरकालं स्थित्यनुपपत्तेः । अत एव न शरीरपातादूर्ध्वमेव बन्ध-
निवृत्तिरिति वक्तुं युक्तम् । नहि मिथ्यारूपसर्पभयनिवृत्तिः रज्जुयाथा-
त्म्यज्ञानानिरेकेण सपविनाशमपेक्षते । यदि शरीरसम्बन्धः पारमार्थिकः
तदा हि तद्विनाशापेक्षा । स तु ब्रह्मव्यतिरिक्ततया न पारमार्थिकः ।
यस्य तु बन्धो न निवृत्तः, तस्य ज्ञानमेव न ६ जातमित्यवगम्यते, ज्ञान-
कार्यादर्शनात् । तस्मात् शरीरस्थितिर्भवतु वा मा वा, वाक्यार्थज्ञानस-
मनन्तरं मुक्त एवासी । अतो न ध्याननियोगसाध्यो मोक्ष इति न

॥ वेदनं ज्ञानम्, उपासनम्—ज्ञान विशेषः । अथ वेदन शब्दो निष्प्रप-
ञ्ची करण ज्ञान विशेषे विभ्राम्यति, विवक्षा वशात्, अतो निष्प्रपञ्ची करण नि-
योग वादस्यापि दूषणं फलितम् । विद्युपासि कर्मत्वाभावे भुतिमाह 'अन्यदेव'
इति ।

+ विदितात्—ज्ञेयात्, अविदितात्—ज्ञातुरित्यर्थः । अन्यदेवेति विदि-
कर्मत्व निषेधः, तदेवेति ध्यान कर्मत्व निषेधः ।

१. मुयड० ३-मु० २-ख० ६ ।

२. केन० १ ख० ३ ।

२. अ० ०-अ० ८ ।

६. अविदितादधि पा ।

३. कर्मत्वेन ध्यानक्रियाकर्मत्वेन वा० पा ।

७. वृ० ४-अ० ४ ब्रा. १४ । भेदं पा

४. भययकर्मत्वप्रति० पा ।

६. वृ. २-अ. ४ ब्रा. २ । १० ज्ञातया ।

ध्यानविधिशेषतया ब्रह्मणस्सिद्धिः। अपि तु १. "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"
२ "तत्त्वमसि" ३ "अयमात्मा ब्रह्म" इति तत्परेणैव पदसमुदायेन सि-
ध्यतीति ॥

तदयुक्तं, वाक्यार्थज्ञानमात्राद्वन्धनिवृत्त्यनुपपत्तेः । यद्यपि
मिथ्यारूपो बन्धो ज्ञानाशयः । तथाऽपि बन्धस्यापरोक्षत्वात् न परो
क्षरूपेण वाक्यार्थज्ञानेन स बाध्यते, रज्ज्वादाद्यपरांक्षसंप्रतीतिं वर्तमा-
नायां नायं सर्पो रज्जुरेवा' इत्याप्तोपदेशजनितपरोक्षसर्पाधिपरीतज्ञान-
मात्रेण भयानिवृत्तिर्दर्शनात् । आप्तोपदेशस्य तु भयनिवृत्तिहेतुत्वं
वस्तुयाथात्म्यापरोक्षनिमित्तप्रवृत्तिहेतुत्वं न । तथा हि-रज्जुसर्पदर्शनभ-
यात् परावृत्तः पुरुषो नायं सर्पो रज्जुरेवा' इत्याप्तोपदेशेन तद्वस्तुया-
थात्म्यदर्शने प्रवृत्तस्तदेव प्रत्यक्षेण दृष्ट्वा भयान्निवर्तते । न च शब्दपञ्च
प्रत्यक्षज्ञानं जनयतीति घक्तुं युक्तम्, तस्यानिन्द्रियत्वात् । ज्ञानसामग्री
ष्विन्द्रियाण्येव ह्यपरोक्षसाधनानि । न चास्यानभिसंहितफलकमानु-
ष्ठानमृदितकषायस्य भयणमनननिदिध्यासनचिमुखीकृतबाह्याधिपयस्य
पुरुषस्य वाक्यमेवापरोक्षज्ञानं जनयति, निवृत्तप्रतियन्धे तत्परेऽपि पुरुषे
ज्ञानसामग्राधिशेषाणामिन्द्रियादीनां ४ स्वाधिपयनियमातिक्रमादर्शनेन
तदयोगात् ॥

न च ध्यानस्य वाक्यार्थज्ञानोपायता, इतरेतराभ्यस्त्यात् । वा-
क्यार्थज्ञाने ज्ञाते तद्विषयध्यानम्, ध्याने निवृत्ते वाक्यार्थज्ञानम्-इति
न च ध्यानवाक्यार्थज्ञानयोर्मिन्नविषयस्थम्, तथा सति ध्यानस्य वा-
क्यार्थज्ञानोपायता न स्यात् । न ह्यन्यध्यानमन्यान्मुख्यमुत्पादयति ।
ज्ञातार्थस्मृतिसन्तीतरूपस्य ध्यानस्य वाक्यार्थज्ञानपूर्वकत्वमवर्जनीयम्

१. तै० ब्रा० १-प्र० ।

३. माण्डूक्य० १-त० २ ।

२. ब्रा० १-प्र० ८ श० ७ ।

४. स्य स्व भ्य विषयः, पा ।

ध्येयव्रणविषयज्ञानस्य हेत्यन्तरासंभवात् । न च ध्यानमूलं ज्ञानं वा-
क्यान्तरजन्यम् । निवर्तकज्ञानं तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यमिति युक्तम् ।
ध्यानमूलमिदं वाक्यान्तरजन्यं ज्ञानं तत्त्वमस्यादिवाक्यज्ञानेनेकवि-
षयम्, भिन्नविषयं वा एक विषयत्वेतदेवेगरेतराश्रयत्वम् । भिन्नविषयत्वे
ध्यानेन तदौमुख्यापादनासंभवः । किञ्च ध्यानस्य ध्येयध्यानाद्यनेक-
प्रपञ्चापेक्षत्वान्निष्प्रपञ्चब्रह्मात्मैकत्वविषयवाक्यार्थज्ञानोत्पत्तौ दृष्टद्वारेण
नोपयोग इति वाक्याधंज्ञानमात्रादविद्यानिवृत्तिं वदतः श्रवण मनननि-
दिध्यासनविधीनामानर्थक्यमेव ॥

यतो वाक्यादापरोक्ष्यज्ञानासम्भवाद्वाक्यार्थज्ञानेनाविद्या न
निवर्तते, तत एव जीवन्मुक्तिरपि दूरोत्सारिता । का चेयं जीव-
न्मुक्तिः ? । स शरीरस्यैव मोक्ष इति चेत्—‘माता मे चन्ध्या’ इति वद-
सङ्गतायं यच्च, यतस्सशरीरत्वं चन्धः, अशरीरत्वमेव मोक्ष इति त्वयैव
श्रुतिभिरुपपादितम् । अथ सशरीरत्वप्रतिभासे वर्तमानेयस्यार्थप्रतिभा-
सो मिथ्येति प्रत्ययः, नस्य सशरीरत्वनिवृत्तिरिति । न, मिथ्येति प्रत्य-
येन सशरीरत्वं निवृत्तं चेत् - कथं सशरीरस्य मुक्तिः ? । अर्जाद्यतोऽपि
मुक्तिस्सशरीरत्वमिध्याप्रतिभासनिवृत्तिरेवेति कोऽयं जीवन्मुक्तिर्गति
विशेषः । अथ सशरीरत्वप्रतिभासो बाधितोऽपि यस्य द्विचन्द्रज्ञान-
वदनुवर्तते, स जीवन्मुक्त इति चेत् न, ब्रह्मव्यतिरिक्तसकलवस्तु-
विषयत्वाद्वाधकज्ञानस्य । कारणभूताविद्याकर्माविदोयस्सशरीरत्वप्र-
तिभासेन सह तेनैव बाधित इति बाधितानुवृत्तिर्न शक्यते वक्तुम् ।
१ द्विचन्द्रादौ तु तत्प्रतिभासहेतुभूतदोषस्य बाधकज्ञानभूतचन्द्रैकत्व-
ज्ञानाविषयत्वेनाबाधितत्वात्, ‘ द्विचन्द्रप्रतिभासानुवृत्तियुक्ता । किञ्च
२ “तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ सम्पत्स्ये” इति सद्विद्या-
निष्ठस्य शरीरपातमात्रमपेक्षते मोक्ष इति वदन्तीयं श्रुतिः जीवन्मुक्तिं

× हेत्यन्तरासंभवात्—प्रपञ्चः प्रत्यक्षाद्यगोचरत्वादिति भावः ।

धारयति । सैषा जीवन्मुक्तिरापस्तस्येनापि निरस्ता—१ “वेदानिमं *
लोकममुं च परित्यज्यात्मानमन्यच्छेत् । बुद्धे भेमप्रापयां तच्छास्त्र-
विप्रतिपिद्धम् । बुद्धे चेत् भेमप्रापणमिदं न दुःखमुपलभेत । एतेन परं
ध्याय्यातम् ” इति । अनेन ज्ञानप्राप्त्यान्मोक्षश्च निरस्तः । अतस्सकलभेद-
निवृत्तिरूपा मुक्तिर्जीवतो न संभवात् ॥

तस्मादध्याननियोगेन ब्रह्मापरोक्षज्ञानफलेनैव बन्धनिवृत्तिः । न च
नियोगसाध्यत्वे मोक्षस्यानित्यत्वप्रसक्तिः, प्रतिबन्धनिवृत्तिमात्रस्यैव
साध्यत्वात् । किञ्च—न नियोगेन साक्षात् बन्धनिवृत्तिः क्रियते; किन्तु
निष्प्रपञ्चज्ञानैकरसब्रह्मापरोक्षज्ञानेन । नियोगस्तु तदापरोक्ष्यज्ञान-
जनयति ॥

कथं नियोगस्य ज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वमिति चेत्—कथं वा भव-
तोऽनभिसंहितफलानां कर्मणां चेदनोत्पत्तिहेतुत्वम् ? । मनोर्नैर्मल्यद्वारे-
णेति चेत्—ममापि तथैव । मम तु निर्मले मनसि शास्त्रेण ज्ञानमु-
त्पाद्यते । तव तु नियोगेन मनसि निर्मले ज्ञानसामग्रा यत्कथ्येति चेत्—
ध्याननियोगनिर्मलं मन एव साधनमिति ब्रूमः । केनाद्यगम्यते इति
चेत्—भवतो वा कर्मभिर्मना निर्मलं भवति, निर्मले मनसि श्रवणम-
नननिदिध्यासनैस्सकलेतरविषयविमुक्तस्यैव शास्त्रं नियतकज्ञानमुत्पा-

१ वेद शब्देन त्रिवर्गं साधनं कर्माण्युच्यन्ते, तत्सङ्गमुच्यते इमं लोकममुं
चेति । बुद्धे—वाक्यार्थं ज्ञाने जाते सति भेम प्रापयाम् मोक्षः । तच्छास्त्रं
विप्रतिपिद्धम्—शास्त्रैरिति बहु वचनस्यायम्भावः वाक्यार्थं ज्ञानोत्तरभाष्यु-
पासन विधि परैः ‘एवं वसंत्यन् वावदायुषम्’ इत्याप्रवाणादनु वृत्ति परैर्मोक्षस्य
शरीर पात मात्र सापेक्षत्वं परैस्तयोर्ध्वमायन्नं सुतत्वमेति” इति वादी विशेष
निष्क्रमण परैरर्थिरादि मार्गेण देय विशेष प्राप्ति परैर्ज्ञानैकैः शास्त्रं विरोध इति
“विप्रतिपिद्धमिति” विरोधेय प्रतिपिद्धम् ।

व्यतीति केनावगम्यते ? १ " विचिद्विपन्ति यज्ञेन दानेन तपसाना-
शकेन " २ " ध्योतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः " ३ " ब्रह्म चेद-
ब्रह्मैव भवति " इत्यादिभिश्शास्त्रैरिति चेत्...ममापि ४ " ध्योतव्यो
मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः " ४ " ब्रह्मविदाप्नोति परम् " ५ " न चक्षुषा
गृह्यते नापि वाचा " ६ " मनसा तु विशुद्धेन " ७ " हृदा मनोपा मन-
साभिकलृप्तः " ८ इत्यादिभिश्शास्त्रैर्ध्याननियोगेन मनो निर्मलं भवति
निर्मलं च मनो ब्रह्मापरोक्षज्ञानं जनयतीत्यवगम्यते— इति
धनिरवयवम् ॥

१० " नैदं यद्विदुपासते " इत्युपास्यत्वं प्रतिपिद्धमिति चेत् नैवम्,
नात्र ब्रह्मण उपास्यत्वं प्रतिपिध्यते, अपि तु ब्रह्मणो जगद्वैरूप्यं प्रति
पाद्यते । यदिदं जगदुपासते प्राणिनः, नैदं ब्रह्म; तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि,
यद्वाचाऽनभ्युदितं येन, वागभ्युद्यते... इति वाक्यार्थः । अन्यथा
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि इति चिक्थ्यते । ध्यानविधियैर्यथ्यं च स्यात् ।
अतो ब्रह्मसाक्षात्कारफलेन ध्याननियोगेनैवापरमार्थं भूतस्य कृतसत्स्य
द्रष्टृ दृश्यादिप्रपञ्चरूपबन्धस्य निवृत्तिः ॥

(अथायमेव ध्याननियोगवादी भास्करगतं दूषयितुं तदभिमतं
भेदाभेदविरोधमनुवदति) ।

यदपि कैश्चिदुक्तम्... भेदाभेदयोर्विरोधो न विद्यते— इति, तद-
युक्तम् नहि शीतोष्णतमः प्रकाशादियद्भेदाभेदाद्येकस्मिन्वस्तुनि संज्ञ-
कत्वेन । अथोच्येत— सर्वं हि वस्तु जातं प्रतीतिव्यवस्थाप्यम् । सर्वं च भिन्ना

१. बृ. ६. ४. ४. २२॥ २. बृ. १. ४. ५.

ब्रा. ६॥ ३. मुण्ड. ३. मु. २. ख. ६॥

४. तै. ब्रा. १. ४. १॥ ५. मु. ४. ३. मु. १.

ख. ८॥ ६॥ ७. कठ. १. वल्की. १॥

८. इत्यादिवाक्यैः पा ॥

९. इति शब्दो ज्ञानन्तरयावयवशेषः, इति

भूतप्रकाशिकापर्यालोचनवा भाष्ये 'निर-
वयवम्' इति पाठऽधिक इति प्रतिभाति ।

१०. केन १ ख २ ॥

भिन्नं प्रतीयते । कारणात्मना ज्ञात्यात्मना चाभिन्नम् । कार्यात्मना व्यतयात्मना च भिन्नम् । छायातपादिषु विरोधस्तद्दानवस्थानलक्षणो भिन्नाधारस्वरूपश्च । कार्यकारणयोजातिव्यक्त्योश्च तदुभयमपि नोपलभ्यते । प्रत्युत एकमेव वस्तु द्विरूपं प्रतीयते; यथा 'मृदयं घटः' 'खण्डो गौः' 'मुण्डो गौः' इति । न चैकरूपं किञ्चिदपि वस्तु १लोके-दृष्टचरम् । न च तृणादेर्ज्वलनादिवदभेदो भेदोपमर्दी दृश्यत इति । न वस्तुविरोधः; मृत्सुवर्णगवाध्यात्मनाऽवस्थितस्यैव घटमुकुटप्र-पण्डितयाद्यात्मना चावस्थानात् । न चाभिन्नस्य भिन्नस्य च वस्तुनोऽभेदो भेदश्च एक एवाकार इतीश्वराज्ञा । प्रतीतत्वादैकरूप्यं चेत्-प्रतीतत्वादेव भिन्नाभिन्नत्वमिति द्वैरूप्यमप्यभ्युपगम्यताम् । न हि विस्फारिताक्षः पुरुषो घटशरावस्त्रण्डमुण्डादिषु वस्तुपूपलभ्यमानेषु 'इयं मृत्, अयं घटः, इदं गोत्थम्, इयं व्यक्तिः' इति विवेक्तुं शक्नोति । अपि तु 'मृदयं घटः, खण्डो गौः' इत्येव प्रत्येति । अनुवृत्तिबुद्धिबोध्यं कारणमाकृतिश्च, व्यावृत्तिबुद्धिबोध्यं कार्यं व्यक्तिश्चेति विधिनर्त्तीति चेत्—नैवम्, विचिक्ताकारानुपलब्धेः । न हि १सुसूक्ष्ममपि निरीक्षमाणैः 'इदमनुवर्तमानम्, इदं च व्यावर्तमानम्' इति पुरोऽवस्थिते वस्तुन्याकारभेद उपलभ्यते । यथा संप्रतिपत्तौ कार्ये विशेषे चैकत्वबुद्धीरुपजायते; तथैव सकारणे ससामान्ये चैकत्वबुद्धिरविशिष्टोपजायते । एवमेव देशतः कालतश्चाकारतश्चात्यन्तविलक्षणेऽपि वस्तुषु तदेवेदमिति प्रत्यभिज्ञा जायते । अतो स्वात्मकमेव वस्तुप्रतीयते इति कार्यकारणयोजातिव्यक्त्योश्चात्यन्तभेदोपपादनं प्रतीतिपराहतम् । अथोच्येत... 'मृदयं घटः खण्डो गौः' इतिवत् 'देवोऽहं मनुष्योऽहम्' इति सामानाधिकरण्येनैक्यप्रतीतिरात्मशरीरयोरपि भिन्नाभिन्नत्वं स्यात्; अत इदं भेदाभेदोपपादनं निजसदननिहितदहनयहज्वालायत इति, तदिदमनाकलित भेदाभेदसाधन-

सामानाधिकरण्यतदर्थयाथात्म्याद्यबोधविलसितम् । तथा हि—
 अयाधित एव प्रत्ययः सर्वत्रार्थं व्ययस्थापयति । देवाद्यात्माभिमानस्तु
 आत्मयाथात्म्यगोचरैस्त्वैः प्रमाणैर्वाध्यमानो रज्जुसर्पादि
 युद्धिवन्मात्मशरीरयोरभेदं साधयति । 'खण्डो गौः' मुण्डो गौः' इति
 सामानाधिकरण्यस्य न केनचित्कचिद्वाधो दृश्यते । तस्मात्प्रति-
 प्रसङ्गः । अत एव जीवोऽपि ब्रह्मणो नात्यन्तभिन्नः । अपि तु
 ब्रह्मांशत्वेन भिन्नाभिन्नः । तन्नामेद एव स्वाभाविकः, भेदस्त्वौपाधिकः
 कथमवगम्यत इति चेत् ?- १ "तत्त्वमसि" २ "नान्योऽतोऽस्ति ब्रह्मा"
 ३ "अयमात्मा ब्रह्म" इत्यादिमिश्रुतिभिः ४ "ब्रह्मे वाचापृथिवी"
 इति प्रकृत्य "ब्रह्म दाशा ब्रह्म दासा ब्रह्मेमे कित्वा उत । स्त्रीपुंसौ
 ब्रह्मणो जातौ स्त्रियो ब्रह्मोत वा पुमान्" इत्याथर्वणिकानां संहितो-
 पनिपदि ब्रह्मसूक्ते अभेदध्वणाच्च । ५ "नित्यो नित्यानां चेतनश्चे-
 तनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्" ६ "ब्राह्मी द्वावजावी-
 शनीशौ" ७ "क्रियागुणैरात्मगुणैश्च कृतेषां संयोगहेतुरपरोऽपि दृष्टः"
 ८ "प्रधानक्षेत्रज्ञपतिगुणेशः संसारमोक्षस्थितिवन्धहेतुः" ९ "स कारणं
 करणाधिपाधिपः" १० "तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वस्त्यनभ्रन्नन्यो
 अभिन्नाकशीति" ११ "य आत्मनि तिष्ठन्" १२ "प्रोक्तेनाऽत्मना

॥ क्रिया गुणाः—संसार हेतु गुणाः, ज्ञान गुणाः मोक्ष हेतु गुणाः,
 तैस्संबोध हेतुरित्यर्थः ।

१ छां० ६ । प्र ८ । अ ७ ॥

२ बृ० २ । अ ७ । प्रा २३ ॥

३ बृ० ६ । अ ४ । प्रा २॥

४ ॥

५ श्वे० ६ । अ १३ ॥

६ श्वे० १ । अ २॥

७ श्वे० २ । अ १२ ॥

८ श्वे० ६ । अ १६ ॥

९ श्वे० ६ । अ १॥

१० श्वे० ४ । अ ६ ॥

११ बृ० ५ । अ ७ । प्रा २२ । माण्डूक्यनिपाठः ॥ १२ बृ० ६ । अ ३ । प्रा ११, २५

संपरिप्लवको न बाह्यं किञ्चन वेद'... "प्राज्ञेनाऽत्मनाऽन्यारूढः उत्सर्जंन्याति' १ "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति इत्यादिभिर्भेद-
ध्वणाद्य, जीवपरयोर्भेदाभेदाववस्थाभ्यणीयी, तत्र २ "ब्रह्म वेद-
ब्रह्मैव भवति इत्यादिभिर्मोक्षदशायां जीवस्य ब्रह्मस्वरूपापत्तिभ्य-
पदेशात् । ३ "यत् त्वस्य सर्वमात्मैवामृतत्वेन कं पश्येत् इति
तदानीं भेदेनेभ्यश्चरदर्शननिषेधाद्याभेदस्वाभाधिक इत्यवगम्यते ।
ननु च ४ "सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता
इति सहधृत्या तदानीमपि भेदः प्रतीयते । वक्ष्यति च ५ 'जग-
द्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितस्याद्य ६ 'भोगमात्रसाम्यलिङ्गाद्य
इति । नैतदेवम् ७ "नान्योऽनोऽस्ति द्रष्टा" इत्यादिभ्रुतिशतैरात्म-
भेदप्रतिषेधात् । "सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता
इति सर्वैः कामैस्सह ब्रह्माश्नुते-सर्वगुणान्वितं ब्रह्माश्नुत इत्युक्तं
भवति । अन्यथा ब्रह्मणा सहेत्यप्राधान्यं ब्रह्मणः प्रसज्येत । "जग-
द्व्यापारवर्जम् इत्यत्र मुक्तस्य भेदेनायस्थाने सत्यंभ्वर्यस्य न्यू-
नताप्रसङ्गे वक्ष्यते, अन्यथा ८ "संपद्याधिर्भावस्त्वेनशब्दान् इत्यादि-
मिर्विरोधात् । तस्मादभेद एव स्वाभाधिकः । भेदस्तु जीवानां
परस्मात् ब्रह्मणः, परस्परं च बुद्धोन्द्रियवेदोपाधिकृतः । यद्यपि
ब्रह्म निर्वचयवं सर्वगतं च; तथाऽप्याकाश इव घटादिना बुद्ध्या-
द्युपाधिना ब्रह्मण्यपि भेदस्संभवत्येव । न च भिन्ने ब्रह्मणि
बुद्ध्याद्युपाधिसंयोगः, बुद्ध्याद्युपाधिसंयोगानुब्रह्मणि भेद इतीत-
रेतराश्रयत्वम्; उपाधेस्तत्संयोगस्य च कर्मकृतत्वात् तत्प्रवाहस्य
त्रानादित्यात् । एतदुक्तं भवति—पूर्वकर्मसंबन्धाज्जोवात् स्वसंबन्ध
एवोपाधिरूपयते तद्युक्तात्कर्म । एवं चोजाङ्कुरन्यायेन कर्मोपाधि-
संबन्धस्थानादित्वाच्च दोषः—इति । अतो जीवानां परस्परं ब्रह्मणा

१ अ । ३ अ । ८॥

३ अ । ४ अ । ४ अ । १४॥

२ प्रतीयते—इति पा॥

७ अ । २ अ । ७ अ । २३॥

२ मुण्ड । ३ मु । २ अ । १॥

४ तै । आ १ । अनु॥

६ शारी । ४ अ । पा १७

८ शारी २ ४ । ४ । १

चामेदवत् भेदोऽपि स्वाभाविकः, उपाधीनामुपाध्यन्तराभावात्, तदभ्युप १ गमेऽनवस्थानाच्च । अतो जीवकमानुरूपं ब्रह्मणो भिन्ना-भिन्नस्वभावा एवोपाध्यउत्पद्यन्ते-इति ॥

(अथ भेदाभेदपक्षं ध्याननियोगवादी दूषयति)

अत्रोच्यते — अद्वितीयसच्चिदानन्दब्रह्मध्यानविषयाविधिपरं वेदान्तवाक्यजातमिति वेदान्तवाक्यैरभेदः प्रतीयते । भेदावलम्बिभिः कर्मशान्त्रैः प्रत्यक्षादिभिश्च भेदः प्रतीयते । भेदाभेदयोः परस्पर-विरोधान् अनाद्यविद्यामूलतयाऽपि भेदप्रतीत्युपपत्तेरभेद एव परमार्थ इत्युक्तम् । तत्र यदुक्तं—भेदाभेदयोरुभयोरपि प्रतीतिसिद्धत्वाच्च विरोधः—इति । तदुक्तम्, कस्माच्चित्तस्यचिद्विलक्षणत्वं हि तस्मा-त्तस्य भेदः । नहिपरीतत्वं चाभेदः । नयोस्तथाभावात्तथाभावरूपयो-रेकत्र सम्भवमनुमत्तः को ब्रवीति ? । कारणात्मना जात्यात्मना चाभेदः, कार्यात्मना व्यक्त्यात्मना च भेदः—इत्याकारभेदादविरोध इति चेत्—न; विकल्पासहत्वात् । आकारभेदादविरोधं यदतः किमेकस्मिन्नाकारे भेदः, आकारान्तरे चाभेदः—इत्यभिप्रायः ?; उता-कारद्वययोगिवस्तुगताबुभावपीति ? । पूर्वस्मिन् कल्पे - व्यक्तिगतो भेदः, जातिगलभ्याभेद इति नैकस्य द्वयात्मकता । जातिव्यक्ति-रिति चैकमेव वस्तित्वेति चेत्—तर्ह्यकारभेदादविरोधः परित्यक्त-स्यात् । एकस्मिन् विलक्षणत्वतद्विपर्ययो विरुद्धावित्युक्तम् । द्वितीये तु कल्पे अन्योन्यविलक्षणमाकारद्वयमप्रतिपक्षं च तदाश्रयभूतं वस्तित्वेति । तृतीयाभ्युपगमेऽपि त्रयाणामन्योन्यविलक्षण्यमेवापपादितं स्यात्; न पुनरभेदः । आकारद्वयनिरुक्त्यमाणाविरोधं तदाश्रयभूते वस्तुनि भिन्नाभिन्नत्वमिति चेत्—स्यसाद्विलक्षणां स्वाश्रयमाकारद्वयं स्वस्मिन्विरुद्धधर्मद्वयसमावेशनिर्याहकं कथं भवेत् ? । अविलक्षणां तु कथंतराम् ? । आकारद्वयतद्वतोश्च द्वयात्मकस्याभ्युपगमे निर्याहका-न्तरापेक्षयाऽनवस्था स्यात् । न च सम्प्रतिपत्तिरन्यव्यक्तिप्रतीतिघ्नं ससामान्येऽपि वस्तुन्येकरूपा प्रतीतिरुपजायते । यतः 'इदमित्थम्'

इति सर्वत्र प्रकार प्रकाशितयैव सर्वा प्रतीतिः । तत्र प्रकारांशो जातिः
 प्रकार्यंशो व्यक्तिरिति नैकाकारा प्रतीतिः । अत एव जीवस्यापि
 ब्रह्मणो भिन्नाभिन्नत्वं न सम्भवति । तस्मादभेदस्यानन्यथासिद्ध-
 शास्त्रमूलत्वाद्वादाद्यधियामूल एव भेदप्रत्ययः । नन्वेवं ब्रह्मण एवाप्रत्वं
 १ तन्मूलाश्च जन्मजरामरणादयो दोषाः प्रादुःप्युः । ततश्च २ "यस्स-
 र्वद्वस्सर्वधित्" ३ "एष आत्माऽपहृतपाप्मा" इत्यादीनि शास्त्राणि
 बाध्येरन् । नैवम्—अद्यानाद्विदोपाणामपरमार्थत्वात् । भवतस्तुपाधि-
 ब्रह्मव्यतिरिक्तं वस्तुवन्तरमनभ्युपगच्छतो ब्रह्मण्येवोपाधिसंसर्ग-
 स्तत्कृताश्च ४ जीवत्याद्यत्यादयो दोषाः परमार्थत एव भवेयुः । न
 हि ब्रह्मणि निरवयवे अच्छेद्ये सम्यद्ग्रह्यमाना उपाधयस्तच्छित्त्वा
 भित्त्वा वा सम्यद्ग्रह्यन्ते । अपि तु ब्रह्मस्वरूपे संयुज्य तस्मिन्नेव
 स्वकार्याणि कुर्वन्ति । यदि ५ मन्वीत—उपाध्युपहितं ब्रह्म जीवः ।
 स चाणुपरिमाणः । अणुत्वं चाध्वच्छेदकस्य मनसोऽणुत्वान् । स
 चाध्वच्छेदोऽनादिः एवमुपाध्युपहितंशे सम्यद्ग्रह्यमाना दोषाः अनु-
 पहिते परे ब्रह्मणि न सम्यद्ग्रह्यन्ते—इति । अयं प्रष्टव्यः—किमुपाधिना
 छिन्नो ब्रह्मस्वरूपोऽणुरूपो जीवः ? उनाच्छिन्न एवाणुरूपोपाधिसंयुक्तो
 ब्रह्मप्रदेशविशेषः ? । उतोपाधिसंयुक्तं ब्रह्मस्वरूपम् ? । अधोपाधि-
 संयुक्तं चेतनान्तरं ? । अधोपाधिरेव ? इति । अच्छेद्यत्वाद्ब्रह्मणः
 प्रथमः कल्पो न कल्पने । आदिमत्त्वं च जीवस्य स्यात् । एकस्य मनो
 द्वैधीकरणं हि च्छेदनम् । द्वितीये तु कल्पे ब्रह्मण एव प्रदेशविशेषे
 उपाधिसम्यन्धादोपाधिकास्सर्वे दोषास्तस्यैव स्युः । उपाधी गच्छ-
 त्युपाधिना स्वसंयुक्तब्रह्मप्रदेशाकर्षणायोगादनुक्षणमुपाधिसंयुक्तब्रह्म-
 प्रदेशमेवात् श्लेषेक्षणे बन्धमोक्षौ च स्याताम् । आकर्षणे चाच्छि-
 न्नत्वात् कृत्स्नस्य ब्रह्मणः आकर्षणं स्यात् । निरंशस्य व्यापिनः आक-
 र्षणं न सम्भवतीति चेत्—तर्हि उपाधिरेव गच्छतीति पूर्वोक्त एव
 दोषाः स्यात् । अच्छिन्नब्रह्मप्रदेशेषु सर्वापाधिसंसर्गे सर्वेषां च

१ तन्मूला जन्मजरामरणा पा० ॥

२ मुण्ड । १ मु । १ ख

३ द्या । ८ प्र० १ ख० ५

४ जीवत्यादयो पा० ।

५ मन्वीथा पा० ।

जीवानां ब्रह्मण एव १ प्रदेशत्वेनैकत्वेन प्रतिसन्धानं न स्यात् । प्रदेश-
भेदादप्रतिसन्धाने चैकस्यापि सोपाधौ २ गच्छति प्रतिसन्धानं न
स्यात् । तृतीये तु कल्पे ब्रह्मस्वरूपस्यैवोपाधिसम्बन्धेन जीवत्वापातात्
तदतिरिक्तानुपहितब्रह्मासिद्धिः स्यात् । सर्वेषु च देहेष्वेक एव जीवः
स्यात् । तुरीये तु कल्पे ब्रह्मणोऽन्य एव जीव इति जीवभेदस्योपाधि-
कत्वं परित्यक्तं स्यात् । चरमे चार्वाकपक्ष एव परिगृहीतः स्यात् ।
तस्मादभेदशास्त्रबलेन कृत्स्नस्य भेदस्याधिद्यामूलत्वमेवाभ्युपगन्तव्यम् ।
अतः प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रयोजनपरतयैव शास्त्रस्य प्रामाण्येऽपि ध्यानवि-
धिशेषतया वेदान्तवाक्यानां ब्रह्मस्वरूपे प्रामाण्य ३ मुपपन्नम्--इति ॥

(ध्याननियोगवादिपक्षं दूषयति)

तदप्ययुक्तम्--ध्यानविधिशेषत्वेऽपि वेदान्तवाक्यानामर्थस-
त्यत्वे प्रामाण्यायोगात् । एतदुक्तं भवति--ब्रह्मस्वरूपगोचराणि
वाक्यानि किं ध्यानविधिनैकवाक्यतामापन्नानि ब्रह्मस्वरूपे प्रामाण्यं
प्रतिपद्यन्ते ; उत स्वतन्त्राण्येव ? । एकवाक्यत्वे ध्यानविधिपरत्वेन
ब्रह्मस्वरूपे तात्पर्यं न सम्भवति । मिश्रवाक्यत्वे प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रयो-
जनधिरहादनवबोधकत्वमेव । न च वाच्यम्--ध्यानं नाम स्मृति-
सन्ततिरूपम् । तच्च स्मर्तव्यैकनिरूपणीयमिति ध्यानविधेरस्मर्तव्य-
विशेषाकाङ्क्षायाम् ४ "इदं सर्वं यदयमात्मा" ५ "ब्रह्म सचांनुमूः"
६ "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादीनि स्वरूपतद्विशेषादीनि समर्प-
यन्ति । तेनैकवाक्यतामापन्नान्यर्थसद्भावे प्रमाणम्--इति, ध्यान-
विधेरस्मर्तव्यविशेषापेक्षत्वेऽपि ७ "नाम ब्रह्म" इत्यादिद्विविधिवद-
सत्येनाप्यर्थविशेषेण ध्याननिवृत्त्युपपत्तेः ध्येयसत्यत्वानपेक्षणात् ।

१ प्रदेशत्वेनैकत्वप्रतिपत्तिः ।

२ गच्छति सति ।

३ उपपन्नतरम् ।

४ सू० ४ अ० ४ भा० ६ ।

५ सू० ४ अ० २ भा० १६ ।

६ तै० ब्रा० १ अनु० ।

७ सू० ७ अ० १ ख० २ । समनो ब्रह्म० पा० का० । ७ अ० २ ख० २ ।

भूतो वेदान्तवाक्यानां प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रयोजनविधुरत्वाद्दधानविधि-
शेषत्वेऽपि ध्वं विशेषस्वरूपसर्पणमात्रपर्यवसानात्, स्वातन्त्र्येऽपि
प्रालानुराधुपच्छन्दनवाक्यवत् दानमाह्नौ यैव पुरुषार्थपर्यन्ततासि-
द्धेश्च परिनिष्पन्नवस्तुसत्यतागोचरत्वाभावात् ब्रह्मणश्शास्त्रप्रमाण-
कत्वं न सम्भवतीति प्राप्तम् ।

(सिद्धान्तः)

तत्र-प्रतिपाद्यते—तत्तु समन्वयात् इति । समन्वयः—सम्यग-
न्वयः पुरुषार्थतयाऽन्वय इत्यर्थः । परम पुरुषार्थभूतस्यानवधिका-
तिशयानन्दस्वरूपस्य ब्रह्मणोऽभिधेयतयाऽन्वयात् तत् शास्त्रप्रमाण-
कत्वं सिध्यत्येवेत्यर्थः । निरस्तनिखिलदोषनिरतिशयानन्दस्वरूपतया
परमप्राप्यं ब्रह्म बोधयन्वेदान्तवाक्यगणः प्रवृत्तिनिवृत्तिपरतावि-
रहान्न प्रयोजनपर्यवसायीति ब्रुवाणो राजकुलघासिनः पुरुषस्य
कीलेयककुलाननुप्रवेशेन प्रयोजनशून्यतां व्रूते । एतदुक्तं भवति—
अनादिकर्मरूपाविद्यावेष्टनतिरोहिनपरावरतत्त्वयाथात्म्यसम्भारूपा—
वबोधानां देवासुरगन्धर्वसिद्धविद्याधरकिन्नरकिम्पुरुष १ यक्षराक्ष-
सगिशाचमनुजपशुशकुनिसरीसृपवृक्षगुल्मलतादूर्लादीनां स्त्रीपुनप-
सकमेदमिन्नानां क्षेत्रज्ञानां व्यवस्थितधारकगोपकमोग्यविशेषाणां मुक्ता
नां स्वस्य चाविशेषेणानुभवसम्भवे स्वरूपगुणविभवचेष्टितैरनवधिका-
तिशयानन्दजननंशरं ब्रह्मास्तीति बोधयद्देव वाक्यं प्रयोजनपर्यवसा-
यि । प्रवृत्तिनिवृत्तिनिष्ठं तु यावत्पुरुषार्थान्वयबोधं न प्रयोजनपर्यव-
सायि । एवं भूतं परं ब्रह्म कथं प्राप्यत इत्यपेक्षायां २ "ब्रह्मविदाप्नो-
ति परम्" ३ "आत्मानमेव लोकमुपासीत" इति वेदानादिशान्दैरूपासनं
ब्रह्मप्राप्त्युपायतया विधीयते । यथा ४ स्ववेश्मनि 'निधिरस्ति' इति
वाक्येन निधिसद्भावं ज्ञात्वा तृप्तस्तन् पश्चात्तदुपादाने च प्रयतते ।

यथाच-कश्चिद्राजकुमारो बालक्रीडासक्तो नरेन्द्रभयनाग्निष्कान्तो
मार्गाङ्गद्वयो नष्ट इति राज्ञा विज्ञातस्त्वयं चाज्ञातपितृकः केनचिद्विज-
वर्येण धर्मितोऽधिगतवेदशास्त्रव्योदशवर्षस्सर्वकल्याणगुणाकरस्तिष्ठन्
'पिता ते सर्वलोकाधिपतिः गाम्भीर्योदार्यवात्सल्यसीशील्यशौर्य-
वीर्यपरक्रमादिगुणसम्पन्नस्त्वामेव नष्टं पुत्रं विद्वद्भुः पुरधरे तिष्ठति'
इति केनचिदभियुक्तमेन प्रयुक्तं वाक्यं शृणोति चेत्-तदानीमेव
'अहं तावत् जोयतः पुत्रः, मत्पिता च सर्वसम्पत्समृद्धः' इति निर-
तिशयहर्षसमन्वितो भवति । राजा च स्वपुत्रं जीवन्तमरोगमति
मनोहरदर्शनं विदित्सकलवेद्यं भुत्वाऽघातसमस्त १ पुरुषार्थो
भवति । पश्चात्तदुपादाने च प्रतयते । पश्चात्तावुभौ सङ्गच्छेते
च- इति ॥

यत्पुनः-परिनिष्पन्नवस्तुगोचरस्य वाक्यस्य तज्ज्ञानमार्त्त-
णापि पुरुषार्थपर्यवसानात् बालातुराद्युपच्छन्दनवाक्ययन्मार्त्तसद्भावे
प्रामाण्यम्-इति । तद्वत्-अर्थसद्भावाभावे निश्चिते ज्ञातोऽप्यर्थः
पुरुषार्थाय न भवति । २ बालातुरादीनामप्यर्थसद्भावस्रान्त्या हर्षा-
द्युत्पत्तिः । तेषामेव तस्मिन्नेव ज्ञाने विद्यमाने यद्यर्थभावनिश्चयो
जायेत, ततस्तदानीमेव हर्षादयो निवर्तेरन् । औपनिवेद्यपि वाक्येषु
ब्रह्मास्तित्यत्तात्पर्याभावनिश्चये ब्रह्मज्ञाने सत्यपि पुरुषार्थपर्यवसानं
न स्यात् । अतः ३ "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इत्यादिवाक्यं
निखिलजगदेककारणं निरस्तनिखिलदोषगन्धं सार्वज्ञ्यसत्यसङ्कुल-
त्वाद्यनन्तकल्याणगुणाकरमनवधिकातिशयानन्दं ब्रह्मास्तीति बोध-
यतीति सिद्धम् ॥ ४ ॥

इति शारीरकमीमांसाभाष्ये समन्वयाधिकरणम् ॥ ४॥

१ पुरुषार्थो भवति पश्चात्तावुभौ सङ्गच्छेते च पा० ।

२ बालादीनामर्थः ।

३ तै ४ पु० १ अनु १ ।

४ हर्षाद्युत्पत्ति पा० ।

(आरीरकमीमांसाभाष्ये ईक्षत्यधिकरणम् ॥५॥)

ईक्षतेर्नाशब्दम् । १।१।५॥

१“यतो वा इमानि” इत्यादिजगत्कारणवादिवाक्यप्रतिपाद्यं सर्वज्ञं सर्वशक्तिं समस्तहेयप्रत्यनीककल्याणगुणैकतानं ब्रह्म जिघास्य-मित्युक्तम् । इदानीं जगत्कारणवादिवाक्यानामानुमानिकप्रधानादि-प्रतिपादनानर्हतोच्यते—ईक्षतेर्नाशब्दम्—इत्यादिना ॥

इदमाह्नायते छान्दोग्ये—२“सदेव सोम्येदमग्र आसीदेक-मेवाद्वितीयम् । तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत” इत्यादि ३ तत्र सन्वेहः—किं सच्छब्दवाच्यं जगत्कारणं परोकमानुमानिकं प्रधानम् ?, उतोकलक्षणं ब्रह्म--इति ॥

किं प्राप्तम् ? प्रधानमिति । कुत ? ४“सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेव” इतीदंशब्दवाच्यस्य चेतनभोग्यभूतस्य सत्त्वरजस्त-मामयस्य वियदादिनानारूपविकाराधस्य यस्तुनः कारणावस्थां वदति । कारणभूतद्रव्यस्यावस्थान्तरापत्तिरेव हि कार्यता । अतो यद्वद्रव्यं यत्स्वभावं च कार्यावस्थम् ; तत्स्वभावं तदेव द्रव्यं कारणा-वस्थम् । सत्त्वादिमयं च कार्यमिति गुणसाम्यावस्थं प्रधानमेव हि कारणम् । तदेयोपसंहृतसकलविशेषं सन्मात्रमिति ५“सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्” इत्यभिधीयते । तत एव च कार्यकारणयोरनन्यत्वम् । तथा सत्येवैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिशो-पपत्तिः । अन्यथा ६“यथा सोम्येकेन मृत्पिण्डेन” इत्यादि मृत्पि-ण्डनत्कार्यदृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्धैरूप्यं चेति जगत्कारणवादिवाक्येन महर्षिणा कपिलेनोक्तं प्रधानमेव प्रतिपाद्यते । प्रतिशदृष्टान्तरूपेणा-नुमानयेयमेव चेदं वाक्यमिति सच्छब्दवाच्यमानुमानिकमेव --

इत्येवं प्राप्तेऽभिधीयते--ईक्षतेर्नाशब्दम्--इति । यस्मिन् शब्दे
एव प्रमाणं न भवति, तदशब्दम् आनुमानिकं प्रधानमित्यर्थः । न
तल्लगत्कारणयादिवाक्यप्रतिपाद्यम्, कुतः ? ईक्षते--सच्छब्दवाच्य-
सम्यन्धिर्व्यापारनिशेषाभिधायिन ईक्षतेर्धातोश्चवणात् । १ "तदैक्षत
यद्दु स्यां प्रजायेय" इति ईक्षणक्रियायोगश्चाचेतने प्रधाने न सम्भ-
वति । अत ईदृशेक्षणक्षमश्चेतन विशेषस्सर्वशक्तस्सर्वशक्तिः पुरुषोत्तम-
स्सच्छब्दाभिधेयः । तथा च सर्वेष्वेव सृष्टिप्रकरणेष्वीक्षापूर्विकैव
सृष्टिः प्रतीयते--२ "स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति स इमाल्लोकान-
सृजत" ३ "स ईक्षाञ्चक्रं--स प्राणानसृजत" इत्यादिषु । ननु च
कार्यानुगुणेनैव कारणेन भवितव्यम् । सत्यम् ; सर्वकार्यानुगुण एव
सर्वशक्तस्सर्वशक्तिस्सत्यसङ्कल्पः पुरुषोत्तमस्सूक्ष्मचिदचिद्वस्तुशारीरकः ।
यथाऽऽह--४ "पराऽस्य शक्तिर्विविधैव ध्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबल-
क्रिया च" ५ "यस्सर्वशक्तस्सर्वचिदस्य ज्ञानमयं तपः" ६ "यस्याव्यक्तं
शरीरं यस्याक्षरं शरीरं यस्य सृत्युशशरीरम् एष सर्वभूतान्तरात्मा"
इति । तदेतत्--७ "न विलक्षणत्वात्" इत्यादिषु प्रतिपादयिष्यते ।
अत्र सृष्टिवाक्यानि न प्रधानप्रतिपादनयोग्यानीत्युच्यते । वस्तुविरो-
धस्तु तत्रैव परिहरिष्यते । यत्तूक्तं--प्रतिष्ठादृष्टान्तयोगादनुमानरूप-
मवेदं वाक्यम्--इति, तदसत् । हेत्यनुपाधानात् । ८ "येनाश्रुतं
धृतम्" इत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञाने प्रतिगिपादयिष्यते सचात्मना
तदसम्भवं मन्यानस्य तत्सम्भवमात्रप्रदर्शनाय हि दृष्टान्तोपादानम् ।
ईक्षत्यादिश्रयणादेव ह्यनुमानगन्धाभावोऽवगतः ॥ ५ ॥

अथ स्यात्--न चेतनगतं मुख्यमीक्षणमिहोच्यते, अपि तु प्रधा-
नगतं गौणमीक्षणम्, ९ "तत्तेज ऐक्षत--ता आप ऐक्षन्त" इति गौणे-

१ छा० ६ प्र० २ ख० ३ ।

२ यै० १ ख० १-२ ।

३ प्रश्न ६ प्रश्न ३-४ ।

४ इवे० ६ अ० ८ ।

५ मु० १ मु० १ ख० ३ ।

६ मु० ७ ख० मुरीयातीनायधृतोप च० १ ।

७ शारी० २ अ० १ पा० ४ सू० ८ छा० ६ प्र० १ ख० ६ ।

८ छा० ६ प्र० २ ख० ३-४ ।

क्षणसाहचर्यात् भवति चाचेतनेऽपि चेतनधर्मोपचारः । यथा—
'वृष्टिप्रतीक्षाशालयः' १"चरणं योजं प्रति सञ्जहर्ष" इति । अतो
गौणमीक्षणमितीमामाशङ्कामनुभाष्य परिहरति—

गौणश्चेन्नात्मशब्दात् । १।१।६॥

यदुक्तं—गौणोक्षणसाहचर्यात् सतोऽपीक्षणव्यपदेशासर्गनि-
यतपूर्वावस्थामिप्रायो गौणः इति । २"येतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं
स आत्मा" इति सच्छब्दप्रतिपादतस्य आत्मशब्देन व्यपदेशान् ।
एतदुक्तं भवति ३"येतदात्म्यमिदं सर्वम् । स आत्मा" इति चेतना-
चेतनप्रपञ्चोद्देशेन सत आत्मत्वोपदेशोऽयं नाचेतने प्रधाने सङ्गच्छते
—इति । अतस्तेजोऽवधानामपि परमात्मैवात्मैति तेजः प्रभृतयोऽपि
शब्दाः परमात्मन एव याचकाः । तथाहि—४"हन्ताहमिमास्तिष्ठो
देवता बनेन जीवेनाऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" इति
परमात्मानुप्रवेशादेव तेजः प्रभृतीनां यस्तु त्वं तत्तज्ज्ञामभाक्त्यञ्जैति
५ 'तत्तेज ऐक्षत' 'ता आप ऐक्षन्त' इत्यपि मुख्यपवेक्षणव्यपदेशः ।
अनरसाहचर्यादपि "तदैक्षत" इत्यत्र ६ गौणत्वाशङ्का दूरोत्सारि-
नेति सूत्राभिप्रायः ॥ ६ ॥

इतश्च न प्रधानं सच्छब्दप्रतिपाद्यम्—

तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् । १।१।७॥

मुमुक्षोश्चेतकेतोः "तत्त्वमसि" इति सदात्मकत्वानुसन्धान-
नमुपविश्य, तन्निष्ठस्य ७"तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अप्य
सम्पत्स्ये" इति शरीरपातमात्रान्तरायो ब्रह्मसम्पत्तिलक्षणो मोक्ष

१ रामायणे सुन्दर० २६ सर्ग० ६ श्लो० ।

३ श्रौ० ६ प्र० ८ ख० ७ ।

२ श्रौ० ६ प्र० २ ख० ३-४ ।

० श्रौ० ६ प्र० १४ ख० २ ।

२ प० छा० ६ प्र० ८ ख० ७ ।

४ श्रौ० ६ प्र० ३ ख० २ ।

६ गौणत्वादिकाङ्क्षा पा० ।

इत्युपदिशति । यदि च प्रधानमचेननं कारणमुपा-दिश्येत; तदा तदा-
त्मकत्वानुसन्धानस्य मोक्षसाधनत्वापदेशो नोपपद्यते । १“यथाकतु-
रस्मिहृत्को पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति” इति तन्निष्ठस्याचेतन-
सम्पत्तिरेव स्यात् । नच मातापितृसहस्रेभ्योऽपि २ वत्सलतरं
शास्त्रमेवधिधतापत्रयाभिहितं हेतुभूतामचित्सम्पत्तिमुपदिशति । प्रधा-
नकरणत्वादिनोऽपि हि प्रधाननिष्ठस्य मोक्षं नाभ्युपगच्छन्ति ॥७॥

इतश्च न प्रधानम्—

हेयत्वावचनाच्च १ । १ । ८ ॥

यदि प्रधानमेव कारणं सच्छब्दा ३ भिहितं भवेत्—तदा
मुमुक्षोश्चेतकोतोस्तदात्मकत्वं मोक्षविरोधित्वाद्धेयत्वेनैवोपदेश्यं
स्यात् । न च तत्क्रियते, प्रत्युतोपादेयत्वेनैव ४“तत्त्वमसि” ५“तस्य
तावदेव चिरम्” इत्युपदिश्यते ॥ ८ ॥

इतश्च न प्रधानम्—

प्रतिज्ञाविरोधात् १ । १ । ९ ॥

प्रधानकरणत्वे प्रतिज्ञाविरोधश्च भवति । चाक्योपक्रमे लोक-
विज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञातमात्मनश्च कार्यकारणयोरनन्यत्वेन कारण
भूतसन्निधानात्तत्कार्यं भूतत्वेननाचेतनप्रपञ्चस्य ज्ञाततयैवोपपादनीयम्
तत्तु प्रधान कारणस्य चेतनवर्गस्य प्रधानकार्यत्वाभावात् प्रधानवि-
ज्ञानेन चेतनवर्गविज्ञानासिद्धेर्विरुध्यते ॥ ९ ॥

१ अ० १ प्र० १२ ख० १ ।

२ भिहितं तदा पा० ।

५ अ० ६ प्र० १४ ख० २ ॥

३ यत्सलतरं हि शास्त्रं पा० ।

४ अ० ६ प्र० ८ ख० ७ ।

इतश्च न प्रधानम्—

स्वाप्ययात् १ । १ । १० ॥

तदेव सच्छब्दवाच्यं प्रकृत्याह १ " स्वप्नान्तं मे सोम्य विज्ञानी-
हीति यत्र तत्पुरुषस्वपिति नाम सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति
स्वमपीतो भवति तस्मादेनं स्वपितोत्याचक्षते स्वं ह्यपीतो भवति" इति
सुपुप्तं जीवं सता सम्पन्नं. स्वमपीतः—स्वस्मिन् प्रलीनः इति व्यप—
दिशति । प्रलयश्च-स्वकारणे लयः । न चाचेतनं प्रधानं चेतनस्य
जीवस्य कारणं २ भवितुमर्हति । स्वमपीतो भवति—आत्मानमेव
जीवोऽपीतो भवतीत्यर्थः । चिद्वस्तुशरीरकं तदात्मभूतं ब्रह्म च ३
जीवशब्देनाभिधीयत इति नामरूप व्याकरणभृत्योक्तम् । तज्जीवश-
ब्दाभिधेयं ब्रह्म सुपुप्तिकालेऽपि प्रलयकाल इव नामरूपपरिष्वङ्गाभा-
वात् केवलसच्छब्दाभिधेयमिति. ४ "सता सोम्य तदा सम्पन्नो
भवति स्वमपीतो भवति" इत्युच्यते । तथा समानप्रकरणे नामरूपप-
रिष्वङ्गाभावेन प्राज्ञेनैव परिष्वङ्गात् ५ "प्राज्ञेनाऽत्मना सम्परिष्वक्तो
न बाह्यं किञ्चन वेद नाऽन्तरम्" इत्युच्यते । आमांक्षाजीवस्य नाम-
रूपपरिष्वङ्गादेव हि स्वयतिरिक्तविषयदानोदयः । सुपुप्तिकाले हि
नामरूपे विहाय सता सम्परिष्वक्तः पुनरपि इजागरदशायां नामरूपे
परिष्वज्य तत्तज्जामरूपो भवतीति भृत्यन्तरे स्पष्टमभिधीयते-७ "यदा
८ सुप्तस्वप्नं न शक्नुवन् पश्यति १० अथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति"
११ "तस्माद्वा १२ आत्मनः प्राणा १३ यथायथं विप्रतिष्ठन्ते"; १४ तथा

१ छा० ६ प्र० ८ ख० १

२ भवति पा०

३ जीवशब्देनाव्यभिधी पा०

४ छा० ६ प्र० ८ ख० १

५ बृ० ६ अ० २ प्रा० २१

६ जागरण पा०

७ कौपीतकी ४ अ० १६

८ सुपुप्तः पा०

८ कथञ्चन पा०

१० कौपी ४ अ० १६

११ एतस्मादात्मनः, एतस्माद्वा आत्मनः पा० १२ यथायतनं पा०

१३ यथा पा०

१४ छा० ६ प्र० ८ ख० ६

१ "त इह व्याघ्रो वा २ सिंहो वा वृको वा वराहो वा दंशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तथा भवन्ति"—इति च । तथा सुषुप्तं जीवं
* "प्राक्षेनात्मना सम्परिष्वक्तः" इति च वदति ॥

तस्मात् सच्छब्दवाक्यः "परं ब्रह्म सर्वज्ञः परमेश्वरः पुंसो-
सम एव । तदाह वृत्तिकारः—* "सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति"
इति, सम्पत्त्यसम्पत्तिभ्यामेतदध्यवसोयते—* "प्राक्षेऽनात्मना सम्प-
रिष्वक्तः" इति चाह इति ॥ १० ॥

इतश्च न प्रधानम्—

गति सामान्यात् १ । १।१।११

१ "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किञ्चन मिपत् ।
स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति । स इमाँल्लोकानसृजत" ४ "तस्माद्वा-
एतस्मादात्मन आकाशस्सम्भूतः । आकाद्यायुः । वायोरग्निः । अग्ने-
रापः । अद्भ्यः पृथिवी" ५ "तस्यह वा एतस्य महतो भूतस्य निश्च-
सितमेतद्यद्भवेद्" इत्यादि सृष्टिवाक्यानां या गतिः—प्रवृत्तिः,
तत्सामान्यात्—तत्समानार्थत्वादस्य, तेषु च सर्वेषु सर्वेश्वरः कार-
णमयगम्यते । तस्मादत्रापि सर्वेश्वर एव कारणमिति निश्चीयते ॥११॥

इतश्च न प्रधानम्—

श्रुतत्वाच्च १ । ९ । ९२ ॥

भूतमेव ह्यस्यामुपनिषदि अस्य सच्छब्दवाक्यस्य आत्मत्वेन
नामरूपयोर्ग्राह्यत्वं, सर्वज्ञत्वं, सर्वशक्तित्वं, सर्वाधारत्वम्, अप-

१ सिंहोवावृकोवायद्यद्भवन्ति तथाभ, पा. २ तै० आन० १ अनु०

३ ऐत० १ अ० १ ख०

४ तै० आन० १ अनु०

५ सुषु० २

हृतपाप्मत्वादिकं, सत्यकामत्वं. सन्यसङ्कल्पत्वञ्च—१ “अनेन जीवे-
नाऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि” २ “सन्मूलास्सोम्पेमा-
स्सवाः प्रजास्सदायतनास्सत्प्रतिष्ठाः” ३ “एनदात्म्यमिदं सर्वं न
स्त्यं स आत्मा” ४ “यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन्समा-
हितम् । ५ तस्मिन् कामाश्चमाहिनाः” ६ “एष आत्माऽपहतृण प्मा
विजरो विमृत्युर्विशोको विजघत्सोऽपिपासस्सत्यकामस्सत्यसङ्कल्पः”
इति ॥

तथाच ध्रुव्यन्तराणि ७ “न तस्य कश्चित्पातिरस्ति लोके न
चेष्टिता नैव च तस्य लिङ्गम् । स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य
कश्चिज्जनिता न चाधिपः” ८ “सर्वाणिरूपाणि विचित्र्य धीगो
नामानि कृत्वाऽभिवदन्यदास्ते” ९ “अन्तः प्रविष्टश्चास्ता जनानां
सर्वात्मा” १० “विश्वात्मानं परायणम्” १० “पतिं विश्वस्याऽत्मे-
भ्वरम्” ११ “यच्च किञ्चिज्जगत्यस्मिन् दृश्यते ध्रूयतेऽपिवा । अन्त-
र्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः” १२ “एष सर्वभूतान्तरा-
त्माऽपहतापाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः” इत्यादीनि । तस्मा-
ज्जगत्कारण १२ वादिवाक्यं न प्रधानादिप्रतिपादनयोग्यम् । अतस्स-
र्वज्ञस्सर्वशक्तस्सर्वेश्वरेश्वरो निरस्त १३ निखिलक्षोपगन्धोऽनयधि-
कातिशयाङ्ग्येयकन्याणगुणगणीधमहासांघः पुरुषोत्तमो नारायण एव
निखिलजगदेककारण जिज्ञास्यं ब्रह्मेति स्थितम् ॥

अत एव निर्विशेषचिन्मात्रग्रन्थाद्वादोऽपि सूत्रकारेण आभिप्रे-
तिभिः निरस्तो वेदिन्यः, पारमार्थिकमुख्येक्षणान्विगुणयोगि जिज्ञा-

१ वा० ६ प्र० ३ ख० २

४ वा० ८ प्र० १ ख० ३-५

७ खे० ६ प्र० १॥

८ तै-आरण्य, चित्त-३,

प्रभ-११, अनु २१, पा ॥

१२ पाटीनिवाक्यानि न

प्रधानप्रतिपादन योग्यानि, पा ॥

७, ३, वा० ६ प्र० ८ ख० ६-७

९ अस्मिन् पा० ६ वा० ८-१-२

८ तै-आरण्य ब्रह्ममेव-पुरुषसु-३, १२, १३ ॥

१० तै-ना-११ अनु ॥

११ सुवा, खं. ७॥

१३ समस्त, पा ॥

स्यं ग्रहोति स्थापनात् । निर्विशेषवादे हि साक्षित्वमप्यपारमार्थिकं
 वेदान्नवेधं ब्रह्म जिज्ञास्यतया प्रतिज्ञातम् । तच्च चेतनमिति—ईक्षते-
 नांशब्दम्—इत्यादिभिस्सूत्रैः प्रणिपाद्यते । चेतनत्वं नाम चैतन्य-
 गुणयोगः । अत ईक्षणगुणधिरहिणः प्रधानतुल्यत्वमेव । किञ्च—
 निर्विशेषप्रकाशमात्रब्रह्मवादे तस्य प्रकाशत्वमपि पुरुषपादम् । प्रकाशो
 हि नाम स्वस्य परस्य च व्यवहारयोग्यतामापादयन्वस्तुविशेषः ।
 निर्विशेषस्य वस्तुनस्तदुभयरूपत्वाभावात् घटादिवदचिस्त्वमेव ।
 तदुभयरूपत्वाभावेऽपि तत्क्षमत्वमस्तीति चेत्—नन्व, तत्क्षमत्वं हि
 तत्सामर्थ्यमेव । सामर्थ्यगुणयोगे हि निर्विशेषवादः परित्यक्तस्स्यात् ।
 अथ श्रुतिप्रामाण्यादयमेको विशेषोऽभ्युपगम्यत इति चेत्—हन्त
 तर्हि तत् एव सर्वप्रता, सर्वशक्तित्वं, सर्वेश्वरेश्वरत्वं, सर्वकल्याण-
 गुणाकर्तृत्वं, सकलहेयप्रत्यनाकतेत्यादयस्सर्वेऽभ्युपगन्तव्याः । शक्ति-
 मत्त्वं च कार्यविशेषानुगुणत्वम् । तच्च कार्यविशेषैकनिरूपणीयम् ;
 कार्यविशेषस्य निष्प्रमाणकत्वे तदैकनिरूपणीयं शक्तिमत्त्वमपि निष्प्र-
 माणकं स्यात् । किञ्च निर्विशेषवस्तुवादिनो वस्तुत्वमपि निष्प्रमाणम् ।
 प्रत्यक्षानुमानागमस्यानुभवाः सविशेषगोचरा इति पूर्वमेवोक्तम् ।
 तस्माद्विचित्रचेतनाचेतनात्मकजगद्रूपेण १ “ बहु स्याम् ” इतीक्ष-
 णक्षमः पुरुषोत्तम एव जिज्ञास्य इति सिद्धम् ॥ १२ ॥

इति श्री शारीरकमीमांसाभाष्ये ईक्षत्यभिकरणम् ॥५॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये आनन्दमयाधिकरणम् ॥ ६ ॥)

एवं जिज्ञासितस्य ब्रह्मणश्चेतनभोग्यभूतजडरूपसत्त्वरजस्तमो-
 मयप्रधानादुच्यते धृतिरुक्ता इदानीं कर्मयस्यात् त्रिगुणात्मकप्रकृतिसंसर्ग-
 निमित्तनानाधिधानन्तदुःखसागरनिमज्जनेनाशुद्धाच्छुद्धाद्य प्रत्यगात्म-
 नोऽन्यान्नखिलहेयप्रत्यनीकनिरतिशयानन्दं ग्रहोति प्रणिपाद्यते--

आनन्दमयोऽभ्यासात् । १।१।१३॥

तैत्तिरीया अर्थायते—१ “ स या एष पुरुषोऽन्नरसमयः ” इति प्रकृत्य २ “ तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात् । अन्योऽन्तर आत्मा-ऽनन्दमयः ” इति । तन्न सन्देहः—किमयमानन्दमयो बन्धमाक्ष-भागिनः प्रत्यगात्मनो जीवशब्दामिलपनीयादन्यः परमात्मा; उत स एव—इति ॥

किं युक्तम् ? प्रत्यगात्मन्ति । कुतः ? ३ “ तस्यैव एव शारीर आत्मा ” इत्यानन्दमयस्य शारीरत्ववचनात् ; शारीरो हि शरीर-सम्बन्धी जायात्मा ।

ननु च जगत्कारणतया प्रतिपादितस्य ब्रह्मणः सुखप्रतिपत्त्य-र्थमन्नमयादीननुक्रम्य तदेव जगत्कारणमानन्दमय इत्युपदिशति; जगत्कारणं च ४ “ तदैक्षत ” इतीक्षणवचनात्सर्वघ्नस्सर्वेश्वर इत्युक्तम् ॥

सत्यमुक्तम् ; स तु जीवाभातिरिच्यते—५ “ अनेन जीवेना-ऽत्मनाऽनुप्रविश्य ” ६ “ तत्त्वमसि श्वेतकेतो ” इति कारणतया निर्दिष्टस्य जीवसामानाधिकरण्यनिर्देशात् । सामानाधिकरण्यं ह्येक-त्वप्रतिपादनपरम् ; यथा ‘ सोऽयं वेद्यदत्तः ’ इत्यादौ । ईक्षापूर्विका च सृष्टिश्वेतनस्य जीवस्योपपद्यत एव । अतः ७ “ ब्रह्मविदामोति परम् ” इति जीवस्याच्चित्संसर्गवियुक्तं स्वरूपं प्राप्यतयोपदिश्यते । अचिह्नियुक्तस्वरूपस्य लक्षणमिदमुच्यते ८ “ सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ” इति । तद्रूपप्राप्तिरेव हि मोक्षः । ९ “ न ह वै सशरीरस्य सतः

१ तै. आन. १ अनु

२ तै. आन. ५-२

३ तै. आन. ५ अनु

४ का. १, २, ३

५ का. १, ३, २

६ का. ६, ८, ७

७, ८, तै. आन. १

९ का. ८, १२, १

प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति । अशरीरं वाचसन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः ” इति । अतो जीवस्याविद्यावियुक्तं स्वरूपं प्राप्यतया प्रकान्तमानन्दमय इत्युपदिश्यते । तथाहि—शास्त्राच्चन्द्रन्यायेनाऽऽत्मस्वरूपं दर्शयितुम् १ “ भ्रममयः पुरुषः ” इति शरीरं प्रथमं निर्दिश्य तदन्तरभूतं तस्य धारकं पञ्चवृत्तिप्राणम्, तस्याप्यन्तरभूतं मनः, तदन्तरभूतां च बुद्धिः, २ “ प्राणमयो ” ३ “ मनोमयो ” ४ विज्ञानमयः ” इति तत्रतत्र बुद्ध्यवतरणक्रमेण निर्दिश्य सर्वान्तरभूतं जीवात्मानम् ५ “ अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः ” इत्युपदिश्यान्तरात्मपरम्परां समापयति । अतो जीवात्मस्वरूपमेव ६ “ ७ ब्रह्मविद्याप्रोति ” इति प्रकान्तं ब्रह्म; तदेवाऽनन्दमय इत्युपदिष्टमिति निश्चीयते ॥

ननुच—८ “ ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा ” इत्यानन्दमयादन्यद्वृत्तिब्रह्मेति प्रतीयते । नैवं—ब्रह्मैव स्वस्वभावविशेषेण पुरुषविधत्स्वरूपितं शिरः पक्षपुच्छरूपेण व्यपदिश्यते । यथाऽभ्रमयो देहोऽवयवी स्वस्मादनतिरिक्तैः स्वाक्यवैरेव ९ “ तस्येदमेव शिरः ” इत्यादिना शिरःपक्ष-पुच्छव्येसया निर्दिशितः; तथा आनन्दमयं ब्रह्मापि स्वस्मादनतिरिक्तैः प्रियादिभिर्निर्दिशितम् । तत्रावयवत्वेन रूपितानां प्रियमोदप्रमोदा-नन्दानामाधगतया अखण्डरूपमानन्दमयं ८ “ ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा ” इत्युच्यते । यदि चानन्दमयादन्यद्वृत्तिब्रह्ममविष्यत्,—‘तस्माद्वा एत-स्मादानन्दमयादन्योऽन्तर आत्मा ब्रह्म’ इत्यपि निरुद्ध्यत । नचैवं निर्दिश्यते । एतदुक्तं भवति—९ “ ब्रह्मविद्याप्रोति परम् ” इति

१ नावं वाक्यानुपूर्वीनिर्देशः, किन्तु

२ तै. आन. २ अनु

अर्थ—कथनमात्रमिति वा, ‘अन्तरसमयः ..

३ तै. आन. ३

पुरुषः’ इति वा पाठः स्वीकर्तव्यः, तत्र

४ तै. आ. ४

पुतादशवाक्यानुपलब्धेरिति ॥

५ तै. आन. ५, २

६ तै. आन. १

७ ब्रह्मविद्याप्रोति परम् इति, पा

८ तै. आन. ४

९ तै. आन. १ अनु

प्रक्रान्तं ब्रह्म १ " सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म " इतिलक्षणतस्सकलेतर-
व्यावृत्ताकारं प्रतिपाद्य तदेव २ " तस्माद्वा एतस्मादात्मनः "
इत्यात्मशब्देन निर्दिश्य तस्य सर्वान्तरत्वेनाऽत्मत्वं व्यञ्जयद्वाक्य-
मज्ञमयादिषु तत्तदन्तरत्तया आत्मत्वेन निर्दिष्टान प्राणमयादीनांति-
क्रम्य ३ " अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः " इत्यात्मशब्देन निर्देश-
मानन्दमये समापयति । अत आत्मशब्देन प्रक्रान्तं ब्रह्माऽनन्दमय
इति निश्चोयते—इति । ननु च—४ " ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा " इत्यु-
क्त्या ५ " असन्नेव स भवति । असद्व्यवस्थेति चेद् चेत् । अस्ति व्यवस्थेति
चेद्धेद् । सन्तमेन ततो विदुः " इति ब्रह्मज्ञानाज्ञानाभ्यामात्मनस्स-
द्भावासद्भावाौ दर्शयति, नानन्दमयज्ञानाज्ञानाभ्याम् । न चानन्दमयस्य
प्रियमोदादिरूपेण सर्वलोकविदितस्य सद्भावासद्भावज्ञानाशङ्का युक्ता
अतो नानन्दमयमधिष्ठित्वायं श्लोक उदाहृतः । तस्मादानन्दमयादन्य-
द्ब्रह्म । नैवम्—६ " इदं पुच्छं प्रतिष्ठा " ७ " पृथिवी पुच्छं
प्रतिष्ठा " ८ " अथवाङ्मिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा " ९ " महः पुच्छं
प्रतिष्ठा " १० इत्युक्त्वा तत्रतत्रादाहृताः ११ " अन्नाद्वा प्रजाः प्रजा-
यन्ते " इत्यादि श्लोका यथा न पुच्छामात्मप्रतिपादनपराः, अपि
त्वन्नमयादिपूव्यप्रतिपादनपराः, एवमत्राप्यानन्दमयस्यायम् १२
" असन्नेव " इति श्लोकः, नानन्दमयव्यतिरिक्तस्य पुच्छस्य ।
आनन्दमयस्यैव ब्रह्मत्वेऽपि प्रियमोदादिरूपेण १३ रूपितस्यापरि-
च्छिन्नानन्दस्य सद्भावासद्भाव १४ ज्ञानाशङ्का युक्तेः । पुच्छब्रह्मणो-
ऽप्यपरिच्छिन्नानन्दस्यैव ह्यप्रसिद्धता । शिरःप्रभृत्यवयवित्वाभावा-

१, २ तै. आन. १

४ तै. आन. २, ३

६ तै. आन. १, ३

८ तै. आन. ३, ३

१० इत्येवमुक्त्या, पा.

१२ तै. आन. १, १

१४ ज्ञानाशङ्का, पा

३ तै. आन. २, २

५ तै. आन. १, १

७ तै. आन. २, ३

९ तै. आन. ४, २

११ तै. आन. २, १

१३ रूपितस्य तस्याप. पा

द्वल्लणो नानन्दमयो ब्रह्मेति चेत्—ब्रह्मणः पुच्छत्वप्रतिष्ठात्वाभावात् पुच्छमपि ब्रह्म न भवेत् । अथाविद्यापरिकल्पितस्य वस्तुनस्तस्याश्रय-भूतत्वात् ब्रह्मणः पुच्छं प्रतिष्ठेति रूपणमात्रमित्युच्येत. हन्त तर्हि तस्यासुखाद्व्यावृत्तस्यानन्दमयस्य ब्रह्मणः प्रियशिरस्त्वादिरूपणं भविष्यति । एवं च १ “सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म” इति विकारास्पदजडपरिच्छिन्नवस्तुन्तरव्यावृत्तस्यासुखाद्व्यावृत्तिरानन्दमय इत्युपदिश्यते । २ ततश्चाखण्डैकरसानन्दरूपे ब्रह्मण्यानन्दमय इति मयट् प्राणमय इव स्वार्थिको द्रष्टव्यः । तस्माद्विद्यापरिकल्पितविविधविचित्रदेयादिभेदभिन्नस्य जीवात्मनस्तस्याभाषिकं रूपमखण्डैकरसं सुखैकतानमानन्दमय इत्युच्यते इत्यानन्दमयः प्रत्यगात्मा ॥

सिद्धान्तः

एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे—आनन्दमयोऽभ्यासात्—आनन्दमयः परमात्मा । कुतः १ अभ्यासात् । - ३ “सैषाऽऽनन्दस्य भीमांसा भवति इत्यारभ्य ४ “यतो वाचो नियतन्ते” इत्येवमन्तेन वाक्येन शतगुणितोत्तरकमेण निरतिशयदशाशिरस्कोऽभ्यस्यमान आनन्दः अनन्तदुःखमिश्रपरिमितसुखलवभागिनि जीवात्मन्यसम्भवज्ज्विलहेयप्रत्यनीकं कल्याणैकतानं सकलेतरघिलक्षणां परमात्मानमेव स्वाश्रयमावेदयति ॥

यथाऽऽह ५ “तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात् । अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः” इति विज्ञानमयो हि जीवः, न बुद्धिमात्रम्, मयट् प्रत्ययेन व्यतिरेकप्रतीतेः । प्राणमयेत्यगत्या स्वार्थिकताऽऽश्रीयते । इहे तु तद्वतो जीवस्य सम्भवान्नानर्थक्यं न्याय्यम् । यद्धो मुक्तश्च प्रत्यगात्मा ज्ञातृवैत्यभ्यधिप्सहि । प्राणमयादौ च मयडर्थसम्भवोऽनन्तरमेव वक्ष्यते । कथं तर्हि विज्ञानमयनिपयस्त्रोके ६ “विज्ञानं यज्ञं तनुते”

१ तै० आन० १ अनु० १

३ तै० आन० ८-१

४ तै० आन० १-२

२ ततश्चाखण्डैकरसानन्दैकरस पा०

४ तै० आन० १-१

६ तै० आन० १-१

इति केवलविज्ञानशब्दोपादानमुपपद्यते । प्रातुरेवाऽत्मनस्स्वरूपमपि
 स्वप्रकाशनया विज्ञानमित्युच्यते इति न दोषः, ज्ञानैकनिरूपणीयत्वाच्च
 ज्ञातुस्वरूपस्य स्वरूपनिरूपणधर्मशब्दा हि धर्ममुखेन धर्मिस्वरूपमपि
 प्रतिपादयन्ति, गवादि शब्दवन् । १ "इत्यल्युटो बहुलम्" इति या
 कर्तरि ल्युडाधीयते । नन्वादित्यं याऽऽभित्य २ "नन्दिग्रहि" इत्यादिना
 कर्तरि ल्युः । अत एव च ३ "विज्ञानं यत्" तनुते कर्माणि तनुतेऽपि
 च" इति यज्ञादिकर्तृत्वं विज्ञानस्य ध्रूयते । शुद्धिमात्रस्य हि न कर्तृत्वं
 सम्भवति । अचेतनेषु हि चेतनोपकरणभूतेषु विज्ञानमयात्प्राचीनेष्व-
 जमयादिषु न चेतनधर्मभूतं कर्तृत्वं ध्रूयते । अत एव चेतनमचेतनं च
 स्वाप्ताधारणैः निलयनत्वानिलयनत्वादिभिर्धर्मविशेषैर्विमज्ज्य निर्दिश-
 द्वाप्तम् "विज्ञानं चाविज्ञानं च" इति विज्ञानशब्देन तद्गुणं चेतनं
 वदति । तथाऽन्तर्यामिग्राहणे ४ "यो विज्ञाने तिष्ठन्" इत्यस्य काण्व-
 पाठगतस्य पर्यायस्य स्थाने ५ "यच्चात्मनि तिष्ठन्" इति पर्यायमधी-
 याना माध्यन्दिनाः काण्वपाठगतं विज्ञानशब्दनिर्दिष्टं जीवात्मेति
 स्फुटीकुर्वन्ति । विज्ञानमिति च नपुंसकलिङ्गं वस्तुत्वाभिप्रायम् ।
 तद्वयं विज्ञानमयाजीवादन्त्यस्तदन्तरः परमात्मा आनन्दमयः । यद्यपि
 ३ "विज्ञानं यत् तनुते" इति श्लोके ज्ञानमात्रमेयोपादीयते; न ज्ञाना-
 तथाऽपि ६ "अन्योन्यतर आत्मा विज्ञानमयः" इति तद्वान् प्रातैवोप-
 दिश्यते, यथा ७ "अस्माद्धैप्रजाः प्रजायन्ते" इत्यत्र श्लोके केवलान्नो-
 पादानेऽपि ८ "स वा एष पुरुषोऽन्तरसमयः" इत्यत्र नान्नमात्रं
 निर्दिष्टम् ; अपितु तन्मयः तद्विकारः । एतत्सर्वं हृदि निधाय सूत्र-
 कारसम्बन्धमेव ९ "भेदव्यपदेशान्" इत्यनन्तरमेव वदति ॥

१ अष्टाध्यायां ३-३-११३

२ अष्टाध्यायां ३, १, १३४

३ तै० ब्रा० २ अनु०

४ बृ० ६, ७, २२

५ विज्ञानस्थाने माध्यन्दिन पाठः

६ तै० ब्रा० ४, १

७ तै० ब्रा० २, १

८ तै० ब्रा० १

९ शारी० १, १, १८

यद्युक्तं जगत्कारणतया निर्दिष्टस्य १ "अनेन जीवेनाऽत्मनाऽ-
नुप्रविश्य" २ "तत्त्वमसि" इति च जीवसामानाधिकरण्यनिर्देशाज्जग-
त्कारणमपि जीवस्वरूपान्नातिरिच्यत इति कृत्वा जीवस्यैव स्वरूपं
३ "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इति प्रकान्तमसुखाद्व्यावृत्तत्वेनाऽनन्वय-
इत्युपदिश्यत इति तद्युक्तम्, जीवस्य चेतनत्वे सत्यपि ४ 'तदैक्षत
यद्दुःस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत' इति स्वसङ्कल्पपूर्वकान्तविचित्र
सृष्टियोगानुपपत्तेः । शुद्धावस्थस्यापि हि तस्य सर्गादिजगद्व्यापारा-
सम्भवां ५ "जगद्व्यापारश्चर्म" ६ "भोगमात्रसाम्यलिङ्गान्" इत्यश्रो-
पपादयिष्यते । कारणभूतस्य ब्रह्मणो जीवस्वरूपस्थानभ्युपगमे ७
'अनेन जीवेनाऽत्मना' ८ 'तत्त्वमसि' इति सामानाधिकरण्यनिर्देशः
कथमुपपद्यत इति चेत्—कथं वा निरस्तनिखिलदोषगन्धस्य सत्य-
सङ्कल्पस्य सर्वप्रस्य सर्वशक्तेरनवधिकातिशयासङ्ख्येयकल्याणगुण-
गणस्य सकलकारणभूतस्य ब्रह्मणः नानाविधानन्तदुःखाकरकर्माधी-
नचिन्तितनिमित्ततादिसकलप्रवृत्तिजीवस्वरूपत्वम् ? अन्यतरस्य मि-
थ्यात्वेनोपपद्यत इति चेत्—कस्य भोः ? किं हेयसम्बन्धस्य ? किं वा
हेयप्रत्यनीककल्याणैकतानस्वभासस्य ? हेयप्रत्यनीककल्याणैकतानस्य
ब्रह्मणोऽनाद्यविद्याश्रयत्वेन हेयसम्बन्धमिथ्याप्रतिभासो मिथ्यारूप
इति चेत्—विप्रतिपिद्धमिदमभिधीयते. ब्रह्मणो हेयप्रत्यनीककल्याणै-
कतानत्यमनाद्यविद्याश्रयत्वेनानन्तदुःखविषयमिथ्याप्रतिभासाश्रयत्वं
चेति । अविद्याश्रयत्वं तत्कार्यदुःखप्रतिभासाश्रयत्वं चैव हि हेयसम्ब-
न्धः । तत्सम्बन्धित्वं तत्प्रत्यनीकत्वं च विरुद्धमेव । नथाऽपि तस्य
मिथ्यात्वान्न विरोध इति मा बोधः । मिथ्याभूतमप्य पुरुषार्थ एव,
यन्निरसनाय सर्वे वेदान्ता आरभ्यन्त इति ब्रूये । निरसनीयापुरु-
षार्थयोगश्च हेयप्रत्यनीककल्याणैकतानतया विरुध्यते । किं कुर्मः ?

१ का० ६-३-२

२ तै० ब्रा० १

३ शारी० ४-४-१७

४ का० ६, ३, २

५ का० ६, ८, ७

६ का० ६-२-३

७ शारी. ४, ४, २१

८ का. ६, ८, ७

१ “येनाधृतं धृतं भवति” इत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रति-
 शाय २ “सदेव सोम्येदमग्रआसीत्” इत्यादिना निखिलजगदेककार-
 णताम्, ३ “तदैक्षत बहु स्याम्” इति सत्यसङ्कल्पतां च ब्रह्मणः ४
 “तत्सवमसि” इति सामानाधिकरण्येनानन्तदुःखाश्रयजीवेक्यं प्रतिपा-
 दितम्; तदन्यथानुपपत्त्या ब्रह्मण एवाधिधाध्यतयादि परिकल्पनीय-
 मिति चेत्—धृतोपपत्तयेऽप्यनुपपन्नं विरुद्धं च न कल्पनीयम् । अथ
 हेयसम्बन्ध एव पारमार्थिकः, कल्याणैकस्यभावता । तु मिथ्याभूता;
 हन्तैवं तापत्रयाभिहतचेतनोज्ज्वलीयपया प्रवृत्तं शास्त्रम्, तापत्रया-
 मिहतिरेव तस्य पारमार्थिकी, कल्याणैकस्यभावस्तु भ्रान्तिपरिकल्पित
 इति बोध्यत्सम्यगुज्जीवयति । अर्थतद्दोषपरिजिह्वार्यया ब्रह्मणो निर्वि-
 शेषचिन्मात्रस्वरूपातिरिक्तजीवत्वदुःखित्यादिकं सत्यसङ्कल्पत्वक-
 ल्याणगुणाकरत्याद्यपि मिथ्याभूतमिति कल्पनीयमिति चेत्—अहो
 भवतां वाक्यार्थपर्यालोचनकुशलता । एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञानं
 सर्वस्य मिथ्यात्वे सर्वस्य ज्ञातव्यस्याभावाच्चरसेत्यसि । यथैकविज्ञानं
 परमार्थविषयम्, तथैव सर्वविज्ञानमपि यदि परमार्थविषयम्, तद-
 न्तर्गतं च तदा तज्ज्ञानेन सर्वविज्ञानमिति शक्यते वक्तुम् । न हि
 परमार्थश्रुतिकाज्ञानेन तदाश्रयमपरामर्शरजतं ज्ञातं भवति । अथो-
 च्येत—एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाया अयमर्थः—निर्विशेषवस्तु-
 मात्रमेव सत्यम्—इति । न तर्हि १ “येनाधृतं धृतं भवत्यमतं मतम-
 विज्ञातं विज्ञातम्” इति भूयेत, येन धृतेनाधृतमपि धृतं भवतीति
 ज्ञास्य वाक्यस्यार्थः । कारणतयोपलक्षितनिर्विशेषवस्तुमात्रस्यैव सद्भा-
 वश्चेत्प्रतिज्ञातः, ६ “यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृमयं विज्ञातम्”

इति दृष्टान्तोऽपि न घटते । मृत्पिण्डव्ययज्ञानेन हि तद्विकारस्य ज्ञानता
निर्दिशिता । तत्रापि विकारस्यासत्यताऽभिप्रेतेति चेत्—मृद्विकारस्य
रज्जुसर्पादिवदसत्यत्वं शुभ्रपूरोरसिद्धमिति प्रतिज्ञातार्थसम्भावना-
प्रदर्शनाय १ “यथा सोम्य” इति प्रसिद्धतदुपन्यासो न युज्यते । न
च तत्प्रथमस्यादिवाक्यजन्यज्ञानोत्पत्तेः प्राग्विकारजातस्यासत्यतामा-
पादयत्तर्कानुगृहीतं वा प्रमाणमुपलभामह इति । अयमर्थः २ “तदन-
न्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः” इत्यत्र वक्ष्यते । तथा ३ “सदेव सोम्यद-
मग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्” ४ “तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति । तत्ते-
जोऽसृजत” ५ “हस्तहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनाऽत्मनाऽनु-
प्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि” ६ “सन्मूलास्तोम्येमांसत्वाः प्रजा
स्सदायतनास्सत्प्रतिष्ठाः” “येतदात्म्यमिदं सर्वम्” इत्यादिनाऽस्य
जगतस्सदात्मकता, सृष्टेः पूर्वकाले नामरूपविभागग्रहणम् । जगदु-
त्पत्तौ सच्छब्दवाच्यस्य ब्रह्मणस्त्वव्यतिरिक्तनिमित्तान्तरानपेक्ष्यम्,
सृष्टिकालेऽहमेधानन्तस्त्रिरत्ररूपेण ‘बहुस्याम्’ इत्यनन्यसाधारणस-
ङ्कुल्पविशेषः यथासङ्कुल्पमनन्तविचित्रतत्त्वानां विलक्षण क्रमविशेष-
विशिष्टा सृष्टिः समस्तैष्वचेतनेषु वस्तुषु स्वात्मकजीवानु ७ प्रवेशे-
नैधानन्तनामरूपव्याकरणम्, स्वव्यतिरिक्तस्य समस्तस्य स्वमूलत्वम्,
स्वायतनत्वम्, स्वप्रवर्त्यत्वम्, स्वेनैव जीवनम्, स्वप्रतिष्ठत्वामत्या-
द्यनन्तविशेषाश्शास्त्रैकसमधिगम्याः प्रतिपादितताः । तत्सम्बन्धितया
प्रकरणान्तरेष्वप्यग्रहतपाप्मत्वादिनिरस्तनिखिलदोषतासर्वज्ञतासर्थे-
भ्यस्त्यसत्यकामत्यसत्यमङ्कुल्पत्वसर्वानन्दकरणनिरतिशयानन्दयोगा-
व्यसन्नकलेतरप्रमाणाविषयास्सहस्रशः प्रतिपादिताः । एवमनन्यगोच-
रानन्तविशेषविशिष्टप्रकृतप्रज्ञपरामर्शितच्छब्दस्य निर्विशेषवस्तुमा-
त्रोपवेशपरत्वमसङ्गतत्वेनोन्मत्त ८ प्रलपितायेत । त्वंपदं च संसारि-

१ छा० ६, १

२ शारी० २, १, १२

३ छा० ६, २, १

४ छा० ६, २, ३

५ छा० ६, ३, २

६ छा० ६, ८, ३

७ प्रवेशानान्त पा

८ प्रलीपतामने पा.

त्वविशिष्टजीववाचि । नम्यापि निर्विशेषस्वरूपोपस्थापनपरत्वे स्वार्थः परित्यक्तस्स्यात् । निर्विशेषरूपाशस्वरूपस्य च वस्तुनो ह्यविद्यया निरोधानं स्वरूपनाशप्रसङ्गादिभिर्न सम्भवतीति पूर्वमेदोक्तम् । एवं च सति समानाधिकरणवृत्तयोस्तत्त्वमिति द्वयोरपि पदयोर्मुक्त्यर्थपरित्यागेन लक्षणा च समाश्रयणीया ॥

अथोच्येत—समानाधिकरणवृत्तानामेकार्थप्रतिपादनपरमया विशेषणशो तात्पर्यासम्भवादेव विशेषणनिवृत्तेर्यस्तुमात्रैकत्वप्रतिपादनाल्लक्षणाप्रसङ्गः । यथा 'नीलमुत्पलम्' इति पदद्वयस्य विशेष्यैकत्वप्रतिपादनपरत्वेन नीलत्वोत्पलत्वरूपविशेषणद्वयं न विवक्ष्यते । नद्विवक्षायां हि नीलत्वविशिष्टाकारेणोत्पलत्वविशिष्टाकारस्यैकत्वप्रतिपादनं प्रसज्येत । नत्तु न सम्भवति—न हि नेत्यविशिष्टाकारेण तद्वस्तुत्पलपदेन विशेष्यते, जाति गुणयोरन्योन्यसमवायप्रसङ्गान् । अनो नीलत्वोत्पलत्वोपलक्षितवस्तुत्वैकत्वमात्रं सामानाधिकरण्येन प्रतिपाद्यते । नथा 'सोऽयं देवदत्तः' इत्यतीतकालविप्रकृष्टदेशविशिष्टस्य तेनैव रूपेण सन्निहितदेशवर्तमानकालविशिष्टमया प्रतिपादनानुपपत्तेरभयवेशकालोपलक्षितस्वरूपमात्रं कथं सामानाधिकरण्येन प्रतिपाद्यते । यद्यपि नीलमित्यार्थकपदध्रुवणे, प्रतीयमानं विशेषणं सामानाधिकरण्यवेलायां विरोधान्न प्रतिपाद्यते । तथाऽपि वाच्येऽर्थे प्रधानांशस्य प्रतिपादनान्न लक्षणा । अपि तु विशेषणांशस्याविवक्षामात्रम् सर्वत्र १सामानाधिकरण्यस्यैव एव स्वभाव इति न कश्चिद्विरोधः—इति ॥

तदिदमसारं—सर्वेष्वेव वाक्येषु पदानां व्युत्पत्तिसिद्धार्थसंसर्गविशेषमात्रं प्रत्याख्यम् । तत्र समानाधिकरणवृत्तानामपि नीलत्वादिपदानां नेत्यादिविशिष्ट पदार्थां व्युत्पत्तिसिद्धः पदान्तगार्थसंनृष्टोऽभिधीयते । यथा 'नीलमुत्पलमानय' इत्युक्ते नीलिमादिविशिष्टमेवा नीयते, यथा च 'विभ्यादृष्यां मदमुदितो मोतङ्गगणस्तिष्ठति' इति

पदद्वयावगतविशेषणविशिष्ट एवार्थः प्रतीयते; एवं वेदान्तवाक्येष्वपि
समानाधिकरणनिर्देशेषु तत्तद्विशेषणविशिष्टमेव ब्रह्म प्रतिपत्तव्यम् ।
न च विशेषणविशेषणायामितरविशिष्टाकारं वस्त्वन्येन विशेष्यम् ;
अपि तु सर्वविशेषणैस्वरूपमेव विशेष्यम् । तथाहि १ " भिन्नप्रवृ-
त्तिनिमित्तानां शब्दानामेकस्मिन्नर्थे वृत्तिस्सामानाधिकरण्यम् " इति;
अन्येन निवृत्त्या वा पदान्तरप्रतिपाद्यादाकारादाकारान्तरयुक्तनया
तस्यैव वस्तुनः पदान्तरप्रतिपाद्यत्वं सामानाधिकरण्यकार्यम् । यथा
'देवदत्तश्श्यामो युवा लोहिताक्षोऽर्दीनोऽरुणोऽनवयः' इति ।
यत्र त्वेकस्मिन् वस्तुनि समन्वयायोग्यं विशेषणद्वयं सामानाधिकरण-
पदनिर्दिष्टम् ; तत्राप्यन्यतरत्पदममुख्यवृत्तमाधीयते, न ह्ययम् । यथा
'गीर्वाहीकः' इति । नीलोत्पलादिषु तु विशेषणद्वयान्ययाविरोधादे-
कमेवोभयविशिष्टं प्रतिपाद्यते ॥

अथ मनुष्ये - एकविशेषणप्रतिसम्यन्धित्वेन निरूप्यमाणं विशेष-
णान्तरप्रतिसम्यन्धित्वाद्विलक्षणम् । इति घटपटयोरिवैकावयवमक्ति-
निर्देशोऽप्येकप्रतिपादनासम्भवात्समानाधिकरणशब्दस्य न विशिष्ट-
प्रतिपादनपरत्वम्, अपि तु विशेषणमुखेन स्वरूपमुपस्थाप्य तदैक्य-
प्रतिपादनपरत्वमेव - इति ॥

स्यादेतदेवम् ; यदि विशेषणद्वयप्रतिसम्यन्धित्वमात्रमेवैक्यं
निरुन्ध्यात् । न चैतदस्ति; एकस्मिन्धर्मिण्युपसंहृतुं मयोग्यधर्मद्वयवि-
शिष्टत्वमेव ह्येकत्वं निरुणद्धि । अयोग्यता च प्रमाणान्तरसिद्धा घट-
पटपटयोरिवैक्यः । 'नीलमुत्पलम्' इत्यादिषु तु दण्डित्वकुण्डलित्ववद्भू-
पचस्वरसचस्वगन्धवत्त्वादिवच्च विरोधो नोपलभ्यते । न केवलम-
विरोध एव; प्रवृत्तिनिमित्तमेदेनैकार्थनिष्ठत्वरूपं सामानाधिकरण्य-
मुपपादयत्येव धर्मद्वयविशिष्टताम् । अन्यथा स्वरूपमात्रैक्ये अनेकपद-
प्रवृत्तौ निमित्ताभावात्समानाधिकरण्यमेव न स्यात् । विशेषणानां

स्वसम्बन्धानादरेण यस्तुस्वरूपोपलक्षणं १ परत्वेसत्येकेनैव यस्तूप-
लक्षितमित्युपलक्षणान्तरमनर्थकमेव; उपलक्षणान्तरोपलक्ष्याकारभं-
दाभ्युपगमे तेनाकारेण सविशेषत्वप्रसङ्गः ॥

‘सोऽयं देवदत्तः’ इत्यापि लक्षणागन्धो न विद्यते, विरोधा-
भावात् । देशान्तरसम्बन्धितयाऽतीतस्य सन्निहितदेशसम्बन्धितया
वर्तमानत्वाधिरोधात् । अत एव हि ‘सोऽयम्’ इति प्रत्यभिज्ञया
कालद्वयसम्बन्धिनो यस्तुन ऐक्यमुपपाद्यते यस्तुनस्त्विदयादिभिः ।
अन्यथा प्रतीतिविरोधे सति सर्वेषां क्षणिकत्वमेव स्यात् । देशद्वय-
सम्बन्धविरोधस्तु कालभेदेन परिह्रियते ॥

यतस्समानाधिकरणपदानामनेकविशेषणविष्टैर्कार्यव्याचिन्त्यम् ;
अत एव २ “अरुणयैकहायन्या पिङ्गाक्ष्या सोमं क्रीणाति” इत्या-
रण्यादिविशिष्टैकहायन्या त्रयस्साध्यतया विधीयते ॥

तदुक्तम्—३ “अर्थैकत्वे द्रव्यगुणयोरैककर्म्यान्नियमस्स्यात्”
—इति । तत्रैवं पूर्वपक्षी मन्यते—यद्यप्यरुणयेति पदमाहुर्निर्य गुण-
स्यापि द्रव्यप्रकारतैकस्यभावत्वाद्द्रव्यपर्यन्तमेधारुणिमानमभिदधाति,
तथाऽप्येकहायन्यन्वयनियमोऽरुणिमनो न सम्भवति; एकहायन्या
क्रीणाति, तच्चारुणयेत्यर्थद्वयविधानासम्भवात् ॥

ततश्चारुणयेति चाक्यं भित्वा प्रकरणयिहितसर्वद्रव्यपर्यन्त-
मेधारुणिमानमविशेषेणामिदधाति । अरुणयेति खालिङ्गनिर्देशः प्रकर-
णयिहितसर्वलिङ्गकद्रव्याणां प्रदर्शनार्थः । तस्मादेकहायन्यन्वयनियमो-
ऽरुणिमनो न स्यात्—इति ॥

अत्रामिधीयते—१ “ अर्थैकत्वे द्रव्यगुणयोरैककर्म्याभियम-
स्यात् ” २ “ अरुणयैकहायन्या ” इत्यादयविशिष्टद्रव्यैकहायनी-
द्रव्यवाचिपदयोस्सामानाधिकरण्येनार्थैकत्वे सिद्धं सत्यैकहायनी-
द्रव्यादयगुणयोररुणयेति पदेनैव विशेषणविशेष्यभावेन सम्बन्धि-
तथाऽभिहितयोः क्रियाव्यैककर्मान्वयाधिरोधादरुणिन्तः क्रयसाधन-
भूतैकहायन्यन्वयनियमस्यात् ॥

यद्येकहायन्याः क्रयसम्बन्धवदरुणमसम्बन्धोऽपि वाक्यावसे-
यस्यात् ; तदा वाक्यस्यार्थद्वयविधानं स्यात् । न चैतदस्ति अरुण-
येति पदेनैवारुणिमविशिष्टद्रव्यमभिहितम् । एकहायनीपदसामाना-
धिकरण्येन तस्यैकहायनीत्वमात्रमवगम्यते ; न गुणसम्बन्धः ; विशिष्ट-
द्रव्यैक्यमेव हि सामानाधिकरण्यस्यार्थः ३ “ भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां
शब्दानामेकस्मिन्नर्थे वृत्तिस्सामानाधिकरण्यम् ” इति हि सामाना-
धिकरण्यलक्षणम् ॥

अत एव हि ‘ रक्तः पटो भवति ’ इत्यादिष्वैकाध्यादेकवानय-
त्वम् । पटस्य भवनक्रियासम्बन्धे हि वाक्यव्यापारः ; रागसम्बन्धस्तु
रक्तपदेनैवाभिहितः ; रागसम्बन्धि द्रव्यं पट इत्येतावन्मात्रं सामाना-
धिकरण्यावसेयम् । एवमेकेन गुणेन द्वाभ्यां बहुभिर्वा तेनतेन पदेन
समस्तेन व्यस्तेन वा विशिष्टमुपस्थाप्य सामानाधिकरण्येन सर्वविशे-
षणविशिष्टोऽर्थ एक इति स्थापयित्वा तस्य क्रियासम्बन्धाभिधानम-
विरुद्धम्—‘ देवदत्तश्श्यामो युवा लोहिताक्षो दण्डी कुण्डली
तिष्ठति ; शुक्लेन वामसा यथनिकां सम्पादयेत् ; नीलमुत्पलमानय ;
नीलोत्पलमानय ; गामानय शुक्लां शोभनाक्षीम् ’ ४ “ अग्नये पथि-
कृते पुरोडाशमष्टाकपालं निर्गपेत् ”—इति । एवम् ५ “ अरुणयैक-
हायन्या पिङ्गाक्ष्या सोमं क्रीणाति ” इति ॥

१ पूर्वमी० ३-१-१२

२ यजु १-१-१

३ कैयटे वृषाह्निके०

४ यजुषि० २, काण्डे० २-यजु

५ यजुषि० १-१-१

एतदुक्तं भवति—यथा 'काष्ठे स्थाल्यामोदनं १ पचेत्' इत्य-
नेककारकविशिष्टैका क्रिया युगपत्प्रतीयते; तथा समानाधिकरणपद-
सङ्घाताभिहितमेकैकं कारकं तत्तत्कारकप्रातिपत्तिबलायामेवानेक-
विशेषणविशिष्टं युगपत्प्रतिपन्नं क्रियायामन्वेतीति न कश्चिद्विरोधः
'स्नादिरैशुष्कैः काष्ठैस्समपरिमाणे भागडे पायसं शाल्यादनं समर्थः
पाचकः पचेत्' इत्यादिषु—इति ॥

२ यत्तूपात्तद्रव्यकथाक्यस्य गुणशब्दः केवलगुणाभिधायीत्यरुण-
येति पदेन केवलगुणस्यैवाभिधानमिति; तन्नोपपद्यते, लोकवेदयोर्द्र-
व्यवाचिपदसमानाधिकरणस्य गुणवाचिनः कचिदपि केवलगुणाभि-
धानादर्शनात् । उपात्तद्रव्यकथाक्यस्थं गुणपदं केवलगुणाभिधायी-
त्यप्यसङ्गतम् । 'पटश्शुक्लः' इत्यादिपूपात्तद्रव्यकेऽपि गुणविशिष्ट-
स्यैवाभिधानात् । 'पटस्य शुक्लः' इत्यत्र शौक्ल्यविशिष्टपटाप्रति-
पत्तिरसमानविभक्तिनिर्देशकता; न पुनरुपात्तद्रव्यकन्वचनात् । तत्रैव
'पटस्य शुक्लो भागः' इत्यादिषु समानविभक्तिनिर्देशे शौक्ल्यवि-
शिष्टद्रव्यं प्रतीयते । यत्पुनः क्रयस्यैकहायन्यवरुद्धनयाऽऽरुणम्नः
क्रयान्वयो न सम्भवतीति; तदपि विरोधिगुणरहितद्रव्यवाचिपद-
समानाधिकरणगुणपदस्य तदाश्रयगुणाभिधानेन क्रियापदान्वयाधि-
रोधादसङ्गतम् । राद्धान्ते चोक्तन्यायेनारुणम्नश्शब्दे द्रव्यान्वये
सिद्धे द्रव्यगुणयोः क्रयसाधनत्वानुपपत्त्या अर्थात्परस्परान्वयस्ति-
ध्यतीत्यप्यसङ्गतम् । अतो यथोक्त एवार्थः ॥

तस्मात् तत्त्वमस्यादिसामानाधिकरण्ये पदव्याभिहितविशेष-
णापरित्यागेनैतैक्यप्रतिपादनं वर्गानीगम् । तस्यनाद्यविद्योपहितान-
वधिकदुःस्वभाविनश्शुद्धशुद्धयभगायस्थान्वेननादगान्तरभूतमशेषहे-
यप्रत्यनीकानवधिककल्याणीकतानं परमात्मानमनभ्युपगच्छतो न
सम्भवति ॥

अभ्युपगच्छतोऽपि समानाधिकरणपदानां यथावस्थितविशेष-
णविशिष्टैक्यप्रतिपादनपरत्वाश्रयणे त्वम्पदप्रतिपक्षसकलदोष १ भा-
गित्वं परस्य प्रसज्येतेति चेत्—नैनदेवम्. त्वम्पदेनापि जीवान्तर्या-
मिणः परस्यैवाभिधानात् ॥

एतदुक्तं भवति—सच्छब्दाभिहितं निरस्तनिखिलदोषगन्धं
सत्यसङ्कल्पमिधानवधिका २ निशयासङ्कल्येयकल्याणगुणगणं समस्त-
कारणभूतं परं ब्रह्म ३ “बहु स्याम्” इति सङ्कल्प्य तेजोबलप्रमुखं
वृत्तसं जगत्सृष्ट्या तस्मिन् देवादिविचित्रसंस्थानसंस्थिते जगति चेतनं
जीववर्गं स्वकर्मानुगुणेषु शरीरेष्वात्मतया प्रवेश्य स्वयं च स्वेच्छयैव
जीवान्तरात्मतयाऽनुप्रविश्य एवम्भूतेषु स्वपर्यन्तेषु ४ देवाद्याकारेषु
संघातेषु नामरूपे व्याकरोत् । एषां रूपं संघानस्यैव वस्तुत्वं शब्दधा-
र्यत्वं चाकरोदित्यर्थः । अनेन जीवेनात्मना जीवेन मयेति निर्देशो
जीवस्य ब्रह्मात्मकत्वं दर्शयति । ब्रह्मात्मकत्वं च जीवस्य जीवान्तरा-
त्मनया ब्रह्मणोऽनुप्रवेशादित्यवगम्यते—६ “इदं सर्वम सृजत । यदिदं
किञ्च तत्सृष्ट्वा । तदेवानुप्रादिशत् । तन्ननुप्रविश्य । सद्य स्यद्याभवत्”
इति अत्रेदं सर्वमिति निर्दिष्टं चेतनाचेतनव्यस्तुभ्यं सत्यच्छब्दाभ्यां
विद्वानाविद्वानइत्याभ्यां च विभज्य निर्दिश्य चिह्नस्तुन्यपि ब्रह्मणोऽनु-
प्रवेशाभिधानात् । अत एव नामरूपव्याकरणात्सर्वे चाचकाश्चाब्दा
अविर्जीवविशिष्टपरमात्मव्याचिन इत्यवगतम्—इति ॥

किञ्च ८. ‘एतद्वात्म्यमिदं सर्वम्’ इति चेतनमिदं प्रपञ्चम इदं

१ भागित्वं ब्रह्मणः पा०

३ छा० १, २, २, तै० आन० १

४ प्रवेशादवगम्यते पा०

५ वर्गद्वयं पा०

२ निरतिशयकल्याण पा०

४ देवाद्याकारेषु नाम पा०

६ तै० आन० १, २

८ छा० ६, ८, ७

सर्वमिति निर्दिश्य १ "तस्यैष आत्मा" इति प्रतिपादितम् । एवंच सर्वं चेतनाचेतनं प्रति ब्रह्मण आत्मत्वेन सर्वं सचेतनं जगत् तस्य शरीरं भवति । तथा च भुत्यन्तराणि २ "अन्नः प्रविष्टश्चास्ता जनानां सर्वा-
त्मा" ३ "यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद । यस्य पृथिवी शरीरम् । यः पृथिवीमन्तरो यमयति । स त आत्माऽन्तर्याम्य-
मृतः" इति प्रारभ्य ४ य आत्मनि तिष्ठन्मात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्याऽत्मा शरीरम् । य आत्मानमन्तरो यमयति । स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" इत्यादि ५ "यः पृथिवीमन्तरे सञ्चरन् यस्य पृथिवी शरीरम् । योऽपामन्तरे सञ्चरन् यस्यापश्शरीरम्" इत्यारभ्य ६ "योऽक्षरमन्तरे सञ्चरन् यस्याक्षरं शरीरम् । यमक्षरं न वेद । एष सर्गभूतान्तरात्माऽपहृतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः" इत्यादीनि सचेतनं जगत् तस्य शरीरत्वेन निर्दिश्य तस्यात्मत्वेन परमात्मानमुपदिशन्ति अतश्चेतनवाचिनोऽपि शब्दाश्चेतनस्याप्यात्मभूतं चेतनशरीरकं परमात्मानमेवाभिदधति । यथा अचेतनदेवादिसंस्थानपिण्डवाचिनशब्दाः तत्तच्छरीरकजीवात्मन एव वाचकाः ७ "चत्वारः पञ्चदशरात्राद्देहेत्वं गच्छन्ति" इत्यादिषु, देवा भवन्तीत्यर्थः । शरीरस्य शरीरिणं प्रति प्रकारत्वात् ८ प्रकारवाचिनां च शब्दानां प्रकारिण्येव पर्यवसानात् ९ शरीरवाचिनां शब्दानां शरीरिपर्यवसानं न्याय्यम् । प्रकारो हि नाम इदमित्थमिति प्रतीयमाने वस्तुनि इत्थमिति प्रतीयमानोऽर्थः । नस्य तद्वस्तुपेक्षत्वेन तत्प्रतीतिस्तदपेक्षत्वात् तस्मिन्नेव पर्यवसानं युक्तमिति तस्य प्रतिपादकोऽपि शब्दस्तन्मिन्नेव पर्यवस्यति । अत एव 'गौरवो मनुष्यः' इत्यादिप्रकारभूताकृतिवाचिनशब्दाः प्रकारिणि

१ तै० ब्रा० ५

३ बृ० २, ७, ३

२, १ सुबाल ७

८ प्रकारवाचिनां शब्दानां पा०

२ यजुषि आरण्यके ३. ११

४ बृ० २, ७, २२

७

९ शरीराभिधानां पा०

पिण्डे पर्यवस्यन्तः पिण्डस्यापि चेतनशरीरत्वेन तत्प्रकारत्वात् पिण्ड-
शरीरकचेतनस्यापि परमात्मप्रकारत्वाच्च परमात्मन्येव पर्यवस्यतीति
सर्वशब्दानां परमात्मैव वाच्य इति परमात्मवाचिशब्देन सामानाधिक-
रण्यं मुख्यमेव ॥

ननु - 'खण्डो गौः खण्डश्शुक्लः' इति जातिगुणवाचिनामेव
पदानां द्रव्यवाचिपदैस्सह सामानाधिकरण्यं दृष्टम्, द्रव्याणां तु
द्रव्यान्तरप्रकारत्वे मत्वर्थीयप्रत्ययो दृष्टः, यथा—'दण्डी कुण्डली' इति
नैयम्, जातिवां गुणो वा द्रव्यं वा नैतेष्वेकमेव सामानाधिकरण्ये
प्रयोजकम्, अन्योन्यस्मिन् व्यभिचारात्, यस्य पदार्थस्य कस्यचित्प्र-
कारतयैव सद्भावः, तस्य तदपृथक्सिद्धिस्थितिप्रतीतिभिस्तद्वाचिनां
शब्दानां स्वाभिधेयविशिष्टद्रव्यवाचित्वाच्चरमान्तरविशिष्टनदुद्रव्यवाचिना
शब्देन सामानाधिकरण्यं युक्तमेव । यत्र पुनः पृथक्सिद्धस्य स्वनिष्ठ-
स्यैव द्रव्यस्य कदाचित्कचिदुद्रव्यान्तरप्रकारत्वमिष्यते, तत्र मत्वर्थी-
यप्रत्यय इति निरवयवम् ॥

तदेवं परमात्मनश्शरीरतया तत्प्रकारत्वाद्विशिष्ट १ जीव-
स्यापि जीवनिर्देशविशेषरूपा अहंत्वमित्यादिशब्दाः परमात्मानमेवा-
ऽवक्षत इति २ 'तत्त्वमसि' इति सामानाधिकरण्येनोपसंहृतम्, एवं
च सति परमात्मानं प्रति जीवस्य शरीरतयाऽन्वयाज्जीवगता धर्माः
परमात्मानं स्पृशन्ति, यथा स्वशरीरगता शालत्वयुषत्वस्वविरत्वादयो
धर्माः जीवं न स्पृशन्ति, अतः ३ 'तत्त्वमसि' इति सामानाधिकरण्ये
तत्पदं जगत्कारणभूतं सत्यसङ्कल्पं सर्वकल्याणगुणाकरं निरस्तसमस्त-
हेयगन्धं परमात्मानमाचष्टे, त्वमिति च तमेव सशरीरजीवशरीरक-
माचष्ट इति सामानाधिकरण्यं मुख्यवृत्तम्, प्रकरणाचिरादसत्संश्रुत्य-
विरोधो ब्रह्मणि निरवयवे कल्याणैकताने अविद्यादिदोषगन्धाभावश्च ।
अतो जीवसामानाधिकरण्यमपि विशेषणं ३ भूनाज्जीवाद्व्यत्यमेवापाद-
यतीति विज्ञानमयाज्जीवादन्य एवानन्दमयः परमात्मा ॥

यदुक्तम्—१ “ तस्यैव एव शारीर आत्मा ” इत्यानन्दमयस्य शारीरत्वश्रवणाज्जीवादन्यत्वं न सम्भेदाति—इति. तदुक्तम् ; अस्मिन् प्रकरणे सर्वत्र १ “ तस्यैव एव शारीर आत्मा । यः पूर्वस्य ” इति परमात्मन एव शारीरात्मत्वाभिधाने कथं २ “ तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशस्सम्भूतः ” इत्याकाशादिवृज्यवर्गस्य परमकारणत्वेन प्रज्ञातजीवव्यतिरेकस्य परस्य ब्रह्मण आत्मत्वेन व्यपदेशात्तद्व्यतिरिक्ताकाशादीनामन्नमयपर्यन्तानां तच्छरीरत्वमवगम्यते । ३ “ यस्य पृथिवी शरीरं । यस्यापश्शरीरं । यस्य ४ तेजश्शरीरं । यस्य वायुश्शरीरं । यस्याकाशश्शरीरं । यस्याक्षरं । शरीरं । यस्य मृत्युश्शरीरं । एव सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः ” इति सुबालश्रुत्या सर्वतत्त्वानां परमात्मशरीरत्वं स्पष्टमभिधीयते । अतः २ “ तस्माद्वा एतस्मादात्मनः ” इत्यत्रैवान्नमयस्य परमात्मैव शारीर आत्मेत्यवगतः । प्राणमयं प्रकृत्याह १ “ तस्यैव एव शारीर आत्मा । यः पूर्वस्य ” इति । पूर्वस्यान्नमयस्य यश्शारीर आत्मा भृत्यन्तरसिद्धः परमकारणभूतः परमात्मा; स एव तस्य प्राणमयस्यापि शारीर आत्मेत्यर्थः । एवं मनोमयविज्ञानमययोर्द्रष्टव्यम् । आनन्दमये तु १ “ एव एव ” इति निर्देशस्तस्यानन्यात्मत्वं दर्शयितुम् । तत्कथं विज्ञानमयस्यापि पूर्वोक्तया नीत्या परमात्मैव शारीर आत्मेत्यवगतः । एवं सति विज्ञानमयस्य यश्शारीर आत्मा, स एवानन्दमयस्यापि शारीर आत्मेत्युक्ते आनन्दमयस्य अभ्यासावगन्तपरमात्मभावस्य परमात्मनस्त्वयमेवात्मेत्यवगम्यते । एवं च स्वव्यतिरिक्तं चेतनाचेतनवस्तुजातं स्वशरीरमिति स एव निरुपाधिकश्शारीर आत्मा । अत एवेदं परं ब्रह्माधिकृत्य प्रवृत्तं शास्त्रं शारीरकमित्यभियुक्तैर्गभिधीयते । अतो विज्ञानमयाज्जीवादन्य एव परमात्मा आनन्दमयः ॥१३॥

आह—नायमानन्दमयो जीवादन्यः. विकारशब्दस्य मयट्-प्रत्ययस्य भवणात् १ “मयड्वैतयोः” इति प्रकृत्य २ “नित्यं वृद्धशरादिभ्यः” इति विकारार्थे मयट् स्मर्यते । वृद्धश्चायमानन्दशब्दः ॥

ननु प्राचुर्येऽपि मयडस्ति ३ “तत्प्रकृतवचने मयट्” इति-स्मृतं । यथा ‘अन्नमयो यज्ञः’ इति । स एवायं भविष्यति । नैवम्—अन्नमय इत्युपक्रमे विकारार्थत्वं दृष्टम् . अत औचित्यादस्यापि विकारार्थत्वमेव युक्तम् ॥

किञ्च—प्राचुर्यार्थत्वेऽपि जीवादन्यत्वं न सिध्यति । तथाहि—आनन्दप्रचुर इत्युक्ते दुःखमिश्रत्यमयर्जनोपम । आनन्दस्य हि प्राचुर्यं दुःखस्याल्यत्यमयगमयति । दुःखमिश्रत्यमेव हि जीवत्वम् । अत औचित्यप्राप्तविकारार्थत्वमेव युक्तम् ॥

किञ्च—लोकं मृण्मयं हिरण्मयं दारुमयमित्यादिषु, वेदे च ४ “पर्णमयी जुहः” ५ “शमीमन्यस्त्रुचः” ६ “दर्भमयी रशना” इत्यादिषु मयटो विकारार्थे प्रयोगबाहुल्यात्स एव प्रथमतः धियमधिगोहति । जीवस्य चानन्दविकारत्वमस्त्येव । तस्य स्वत आनन्दरूपस्य सतस्संसारित्वावस्था तद्विकार एवेति । अतो विकारवाचिनो मयट्-प्रत्ययस्य भवणाद्वानन्दमयो जीवादनतिरिक्त इति । तदेतदनुभाष्य परिहरति—

विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात् । १।१।१४॥

नेतद्युक्तं; कुतः? प्राचुर्यात्—परस्मिन् ब्रह्मण्यानन्दप्राचुर्यात् । ७ प्राचुर्यार्थे च मयटस्सम्भावात् । एतदुक्तं भवति—शतशुणितोत्तरक्रमेणाभ्यस्यमानस्यानन्दस्य तीनाध्वयत्वासम्भवाद्ब्रह्माध्वयोऽयमा-

१ अष्टाध्यायां ० ४, ३, १४३

३ अष्टाध्यायां ० ५, ४, २१

२, ६ यजुषि ३, अष्टके, ८, प्र, २, अनु

२ अष्टाध्यायां ४, ३, १४४

४ यजुषि ३, कां, २, प्र, ७, अनु

७ प्राचुर्यार्थे मयटस्सं पा

नन्द इति निश्चितं सति तस्मिन् ब्रह्मणि विकारासम्भवात् प्राचुर्येऽपि मयद्विधिसम्भवाच्चानन्दमयः परं ब्रह्म—इति ॥

औचित्यात्प्रयोगप्रौढ्या च मयदो विकारार्थत्वमर्थविरोधाच्च सम्भवति । किञ्च औचित्यं प्राणमय एव परित्यक्तम्, नत विकारार्थत्वासम्भवात् । अतस्तत्र पञ्चवृत्तेर्षायोः प्राणवृत्तिमत्तामात्रेण प्राणमयत्वम्, प्राणापानादिषु पञ्चसु वृत्तिषु प्राणवृत्तेः १ प्राचुर्याद्धा । न च प्राचुर्ये मयदप्रत्ययस्य प्रौढिनास्ति, 'अन्नमयो यज्ञः' 'शकटमयी यात्रा' इत्यादिषु दशनात् ॥

यदुक्तमानन्दप्राचुर्यमल्पदुःखसद्भावमवगमयतीति; तदसत्, तत्प्रचुरत्यं हि तत्प्रभूतत्वम्, तच्चेतरस्य सत्तां नावगमयति; अपि तु तस्याल्पत्वं निवर्तयति । इतरसद्भावसद्भावौ तु प्रमाणान्तरावसेयी; इह च प्रमाणान्तरेण नदभावोऽवगम्यते २. "अपहृतपाप्मा" इत्यादिना । तत्रैतावदेव वक्तव्यं, ब्रह्मानन्दस्य प्रभूतत्वमन्या ३ नन्दस्याल्पत्वमपेक्षत इति । उच्यते च तत् ४ "स एको मानुष आनन्दः" इत्यादिना जीवानन्दापेक्षया, ब्रह्मानन्दो निरतिशयदशापन्नः प्रभूत इति ॥

यद्योक्तं जीवस्यानन्दविकारत्वं सम्भवतीति; तदपि नोपपद्यते, जीवस्य ज्ञानानन्दस्वरूपस्य केनचिदाकारेण मृद इव घटाद्याकारेण परिणामस्सकलश्रुतिस्मृतिन्यायविरुद्धः । संसारदशायां तु कर्मणा ज्ञानानन्दो सङ्कुचितवित्युपपादयिष्यते । अनन्धामन्दमयो जीवादन्यः परं ब्रह्म ॥

इतश्च जीवादन्य आनन्दमयः परं ब्रह्म--

तद्धेतुव्यपदेशाच्च । १।१।१५॥

५ "को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात् । यदेव आकाश आनन्दो न स्यात् । एव ह्येवानन्दयाति" इति । एव एव जीवानानन्दयतीति

१जीवानन्दहेतुरयं व्यपदिश्यते। अतश्चानन्दयितव्याज्जीवादानन्दयिता-
ऽयमन्य आनन्दमयः परमात्मेति विज्ञायते । आनन्दमय एवात्र आन-
न्दशब्देनोच्यते इति चानन्तरमेव वक्ष्यते ॥

मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते । १ । १ । १६ ॥

इतश्च जीवादन्य आनन्दमयः --

२ "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इति मन्त्रवर्णोदितं ब्रह्मैवानन्द-
मय इति गीयते । तच्च जीवस्वरूपादन्यत् परं ब्रह्म -- ३ "ब्रह्मविदाप्नोति
परम्" इति जीवस्य प्राप्यतया ब्रह्म निदिष्टम् ॥

४ "तदेवाभ्युक्ता" इति -- तत् ब्रह्म, अभिमुखीकृत्य प्रतिपाद्य-
तया परिगृह्य, ऋगेषा, अध्येतृभिरुक्ता । ५ ब्राह्मणोक्तस्यार्थस्य वैश-
द्यमनेन मन्त्रेण क्रियत इत्यर्थः, जीवस्योपासकस्य प्राप्यं ब्रह्म तस्मा-
द्विलक्षणमेव । अनन्तरं च ६ "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशास्त-
म्भूतः" इत्यादिभ्योत्तरोत्तरैर्ब्राह्मणैर्मन्त्रैश्च तदेव विशदीक्रियते । अतो
जीवादन्य आनन्दमयः ॥

अन्नाह -- यद्यप्युपासकात्प्राप्यस्य भेदेन भवितव्यम् ; तथापि
न यस्त्यन्तरं जीवान्मान्त्रवर्णिकं ब्रह्म ; किन्तु तस्यैवोपासकस्य
निगस्तसमस्ताविद्यागन्धनिर्विशेषचिन्मालैकरसं शुद्धं स्वरूपम्, तदेव
"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इति मन्त्रेण विशोध्यते । तदेव च "यतो
वाचो निवर्तन्ते । अप्राप्य मनसा सह" इति वाङ्मनसागोचरतया
निर्विशेषमिति गम्यते । अतस्तदेव मान्त्रवर्णिकमिति तस्माद्वनतिरिक्त
आनन्दमय इति । अत्र उत्तरं पठति --

१ जीवानामानन्दहेतु पा०

३ तै० आन० १ अनु०

२ ब्राह्मणोक्तार्थस्य

२ तै० आन० १ अनु०

४ ६. ७, तै० आन० १ अनु०

७ तै० आन० ६ अनु०

नेतरोऽनुपपत्तेः । १।१।१७॥

परमात्मन इतरो जीवशब्दामिलप्यो मुक्तावस्थोऽपि न भवति मान्त्रवर्णिकः । कुतः ? अनुपपत्तेः । तथाविधस्यात्मनो निरुपाधिकं विपश्चित्वं १ "सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय" इति सत्यसङ्कल्पस्य-प्रदर्शनेन विधिरिप्यते । २ विविधं पश्यच्चित्तं हि विपश्चित्तम् । पृथो-दरादित्थात्पश्यच्छब्दावयवस्य यच्छब्दस्य लोपं कृत्वा व्युत्पादिनो विपश्चित्छब्दः । यद्यपि मुक्तस्य विपश्चित्तं सम्भवति, तथापि तस्यैवात्मनस्संसारदशायामविपश्चित्तस्यस्तीति निरुपाधिकं विपश्चित्तं नोपपद्यते । निर्विशेषचिन्मात्रतापन्नस्य मुक्तस्य विविधं ३ दर्शनाभावा- ४ त्सुतरां विपश्चित्तं न सम्भवतीति न केनापि प्रमाणेन निर्विशेषं यस्तु प्रतिपाद्यत इति च पूर्वमेवोक्तम् । ५ "यतो याचो निवर्तन्ते" इति च वाक्यं यदि वाङ्मनसयोग्राह्यणो निवृत्तिमभिधीतः न ततो निर्विशेषतां वस्तुनोऽवगमयितुं शक्नुयान् ; अपि तु वाङ्मनसयो-स्तत्राप्रमाणतां वदेत् ; तथा च सति तस्य तुच्छत्वमेवापद्यते । ६ "ब्रह्मचिदाप्नोति" ७ इत्यारभ्य ब्रह्मणो विपश्चित्तं जगत्कारणत्वं ज्ञानानन्दैकतानतामितरान्प्रत्यानन्दयितृत्वं कामादेव चिदात्मकस्य कृत्स्नस्यैकवृत्त्यं सृज्यवर्गानुप्रवेशकृततदात्मकत्वं भयामगहेतुत्वं ऽवाप्तादित्यादीनां प्रशासितृत्वं शतगुणितोत्तरक्रमेण निरतिशयानन्दत्यमन्यद्धानेकं प्रतिपाद्य वाङ्मनसयोः ब्रह्मणि प्रवृत्त्यभावेन निष्प्रमा-णकंब्रह्मोत्पुज्यत इति भ्रान्तजल्पितम् ८ "यतो याचो निवर्तन्ते" इति यच्छब्दनिर्दिष्टमर्थम् १० "आनन्दं ब्रह्मणो चिद्वान्" इत्यानन्दशब्देन प्रतिनिर्दिश्य तस्य ब्रह्मसम्बन्धित्वं ब्रह्मण इति व्यतिरेकनिर्देशेन

१, तै० ब्रान० १ ।

२ विविधं हि पश्यच्चित्तं वि० पा० ।

३ दर्शनासम्भवात् पा० ।

४ सुतरमपि पा० ।

५ तै० ब्रान० १ अनु० ।

६ तै० ब्रान० १ ।

७ परमिस्वार पा० ।

८ साय्बादीनां पा० ।

९ तै० ब्रान० १ अनु० ।

१० तै० ब्रान० १ ।

प्रतिपाद्य तदेव धातुमनसागोचरं विद्वान् इति तद्वेदनमभिधत्वा-
कथं जरद्ववादिवाक्यवदनर्थकं १ याच्यानन्तर्गतं च स्यात् ॥

अतश्शतगुणितोत्तरक्रमेण ब्रह्मानन्दस्यातिशयेयत्तां वक्तुमुद्य-
म्य तस्येयत्ताया अभावादेव धातुमनसयोस्ततो निवृत्तिः २ “यतो
धातो निवर्तन्ते” इत्युच्यते । एवमित्येत्तारहितं ‘ब्रह्मण आनन्दं विद्वान्
कुनश्चन न विभेति’ इत्युच्यते । किञ्च अस्य मान्त्रवर्णिकस्य विष-
यितः ३ “सोऽकामयत” इत्यारभ्य ध्वक्ष्यमाणस्य सङ्कल्पावच्छेदजग-
ज्जन्मस्थितिजगदन्तरात्मत्यादेर्मुक्तात्मस्वरूपादन्यत्वं सुस्पष्टमेव ॥१७॥

इतश्चोभयाधस्यात्प्रत्यगात्मनोऽन्य आनन्दमयः—

भेदव्यपदेशाच्च । १ । १ । १८ ॥

५ “तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः” इत्यारभ्य मान्त्रवर्णिकं
ब्रह्म व्यञ्जयद्वाक्यमभ्युपगमनोभ्य इव जीवावपि तस्य भेदं व्यपदिशति
६ “तस्माद्वा एतस्माद्विद्वानमयात् । अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः”
इति । अतो जीवाद्भेदस्य व्यपदेशाच्चायं मान्त्रवर्णिक आनन्दमयोऽन्य
एवेति उच्यते ॥ १८ ॥

इतश्च जीवादन्यः—

कामाच्च नानुमानापेक्षा । १ । १ । १९ ॥

जीवस्याधिद्यापरवशस्य जगत्कारणत्वे ह्यवर्जनीया आनुमानि-
कप्रधानादिशब्दाभिधेयाचिह्नस्तुलंसंगापेक्षा; तथैव हि चतुर्मुखादीनां

१ वाचकानन्तर्गं पा०

२ तै० आन० ६

५ तै० आन० १

७ विज्ञायते पा०

२ तै० आन० ६

७ वक्ष्यमाणस्य स्व० पा०

१ तै० आन० २,

कारणत्वम्, इह च १“सोऽकामयत । बहु स्यां प्रजायेय” इत्यचि-
त्संसर्ग २ रहितस्य स्वकामावेव विचित्रविद्विद्वस्तुनस्सृष्टिः ३“इदं-
सर्वमभृजत । यदि दं किञ्च” इत्यास्रयते । अतोऽस्यानन्दमयस्य
जगत्सृजतो नानुमानिकाचिद्वस्तुसंसर्गापेक्षा प्रतीयते । ततश्च
जीवादित्य आनन्दमयः ॥१६॥

इतश्च—

अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति । १।१।२०॥

अस्मिन्—आनन्दमये, अस्य जीवस्य, तद्योगम्—आनन्दयोगम्,
शास्ति शास्त्रम्—४“रसो वै सः । रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भ-
वति” इति । रसशब्दाभिधेयानन्दमयलाभादयं जीवशब्दाभिलषणीय
आनन्दी भवतीत्युच्यमाने यद्वाभाय आनन्दी भवति, स स एवेत्य-
नुन्मत्तः को ब्रवीतित्यर्थः ॥

एवमानन्दमयः परं ब्रह्मेति निश्चिते सति ५“यदेव आकाश
आनन्दः” ६“विज्ञानमानन्दं ब्रह्म” इत्यादिप्यानन्दशब्देनानन्दमय
एव परासृश्यते । यथा विज्ञानशब्देन विज्ञानमयः अतएव ७“आनन्दं
ब्रह्मणो विद्वान्” इति व्यतिरेकनिर्देशः । अत एव च ८“आनन्दमय-
मात्मानमुपसंक्रामति” इति फलनिर्देशश्च । उत्तरेऽचानुवाके पूर्वानु-
वाकोक्तानामनमयादीनाम् ९“अहं ब्रह्मेति व्याजानात्” १०“प्राणो
ब्रह्मेति व्यजानात्” ११“मनो ब्रह्मेति व्यजानात्” १२“विज्ञानं ब्रह्मेति
व्यजानात्” इति प्रति पादानात् १३“आनन्दो ब्रह्म” इत्यप्यानन्दमया-

१ तै० आन० ६ अनु० ।

३ तै० आन० १, २ ।

२ तै० आन० ७ ।

७ तै० आन० ६, १ ।

४ तै० भू० २ ।

११ तै० भू० ४ अ० ।

१३ तै० भ० ६, १ ।

२ रहितस्य तस्य पाठ० ।

४ तै० आन० ७, १ ।

६ तै० २, १, २८ ।

८ तै० आन० ८, २ ।

१० तै० भू० ३ ।

१२ तै० भू० २, १ ।

यस्यैव प्रतिपादनमिति विज्ञायते ; तत एव च तत्रापि १"आनन्द-
मयमात्मानमुपसङ्क्रम्य" इत्युपसंहृतम् ॥

अतः प्रधानशब्दामिलप्यावधान्तरभूतस्य परस्य ब्रह्मणो जीव-
शब्दामिलपनीयादपि वस्तुनोऽर्थान्तरत्वं सिद्धम् ॥२०॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये आनन्दमयाधिकरणम् ॥६॥



(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अन्तरधिकरणम् ॥७॥)

यद्यपि मन्दपुण्यानां जीवानां कामाज्जगत्सृष्टिरतिशयितानन्द-
योगो भयामयहेतुस्य २ मित्यादि न सम्भवत्येवेतीमामाशङ्कं
निराकारोति—

अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् । १।१।२१॥

इदमाह्वयते च्छान्दोग्ये ३"य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्यमयः
पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मभ्रहिरण्यकेश आप्रणखात्सर्व एव सुवर्णः ।
तस्य यथा कप्यासं पण्डरीकमेवमक्षिणी नस्योदिति नाम स एष
सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदितः उदेति ह वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद ।
तस्यैव साम च गेष्णौ इत्यधिदैवतम्" ४"अथाध्यात्मम्" अथ
य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते सैव कृतत्साम ननु कथं तद्यजुस्त-
द्ब्रह्म तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपं यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ
यज्ञां तज्जाम" इति ॥

तत्र सन्दिह्यते—किमयमस्यादित्यमण्डलान्तर्यनीं पुरुषः
पुण्योपचयनिमित्तैर्भवं भादित्यादिशब्दाभिलष्यो जीव एव । अहो-
सित्तदतिरिक्तः परमात्मा—इति । किं युक्तम् ?

उपचितपुण्या जीव एवेति । कुतः ? सशरीरत्वध्वनात् । शरीरसम्बन्धो हि जीवानामेव सम्भवति । कर्मानुगुणप्रिययोगाय हि शरीरसम्बन्धः । अत एव हि कर्मसम्बन्धरहितस्य मोक्षस्य प्राप्यत्वमशरीरत्वेनोच्यते १ “न ह वै स शरीरस्य सतः प्रियाप्रियोरपहतिरस्ति । अशरीरं वा च सत्त्वं न प्रियाप्रिये स्पृशतः” इति । सम्भवति च पुण्यातिशयात् ज्ञानाधिक्यम्, शक्त्याधिक्यञ्च । अत एव लोककामेशत्वादि तस्यैवोपपद्यते । २ तत एव बोधोपास्यत्वम्, फलदायित्वम्, पापक्षपणकरत्वेन मोक्षोपयोगित्वं च । मनुष्येभ्यः पुण्यचितपुण्याः केचित् ज्ञानशक्त्यादिभिरधिकतरा दृश्यन्ते ; ततश्च सिद्धगन्धर्वाभ्यः, ततश्च देवाः, ततश्चेन्द्रादयः । अतो ब्रह्मादिव्यन्यतम एवैकैकस्मिन् कल्पे पुण्यविशेषेणैवम्भूतमैश्वर्यं प्राप्तो जगत्सृष्ट्याद्यपि करोतीति जगत्कारणत्वजगदन्तरात्मत्वाद्वैवाक्यमस्मिन्नेवोपचितपुण्यविशेषे सर्वत्रैव सर्वशक्तौ वर्तते । अतो न जीवादतिरिक्तः परमात्मा नाम कश्चिदस्ति । एवं च सति ३ “अस्थूलमनण्वहस्यम्” इत्यादयो जीवात्मनस्वरूपाभिप्राया भवन्ति । मोक्षशास्त्राण्यपि तत्स्वरूपतत्प्राप्त्युपायोपदेशपराणि—इति ॥

—ॐ— सिद्धान्तः —ॐ—

एवं प्राप्तेऽभिधीयते—अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्—अन्तरादित्ये-
 ऽन्तरक्षिणि च यः पुरुषः प्रतीयते, स जीवादन्यः परमात्मैव ; कुतः ? तद्धर्मोपदेशात् जीवेभ्यसम्भवंस्तदतिरिक्तस्यैव परमात्मनो धर्मोऽयमपहृतपाप्मत्वादिः ४ “स एव सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदितः” इत्यादि-
 नोपदिश्यते । अपहृतपाप्मत्वं हि अपहृतकर्मत्वम्, कर्मवश्यतागन्धर-
 हितत्वमित्यर्थः । कर्माधीनसुखदुःखभागित्वेन कर्मवश्या हि जीवाः ।
 अतोऽपहृतपाप्मत्वं जीवादन्यस्य परमात्मन एव धर्मः ॥

तत्पूर्वकं स्वरूपोपाधिकं लोककामेशत्वम्, सत्यसङ्कल्पत्वादिकम् सर्वभूतान्तरात्मत्वञ्च तस्यैव धर्मः । यथाह १“एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासस्सत्यकामस्सत्यसङ्कल्पः” इति, तथा २“एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः” इति । ३“सोऽकामयत । बहु स्यां प्रजायेयेति” इत्यादिसत्यसङ्कल्पत्वपूर्वकसमस्तचिद्विद्वस्तुसृष्टियोगो निरुपाधिकमयाभयहेतुत्वम्, वाङ्मनसपरिमितिकृतपरिच्छेदरहितानवधिकातिशयानन्वययोग इत्यादयोऽकर्मसम्पाद्यास्वाभायिका धर्मा जीवस्य न सम्भवन्ति ॥

यस्तु शरीरसम्बन्धाच्च जीवातिरिक्त इत्युक्तम् ; तद्वसत्, न हि सशरीरत्वं कर्मवश्यतां साधयति, सत्यसङ्कल्पस्येच्छयाऽपि शरीरसम्बन्धसम्भवात् । अथोच्येत—शरीरं नाम त्रिगुणात्मकप्रकृतिपरिणामरूपभूतसङ्घातः ; तत्सम्बन्धश्चापहतपाप्मानस्सत्यसङ्कल्पस्य ; पुरुषस्येच्छया न सम्भवति, अपुरुषार्थत्वात् । कर्मवश्यस्य तु स्वस्वरूपानभिधस्य कर्मानुगुणफलोपभोगायानिच्छतोऽपि तत्सम्बन्धोऽवर्जनीयः—इति ॥ स्यादेतदेवम्, यदि गुणत्रयमयः प्राकृतोऽस्य देहस्सत्तयात्, स तु स्वाभिमतस्त्वानुरूपोऽप्राकृत एवेति सर्वमुपपन्नम् ॥

एतदुक्तं भवति—परस्यैव ब्रह्मणो निखिलहेयप्रत्यनीकानन्तज्ञानानभ्यैकस्वरूपतया सकलेतरविलक्षणस्य स्वाभायिकानवधिकातिशयासङ्ख्येयकल्याणगुणगणाश्च सन्ति । तद्वदेव स्वाभिमतानुरूपैकरूपास्त्विन्त्यदिव्याद्भुतनित्यनिरयद्यनिरतिशयोऽऽव्यक्त्यसौन्दर्यसौगन्ध्यसौकुमार्यलावण्ययौघनाद्यनन्त ४ गुणगणनिधिविषयरूपमपि स्वाभाविकमस्ति । तदेवोपासकानुग्रहेण तत्तत्प्रतिपत्त्यनुरूपसंस्थानं करोत्यपारकारुण्यसौशील्यवात्सल्यौदार्यजलनिधिः, निरस्तनिखिलहेयगन्धोऽपहतपाप्मा परमात्मा परंब्रह्म पुरुषोत्तमो नारायणः—इति ॥

१ "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" २ "सर्वेय सोम्येद-
मग्र आसीत्" ३ "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्" ४ "एको
ह वै नारायण आसीन्न ब्रह्मा नेशानः" इत्यादिषु निखिलजगदेक-
कारणतयाऽद्यगतस्य रूपस्य ब्रह्मणः ५ "सत्यं दानमनन्तं ब्रह्म"
६ "विद्वानमानन्दं ब्रह्म" इत्यादिष्वेवम्भूतं स्वरूपमित्यवगम्यते ।
७ "निर्गुणम्" ८ "निरञ्जनम्" ९ 'अग्रहतपाप्मा विजरो विमृ-
त्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासत्यकामस्सत्यसङ्कल्पः" १० 'न तस्य
कार्यं करणं च विद्यते न तत्समध्याभ्यधिकञ्च दृश्यते । पराऽस्य
शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी दानबलक्रिया च" ११ "तमीश्व-
राणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमञ्च देवनम्" १२ "स कारणं
करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधियः" १३ "सर्वाणि
रूपाणि विचित्य धीरः । नामानि कृत्वाऽभिचक्ष्यदास्ते" १४ "वेदा-
हमेतं पुरुषं महान्तम् । आदित्यवर्णं तमसः परस्तान्" १५ "सर्वं
निमेया जग्दिरे विद्युतः पुरुषदधि" इत्यादिषु परस्य ब्रह्मणः प्राकृत-
हेयगुणान् प्राकृतहेयदेहसम्बन्धं तन्मूलकर्मवश्यतासम्बन्धं च प्रति-
पिच्य कल्याणगुणान् कल्याणकरणं च वदन्ति । तदिदं स्वाभाविकमेव-
रूपमुपासकानुग्रहेण तत्प्रतिपक्ष्यनुगुणाकारं देवमनुष्यादिसंस्तानं
करोति स्वेच्छयैव परमकारुणिको भगवान् । तदिदमाह धृतिः—

१ तै० अ. १

२ छा. ६-२-१

३ यतरेय. १११

४ महोप. १ अ. १

५ तै. आन. १

६ अ. ५-६-२८

७ आत्मोप

८ श्वेता. ६-१६

८ छा. ८-२-१

१० श्वे. ६-८

११ श्वे. ६-७

१२ श्वे. ६-६

१३, १४. यजु. आरण. ३-१२. परमसु

१५ तै. नारायणीये. १ अनु ८ ।

१ "अजायमानो बहुधा विजायते" इति । स्मृतिश्च २ "अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् । प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया । परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्" इति । साधवो ह्युपासकाः, तत्परित्राणमे धोद्दृश्येम्, आनुपङ्क्तिस्तु दुष्कृतां विनाशः, सङ्कल्पमात्रेणापि तद्रूपपत्तेः । 'प्रकृतिं स्वाम्, इति प्रकृतिः—स्वभावः । स्वमेव स्वमायमासाय, न संसारिणां स्वभावमित्यर्थः । आत्ममाययेति ध्रुवसङ्कल्परूपेण ज्ञानेनेत्यर्थः ५ "माया वयुनं ज्ञानम्" इति ज्ञानपर्यामपि मायाशब्दं नैकशब्दका अधीयते । आह च भगवान् पराशरः—"समस्ताश्शक्त्यश्चैता नृप यत्र प्रतिष्ठिताः । तद्विभ्वरूपवैरूप्यं रूपमन्यद्वरेर्महत ॥ समस्तशक्तिरूपाणि तत्करोति जनेश्वर । देवतिर्यकुमनुष्याख्यात्वेष्टायन्ति खलीलया । जगतामुपकाराय न सा कर्मनिमित्तजा" इति, महाभारते चायताररूपस्याप्यप्राकृतत्वमुच्यते ७ "न भूत सङ्गसंस्थानो देहोऽस्य परमात्मनः" इति । अतः परस्यैव ब्रह्मण परंरूपवत्त्वादयमपि तस्यैव धर्मः । अत आदित्यमण्डलाक्ष्यधिकरणः आदित्यादिजीवव्यतिरिक्त परमात्मैव ॥२१॥

भेदव्यपदेशाच्चान्यः । १ । १ । २२ ॥

आदित्यादिजीवेभ्यो भेदो व्यपदिश्यतेऽस्य परमात्मनः—८ "य आदित्ये तिष्ठान्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्यादित्यश्शरीरं य आदित्यमन्तरो यमयति" ६ "य आत्मनि तिष्ठान्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्याऽत्मा । शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयती" १० "योऽक्षरमन्तरे सञ्चरन्त्यस्याक्षरं शरीरं यमक्षरं न वेद यो मृत्युमन्तरे सञ्चरन्त्यस्य मृत्युश्शरीरं यं मृत्युर्न वेद एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः" इति ११ चास्यापहतपाप्मनः परमात्मनस्सर्वान् जीवान् शरीरत्वेन व्यपदिश्य तेषामन्तरात्मत्वेनेन व्यपदिशति । अतस्सर्वेभ्यो हिरण्यगर्भादिजीवेभ्योऽन्य एष परमात्मेति सिद्धम् ॥२॥

इति श्रीशांकरकमीमांसाभाष्ये अन्तरधिकरणम् ॥३॥

१. पुस्तक ॥ २. गी० ४-९. वयु. आरण. ८ ॥ ३. स्वीयमेव स्वभावमा. पा० ४ स्वतन्त्राज्ञानेन. पा० ॥ ५. वेदमिलयटी, धर्मवर्ग. २२-श्लो० । ६. वि. पु. ६-७ ७० ॥ ७. महाभारते उद्योगपर्वणि ॥८. वृ. २-७ ॥ ८. वृ. ५-७ ११ १० सुवास. ७ ख॥ ११. इ. न चास्यापहतपाप्मन. सर्वान् जीवान्

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये आकाशाधिकरणम् ॥ ८ ॥)

१ "यतो वा इमानि भूतानि जान्यन्ते" इति जगत्कारणग्रहोत्पत्त्यवगम्यते । किं तज्जगत्कारणमित्यपेक्षायां २ "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" ३ "तत्तेजोऽसृजत" ४ "आत्मा या इदमेक एवाग्र आसीत्" ५ स इमांल्लोकानसृजत" ६ "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशस्सम्भूतः" इति साधारणैश्वर्यशब्दैर्जगत्कारणो निर्दिष्टे ईक्षणविशेषानन्वयविशेषरूपविशेषार्थस्वभावात्प्रधानक्षेत्रज्ञा ७ दिव्यतिरिक्तं ब्रह्मेत्युक्तम् । इदानीमाकाशाद्विशेषशब्दैर्निर्दिश्य जगत्कारणत्वजगद्वैभवादिवादेऽप्याकाशाद्विशेषाभिधेयतया प्रसिद्धचिदचिद्वस्तुनोऽर्थान्तरमुक्तलक्षणमेव ब्रह्मेति प्रतिपाद्यते आकाशस्तलिङ्गात्-इत्यादिना पादशेषेण—

स्त
आकाशस्थलिङ्गात् १ । १ । २३ ॥

इदमाज्ञायते छान्दोग्ये—१ "अस्य लोकस्य का गतिरिति आकाश इति होवाच सर्वाणि हवा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति आकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम्"—इति । तत्र सन्देहः—किं प्रसिद्धाकाश एवान्नाकाशशब्देनाभिधीयते उक्तोक्तलक्षणमेव ब्रह्म—इति । किं प्राप्तम् । प्रसिद्धाकाश इति, कुतः ? शब्दैकसमधिगम्ये वस्तुनि य एवार्थो व्युत्पत्तिसिद्धशब्देन प्रतीयते-स एव ब्रह्मेतद्व्यः । अतः प्रसिद्धाकाश एव चराचरभूतजातस्य घटस्य स्य कारणम् अतस्तस्मादनतिरिक्तं ब्रह्म । नन्वीक्षापूर्वकसृष्ट्यादिभिरचेतनाज्जीवाच्च व्यतिरिक्तं ब्रह्मेत्युक्तम् । सत्यमुक्तम्, अयुक्तं तु-

१ तै० अ० १

२ छा० ६-२-१

३ छा० ६-२-३

४ ऐतरेय १-१-१

५ गतरेय १-१-२

६ तै० आन० १

७ क्षेत्रज्ञातिरिक्तं पा०

८ शब्दैर्निर्दिष्टस्य पा०

९ छा० १-१-१

तत् । तथाहि १ "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते तदुग्रह" इत्युक्ते
 कुत इमानि भूतानि जायन्त इत्यादिविशेषापेक्षार्था २ "सर्वाणि ह वा
 इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते" इत्यादिना विशेषप्रतीतिः-जग-
 ज्जन्मादिकारणमाकाश एवेति निश्चिते सति ३ "सदेव सोम्येवमग्र
 आसीन्" इत्यादिष्वपि सदादिशब्दास्साधारणाकारास्तमेव विशेषमा-
 काशमभिदधति । ४ "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्" इत्यादिष्वा
 त्मशब्दोऽपि तत्रैव वर्तते । तस्यापि हि चेतनैकान्तत्वं न सम्मयति;
 यथा 'मृदात्मको घटः' इति । आप्तोनीत्यात्मेति व्युत्पत्त्या सुतरामा
 काशोऽप्यात्मशब्दो वर्तते । अत एवमाकाश एव कारणं ब्रह्मेति निश्चिते
 सतीक्षणादयस्तदनुगुणा गौणा वर्णनीयाः । यदि हि साधारणशब्दै-
 रेव सदादिभिः कारणमभ्यधायिष्यत; ईक्षणाद्यर्थानुरोधेन चेतनवि-
 शेष एव कारणमिति निरर्चेष्यत । आकाशशब्देन तु विशेष एव नि-
 श्चिन इति नार्थस्वामाध्याचिर्यतिष्यमस्ति । ननु ५ "आत्मन आकाश-
 सम्भूतः" इत्याकाशस्यापि कार्यत्वं प्रतीयते । सत्यम्, सर्वेषामेवाका-
 शाद्वादीनां सूक्ष्मावस्था स्थूलावस्था चेत्यद्वयमस्ति । तत्राका-
 शस्य सूक्ष्मावस्था कारणम् ६ स्थूलावस्था तु कार्यम् । ५ "आत्मन
 आकाशस्सम्भूतः" इति स्वप्नादेव सूक्ष्मरूपत्वस्य स्थूलरूपस्सम्भूत
 इत्यर्थः । २ "सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते" इति
 सर्वस्य जगत् आकाशादेव प्रभवाप्ययादिधनणात्तदेव हि कारणं ब्र-
 ह्मेति निश्चितम् । यत एव प्रसिद्धाकाशादननिरिक्तं ब्रह्म, अत एव च
 ७ "यदेव आकाश जानन्दो न स्यात्" ८ "आकाशो ह वै नामरूपयो-

१ तै० मु० १ अनु०

३ छा० १ २ १

५ तै० ब्रान० १ २

७ तै० ब्रान० ७ अनु०

२ छा० १-६ १

४ ऐतरेय १ १ १

६ स्थूलावस्था कार्यम् पा०

८ छा० ८ १४ १

निर्वहिता इत्येवमादिनिर्देशोऽप्युपपन्नतरः । अतः प्रसिद्धाकाशाद्वन-
तिरिक्तं ब्रह्मेति ॥

सिद्धान्तः

एवं प्राप्ते ब्रूमः—आकाशस्तद्विज्ञात्—आकाशशब्दाभिधेयः
प्रसिद्धाकाशावचेतनावधान्तभूतो यथोक्तलक्षणः परमात्मैव कुनः ?
तद्विज्ञात् निखिलजगदेकारणत्वम्, परायणत्वम् इत्यादीनि परमा-
त्मलिङ्गान्युपलभ्यन्ते । १ निखिलकारणत्वं ह्यविद्यस्तुनः प्रसिद्धाका-
शशब्दाभिधेयस्य नोपपद्यते, चेतनवस्तुनस्तत्कार्यत्वासम्भवात् । परा-
यणत्वं च चेतनानां परमप्राप्यत्वम् । तथाचेतनस्य हेयस्य सकलपु-
रुषार्थविरोधिनो न सम्भवति । सर्वस्माज्ज्वायस्थं च निरुपाधिकं
सर्वैः कल्याणगुणैस्सर्वैर्मन्यो निरतिशयोत्कर्षः । तदप्यचिनो नोप-
पद्यते ॥

यदुक्तं जगत्कारणविशेषाकांक्षायामाकाशशब्देन विशेषसमर्प-
णावश्यकत्वं तद्वनुरूपमेव वर्णनीयमिति, तद्व्युक्तम्, २ “सर्वाणि ह
या इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते” इति प्रसिद्धयन्निर्देशात् ।
प्रसिद्धयन्निर्देशो हि प्रमाणान्तरप्राप्तिमपेक्षते । प्रमाणान्तराणि च ३
“सदेव सोम्येदमग्र आसीत्” इत्येवमादीन्येव वाक्यानि तानि च
यथोदितप्रकारेणैव ब्रह्म प्रतिपादयन्तीति तत्प्रतिपदितं ब्रह्माकाश-
ब्देन प्रसिद्धयन्निर्दिश्यते । सम्भवति च परस्य ब्रह्मणः ४ प्रकाशकत्वा-
दाकाशशब्दाभिधेयत्वम्—आकाशते, आकाशयति च—इति । किञ्च
अनेनाकाशशब्देन विशेषसमर्पणक्षमेणापि चेतनानां प्रत्यसम्भाविनका-
रणभावमचेतनविशेषमभिदधानेन ५ “तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय”
६ “सोऽकामयत । बहुस्यां प्रजायेय” इत्यादि ७ वाक्यविशेषावधारित-

१ निखिलजगदेकारणत्वं पा०

२ छा० ६, २, १ ।

३ छा० ६, २, ३ ।

४ वाक्यविशेष पा० ।

२ छा० १, ६, १ ।

४ प्रकाशत्वात् पा० ।

५ तै० ब्रा० ६ ।

स

सार्वभृत्सत्यसङ्कल्पत्वादिविशिष्टापूर्वार्थप्रतिपादनसमर्थवाक्यार्थान्य-
थाकरणां न प्रमाणपदधीमधिरोहति । एवमपूर्धान्तविशेषणविशिष्टा-
पूर्वार्थप्रतिपादनसमर्थनैकवाक्यगतिनामान्यं चैकेनानुवादसूत्ररूपेणा-
न्यथा कर्तुं न शक्यते । यस्वात्मशब्दश्चेतनैकान्तो न भवति, 'मृदा-
त्मको घटः' इत्यादिदर्शनादित्युक्तम् ; तन्नोच्यते—यद्यपि चेतनाद-
न्यत्रापि क्वचिदात्मशब्दः प्रयुज्यते ; तथापि शरीरप्रतिसम्बन्धिन्या-
त्मशब्दस्य प्रयोगप्राप्त्वर्यात् १ "आत्मा वा इदमेक एवात्र आसीत्"
२ "आत्मन आकाशस्सम्भूतः" इत्यादिषु शरीरप्रतिसम्बन्धिचेतन
एव प्रतीयते । यथा गोशब्दस्यानेकार्थवाचित्वेऽपि प्रयोगप्रचुर्या-
त्संस्कारादिमानेष्वन्यः प्रतीयते ; अर्थान्तरप्रतीतिस्तु तत्तदसाधार-
णनिर्देशापेक्षा ; तथा स्वनः प्राप्तं शरीरप्रतिसम्बन्धिचेतनाभिधान-
मेव ३ "स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति" ४ "सोऽकामयत । यदु स्या
प्रजायेय" इत्यादितत्तद्वाक्यविशेषा एव स्थिरी कुर्वन्ति । एवं वाक्य-
शेषावधारितानन्यसाधारणानेकापूर्वार्थविशिष्टं निखिलजगदेककारणं
५ "सदेव सोम्य" इत्यादिवाक्यसिद्धं ब्रह्मैवाकाशशब्देन प्रसिद्धवत्
६ सर्वानि "ह वा इमानि भूतानि" इत्यादिवाक्येन निर्दिश्यत इति
सिद्धम् ॥२३॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये आकाशाधिकरणम् ॥ ८ ॥

अत एव प्राणः ॥११॥२४॥

इदमास्मायते छान्दोग्ये—७ "प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वाय-
त्ता" इति प्रस्तुत्य ५ "कतमा सा देवतेति प्राण इति होवाच सर्वाणि
ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवामिसन्धिशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते सैषा

१ ऐतरेय १, १, १ ।

२ तै० ब्रा० १, २ ।

३ ब्रा० ५, २, १ ।

४ ब्रा० १, १, १ ।

५ ब्रा० १, ११, ४, २ ।

वेवता प्रस्तावमभ्यासता तां चेद्विद्वान् प्रास्तोष्यो भूर्धा ते व्यपति-
ष्यत्—इति ॥

अत्र प्राणशब्दोप्याकाशशब्दवत्प्रसिद्धप्राणव्यतिरिक्ते परस्मि-
न्नेव ब्रह्मणि वर्तते, तद्वसाधारणनिखिलजगत्प्रवेशनिष्क्रमणादिलिङ्गा-
त्प्रसिद्धवर्त्तिर्विद्यात् । अधिकाशङ्का तु—कृत्स्नस्य भूतजातस्य प्राणा-
धीनस्थितिप्रवृत्त्यादिदर्शनात् प्रसिद्ध एव प्राणो जगत्कारणतया निर्दे-
शमर्हति—इति ॥

परिहारस्तु—शिलाकाष्ठादिषु चेतनस्वरूपे च नद्भावात् १
“सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवामिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्ज-
हते” इति नोपपद्यत इति । अतः प्राणयति सर्वाणि भूतनीनि कृत्वा-
परं ब्रह्मेव प्राणशब्देनाभिधीयते । अतः प्रसिद्धाकाशप्राणादेरन्यदेव
निखिलजगदेकारणमपहतपाप्मत्वसार्वभूतसत्यसङ्कुलत्ववाधानन्तक-
ल्याणगुणगणं परं ब्रह्मैवाकाश २ प्राणादिशब्दाभिधेयमिति
सिद्धम् ॥ २४ ॥

इति श्रीशरीरकमीमांसाभाष्ये प्राणाधिकरणम् ॥ ६ ॥

श्रीशरीरकमीमांसाभाष्ये ज्योतिरधिकरणम् ॥ १० ॥

अतः परं जगत्कारणत्वव्याप्तेन येनकेनापि निरतिशयोक्तृष्ट-
गुणेन जुष्टं ज्योतिरिन्द्रादिशब्दैरर्थान्तरप्रसिद्धैरप्यभिधीयमानं परं
ब्रह्मैवेत्यभिधीयते—ज्योतिश्चरणाभिधानात्—इत्यादिना—

ज्योतिश्चरणाभिधानात् । १ । १ २५ ॥

इदमाज्ञायते छान्दोग्ये ३ “अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दी-
प्यते विभ्यतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषु लोकेष्विदं वाच मद्यदि-

दमस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योतिः" इति तत्र संशयः किमयं ज्योतिश्शब्देन निर्विष्टो निरतिशयदीप्तिर्युक्तोऽर्थः प्रसिद्धमादित्यादिज्योतिरेव कारणभूतं ब्रह्म, उत समस्तचिदचिद्वस्तुजातधिसजातीयः परमकारणभूतोऽमितभास्वस्त्वस्त्यसङ्कुलः पुरुषोत्तमः—इति । किं युक्तम् ? प्रसिद्धमेव ज्योतिरिति । कुतः प्रसिद्धयभिर्वैशेष्येऽप्याकाशप्राणादिवत् स्ववाक्योपात्त परमात्मव्याप्तलिङ्गविशेषादर्शनात्, परमपुरुषप्रत्यभिज्ञानासम्भवात्, १ कौक्षेयज्योतिर्देवयोपदेशाच्च प्रसिद्धमेव ज्योतिः कारणात्यव्याप्तनिरतिशयदीप्तिर्योगाज्जगत्कारणं २ ब्रह्मेति ॥

(सिद्धान्तः)

एवं प्राप्ते प्रवक्ष्यमहे—ज्योतिश्चरणगिघानात् शुसम्बन्धि तथा निर्विष्टं निरतिशयदीप्तिर्युक्तं ज्योतिः परमपुरुष एव । कुतः ३ "पादोऽस्य सर्वा भूनामि त्रिपादस्यामृतं दिवि" इत्यस्यैव शुसम्बन्धिनश्चरणत्वेन सर्वभूताभिधानत् ॥

एतदुक्तं भवति यद्यपि ४ "अथ यदतः परो द्विवो ज्योतिः" इत्यस्मिन्वाक्ये परमपुरुषासाधारणलिङ्गभोपलभ्यते; तथापि पूर्वावाक्ये शुसम्बन्धितया परमपुरुषस्य निर्देशादिदमपि च सम्बन्धि ज्योतिस्त्वप्येति प्रत्यभिज्ञायन इति । १ कौक्षेयज्योतिर्देवयोपदेशाच्च फलाय तदात्मकत्वानुसन्धानविधिरिति न कश्चिद्विरोधः । १ कौक्षेयज्योतिर्पञ्च तदात्मकत्वं भगवता स्वयमेवोक्तम् ५ "अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः" इति ॥

छन्दोभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोर्पणनिगमात्तथाहि दर्शनम् । १ । १ । २६ ॥

पूर्वस्मिन्वाक्ये ६ "गायत्री वा इदं सर्वम्" इति गायत्र्याख्यं

१ कौक्षेयज्योतिर्प पा० ।

३ छा० ३, १२, ६ ।

४ गी० १२, १, ४ ।

२ ब्रह्मेति प्राप्ते प्रवक्ष्यमहे पा० ।

४ छा० ३, १३, ७ ।

६ जा० ३, १२, १ ।

छन्दोऽभिधाय १ "तदेतद्व्याऽभ्यनूक्तम्" इत्युदाहृतायाः २ "तावानस्य महिमा" इत्यस्या ऋचोऽपि छन्दोविषयत्वाच्चात्र परमपुरुषाभिधानमिति चेत्

तत्र, तथा चेतोर्पणनिगमान् न गायत्रीशब्देन छन्दोमात्रमिहाभिधीयते, छन्दोमात्रस्य सर्वात्मकत्वानुगतेः अपि तु ब्रह्मण एव गायत्रीचेनोर्पणमिह निगम्यते । ब्रह्मणि गायत्रीसादृश्यानुसन्धानं फलायोपदिश्यत इत्यर्थः सम्मतिर्न च ३ "पादोऽस्य सर्वा भूतानि । त्रिपादस्यामृतं दिवि" इति चतुष्पदो ब्रह्मणश्चतुष्पदया गायत्र्या च सादृश्यम् । चतुष्पदा च गायत्री कचिदृश्यते । तद्यथा ४ "इन्द्रशचीपतिः । वल्लेन पांडितः । दृश्यक्यवनो धृपा । समित्सुसासहिः" इति । तथा ह्यन्यत्रापि सादृश्याच्छन्दोभिधायी शब्दोऽर्थान्तरे प्रयुज्यमानो दृश्यते । यथा संचर्गविधायाम् ५ "ते या एते पञ्चान्ये दश ६ सम्पद्यन्ते" इत्यारभ्य ५ "सैषा विराड्भ्रातृ" इत्युच्यते ॥ २६ ॥

इतश्च गायत्रीशब्देन ब्रह्मैवाभिधीयते—

भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् । १।१।२७॥

भूतपृथिवीशरीरहृदयानि निर्दिश्य ७ "सैषा चतुष्पदा" इति व्यपदेशो ब्रह्मण्येव गायत्रीशब्दाभिधेय उपपद्यते ॥

उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात् । १।१।२८

पूर्ववाक्ये ८ "त्रिपादस्यामृतं दिवि" इति दिवोऽधिकरणत्वेन निर्देशादिह च दिवः पर इत्यवधित्वेन निर्देशादुपदेशस्य ६ भिन्नरूप-

१ छा० ३, १२, १ ।

२ छा० ३, १२, ६ ।

३ छा० ३, १२, ६ ।

४

५ छा० ४, ३, ८ ।

५ सप्त इति रत्नरामानुजीयादिषु पाठो दृश्यते ।

७ छा० ३, १२, ५ ।

८ छा० ३, १२, ६ ।

६ भिन्नत्वेन पा० ।

त्वेन पूर्ववाक्योक्तं ब्रह्म परस्मिन् प्रत्यभिधायत इति चेत्--तत्र, उभयस्मिन्नपि उपदेशे अर्थस्वभावेक्येन प्रत्यभिधायता अविरोधात् ; यथा 'वृक्षाग्रे श्येनो वृक्षाग्रात्परतश्श्येनः' इति । तस्मात्परमपुरुष एव निरतिशयतेजस्को दिवः परो ज्योतिर्दीप्यत इति प्रतिपाद्यते । १ "एतावानस्य महिमा । अतो ज्यायाँश्च पुरुषः । पादोऽस्य विधा भूतानि । त्रिपादस्यामृतं दिवि" इति प्रतिपादितस्य चतुष्पादः परमपुरुषस्य २ "चिदाहमेतं पुरुषं महात्मम् । आदित्यवर्णं तमसस्तु पारे" इत्यभिहिताप्राकृतरूपस्य तेजोऽप्यप्राकृतमिति तद्वत्तया स एव ज्योतिश्शब्दाभिधेय इति निरवद्यम् ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये ज्योतिरधिकरणम् ॥ १० ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये इन्द्रप्राणधिकरणम् ॥ ११)

निरतिशयदीप्तियुक्तं ज्योतिश्शब्दामिधेयं प्रसिद्धवनिर्दिष्टं-परमपुरुष एवेत्युक्तम् । इदानीं कारणत्वव्याप्तामृतत्वप्राप्त्युपायतयोपास्यत्वेन श्रुत इन्द्रप्राणादिशब्दामिधेयोऽपि परमपुरुष एवेत्याह-

प्राणस्तथाऽनुगमात् । १ । १ । २९ ॥

कौपीतकीप्राज्ञे प्रतर्दनेविधायां ३ "प्रतर्दनो ह वै देवोदासि-रिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम युद्धेन च पौरुषेण च" इत्यारभ्य ३ "वरं वृणीष्व" इति वक्तारमिन्द्रं प्रति ३ "त्यमेव मे परं वृणीष्व यं त्वमनुष्णाय हिततमं मन्यसे" इति प्रतर्दनेनांके ३ "स होवाच प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्व" इति श्रूयते । तत्र संशयः-किमयं हिततमोपासनकर्मतयेन्द्रप्राणशब्दनिर्दिष्टो जीव एव; उत तदतिरिक्तः परमात्मा-इति । किं युक्तम्, जीव एवेति । कुतः ? इन्द्रशब्दस्य जीवविशेष एव प्रसिद्धः, तत्समानाधिकरणस्य प्राणशब्दस्यापि तत्रैव द्युतेः । अयमिन्द्रामिधानो जीवः प्रतर्दनेन ३ "त्यमेव

मे वरं वृणीष्व यं त्वं मनुष्याय हिततमं मन्यसे” इत्युक्तः १ “मामु-
पास्व” इति स्वात्मोपासनं हिततममुपदिदेश । हिततमध्यामृतत्वप्रा-
प्त्युपाय एव । जगत्कारणोपासनस्यैवामृतत्वप्राप्तिहेतुता २ “तस्य
तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ सम्पत्स्ये” इत्यवगता । अतः
प्रसिद्धजीवभाष्य इन्द्र एव कारणं ब्रह्मा ॥

इत्याशङ्क्यामभिधीयते—प्राणस्तथानुगमात्— इति; अयमि-
न्द्रप्राणशब्दनिर्दिष्टो न जीवमात्मन्, अपि तु जीवादर्धान्तरभूतं परं
ब्रह्म । ३ “स एव प्राण एव प्रज्ञात्मा आनन्दोऽजरोऽमृतः” इतीन्द्र-
प्राणशब्दाभ्यां प्रस्तुतस्याऽनन्दाजरामृतशब्दसामानाधिकरण्येनानुगमो
हि तथा सत्येवोपपद्यते ॥ २६ ॥

न वक्तुरात्मोपेदशादिति चेदध्यात्मसंबन्ध
भूमा ह्यास्मिन् । १ । १ । ३० ॥

यदुक्तमिन्द्रप्राणशब्दनिर्दिष्टस्य ३ “आनन्दोऽजरोऽमृतः” इत्यने-
नैकाध्यायं परं ब्रह्मेति । तन्नोपपद्यते, ४ “मामेव विजानीहि” ५
“प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्व” इति वक्ता हीन्द्रः
३ “क्षिणीपांणं त्वाप्द्रमहनम्” इत्येषमादिना त्वाप्द्रवधादिभिः
प्रज्ञातजीवभाष्यस्य स्वात्मन एवोपास्यतां प्रतर्दनायोपदिशति । अत
उपक्रमे जीवविशेष इत्यवगते सति ३ “आनन्दोऽजरोऽमृतः” इत्या-
दिभिरुपसंहारस्तदनुगुण एव वर्णनीय इति चेत्—

परिहरति—अध्यात्मसम्बन्धभूमा ह्यास्मिन्—आत्मनि यस्सम्ब-
न्धस्सोऽध्यात्मसम्बन्धः । तस्य भूमा-भूयस्त्वम्, -यदुत्थमित्यर्थः ।
आत्मन्याधेयतया सम्बध्यमानानां बहुत्वेन सम्बन्धबहुत्वम् । नञ्वा-
स्मिन्वक्तुः परमात्मन्येव हि सम्भवति । ३ “तद्यथा रथम्यारेणुं नेमि-

रपिता नाभावरा अर्पिता एवमेवैता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः प्रज्ञामात्राः प्राणेऽर्पितास्स एव प्राण एव प्रज्ञात्माऽजरोऽमृतः” इति भूतमात्राशब्देनाच्चेननवस्तुज्ञानमभिधाय प्रज्ञामात्राशब्देन तदाधार-
तया चेतनवर्गं चाभिधाय नम्याप्याधारतया प्रकृतमिन्द्रप्राणशब्दाभि-
धेयं निर्दिश्य नमेव १ “आनन्दोऽजरोऽमृतः” इत्युपदिशति । तदेत-
द्ये तनाच्चेतनात्मकद्रव्यवस्त्वाधारत्वं जीवाद्यर्थान्तरभूतेऽस्मिन् परमा-
त्मन्येवोपपद्यत इत्यर्थः ॥

अथवा—अध्यात्मसम्बन्धभूमा ह्यस्मिन्—परमात्मासाधारण-
धर्मसम्बन्धोऽध्यात्मसम्बन्धः । तस्य भूमा बहुत्वं हि अस्मिन् प्रकरणे
विद्यते । तथाहि—प्रथमं १ “तयमेव मे वर्तु वृणीष्व यं त्वं मनुष्याय
हिततमं मन्यसे ” इति १ “मानुषास्त्व” इति च परमात्मानाधारण-
मांशुसाधानोपासनकर्मत्वं प्राणशब्दनिर्दिष्टस्येन्द्रस्य प्रतीयते । तथा २
“एव एव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उशिनीपति एव
एवासाधु कर्म कारयति तं यमथो निनीपति,” इति सर्वस्य कर्मणः
कारयितृत्वं च परमात्मधर्मः । तथा २ “तद्यथा रथस्यारेषु नेमिरपिता
नाभावरा अर्पिताः एवमेवैता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः, प्रज्ञामात्राः
प्राणेऽर्पिताः ” इति सर्वाधारत्वं च तस्यैव धर्मः । तथा २ “स
एव प्राण एव प्रज्ञात्माऽनन्दोऽजरोऽमृतः” इत्येनेऽपि परमात्मन
एव धर्माः । २ “एव लोकाधिपतिरेव सर्वेशः” इति च परमात्मन्येव
सम्भावति । नदेवमध्यात्मसम्बन्धभूम्नोऽल्लविद्यमानत्यात्परमात्मधा-
त्रेन्द्रप्राणशब्दनिर्दिष्टः ॥ ३० ॥

कथं नहि प्रज्ञातजीवभाष्येन्द्रस्य स्वात्मन उपास्यत्योपदेश-
स्सङ्गच्छते; तत्राह—

शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् । १ । १ । ३१ ॥

प्रज्ञातजीवभाष्येनेन्द्रेण ३ “मानेव विजानीहि” ३ “मानुषास्त्व”
इत्युपास्यस्य प्रज्ञातन्यात्मत्वेनापदेशोऽयं न प्रमाणान्तरप्राप्तन्यात्मा-

चलोकनकृतः, अपितु शास्त्रेण स्वात्मदृष्टिकृतः। एतदुक्तं भवति—
 १ “अनेन जीवेनाऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि” २ “येतदा-
 त्म्यमिदं सर्वम्” ३ “अन्तः प्रविष्टश्लास्ताजनानां सर्वात्मा” ४ “य
 आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न चेद् यस्याऽत्मा शरीरं य
 आत्मानमन्तरो यमयति” ५ “एष सर्वभूतान्तरात्मा अपहृतपाप्मा
 विष्णो देव एको नारायणः” इत्येवमादीनां शास्त्रेण जीवात्मशरीरकं
 परमात्मानमथगम्य जीवात्मवाचिनामहंत्वमादिशब्दानामपि परमात्म-
 न्येव पर्यवसानं ज्ञात्वा” ६ “मामेव विजानीहि” ६ “मामुपास्व”
 इति स्वात्मशरीरकं परमात्मानमेवोपास्यत्वेनोपदिदेश—इति। चाम-
 देववत्—यथा चामदेवः परस्य ब्रह्मणः सर्वान्तरात्मत्वं सर्वस्य च
 तच्छरीरत्वं शरीरवाचिनां च शब्दानां शरीरिणि पर्यवसानं पश्यन्
 ‘अहम्’ इति स्वात्मशरीरकं परं ब्रह्म निर्दिश्य तत्सामानाधिकरण्येन
 मनुसूर्यादीन् व्यपविशति ७ “तद्धेतुपश्यन्पिचामदेवः प्रतिपेदे अहं
 मनुस्त्वमहं सूर्यश्चाहं कश्चिधानूपिरसि विप्र” इत्यादिना। यथा च
 प्रह्लादः ८ “सर्वगतत्वाद्नन्तस्य स एवाहमवस्थितः। मत्तस्सर्वमहं सर्वं
 मयि सर्वं सनातनम्” इत्यादि वदति ॥ ३१ ॥

अस्मिन् प्रकरणे जीवावाचिमियशब्दैरन्विष्टिशेषाभिधायिमिधोपा-
 स्यभूतस्य परस्य ब्रह्मणोऽभिधाने कारणं बोधपूर्वकमाह—

**जीवमुख्यप्राणलिङ्गमेति चेन्नोपासात्रैविध्या-
 दाश्रितत्वादिह तद्योगात् । १।१।३२ ॥**

६ “न वाचं विजिघासीत वकारं विधात्” ६ “त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रमह-
 नम् अरुमुखाऽयनीन् सालावृक्षेभ्यः प्रायच्छम्” इत्यादिजीवलिङ्गान्,
 ६ “यावदस्मिन् शरीरे प्राणो यस्मिन्तावदायुः” १० “अथ खलु प्राण

१. छा. ६. ३. २ ॥

२. छा. ६. ८. ७ ॥

३. यजु. आरण्य ॥

४. वृ. ५. ७. २२ ॥

५. सुबाल. ७. क ॥

६. कौ. ३. १ ॥

७. वृ. ३. ४. १०.

‘अहमनु-सूर्यश्च’ इत्यस्तमेव बृहदारण्यके दृश्यते।

अकर्महिता (३-६-१५-४ ३-२६-१) वाक्यम् ‘अहम्’ इत्यरम्य ‘विप्र’ इत्यन्तम्

८. वि. पृ. १. १३. ८६ ॥

९. कौ. १. ८ ॥

१०. कौ. ३. १ ॥

एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिपृष्टोत्थापयति" इति मुख्यप्राणलिङ्गाच्च
नाध्यात्मसम्यग्बुधमेति चेत्—न, उपासात्रैविध्यात् हेतोः, उपासना-
त्रैविध्यमुपदेष्टुं तत्तच्छब्देनाभिधानम्—निखिलकारणभूतस्य ब्रह्मण-
स्वरूपेणानुसन्धानम्, भोक्तृवर्गं शरीरकत्वानुसन्धानं भोग्य
भोगो पकरणशरीरकत्वानुसन्धानंचेति त्रिविधमनुसन्धानमुपदेष्टु-
मित्यर्थः । तदिदं त्रिविधं ब्रह्मानुसन्धानं प्रकरणान्तरेष्वप्याश्रितम्—
१ "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" २ "आनन्दो ब्रह्म"—इत्यादिषु स्वरूपानु-
सन्धानम् ; ३ "तत्त्वष्टा तदेवानुप्रायिषत् । तदनुप्रविश्य । सच्च
त्यव्याभवत् । निरुक्तं चानिरुक्तं च । निलयनं चानिलयनं च । विज्ञानं
चाविज्ञानं च । सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्" इत्यादिषु भोक्तृशरी-
रतया, भोग्यभोगोपकारणशरीरतया चानुसन्धानम् । इहापि प्रकरणे
तत्रिविधमनुसन्धानं युज्यत एवेत्यर्थः ।

एतदुक्तं भवति—यत्न हिरण्यगर्भादिजीवविशेषाणां प्रकृत्याद्यचे-
तनविशेषाणां च परमात्मासाधारणधर्मयोगः तदभिधायिनां शब्दानां
परमात्मवाचिशब्दैस्सामानाधिकरण्यं वा दृश्यते ; तन्न परमात्मन-
स्तत्तद्विद्विद्विशेषान्तरात्मत्वांनुसन्धानं प्रतिपिपादयिषितम्—इति ।
अतोत्रेन्द्रप्राणशब्दनिर्दिष्टो जीवाद्यध्यान्तरभूतः परमात्मैवेति सिद्धम् ३२

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये इन्द्रप्राणधिकरणम् ॥ ११ ॥

इति श्रीभगवद्रामानुजयिरचिते शारीरकमीमांसाभाष्ये
प्रथमस्याध्यायस्य प्रथमः पादः ॥ १ ॥

१. तै. आन. १. अनु

२. तै. अ. १. अनु॥

३. तै. आन. १. २॥





श्रीमतेरामानुजायनमः

श्रीभगवद्रामानुजविरचिते

श्रीशाररिकमीमांसाभाष्ये

—: (प्रथमाध्याये-द्वितीयपादे-सर्वतत्प्रसिद्धवाचिकरणम् ॥ १॥) :—

— श्रीशाररिकमीमांसाभाष्ये —

प्रथमे पादे अर्थात् वेदः पुरुषः कर्ममीमांसाध्ववणाधिगतकर्मया-
थात्म्यविद्वानः केवलकर्मणामल्पास्त्रिरफलत्वमवगम्य, वेदान्तवाक्येषु
चापातप्रतीतानन्तस्त्रिरफलब्रह्मस्वरूप १ तदुपासनसमुपजातपरमपुरुषा-
र्थलक्षणमोक्षापेक्षो ऽयधारितपरिनिष्पन्नवस्तुबोधनशब्दशक्तिः वेदा-
न्तवाक्यानां परस्मिन् ब्रह्मणि निश्चितप्रमाणमायस्तदितिकर्तव्यतारू-
पशारीरकमीमांसाध्ववणमारभेतेत्युक्तं शास्त्रारम्भसिद्धये ॥ १ ॥

अनन्तविचित्रस्त्रिरत्नसरूपभोक्तृभोग्यभोगोपकरणभोगक्षानलक्ष-
णनिखिलजगदुदयविभयलयमहानन्दैककारणां परं ब्रह्म “यतो वा
इमानि” इत्यादिवचनं बाध्यतीति च प्रत्यपादि ॥ २ ॥

जगदेककारणं परं ब्रह्म सकलेनरप्रमाणाविषयतया शास्त्रैकप्रमा-
णकमित्यन्यधाम ॥ ३ ॥

शास्त्रप्रमाणकत्वं च ब्रह्मणः प्रवृत्तिनिवृत्त्यन्ययविरहेऽपि स्वरू-
पेक्षैव परमपुरुषार्थं भूते परस्मिन् ब्रह्मणि वेदान्तवाक्यानां समन्वया-
न्निरुद्धात् इत्यधूम ॥ ४ ॥

निखिलजगदेककारणतया वेदान्तवेद्यं ब्रह्म च ईक्षणाद्यन्ययादानु-
मानिकप्रधानादर्थान्तरभूतश्चेतनविशेष एवेत्युपापीपदाम् ॥ ५ ॥

१. तदुपासनः समुपजात. पा ॥

स च स्वाभाविकानयधिकृतिशयानन्दविषयस्थितिस्थितिलक्षितनम-
याभयहेतुत्वसत्यसङ्कल्पत्वसमस्तचेतनाचेतनान्तरात्मतयादिभिर्यद्-
मुक्तोभयावस्थाब्जोवशब्दामिलपनीयाच्चाथान्तरभूत इति च समाप्ति-
थामहि ॥ ६ ॥

स चाप्राकृताकर्मनिमित्तस्वासाधारणदिव्यरूप इत्युदैरिराम ॥ ७ ॥

आकाशप्राणाद्यचेतनविशेषामिधायिभिर्जगत्कारणतया प्रसिद्ध-
यन्निर्दिश्यमानस्सकलेतरचेतनाचेतनविलक्षणस्स पदेति समगरिष्महि
परतस्वासाधारणनिरतिशयवीतियुक्तज्योतिशशब्दामिधेयो युस-
न्धितया प्रत्यभिधानात्स पदेत्यातिष्ठामहि ॥ ८ ॥

परमकारणासाधारणामृतत्वप्राप्तिहेतुभूतः परमपुरुष एव शास्त्र-
वृष्टेन्द्रादिशब्दैरभिधीयत इत्यब्रूमहि ॥ १० ॥

तदेवमतिपतितसकलेतरप्रमाणसम्भायनाभूमिस्सार्वभूतसत्यस-
ङ्कल्पत्वाद्यपरिमितोदारशुणसागरतया स्वेतरसमस्तवस्तुविलक्षणः
परं ब्रह्म पुरुषोत्तमो नारायण एव वेदान्तवेध इत्युक्तम् ॥ ११ ॥

अतः परं द्वितीयतृतीयचतुर्थेषु पादेषु यद्यपि वेदान्तवेधं ब्रह्मैव,
तथापि कानिचिद्वेदान्तवाक्यानि प्रधानभेदब्रह्मान्तर्भूतवस्तुविशेषस्वरूप
प्रतिपादनपराण्येवेत्याशङ्क्य तन्निरसनमुखेन तत्तद्वाक्योदितकल्याण-
शुणाकरत्वं ब्रह्मणः प्रतिपाद्यते ॥

तत्रास्पृष्टजोवादिलिङ्गकानि वाक्यानि द्वितीये पादे विचार्यन्ते; स्य
एलिङ्गकानि तृतीये; तत्तत्प्रतिपादनच्छायाानुसारीणि चतुर्थे ॥

सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् । १ । २ । १ ॥

इदमाज्ञायते छान्दोग्ये १ "अथ खलु कतुमयः पुरुषो यथाकतु-
रस्मिह्मोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स कतुं कुर्वीत मनोमयः
प्राणशरीरो भारूपाः" इत्यादि ।

अतः २ "स कतुं कुर्वीत" इति प्रतिपादितस्योपासनस्योपास्यः
२ "मनोमयः प्राणशरीरः" इति निर्दिश्यत इति प्रतीयते । तत्र
संशयः—किं मनोमयत्वादिगुणकः क्षेत्रज्ञः ; उत परमात्मा—इति ।

किं युक्तम् ? क्षेत्रज्ञ इति । कुतः ? मनःप्राणयोः क्षेत्रज्ञोपकरणत्वात्, परमात्मनस्तु १ "अप्राणो ह्यमनाः" इति तत्प्रतिषेधात् । न च १ "सर्वं जगिदं ब्रह्म" इति २ पूर्वनिर्दिष्टं ब्रह्मात्रोपास्यतया सम्बद्धं शक्यते, १ "शान्त उपार्जोत" इत्युपासनोपकरणशान्तिनिवृत्त्युपाय-भूतब्रह्मात्मकत्वापदेशाद्योपास्यत्वात् । न च १ "स कर्तुं कुर्वीत" इत्युपासनम्यापास्यसाक्षाद्ब्रह्माद्याक्यान्तरस्थमपि ब्रह्म सम्यग्यत इति युक्तं वक्तुम्, स्वयाक्योपासेन मनोमयत्वादिगुणकेन निराकाङ्क्षत्वात्; १ "मनोमयः प्राणशरीरः" इत्यनर्थार्थतया निर्दिष्टस्य विभक्तिविपरिणाममात्रेणोभयाकाङ्क्षानिवृत्तिसिद्धेः । एवं निश्चिते जीवत्वे १ 'एतद्वन्न' इत्युपसंहारस्थब्रह्मादमात्रं जीव एव पूजार्थं प्रयुक्तमित्यव्ययसीयत इति ॥

एवं प्राप्ते ब्रूमः-सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशान्--मनोमयत्वादिगुणकः परमात्मा । कुतः ? सर्वत्र--वेदान्तेषु परमात्मय ब्रह्माणं प्रसिद्धस्य मनोमयत्वादेरुपदेशात् । प्रसिद्धं हि मनोमयत्वादि ब्रह्मणः । यथा- ३ "मनामयः प्राणशरीरस्तेना" ४ "स एषोऽन्तर्हृदय आकाशः । तस्मिन् पुरुषो मनोमयः । भस्मृतो हिरण्यमयः" ५ "तदा मनांया मनसा-ऽभिवक्तुमो य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति" ६ "न चक्षया गृह्यते नापि वाचा" ७ "मनसा तु विशुद्धेन" तथा ८ "प्राणस्य प्राणः" ९ अथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मदे शरीरं परिगृह्यात्थापयति" १० "सचांगं ह वा इमानि नूतानि प्राणमेवाभक्षं विशन्ति प्राणमभ्युज्जिह्वे" इत्यादिषु । मनोमयत्वे-विशुद्धं मनसा ब्राह्मणम् । प्राणशरीरत्वं-प्राणस्या-प्याधारत्वं नियन्तृत्वं च ।

एवं च सति ११ "एव ग आत्माऽन्तर्हृदय एतद्वन्न" इति ब्रह्मश-

१. मु. २-१-२॥

२. पूर्वनामनिर्दिष्ट, पा ॥

३. मु. २-२ ७॥

४. तै. शिवावक्यां. १ ३॥

५. तै. नारायण ३॥

६. मु. ३ १-८॥

७. ८. केनोप. १-२॥

८. की. ३-२. प्रायः खण्डित्यधिकः

पाठोपो पतिपदि ॥

१०. चा १-११ २॥

११. द्वा. ३-१४-७॥

व्याऽपि मुख्य एव भवति । १“अप्राणो ह्यमनाः” इति मनआयत्तं ज्ञानं प्राणायत्तां स्थितिं च ब्रह्मणो निवेधात् ।

अथवा २“सर्वखल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत” इत्यत्रैवोपासनं विधीयते—सर्वात्मकं ब्रह्म शान्तस्सन्नुपासीतेति । २“स कर्तुं कुर्यात्” इति तस्यैव गुणोपादनार्थोऽनुवादः । उपादेयाश्च गुणा मनोमयत्वादयः ; यतस्सर्वात्मकं ब्रह्म मनोमयत्वादिगुणकमुपासीतेति वाक्यार्थः । तत्र सन्देहः—किमिह ब्रह्मशब्देन प्रत्यगात्मा निर्दिश्यते : उत परमात्मा—इति । किं युक्तम् ? प्रत्यगात्मेति । कुतः ? तस्यैव सर्वपदसामानाधिकरण्यनिर्देशोपपत्तेः । सर्वशब्दनिर्दिष्टं हि ब्रह्मादिस्तम्यपर्यन्तं कृत्स्नं जगत् । ब्रह्मादिभावश्च प्रत्यगात्मनाऽनाद्यविद्यामूलकर्मविशेषोपाधिको विद्यत एव ; परस्य तु ब्रह्मणस्सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेरपहतपाप्मनो निरस्तसमस्ताविद्यादिदोषगन्धस्य समस्तहेयाकरसर्वभावो नोपपद्यते । प्रत्यगात्मन्यपि क्वचित्क्वचिद्ब्रह्मशब्दः प्रयुज्यते । अत एव परमात्मा परं ब्रह्मेति परमेध्वरस्य क्वचित्सविशेषणो निर्देशः । प्रत्यगात्मनश्च निर्मुक्तोपाधेर्ब्रह्मत्वं च विद्यते ३“स चानन्त्याय कल्पते” इति श्रुतेः । अथिदुपस्तस्यैव कर्मनिमित्तत्वाज्जन्मस्थितिलयानां तज्जलानिति हेतुनिर्देशोऽप्युपपद्यते । तद्वयमर्थः—अयं जीयात्मा सतोऽपरिच्छिन्नस्वरूपत्वेन ब्रह्मभूतस्सत्तनाद्यविद्यायां वेवतिर्यक्रमनुप्यस्वाधरात्मनाऽवतिष्ठते—इति ।

अत्र प्रतिविधीयते—सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्—सर्वत्र—४“सर्वं खल्विदम्” इति निर्दिष्टे सर्वस्मिन् जगति ब्रह्मशब्देन तदात्मतया विधीयमानं परं ब्रह्मेव न प्रत्यगात्मा । कुतः ? प्रसिद्धोपदेशात्, ४“तज्जलान्” इति हेतुतः “सर्वं खल्विदं ब्रह्म” इति प्रसिद्धयदुपदेशात् । ब्रह्मणोजानत्याद्ब्रह्मणि लीनत्याद्ब्रह्मार्थीनजीयनत्वाच्च हेतोर्ब्रह्मात्मकं सर्वं खल्विदं जगदित्युक्ते यस्माज्जगज्जन्मस्थितिलया वेदान्तेषु प्रसिद्धास्तदेवात्र ब्रह्मेति प्रतीयते । तच्च परमेश ब्रह्म, तथाहि ५“यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जानानि जीवन्ति । यत्प्रयस्यमिसंवि-

शान्ति । तद्विजिघासन् तद्वश ॥ इत्युपक्रम्य १ "आनन्दो ब्रह्मेनि
व्यजानात् । आनन्दादप्येव सन्निभानि भूतानि जायन्ते" इत्यादिना
पूर्वानुवाकप्रतिपादितानयधिकारिण्यानन्द्यागिनां विपरिधतः पर-
स्माद्ब्रह्मण एव जगदुत्पत्तिरिति तल्लया निर्दिश्यन्ते । तथा २ "स कारणं
करणाधिपार्थाधपो नचास्य कश्चिज्जनितः नचाधिपः" इति करणाधि-
पस्य जीवस्याधिपः परं ब्रह्मैव कारणं व्यपदिश्यते । एवं सर्वत्र पर-
स्यैव ब्रह्मणः कारणत्वं प्रसिद्धम् । अतः परब्रह्मणो जातत्वात्तस्मिन्
प्रचीनत्वात्तं प्राणनात्तदात्मकनया तादात्म्यमुपपन्नम् । अतस्सर्व-
प्रकारं सर्वशरीरं सर्वात्मभूतं परं ब्रह्म शान्तो भूत्योपासीतेति ध्रुति-
रेव परस्य ब्रह्मणस्सर्वात्मकत्वमुपपाद्य तस्योपासनमुपदिशति । परं
ब्रह्म हि कारणावस्थं कार्यावस्थं सूक्ष्मस्थूलचिद्विद्वत्तुशरीरतया
सर्वदा सर्वात्मभूतम् । एवम्भूततादात्म्यस्य प्रतिपादने परस्य
ब्रह्मणस्सकलदेयप्रत्यनोककल्याणगुणाकरत्वं न विरुध्यते, प्रकारभू-
तशरीरगतानां क्षोपाणां प्रकारिण्यात्मन्यप्रसङ्गात्, प्रत्युत निरति-
शयैर्भयान्तादनेन गुणायैव भवतीति पूर्वमेवोक्तम् ॥

यदुक्तं जीवस्य सर्वनादात्म्यमुपपन्न इति, तद्वस्तु . जीवानां
प्रतिशरीरं भिन्ननामन्योन्यनादात्म्यासम्भवात् । मुक्त्याप्यनर्वाच्छिन्न-
स्वरूपस्यापि जगत्तादात्म्यं जगज्जन्मस्थितिप्रलयकारणत्वनिमित्तं न
सम्भवतीति ३ "जगद्व्यापारवर्जम्" इत्यत्र वक्ष्यते । जीवकर्मनिमि-
त्तत्वाज्जगज्जन्मस्थितिरन्यानां स एव कारणमित्यपि न साधीयः,
तत्कर्मनिमित्तत्वेऽपीभ्वरस्यैव जगत्कारणत्वात् । अतः परमात्मैवाऽत्र
ब्रह्मशब्दाभिधेयः । इममेव सूत्रार्थमभियुक्ता बहुमन्वते । यथाह
वृत्तिकारः ४ "सर्वं स्थितिनि सर्वात्मा ब्रह्मेशः" इति ॥ १ ॥

विवक्षितगुणोपपत्तेश्च १ । २ । २ ॥

वक्ष्यमाणाश्च गुणाः परमात्मन्येवोपपद्यन्ते ५ "मनोमयः
प्राणशरीरो भाक्पस्मत्पञ्चकुला भाकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामस्स-

प्रस्तुतगुणलेशसम्पन्नगन्धोऽपि नोपपद्यत इति नास्मिन् प्रकरणे
शारीरपरिमहशङ्का जायत इत्यर्थः ॥ ३ ॥

कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च । १ । २ । ४ ॥

१“एतमितः प्रेत्यामिसम्मचिताऽस्मि” इति प्राप्यतया परं
ब्रह्म व्यपदिश्यते, प्राप्तृतया च जीवः । अतः प्राप्ता जीव उपासकः,
प्राप्यं परं ब्रह्मोपास्यमिति प्राप्तुरन्यदेवेदमिति विज्ञायते ॥ ४ ॥

शब्दविशेषात् । १ । २ । ५ ॥

२“एष म आत्माऽन्तर्हृदये” इति शारीरव्यप्यया निर्दिष्टः
उपास्यस्तु प्रथमया । एवं समानप्रकरणे चाजिनां च श्रुतौ शब्दवि-
शेषश्चूयते जीवपरयोः, यथा ३“ब्रीहिसा यद्यो वा श्यामाको वा
श्यामाकनण्डुलो वा एवमयमन्तरात्मन् पुरुषो हिरण्मयो यथा
ज्योनिरधूमम्” इति । अत्र ३“अन्तरात्मन्” इति सप्तम्यन्तेन शारीरो
निर्दिश्यते; ३“पुरुषो हिरण्मयः” इति प्रथमयोपास्यः । अतः पर
एवोपास्यः ॥

इतश्च शारीरादन्यः—

स्मृतिश्च । १ । २ । ६ ॥

४“सर्वस्य चाहं हृदि सन्निधिष्ठो मत्तः स्मृतिर्मानमपोहनञ्च”
५“यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्” ६“ईश्वरस्सर्वभूतानां
हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति । भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ।
तमेव शरणं गच्छ” इति शारीरमुपासकं, परमात्मानं चोपास्यं
स्मृतिर्विशयति ॥ ६ ॥

१ छा० ३-१४-४ ॥

३ शतपथब्राह्मण १-१-३

४ गी० १६-१३ ॥

२ छा० ३-१४-३ ॥

५ गी० १५-१२ ॥

६ गी० १८-६१ ॥

अर्मकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेतिचेन्न निचाय्य- त्वादेवं व्योमवच्च । १ । २ । ७ ॥

अनपायतनत्वमर्मकौकस्त्वम्, तद्व्यपदेशः—अल्पत्वव्यपदेशः ।

१ “एष म आत्माऽन्तर्हृदये” इत्यणीयसि हृदयायतने स्थितत्वात्
१ “अणीयान् ग्रीहेषां यवाद्वा” इत्यादिनाऽणीयस्त्वस्य स्वरूपेण
व्यपदेशाच्च नायं परमात्मा, अपि तु जीव एव; २ “सर्वगतं सुसूक्ष्मं
तद्व्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः” इत्यादिभिः परमात्मनोऽप्यु-
रिच्छितत्वावगमात्, जीवस्य चाराग्रमात्रत्वव्यपदेशादिति चेत्-

नैतदेवम्, परमात्मैव अणीयानित्येवं निचाय्यत्वेन व्यपदि-
श्यते; एवं निचाय्यत्वेन—एवं द्रष्टव्यत्वेन, एवमुपास्यत्वेनेति यावत् ।
न पुनरणीयस्त्वमेवास्य स्वरूपमिति; व्योमवच्चायं व्यपदिश्यते,
स्वाभाषिक महत्त्वं चात्रैव व्यपदिश्यते—२ ज्यायान् पृथिव्या
ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान् दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः” इति ।
अन उपासनार्थमेवाल्पत्वव्यपदेशः । तथाहि २ “सर्वं जल्विवं ब्रह्म
तज्जलानिति शान्त उपासीत” इति सर्वोत्पत्तिप्रलयकारणत्वेन
सर्वस्याऽत्मतयाऽनुप्रवेशकृतजीवयितृत्वेन च सर्वोत्पत्तिं ब्रह्मोपासी-
तेत्युपासनं त्रिधाय २ “अथ जलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिन्लोकं
पुरुषां भर्वाति तथेतः प्रेत्य भर्वाति” इति यथोपासनं प्राप्यसिद्धि-
मभिधाय २ “स क्रतुं कुर्यात्” इति गुणविधानार्थमुपासनमनूय
२ “मनोमयः प्राणशरीरो भारूपस्तत्सङ्कुल्य आकाशात्मा सर्वकर्मा
सर्वकामस्सर्वगन्धस्सर्वरसस्सर्वमिदमभ्यासोऽवाक्यनादरः” इति
जगद्भैरव्यविशिष्टस्य स्वरूपगुणांश्चोपादेयान् प्रतिपाद्य २ “एष म
आत्माऽन्तर्हृदयेऽणीयान् ग्रीहेषां यवाद्वा सर्वापाद्वा श्यामाकाद्वा
श्यामाकतण्डुलाद्वा” इत्युपासकस्य हृदयेऽणीयस्त्वेन तदात्मनयो-

पासास्य परमपुरुषस्योपासनार्थमवस्थानमुक्त्वा १“एष म आत्माऽ-
न्तर्हृदये ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान् दिव्यो
ज्यायानेभ्योलोकेभ्यस्सर्वकर्मा सर्वकामस्सर्वरसस्सर्वमिदमभ्यात्ताऽ-
द्याकथनादरः” इत्यन्तर्हृदयेऽयस्थितस्योपास्यमानस्य प्राप्याकारं निर्दि-
श्य १“एष म आत्माऽन्तर्हृदये एतद्ब्रह्मा” इत्येवम्भूतं परं ब्रह्म परम-
कारण्येनास्मदुल्लिखीययिषयाऽऽसद्ब्रह्म सन्निहितमितीदमनुसन्धानं
विधाय २“एनमितः प्रेत्याभिसम्मयिनाऽस्मि” इति यथोपासनं
प्राप्तिनिश्चयानुसन्धानं च विधाय २“इति यस्य स्यादज्ञा न विचि-
कित्साऽस्ति” इत्येवंविधप्राप्यप्राप्तिनिश्चयोपेतस्योपासकस्य प्राप्तौ
न संशयोऽस्तौत्युपसंहृतम् । अत उपासनार्थमर्भकौकस्यमणी-
यस्त्वं च ॥ ७ ॥

सम्भोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात् । १ । २ । ८ ॥

जीवस्येव परस्यापि ब्रह्मणश्शरीरान्तर्बर्तित्यमभ्युपगतं चेत्-
तद्वदेव शरीरसम्बन्धप्रयुक्तसुखदुःखोपभोगप्राप्तिरिति चेत्—तन्न,
हेतुवैशेष्यात्—नहि शरीरान्तर्बर्तित्वमेव सुखदुःखोपभोगहेतुः; अपि
तु पुण्यपापरूपकर्मपरवशत्वम् । तत्त्वग्रहतपाप्मनः परमात्मनो न
सम्भवति । तथा च श्रुतिः २“तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्थनश्न-
न्नन्यो अभिचाकशीति” इति ॥ ८ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये सर्वत्रप्रसिद्धयधिकरणम् ॥१॥

—*(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अत्राधिकरणम् ॥२॥)*

यदि परमात्मा न भोक्ता, एव तर्हि सर्वत्र भोक्तृत्वया प्रतीय-
मानो जीव एव स्यादित्याशङ्क्याह —

अत्ता चराचरग्रहणात् । १ । २ । ९ ॥

कठचह्णोष्वास्नायते १“यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत
ओदनः । मृत्युर्यस्यांपसेचनं क इत्या चेद यत्र सः” इति । अत्रौदनो-
पसेचनसूचितोऽत्ता किं जीव एव, उत परमात्मेति सन्दिह्यते । किं
युक्तम् ? जीव इति । कुतः ? भोक्तृत्वस्य कर्मनिमित्तत्वाज्जीवस्यैव
तत्सम्भवान् ॥

अत्रोच्यते—अत्ता चराचरग्रहणात्—अत्ता परमात्मैव ।
कुतः ? चराचरग्रहणान्—चराचरस्य कृत्स्नस्यात्तृत्वं हि तस्यैव
सम्भवति । न चेद् कर्मनिमित्तभोक्तृत्वम्, अपि तु जगज्जगमस्थिति-
लयहेतुभूतस्य परस्य ब्रह्मणो विष्णोस्संहर्तृत्वम् । २“सोऽञ्चनः
पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्” इत्यत्रैव दर्शनात् । तथा च
३“मृत्युर्यस्यांपसेचनम्” इति वचनात्, ३“ब्रह्म च क्षत्रं च” इति
कृत्स्नं चराचरं जगदिहादनीयौदनत्वेन गृह्यते । उपसेचनं हि नाम
स्वयमद्यमानं सदन्यस्यादनहेतुः । अत उपसेचनत्वेन मृत्योरप्यद्य-
मानत्वात्तदुपसिच्यमानस्य कृत्स्नस्य ब्रह्मक्षत्रपूर्वकस्य जगतश्चरा-
चरस्यादनमत्र विवक्षितमिति गम्यते । ईदृशं चादनमुपसंहार एव ।
तस्यादीदृशं जगदुपसंहारित्वरूपं भोक्तृत्वं परमात्मन एव ॥ ६ ॥

प्रकरणाच्च । १ । २ । १० ॥

प्रकरणं चेद् परस्यैव ब्रह्मणः—४“महान्तं विभुमात्मानं मत्वा
धीरो न शोचति” ४“नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहूना
भुतेन । यमेवैव वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैव आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम्”
इति हि प्रकृतम् । ३“क इत्या चेद यत्र सः” इत्यपि हि तत्प्रसादादुते
तस्य दुरवबोधत्यमेव पूर्वप्रस्तुतं प्रत्यभिप्रायने ॥ १० ॥

अथ स्यात्—नार्यं ब्रह्मक्षत्रौदनसूचितः पुरुषोऽपहतपाप्मा परमात्मा; अनन्तरम् १ “ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लाके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्थे । छायातपो ब्रह्मायिदो चदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाच-
केताः” इति कर्मफलभोक्तुरेव सद्द्वितीयस्याभिधानात् । द्वितीयश्च प्राणो बुद्धिर्वा स्यात् । ऋतपानं हि कर्मफलभोग एव; स च परमा-
त्मनो न सम्भवति; बुद्धिप्राणयोस्तु भोक्तुर्जीवस्योपकरणभूतयोर्यथा कथञ्चित्पानेऽन्वयस्तस्यैवतीति तयोरन्यतरं सद्द्वितीयां जीव एव प्रतिपाद्यते, तदेकप्रकरणत्वात्पूर्वप्रस्तुतोऽत्ताऽपि स एव भवितुम-
र्हति—इति । तत्रोच्यते—

गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् । १ । २ । ११ ।

न प्राणजीवौ बुद्धिर्जीवौ वा गुहां प्रविष्टावृतं पिबन्तावित्यु-
च्येते; अपि तु जीवपरमात्मानौ हि तथा व्यपदिश्येते । कुतः ? तद्-
दर्शनात् । अस्मिन् प्रकरणे जीवपरयोरेव गुहाप्रवेशव्यपदेशो दृश्यते ।
परमात्मानस्तावत् २ “तं दुर्दृशं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गहरेष्ठं पुरा-
णम् । अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोको जहाति”
इति । जीवस्यापि ३ “या प्राणेन सम्भवत्यदितिर्द्वयतामयी । गुहां
प्रविश्य तिष्ठन्ती या भूतेर्भिर्यजायत” इति । कर्मफलान्यत्तीत्यदिति-
जीव उच्यते । प्राणेन सम्भवति—प्राणेन सह वर्तते । देवतामयी—
इन्द्रियाधीनभोगा । गुहां प्रविश्य तिष्ठन्ती—हृदयपुण्डरीकोदरव-
र्तिनी । भूतेर्भिर्यजायत—पृथिव्यादिभिर्भूतैस्सहिता देवादिरूपेण
विविधा जायते । एवं च सति ४ “ऋतं पिबन्तौ” इति व्यपदेशः
‘छत्रिणो गच्छन्ति’ इति वत्प्रतिपत्तव्यः । यद्वा—प्रयोज्यप्रयोजकद्व-
येन पाने कर्तृत्वं जीवपरयोरुपपद्यते ॥ ११ ॥

विशेषणाच्च । १ । २ । १२ ।

अस्मिन् प्रकरणे जीवपरमात्मानाव्यधोपास्यत्वोपासकत्वप्रा-

प्यत्रप्राप्तृत्वविशिष्टौ सर्वत्र प्रणिपाद्येते । तथाहि—१“ब्रह्मजज्ञं देव-
मांश्वं विदित्वा निचाप्येमां शान्तिमत्यग्नमेति” इति । ब्रह्मजज्ञो
जीवः, ब्रह्मणो जातस्यान् प्रत्याद्य । तं देवमीदृशं विदित्वा-जीवा-
त्मानमुपासकं ब्रह्मात्मकत्वेनावगम्येत्यर्थः । तथा २“यस्सेतुरीजाना-
नामक्षरं ब्रह्म यत्परम् । अभयं तितीर्यतां पारं नाचिकेतं शकेमहि”
इत्युपास्यः परमात्मोच्यते । नाचिकेतम्—नाचिकेतस्य कर्मणः
प्राप्यमित्यर्थः । ३“आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव च” इत्यादि-
नोपासको जीव उच्यते । तथा ४“विद्वानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रह-
वाक्षरः । सोऽध्वनः पारमाप्रोनि तद्विष्णोः परमं पदम्” इति प्राप्य-
प्राप्ताराधमभिधीयेते जीवपरमात्मानौ । इहापि ५“छायातपो” इत्यग्न-
त्वसर्वज्ञत्वाम्नां नाथेव विशिष्य व्यपदिश्येते ॥

अथ स्यात् ३“येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये मस्तीत्येके नाय-
मस्तीनि चैके” इति जीवस्वरूपयाथात्म्यप्रश्नोपक्रमत्वात्सर्वमिदं
प्रकरणं जीवपरमिति प्रतीयते—इति । नैतदेवम्, न हि जीवस्य
देहातिरिक्तस्यास्तित्वनास्तित्वशङ्कयाऽयं प्रश्नः, तथा सति पूर्ववरद्वय-
वरणानुपपत्तेः । तथा हि पितुस्सर्ववैश्वन्मदक्षिणक्रतुसमाप्तिपेलायां
वीर्यमानदक्षिणावैशुष्येन क्रतुवैशुष्यं मन्यमानेन कुमारैण नाचिकेतसा
आस्तिकाग्रं धरेण स्वात्मदानेनापि पितुः क्रतुसाधु ण्यमिच्छता ७ ‘कस्मै
मां दास्यसि’ इत्यसकृत्पितरं पूषवता स्मनिर्वन्धकपृथिव्यचनान्मृत्युसवर्नं
प्रविष्टेन स्वसदनात्प्रोषुपि यमे तद्दर्शनात्तत्र तिष्ठो राक्षीरुपोषुपा
स्वोपवासभीततत्प्रतिविधानप्रवृत्तमृत्युप्रदत्ते वरत्नये आस्तिक्यातिरे-
काग्रथमेन धरेण व्यात्मानं प्रति पितुः प्रमादो बृनः, एतच्च सर्वं देहा-
तिरिक्तात्मानमज्जानतो नोपपद्यते । द्वितीयेन च धरेणोक्षीर्णदेहात्मानु
भाष्यफलसाधनभूताऽग्निविद्या बृनाः, तदपि देहातिरिक्तात्मानमिदस्य
न सम्भवति । अमस्तृतीयेन धरेण यद्विदं म्रियते ८“येयं प्रेते विचि-

१. कठ. १-१-१० ॥

२. कठ. १.३.२ ॥

३. कठ. १.३.३ ॥

४. कठ. १-३-३ ॥

५. कठ. १.३.१ ॥

६. कठ. १.१.२० ॥

७. कठ. १.१.४ ॥

८. कठ. १.१.२० ॥

कित्सा मनुष्ये अस्तीत्येके नायमस्तीति चेकं । एतद्विद्यामनुशिष्टस्थ-
 याहं धराणामेव परस्तृतीयाः^१ इति; नतः परमपुरुषार्थरूपब्रह्मप्राप्ति-
 लक्षणमोक्षयाथात्म्यविज्ञानाय तदुपायभूतपरमात्मोपासनपरावरात्म-
 तत्त्वजिज्ञासयाऽयं प्रश्नः क्रियते । एवं च १ "येयं प्रेतं" इति न शरी-
 रवियोगमात्राभिप्रायम्, अपि तु सर्वबन्धविनिर्मोक्षाभिप्रायम् । यथा
 २ "न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति" इति । अयमर्थः—मोक्षाधिकृते मनुष्ये प्रेत्ये
 सर्वबन्धविनिर्मुक्ते तत्स्वरूपविषया चाद्विधिप्रतिपत्तिनिमित्ताऽस्तिना-
 स्स्यात्मिका येयं विचिकित्सा, तद्वपनोदनाय तत्स्वरूपयाथात्म्यं
 त्वयाऽनुशिष्टोऽहं विद्यां—जानीयाम्—इति । तथा हि बहुधा विप्र-
 तिपद्यन्ते—केचिद्वित्तिमात्रस्याऽऽत्मनस्वरूपोच्छित्तिलक्षणं मोक्षमा-
 चक्षते । अन्ये वित्तिमात्रस्यैव सत्तोऽविद्यास्तमयम् । अपरे—पापाण-
 कल्पस्याऽऽत्मनो घानाद्यशेषवैशेषिकगुणोच्छेदलक्षणं कैवल्यरूपम् ।
 अपरे तु—अपहतपाप्मानं परमात्मानमभ्युपगच्छन्तस्तस्यैवोपाधिसं-
 र्गनिमित्तजीवभायस्योपाध्यपगमेन तदुभायलक्षणं मोक्षमातिष्ठन्ते ।
 त्वय्यन्तनिष्णातास्तु—निखिलजगदेककारणस्याशेषहेयप्रत्यर्नाकानन्त-
 ज्ञानानन्दैकस्वरूपस्य स्वाभाधिकानवधिकातिशयासङ्ख्येयकल्याण-
 गुणाकरस्य सकलेतरविलक्षणस्य सर्वात्मभूमस्य परस्य ब्रह्मणश्शरी-
 रतया प्रकारभूतस्यानुकूलापरिच्छिन्नज्ञानस्वरूपस्य परमात्मानुभवैक-
 रसस्य जीवस्यानाविकर्मरूपाविद्यातिरोहितस्वरूपस्याविद्योच्छेदपूर्व-
 कस्वाभाविकपरमात्मानुभवमेव मोक्षमाचक्षते । नतः मोक्षस्वरूपं
 तत्साधनं च त्वत्प्रसादाद्विद्यामिति नचिकेतसा पृष्टो सृत्युत्तंस्यार्थ-
 स्य दुरवयोधत्त्वप्रदर्शनेन विविधभोगवितरणप्रलोभनेन चैनं परीक्ष्य
 योग्यतामभिज्ञाय परावरात्मतत्त्वविज्ञानं परमात्मोपासनं नत्पद-
 प्राप्तिलक्षणं मोक्षं च ३ "तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टम्" इत्यारभ्य ४ "सो-
 ऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्" इत्यन्तेनोपदिश्य तद्वे-
 क्षितांश्च विशेषानुपविदेशेति सर्वं समञ्जसम् । अतः परमात्मैवास्ति
 सिद्धम् ॥ १२ ॥

इति श्रीशारीरिकमीमांसाश्रीभाष्ये अल्लधिकरणम् ॥ २ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाश्रीभाष्ये-अन्तराधिकरणम् ॥ ३ ॥)

अन्तर उपपत्तेः । १ । २ । १३ ॥

१ इदमामनन्ति च्छन्दोगाः २ “य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते ।
एष आत्मेति होवाच एनदमृतमभयमेतद्वक्ष्ये” इति । तत्र सन्देहः—
किमयमक्षयाधारतया निर्दिश्यमानः पुरुषः प्रतिबिम्बात्मा, उत
चक्षुरिन्द्रियाधिष्ठाता देवताविशेषः, उत जीवात्मा, अथ परमात्मा-
इति । किं युक्तम् ? प्रतिबिम्बात्मेति । कुतः ? प्रसिद्धवचिर्देशात् ;
‘दृश्यते’ इत्यपरोक्षमभिधानाच्च । जीवात्मा वा, तस्यापि हि चक्षुषि
विशेषेण सन्निधानात्प्रसिद्धिरुपपद्यते ? उन्मीलितं हि चक्षुरुद्दीक्ष्य
जीवात्मनश्शरीरे स्थितिगती निश्चिन्वन्ति । ३ “रश्मिभिरेषोऽक्षि-
न्प्रतिष्ठितः” इति ४ श्रुतिप्रसिद्धया चक्षुःप्रतिष्ठो देवताविशेषो वा;
एवमेव प्रसिद्धवचिर्देशोपपत्तेरेषामन्यतमः—

इति प्राप्ते प्रचक्ष्महे—अन्तर उपपत्तेः—अक्ष्यन्तरः परमात्मा ।
कुतः ? ५ “एष आत्मेति होवाचैतमृतमभयमेतद्वक्ष्ये” इति एतं संयद्ग्राम
इत्याचक्ष्मने । एतं हि सर्वाणि वामान्यभिसंयन्ति एष उ एव
वामनिः । एष हि सर्वाणि वामानि नयति । एष उ एव वामनिः ।
एष हि सर्वेषु लोकेषु भाति” इत्येषां गुणानां परमात्मन्येषो
पपत्तेः ॥ १३ ॥

स्थानादिव्यपदेशाच्च । १ । २ । १४ ॥

चक्षुषि स्थितिनियमनादयः परमात्मन एव ६ “यश्चक्षुषि
तिष्ठन्” इत्येवमादौ व्यपदिश्यन्ते । अतश्च ७ “य एषोऽक्षिणि

१. इदं समामनन्ति वा ॥

२. वा. ४-१५-१ ॥

३. वृ. ७-५-१ ॥

४. श्रुतिप्रसिद्ध वा ॥

५. वा. ४-१५-३ ॥

६. वृ. ५-४-१८ ॥

७. वा. ४-१५-१ ॥

पुरुषः" इति स एव प्रतीयते । अतः प्रसिद्धयन्निर्देशश्च परमात्म-
न्युपपद्यते । तत एव 'दृश्यते' इति साक्षात्कारव्यपदेशोऽपि-
योगिमिदृश्यमानत्वाद्युपपद्यते ॥ १४ ॥

सुखविशिष्टमिधानादेव च । १ । २ १५ ॥

इतश्चाध्याधारः पुरुषोत्तमः—१ "कं ब्रह्म खं ब्रह्म" इति
प्रकृतस्य सुखविशिष्टस्य ब्रह्मणः उपासनस्थानविधानार्थं संयुक्तम् ।
त्वाद्विगुणविधानार्थं च ३ "य एषोऽक्षिणि पुरुषः" इत्यभिधानात् ।
एवकारो नैरपेक्ष्य हेतोर्द्योनयनि ।

नन्वाग्निविद्याव्यवधानान् १ "कं ब्रह्म" इति प्रकृतं ब्रह्म नैह
सन्निधत्ते । तथा हि—अग्नयः १ "प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म" इति
ब्रह्मविद्यामुपदिश्य २ "अथ हैनं गार्हपत्योऽनुशशास" इत्यारम्भा-
नामुपासनमुपदिदिशुः । नन्वाग्निविद्या ब्रह्मविद्याकृमिति शक्यं
वक्तुम् ; ब्रह्मविद्याफलानन्तर्गतद्विरोधिसर्वायुःप्रातिसन्तत्यविच्छे-
दादिफलप्रधानात् । उच्यते—१ "प्राणो ब्रह्म" १ "एतदमृतमभय-
मेतद्ब्रह्म" इत्युभयत्र ब्रह्मसंशब्दनात् । ३ "आचार्यस्तु ते गतिं यक्ता"
इत्यग्निवचनाच्च गत्युपदेशात्पूर्वं ब्रह्मविद्याया असमाप्तेस्तमध्य-
गतान्निविद्या ब्रह्मविद्याकृमिति निर्द्ध्ययते; ४ "अथ हैनं गार्हपत्यो-
ऽनुशशास" इति ब्रह्मविद्याधिकृतस्यैवाग्निविद्योपदेशाच्च । किञ्च
५ "व्याधिभिः प्रनिपूर्णोऽस्मि" इति ब्रह्मप्राप्त्यनिरिक्तनानाविध-
कामोपहतिपूर्वकगर्भजन्मजरामरणादिभय ६ भयोपतप्तायोपकोसलाय
८ "एषा सोम्य तेऽग्नाद्विद्याऽऽत्मविद्या च" इति समुचित्योपदेशा-
न्मोक्षैकफलात्मविद्याकृत्यमग्निविद्यायाः प्रतीयते । एवं चाकृत्वै-

१. छा. ४-१०-२ ॥

२. छा. ४-११-१ ॥

३. छा. ४-१४-१ ॥

४. छा. ४-११-१ ॥

५. छा. ४-१०-३ ॥

६. भवामि. पा ॥

७. छा. ४-१४-१ ॥

८. छा. ४-१३-२ ॥

उपगते सति फलानुर्कातनमर्थवाद इति गम्यते । नचात्र मोक्षविरो-
धिफलं किञ्चिच्छ्रूयते, १"अपहते पापकृत्यां लोकी भवति सर्वमायु-
रेति ज्योर्जीवनि नास्याघरपुरुषाः क्षीयन्ते उप वयन्तं भुञ्जामोऽस्मिञ्च"
लोकेऽमुष्मिञ्च इत्यमोषां फलानां माक्षाधिकृतस्यानुगुणत्वात् । अपहते
पापकृत्याम् - ब्रह्मप्राप्तिविरोधि पाप कर्मापहन्ति । लोकी भवति—
तद्विरोधिनि पापे निरस्ते ब्रह्मलोकं प्राप्नोति । सर्वमायुरेति—ब्रह्मोपा-
सनसमाप्तेर्यावदायुरपेक्षितम्, तत्सर्वमेति । ज्योर्जीवति—व्याख्या-
दिभिरनुपहतो यावद्ब्रह्मप्राप्तिं जीवति । नास्याघरपुरुषाः क्षीयन्ते—
अस्य शिष्यप्रशिष्यादयः पुत्रपौत्रादयोऽपि ब्रह्मविद् एव भवन्ति ।
२"नास्याब्रह्मवित्कुले भवति" इति च ध्रुत्यन्तरे ब्रह्मविद्याफलत्वेन
ध्रूयते । उप वयन्तं भुञ्जामोऽस्मिञ्च लोकेऽमुष्मिञ्च—वयम् भग्नयस्त-
मेनमुपभुञ्जामः—यावद्ब्रह्मप्राप्तिं विघ्नेभ्यः परिपालयाम इति । अतोऽ-
ग्निविद्याया ब्रह्मविद्याङ्गत्वेन तत्सन्निधानां विरोधात्सुखाद्यां प्राकृ-
तमेव ब्रह्मोपासनस्यानविधानार्थं गुणविधानार्थं चोच्यते । ननु
४"आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता" इति गतिमात्रपरिशेषणादाचार्येण
गतिरेवोपदेश्येति गम्यते; तत्कथं स्थानगुणविध्यर्थनोच्यते तदभिधी-
यते ४"आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता" इत्यस्यायमभिप्रायः—ब्रह्मविद्याम-
नुपदिश्य प्रोपुषि गुरौ तद्वलाभादनाम्नासमुपकोसलमुज्जीवयितुं स्वप-
रिचरणप्रीता गार्हपत्यादयो गुरोरग्नयस्तस्मै ब्रह्मस्वरूपमात्रं तदङ्गभूतां
चाग्निविद्यामुपदिश्य ५"आचार्याञ्चैव विद्यां विदिता साधिष्ठं प्रापत्"
इति ध्रुत्यर्थमालोच्य साधुनगत्वप्राप्तयर्थमाचार्य एवाम्य संयद्ब्रह्मत्वा-
दिगुणकं ब्रह्म तदुपासनस्यानमर्चिरादिकां च गतिमुपदिशात्त्विति
मत्या ६"आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता" इत्यथोचन् । गतिग्रहणमुपदेश्य-
विद्याशेषप्रदर्शनार्थम् । अत एवाचार्योऽपि ७"अहं तु ते तद्वक्ष्यामि

१ छा० ४ । १३ । २ ॥

२ सु० ३ । २ । ३ ॥

३ ब्रह्म ब्रह्मोपासनस्थान वा ॥

३ छा० ४ । २ । ३ ॥

४ छा० ४ । २ । ३ ॥

५ छा० ४ । १४ । १ ॥

७ छा० ४ । १४ । ३ ॥

यथा पुष्कल्पलाश आपो न स्थिप्यन्ते एवमर्वायिदि पापं कर्म न स्थिप्यते" इत्युपक्रम्य संयत्तामत्वादिकलयाणशुणयिषिष्टं ब्रह्माक्ष-
स्थानोपास्यमचिरादिकां च गतिमुपदिदेश । अतः १"कं ब्रह्म खं ब्रह्म"
इति सुखविशिष्टस्य प्रकृतस्यैव ब्रह्मणोऽप्राभिधानाद्यमक्षयाधारः
परमात्मा ॥ १५ ॥

ननु च १"कं ब्रह्म खं ब्रह्म" इति परं ब्रह्माभिहितमिति कथम-
वगम्यते, यस्येहाक्षयाधारतयाऽभिधानं द्रूपे, यावता १"कं ब्रह्म खं
ब्रह्म" इति प्रसिद्धाकाशलौकिकसुखयोरेव ब्रह्मद्विर्विधीयत इति
प्रतिभाति, २"नाम ब्रह्म" ३"मनो ब्रह्म" इत्यादिचचनसारूप्यात् ।
तत्राह—

अत एव च स ब्रह्म । १ । २ । १६ ॥

यतस्तत्र ४"यदेव कं तदेव खम्" इति सुखविशिष्टस्याऽकाश-
स्याभिधानम् । अत एव अक्षय्याभिधेयस्सः आकाशः परं ब्रह्म ।
एतदुक्तं भवति—अग्निमिः ५"प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म" इत्युक्ते
उपकोसल उवाच ५"विजानाम्यहं यत्प्राणो ब्रह्म कं च तु खं च न
विजानामि" इति ॥

अस्यायमभिप्रायः—न तावत्प्राणादिप्रतीकोपासनमग्निभिर-
मिहितम्, जन्मजरामरणादिभयभयभीतस्य मुमुक्षोर्ब्रह्मोपदेशाय प्रवृ-
त्तत्वात् । अतो ब्रह्मोपास्यमुपदिष्टम् । तत्र प्रसिद्धैः प्राणादिभिस्स-
मानाधिकरणां ब्रह्म निर्दिष्टम् ; तेषु च प्राणविशिष्टत्वं जगद्विधरणयो-
गेन वा प्राणशरीरनया प्राणस्य नियन्तृत्वेन वा ब्रह्मण उपपद्यत इति
६"विजानाम्यहं यत्प्राणो ब्रह्म" इत्युक्त्यान् । तथा सुखाकाशयोरपि
ब्रह्मणः शरीरनया तन्नियाम्यत्वेन विशेषणत्वम् । उताग्न्योन्यव्यय-
ज्ज्ञेयकतया निरनिशयानन्दरूपब्रह्मस्वरूपसमर्पणपरत्वेन वा; तत्र
पृथग्भूतयोः शरीरतया विशेषणत्वे त्रैपयिकसुखभूताकाशयोर्नियाम-

१ का० ४ । १० । २ ॥

२ का० ७ । १ । २ ॥

३ का० ७ । ३ । २ ॥

४, ५ का० ४ । १० । २ ॥

६ का० ४ । १० । ५ ॥

कत्वं ब्रह्मणस्स्यादिति स्वरूपावगतिर्न स्यात्, अन्योन्यव्यवच्छेदक-
त्वेऽपरिच्छिन्नानन्दैकस्वरूपत्वं ब्रह्मणस्स्यादित्यन्यतरप्रकारनिर्दिधार-
यिष्या १“कं च तु खं च न विजानामि” इत्युक्तवान् । उपकोसल-
स्येगमाशयं जानन्तोऽग्नयः १“यद्वा खं तदेव खं यदेव खं तदेव
कम्” इत्युचिरे । ब्रह्मणस्तुस्वरूपत्वमेवापरिच्छिन्नमित्यर्थः । अतः
प्राणशरीरतया प्राणविशिष्टं यद्ब्रह्म, तदेवापरिच्छिन्नसुखरूपं चेति
निगमितम् - १“प्राणं च हास्यै तदाकाशं चोचुः” इति । अतः १“कं
ब्रह्म खं ब्रह्म” इत्यापारिच्छिन्नसुखं ब्रह्म प्रतिपादिनमिति परं ब्रह्मैव
तत्र प्रकृतम्, तदेव चाप्राक्ष्याधारतयाऽभिधीयत इत्यप्राधारः
परमात्मा ॥ १६ ॥

श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च । १ । २ । १७ ॥

श्रुतोपनिषत्कस्य — अधिगतपरमपुरुषयाथात्म्यस्यानुसन्धेय-
तया श्रुत्यन्तरप्रतिपाद्यमाना अर्चिरादिका गनिर्या, नामपुनरावृत्ति-
लक्षणापरमपुरुषप्राप्तिकरीमुपकोसलायाक्षिपुरुषं ध्रुनयते २“तेऽर्चिपमे-
घामिसम्भन्त्यर्चिषोऽहरह आपूर्यमाणपक्ष्मम्” इत्यात्म्य ३“चन्द्र-
मसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानयस्स एनान्ब्रह्म गमयत्येव देवपथो ब्रह्म-
पथ एनेन प्रणिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते” इत्यग्नेनोपदि-
शति । अनोऽप्यग्निरक्षिपुरुषः परमात्मा ॥ १७ ॥

अनवस्थितेरसम्भवाच्च नेतरः । १ । २ । १८ ॥

प्रतिषिद्धाक्षीनामक्षिणि नियमेनानवस्थानाद्भूतत्वादीनां च
निरुपाधिकानां नेष्टत्वसम्भवाच्च परमात्मन इतरः छायादिः भक्षिपुरुषो
भयितुमर्हति । प्रतिषिद्धस्य नावत्पुरुषान्तरसन्निधानायत्तत्वाच्च
नियमेनानवस्थानसम्भवः । जीवस्यापि सर्वेन्द्रियव्यापारानुगुणत्वाय
सर्वेन्द्रियकम्भूते स्थानविशेषे वृत्तिरिति बध्नुषि नावस्थानम् । देवता-

१ छा० ४ । १० । २ ॥

२ छा० ४ । १५ । २ ॥

३ छा० ४ । १२ । २ ॥

४ सू० ७ । ५ । १० ॥

याश्च १ "रश्मिभिर्योऽस्मिन् प्रतिष्ठितः" इति रश्मिद्वारेणावस्थानव-
चनाद्देशान्तराद्यस्थितस्यापीन्द्रियाधिष्ठानोपपत्तेर्न चक्षुष्यवस्थानम् ।
सर्वेषामेवैषां निरुपाधिकाभूतत्वादयो न सम्भवन्त्येव । तस्मान्क्षि-
पुरुषः परमात्मा ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अन्तराधिकरणम् ॥ ३ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अन्तर्याम्यधिकरणम् ॥ ४ ॥)

२ "स्थानादिव्यपदेशाच्च" इत्यत ३ "यश्चाक्षुषि तिष्ठन्"
इत्यादिना प्रतिपाद्यमानं चक्षुषि स्थितिनियमनाविकं परमात्मन एवेति
सिद्धं कृत्वाऽक्षिपुरुषस्य परमात्मत्वं साधितम् । इदानीं तदेव
समर्थयन्ते--

अन्तर्याम्यधिदैवाधिलोकादिषु तद्धर्मव्यप-
देशात् । १ । २ । १९ ॥

काण्वा माध्यन्दिनाश्च वाजसनेयिनस्समामनन्ति ४ "यः
पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या भन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी
शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येव त आत्माऽन्तर्याम्यभूतः" इति ।
एवमम्बयज्ञयन्तरिक्षवाग्वादित्यद्विष्वक्चन्द्रतारकाकाशतमस्तेजस्सु दै-
वेषु च सर्वेषु भूतेषु प्राणवाक्चक्षुश्श्रोत्रमनस्त्वग्विज्ञानरेतस्त्वात्मा-
त्मीयेषु च तिष्ठन्तं तत्तदन्तरभूतं तत्तद्वेषं तत्तच्छरीरं तत्तद्यम-

यन्तं कश्चिन्निर्दिश्य १ "एव त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" इत्युपदिश्यते ।
 माध्यन्दिनपाठे तु १ "यस्सर्वेषु लोकेषु तिष्ठन्" १ "यस्सर्वेषु
 वेदेषु" १ "यस्सर्वेषु यज्ञेषु" इति च पर्यायाः । १ "यो विद्वाने
 तिष्ठन्" इत्यस्य पर्यायस्य स्थाने १ "य आत्मनि तिष्ठन् इति पर्यायः ।
 २ "स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" इति च विशेषः । तत्र संशय्यते
 —किमयमन्तर्यामी प्रत्यगात्मा, उत परमात्मा—इति । किं युक्तम् ?
 प्रत्यगात्मेति । कुतः ? वाक्यशेषे ३ "द्रष्टा श्रोता" इति करणाय-
 सज्ज्ञानताभूतः । एवं द्रष्टुरन्तर्यामित्वोपदेशात्, ३ "नान्योऽतो-
 ऽस्ति द्रष्टा" इति द्रष्टृन्तरनिषेधाच्चेति ।

एवं प्राप्तोऽभिधीयते—मन्तर्याम्यधिदैवाधिलोकादिषु तद्व-
 र्मभ्यपदेशात्—अधिदैवाधिलोकादिपञ्चिहितेषु वाक्येषु श्रूयमाणो-
 ऽन्तर्याम्यपहनपाप्मा परमात्मा नारायणः । काण्वपाठसिद्धेभ्यो—
 ऽधिदैवादिमन्त्रयो वाक्येभ्योऽधिकान्यधिलोकादिमन्त्रि वाक्यानि
 माध्यन्दिनपाठे सन्तीति स्थापनार्थमधिदैवाधिलोकादिष्वित्युभयो-
 रूपादानम् । तदेवमुभयेष्वपि वाक्येष्वन्तर्यामी परमात्मेत्यर्थः ।
 कुतः ? तद्वर्मभ्यपदेशात् ; परमात्मधर्मो ह्ययम्, यदेक एव सन्
 सर्वलोकसर्वभूतसर्वदेवादीन्नियमयतीति । तथा उद्वाकप्रश्नः—
 ४ "अ इमं च लोकं परं च लोकं सर्वाणि च भूतानि योऽन्तरो-
 यमयति" इत्युपक्रम्य ३ "तमन्तर्यामिणं ब्रूहि" इति, तस्य चोत्तरम्
 ५ "यः पृथिव्यां तिष्ठन्" इत्यारभ्योक्तम् । तदेतत्सर्वाल्लोकान् सर्वाणि
 च भूतानि सर्वान् देवान् सर्वान्वेदान् सर्वाञ्च यज्ज्ञानन्तः प्रविश्य
 सर्वप्रकारनियमनम्, सर्वशरीरतया सर्वस्यात्मत्वं च सर्वं द्वात्स-
 त्यसङ्कुल्पात्पुरुषोत्तमादन्यस्य न सम्भवति । तथाहि ६ "अन्तः
 प्रविष्टश्चास्ता जनानां सर्वात्मा" ७ "तत्तद्वा । तदेवानुप्राविशत् ।
 तदनुप्रविश्य । सञ्च स्यन्नाभवत्" इत्यादीन्योपनिषदाणि वाक्यानि

१. वृ. ५-७ ॥

२. वृ. ५-७-२३. एतत् इति स्थाने सत् इति माध्यन्दिनपाठः ॥

३. वृ. ५-७-२३ ॥

४. वृ. ५-७-१ ॥

५. तै. आरण्यक. २. १, अनु. २० ॥

५. वृ. ५-७-२ ॥

७. तै. ब्राह्म. ६ ॥

परमात्मन एव सर्वस्य प्रशासितृत्वं सर्वस्याऽत्मत्वमित्यादीनि
 वदन्ति । तथा सुबालोपनिषदि १ "नैवेह किञ्चनाम भासीदमूलमना-
 धारमिमाः प्रजाः । प्रजायन्ते विव्यो देव एको नारायणः । चक्षुश्च
 द्रष्टव्यं च नारायणः । श्रोत्रं च श्रोतव्यं च नारायणः" इत्यारभ्य
 १ "अन्तश्शरीरे निहितो गुहायामज एको नित्यः यस्य पृथिवी शरीरं
 यः पृथिवीमन्तरे सञ्चरन् यं पृथिवी न वेद् यस्यापश्शरीरम्"
 इत्यादि, १ "यस्य मृत्युश्शरीरं यो मृत्युमन्तरे सञ्चरन् मृत्युर्न
 वेद् एव सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा विव्यो देव एको नारायणः"
 इति परस्यैव ब्रह्मणस्सर्वात्मत्वं सर्वशरीरत्वं सर्वस्य नित्यन्तृत्वं च
 प्रतिपाद्यते । स्वाभाविकं चामृतत्वं परमात्मन एव धर्मः । न च
 परस्यात्मनः करणायत्वं द्रष्टृत्वादिकम् । अपितु स्वभावन एव
 सर्वज्ञत्वात्सत्यसङ्कल्पत्वाच्च स्वत एव । यथाच धृतिः २ "पश्य-
 त्यचक्षुस्स शृणोत्यकर्णाः अपाणिपादो ज्वनो ग्रहीता" इति । न च
 दर्शनश्रवणादिशब्दाश्चक्षुरादिकरणजन्मनो ध्यानस्य वाचकाः; अपितु
 रूपादिसाक्षात्कारस्य । सच रूपादिसाक्षात्कारः कर्मतिरोहितस्वाभा-
 विकध्यानस्य जीवस्य चक्षुरादिकरणजन्मा; परस्यतु स्वतएव ।
 ३ "नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा" इत्येतदपि पूर्ववाक्योक्ताभियन्तुर्द्रष्टु-
 रन्यो द्रष्टा नास्तीति वदति । "यं पृथिवी न वेद्" "यमात्मा न
 वेद्" इत्येवमादिभिर्वाक्यैः पृथिव्यात्मादिनियाम्यैरनुपलभ्यमान एव
 नियमतीति यत्पूर्वमुक्तम् . तदेव ३ "अदृष्टो द्रष्टा अभुतश्रोता" इति
 निगमय्य ३ "नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा" इत्यादिना तस्य नित्यन्तुर्नियन्त्र-
 स्तरं निषिध्यते । ४ "एव न आत्मा" ४ "स त आत्मा" इति च न
 इति व्यतिरेकविभक्तिनिर्दिष्टस्य जीवस्यात्मतयोपदिश्यमानोऽन्तर्यामी
 न प्रत्यगात्मा भवितुमर्हति ॥ १६ ॥

न च स्मार्तमतद्धर्माभिलाषाच्छरीरश्च । १।२।२०॥

स्मार्तं प्रधानम् । शरीरः जीवः । स्मार्तं च शरीरञ्च नान्तर्या-

मी, अतद्धर्माभिलाषात्—तयोरसम्भावितधर्माभिलाषात् । स्वभावत एव सर्वस्य द्रष्टृत्वम्, सर्वस्य नियन्तृत्वम्, सर्वस्याऽऽत्मत्वम्, स्वत एवामृतत्वं च नयोर्न सम्भावनागन्धमर्हति । एतदुक्तं भवति—यथा स्मार्तमचेतनं सर्वज्ञत्वनियन्तृत्वसर्वात्मत्वादिकं नार्हति, तथा जीवोऽपि, अतद्धर्मत्वात्—इति ॥

अमीषां गुणानां परमात्मन्यन्वया, प्रत्यगात्मनि व्यतिरेकश्च सूत्रद्वयेन दर्शितः ॥ २० ॥

निरपेक्षं च हेत्वन्तरमाह—

उभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते । १ । २ २१ ॥

उभये—माध्यन्दिनाः काण्वाश्च, अन्तर्यामिणो नियम्यत्वेन घागादिभिरचेतनैस्समम् एनं शारीरमपि विभज्याधीयते—१ "य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरोयमात्मा न वेद यस्याऽऽत्मा शरीरं य आत्मा नमस्तरो यमयति स त आत्माऽन्तर्याम्यमुनः" इति माध्यन्दिनाः. २ "यो विद्याने तिष्ठन्" इत्यादि च काण्वाः, परमात्मनियाम्यतया तस्माद्विलक्षणत्वेनैनमधीयत इत्यर्थः । अतोऽन्तर्यामी प्रत्यगात्मनो विलक्षणोऽपहतपाप्मा परमात्मा नारायण इति सिद्धम् ॥ २१ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाध्याये अन्तर्याम्यधिकरणम् ॥ ४ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाध्याये अदृश्यत्वादिगुणकाधिकरणम् ॥)

अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः । १ । २ । २२ ॥

आधर्वणिका अधीयते—३ "अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते । यत्तद्वेद्रेष्यमग्राह्यमगोक्षमयणंमच्चक्षुश्श्रोत्रं तदपाणिपादम् । नित्यं विभुं .

सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्वृतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः" इति; तथोत्तरत्वं १ "अक्षरात्परतः परः" इति । तत्र सन्दिहाने-किमिहाद्-श्यत्वादिगुणकमक्षरमक्षरात्परतः परश्च प्रकृतिपुरुषौ; अशोभयत्र परमात्मैव-इति । किं प्राप्तम् ? प्रकृतिपुरुषार्थिति । कुतः ? अस्या-क्षरस्य २ "अदृष्टो द्रष्टा" इत्यादाविव न द्रष्टृत्वादिभ्येतनधर्मविशेष इह श्रूयते, २ "अक्षरात्परतः परः" इति च सर्वस्माद्विकारात्परभूता-दक्षरादस्मात्परः चेन्नश्च समष्टिपुरुषः प्रतिपाद्यते । एतदुक्तं भवति-रूपादिमत्स्थूलरूपाचेतनपृथिव्यादिभूताभ्यं दृश्यत्वादिभ्यं प्रनिधि-भ्यमानं पृथिव्यादिसजातीयसूक्ष्मरूपाचेतनमेवोपस्थापयति, तच्च प्रधानमेव । तस्मात्परत्वं च समष्टिपुरुषस्यैव प्रसिद्धम् । तदधिष्ठितं च प्रधानं महदादिविशेषण्यन्तं विकारजातं प्रसूत इति तत्र दृष्टान्ता उपन्यस्यन्ते ३ "यथोपां नाभिस्तृजते गृह्यते च यथा पृथिव्यामोपध-यस्तस्मैवन्ति । यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाऽक्षरात्सम्भ-यतीह विश्वम्" इति । अतोऽस्मिन् प्रकरणे प्रधानपुरुषावेव प्रति-पाद्यते-इति ॥

एवं पाते ब्रूमः-अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः-अदृश्यत्वादिगु-णकोऽक्षरात्परतः परश्च परमपुरुष एव; कुतः ? तद्वर्माक्तेः ४ "यस्त-र्वद्वस्तसर्वयित्" इत्यादिना सर्वश्रत्वादिक्तास्तस्यैव धर्मो उच्यन्ते; तथा हि ५ "यथा तदक्षरमधिगम्यते" इत्यादिना अदृश्यत्वादिगुणकमक्षर-मभिधाय २ "अक्षरात्सम्भयतीह विश्वम्" इति तस्माद्विश्वसम्भवं चाभिधाय ५ "यस्तसर्वद्वस्तसर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः । तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमज्ञं च जायते" इति भूतयोनेरक्षरस्य सर्वश्रत्वादिः प्रति-पाद्यते । पश्चात् २ "अक्षरात्परतः परः" इति च प्रकृतिमदृश्यत्वादि-गुणकं भूतयोन्यक्षरं सर्वज्ञमेव परत्येन व्यपदिश्यते । अतः २ "अक्षरा-त्परतः परः" इत्यक्षरशब्दः पञ्चम्यन्तः प्रकृतमदृश्यत्वादिगुणकमक्षरं नाभिधत्ते, तस्य सर्वज्ञस्य विश्वयोनेस्तस्यैव स्मात्परत्वेन तस्मादन्यस्य परत्वासम्भवात् । अतोऽक्षाक्षरशब्दो भूतसूक्ष्ममचेतनं ब्रूते ॥ २२ ॥

१. मुषट. २-१-२ ॥

२. वृ ५-७-२३ ॥

३. मुषट. १-१-अ ॥

४. मुषट. १-१-२ ॥

५. मुषट. १-१-५ ॥

इतश्च न प्रधानपुरुषो--

विशेषणभेदव्यपदेशाम्याश्च नेतरो । १ । २ । २३ ॥

विशिनष्टि हि प्रकरणं—प्रधानाश्च पुरुषाश्च भूतयोन्यक्षरं व्यावर्तयतीत्यर्थः; एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिष्ठोपपादनादिभिः । तथा ताम्यामक्षरस्य भेदश्च व्यपदिश्यते १ "अक्षरात्परतः परः" इत्यादिना । तथाहि - २ "स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठा मथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह" इति सर्वविद्याप्रतिष्ठाभूता ब्रह्मविद्या प्रकान्ता; परविद्यैव च सर्वविद्याप्रतिष्ठा; नामिमां सर्वविद्याप्रतिष्ठां विद्यां चतुर्मुखाधर्मादिगुरुगर्भपरयाऽङ्गिरसा प्राप्तां जिप्रासुः ३ "शौनको ह वै महाशालांऽङ्गिरसं विधियदुपसन्नः पप्रच्छ कस्मिन्नु भगवो विद्वाने सर्वमिदं विद्वान्तं भवति" इति ब्रह्मविद्यायास्सर्वविद्याभ्ययत्वाद्ब्रह्मविज्ञानेन सर्वं विद्वान्तं भवतीति कृत्वा ब्रह्मस्वरूपमनेन पृष्ठम् ४ "तस्मै स होवाच द्वे विद्ये वेदितव्ये इति हस्य यद्ब्रह्मविदो चक्षन्ति परा ज्ञेयापराच" इति । ब्रह्मप्रेप्सुना द्वे विद्ये वेदितव्ये--ब्रह्मविषये परोक्षारोक्षरूपे द्वे विज्ञाने उपादेये इत्यर्थः तत्र परोक्षं शास्त्रजन्यं ज्ञानम्, अपरोक्षं योगजन्यम्, तयोर्ब्रह्मप्राप्त्युपायभूतमपरोक्षं ज्ञानम्; तच्च भक्तिरूपायसम्, ५ "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः" इत्यर्थेय विशेष्यमाणत्वात्, तदुपायस्वागमजन्यं विवेकादिसाधनसप्तकानुगृहीतं ज्ञानम्, ६ "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विचिद्विद्वन्ति यद्वेन दानेन तपसाऽनाशकेन" इति श्रुतेः । आह च भगवान्पराशरः ३ "तत्प्राप्तिहेतुज्ञानं च कर्म चोक्तं महामुने । आगमोत्थं विवेकाश्च द्विधा ज्ञानं नथोच्यते" इति । ८ "तत्रापरा ऋग्वेदा यजुर्वेदः" इत्यादिना ८ "धर्मशास्त्राणि" इत्यन्तेन आगमोत्थं ब्रह्मसाक्षात्कारहेतुभूतं परोक्षज्ञानमुक्तम् । साङ्गस्य सेतिहासपुराणस्य सधर्मशास्त्रस्य समी-

१. मुण्ड. २-१-२॥

२. मुण्ड. १-१-१॥

३. मुण्ड. १-१-३॥

४. मुण्ड. १-१-४॥

५. मुण्ड. ३-२-३॥

६. इ० ६।४। २२ ॥

७. वि० पु० ६।५। ६०

८. मुण्ड० १।१। ५ ॥

मांसस्य वैश्यस्य ब्रह्मज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वात् १ “अथ परा यया तदक्षर-
मधिगम्यते” इत्युपासनाख्यं ब्रह्मसाक्षात्कारलक्षणं भक्तिरूपापन्नं
ज्ञानम् “यत्तद्द्रष्टव्यमब्राह्मम्” इत्यादिना परोक्षपरोक्षरूपज्ञानद्वय-
विषयस्य परस्य ब्रह्मणस्वरूपमुच्यते २ “यथोर्णानाभिस्तृजने गृह्यते
च” इत्यादिना । अधोऽक्षररूपात्परसाद्ब्रह्मणोऽक्षरात्कृत्स्नस्य चेतना-
चेतनात्मकप्रपञ्चस्योत्पत्तिरुक्ता; विभ्रमिति वचनाद्वाचेतनमात्रस्य;
३ “तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽक्षमभिजायते । अन्नात्प्राणो मनश्मनस्य
लोकाः कर्मसु चाभूतम्” इति ब्रह्मणो विभ्रोत्पत्तिप्रकार उच्यते;
तपसा-ज्ञानेन, ४ “यस्य ज्ञानमयं तपः” इति यक्ष्यमाणत्वान्; चीयते-
उपचीयते; ५ “बहु स्याम्” इति सङ्कल्परूपेण ज्ञानेन ब्रह्म सृष्ट्य-
न्मुखं भवतीत्यर्थः । ततोऽक्षमभिजायते-अद्यत इत्यक्षम्, विभ्रस्य
भोक्तृवर्गस्य भोग्यभूतं भूतसूक्ष्ममवशाकृतं परस्माद्ब्रह्मणो जायत
इत्यर्थः; प्राणमनः प्रभृति च स्वर्गापयर्गरूपफलसाधनभूतकर्मपर्यन्तं
सर्वं विकारजातं तस्मादेव जायते । ४ “यस्सर्वज्ञस्तस्यचिन्” इत्यादिना
सृष्ट्युपकरणभूतं सार्वज्ञ्यसत्यसङ्कल्पत्वादिकमुक्तम् । सर्वज्ञात्सङ्कल्पा-
त्परस्माद्ब्रह्मणोऽक्षरादेवत् कार्याकारं ब्रह्म नामरूपविभक्तं भोक्तृभोग्य-
रूपं च जायते । ६ “तदेतत्सत्यम्” इति परस्य ब्रह्मणो निरूपाधिक-
सत्यत्वमुच्यते । ३ “मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यन्तामि त्वेतायां
बहुधा सन्ततानि । तान्याचरत नियतं सत्यकामाः” इति सार्वज्ञ्य-
सत्यसङ्कल्पत्वादिकत्वाणगुणाकरमक्षरं पुरुषं स्वतन्मनस्य कामयमा-
नास्तत्प्राप्तये फलान्तरेभ्यो विरक्त ब्रह्मज्ञानस्सामर्थ्यसु कविभिर्दृष्टानि
वर्णाधर्मोचितानि त्वेतास्त्रिषु बहुधा सन्ततानि कर्माण्याचरन्तेति
६ “एष यः पन्था” इत्यारभ्य ७ “एष यः पुण्यम्सुकृतो ब्रह्मलोकः” इत्यन्तेन
कर्मानुष्ठानप्रकारं, धृतिस्मृतिचादिनेषु कर्मस्वेकनरकर्मवैधुर्येऽपीनरे-

१. मुषड. १-१-५ ॥

२. मुषड. १-१-७ ॥

३. मुषड. १-१-८ ॥

४. मुषड. १-१-९ ॥

५. छा. ६-२-३. तै. ब्राह्म. ५॥

६. मुषड. १-२-१.

७. मुषड. १-२-१ ॥

या मनुष्ठितानामपि निष्कलत्वम्, अथानुष्ठितस्य चानुष्ठितसम-
त्वम् अभिधाय १ "स्रवा ह्येते अदृढा यक्षरूपा अप्रादशोक्तमवरं येषु
कर्म । एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्यू ते पुनरेवापि यन्ति",
इत्यादिना फलाभिसन्धिपूर्वकत्वेन प्रानविधुरतया चावरं कर्माचरतां
पुनरावृत्तिमुक्त्वा २ "तपश्चदे ये ह्युपवसन्ति" इत्यादिना पुनरपि
फलाभिसन्धिरहितं ज्ञानिनानुष्ठितं कर्म ब्रह्म प्राप्तये भवतीति प्रशस्य
३ "परीक्ष्य लोकान्" इत्यादिना केवलकर्मफलेषु विरक्तस्य यथोचित-
कर्मानुगृहीतं ब्रह्मप्राप्त्युपायभूतं ज्ञानं जिज्ञासमानस्य च आचार्योप-
सर्जनं विधाय ४ "तदेनत्सत्यं यथा सुदीप्तान्" इत्यादिना ५ "सोऽवि-
द्याग्रन्थिधिरिह सोम्य" इत्यन्तेन पूर्वोक्तस्याक्षरस्य भूतयोनेः
परस्य ब्रह्मणः परमपुरुषस्यानुक्तैस्वरूपगुणैस्तत्र सर्वभूतान्तरा-
त्मतया विश्वशरीत्वेन विश्वरूपत्वम्, नन्माद्विश्वसृष्टिं च विस्पष्टम-
भिधाय ६ "आदिस्सज्जिह्वितम्" इत्यादिना तस्यैवाक्षरस्याव्यकृता-
त्परनोऽपि पुरुषात्परभूतस्य परस्य ब्रह्मणः परमव्योम्नि प्रतिष्ठितस्या-
नयधिकातिशयानन्दस्वरूपस्य हृदयगुहायामुपासनप्रकारम् उपास-
नस्य च परमस्वरूपत्वमुपासीनस्याविद्याविमोक्तपूर्वकं ब्रह्मसमं ब्रह्मा-
नुभवफलं चोपदिश्योगसंहृतम् । अत एव विशेषणानुमेक्यपदेशाच्च
नास्मिन्प्रकरणे प्रधानपुरुषौ प्रतिपाद्येते ॥

भेदव्यपदेशोऽपि हि ताभ्यां परस्य ब्रह्मणोऽत्र विद्यते । ७ "दि-
व्यो ह्यमूर्तः पुरुषस्सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः । अप्राणो ह्यमनाश्शुभ्रो
ह्यक्षरात्परतः परः" इत्यादिभिः अक्षराद्व्याकृतात्परो यस्समप्रिपुरुषः
तस्मादपि परभूतोऽदृश्यत्वादिगुणकोऽक्षरशब्दाभिहितः परमात्मैत्य-
र्थः । अश्नुत इति या, न क्षरतीति याऽक्षरम् । तद्व्याकृतेऽपि
स्वधिकारव्याप्त्या वा महदादिब्रह्मामन्तरामिलापयोग्यक्षरणाभावा-
द्वाऽक्षरत्वं कथञ्चिदुपपद्यते ॥ २३ ॥

१. मुयड. १-२-७ ॥

२. मुयड. १-२-११ ॥

३. मुयड. १-२-१२ ॥

४. मुयड. २-१-१ ॥

५. मुयड. २-१-१० ॥

६. मुयड. २-१-१ ॥

७. मु २-१-२.

रूपोपन्यासाच्च । १ । २ । २४ ।

१ "अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशश्भोत्रे घ्राण्यवृताश्च
चेनाः । वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूता-
न्तरात्मा" इतीदृशं रूपं सर्वभूतान्तरात्मनः परमात्मन एव सम्भवति;
अनञ्च परमात्मा ॥ २४ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अद्वैततत्त्वादिगुणकाधिकरणम् ॥ ५ ॥

—*(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये वैश्वानराधिकरणम् ॥ ६ ॥)*

वैश्वानरस्साधारणशब्दविशेषात् । १ । २ । २५ ॥

इदमामनन्ति प्लुतयोगाः २ "आत्मानमेवेमं वैश्वानरं सम्प्र-
त्यध्येपि तमेव नो ब्रूहि" इति प्रकृत्य ३ "यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्र-
मभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते" इति । तत्र सन्वेहः—किमयं
वैश्वानर आत्मा, परमात्मेति शक्यनिर्णयः, उत न-इति । किं
प्राप्तम् ? अशक्यनिर्णय इति । कुतः ? वैश्वानरशब्दस्य अनुपपत्त्यर्थेषु
प्रयोगदर्शनात्—जाठराग्नौ तावत् ४ "अयमग्निर्वैश्वानरो येनेदमन्नं
पच्यते यद्विदमद्यते तस्यैव घोषो भवति यावदेतत्कर्णाद्यपि धाय
शृणोति स यदोत्क्रमिष्यन्मद्यति नैनं घोषं शृणोति" इति; महाभूत-
तृतीये च ५ "विश्वसा अग्निं भुवनाय देवा वैश्वानरं केतुमहामह
एवन्" इति देवतायां च ६ "वैश्वानरस्य सुमती स्याम राजा हि कं
भुवनामभिश्चोः" इति; परमात्मनि च ७ "तदात्मन्येव हृदयेऽग्नौ
वैश्वानरे प्रास्यत्" इति, ८ "स एव वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्नि-
रुदयते" इति च । वाक्योपक्रमादिपुल्लभ्यमानान्यपि लिङ्गाणि सर्वा-
नुगुणतया नेतुं शक्यानीति ॥

१. सु. २-१-४ ॥

२. का. ५-११-१ ॥

३. का. ५-१८-१ ॥

४. घृ. ७-२-१ ॥

५.

६. यजु. का. १-५-११ ॥ ३ ॥ ॥ ११-११-२६ ॥ ७ ॥

७. अहक १. प्रस-११ अनु-न ॥

८. प्रश्नो १-७ ॥

एवं प्राप्तेऽभिधीयते—वैश्वानरश्चाधारणशब्दविशेषात्—वैश्वानरः पर एवात्मा, कुतः ? साधारणशब्दविशेषात् विशेष्यत इति विशेषः—साधारणस्य वैश्वानरशब्दस्य परमात्मासाधारणैर्धर्मैर्विशेष्यमाणत्वावित्यर्थः । तथाहि—औपमन्यवादयः पञ्चमे महर्षयस्समेत्य १ “को न आत्मा किं ब्रह्म” इति विचार्य २ “उद्दालको ह वै भगवन्तोऽयमारुणिस्सम्प्रतीममात्मानं वैश्वानरमध्येति तं हन्ताभ्यागच्छाम” इत्युद्दालकस्य वैश्वानरात्मविज्ञानमवगम्य तमभ्याजग्मुः । स चोद्दालक एतान् वैश्वानरात्मजिज्ञासून् मिलक्ष्यात्मनश्च तत्राकृतस्नयेदित्यं मत्वा ३ “तान् ह्वावाच अभ्वपतिर्धै भगवन्तोऽयं केकयस्सम्प्रतीममात्मानं वैश्वानरमध्येति तं हन्ताभ्यागच्छाम” इति । ते चोद्दालकपश्चास्तमभ्वपतिमभ्याजग्मुः । स च तान् महर्षीन् यथाहं पृथगभ्यर्च्य ४ “न मे स्नेहा” इत्यादिना ४ “यक्ष्यमाणो ह वै भगवन्तोऽहमस्मि” इत्यन्तेनाऽऽत्मनो व्रतस्वतया प्रतिग्रहयोग्यतां क्षापयन्नेव ब्रह्मविद्भिरपि प्रतिपिबुधपरिहरणीयतां विहितकर्मकर्तव्यतां च प्रक्षाप्य ५ “यावदेकैकस्मा ऋत्विजे धनं दास्यामि तावद्भगवद्भूयो दास्यामि वसन्तु भवन्तः” इत्यवाचत् । ते च मुमुक्षुषो वैश्वानरमात्मानं जिज्ञासमानास्तमेवात्मानमस्माकं ब्रूहोत्यवाचन् । तदैव ३ “को न आत्मा किं ब्रह्म” इति जीवात्मनामात्मभूतं ब्रह्म जिज्ञासमानैस्तज्ज्ञमन्विच्छद्भिर्वैश्वानरात्मब्रह्मसंकाशमागम्य पृच्छयमानो वैश्वानरात्मा परमात्मेति विज्ञायते, आत्मब्रह्मशब्दाभ्यामुपक्रम्य पश्चात्सर्वत्रात्मवैश्वानरशब्दाभ्यां व्ययहाराच्च ब्रह्मशब्दस्थाने निर्दिश्यमानो वैश्वानरशब्दो ब्रह्मैवाभिधत्त इति विज्ञायते; किञ्च ५ “स सर्वेषु लोकेषु भूतेषु सर्वेष्व्वात्मस्वप्नमस्ति” ६ “तद्यथेयीकदूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैव हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते” इति च यक्ष्यमाणं वैश्वानरात्मविज्ञानफलं वैश्वानरात्मनं परं ब्रह्म इति क्षापयति ॥ २५ ॥

१ छा० २ । ११ । १ ॥

२ छा० २ । ११ । २ ॥

३ छा० २ । ११ । ४ ॥

४ छा० २ । ११ । ५ ॥

५ छा० ५ । १८ । १ ॥

६ छा० २ । २४ । ३ ॥

इतश्च वैश्वानरः परमात्मा—

स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति । १।२।२६॥

यु प्रभृति पृथिव्यन्तमवयवविभागेन वैश्वानरस्य रूपमिहोप-
दिश्यते । तच्च भुतिस्मृतियु परमपुरुषरूपतया प्रसिद्धम् । तदिह तदे-
वेदमिति स्मर्यमाणं—प्रत्यभिज्ञायमानं वैश्वानरस्य परमपुरुषत्वे अनु-
मानं—लिङ्गमित्यर्थः; इतिशब्दः प्रकारवचनः; इत्थंभूतं रूपं प्रत्यभि-
ज्ञायमानं वैश्वानरस्य परमात्मत्वेऽनुमानं स्यात् । भुतिस्मृतियु हि
परमपुरुषस्येत्यं रूपं प्रसिद्धम् । यथा भाष्यवर्णे १ “अग्निर्मूर्धां
चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशश्श्रोत्रे चाग्नियवृताश्च वेदाः । वायुः प्राणो
हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येव सर्वभूतान्तरात्मा” इति । अग्नि-
रिह यु लोका, २ “असौ वै लोकोऽग्निः” इति श्रुतेः । स्मरन्ति च
मुनयः ३ “द्यां मूर्धानं यस्य विप्रा वधन्ति त्वं वै नाभिं चन्द्रसूर्यौ च
नेत्रे । दिशश्श्रोत्रे विद्धि पादौ क्षितिं च सोऽचित्स्यात्मा सर्वभूतप्र-
णेता” इति, ४ “यस्याग्निरास्यं द्यौर्मूर्धां त्वं नाभिश्चरणौ क्षितिः ।
सूर्यश्चक्षुर्दिशश्श्रोत्रं तस्मै लोकात्मने नमः” इति च । इह च यु प्र-
भृतयो वैश्वानरस्य मूर्धावयववत्त्वेनोच्यन्ते; तथा हि—तैरीपमन्य-
वप्रभृतिभिर्महर्षिभिः ५ “आत्मानमेवेमं वैश्वानरं सम्प्रत्यध्येषि
तमेव नो ब्रूहि” इति पृष्टः केकयस्तेभ्यो वैश्वानरात्मानमुपदिदिक्षु-
र्विशेषप्रश्नान्यथानुपपत्त्या वैश्वानरात्मन्येतैः किञ्चित् क्षातं किञ्चिद-
क्षातमिति विज्ञाय क्षाताक्षातांशुमुत्सया तानेकैकं पप्रच्छ । तत्र
“औपमन्यव कं त्यमात्मानमुपास्से” इति पृष्टे ६ “दिवमेव भगवां
राजन्” इति तेन चोक्ते दिवि तस्य पूर्णवैश्वानरात्मबुद्धिं निवर्तय-
न्वैश्वानरस्य द्यौर्मूर्धेति चोपदिशंस्तस्या वैश्वानरांशभूताया दिवः
सुनेजा इति गुणनामधेयं प्राचिष्यपत् । एवं सत्ययज्ञादिभिरावृत्य-
वाय्याकाशापृथिवीनामेकैकेनैकमुपास्यमानतया कथितानां “विश्व-

१ सु० २१-४

२ सु० ८-२६

३.

४ भारते-शान्तिपर्व-राजधर्म ४०-३०

५ छा० २-११-१

६ छा० २-११-१

रूपः, पृथग्वर्त्ता, बहुलो, रयिः, प्रतिष्ठा, इत्येकैकगुणनामधेयानि
वैश्वानरात्मनश्चक्षुः प्राणसन्देहवस्तिपादाद्यवस्थं चोपदिष्टम् । सन्दे-
हां मध्यकाय उच्यते । अत एवम्भूतचुमूर्धत्वादिविशिष्टं परमपुरुष-
स्यैव रूपमिति वैश्वानरः परमपुरुष एव ॥ २६ ॥

पुनरप्यानिर्णयमेषां कथं परिहरति—

शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानाच्च नेति चेन्न तथा
दृष्ट्युपदेशादसम्भवात्पुरुषमपि चैनमधीयते
१।२।२७॥

यदुक्तं वैश्वानरः परमात्मेति निश्चीयत इति, तत्र, शब्दादि-
भ्योऽन्तःप्रतिष्ठानाच्च जाठरस्याप्यग्नेरिह प्रतीयमानत्वात् । शब्दस्ता-
घद्वाजिनां वैश्वानरविद्याप्रकरणे १ “स एषोऽग्निर्वैश्वानरः” इति
वैश्वानरसमानाधिकरणतयाऽग्निरिति ध्रूयते; अस्मिन्प्रकरणे च २
“हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचन आस्यमाहवनीयः” इति वैश्वा-
नरस्य हृदयादिस्वस्याग्नित्वयकल्पनं क्रियते । ३ “तद्यज्ञकं” प्रथममाग-
च्छेत्तद्वोमीर्य स यां प्रथमामाहुतिं जुहुयात्तां जुहुयात्प्राणाय स्वाहा”
इत्यादिना प्राणाहुत्याधारत्वं च वैश्वानरस्यावगम्यते । तथा वैश्वा-
नरस्यास्मिन्पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठानं याजसनेयिनस्समामनन्ति ४ “स यो
हेतमेवमग्निं वैश्वानरं पुरुषविधं पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद” इति ।
अतोऽग्निशब्दसामानाधिकरण्यादग्निश्चेतापरिकल्पनात्प्राणाहुत्याधार-
भावादन्तःप्रतिष्ठानाच्च वैश्वानरस्य जाठरत्वमपि प्रतीयत इति नैका-
न्ततः परमात्मत्यमिति चेत्—

तत्र, तथा दृष्ट्युपदेशान्-पूर्वांकव्य त्रैलोक्यशरीरस्य परस्य
ब्रह्मणो वैश्वानरस्य जाठराग्निशरीरतया तद्विशिष्टस्योपासनोपदेशात् ।
अग्निशब्दादिमिहि न केवलो जाठरः प्रणिपाद्यते, अपितु जाठराग्नि-
विशिष्टः परमात्मा । कथमिदमवगम्यत इति चेत्-असम्भवात्-जाठ-

रस्य केवलस्य त्रैलोक्यशरीरत्वासम्भवात् । त्रैलोक्यशरीरतया प्रति-
पन्नवैश्वानरसमानाधिकरणो जाठराविषयतया प्रतीयमानोऽग्निशब्दो
जाठरशरीरतया तद्विशिष्टं परमात्मानमेवाभिधातीत्यर्थः । यथोक्तं
भगवता १ “अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः । प्राणायान-
समायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्” इति जाठरानलशरीरो भूत्वेत्यर्थः ।
अतस्तद्विशिष्टस्योपासनमत्रोपदिश्यते । किञ्च पुरुषमपि चैनमधीयते
वाजसनेयिनः २ “स एषोऽग्निर्वाश्वानरो यत्पुरुषः” इति; नहि जाठ-
रस्य केवलस्य पुरुषत्वम्, परमात्मन एव हि निरुपाधिकं पुरुषत्वम् .
यथा ३ “सहस्रशीर्षां पुरुषः” ३ “पुरुष एवेदं सर्वम्” इत्यादौ ॥२॥

अत एव न देवता भूतञ्च ॥१॥२॥२८॥

उक्तंभ्य एव हेतुभ्यो देवतायाञ्च तृतीयस्य महाभूतस्यापि न
वैश्वानरत्वप्रसङ्गः ॥ २८ ॥

साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः ॥१॥२॥२९॥

वैश्वानरसमानाधिकरणस्याग्निशब्दस्य जाठराग्निशरीरतया नद्विशि-
ष्टस्य परमात्मनो वाचकत्वम्, तथैव परमात्मन उपास्यत्वं चाक्तम् ।
जैमिनिस्त्याचार्यो वैश्वानरशब्दवदग्निशब्दस्यापि परमात्मन एव
साक्षात् अवयवधानेन वाचकत्वे न कश्चिद्विरोध इति मन्यते ॥

एतदुक्तं—भवति—यथां वैश्वानरशब्दस्साधारणोऽपि पर-
मात्मासाधारणधर्मविशेषितो विश्वेषां नराणां नेतृत्वादिना गुणेन
परमात्मानमेवाभिधानीति निश्चीयते; एवमग्निशब्दोऽप्यन्नयना-
दिना येनैव गुणेन योगाज्ज्वलने वर्तते, तस्यैव गुणस्य निरुपाधिकस्य
काष्ठागतस्य परमात्मनि सम्भवादस्मिन्प्रकरणे परमात्मासाधारण-
धर्मविशेषितः परमात्मानमेवाभिधत्त इति ॥२९॥

३ “यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिधिमानम्” इत्यपरिच्छिन्नस्य
परस्य ब्रह्मणो शुप्रभृतिपृथिव्यन्तप्रदेशसम्बन्धिन्या मात्रया परि-
च्छिन्नत्वं कथमुपपद्यते—तत्राह—

अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः । १ । २ । ३० ॥

उपासकागिष्यकृत्यर्थं प्रादेशमात्रत्वं परमात्मन इत्याश्मरथ्य आचार्यो मन्यते । द्यौर्मूर्धा आदित्यश्चक्षुः, वायुः प्राणः, आकाशो मध्यकायः, आपो वस्तिः, पृथिवी पादौ इति द्युप्रभृतिप्रदेशसम्बन्धिन्या मात्रया परिच्छिन्नत्वम् कृत्स्नमभिव्याप्तवता विगतमानस्य ह्यभिव्यक्तेरेव हेतोर्भवति ॥ ३० ॥

सूर्यप्रभृत्यवयवविशेषैः पुरुषविधत्वं परस्य ब्रह्मणः किमर्थमिति चेत्—तत्राह—

अनुस्मृतेर्वादरिः । १ । २ । ३१ ॥

तथोपासनार्थमिति वादरिराचार्यो मन्यते । १ "यस्त्येतमेवमविधिमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्व्यात्मस्वप्नमस्ति" इति ब्रह्मप्राप्तये ह्युपासनमुपविश्यते एतमेवमिति—उक्तप्रकारेण पुरुषाकारमित्यर्थः । सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्व्यात्मसु वर्तमानं यदन्नं भोग्यं तदस्ति—सर्वत्र वर्तमानं स्वतः पयानवधि कालिशयानन्दं ब्रह्मानुभवति । यत् सर्वैः कर्मवश्यैरात्मभिः प्रत्येकमनभ्यसाधारणमन्नं भुज्यते, तन्मुमुक्षुभिस्त्याज्यत्वादिह न गृह्यते ॥ ३१ ॥

यदि परमात्मा वैश्वानरः, कथं तर्ह्युरःप्रभृतीनां वेद्यादित्वोपदेशः, यावता जाठराग्निपरिग्रह एवैतदुपपद्यत इत्यत्राह—

सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथा हि दर्शयति । १ । २ । ३२ ॥

अस्य परमात्मन एव वैश्वानरस्य द्युप्रभृतिपृथिव्यन्तशरीरस्य समाराधनमृतायाः उपासकैरहरहः क्रियमाणायाः प्राणाहुतेरग्निहोत्र-

त्वसम्पादनायायमुरः प्रभृतीनां चेदित्वायुपदेश इति जैमिनिराचार्यो
मन्यते । तथाहि—परमात्मोपासनोचितमेव फलं प्राणाहुत्या अग्नि-
होत्रसम्पत्तिं च दर्शयतीयं भुतिः । १“स य इदमविज्ञानग्निहोत्रं
जुहोति यथाङ्गारानपोह्य भस्मानि जुहुयात्तादृकस्यात् अथ य एतदेवं
विज्ञानग्निहोत्रं जुहोति तस्य सर्वेषु लोकेषु सर्वेषुभूतेषु सर्वेष्व्या-
त्मसु हुतं भवति तद्यथेपीकतूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतेषां हास्य सर्वं
पाप्मनः प्रदूयन्ते” इति ॥

आमनन्ति चैनमास्मिन् । १।२।३३।

एतं परमपुरुषं शुभूर्धत्वादिविशिष्टं वैश्वानरम् अस्मिन् उपा-
सकशरीरे प्राणाहुत्याधारत्वाय आमनन्ति च २“तस्य ह वा एतस्या-
त्मनो वैश्वानरस्य मूर्ध्वं सुतेजाः” इत्यादिना । अयमर्थः—३“यस्ये-
तमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते” इति त्रैलोक्य-
शरीरस्य परमात्मनो वैश्वानरस्योपासनं विधाय ३ “सर्वेषु लोकेषु”
इत्यादिना ब्रह्मप्राप्तिं च फलमुपदिश्य अस्यैवोपासनस्याङ्गभूतं प्राणा-
ग्निहोत्रं “तस्य ह वा एतस्य” इत्यादिनोपदिशति, यः पूर्वमुपास्यत-
योपविष्टो वैश्वानरस्तस्यावयवभूतानग्न्यादित्यादीन् सुतेजोविभक्-
पादिनामयेयानुपासकशरीरे मूर्धाविपादान्तेषु सम्पादयति । मूर्ध्वं
सुतेजाः—उपासकस्य मूर्ध्वं परमात्ममूर्ध्वभूता द्यौरित्यर्थः । चक्षुर्वि-
भक्पः—आदित्य इत्यर्थः । प्राणः पृथग्वर्त्मा—वायुरित्यर्थः ।
सन्वेहो बहुलः—उपासकस्य मध्यकाय एव परमात्ममध्यकायभूत
आकाश इत्यर्थः । पृथिन्येव पादौ—अस्य पादावेव नत्पादभूता
पृथिवीत्यर्थः । एवमुपासकः स्वशरीरे परमात्मानं त्रैलोक्यशरीरं
वैश्वानरं समिहितमनुसन्धाय स्वकीयान्पुरोलांमहृद्यमनभास्यानि
प्राणाहुत्याधारस्य परमात्मनो वैश्वानरस्य वेदियर्हिर्गार्हपत्यान्वाहा-
र्येष्वनाहवनीयानग्निहोत्रोपकरणभूतान्परिकल्प्य प्राणाहुतं ब्रह्मणि

अत्र च परिकल्प्यैवंविधेन प्राणाग्निहोत्रेण परमात्मानं वैश्वानरमारो-
धयेदिति १ “ उर एव वेदिल्लोमानि यद्विहृदयं गार्हपत्यः ”
इत्यादिनोपदिश्यते । अतः परमात्मा पुरुषोत्तम एव वैश्वानर इति
सिद्धम् ॥ ३३ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाश्रीभाष्ये वैश्वानराधिकरणम् ॥ ८ ॥

इति श्रीमग्वद्रामानुजधिरचिते शारीरकमीमांसाभाष्ये

प्रथमस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

अस्याधिकरणार्थः—प्रादेशमात्रमिव देवास्सूर्यादयः अधिस-
म्पन्नाः प्राप्ताः उपासनया यदा, तद्वा ने विदिता भवन्ति । अहं केकय
राक्षः युष्मभ्यमौपमन्यवादिभ्यः, एतान् देवान्, तथा वक्ष्यामियथा
प्रादेशमात्रमेवाभिसम्पादयामीतिति, औपमन्यवप्रभृतीन् प्रतिवक्ष्य-
त्वेन प्रतिपाद्य, अभ्यपत्तीराजोवाच, किं कुर्वन्निस्त्युक्ते-भस्य मूर्द्धान-
मुपादिशन् कराम्रेण दर्शयन् एव वैभूरादि लोका न सीत्य तिष्ठन्ती
त्यग्राणीवैश्वानरस्या वयव इति प्रसिद्धे मूर्द्धान वैश्वानरस्याधिदैवं
यो मूर्द्धा घुलोकस्तन् दृष्टिः कर्तव्येत्यर्थः ॥ स्वकीयेचक्षुषां दर्शयन्नाह,
एव वै सुतेजास्सति सूर्योऽधिदैवत वैश्वानरस्य चक्षुरिति प्रसिद्धयो-
श्चक्षुषांवैश्वानरस्याधिदैवं यदादिप्राक्तं चक्षुः तद्दृष्टिरित्यर्थः ।
इत्यादि सर्वत्र धेयमिति ॥



॥ धीमते रामांजुजाय नमः ॥

श्रीभगवद्रामानुजविरचिते

अशिरीरिकमीमांसाश्रीभाष्ये

प्रथमाध्याये-तृतीयपादे-धुम्वाद्यधिकरणम् ॥१॥

धुम्वाद्यायतनं स्वशब्दात् । १ । ३ । १

आथर्वणिका अधीयते १ "यस्मिन्धीः पृथिव्या चान्नरिक्षमौनं
मनस्सह प्राणैश्च सर्वैः । तमेवैकं जानथात्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ
अमृतस्यैव सेतुः" इति । तत्र संशयः किमयं धु पृथिव्यादीनामायत-
नत्वेन धूयमाणो जीवः, उत परमात्मा—इति । किं युक्तम् ? जीव
इति । कुतः—१ "अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाव्यस्स एषोऽ-
न्तश्चरते बहुधा जायमानः" इति परस्मिन् श्लोके पूर्वधाक्यप्रस्तुतं
यु पृथिव्याद्यायतनं 'यत्र' इति पुनरपि सप्तम्यन्तेन परामृश्य तस्य
नाड्याधारत्वमुक्त्वा, पुनरपि १ "स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जाय-
मानः" इति तस्य बहुधा जायमानत्वं चोच्यते; नाडीसम्यन्धो देवा-
दिरूपेण बहुधाजायमानत्वं च जीवस्यैव धर्मः । अस्मिन्नपि श्लोके
१ "मौनं मनस्सह प्राणैश्च सर्वैः" इति प्राणपञ्चकस्य मनसश्चाध्रय-
त्वमुच्यमानं जीवधर्म एव । एवं जीवत्वे निश्चिते सति यु पृथिव्या-
द्यायतनत्वादिकं यथाकथञ्चित्सङ्गमगिनव्यम्—इति ॥

सिद्धान्तः ।

पवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे-द्युम्बाद्यायतनं स्वशब्दात्-द्युपृथिव्या-
दीनामायतनं परं ब्रह्म। कुतः ? स्वशब्दात्-परब्रह्मासाधारणशब्दात् ।
१ "अमृतस्यैव सेतुः" इति परस्य ब्रह्मणोऽसाधारणशब्दः ।
२ "तमेवं विद्वानमृत इह भवति । नान्यः पन्था अयनाय विद्यते"
इति सर्वत्रोपनिषत्सु स पञ्चामृतत्वप्राप्तिहेतुश्रूयते । सिनोतेऽथ
बन्धनार्थत्वात् सेतुः-अमृतस्य प्रापक इत्यर्थः । सेतुरियं वा सेतुः-
नद्यादिषु सेतुर्हि कूलस्य प्रतिलम्भकः-संसारणां वपारभूतस्यामृत-
स्यैव प्रतिलम्भक इत्यर्थः । आत्मशब्दश्च निरुपाधिकः परस्मिन्ब्रह्मणि
मुख्यवृत्तः, आप्नोतीति ह्यात्मा; स्वैतरसमस्तस्य नियन्त्रित्वेन व्याप्ति-
स्तस्यैव सम्भवति । अतस्सोऽपि तस्यैव शब्दः । ३ "यस्सर्वज्ञस्सर्व-
विन्" इत्याद्यवधोपरितनाः परस्यैव ब्रह्मणश्शब्दाः । नाट्याधारत्वं
तस्यापि सम्भवति ४ "सन्ततं सिरामिस्तु लम्पत्या कोशसन्निभम्"
इत्यारभ्य ४ "तस्याश्चिन्माया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः" इति
श्रवणात् । ५ "बहुधा जायमानाः" इत्यपि परस्मिन् ब्रह्मणि सङ्ग-
च्छन्ते-२ "अजायमानो बहुधा विजायते । तस्य धीराः परिजानन्ति
योनिम्" इति देवादीनां समाश्रयणीयत्वाय तत्तज्जातीयरूपसंस्थान-
गुणकर्मसमन्वितः स्वकीयं स्वभाषमजहदेव स्वेच्छया बहुधा विजा-
यते परः पुरुष इत्यभिधानात् । स्मृतिरपि ६ "अजोऽपि सन्नव्ययात्मा
भूतानामीश्वरोऽपि सन् । प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया"
इति । मनःप्रभृतिजीवोपकरणाधारत्वं च सर्वाधारस्य परस्यै-
वोपपद्यते ॥

इतरथ परमपुरुषः—

मुक्तोपसृप्यव्यदेशाच्च । १ । ३ २ ॥

अयं द्युपृथिव्याद्यायतनभूतः पुरुषः संसारबन्धान्मुक्तैरपि

१ मु० २-२-२ ॥

२ मु० २-२-७ ॥

५ मु० २-२-६ ॥

२ पुरुषस्य ॥

४ तै० नारायणे १३ अनु०

६ गी० ४-६ ॥

प्राप्यतया व्यपदिश्यते १ “यदा पश्यः पश्यते स्वमययां कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् । तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति” २ “यथा नद्यस्स्यन्दमानास्समुद्रं अस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय । तथा विद्वान्नामरूपादिमुक्ताः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्” इति । संसारबन्धनादिमुक्ता एव हि विधूतपुण्यपापा निरञ्जना नामरूपाभ्यां विनिर्मुक्ताश्च । पुण्यपापनिबन्धनाच्चित्संसर्गप्रयुक्तनामरूपभाक्त्वमेव हि संसारः । अतो विधूतपुण्यपापैर्निरञ्जनैः प्रकृतिसंसर्गरहितैः परेण ब्रह्मणा परमं साम्यमापन्नैः प्राप्यतया निर्दिष्टो द्युपृथिव्याद्यायतनभूतः पुरुषः परं ब्रह्मैव ॥ २ ॥

परप्रज्ञासाधारणशब्दादिभिः परमेव ब्रह्मेति प्रसाध्य, प्रत्यगात्मासाधारणशब्दाभावाच्चायं पर एवेत्याह—

नानुमानमतच्छब्दात्प्राणभृच्च । १ । ३ । ३ ॥

यथाऽसिन्प्रकरणे प्रतिपादकशब्दाभावात्प्रधानं न प्रतिपाद्यम्, एवं प्राणभृदपीत्यर्थः । अनुमीयत इत्यनुमानं परोक्तं प्रधानमुच्यते, अनुमानप्रमितत्वादनुमानमिति वा; अतच्छब्दात्—तद्वाचिशब्दाभावादित्यर्थः । ‘अर्थाभावे यदव्ययम्’ इत्यव्ययीभावः ॥३॥

इतथायं न प्रत्यगात्मा—

भेदव्यपदेशात् । १ । ३ । ४ ॥

३ “समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः । जूष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति धीतशोकः” इत्यादिभिर्जीवाद्भिलक्षणत्वेनार्थं व्यपदिश्यते । अनीशया भोग्यभूतया प्रकृत्या मुह्यमानश्शोचति जीवाः; अयं यदा स्वसादन्यं सर्वभ्येशं प्रीयमाणम्, अस्य ईश्वरस्य महिमानं च निस्तिलजगन्निगमनरूपं पश्यति; तदा धीतशोको भवति ॥४॥

प्रकरणात् । १ । ३ । ५ ॥

प्रकरणं चेदं परस्य ब्रह्मण इति १. "अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तः" इत्यत्रैव प्रदर्शितम् । नाद्वीसम्बन्धबहुधाजायमानत्यमनः-
प्राणाधारत्यैश्च प्रकरणविच्छेदाशङ्कामात्रमत्र पर्यहार्यम् ॥५॥

स्थित्यदनाभ्याच्च । १ । ३ । ६ ॥

२ "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिपस्वजाते ।
तयोरग्न्यः पिप्पलं स्वाद्वस्त्यनश्नन्नन्यो भूमिचाकशीति" इत्येकस्य
कर्मफलादनम् । अन्यस्य च कर्मफलमनश्नत एव दीप्यमानतया
शरीरान्नस्थितिमात्रं प्रतिपाद्यते । तत्र कर्मफलमनश्नन्दीप्यमान एव
सर्वज्ञोऽमृतसेतुस्सर्वात्मा शुभ्वाधायतनं भवितुमर्हति, न पुनः कर्म-
फलमदन् शोचन्प्रत्यगात्मा । अतो शुभ्वाधायतनं परमात्मेति
सिद्धम् ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये शुभ्वाधधिकरणम् ॥१॥

श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये भूमाधिकरणम् ॥२॥

भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात् । १ । ३ । ७ ॥

इदमामनन्तिच्छन्दोगोः ३ "यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छ्रु-
णोति नान्यद्विजानाति स भूमा । अथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छ्रुणोत्य-
न्यद्विजानाति तद्व्यम्" इति । अत्रायं भूमशब्दो भावप्रत्ययान्तो
व्युत्पाद्यते । तथा हि पृथ्वादिषु बहुशब्दः पठ्यते ततः ४ "पृथ्वा-

दिभ्य इमनिज्या" इति इमनिचप्रत्ययं कृतं १ "बहोर्लोपां भू च-यतोः
 इति प्रकृतिप्रत्यययोर्धिकारे भूमेति भवति । भूमा-बहुवचनमित्यर्थः ।
 अत्र चायं बहुशब्दो वैपुल्यवाचो, न सङ्ख्यावाचो; २ "यवान्यत्य-
 श्यति" "तत्त्वल्पम्" इत्यल्पप्रतियोगित्वध्रुवणात् अल्पशब्दनिर्दिष्टध-
 र्मिप्रतियोगिप्रतिपादनपरत्वादेव धर्मिपरश्च निश्चोयतं; न धर्ममात्र-
 परः । तदेवं भूमेति विपुल इत्यर्थः; वैपुल्याविशेष्यश्चेदात्मैत्यवगमः
 ३ "तरति शोकमात्मवित्" इति प्रक्रम्य भूमविद्यानमुपदिश्य ४ "आ-
 त्मैवेदं सत्यम्" इति तस्यैवोपसंहारात् । अत्र संशय्यते-किमयं भूम-
 गुणाविशिष्टः प्रत्यगात्मा, उत परमात्मा-इति । किं युक्तम् ? प्रत्या-
 गात्मेति । कुतः ? ३ "भूतं ह्येवमे भगवद्ब्रह्मशेभ्यस्तरति शोकमात्म-
 वित्" इत्यात्मजिज्ञासयोपलेशुषे नारदाय नामाविप्राणपर्यन्तैर्गुणस्य
 तयोपदिष्टेषु ५ "अस्ति भगवो नाम्नो भूयः" ६ "अस्ति भगवो वाचो
 भूयः" इत्यादयः प्रश्नाः, ७ "वागवाच नाम्नोभूयसी" ८ "मनो वाच-
 वाचो भूयः" इत्यादीनि च प्रतिपद्यन्तानि, प्राणात्प्राचीनेषु दृश्यन्ते;
 प्राणो तु न पश्यामः । अतः प्राणपर्यन्तं पश्यामः परमात्मोपदेश इति प्रती-
 यते तेनेह प्राणशब्दनिर्दिष्टः प्राणसहचारी प्रत्यगात्मैव; न वायुविशेष-
 मात्रम् । ९ "प्राणो ह पिता प्राणो ह माता" इत्यादयश्च प्राणस्य चेत-
 नतामयगमयन्ति; १० "पितृहा...मातृहा" इत्यादिना सप्राणेषु पितृ-
 प्रभृतिपूषमर्दकारिणि हिंसकत्वनिमित्तोपक्रोशवचनात्तेष्व विगनप्राणो
 प्यत्यन्तोपमर्दकारिण्यप्युपक्रोशाभासवचनाच्च हिंसायोग्यश्चेतन एव
 प्राणशब्दनिर्दिष्टः । अप्राणेषु स्वायरेष्वपि चेतनेषूपमर्दभावाभासयो-
 हिंसातद्भासदर्शनादयं हिंसायोग्यतया निर्दिष्टः प्राणः प्रत्यगात्मैवेति
 निश्चीयते । अत एवच भरनाभिदूष्टान्ताद्युपन्यासेन प्राणशब्दनिर्दिष्टः
 पर इति न भ्रमिनव्यम्, परस्य हिंसाप्रसङ्गाभावात्, जीवादिनरस्य

१ अष्टा० १-४-१५८ ॥

२ शारी० १-२-२२ ॥

३ छा० ७-१-३ ॥

४ छा० ७, २४, २५

५ छा० ७ १-५॥

६ छा० ७ २ २॥

७ छा० ७-१-१

८ छा० ७-३-१॥

९ छा० ७-१२-१

१० छा० ७-१४-२

तद्भोग्यभोगोपकरणभूतस्य कृत्स्नस्याधिष्ठस्तुनो जीवायत्तस्थितित्वेन
प्रत्यगात्मन्येवार्थनाभिद्वष्टान्तोपपत्तेः । अयमेव च प्राणशब्दनिर्दिष्टो
भूमा; 'अस्ति भगवः प्राणानुभूयः' इति प्रतिचचनस्य चाभावाद्भूमसं-
शब्दनात्प्राणप्राणप्रकरणस्याविच्छेदात् । किञ्च प्राणवेदिनोऽतिवादि-
त्यमुक्त्वा तमेव १ "एष तु वा अतिवदति" इति प्रत्यभिज्ञाप्य १ "य-
स्सत्येनानिवदति" इति तस्य सत्यवदनं प्राणोपासनाङ्गतयोपदिश्य
उपादेयस्य सत्यवदनस्य शेषितया पूर्वनिर्दिष्टप्राणयाथात्म्यविधानं
२ "यदा वै विजानात्यथ सत्यं वदति" इत्युपदिश्य तत्तत्सिद्धयर्थं च
मननध्वजानिष्ठाप्रयत्नानुपदिश्य तदारम्भाय च प्राप्यभूतप्राणशब्द-
निर्दिष्टप्रत्यगात्मस्वरूपस्य सुखरूपताज्ञानमुपदिश्य तस्य च सुखस्य
विपुलता ३ "भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्याः" इत्युपदिश्यते । तदेवं
प्रत्यगात्मन एवाविद्यावियुक्तं रूपं विपुलसुखमित्युपदिष्टमिति ४
"तरति शोकमात्मवित्" इत्युपक्रमाविरोधश्च । अतो भूमगुणविशिष्टः
प्रत्यगात्मा, यत एव भूमगुणविशिष्टः प्रत्यगात्मा, अतएवाहमर्थे प्रत्य-
गात्मनि ४ "अहमेवाधस्तादहमुपरिष्ठात्" इत्यारभ्य ५ "अहमेवेदं
सर्वम्" इति प्रत्यगात्मनो वैभवमुपदिशति । एवं प्रत्यगात्मत्वे निश्चिने
सति तदनुगुणतया वाक्यशेषो नेतव्य इति ॥

सिद्धान्तः ।

एवं प्राप्तेऽभिधीयते—भूमो सम्प्रसादाद्ध्युपदेशात्—भूमगुण
विशिष्टो न प्रत्यगात्मा; अपि तु परमात्मा, कुतः ? सम्प्रसादाद्ध्यु-
पदेशात् ; सम्प्रसादः—प्रत्यगात्माः १ "एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरी-
रात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणामिनिष्पद्यते" इत्यु-
पनिषत्प्रसिद्धः । सम्प्रसादान् प्रत्यगात्मनोऽधिकतया भूमविशिष्ट-
स्य सत्यशब्दामिधेयस्योपदेशादित्यर्थः । सत्यशब्दामिधेयं च परं
ब्रह्म । एतदुक्तं भवति—यथा नामानिषु प्राणपर्यन्तेषु पूर्वपूर्वा-

१ छा० ७-११

१ छा० ७-१७

३ छा० ७-२३-१

४ छा० ७-१-३

५ छा० ७-२२-१

१ छा० ८-१२-१

धिकतयोत्तरोत्तरामिधानात्पूर्वमेव उत्तरेयामर्थान्तरत्वम्, एवं प्राण-
शब्दनिर्दिष्टात्प्रत्यगात्मनोऽधिकतया निर्दिष्टसत्यशब्दाभिधेयस्त-
स्मादर्थान्तरभूत एव; सत्यशब्दनिर्दिष्ट एव भूमेति सत्याख्यं परं
ब्रह्मैव भूमेत्युपदिश्यते—इति । नदाह धृत्तिकारः १ “भूमा त्वमेति
भूमा ब्रह्म नामादिपरम्परया आत्मन ऊर्ध्वमस्योपदेशात्” इति ।
प्राणशब्दनिर्दिष्टादधिकतया सत्यस्योपदेशः कथमवगम्यत इति चेत्
—२ “स या एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नतिवादी
भवति” इति प्राणविदोऽतिवादित्यमुक्त्वा ३ “एष तु वा अतिवदति
यस्सत्येनातिवदति” इति सत्यवेदित्वेनातिवादिनं तुशब्देन पूर्व-
स्मादतिवादिनो व्यावर्तयति । अत एव ३ “एष तु वा अतिवदति”
इत्यत्र प्राणातिवादिनो न प्रत्यभिज्ञा । अतोऽस्यातिवादित्वनिमित्तं
सत्यं पूर्वातिवादिस्वनिमित्तात्प्राणादधिकमिति विज्ञायते ।

ननु च प्राणवेदिन एव सत्यवदनमङ्गत्वेनोपदिष्टम्, अतः
प्राणप्रकरणाविच्छेद इत्युक्तम् । नैतद्युक्तम् — तुशब्देन अतिवाद्येवान्यः
प्रतीयते, न तु तस्यैवातिवादिनस्सत्यवदनाङ्गविशिष्टतामात्रम् ।
४ “एष तु वा अग्निहोत्रो यस्सत्यं वदति” इत्यादिप्यग्निहोत्र्यन्तरा-
प्रतीतेः, प्रतीतस्यैवाग्निहोत्रिणस्सत्यवदनाङ्गविधानमिति क्लृप्ता
गतिराश्रीयते; अतएवतिवाद्यन्तरत्वनिमित्तं सत्यशब्दाभिधेयं परं
ब्रह्म प्रतीयते । सत्यशब्दश्च ५ “सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म” इत्यादिषु
परस्मिन्ब्रह्मणि प्रयुक्तः; अतस्तन्निष्ठस्यातिवादिनः पूर्वस्मादधिकत्वं
सम्भवतीति वाक्यस्वरत्मसिद्धमन्यत्वं न बाधितव्यम् । अतिवादित्वं
हि वस्तुवन्तरात्पुरुषार्थतयाऽतिक्रान्तस्वोपास्यवस्तुवादित्यम् ; नामा-
द्याशापर्यन्तोपास्यवस्तुक्रान्तस्वोपास्यप्राणशब्दनिर्दिष्टप्रत्यगात्मचा-
दित्वात्प्राणविदोऽतिवादित्यम् ; तस्यापि सातिशयपुरुषार्थत्वाभिर-

१. धृतिः ॥

२. वा. ७. १५. ४ ॥

३. वा. ७. १६-१ ॥

४.

५. तै. भाष. १. अनु ॥

निशयपुरुषार्थतयोपास्यपरब्रह्मयाद्विन एव साक्षादतिवादित्वमिति
 १ "एव तु वा अतिवदति यस्सत्येनातिवदति" इत्युक्तम् ।
 सत्येनेतीत्यभूतलक्षणे तृतीया; सत्येन परेण ब्रह्मणोपास्येनोपल-
 क्षितो योऽतिवदतीत्यर्थः । अतएवेवं शिष्यः प्रार्थयते १ "सोऽहं
 भगवस्सत्येनातिवदामि" इति । आचार्यश्च १ "सत्यं त्वेव विजि-
 द्धासितव्यम्" इत्याह । २ "आत्मतः प्राणः" इति च प्राणशब्दनिर्दि-
 ष्ट्याऽत्मन उत्पत्तिरुच्यते । अतः ३ "तरति शोकमात्मचित्" इति
 प्रक्रान्त आत्मा प्राणशब्दनिर्दिष्टादन्य इति गम्यते ।

यदुक्तम्—'अस्ति भगवः प्राणाद्वभूयः' इति प्रश्नस्य 'अदो वाव
 प्राणाद्वभूयः' इति प्रतिषेधनस्यचादर्शनात्प्रक्रान्त आत्मोपदेशः प्राणो-
 पदेशपर्यवसानो गम्यते इति; तदुक्तम् । नहि प्रश्नप्रतिषेधनाभ्या-
 मेवार्थान्तरत्वं गम्यते; प्रमाणान्तरेणापि तत्सम्भवात् । उक्तञ्च
 प्रमाणान्तरेण । 'अस्ति भगवः प्राणाद्वभूयः' इत्यपृच्छतोऽयमभिप्रायः
 —नामादिप्याशापर्यन्तेष्वचेतनेषु पुरुषार्थभूयस्तथा पूर्वपूर्वमतिक्रा-
 न्तेष्वप्युत्तरोत्तरेषूपदिष्टेषु तत्तद्वेदिन आचार्येणातिवादित्वं नोक्तम् ;
 प्राणशब्दनिर्दिष्टप्रत्यगात्मयाथात्म्यवेदिनस्तु पुरुषार्थभूयस्तथातिशयं
 मन्वानेन ४ "स वा एव एवं पश्यन्नेवं मन्वान एव विजानन्नतिवादी
 भवति" इति अतिक्रान्तवस्तुवादित्यमुक्तम् । अतोऽहं वात्मां पदेश-
 स्समाप्त इति मत्वा शिष्यो भूयो न पप्रच्छ । आचार्यस्त्विदमपि
 सातिशयं मत्वा निरनिशयपुरुषार्थभूतं सत्यव्दाभिधेयं परं ब्रह्म
 २ "एव तु वा अतिवदति यस्सत्येनातिवदति" इति स्वयमेवोपचिक्षे-
 प । शिष्योऽपि परमपुरुषार्थरूपे परस्मिन्ब्रह्मण्युपक्षिप्ते तत्स्वरूपत-
 दुपासनायाथात्म्यबुभुक्षया ५ "सोऽहं भगवस्सत्येनातिवदामि"
 इति प्रार्थयामास । ततो ब्रह्मसाक्षात्कारनिमित्तातिवादित्यसिद्धये

ऽन्यत्वेनानुभूयमानं कृत्स्नं जगत्तत्कर्मामुत्तरं दुःखं च परिमितसुखं
 च भवति । अतो ब्रह्मणोऽन्यतया परिमितसुखत्वेनदुःखत्वेन च जग-
 दनुभवस्य कर्मनिमित्तत्वात्कर्मरूपाविद्याधिमुक्तस्य तदेव जगद्विभूति-
 गुणविशिष्टब्रह्मानुभवान्तर्गतं सुखमेव भवति । यथा पित्तोपहतं पौ-
 मानं पयः पित्ततारतम्येनान्पसुखं विपरीतं च भवति; तदेव पयः
 पित्तानुपहतस्य सुखार्यं भवति; यथैव राजपुत्रस्य पितुर्लोलोपकरण-
 मतथात्वेनानुसन्धीयमानं प्रियत्वमनुपगतं तथात्वेनानुसन्धाने प्रियतमं
 भवति; तथा निरतिशयानन्दस्वरूपस्य ब्रह्मणोऽनर्वाच्य-
 कातिशयासङ्ख्येयकल्याणगुणाकरस्य लोलोपकरणं तदात्मकं
 चानुसन्धीयमानं जगद्विरतिशयप्रीतये भवत्येव । अतो जगदैश्वर्यवि-
 शिष्टमनवधिकातिशयसुखरूपं ब्रह्मानुभवस्ततोऽन्यत्किमपि न पश्यति;
 दुःखं च न पश्यति । एतदेवोपपादयति वाक्यशेषः १ "स वा पप
 एवं पश्यन्वं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन
 आत्मानन्दस्व स्वराडभवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति
 अथ येऽन्यथाऽतो विदुरन्यराजानस्ते क्षप्यलोका भवन्ति तेषां
 सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति" इति । स्वराट्—अकर्मयशः ।
 अन्यराजानः—कर्मवश्याः । तथा २ "न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं
 नोत दुःखताम् । सर्वं ह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वशः" इति
 च । निरतिशयसुखरूपत्वं च ब्रह्मणः ३ "आनन्दमयोऽभ्यासात्"
 इत्यत्र प्रपञ्चितम् । अतः प्राणशब्दनिर्दिष्टात्मप्रत्यगात्मनोऽर्थान्तर-
 भूतस्य सत्यशब्दाभिधेयस्य ब्रह्मणो भूमेत्युपदेशाद्ब्रूमा परं ब्रह्म ॥

धर्मोपपत्तेश्च । १ । ३ । ८ ॥

अस्य भूम्नो ये धर्मा आम्नायन्ते; तेषां परस्मिन्नेवोपपद्यन्ते ।
 ४ "एतदमृतम्" इति स्वाभाविकममृतत्वम्, ४ "स्वे महिम्नि" इत्यन-

न्याधारत्यम्, १“स एवाधस्तात्” इत्यादि १“स एवेदं सर्वम् इति
सर्वात्मकत्वम्, २“आत्मतः प्राणः” इत्यादिप्राणप्रभृतिसर्वस्योत्पादक-
त्वमित्याद्यो हि धर्माः परमात्मन एव । यत्तु १“अहमेवाधस्तात्”
इत्यादिना सर्वात्मकत्वमुपदिष्टम्, तद्वभूमविशिष्टस्य ब्रह्मणोऽहङ्कप्रह-
णोपासनमुपदिश्यते १“अथातोऽहङ्कारादेशः” इत्यहङ्कप्रहोपदेशोप-
क्रमात् । अहमर्थस्य प्रत्यगात्मनोऽपि ह्यात्मा परमात्मेत्यन्तर्यामिप्रा-
ह्मणादिपुक्तम् । अतः प्रत्यगर्थस्य परमात्मपर्यवसानादहंशब्दोऽपि
परमात्मपर्यवसायीति प्रत्यगात्मशरीरकत्वेन परमात्मानुसन्धाना-
र्थोऽयमहङ्कप्रहोपदेशः । परमात्मनस्सर्वशरीरतया सर्वात्मत्यात्प्रत्य-
गात्मनोऽप्यात्मा परमात्मा । तदेव ३“अथात आत्मादेशः” इत्या-
दिना ३“आत्मेवेदं सर्वम्” इत्यन्तेनोच्यते । एतदेवोपपादयितुं प्रत्य-
गात्मनोऽप्यात्मभूतात्परमात्मनस्सर्वस्योत्पत्तिरुच्यते ४“तस्य ह वा
एतस्यैव पश्यत एवं मन्वानस्यैव विजानत आत्मतः प्राण आत्मत
आकाशः” इत्यादिना । उपासकस्यान्तर्यामितयाऽवस्थितात्परमात्मन-
स्सर्वस्योत्पत्तिरित्यर्थः । अतः परमात्मनः प्रत्यगात्मशरीरकत्वज्ञान-
प्रतिष्ठार्थमहङ्कप्रहोपासनं कर्तव्यम् । तस्माद्वभूमविशिष्टः परमात्मेति
सिद्धम् ॥ ८ ॥

इति श्रीशरीरकमीमांसाभाष्ये भूमाधिकरणम् ॥ २ ॥

—*(श्रीशरीरकमीमांसाभाष्ये अक्षराधिकरणम्)*

अक्षरमम्बरान्तधृतेः । १ । ३ । ९ ॥

वाजसनेयिनो गार्गीप्रश्ने समामनन्ति ५“सहोवाचैतद्धैतदक्षरं

गार्गि ग्राह्याणां अभिवदन्ति अस्थूः न मनस्येव ह्यक्षरमदीर्घमलोहितमस्नेहम-
 च्छाद्यम्" इत्यादि । तत्र संशयः—किमेतदक्षरं प्रधानम्—जीवो वा-
 उत परमात्मा—इति । किं युक्तम् ? प्रधानमिति । कुतः ? १ "अक्षरा-
 त्परतः परः" इत्यादिस्वक्षरशब्दस्य प्रधाने प्रयोगदर्शनादस्थूलत्वा-
 दीनां च तत्र समन्वयात् । २ "यथा तदक्षरमधिगम्यते" इत्यादिषु
 परस्मिन्नप्यक्षरशब्दो दृश्यत इति चेत्—न, प्रमाणान्तरप्रसिद्धश्रुतिप्र-
 सिद्धयोः प्रमाणान्तरप्रसिद्धस्य प्रथमप्रतीतेः; प्रतीतपरिग्रहे विरोधा-
 भावात् । २ "यदूर्ध्वं गार्गि दिवो, यदूर्ध्वं पृथिव्याः" इत्यारम्य सर्व-
 स्य कालक्षितयधर्तिनः कारणभूताकाशाधारत्वे प्रतिपादिते ३ "कस्मिन्
 खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्च" इत्याकाशस्यापि कारणं तदाधारभूतं
 किमिति पृष्ठे प्रत्युच्यमानमक्षरं सर्वविकारकारणतया तदाधारभूतं
 प्रमाणान्तरप्रसिद्धं प्रधानमिति प्रतीयते अतोऽक्षरं प्रधानम् ॥

सिद्धान्तः ।

इति प्राप्ते उच्यते—अक्षरमम्बरान्तधृतेः—अक्षरं—परं ब्रह्म;
 कुतः ? अम्बरान्तधृतेः; अम्बरस्य—आकाशस्य, अन्तः—पारभूतम्
 अव्याकृतमम्बरान्तः; तस्य धृतेः तदाधारतयाऽस्याक्षरस्योपदेशादिति
 यावत् । भयमर्थः—“कस्मिन् खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्च” इत्यक्षाकाश-
 शब्दनिर्दिष्टं न वायुमदम्बरम्, अपितु तत्पारभूतमव्याकृतम्, अतस्त-
 स्याव्याकृतस्याप्याधारत्वेनोच्यमानमक्षरं नाध्याकृतं भवितुमर्हति
 —इति । नव्याकाशशब्दनिर्दिष्टो न वायुमानिति कथमवगम्यते,
 उच्यते ३ "यदूर्ध्वं गार्गि दिवो यदूर्ध्वं पृथिव्या यदन्तरा यावा-
 पृथिवी इमे यजूतं च भग्नश्च भविष्यच्चेत्याचक्षते आकाश एव
 तजोतं च प्रोतं च" इत्युक्ते त्रैकाल्यधर्तिनो विकारजातस्याधारतया
 निर्दिष्ट आकाशो न वायुमदाकाशो भवितुमर्हति; तस्यापि विकारा-
 न्तर्गतत्वात् । अतोऽक्षाकाशशब्दनिर्दिष्टं भूतसूक्ष्ममिति प्रतीयते ।

ततस्तस्यापि भूतसूक्ष्मस्याधारभूतं किमिति पृच्छयन् ? “कसिन्नु
खलुशाकाश आतश्च प्रोतश्च” इति । अतस्तदाधारतया निर्दिश्यमान-
मक्षरं न प्रधानं भयिनुमहति ।

यत्तु श्रुतिप्रसिद्धात्प्रमाणान्तरप्रसिद्धं प्रथमं प्रतीयत इति,
तच्च, अक्षरशब्दस्यावयवशक्त्या स्वार्थप्रतिपादने, प्रमाणान्तरानपेक्ष-
णात् ; सम्बन्धग्रहणदशायामर्थस्वरूपं येन प्रमाणेनावगम्यते, न
तत्प्रतिपादनदशायामपेक्षणीयम् ॥ १ ॥

एवं तर्ह्यक्षरशब्दनिर्दिष्टो जीवोऽस्तु, तस्य भूतसूक्ष्मपयस्तस्य
कृत्स्नस्याचिद्वस्तुन आधारत्वोपपत्तेः; अस्थूलत्वासुक्ष्ममानविशेष-
णोपपत्तेश्च २ “अव्यक्तमक्षरे लीयते” ३ “यस्याव्यक्तं शरीरं...यस्या-
क्षरं शरीरं” ४ “क्षरस्त्वर्थाणि भूतानि कृत्स्नोऽक्षर उच्यते” इत्या-
दिषु प्रत्यगात्मन्यप्यक्षरशब्दप्रयोगदर्शनादित्यत्रोत्तरम्—

सा च प्रशासनात् । १ । ३ । १० ॥

सा चास्म्यरान्तधृतिरस्याक्षरस्य प्रशासनादेव भवनीत्युपदि-
श्यते ५ “एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याच्चन्द्रमसौ
विधृतौ तिष्ठतः, एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि चावापृथिग्र्यौ
विधृतौ तिष्ठतः; एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि निमेषा मुहूर्तां
अहोरात्राण्यर्धमासा मासा ऋतवस्संवत्सरा इति विधृतास्तिष्ठन्ति”
इत्यादिना । प्रशासनम् प्रकृष्टं शासनम् न चेदं स्वशासनाधीनसर्व-
वस्तुविधरणं बद्धमुक्तीभयावस्यस्यापि प्रत्यगात्मनस्सम्भवति । अतः
पुरुषोत्तम एव प्रशासित्वक्षरम् ॥ १० ॥

अन्यभावव्यावृत्तेश्च । १ । ३ । ११ ॥

अन्यभावः—अन्यत्थम्, प्रधानादिभावः । अस्याक्षरस्य पर-
मपुरुषादन्यत्वं वाक्यशेषे व्यावर्त्यते ? “तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यद्रष्टुं
द्रष्टुं श्रुतं श्रोतृमत्तं मन्त्रविज्ञातं विज्ञातु नान्यदतोऽस्ति द्रष्टुं नान्य-
दतोऽस्ति श्रोतुं, नान्यदतोऽस्ति मन्तुं, नान्यदतोऽस्ति विज्ञातु,
एनसिन्तु ज्ञत्वक्षरे गार्ग्याकाश श्रोतश्च प्रोतश्च” इति । अतः द्रष्टु-
त्वश्रोतृत्वाद्युपदेशादस्याक्षरस्याचेतनभूतप्रधानभावो व्यावर्त्यते;
सर्वैरद्रष्टव्यैव सतस्सर्वस्य द्रष्टृत्वाद्युपदेशाच्च प्रत्यगात्मभावो
व्यावर्त्यते । अत इयमन्यभावव्यावृत्तिरस्याक्षरस्य परमपुरुषतां
द्रष्टव्यति । एवं वाऽन्यभावव्यावृत्तिः—अन्यस्य सद्भावव्यावृत्ति-
रन्यभावाव्यावृत्तिः; यथैतदक्षरमन्यैरद्रष्टुं सदन्येषां द्रष्टुं च सतस्-
व्यतिरिक्तस्य समस्तस्याधारभूतम्, एवमनेनाद्रष्टमेतस्य द्रष्टुं च
सदेतस्याधारभूतमन्यन्नास्तीति चक्षुः १ “नान्यदतोऽस्ति द्रष्टुं”
इत्यादिवाक्यशेषोऽन्यस्य सद्भावं व्यावर्तयन्नस्याक्षरस्य प्रधानभावं
प्रत्यगात्मभावं च प्रतिषेधति । किञ्च २ “एतस्य वा अक्षरस्य
प्रशंसने गार्गि ददतो मनुष्याः प्रशंसन्ति यजमानं देवा दर्वी
पितरोऽन्वायन्ताः” इति श्रुतिं स्मर्तुं च यागदानहोम,दिकं सर्वं
कर्म यस्याऽहया प्रवर्तनं, तदक्षरं परब्रह्मभूतः पुरुषोत्तम एवेति
विज्ञायते । अपि च ३ “यो वा एतदक्षरं गार्ग्ययिदित्वाऽस्मिहोके
जुहोति यजते तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राण्यन्तर्घदेवास्य तद्भवति
यो वा एतदक्षरं गार्ग्ययिदित्वाऽस्मिहोकात्प्रेति स कृपणः, अथ य एतदक्षरं
गार्ग्ययिदित्वाऽस्मिहोकात्प्रेति स ब्राह्मणः” इति यद्विज्ञानात्संसार-
प्राप्तियज्ज्ञानाच्चाभूतत्वप्राप्तिस्तदक्षरं परं ब्रह्म वेतिसिद्धम् ॥११॥

इति धीशारीरकमीमांसाभाष्ये अक्षराधिकारम् ॥ ३ ॥

(श्रीशरीरकमीमांसाभाष्ये ईक्षतिकर्माधिकरणम् ॥ ४ ॥)

ईक्षतिकर्म व्यपदेशात्सः । १ । ३ । १२ ॥

आध्वर्यणिकासस्त्यकामप्रश्नेऽधीयते १ “यः पुनरेतं त्रिमा-
त्रेणोमित्यनेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्यं
सम्पन्नः । यथा पादोदरस्त्वष्टा विनिर्मुच्यते एवं ह वै स पाप्मना
विनिर्मुक्तस्ससामभिरुक्षीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं
पुरिशयं पुरुषमीक्षते” इति । अत्र ध्यायतीक्षतिशब्दाद्येकविपर्यौ,
ध्यानफलत्वादीक्षणस्य, २ “यथाकतुरसिल्लोके पुरुषः” इति
न्यायेन ध्यानविषयस्यैव प्राप्यत्वात्, ३ “परं पुरुषम्” इत्युभयत्र
कर्मभूतस्यार्थस्य प्रत्यभिधानाच्च ।

तत्र संशयते—किमिह “परं पुरुषम्” इति निर्दिष्टो जीव-
समष्टिरूपोऽण्डाधिपतिश्चतुर्मुखः, उत सर्वेश्वरः पुरुषोत्तमः—इति ।
किं युक्तम् ? समष्टिक्षेत्त इति । कुतः ? ३ “स यो ह वै नमस्कृत्य
नुप्येषु प्रायणान्तमोक्षारमभिध्यायीत कतमं वाव स तेन लोकं
जयति” इति प्रकर्म्यैकमात्रं प्रणवमुपासीनस्य मनुष्यलोकप्राप्ति-
मभिधाय, त्रिमासमुपासीनस्य अन्तरिक्षलोकप्राप्तिमभिधाय, त्रिमा-
समुपासीनस्य प्राप्यतयाऽमिधीयमानो ब्रह्मलोकोऽन्तरिक्षात्परो
जीवसमष्टिरूपस्य चतुर्मुखस्य लोक इति विज्ञायते; नङ्गनेन
चेक्ष्यमाणस्तल्लोकाधिपतिश्चतुर्मुख एव । ३ “एतस्माज्जीवघना-
त्परात्परम्” इतिच वेहेन्द्रियादिभ्यः पराकुवेहेन्द्रियादिभिस्सह
घनीभूताज्जीवव्यष्टिपुरुषाद्ब्रह्मलोकवासिनस्समष्टिपुरुषस्य चतुर्मुखस्य
परत्येनोपपद्यते । अतोऽत्र निर्दिश्यमानः परः पुरुषस्समष्टिपुरुष-
श्चतुर्मुख एव । एवं चतुर्मुखस्य निश्चिते अजरत्वादयो यथा
कथञ्चिन्नेतव्याः ।

सिद्धान्तः ।

इति प्राप्ते प्रचक्षमहे-ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्सः-ईक्षतिकर्म सः-
 परमात्मा । कुतः ? व्यपदेशात्-व्यपदिश्यते हीक्षतिकर्म परमात्मत्वेन ।
 तथाहि ईक्षतिकर्मविषयतयोदाहृते श्लोके ? "तमोऽङ्गारेणैवायनेनान्येनि
 विद्वान्यस्यच्छान्तमजरममृतमभयं परंच" इति । परं शान्तमजरमभय-
 ममृतमिति हि परमात्मन एवैतद्विरूपम्, २ "एतदमृतमेतदभयमे-
 तद्वप्र" इत्येवमादिभ्युनिम्ब्यः । ३ "एतस्माज्जीवघनात्परात्परम्" इति
 च परमात्मन एव व्यपदेशः ; न चतुर्मुखस्य, तस्यापि जीवघनशब्दगृही-
 तत्वात् । यस्य हि कर्मनिमित्तं देहित्वं स जीवघन इत्युच्यते; चतुर्मु-
 खस्यापि न च्छ्रूयते ४ "यो ब्रह्माणां विदधाति पूर्वम्" इत्यादौ । यत्पुन-
 रक्तमन्तरिक्षलोकस्योपरिनिर्दिश्यमानो ब्रह्मलोकश्चतुर्मुखलोक इति
 प्रतीयते, अतस्तत्रैव चतुर्मुख इति; तदयुक्तम् ५ "यस्यच्छान्तमजरम-
 मृतमभयम्" इत्यादिनेक्षतिकर्मणः परमात्मत्वे निश्चिते सति ईक्षितुः
 स्थानतया निर्दिष्टो ब्रह्मलोको न क्षयिष्णुश्चतुर्मुखलोको भवितुमर्हति
 किञ्च ६ "यथा पावोदरस्त्वस्या विनिर्मुच्यते एवं ह वै स पाप्मना
 विनिर्मुक्तस्तसामभिरुग्रीयते ब्रह्मलोकम्" इति सर्वपापविनिर्मुक्तस्य
 प्राप्यतयोन्यमानं न चतुर्मुखस्थानम् । अत एव चोदाहरण श्लोक इम-
 मेव ब्रह्मलोकमधिकृत्य ध्रूयते ७ "यस्तत्कथयो वेदयन्ते" इति । कथयः-
 सूरयः । सूरिमिदं श्यं च वैष्णवं पदमेव, ८ "तद्विष्णोः परमं पदं सदा
 पश्यन्ति सूरयः" इत्येवमादिभ्यः । न चान्तरिक्षात्परश्चतुर्मुखलोकः
 मध्ये स्वर्गलोकादीनां बहूनां सङ्गोवात् । अतः ६ "एतद्व" सत्यकाम
 परं चापरं ब्रह्म यदोङ्कारस्तस्माद्विद्वानेतैनैवायनेनैकनरमन्वेति" इति
 प्रतिषेधने यदपरं कार्यं ब्रह्म निर्दिष्टं तदैहिकामुष्मिकत्वेन विधा-
 विमज्ज्यैकमात्रं प्रणवमुपासीनानामैहिकं मनुष्यलोकायातिरूपं फलम-
 मिधाय, विमात्रमुपासीनानामामुष्मिकमन्तरिक्षशब्दोपलक्षितं फलं

चामिधाय, क्षिमात्वेण परब्रह्मवाचिना प्रणयेन परं पुरुषं ध्यायतां
परमेव ब्रह्म प्राप्यतयोपदिशतीति सर्वं समञ्जसम् । अत ईक्षणिकर्म
परमात्मा ॥

इति भीशरीरकमीमांसाभाष्ये ईक्षतिकर्माधिकरणम् ॥ ३ ॥

भीशरीरकमीमांसाभाष्ये दहराधिकरणम् ॥ ५ ॥

दहर उत्तरेभ्यः । १ । ३ । १३ ॥

इदमामनन्ति छन्दोगाः १ “अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं
पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तर आकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं
तद्वाच विजिज्ञासितव्यम्” इति । तत्र सन्देहः—किमसी हृदय-
पुण्डरीकमध्यवर्ती दहराकाशो महाभूतविशेषः, उत प्रत्यगात्मा,
अथ परमात्मा—इति । किं तावदुक्तम् ? महाभूतविशेष इति ।
कुतः ? आकाशशब्दस्य भूताकाशे ब्रह्मणि च प्रसिद्धत्वेऽपि भूता-
काशे प्रसिद्धिप्रकरणात्, १ “तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्” इत्यन्वेष्ट-
व्यान्तरस्याधारतया प्रतीतेः ।

सिद्धान्तः ।

इत्येवं प्राप्तेऽभिधीयते—दहर उत्तरेभ्यः—दहराकाशः परं
ब्रह्म, कुतः ? उत्तरेभ्यो वाक्यगतेभ्यो हेतुभ्यः । २ “एष आत्माऽप-
हतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासस्सत्य-
कामस्सत्यसङ्कल्पः” इति निरुपाधिकात्मत्यमपहतपाप्मत्वादिकं
सत्यकामत्वं सत्यसङ्कल्पत्वं चेति दहराकाशे भूयमाणा गुणाः

बहुराकाशं परं ब्रह्मेति ज्ञापयन्ति । १ "अथ य इहात्मानमनुविद्य
ब्रजन्त्येतांश्च सत्यान्कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति"
इत्यादिना २ "यं कामं कामयते सोऽस्य सङ्कुल्पादेव समुत्तिष्ठति
तेन सम्पन्नो महीयते" इत्यन्तेन बहुराकाशवेदिनस्सत्यसङ्कुलत्व-
प्राप्तिश्चोच्यमानो बहुराकाशं परं ब्रह्मेत्यवगमयति । ३ "याद्यान्या
अयमाकाशस्तायानेगोऽन्तर्हृदय भाकाशाः" इत्युपमानोपमेयभावश्च
बहुराकाशस्य भूतोकाशत्वे नोपपद्यते । हृदयावच्छेदनिवन्धन उप-
मानोपमेयभाव इति चेन्,—तथा सति हृदयाग्रच्छिन्नस्य याया-
पृथिव्यादिसर्वाभ्यतथ नोपपद्यते ।

ननुच बहुराकाशस्य परमात्मत्वेऽपि बाह्याकाशोपमेयत्वं न
सम्भवति ४ "ज्यायानपृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षात्" इत्यादौ सर्व-
स्माज्ज्यायस्त्वभ्रवणात्—नैवम्, बहुराकाशस्य हृदयपुण्डरीकमध्य-
यतित्थप्राप्ताल्पत्यनिवृत्तिपरत्यावस्य वाक्यस्य; यथा अधिज्ञवेऽपि
सवितरि 'इषुयव्रज्यति सविता' इति वचनं गतिमान्यनिवृत्तिपरम् ।
अथ स्यान्—५ "एष आत्माऽपहतपाप्मा" इत्यादिना बहुराकाशो
न निर्दिश्यते ६ "बहरोऽस्मिन्नन्तर भाकाशस्तस्मिन्मदन्तस्तदन्वेष्ट-
व्यम्" इति बहुराकाशान्तर्बर्तिनस्ततोऽन्यस्यान्वेष्टव्यत्वेन प्रकृत-
त्यादिह ५ "एष आत्माऽपहतपाप्मा" इति तस्यैवान्वेष्टव्यस्य निर्देष्टुं
युक्तत्वात्; स्यादेतदेवम्, यदि भुतिरेव बहुराकाशं तदन्तर्बर्तिनं
च न व्यभाज्यत्; व्यभाज्जेत्तु सा; तथाहि ६ "अथ यदिदमस्मि-
न्नब्रह्मपुरे बहुरं पुण्डरीकं चेश्म बहरोऽस्मिन्नन्तर आकाशस्तस्मिन्म-
दन्तस्तद्व्येष्टव्यम्" इति ब्रह्मपुरशब्देनोपास्यतया सजिह्विनपर-
ब्रह्मणः पुरायेनोपासकशरीरं निर्दिश्य तन्मध्ययति च तद्व्ययव-
भूतं पुण्डरीकाकारमल्पपरिमाणं हृदयं परस्य ब्रह्मणो चेश्मनयाऽ-
भिधाय सर्वज्ञं सर्वशक्तिमाश्रितघातसर्वकजन्धमुपासकानुब्रह्मणः

तस्मिन् धेश्मनि सञ्ज्ञितं सूक्ष्मतया ध्येयं दहराकाशशब्देन निर्दिश्य
तदन्तर्गतत्वापहतपाप्मत्वाद्विस्वभावतो निरस्तनिश्चिन्नहेयत्वसत्यकाम-
त्वादिस्वाभाविकानवधिकातिशयकल्याणगुणजातं च ध्येयं १ "तदन्वेष्ट-
व्यम्" इत्युपदिश्यते । अतः १ "तदन्वेष्टव्यम्" इति तच्छब्देन दहरा-
काशम्, तदन्तर्गतिगुणजातं च परामृश्य तदुभयमन्वेष्टव्यमित्युपदि-
श्यते; १ "यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुरदरीकं धेश्मम्" इत्यनुद्य तस्मिन्
दहरपुण्डरीकधेश्मनि यो दहराकाशः, यश्च तदन्तर्गतिगुणजातम्,
तदुभयमन्वेष्टव्यमिति विधीयत इत्यर्थः । दहराकाशशब्दनिर्दिष्टस्य
परब्रह्मत्वं १ "तस्मिन्त्यदन्तः" इति निर्दिष्टस्य च तद्गुणत्वम्, तच्छब्दे-
नोभयं परामृश्योभयस्याप्यन्वेष्टव्यतया विधानं च कथमवगम्यत इति
चेत्—तद्वहितमनाशृणु - १ "यावान्वा अयमाकाशस्तावानेपोऽन्त-
र्हृदय आकाशः" इति दहराकाशस्यातिमहत्तामभिधाय १ "उभे अस्मि-
न् यावापृथिवी अन्तरेय समाहिते उभावग्निश्च वायुश्च सूर्याचन्द्रम-
साबुभौ विद्युन्नक्षत्राणि" इति प्रकृतमेव दहराकाशमस्मिन्निति निर्दि-
श्य तस्य सर्वजगदाधारत्वमभिधाय १ "यद्यास्येहास्ति यश्च नास्ति
सर्वं तदस्मिन्समाहितम्" इति पुनरप्यस्मिन्निति तमेव दहराकाशं
परामृश्य तस्मिन्मध्योपासकस्येहलोके यज्ञोग्यजातमस्ति, यश्च मनोर-
धमाल्लगोचरमिह नास्ति, सर्वं तज्ञोग्यजातमस्तिन्दहराकाशे समाहि-
तमिति निरतिशयभोग्यत्वं दहराकाशस्याभिधाय तस्य दहराकाशस्य
देहावयवभूतहृदयान्तर्गतत्वेऽपि देहस्य जराप्रभ्रंसादौ सत्यपि पर-
मकारणतयाऽतिसूक्ष्मत्वेन निर्विकारत्वमुक्त्या नन एव २ "एतत्स-
त्वं ब्रह्मपुरम्" इति तमेव दहराकाशं सत्यभूतं ब्रह्माख्यं पुरं निश्चिन्न-
जगदावास भूतमित्युपपाद्य २ "अस्मिन्कामास्समाहिताः" इति दहरा-
काशमस्मिन्निति निर्दिश्य काम्यभूताश्च गुणान्कामा इति निर्दिश्य
तेषां दहराकाशान्तर्गतत्वमुक्त्या तदेव दहराकाशस्य काम्यभूतकल्या-
णगुणविशिष्टत्वं तस्याऽदमत्यं च २ "एव आत्माऽपहतपाप्म" इत्या-
दिना २ "सत्यसङ्कल्पः" इत्यन्ततेन स्फुटीकृत्य २ "यथा होवेह प्रजा

अन्याधिगच्छन्ति" इत्यारभ्य ३ "तेषां सर्वेषु लोकेष्वेकामचारो भवति" इत्यन्तेन तद्विद् गुणाएकं तद्विशिष्टं दहराकाशशब्दनिर्दिष्टमात्मानं आधिदुयामेतद्व्यतिरिक्तमोग्यासिद्धयेच कर्म कुर्वतामन्तर्गतकलाघातिम-
सत्यसङ्कल्पत्यं चाभिधाय ३ "अथ य इहात्मादमनुविद्य ब्रजन्त्येतांश्च सत्यान्कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" इत्यादिना दहराका-
शशब्दनिर्दिष्टमात्मानं तदन्तर्गतमिदं काम्यभूतानपहतपाप्मत्वादिक्वा-
न्गुणान्वि जानतामुदारगुणसागरस्य तस्य परमपुरुषस्य प्रसादादेव सर्वकामावाप्तिस्सत्यसङ्कल्पता चोच्यते । अतो दहराकाशः परं ब्रह्म,
तदन्तर्गतिं चापहतपाप्मत्वादि काम्यगुणजातम्, तदुभयमन्वेष्टव्यं
विजिज्ञासितव्यमिति चोच्यते इति निश्चीयते । तदेतन्नाक्यकारोऽपि
स्पष्टयति १ "तस्मिन्त्यदन्तरिति कामव्यपदेशः" इत्यादिना । अत
एतेभ्यो हेतुभ्यो दहराकाशः परमेव ब्रह्म ॥ १३ ॥

गतिशब्दाभ्यां तथाहि दृष्टं लिङ्ग च । १ । ३ । १४ ॥

इतश्च दहराकाशः परं ब्रह्म २ "तद्यथा हिरण्यनिधिं निहि-
तमखिलं उपयुं परि सञ्चरन्तो न चिन्देयुरेवमेवेमास्सर्वाः प्रजा
अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न चिन्दन्त्यनृतेन हि प्रत्युदाः" इति
एतमिति प्रकृतं दहराकाशं निर्दिश्य तत्राहरहस्सर्वेषां क्षेत्रज्ञानां
गमनम्, गन्तव्यस्य तस्य दहराकाशस्य ब्रह्मलोकशब्दनिर्देशश्च
दहराकाशस्य परब्रह्मतां गमयतः । कथमनयोरस्य परब्रह्मत्वसाधक-
त्वमित्यत आह—तथाहि दृष्टम्—इति । परस्मिन्ब्रह्मणि सर्वेषां
क्षेत्रज्ञानामहरहस्सुपुनिकाले गमनमन्यत्राभिधीयमानं दृष्टम्—
३ "एथमेव खलु साम्येमास्सर्वाः प्रजास्सति सम्पद्य न विदुस्सति
सम्पत्स्यामहे इति" इति "सत आगम्य न विदुस्सत आगच्छामहे

इति" इति च । तथा ब्रह्मलोकशब्दश्च परस्मिन्ब्रह्मणि द्रष्टुः १ "एष ब्रह्मलोकः सप्ताडित्तितोवाच" इति । मा भूदग्न्यत्र ब्रह्मणि गमन-
दर्शनम् । एतदेव तु बहाराकाशे सर्वेषां क्षेत्रज्ञानां प्रलयकाल इव
निरस्तनिखिलदुःखानां सुषुप्तिकालेऽवस्थानं श्रूयमाणमस्य पर-
ब्रह्मत्वे पर्याप्तं लिङ्गम् ; तथा ब्रह्मलोकशब्दश्च समानाधिकरणवृत्त्या-
ऽस्मिन्बहाराकाशे प्रयुज्यमानोऽस्य ब्रह्मत्वे प्रयोगान्तरनिरपेक्षं पर्याप्तं
लिङ्गमित्याह—लिङ्गं च—इति । निपादस्यपत्तिन्यायाच्च पट्टीसमासा-
त्समानाधिकरणसमासो भ्याप्यः ।

अथवा २ "अहरहर्गच्छन्त्यः" इति न सुषुप्तिविषयं गमन-
मुच्यते, अपित्यन्तरात्मत्वेन सर्वदा वर्तमानस्य बहाराकाशस्य
परमपुरुषार्थभूतस्योपर्युपर्यहरहर्गच्छन्त्यः सर्वस्मिन्काले वर्तमानः ।
तमजानत्यस्तं न विन्दन्ति—न लभन्ते, यथा हिरण्यनिधिं निहितं
तत्स्थानमजानानास्तदुपरि सर्वदा वर्तमाना अपि न लभन्ते, तद्वदि-
त्यर्थः । सेयमेवमन्तरात्मत्वेन स्थितस्य बहाराकाशस्योपरि तत्क्षिप-
मितानां सर्वासां प्रजानामजानतीनां सर्वदा गतिरस्य बहाराकाशस्य
परब्रह्मतां गमयति । तथाहान्यत्र परस्य ब्रह्मणोऽन्तरात्मतयाऽ-
वस्थितस्य स्वनियाम्याभिस्त्वस्मिन्वर्तमानाभिः प्रजाभिरयेदं द्रष्टुम् ।
यथा अन्तर्यामिब्राह्मणे ३ "य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा
न चेद् यस्याऽत्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति" इति ४ "अ-
द्रष्टो द्रष्टा अधृतश्श्रोता" इति च । मा भूदग्न्यत्र दर्शनम् ; स्वयमेव
त्विषं निधिद्रष्टान्तावगतपरमपुरुषार्थभावस्यास्य हृदयस्थस्योपरि
तदाधारतयाऽहरहस्सर्वदा सर्वासां प्रजानामजानतीनां गतिरस्य
परब्रह्मत्वे पर्याप्तं लिङ्गम् ॥ १४ ॥

इतश्च बहाराकाशः परं ब्रह्म—

धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः । १ । ३ । १५ ।

५ "अथ य आत्मा" इति प्रकृतं बहाराकाशं निर्विशयं ५ "स

सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसम्भेदाय" इत्यस्मिन्नगद्विधरणं भूयमाणं
 वहराकाशस्य परब्रह्मतां गमयति; जगद्विधरणं हि परस्य ब्रह्मणो
 महिमा १ "एष सर्वेश्वर एष सर्वभूताधिपतिरेष भूतपाल एष
 सेतुर्विधरण एषां लोकानामसम्भेदाय" इति, २ "एतस्य वा
 अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः" इत्यादि-
 भ्यः । स चायं तस्य परस्य ब्रह्मणो धृत्याख्यो महिमाऽस्मिन्दहरा
 काश उपलभ्यते; अतो वहराकाशः परं ब्रह्म ॥ १५ ॥

प्रसिद्धेश्च । १ । ३ । १६ ॥

आकाशशब्दश्च परस्मिन्ब्रह्मणि प्रसिद्धः ३ "को ह्येषाऽन्या-
 त्कः प्राण्यात् । यदेव आकाशं जानन्दो न स्यात्" ४ "सर्वाणि ह
 वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते" इत्यादिषु; अपहतपाप्म-
 त्वाद्विगुणसनाथा प्रसिद्धिर्भूताकाशप्रसिद्धेर्षलीयसीत्यभिप्रायः ॥ १६ ॥

एषं तावद्दहराकाशस्य भूताकाशत्वं प्रनिश्चितम् । अथेदानीं
 दहराकाशस्य प्रत्यगात्मत्वमाशङ्क्य निराकर्तुमुपक्रमते—

इतरपरामर्शात्स इति चेन्नासम्भवात् । १ । ३ । १७ ॥

यदुक्तं चाक्षयशेषशब्दद्वाराकाशः परं ब्रह्मेति, तदयुक्तम्,
 चाक्षयशेषे परस्मादितरस्य जीवस्यैव साक्षात्परामर्शान् ५ "अथ
 य एष सम्प्रसाधोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य
 स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते एष आत्मेनिहोवाच एतद्वृत्तमभयमेतद्ब्रह्म"
 इति । यद्यपि ६ "वहरोऽस्मिन्नन्तर आकाशः" इति हृदयपुण्डरीक-

१. बृ. १-४-२३ ॥

२. तै. आन. ७ ॥

३. बृ. ८-३-४ ॥

४. बृ. १-८-३ ॥

५. बृ. १-४-१ ॥

६. बृ. ८-१-१ ॥

मध्यवर्तितयोपदिष्टस्याकाशस्योपमानोपमयभावाद्यसम्भवादुभूताका-
शस्य न सम्भवति, तथापि वाक्यशेषवशात्पत्यगात्मत्वं युक्तमाध्यायि-
तम् । आकाशशब्दाऽपि प्रकाशादियोगाज्जीव एव वर्तिष्यत इति
चेत्—अत्रोत्तरं—नासम्भवात्—इति । नायं जीवः; नह्यपहतपाप्म-
त्वादयो गुणा जीवे सम्भवन्ति ॥ १७ ॥

उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु । १ । ३ । १८ ॥

उत्तरात्—प्रजापतिवाक्यात्, जीवस्यैवापहतपाप्मत्वादि-
गुणयोगो निश्चीयत इति चेत्—एतदुक्तं भवति—प्रजापतिवाक्यं
जीवपरमेव, तथाहि ? “य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्यु-
र्विशोको विजिघत्सोऽपिपासस्तत्यकामस्तत्यसङ्गस्त्यस्सोऽग्वेष्ट्य-
स्त विजिज्ञासिष्यस्त सर्वाश्च लोकानाम्रोति सर्वाश्च कामान्यस्त-
मात्मानमनुविद्य विजानाति” इति प्रजापतियचनमैतिह्यरूपेणोपधु-
त्यान्वेष्टव्यात्मस्वरूपजिज्ञासया प्रजापतिमुपसेवुपे मघवते प्रजा-
पतिर्जागरितस्वप्नसुषुप्त्ययस्य जीवात्मानं सशरीरं क्रमेण शुभ्र-
पुण्यगतापरीचिक्षिपयोपदिश्य तन्नतन्न भोग्यमपश्यते परिशुद्धा-
त्मस्वरूपोपदेशयोग्याय तस्मै मघवते २ “मघवन्मर्त्यं वा इदं
शरीरमात्तं मृत्युना तवस्यामृतस्याशरीरस्यात्मनोऽधिष्ठानम्” इति
शरीरस्याधिष्ठानतामात्मनश्चाधिष्ठातृतामशरीरस्य च तस्यामृत-
त्वस्वरूपतां चोक्त्वा २ “न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोर-
पहतिरस्ति । अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः” इति
कर्मारब्धशरीरयोगिनस्तदनुगुणसुखदुःखभागित्यरूपानर्थं नहिमोक्षेच
तदभायमभिधाय ३ “एवमेवैष सम्पासादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय
परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते” इति जीवात्मन-
स्वरूपमेव शरीरविद्युक्तमुपदिदेश । ४ “स उत्तमः पुरुषः स तन्न

पर्येति जक्षत्कीडवममाणः स्त्रीमिर्वा यानैर्वा क्वातिमिर्वा नोपजनं
 स्मरन्निदं शरीरम्' इति प्राप्यस्य परस्य ज्योतिषः पुरुषोत्तमत्वम्,
 निवृत्ततिरोधानस्य परं ज्योतिरूपसम्पन्नस्य प्रत्यगात्मनो ब्रह्मलोके
 यथेष्टमोगात्तातिम्, प्रियाप्रियावियुक्तकर्मनिमित्तशरीराद्यपुरुषार्थाननु-
 सन्धानं चाभिधाय १ "स यथा प्रयोग्य आचरणे युक्त एवमस्मिन् शरीरे
 प्राणो युक्तः" इति यथोक्तस्वरूपस्यैव संसारवशायां कर्मतन्त्रं शरीरयोगं
 युग्यशक्त्ययोगद्वयान्तेनाभिधाय २ "अथ यत्तदकाशमनुविषयतां
 चक्षुस्स चाक्षुषः पुरुषो दर्शनाय चक्षुरथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स
 आत्मा गन्धाय घ्राणमथ यो वेदेदमभिव्याहराणीति स आत्माऽभिव्य-
 हारय घागय यो वेदेदं शृण्वानोति स आत्मा श्रवणाय श्रोत्रम् ।
 अथ यो वेदेदं मन्यानीति स आत्मा मनोऽस्य दैवं चक्षुः" इति
 चक्षुरादीनां करणत्वं रूपादीनां ज्ञेयत्वमस्य च घातृत्वं प्रदर्श्य तत-
 एव शरीरेन्द्रियभ्योऽस्य व्यतिरेकमुपपाद्य ३ "स चा एव एतेन
 दिव्येन चक्षुषा मनसैतान्कामान्पश्यन्नमते य एते ब्रह्मलोके" इति
 तस्यैव विधूतकर्मनिमित्तशरीरेन्द्रियस्य मनश्शब्दाभिहितेन दिव्येन
 स्वाभाविकेन ज्ञानेन सर्वकामानुभवमुक्त्या ३ "तं वा एतं देवा
 आत्मानमुपासन्ते तस्मात्तेषां सर्वे च लोका आता-स्सर्वे
 च कामाः" इत्येवंविधमात्मानं ज्ञानिनो जानन्तीत्यभिधाय
 ३ "सर्वांश्च लोकानामोति सर्वांश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजा-
 नानोति ह प्रजापतिरुवाच" इत्येवंविधमात्मानं विदुषस्सर्वलोकसर्व-
 कामावाप्स्युपलक्षितं ब्रह्मानुभवं फलमभिधायोपसंहृतम् । अतस्त्वप-
 हतपाप्मत्वादि गुणको ज्ञानव्यनया प्रकान्तो जीव एवेत्यवगतम् ।
 अतो जीवस्यापहतपाप्मत्वादयस्स सम्भवन्ति । अतो बहुरवाक्यशेषे
 श्रूयमाणस्य जीवस्यापहतपाप्मत्वादिगुणसम्भवात्स एव बहुराकाश
 इति निश्चीयते—इति चेत्—इति ॥

—(सिद्धान्तः)—

तत्राह—आविर्भूतस्वरूपस्तु—इति । पूर्वमनृततिरोहितापह-
तपाप्मत्वादिगुणस्वरूपः पञ्चाद्विमुक्तकर्मबन्धशरीरात्समुत्थितः
परं ज्योतिरुपसम्पन्न आविर्भूतस्वरूपस्सन्नपहतपाप्मत्वादिगुणविशि-
ष्टस्तत्र प्रजापतिवाक्येऽभिधीयते ; दहरवाक्ये त्वतिरोहितस्वभावाप-
हतपाप्मत्वादिविशिष्ट एव दहराकाशः प्रतीयते । आविर्भूतस्वरूप-
स्यापि जीवस्यासम्भावनीयास्सेतुत्वसर्वलोकविधरणत्यादयस्सत्य-
शब्दनिर्वचनायगतं चेतनाचेतनयोर्नियन्तृत्वं दहराकाशस्य परब्रह्मतां
साधयन्ति । सेतुत्वसर्वलोकविधरणत्यादय आविर्भूतस्वरूपस्यापि न
सम्भवन्तीति १“जगद्धवापारधर्जम्” इत्यत्रोपपादयिष्यामः ॥१८॥

यथेवम्, दहरवाक्ये २“अथ य एष सम्प्रसादः” इत्यादिना
जीवप्रस्तावः किमर्थः—इति चेत्—तत्राह—

अन्यार्थश्च परामर्शः । १ । ३ । १९ ॥

दहराकाशस्यैवापहतपाप्मत्वजगद्विधरणत्यादिविमुक्तस्य तदु-
पसम्पत्त्याऽपहतपाप्मत्वादिकल्याणगुणविशिष्टस्वाभाधिकरूपप्राप्तिक-
थनेन तद्धेतुत्वरूपं परमपुरुषासाधारणं गुणमुपवेष्टुं प्रजापतिवाक्यां-
कस्य जीवस्यात्र परामर्शः ; प्रजापतिवाक्ये च मुक्तात्मस्वरूपयाथा-
त्म्यविज्ञानं दहरविद्योपयोगितयोक्तम् ; ब्रह्मप्रेप्सोर्हि जीवात्मनस्स्व-
रूपं च ज्ञातव्यमेव ; स्वयमपि कल्याणगुण एव सन्नवधिकातिश-
यासंबन्धेयकल्याणगुणगणं परं ब्रह्मानुमविध्यतीति ब्रह्मोपासनफला-
न्तर्गतत्यात्स्वरूपयाथात्म्यविज्ञानस्य । ३“सर्वांश्च लोकानाम्रोति सर्वां-
श्च कामान्” ४“स तत्र पर्येति जक्षत्क्रीडन्” इत्यादिकं प्रजापतिवाक्ये
कीर्त्यमानं फलमपि दहरविद्याफलमेव ॥१९॥

अप्रत्याश्रुतेरिति चेत्तदुक्तम् । १ । ३ । २० ॥

१“दहरोऽस्मिन्” इत्यल्पपरिमाणभुनिरारागोपमितस्य जीव-
स्वीवोपपद्यते, न तु सर्वसाञ्ज्यायसो ब्रह्मण इति चेत्-तत्र यदुत्तरं
वक्तव्यम्, तत्पूर्वमेवोक्तं २“निचाप्यत्वादेवम्” इत्यनेन । अतो दह-
राकाशो ऽनाध्यानाधिद्याद्यशेषदोषगन्धः स्वाभाविकनिर्दिशयज्ञानब-
लैर्ध्वर्यवीर्यशक्तितेजःप्रभृत्यपरिमितोदारगुणसागरः पुरुषोत्तम एव ।
प्रजापतिवाक्यनिर्दिष्टस्तु ३“अन्ति त्वेयं नं चिच्छादयन्ति” इत्येवमा-
दिभिरवगतकर्मनिमित्तदेहपरिग्रहः पश्चात्परञ्ज्योतिरूपसम्पत्त्याऽऽवि-
र्भूतापहतपाप्मत्वादिगुणस्वरूप इति न दहराकाशः ॥२०॥

इतश्चैतदेवम्—

अनुकृतेस्तस्य च । १ । ३ । २१ ॥

तस्य—दहराकाशस्य परस्य ब्रह्मणः, अनुकारात्—अयमप-
हतपाप्मत्वादिगुणको विमुक्तबन्धः प्रत्यगात्मा न दहराकाशः । तद-
नुकारः तत्साम्यम् । तथाहि प्रत्यगात्मनो विमुक्तस्य परब्रह्मानुकारः
इधूयने ४“यदा पश्यः पश्यने रुक्मघर्णं कर्तारमीरां पुरुषं ब्रह्मयोनिम् ।
तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति” इति ।
अतोऽनुकर्ता प्रजापतिवाक्यनिर्दिष्टः । अनुकार्यं ब्रह्म दहराकाशः ॥२१॥

अपि स्मर्यते । १ । ३ । २२ ॥

संसारिणोऽपि मुक्तावस्थायां परमसाम्यापत्तिलक्षणः परब्रह्मा-
नुकारः स्मर्यते ५“इदं ज्ञानमुपाधित्य मम साधर्म्यमागताः । सर्वे-
ऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च” इति ॥

१. वा. ८-१-१ ॥

३. वा. ८-१०-२ ॥

४. गी. १४-२ ॥

२. शारी. १-१-७ ॥

४. वा. ३-१-३ ॥

केचित्—'अनुकृतेस्तस्यच' 'अपि स्मर्यते' इति सूत्रद्वयमधिकरणान्तरं १ "तमेव भान्तमनुभाति सधं तस्य भासा सधमिदं विभाति" इत्यस्याश्रुतः परब्रह्मपरत्वनिर्णयाय प्रवृत्तं वदन्ति । तच्च—
२ "अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तिः" ३ "बुभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात्" इत्यधिकरणद्वयेन तस्य प्रकरणस्य परब्रह्माधिपत्यप्रतिपादनात्
४ "ज्योतिश्चरणाभिधानात्" इत्यादिषु परस्य ब्रह्मणो भारूपत्वाय-
गतेश्च पूर्वपक्षानुत्थानाद्युक्तम् ; सूत्राक्षर ५ धैर्यं च ॥२२॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये दहराधिकरणम् ॥ ४ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये प्रतिमाधिकरणम् ॥ ६ ॥)

शब्दादेव प्रमितः ॥१॥३॥२॥३॥

कठवल्लीषु भूयते ६ "अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य भात्मनि तिष्ठति । ईशानो भूतमन्यस्य न ततो विजुगुप्सते । एतद्वै तत्" ७ "अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिषाधूमकः । ईशानो भूतमन्यस्य स एवाय स उ भवः । एतद्वै तत्" ८ "अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः । तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवैषांकां धैर्येण । तं विद्या-
च्छुक्रममृतम्" इति । तत्र सन्निविष्टे—किमयमङ्गुष्ठमात्रप्रमितः प्रत्य-
गात्मा, उत परमात्मा—इति । किं युक्तम् ? प्रत्यगात्मेति । १. कृतः ?
जायस्यान्यत्राङ्गुष्ठमात्रत्वश्रुतः ६ "प्राणाधिपस्सञ्चरति स्वकर्मभिः ।
अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः सङ्कल्पाहङ्कारसमन्वितो यः" इति ।

१. सु. २-२-१० ॥

२. शारी. १-२-२२ ॥

३. शारी. १-३-१ ॥

४. शारी. १-१-२४ ॥

५. वैकल्याण. पा ॥

६. कठ. २-४-१२ ॥

७. कठ. २-४-१३ ॥

८. कठ. २६-१७ ॥

९. खे. २-८-७ ॥ १०. 'विधाधिप' इत्यादि पा ॥

नचान्यत्रोपासनार्थतयाऽपि परमात्मनोऽङ्गुष्ठमात्रत्वं ध्रूयते । एवं निश्चिते जीवत्वे ईशानत्वं शरीरेन्द्रियमोक्षभोगोपकरणापेक्षयाऽपि भविष्यति ॥

सिद्धान्तः ।

इति प्राप्ते प्रमः—शब्दादेव प्रमितः—भङ्गुष्ठप्रमितः परमात्मा, कुतः ? १ “ईशानो भूतभण्यस्य” इति शब्दादेयः, न च भूतभण्यस्य सत्यस्येशितृत्वं कर्मपरवशस्य जीवस्योपपद्यते ॥ २३ ॥

कथं तर्हि परमात्मनोऽङ्गुष्ठमात्रत्वमित्यत्राह—

हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात् । १।३।२४॥

परमात्मन उपासनार्थमुपासकहृदये वर्तमानत्वावुपासकहृदयस्याङ्गुष्ठप्रमाणत्वात्तदपेक्षयेदमङ्गुष्ठप्रमितत्वमुपपद्यते, जीवस्याप्यङ्गुष्ठप्रमितत्वं हृदयान्तर्धर्तित्वात्तदपेक्षमेव, तस्याराप्रमात्रत्वध्रुतेः । मनुष्याणामेवोपासकत्वसम्भावनया शास्त्रस्य मनुष्याधिकारत्वान्मनुष्यहृदयस्य च तत्तदङ्गुष्ठप्रमितत्वात्परतुरगमुजगादीनामनङ्गुष्ठप्रमितत्वेऽपि न कश्चिदुपः स्मितं तावदुत्तरत्रसमापयिष्यते ॥ २४ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसा. माप्ये प्रतिमाधिकरणम् ॥ ६ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये एतद्गर्भे देवताधिकरणम् ॥ ७ ॥)

तदुपर्यपि बादरायणस्सम्भवात् । १ । ३ । २५ ॥

परस्य ब्रह्मणोऽङ्गुष्ठप्रमितत्वोपपत्तये मनुष्याधिकारं ब्रह्मोपासनशास्त्रमित्युक्तम् । तत्प्रसङ्गेनेदानां ब्रह्मविद्यायां देवादीनामप्यधिकारोऽस्ति नास्तीति विचार्यते । किं तावदुक्तम् ? नास्ति देवादीनामधिकार इति । कुतः ? सामर्थ्याभावात्, नह्यशरीराणां देवादीनां विधेकविमोकादिसाधनसप्तकानुगृहीतब्रह्मोपासनोपसंहारसामर्थ्यम-

स्ति । नच देवादीनां सशरीरत्वे प्रमाणमुपलभामहे । यद्यापि परिनि-
ष्पन्नेऽपि यस्तुनि व्युत्पात्तसम्भावनायां यद्वान्तवाक्यानि परे ब्रह्मणि
प्रमाणमावमनुभवन्ति; तथापि देवादीनां विग्रहवत्प्रतिपादनपरं न
किञ्चिदपि वाक्यमुपलभ्यते । मन्त्रार्थवादास्तु कर्मविधिशेषतयाऽन्य-
परत्वाच्च देवादिविग्रहसाधने प्रभवन्ति । कर्मविधयश्च स्वापेक्षितोद्दे-
श्यकारकत्वातिरेकि देयतागतं किमपि न साधयन्ति । अतएव तासा-
मर्थित्वमपि न सम्भवति । अतस्सामर्थ्यार्थित्वयोरभावाद्देवादीना-
मनधिकार इति ॥

सिद्धान्तः ।

एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे—तदुपर्यपि चादरायणस्सम्भवात्—तदु-
पर्यपि—तत् ब्रह्मोपासनम्, उपरि—देवादिष्वपि, सम्भवतीति
भगवान्यादरायणो मन्यते, तेषामर्थित्वसामर्थ्ययोस्सम्भवात् ।
अर्थित्वं तावदाध्यात्मिकादिवृत्त्यपहङ्गुः श्रमितापात्परस्मिन्ब्रह्मणि च
निरस्तनिखिलदोषगन्धेऽनवधिकातिशयासङ्ख्येयकल्याणगुणगणे नि-
रतिशयमोग्यत्वादिदानाच्च सम्भवति । सामर्थ्यमपि पटुतरदेहेन्द्रि-
यादिमत्तया सम्भवति । देहेन्द्रियादिमत्स्यञ्च ब्रह्मादीनां सकलोपनि-
पत्सु सृष्टिप्रकरणेषूपपासनप्रकरणेषु च धूयते । तथाहि १ “सदेव
सोम्येदमग्र आसीत्” १ “तदैक्षत यद्वा स्यां प्रजायेयेति तत्तेजो-
ऽसृजत” इत्यादिभ्यः सर्वमचेतनं तेजोवत्प्रमुखाद्यस्याविशेषवद्वा-
क्यं २ “अनेन जीवेनाऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरयाणि”
इति सङ्कल्प्य ब्रह्मादिस्वावरान्तं चतुर्विधं भूतजातं नत्तत्कर्माचित-
शरीरं तदुन्नितनाममाकवायमकरोदित्युक्तम् । एवं सर्वत्र सृष्टिवा-
क्येषु देवनिर्गुणमुपस्थाचरात्मना चतुर्विधा सृष्टिरास्त्रायते । देवा-
दिभेदश्च तत्तत्कर्मानुगुणब्रह्मलोकप्रभृतिचतुर्दशलोकस्थफलभागयोग्य-
देहेन्द्रियादियोगायत्तः, आत्मनां स्वनो देवादित्वाभावात् । तथा
३ “तज्जोभये देवासुरा अनुबुबुधिरे ते होयुः... इन्द्रो हव्यं देवानाम-

भिप्रवधाज धिरोचनोऽसुराणां नौ हासंविदानायेव समित्पाणी
 प्रजापतिसकाशमाजगमतुः" १" नौ ह द्वात्रिंशतं वर्गाणि ब्रह्मचर्य-
 मूपनुः तौ ह प्रजापतिरुवाच" इत्यादिना स्पष्टमेव शरीरेन्द्रिय
 यस्व देवादीनां प्रतीयते । कर्मविधिशेषभूतमन्त्रार्थवादेऽपि २ "व-
 ज्रहस्तः पुरन्दरः" ३ "तेनेन्द्रो यजमुदयच्छत्" इत्यादिभिः प्रतीयमानं
 विप्रहादिमन्त्रं प्रमाणान्तराविरुद्धं तत्प्रमेयमेव । नचानुष्ठेयार्थ-
 प्रकाशनस्तुतिपरत्वाभ्यां प्रतीयमानार्थान्तराविवक्षा शक्यते वक्तुम्,
 स्तुत्याद्युपयोगित्वात्तेन विना स्तुत्याद्यनुपपत्तेः । गुणकथनेन हि
 स्तुतित्वम् । गुणानामसङ्गावे स्तुतित्वमेव हीयेत । नचासता गुणैर-
 कथितेन प्ररोचना जायते । अतः कर्म प्ररोचयन्तो गुणमद्वायं बोध-
 यन्ति एवार्थवादाः । मन्त्राश्च कर्मसु विनियुक्तास्तन्नतन्न किञ्चित्कर-
 त्वायानुष्ठेयमर्थं प्रकाशयन्तो देवनादिगनविप्रहादिगुणविशेषमभिद-
 यन्ति एव तन्न किञ्चित्कुर्वन्ति, अन्यथेन्द्रादिस्मृत्यनुपपत्तेः । नच
 निर्दिशेवा देवता धियमधिरोहति । तन्न प्रमाणान्तराप्रोक्तान्गुणान्
 स्वयमेव बोधयित्वा तैः कर्म प्ररोचयन्ति; गुणविशिष्टं वा प्रकाश-
 यन्ति; प्रोक्तांश्चानूय तैः प्ररोचनप्रकाशने कुर्वन्ति; विरुद्धत्वे तु
 तद्वाचिभिश्चाद्वैरविरुद्धान्गुणान् लक्षयित्वा कुर्वन्ति । कर्मविधेः
 देवनाया पेक्ष्यमपेक्षितमेव । कामिनः कर्तव्यतया कर्म विधीयमानं
 स्वयं क्षणप्रभंस्ति कालान्तरभाविनः फलस्य सगादेस्ताधिकमपेक्षते ।
 मन्त्रार्थवादयोश्च ४ "वायुर्ध्वं क्षेपिष्ठा देवना वायुमेव स्वेन भागधेये-
 नोपधायति स एवेनं भूतिं गमयति" ५ "यदनेन हविषाऽऽशास्ते
 तदश्वात्तद्व्यात्तदस्मै देवा राधन्ताम्" इत्यादिषु देवनायाः कर्मणा-
 ऽऽराधितायाः फलदायित्वं तदनुगुणं चैश्वर्यं प्रतीयमानमपेक्षितत्वेन
 वाक्यार्थं समन्वयने । देवपूजाभिधायिनो यजिष्ठातोश्च यागाख्यं
 कर्म स्वाराध्यदेवताप्रधानं प्रतीयते । तदेवं कृत्स्नवाक्यपर्यालोचनया
 वाक्यादेव विध्यपेक्षितं सर्वमयगत्रमिति नापूर्वादिकं व्युत्पत्तिसम-

१. का. ८-७-१ ॥

२. अष्टक. २. प्रश्न १. अनु. ७. पं. १७॥

३. काण्ड. २. प्रश्न ४. अनु. १२॥ ४. यजु. काण्ड २-प्रश्न. १-अनु. १५. १॥

५. अष्टक. प्रश्न. ६ ॥ तै. ब्रा. ३. १०. ३. ५०५. २५०. २०॥

यानयगतं कर्मविधिष्वभिधेयतया कल्प्यतया वाऽऽश्रयितव्यम् ।
तथा सङ्कीर्णब्राह्मणमन्त्रार्थवादमूलेषु धर्म शास्त्रेतिहासपुराणेषु
ब्रह्मादीनां देवासुरप्रभृतीनां च देहेन्द्रियादयस्त्वमायमेदाः स्थानानि
भोगाः कृत्यानिचेत्येवमादयस्सुव्यक्ताः प्रतिपाद्यन्ते । अतो विग्रहा-
दिमत्त्वाद्देवानामप्यधिकारोऽस्त्येव ॥ २५ ॥

विरोधः कर्मणीति चेन्नानेक
प्रतिपत्तेर्दर्शनात् । १ । ३ । २६ ॥

देवादीनां विग्रहादिमत्त्वाभ्युपगमे कर्मणि विरोधः प्रसज्यते,
बहुषु यागेषु युगपदेकस्येन्द्रस्य विग्रहवस्ये १ “अग्निमग्न आचह”
२ “इन्द्रागच्छ हरिच आगच्छ” इत्यादिना आहूतस्य तस्य सन्निधा-
नानुपपत्तेः । दर्शयति चान्यादीनां तत्रतत्रागमनं ३ “कस्य वाह
देवा यज्ञमागच्छन्ति कस्य वा न बहूनां यजमानानां यो वै देवताः
पूर्वः परिगृह्णाति स एनाश्वाभूने यज्ञने” इति । अतो विग्रहादिमत्त्वे
कर्मणि विरोधः प्रसज्यत इति चेत्, तन्न—अनेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात्—
दृश्यतेहि सौमरिप्रभृतीनां शक्तिमतां युगपदेकशरीरप्रतिपत्तिः ॥ २६ ॥

शब्द इति चेन्नातः प्रभवा
त्प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् । १ । ३ । २७ ॥

विरोध इति वर्तते । मा भूत्कर्मणि विरोधोऽनेकशरीरप्रतिपत्तेः ।
शब्दे तु वैदिके विरोधः प्रसज्यते, अनित्यार्थसंयोगात् । विग्रहवस्ये
हि सावयवत्वेनेन्द्रादेरर्थस्यानित्यत्वमनिवार्यम् । नतो देवदत्तादिश-
ब्दवदिन्द्राद्यर्थजन्मनः प्राग्विनाशादुच्येन्द्रादिशब्दानां वैदिकानाम-
र्थशून्यत्वमनित्यत्वं वा चेदस्य स्यादितिचेत्—तन्न, भनः प्रभवात्—
अस्मादिन्द्रादिशब्दादेव पुनः पुनरिन्द्राद्यर्थस्य प्रभवात् । एतदुक्तं

भवति-नहि देवदत्तादिशब्दवदिन्द्रादिशब्दा वैदिका व्यक्तिविशेषभावे
सङ्केतपूर्वकाः प्रवृत्ताः; अपि तु स्वभावत एव गवादिशब्दवदाकृति-
विशेषव्याप्तिवत्त्वेन । ततश्चैकस्यामिन्द्रव्यक्तौ धिनष्टायामन एव वैदि-
कादिन्द्रशब्दान्मनसि विपरित्यक्तमानाद्व्यगततद्वाच्यभूतंन्द्रासार्थाकारो
धाता तदाकारमेवापरमिद्रं सृजति; यथा कुलाख्यो घटशब्दान्मनसि
विपरित्यक्तमानासदाकारमेव घटम्-इति । कथमिदमवगम्यते ? प्रत्य-
क्षानुमानाभ्यां-ध्रुतिस्मृतिभ्यामित्यर्थः । ध्रुतिस्तावत् १ "वेदेन रूपे
व्याकरोत्सतासतो प्रजापतिः" इति; तथा २ "स भूरिति व्याहरत् स
भूमिमसृजत स भुव इति व्याहरत् सोऽन्तरिक्षमसृजत" इत्यादि ।
वाचकशब्दपूर्वकं तत्तदर्थसंस्थानं स्मरन् तत्तत्संस्थानविशिष्टं तन्तमर्थं
सृष्टयानित्यर्थः । स्मृतिरपि ३ "अनादिनिधना एषो वायुस्तृष्टा
स्वयंभुवा । आदौ वेदमयी दिव्या यतस्सर्पाः प्रसृतयः" इति; ४ "सर्वे-
षां तु स नामानि कर्माणिच पृथक्पृथक् । वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्
संस्थाः च निर्ममः" इति । संस्थाः संस्थानानि रूपाणीति यावत् ; तथा
५ "नामरूपं च भूतानां कृत्यानां च प्रपञ्चनम् । वेदशब्देभ्य एवादौ
देवादीनां चकार सः" इति । अतो देवादीनां विग्रहवत्त्वेऽपि वैदिक-
शब्दानामानर्थक्यं, वेदस्यादिमत्त्वं च न प्रसज्यते ॥ २७ ॥

अत एव च नित्यत्वम् । १ । ३ । २८ ॥

यत एवेन्द्रवसिष्ठादिशब्दानां देवर्षिवाचिनां तत्तदाकारवा-
चित्यं, तत्तच्छब्देन तत्तदर्थस्मृतिपूर्विकाच्च तत्तदर्थसृष्टिः, तत एव
३ "मन्त्रकृतो वर्णान्ते" ४ "नम ऋषिभ्यां मन्त्रकृद्भयः" ५ "अयं सां
मक्षिरिति विध्वामित्रम्य सूक्तं भवति" इत्यादिभिर्ब्रह्मसिद्धादीनां
मन्त्रकृत्स्वकाण्डकृत्स्वकृत्पितृवादी प्रतीयमानेऽपि वेदव्य नित्यत्वमुपप-
द्यते । एभिरेव ३ "मन्त्रकृता वर्णान्ते" इत्यादिभिर्ब्रह्मसिद्धादीनां
मन्त्रकृत्स्वकाण्डकृत्स्वकृत्पितृवादी प्रतीयमानेऽपि वेदव्य नित्यत्वमुपप-
द्यते ।

१. घट. २. प्रन. ३. अनु. २. पं. ७॥

३. मनु. अ. १. श्लो. २१ ॥

४. वि. पु. अं. १. अ. ५. श्लो. १२४

५. आरण्य. प्रन. ७. अनु. १. पं. १ ॥

२. घट. २. प्रन. २. अनु. ४. पं. २१॥

३.

४.

५.

६. अनु. का. २. म. २. अनु. ३. पं. ३॥

सूक्तमन्त्रकृतामृषीणामाकृतिशक्त्यादिकं परामृश्य तत्तदाकारान्
तत्तच्छक्तियुक्तांश्च सृष्ट्वा प्रजापतिस्तानेव तत्तन्मन्त्रादिकरणे नियुक्ते ।
तेऽपि प्रजापतिना आहितशक्तयस्तत्तदनुगुणं तपस्तप्या नित्यसिद्धा-
न्पूर्वपूर्वयसिद्धादिदृष्टान् तानेव मन्त्रादाननधीत्यैव स्वरतो वर्णान्धा-
स्त्रलितान्पश्यन्ति । अतश्च वेदानां नित्यत्वमेपांच मन्त्रकृत्वमुपप-
द्यते ॥ २८ ॥

अथ स्यात्—नैमित्तिकप्रलयादिष्विन्द्राद्युत्पत्तौ वेदशब्देभ्यः
पूर्वपूर्वेन्द्रादिस्मरणेन प्रजापतिना देवादिःसृष्टिरुपपद्यतां नाम;
प्राकृतप्रलये तु स्रष्टुः प्रजापतेर्भूताद्यहङ्कारपरिणामशब्दस्यच विन-
ष्टत्वात्कथं प्रजापतेःशब्दपूर्विका सृष्टिरुपपद्यते; कथन्तरां विनष्टस्य
वेदस्य नित्यत्वम् । अतो येदनित्यत्ववादिना देवादीनां विग्रहचत्वा-
भ्युपगमेऽपि लोकव्यवहारस्य प्रवाहानादिताऽऽश्रयणीयेति । अत्रा-
न्तरं पठति—

समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात् स्मृतेश्च । १।३।२९॥

कृत्स्नोपसंहारे जगदुत्पत्त्यावृत्तावपि पूर्वोक्तात्समाननाम-
रूपत्वादेव न कश्चिद्विरोधः । तथाहि—स भगवान्पुरुषोत्तमः प्रल-
यावसानसमये पूर्वसंस्थानं जगत्स्मरन् १ “बहु स्याम्” इति सङ्कल्प्य
भोग्यभोक्त्वजातं स्वस्मिन् शक्तिमात्रावशेषं प्रलीनं विभज्य महदादि-
ग्रह्याण्डं हिरण्यगर्भपर्यन्तं यथापूर्वं सृष्ट्वा वेशांश्च पूर्वाञ्जुपूर्वाविशेषसं-
स्थितानाविष्कृत्य हिरण्यगर्भायोगविशेषं पूर्ववदेव देवाद्याकारजगत्सर्गं
तं नियुज्य स्वयमपि तदन्तरात्मतयाऽवतस्थे । अतो यथोक्तं सर्वमु-
पपद्यम् । एतदेव च येदस्यापौरुषेयत्वं नित्यत्वं च, यत्पूर्वपूर्वाधार-
णक्रमजनितसंस्कारेण तमेव क्रमविशेषं स्मृत्या तेनैव क्रमेणोच्चार्य-
त्वम् ; तदस्मात्सु सर्वेश्वरेऽपि समानम् । इयांस्तु विशेषः—संस्कारा-

नपेक्षमेव स्वयमेवांशुसन्धत्ते पुरुषोत्तमः । कृत इदं यथोक्तमवगम्यत
इति चेत्—तन्नाह—दर्शनात् स्मृतेश्च । दर्शनं तावत् १' यो ब्रह्माणं
विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च ग्रहिणीति तस्मै" इति । स्मृतिरपि
मानवी २"आसीद्विदं तमोभूतम्" इत्यारभ्य "सोऽभिध्याय शरीरा-
त्स्वादिमसृक्षुर्विविधाः प्रजाः । अथ एव ससर्जादौ तासु धीर्यमपास्व-
जत् ॥ तद्वण्डमभवच्चैमं सहस्रांशुसमप्रभम् । तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा
सर्वलोकपितामहः" इति । तथा पौराणिकी ३"तत्र सुतस्य नागौ
पद्ममश्रायत । तस्मिन्पद्मे महाभाग वेदवेदाङ्गपारगः ॥ ब्रह्मोत्पन्नस्त
तैन्नोकः प्रजास्वज महामते" ; तथा ४"परो नारायणो देवस्तस्माज्जा-
तश्चतुर्मुखः" इति । तथा ५"आदिसर्गमहं वक्ष्ये" इत्यारभ्योच्यते—
६"सृष्ट्वा नारं तोयमन्तस्त्वितोऽहं येन स्यान्मे नाम नारायणेति ।
कन्पेक्षरूपे तत्र शयामि भूयस्सुतस्य मे नामिजं स्याद्यथाऽञ्जम् ॥
एवंभूतस्य मे देवि नामिपक्षे चतुर्मुखः । उत्पन्नस्त मया शोकः
प्रजास्वज महामते" इति ॥

अतो वेदादीनामप्यर्णित्यसामर्थ्ययोगाद्ब्रह्मविद्यायामधिका-
रोऽस्तीति सिद्धम् ॥ २६ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये देयनाधिकरणम् ॥ ७ ॥

—*(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये मध्वधिकरणम्)—

—*:(पूर्वपक्ष सू०) :—

मध्वादिष्वसम्भवादनधिकारं जैमिनिः । १।३।३०॥

ब्रह्मविद्यायां वेदादीनामप्यधिकारोऽस्तीत्युक्तम् ; इदमिदानीं

चिन्त्यने येनूपासनेषु या देवता एवोपास्यास्तेषु तासामधिकारोऽस्ति न इति, किं प्राप्तम् ? नास्त्यधिकारस्तेषु मध्वादिष्विति जैमिनिर्मन्यते; कुतः असम्भवान्—नद्यादित्यवन्नादिभिरुपास्या आदित्यवस्यादयोऽन्ये सम्भावन्ति । नत्र यस्यादीनां सतां यस्यादित्यं प्राप्यं भवति, प्राप्तत्वान् ; मधुविद्यायाम्बुधेवादिप्रतिपाद्यकर्मनिष्पाद्यस्य रश्मिद्वारेण प्राप्तस्य रश्मस्याभ्यतया लब्धमधुव्दपदेशस्यादित्यस्यांशानां यस्यादिभिर्भुज्यमानानामुपास्यत्वं यस्यादित्यं प्राप्यं भूयते १“असौ वा आदित्यो देवमधु” इत्युपक्रम्य २“नद्यत्प्रथमममृतं नद्यस्य उपजीवन्ति” इत्युक्त्वा ३“स य एतदेवममृतं वेद वसूनामेवैकां भूत्वाऽग्निनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति” इत्यादिना ॥ ३० ॥

ज्योतिषि भावाच्च । १।३।३१।

४“तं देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासनेऽमृतम्” इति ज्योतिषिपरस्मिन्ब्रह्मणि उपासनं देवानां भूयते । देवमनुष्योभयसाधारणे परब्रह्मोपासने देवानामुपासकत्वकथनं देवानांमिनरोपासननिवृत्तिं द्योतयति । अत एव यस्यादीनामधिकारः ॥ ३१ ॥

—*(सिद्धान्त सू०)—

इति प्राप्तेऽभिधीयते—

भावं तु बादरायणोऽस्ति हि । १।३।३२॥

आदित्यवम्यादीनामपि तेष्वधिकारभागं भगवान्बादरायणो मन्यते । अस्ति ह्यादित्यवम्यादीनामपि स्वावस्यब्रह्मोपासनेन यस्यादि-

त्वप्रातिपूर्वकब्रह्मप्रेप्सासम्भवः । इदानीं वस्त्रादीनामपि सतां कल्पान्तरेऽपि वस्त्रादित्वप्राप्तिश्चापेक्षिता भवति । अत्र हि कार्यकारणोभयाद्यस्य ब्रह्मोपासनं विधीयते १ "असौ वा आदित्यो देवमधु" इत्या-
रम्य २ "अथ तत ऊर्ध्वं उदेत्य" इत्यतः प्राणादित्यवस्त्रादिकार्यविशेषाद्यस्य ब्रह्मोपास्यमुपदिश्यते; २ "अथ तत ऊर्ध्वं उदेत्य" इत्यादिना आदित्यान्तरात्मतयाऽवस्थितं कारणं यस्यमेव ब्रह्मोपास्यमुपदिश्यते । तदेवं कार्यकारणोभयाद्यस्य ब्रह्मोपासीनः कल्पान्तरे वस्त्रादित्वं प्राप्य तदन्ते कारणं परं ब्रह्मैवाप्नोति । ३ "न ह वा अस्मा उदेति न निम्नो-
चति सकृद्विवा द्वेवारमै भवति य एतामेवं ब्रह्मोपनिषद् वेद" इति कृत्स्नाया मधुविद्याया ब्रह्मोपनिषद्व्यध्रयणाद्ब्रह्मप्राप्तिपर्यन्तवस्त्रादि-
त्यफलस्य ध्रयणाच्च वस्त्रादिभोग्यभूतादित्यांशस्य विधीयमानमुपा-
सनं तद्व्यस्यस्यैव ब्रह्मण इत्ययगम्यते । अत एव विधमुपासनमादि-
त्यवस्त्रादीनामपि सम्भवति । एतच्च ब्रह्मण एयोपास्यत्वात् ४ "तं वेदा ज्योतिषां ज्योतिः" इत्यप्युपपद्यते । तदाह वृत्तिकारः ५ "शस्ति हि मध्याविषु सम्भवो ब्रह्मण एव सर्वत्र निष्चाप्यत्वात्" इति ॥
इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये मध्वधिकरणम् ॥ ८ ॥

—*(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अपशूद्राधिकरणम्)—

शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदाद्रवणा-

त्सूच्यते हि । १ । ३ । ३३ ॥

ब्रह्मविद्यायां शूद्रस्याप्यधिकारोऽस्ति नवेति विचार्यते; किं

युक्तम् ? अस्तौति । कुतः ? अर्थित्वसामर्थ्यप्रयुक्तत्वादधिकारस्य,
 शूद्रस्यापि तत्सम्भवात् । यद्यप्यग्निविद्यासाध्येषु कर्मस्वनग्निविद्य-
 त्वाच्छूद्रस्यानधिकारः; तथापि मनावृत्तिमात्रत्वाद्वह्मोपासनस्य
 तत्राधिकारोऽस्त्येव, शास्त्रीयक्रियापेक्षत्वेऽप्युपासनस्य तत्तद्वर्णो-
 मोचितक्रियाया एवापेक्षितत्वाच्छूद्रस्यापि स्ववर्णोचितपूर्ववर्णशु-
 धूयैव क्रिया भविष्यति । १ "तस्माच्छूद्रो यक्षेऽनवकल्मसः इत्यप्य-
 ग्निविद्यासाध्ययज्ञादिकर्मानधिकार एव न्यायसिद्धोऽनूच्यते । मन्य-
 नधीतवेदस्याभुतवेदान्तस्य ब्रह्मस्वरूपतदुपासनप्रकारानभिधस्य कथं
 ब्रह्मोपासनं सम्भवति ? उच्यते—अनधीतवेदस्याभुतवेदान्तवान्य-
 स्यापीतिहासपुराणभ्रवणेनापि ब्रह्मस्वरूपतदुपासनघ्नानं सम्भवति ।
 अस्तिच शूद्रस्यापीतिहासपुराणभ्रवणानुष्ठा २ "भाषयेच्चतुरां यणां-
 न्कृत्वा ब्राह्मणमंग्रतः" इत्यादौ । इश्यन्तेचेतिहासपुराणेषु विदुरा-
 यो ब्रह्मनिष्ठाः । तथोपनिषत्स्यपि संवर्गविद्यायां शूद्रस्यापि ब्रह्म-
 विद्याधिकारः प्रतीयते—शुधूपुं हि जानध्रुतिमाचायां रैकशूद्रे-
 त्यामन्त्रय तस्मै ब्रह्मविद्यामुपदिशति—३ "भाजहारेमाशूद्रानेनेय
 मुखेनालापयिष्यथाः" इत्यादिना । अतश्शूद्रस्याप्यधिकारस्स—
 भवति ॥

सिद्धान्त ।

इति प्राप्त उच्यते—न शूद्रस्याधिकारस्सम्भवति, सामर्थ्या-
 भावात्; नहि ब्रह्मस्वरूपतदुपासनप्रकारमजानतस्तदङ्गभूतवेदानु-
 वचनयज्ञादिवनधिकृतस्योपासनोपसंहारसामर्थ्यसम्भवः; असमर्थ-
 स्य चार्थित्वसङ्गाधेऽप्यधिकारो न सम्भवति; असामर्थ्यं च
 वेदाध्ययनाभावात्, यथैव हि त्रैवर्णिकविषयाध्ययनविधिसिद्ध-

व्याध्यायसम्पाद्यज्ञानलाभेन कर्मविधयो ज्ञानतदुपायादीनपराञ्च
स्वीकुर्वन्ति; तथा ब्रह्मोपासनविधयोऽपि । अतोऽध्ययनविधिसिद्ध-
स्वाध्यायाधिगमज्ञानस्यैव ब्रह्मोपासनोपायत्वाच्छूद्रस्य ब्रह्मोपासन-
सामर्थ्यासम्भवः । इतिहासपुराणे अपि वेदोपवृत्त्यां कुर्वन्ती एवो-
पायभावमनुभवतः; न स्वानन्देण; शूद्रस्येतिहासपुराणद्वयणानुष्ठानं
पापक्षयादिकथार्थम्; नोपासनार्थम् । त्रिदुरादयस्तु भवान्तराधि-
गमज्ञानाप्रमीयान् ज्ञानयन्तः प्रारब्धकर्मवशाच्चेदृशजन्मयोगिन इति
तेषां ब्रह्मनिष्ठत्वम् ।

यच्च -संज्ञाविद्यायां शुश्रूषोरशूद्रेति सम्बोधनं शूद्रस्याधि-
कारं सूचयति—इति; तज्ज्ञेत्याह—शुभस्य तदनादरध्वणात्तद्वाद्रव-
णात्सूच्यते हि—शुश्रूषोर्जानधुनेः पौत्रायणस्य ब्रह्मज्ञानवैकल्येन हंसो-
क्तानादरयाक्यध्वणात्तदेव ब्रह्मविदो रैकस्य सकाशं प्रत्याद्रवणा-
च्छुभस्य सज्जानेति हि सूच्यते; अतस्स शूद्रेत्यामन्यते, न चतु-
र्थवर्णात्त्वेन । शोचनीति हि शूद्रः; १ “शुचेर्दध” इति रप्रत्यये
धानोश्च दीर्घं चकारस्य च दकारे शूद्र इति भवति । अतश्शोचितु-
त्वमेवास्य शूद्रशब्दप्रयोगेन सूच्यते; न जातियोगः । जानधुनिः किल
पौत्रायणो यदुद्रव्यप्रदो यद्वज्रप्रदश्च यमूव । तस्य धार्मिकाग्रेसरस्य
धर्मेण प्रीतयोः कयोश्चिन्महात्मनोरस्य ब्रह्मजिज्ञासामुत्पिपादयिष्यतोः
हंसरूपेण निशायामस्याविदूरे गच्छन्तोरन्यतर इतरमुवाच—२ “भो
भोऽयि ब्रह्माक्ष ब्रह्माक्ष जानधुतः पौत्रायणस्य समं विद्या ज्योति-
रातंत तन्मा प्रसाङ्गीस्तस्या माप्रधाक्षीत्” इति । एवं जानधुति-
प्रशंसारूपं वाक्यमुपधृत्य परो हंसः प्रत्युवाच—३ “कम्यर एतमेत-
त्सन्तंसयुष्मानमिव रैकमात्य” इति । कं सन्तापनं जानधुतिं

सयुग्वानं रैकं ब्रह्मसमिधं गुणभ्रेष्ठमेतदात्थः; स ब्रह्मज्ञो रैक एव
 लोके गुणचत्तरः; महता धर्मेण संयुक्तस्याप्यस्य ज्ञानश्रुतेरब्रह्मज्ञस्य
 को गुणः, यद्वगुणजनितं तेजो रैकनेज इव मां दहेदित्यर्थः । एवमु-
 क्तेन परेण कोऽसौ रैक इति पृष्टः लोके यत्किञ्चित्साध्यनुष्ठितं कर्म,
 यच्च सर्वचेतनगतं विज्ञानम्, तदुभयं यदीयज्ञानकर्मान्तर्भूतम्,
 स रैक इत्याह । तदेतद्धंसयाकथं ब्रह्मज्ञानविधुरनया आत्मनिन्दा-
 गर्भं तद्वत्तया च रैकप्रशंसारूपं ज्ञानश्रुतिरुपभृत्य तत्क्षणादेव
 क्षत्तारं रैकाग्वेषणाय प्रेष्य तस्मिन्चिदित्या भागते स्वयमपि रैक
 १ मुपसद्य गथां पट्छतं निष्क्रमभ्वगरी रथं च रैकायोगहृत्य रैकं
 प्रार्थयामास २ "अनुम एतां भगवो देवतां शाधि यां देवतामु-
 पास्ते" इति त्यदुपास्यां परां देवतां ममानुशाधीत्यर्थः । स च
 रैकस्वयोगमहिमविदितलोकत्रयो ज्ञानश्रुतेर्ब्रह्मज्ञानविधुरनानिमित्ता-
 नारदगर्भहंसयाकथभ्रवणेन शोकाविष्टतां तदनन्तरमेव ब्रह्मजिज्ञास-
 योद्योगं च चिदित्याऽस्य ब्रह्मविद्यायोग्यतामभिधाय चिरकालसेवां
 विना द्रव्यप्रदानेन शुभूयमाणस्यास्य यावच्छक्तिप्रदानेन ब्रह्मविद्या
 प्रणिष्ठिता भवतीति मत्वा तमनुपृच्छन् तस्य शोकाविष्टतामुपदेशयोग्य-
 ताख्यापिकां शूद्रशब्देनामन्त्रणेन क्षापयन्नित्यह—३ "अहहारे स्वा-
 शूद्र तवैव सह गोभिरस्तु" इति । सह गोभिरस्य रथस्तवैवास्तु;
 नेतावता मह्यं वृत्तेन ब्रह्मजिज्ञासया शोकाविष्टस्य तव ब्रह्मविद्या प्रणि-
 ष्ठिता भवतीत्यर्थः । स च ज्ञानश्रुतिभूयोऽपि स्वशक्त्यनुगुणमेव
 गणादिर्धनं कन्यां च प्रदायोपससाद् स रैकः पुनरपि तस्य योग्य-
 तामेव क्षयापयन् शूद्रशब्देनामन्त्रयाह—४ "आजहारेमाशूद्रानेनैव मुखे-
 नालापयिष्यथाः" इति । इमानि धनानि शक्त्यनुगुणान्याजहर्थाः

अनेनैव द्वारेण चिरसेवया घिनाऽपि मां त्वद्मिलयितं ब्रह्मोपदेशक-
पवाक्यमालापयिष्यसीत्युक्त्वा तस्मा उपदिदेश । अतश्शूद्रशब्देन
विद्योपदेशयोग्यताख्यापनार्थं शोक एवास्य १ सूचिताः न चतुर्थ-
वर्णात्वम् ॥ ३३ ॥

क्षत्रियत्वगतेश्च । १।३।३४॥

१“बहुदायी” इति दानपलित्थेन “२बहुपाक्याः” इत्यादिना
२“सर्वत एवमेतद्धर्ममत्स्यान्ति” इत्यन्तेन बहुतरपकाद्यप्रदायित्वप्रती-
तेः ३“सहस्रजिह्वान एव क्षत्तारमुवाच” इति क्षत्रुप्रेषणाद्वहुग्रामप्रदा-
नाद्यगतजनपदाधिपत्याश्चास्य जानभृतेः क्षत्रियत्वप्रतीतिश्च न चतुर्थ-
वर्णात्वम् ॥ ३४ ॥

तदेवमुपक्रमगताख्यायिकायां क्षत्रियत्वप्रतीतिरुक्ताः उपसंहा-
रगताख्यायिकायामपि क्षत्रित्वमस्य प्रतीयत इत्याह—

उत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात् । १।३।३५॥

अस्य जानभृतेरुपदिश्यमानायामस्यामेव संवर्गविद्यायामुत्त-
रतः कीर्त्यमाननेनाभिप्रतारिनाम्ना चैत्ररथेन क्षत्रियेणास्य क्षत्रियत्वं
गम्यते । कथम् ? ४“अथ ह शौनके च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्ष-
सेलिं परिधिष्यमाणो ब्रह्मचारी विमिक्षे” इत्यादिना ५“ब्रह्मचारिणे-
वमुपासहे” इत्यन्तेन कापेयमभिप्रतारिणोर्मिक्षमाणस्य ब्रह्मचारिणश्च
संवर्गविद्यासम्बन्धित्वं प्रतीयते । तेषुचामभिप्रतारी क्षत्रियः, इनरी
ब्राह्मणौ; अतोऽस्यां विद्यायां ब्राह्मणस्य तदितरेषु च क्षत्रियस्यैधान्व-
यो दृश्यते, न शूद्रस्य । अतोऽस्यां विद्यायामन्यतर्द्वैकादुब्राह्मणान्-

न्यस्य जानभुतेरपि क्षत्रियत्वमेव युक्तम् ; न चतुर्थवर्णात्यम् । नन्य-
स्मिन्प्रकरणेऽभिप्रतारिणश्चैत्ररथत्वं क्षत्रियत्वं च न भूतम् ; तत्कथ-
नस्याभिप्रतारिणश्चैत्ररथत्वम् ? कथं वा क्षत्रियत्वम् ? तत्राह—
लिङ्गान्—इति । १ “अथह शौनकं च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्षसे-
निम्” इत्यभिप्रतारिणः कापेयसाहचर्यालिङ्गादस्याभिप्रतारिणः कापे-
यसम्बन्धः प्रतीयते; भन्यत्र च २ “एतेन वै चैत्ररथं कापेया अयाज-
यन्” इति कापेयसम्बन्धिनश्चैत्ररथत्वं भूयते; तथा चैत्ररथस्य क्षत्रि-
यत्वं ३ “तस्माच्चैत्ररथो नामैकः क्षत्रपतिरजायत” इति; अतोऽभिप्र-
तारिणश्चैत्ररथत्वं क्षत्रियत्वं च गम्यते ॥ ३५ ॥

तदेवं न्यायचिरोधिनि शूद्रस्याधिकारे लिङ्गं नोपलभ्यत
इत्युक्तम्, इदानीं न्यायसिद्धशूद्रस्यानधिकारश्रुतिस्मृतिभिरनुगु-
ह्यत इत्याह—

संस्कारपरामर्शत्तिदभावाभिलापाच्च । १ । ३ । ३६ ॥

ब्रह्मविद्योपदेशेयूपनयनसंस्कारः परामृश्यते—४ “उप त्वा
नेप्ये” ५ “तं होपनिन्ये” इत्यादिषु । शूद्रस्य चोपनयनादिसंस्कारा-
भावाऽभिलप्यते—६ “न शूद्रे पातकं किञ्चित् च संस्कारमर्हति”
७ “चतुर्थो वर्ण एतज्जातिर्न च संस्कारमर्हति” इत्यादिषु ॥ ३६ ॥

तदभावाविधारणे च प्रवृत्तेः । १ । ३ । ३७ ॥

१ “नैतद्व्राह्मणो विधक्तुमर्हति समिधं सोम्याहर” इति
शुधूणोज्जायालम्य शूद्रत्वाभावनिधारणे सत्येव विद्योपदेशप्रवृत्तेश्च
न शूद्रस्याधिकारः ॥ ३७ ॥

१ छा. ४-३-२

३. शतपथ. ११-५-३-१३ ॥

२. आपस्त. श्रौत ॥

७. गौत. १०-घ. १-म् ॥

श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात् । १ । ३ । ३८ ॥

शूद्रस्य वेदध्वणतदध्ययनतदर्थानुष्ठानानि प्रतिषिध्यन्ते
 "पशु ह वा पतच्छ्रमशानं यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यम्"
 "तस्माच्छूद्रो बहुपशुरयस्मीयः" इति । बहुपशुः पशुसदृश इत्यर्थः ।
 अनुपशुत्वतोऽध्ययनतदर्थानुष्ठानतदर्थानुष्ठानानि न सम्भवन्ति; अत-
 स्तान्यपि प्रतिषिद्धान्येव ॥ ३८ ॥

स्मृतेश्च । १ । ३ । ३९ ॥

स्मर्यते च ध्वणादिनिषेधः १ "अथ ह्यस्य वेदमुपशृण्वत-
 स्सपुत्रजुभ्यां धोत्रप्रतिपूरणमुदाहरणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेदः"
 इति, २ "न चास्योपदिशंश्चर्मं न चास्य व्रतमादिशेत्" इति च,
 अतश्शूद्रस्यानधिकार इति सिद्धम् ॥ ३९ ॥

ये तु निर्दिशेषचिन्मात्रं ब्रह्मैव परमार्थः; अन्यत्सर्वं मिथ्या-
 भूतम् । बन्धध्यापारमार्थिकः; स च वाक्यजन्यवस्तुयाथात्म्यज्ञान-
 मात्रनियत्यः; तस्मिन्निवृत्तिरेव मोक्षः—इति चदन्ति; तैर्ब्रह्मज्ञाने शूद्रा-
 देरनधिकारो वक्तुं न शक्यते; अनुपनीतस्य अनर्थातवेदस्याभुत-
 वेदान्तवाक्यस्यापि यस्मात्कस्मादपि निर्दिशेषचिन्मात्रं ब्रह्मैव
 परमार्थोऽन्यत्सर्वं तस्मिन्परिकल्पितं मिथ्याभूतमिति वाक्याहस्तु-
 याथात्म्यज्ञानोत्पत्तेः, तावन्नेव बन्धनिवृत्तेश्च । न च तस्यमस्यादि-
 वाक्येनैव ज्ञानोत्पत्तिः कार्या, न वाक्यान्तरैरेणेति नियन्तुं शक्यम् ।
 ज्ञानस्यापुरुषतन्त्रत्वात्, मर्त्यां सामग्रयामनिच्छतोऽपि ज्ञानोत्पत्तेः ।
 न च नेत्रवाक्यानेव यस्म्यथात्म्यज्ञाने सति बन्धनिवृत्तिर्मवतीति
 शक्यं वक्तुम्, येनकेनापि यस्तुयाथात्म्यज्ञाने सति आग्निनिर्लेःषु

पौरुषेयादपि निर्विशेषचिन्मात्रं ब्रह्म परमार्थोऽन्यत्सर्वं (मध्याभूत-
मित वाक्यात्) दानोत्पत्तस्तावत्तैव भ्रमनिवृत्तम् । यथा पौरुषेयाद-
प्याप्तवाक्याच्छ्रुतिकारजतादिभ्रान्तिग्राहणस्य शूद्रादेरपि नियतं,
तद्वदेव शूद्रस्यापि वेदचित्सम्प्रदायागतवाक्याद्वस्तुयाथात्म्यज्ञानेन
जगद्भ्रमानिवृत्तिरपि भविष्यति, “नचास्योपावेशेद्धर्मम्” इत्या-
दिना वेदचिदशूद्रादिभ्यो न यदन्तीति च न शक्यं वक्तुम्, तस्य-
मस्यादिवाक्यागतब्रह्मात्मभाषाणां वेदशिरसि वर्तमानतया दग्धा-
खिलाधिकारत्वेन निषेधशास्त्रकिङ्करत्वाभावात्, अतिफान्तनिषेधैर्वा
कैश्चिदुक्ताद्वाक्याच्छूद्रादेः ज्ञानमुत्पद्यत एव । न च वाच्यं-- श्रुति-
कादौ रजतादिभ्रमनिवृत्तिवत्पौरुषेयवाक्यजन्यतत्त्वज्ञानसमनन्तरं
शूद्रस्य जगद्भ्रमो न निवर्तत इति; तस्यमस्यादिवाक्य ध्वणसम-
नन्तरं ब्रह्मणस्यापि जगद्भ्रमनिवृत्तेः । निर्विध्यासनेन द्वैतवास-
नायां निरस्ताययामेव तस्यमस्यादिवाक्यं नियतकक्षानमुत्पादयतीति-
चेत्— पौरुषेयमपि वाक्यं शूद्रादेस्तथैवेति न कश्चिद्विशेषः । निर्वि-
ध्यासनं हि नाम ब्रह्मात्मत्वभाषाभिधायि वाक्यं यदर्थप्रतिपादनयोग्यम्,
तदर्थभाषनाः सैव विपरीतवासनां निवर्तयतीति दूषार्थत्वं निर्वि-
ध्यासनाधिघेर्ग्रूपा, वेदानुषचनार्थान्यापि विविधपोषत्ताघेघोपयु-
ज्यन्ते इति शूद्रस्यापि विविधपायां जातायां पौरुषेयवाक्यासावि-
ध्यासनादिविपरीतवासनायां निरस्तायां ज्ञानमुत्पत्स्यते; तेनै-
वापारमाधिको बन्धो नियतिप्यते; अथवा तर्कानुगृहीतात्प्रत्यक्षाद-
नुमानाद्य निर्विशेषस्वप्रकाशचिन्मात्रप्रत्यग्वस्तुन्यज्ञानसाक्षित्वं, तत्कृ-
तविविधविचित्रज्ञातृज्ञेयविकल्परूपं कृत्स्नं जगदध्यस्तमिति निश्चि-
त्यैवमूलपरिशुद्धप्रत्यग्वस्तुन्यनवरनभावनया विपरीतवासनां निरस्य
तदेव प्रत्यग्वस्तु साक्षात्कृत्य शूद्रादयोऽपि विमोक्ष्यन्त इति मिथ्या-

भूतविनिव्रैश्वर्यविचित्रसृष्ट्याद्यलौकिकानन्तविशेषाचलम्यता चेदा-
 न्तवाक्येन न किञ्चित्प्रयोजनमिह दृश्यत इति शूद्रादीनामेव ब्रह्म-
 विद्यायामधिकारस्तुशोभनः । अनेनैव न्यायेन ब्राह्मणादीनामपि ब्रह्म-
 चेदन्तर्निर्दिष्टरूपनिपद्य तपस्विनी वृत्तजलाञ्जलिस्स्यात् । नच वाच्यं
 नैसर्गिकलाकारव्यवहारे भ्राम्यतोऽस्य केनचिद्व्यं लौकिकव्यवहारो
 भ्रमः, परमार्थस्त्वेवमिति सभर्पिते सत्येव प्रत्यक्षानुमानवृत्तबुभुत्सा
 जायत इति तत्समर्पिका भूतिरप्यास्थेयेति; यतो भवभयभीतानां
 साङ्ख्यवाद एव प्रत्यक्षानुमानाभ्यां वस्तुनिरूपणं कुर्वन्तः प्रत्यक्षा-
 नुवृत्तबुभुत्सां जनयन्ति; बुभुत्सायां च जातयां प्रत्यक्षानुमान-
 भ्यामेव विधिकस्वभावाभ्यां नित्यशुद्धस्वप्रकाशाद्विज्ञेयकूटस्थचैतन्य-
 मेव सत्, अन्यत्सर्वं तस्मिन्नध्यस्तमिति सुचिवेचम् । एवम्भूते
 स्वप्रकाशे वस्तुनि धृतिसमधिगम्यं विशेषान्तरं च नाभ्युपगम्यते;
 अध्यस्तातद्रूपनिवर्तिनी हि धृतिरपि त्वन्मते । न च सत आत्मन
 आनन्दरूपताज्ञानायोगनिपदास्थेया, चिद्रूपताया एव सकलेतरात-
 द्रूपव्यावृत्ताया आनन्दरूपत्वात् । यस्य तु मोक्षसाधनतया चेदा-
 न्तवाक्यैर्विहितं ज्ञानमुपासनरूपम्, तच्च परब्रह्मभूतपरमपुरुषप्री-
 णनम्, तच्च शास्त्रैकसमधिगम्यम्, उपासनशास्त्रं चोपनयनादि-
 संस्कृताधोतस्वाध्यायजनितं ज्ञानं विवेकधिमोकादिसाधनानुगृही-
 तमेव खोपायतया स्वीकरोति, एवंरूपोपासनप्रीतः पुरुषोत्तम
 उपासकं स्वमाविकात्मयाथात्म्यज्ञानदानेन कर्मजनिताज्ञानं नाश-
 यन्वन्धान्मोचयतीती पक्षः, तस्य यथोक्तया नीत्या शूद्रादेरनधि-
 कार उपपद्यते ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अपशूद्राधिकरणम् ॥

—: (भीशारीरकमीमासांभष्ये प्रमिताधिकरणशेषः) :—

तदेयं प्रसक्तानुप्रसक्ताधिकारकथां परिसमाप्य प्रकृतस्याङ्गुष्ठप्र-
मितस्य भूतभव्यंशितृत्वायगतपरब्रह्मभायोत्तम्भनं हेत्वन्तरमाह—

कम्पनात् १ । ३ । ४०

१ “अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति” २ “अङ्गुष्ठ-
मात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा” इत्यनयोर्वोक्तयोर्मध्ये ३ “यदिदं किञ्च
जगत्सर्वं प्राण एजति निस्सृतम् । महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुर-
मृतास्ते भवन्ति । भयादस्याग्निस्तपति मयात्तपति सूर्यः । भयादिन्द्रश्च
वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः” इति कृत्स्नस्य जगतोऽग्निसूर्यादीनां
चास्मिन्नङ्गुष्ठमात्रे पुरुषे प्राणशब्दनिर्दिष्टे स्थितानां सर्वेषां ततो निस्सृ-
नानां तस्मात्सञ्जातमहामयनिमित्तम् एजनं कम्पनं ध्रूयते । तच्छास-
नानि वृत्ती किं भविष्यतीति महतो भयाद्ब्रह्मादियोधतात्कृत्स्नं
जगत्कम्पत इत्यर्थः । ३ “भयादस्याग्निस्तपति” इत्यनेनैकाध्यात्
३ “महद्भयं वज्रमुद्यतम्” इति पञ्चम्यर्थे प्रथमा । अयञ्च परस्य ब्रह्म-
णस्त्वभायः ४ “एतस्य वा अक्षरस्य प्रशांसने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ
विधृतौ तिष्ठतः” ५ “मीपाऽस्माद्धातः पवते मीपोदेति सूर्यः । मीपा-
ऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च । मृत्युर्धावति पञ्चमः” इति परस्य ब्रह्मणः पुरुषोत्त-
मस्यैव विधैश्चर्यावगतेः ।

इतश्चाङ्गुष्ठप्रमितः पुरुषोत्तमः—

ज्योतिर्दर्शनात् १ । ३ । ४१ ॥

तयोरेवाङ्गुष्ठप्रमितविषययोर्वाक्ययोर्मध्ये परब्रह्मासाधारणं

सर्वतेजसां छादकं सर्वतेजसां कारणभूतमनुब्राह्मकं चाङ्गुष्ठप्रमितस्य
ज्योतिर्दृश्यते—१ “न तत्र सूर्या भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो
भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा
सर्वमिदं विभाति ” इति । अयमेव ग्लोक आथर्वणे परं ब्रह्माधिकृत्य
भूयते । परज्यातिष्ठं च सर्वत्र परस्य ब्रह्मणश्भूयते । यथा—२
“ परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते ” ३ “ तं देवा
ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम् ” ४ “अथ यदतः परं दिवो
ज्योतिर्वीक्ष्यते ” इत्यादिषु । अतोमङ्गुष्ठप्रमितः परं ब्रह्म ॥ ४१ ॥
इति श्रीशारीरकमीमांसामाष्ये प्रमिताधिकरणशेषः ॥ ६॥

—*(अर्थान्तरत्वादिव्यपदेशाधिकरणम्)—

आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् १ । ३ । ४२ ॥

छादकोप्ये भूयते ५ “आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिता ते
यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृतं स आत्मा” इति । तत्र संशयः—किमयमा
काशशब्दनिर्दिष्टो मुक्तात्मा, उत परमात्मा—इति । किं युक्तं ?
मुक्तात्मेति । कुतः ? २ “अथ इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव
राहोर्मुखात्प्रमुच्य । धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसम्भ-
यामि” इति मुक्तस्यानन्तरप्रकृतत्वात्, १ “ते यदन्तरा” इति च
नामरूपविनिर्मुक्तस्य तस्याभिधानात्, १ “नामरूपयोर्निर्वहिता” इति
च स एव पूर्वायस्योपलिलक्ष्यविषयः ; स एव हि देवादिरूपाणि
नामानि च पूर्वमयिमः । तस्यैव नामरूपविनिर्मुक्ता साम्प्रतिषयवत्त्वा
१ “तद्ब्रह्म तदमृतम्” इत्युच्यते । आकाशशब्दश्च तस्मिन्नप्यसङ्कुचित-
प्रकाशयोगादुपपद्यते । ननु दहराक्यशेषत्वादस्य स एव दहराका-

शोऽयमिति प्रतीयते । तस्य च परमात्मत्वं निर्णीतम् । मैवं,
प्रजापतिवाक्यव्यवधानात् । प्रजापतिवाक्यं च प्रत्यगात्मनो मुक्त्य-
वस्थान्तं रूपमभिहितम्; अनन्तरं च १“विधूय पापम्” इति स एव
मुक्तावस्थः प्रस्तुतः । अतोऽस्माकाशो मुक्तात्मा ॥

❖(सिद्धान्तः)❖

इति प्राप्त उच्यते—आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात्—इति ।
आकाशः परं ब्रह्म; कुतः ? अर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् । अर्थान्तरत्य-
व्यपदेशस्तावत् २“आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वोदिता” इति नाम-
रूपयोर्निर्वोदित्वं ब्रह्ममुक्तोभयावस्थात्प्रत्यगात्मनोऽर्थान्तरत्वमाकाश-
स्योपपादयति । ब्रह्मावस्थस्वर्यं कर्मवशाज्जामरूपे भजमानो न नाम-
रूपे निर्वोदुं शक्नुयात्; मुक्तावस्थस्य जगद्व्यापारासम्भवात्क्षननितरां
नामरूपनिर्वोदित्वम्; ईश्वरस्य तु सकलजगन्निर्माणधुरन्धरस्य
नामरूपयोर्निर्वोदित्वं भृत्यैव प्रतिपन्नम् ४“अनेन जीवेनाऽत्मनाऽनु-
प्रविश्य नामरूपे व्याकरयाणि” ५“यस्सर्वज्ञस्सर्वविद्यस्य ध्यानमयं
तपः । तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते” ६“सर्वाणि रूपाणि
विचित्य धीरो नामानि कृत्वाऽभिवदन्यदास्ते” इत्यादिषु । अतो
निर्वाह्यनामरूपात्प्रत्यगात्मनो नामरूपयोर्निर्वोदाऽयमाकाशोऽर्थान्तर-
भूतः परमेव ब्रह्म । तदेवोपपादयति २“ते यदन्तरा” इति । यस्माद-
यमाकाशो नामरूपे अन्तरा—ताभ्यामस्पृष्टोऽर्थान्तरभूतः, तस्मात्त-
योर्निर्वोदा अपहनपाम्पत्यात्सत्यसङ्कल्पत्याद्य निर्वोदितेत्यर्थः ।
आदिशब्देन ब्रह्मन्वात्मत्वामृतत्वानि गृह्यन्ते । निरुपाधिकगृह्यत्वा-
व्यो हि परमात्मन एव समावन्ति; तेनास्माकाशः परमेव ब्रह्म ।

यत्पुनरुक्तं १ “धूत्वा शरीरम्” इति मुक्तोऽनन्तरप्रकृतः—इति; तत्र,
 १ “ब्रह्मलोकमभिसम्भवामि” इति परस्यैव ब्रह्मणोऽनन्तरप्रकृतत्वात् ।
 यद्यप्यभिसम्भयितुमुक्तस्याभिसम्भाव्यतया परं ब्रह्म निर्दिष्टम्, तथा-
 प्यभिसम्भयितुमुक्तस्य नामरूपनिर्वोद्धत्वाद्यसम्भवाद्भिसम्भाव्यं
 परमेव ब्रह्म तत्र प्रत्येतव्यम् । किञ्च आकाशशब्देन प्रकृतस्य दहरा-
 काशस्यात्र प्रत्यभिधानात्, प्रजापतिवाक्यस्याप्युपासकस्वरूपकथ-
 नार्थत्वादुपास्य एव दहराकाशः प्राप्यतयेहोपसंह्रियत इति
 युक्तम् । आकाशशब्दश्च प्रत्यगात्मनि न क्वचिद् एचरः । अतोऽत्राकाशः
 परं ब्रह्म ॥

अथ स्यात्—प्रत्यगात्मनोऽर्थान्तरभूतमात्मान्तरमेव, नास्ति पे-
 क्योपदेशात्, द्वैतप्रतिषेधाच्च; शुद्धावस्थ एव हि प्रत्यगात्मा पर-
 मात्मा परं ब्रह्म परमेष्ठर इति च व्यपदिश्यते; अतः प्रकृतान्मुक्ता-
 त्मनोऽभिसम्भयितुर्नाथान्तरमभिसम्भाव्यो ब्रह्मलोकः; अतो नाम-
 रूपयोर्निर्वहिता आकाशोऽपि स एव भवितुमर्हति—इति अत
 उत्तरं पठति—

सुषुप्त्युक्तान्त्योर्भेदेन । १ । ३ । ३४ ॥

व्यपदेशादिति वर्तते, सुषुप्त्युक्तान्त्योः प्रत्यगात्मनोऽर्थान्-
 न्तरत्वेन परमात्मनो व्यपदेशात् प्रत्यगात्मनोऽर्थान्तरभूतः परमा-
 त्माऽस्त्येव । तथाहि—वाजसनेयके २ “कतम ३ आत्मा योऽयं
 विधानमयः प्राणेषु” इति प्रकृतस्य प्रत्यगात्मनस्सुषुप्त्यवस्थायाम-
 किञ्चिद्व्यस्य सर्वज्ञेन परमात्मना परिप्यङ्ग आस्त्रायते—४ “प्राज्ञेना-
 ऽत्माना सम्परिष्वक्तो न बाह्यः किञ्चन वेद नान्तरम्” इति; तथो-
 क्तान्तावपि ५ “प्राज्ञेनाऽत्मनाऽन्यारूढ उदसर्जन्याति” इति । न च

स्वपत उत्क्रामतां वा किञ्चिज्ज्ञस्य तदानामेव स्थनेच सर्वघ्नेन सता
परिष्वङ्गान्धारोही सम्भवतः न च क्षेत्रघ्नान्तरेण, तस्यापि सर्व-
घत्वासम्भवात् ॥

इतश्च प्रत्यगात्मनोऽर्थान्तरभूतः परमात्मेत्याह—

पत्यादिशब्देव्यभ्यः । १ । ३ । ४४ ॥

अयं परिष्वङ्गकः परमात्मा उत्तरत्र पत्यादिशब्दैर्व्यपदिश्यते-
१ “सर्वस्याधिपतिस्सर्वस्य वशी सर्वस्थेशानः स न साधुना कर्मणा
भूयाशो एवासाधुना कर्तायान् । एष सर्वेश्वर एष भूताधिपति-
रेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसन्भेदाय । तमेतं
वेदानुबन्धनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति...एतमेव विदित्वा मुनि-
र्भवेति । एतमेव प्रवाजिनो लोकमिच्छन्तः प्रयजन्ति” २ “स वा
एष महानज आत्माऽश्वादो वसुवानः” ३ “अजरोऽमृतोऽभयो
ब्रह्म” इति । एते च पतित्वजगद्विधरणत्वसर्वेश्वरत्वाद्यः प्रत्यगा-
त्मनि मुक्तावस्थेऽपि न कथञ्चित्सम्भवन्ति । अतो मुक्तात्मनोऽर्थान्तर-
भूतो नामरूपयोर्निर्गहिताऽऽकाशः । ऐक्योपदेशस्तु सर्वस्य चिद-
चिदात्मकस्य ब्रह्मकार्यत्वेन तदात्मकत्वायस्त इति ४ “सर्वं सन्नियद्
ब्रह्म तज्जालान्” इत्यादिभिर्वाक्यैः प्रतिपाद्यत इति पूर्वमेव सम-
र्थितम् । इति प्रतिषेधश्च तत एवेत्यनययम् ॥ ४३ ॥

इति श्रीशारीरकमोमांसाभोष्ये अर्थान्तरत्वादिष्यपदेशाधिकरणम् ॥

१, सू. १-४-२२ ॥ सर्वस्य वशी सर्वस्थेशानः सर्वस्याधिपतिः, पा॥

२, सू. १-४-२४ ॥

३, सू. १-४-२५ ॥ अजरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म इति

४, छा. ३-१४-१ ॥



श्रीमते रामानुजाय नमः

श्रीभगवद्रामानुजविरचिते

श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये

❧ (प्रथमाध्याये-चतुर्थपादे-आनुमानिकाधिकरणम् ॥ १ ॥) ❧

आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीररूपकविन्य-
स्तगृहीतेर्दर्शयति च । १ । ४ । १ ॥

उक्तं परमपुरुषार्थलक्षणमोक्षसाधनतया जिज्ञास्यं जगज्जन्मा-
दिकारणं ब्रह्माच्चिद्वस्तुनः प्रधानादेश्चेतनाद्य यद्वस्तुकोमयावस्थाभिलक्षणं
निरस्तसस्तद्देयगन्धं सर्वं च सर्वशक्तिं सत्यसङ्कुर्वं समस्तकल्पाण्यु-
णात्मकं सर्वान्तरात्मभूतं निरङ्कुशैश्वर्यमिति ! इदानीं कापिलत-
न्त्रसिद्धाग्रह्यात्मकप्रधानपुरुषादिप्रतिपादनमुखेन प्रधानकारणत्वप्रति-
पादनच्छायानुसारीण्यपि कानिचिद्वाक्यानि कास्तुचिच्छास्वास्तु सन्ती-
त्याशङ्क्य ब्रह्मीकारणत्वस्थेने तन्निराक्रियते । कठवल्लीप्यास्त्रायते
१ " इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः । मनसस्तु परा
बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः । महतः परमध्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः ।
पुरुषाच्च परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः " इति । तत्र सन्देहः—
किं कापिलतन्त्रसिद्धिमग्रह्यात्मकं प्रधानमिहाव्यक्तशब्देनोच्यते, उत

न—इति । किं युक्तम् ? प्रधानमिति । कुतः ? १^० महतः परमव्यक्त-
मव्यक्तात्पुरुषः परः^१ इति तन्त्रसिद्धतत्त्वप्रक्रियाप्रत्यभिधानेन
तस्यैव प्रतीतेः, १^० पुरुषाक्षरं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः^२
इति पञ्चविंशकपुरुषातिरिक्ततत्त्वनिषेधाच्च । अतोऽव्यक्तं कारणमिति
प्राप्तम् । तदिदमुक्तम्—आनुमानिकमप्येकेषामिति चेत्—इति ।
एकेषां शास्त्रिणां शास्त्रास्वानुमानिकं प्रधानमपि कारणमाज्ञायत
इति चेत्—

—(सिद्धान्त)—

अत्रोत्तरं—नेति । नाव्यक्तशब्देनाग्रह्यात्मकं प्रधानमिहामि-
धीयते । कुतः ? शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेः—शरीराव्यक्तरूपकविन्य-
स्तस्य अव्यक्तशब्देन गृहीतेः । आत्मशरीरयुद्धिमनइन्द्रियविषयेषु
रथिरथादिभावेन रूपितेषु रथरूपणेन विन्यस्तस्य शरीरस्याव्यक्त-
शब्देन ग्रहणादित्यर्थः । एतदुक्तं भवति—पूर्वत्र हि २^० आत्मानं
रथिनं विद्धि शरीरं रथमेवच । बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमे-
वच । इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्^३ इत्यादिना,
३^० सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्^४ इत्यन्तेन संसारा-
ध्वनः पारं वैष्णवं पदं प्रेक्षन्तमुपासकं रथित्वेन तच्छरीरादीनिष
रथरथाकृत्येन रूपयित्वा, यस्यैते रथादयो वशे तिष्ठन्ति, स एवाध्वनः
पारं वैष्णवं पदमाप्नोतीत्युपत्त्वा, तेषु रथादिरूपितशरीरादिषु यानि
येभ्यो वशीकार्यतायां प्रधानानि, तान्युच्यन्ते ४^० इन्द्रियेभ्यः पराः^५
इत्यादिना । तत्र ह्यत्वेन रूपितेभ्य इन्द्रियेभ्यो गोचरत्वेन रूपिना
विषयाः वशीकार्यत्वे पराः, वश्येन्द्रियस्यापि विषयसन्निधाविन्द्रि-

याणां दुर्निग्रहत्वान् । तेभ्योऽपि परं प्रग्रहरूपितं मनः, मनसि विषयप्रचये विषयासन्निधानस्याप्यकिञ्चित्करत्वात् । तस्मादपि सारथित्वरूपिता बुद्धिः परा, अध्ययसायाभावे मनसोऽप्यकिञ्चित्करत्वात् । तस्या अपि रथित्वरूपित आत्मा कर्तृत्वेन प्राधान्यात्परः । सर्वस्य चास्यात्मेच्छायत्तत्वादात्मैव महानिति च विशेप्यते । तस्मादपि रथरूपितं शरीरं परम्, तदायत्तत्वाज्जीवात्मनस्सकलपुरुषार्थसाधन-प्रवृत्तीनाम् । तस्मादपि परस्सर्वान्तरात्मभूतोऽन्तर्याम्यध्यनः पार-भूतः परमपुरुषा, यथोक्तस्यात्मपर्यन्तस्य समस्तस्य तत्सङ्कुलगायत्त-प्रवृत्तत्वात् । स खल्वन्तर्यामितयोपासनस्यापि निर्वर्तकः । १ "परात्तु न च द्रुतेः" इति हि जीवात्मनः कर्तृत्वं परमपुरुषाय समिति यक्ष्यते । वशीकार्योपासननिर्वृत्त्युपायकाष्ठाभूतः परमप्राप्यश्च स एव । तद्विद-मुच्यते २ "पुरुषात् परं किञ्चित्सो काष्ठा स' परा गतिः" इति । तथा चान्तर्यामित्राह्वने, ३ "य आत्मनि तिष्ठन्" इत्यादिभिस्सर्वैः साक्षा-त्कुर्वन्त्सर्वं नियमयतीत्युक्त्वा ४ "नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा" इति नियन्त्रन्तरं निषिध्यते । भगवद्गीतासु च ५ "अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् । विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैव्यं चैवात्र पञ्चमम्" इति । दैवमत्र पुरुषोत्तम एव ६ "सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तस्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च" इति यचनात् । तस्य च वशीकरणां तच्छरणागतिरेव । यथाह ७ "ईश्वरस्सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति । भ्रानयन् सर्वभूतानि यन्त्राकृद्वाणि मायया । तमेव शरणं गच्छ" इति । तदेवम् ८ "आत्मानं रथिनं विद्धि" इत्यादिना रथ्यादिरूप-

१. शारी. २-३-४० ॥

२. कठ. १-३-११ ॥

३. घृ. २-७-१२ ॥ मा. पा ॥

४. घृ. ५-७-२३ ॥

५. गी. १८-१४

६. गी १५-१२ ॥

७. गी. १८ ११, १२ ॥

८. कठ १-३-३

कविन्यस्ता इन्द्रियादयः १“इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः” इत्यत्र सशब्दे-
 रेव प्रत्यभिज्ञायन्ते, न रथरूपितं शरीरमिति परिशेषात्तदव्यक्तशब्दे-
 नोच्यत इति निश्चीयते । अतः कापिलतन्त्रसिद्धस्य प्रधानस्य प्रसङ्ग
 एव नास्ति । नचात्र तत्तन्त्रसिद्धप्रक्रियाप्रत्यभिज्ञा १“इन्द्रियेभ्यः
 परा ह्यर्थाः” इतीन्द्रियेभ्योऽर्थानां शब्दादीनां परत्वकीर्तनात् । नहि
 शब्दादय इन्द्रियाणां कारणभूतास्तद्दर्शने । २“अर्थेभ्यश्च परं मनः”
 इत्यपि न तत्तन्त्रसङ्गतम्, अकारणत्वादेव, तथा १“बुद्धेरात्मा
 महान्परः” इत्यप्यसङ्गतम्, बुद्धिशब्देन महत्तत्त्वस्याभिधानाम्युप-
 गमात् । नहि महतो महान्परस्सम्भावति । महत आत्मशब्देन
 विशेषणं च न सङ्गच्छते । अतो रूपकविन्यस्तानामेव ग्रहणम् ।
 दर्शयति च तदेष ३“एष सर्वेषु भूतेषु गृहोत्मा न प्रकाशते । दृश्यते
 त्याग्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः” ४“यच्छेद्वाङ्मनसी
 प्राज्ञस्तद्यच्छेत् ज्ञान आत्मनि । ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छे-
 ष्छान्त आत्मनि” इति । अजितवाह्याभ्यन्तरकरणैरस्य परमपुरुषस्य
 बुद्देशत्वमभिधाय ह्यादिरूपितानामिन्द्रियादीनां वशीकारप्रकारोऽय-
 मुच्यते । ४“यच्छेद्वाङ्मनसी” याचं मनसि नियच्छेत्—वाक्पूर्व-
 काणि कर्मेन्द्रियाणि ज्ञानेन्द्रियाणि च मनसि नियच्छेदित्यर्थः ।
 वाक्छब्दे द्वितीयायाः ५“सुषां सुलुक्” इति लुक् । ‘मनसी’ इति
 सप्तम्याश्छान्दसो दोषः । ४“तद्यच्छेत् ज्ञान आत्मनि” तन्मनो बुद्धौ
 नियच्छेत् । ज्ञानशब्देनात्र पूर्वोक्ता बुद्धिरभिधीयते । ४“ज्ञान आत्मनि”
 इति अधिकरणे सप्तम्यौ । आत्मनि वर्तमाने ज्ञाने नियच्छेदित्यर्थः ।
 ४“ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्” बुद्धिं कर्तरि महत्यात्मनि निय-

च्छेत् । १ "तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि" तं कर्तारं परस्मिन्प्रत्ययि
सर्वान्तर्यामिणि नियच्छेत् । व्यत्ययेन तद्विति नपुंसकलिङ्गता ।
एवम्भूतेन रथिना येष्वपि पदं गन्तव्यमित्यर्थः ॥ १ ॥

अव्यक्तशब्देन कथं व्यक्तस्य शरीरस्याभिधानम् ? तत्राह—

सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात् । १ । ४ । २ ॥

भूतसूक्ष्ममव्याकृतं ह्यवस्थाविशेषमापन्नं शरीरं भवति; तद-
व्याकृतमिह शरीरावस्थमव्यक्तशब्देनोच्यते । तदर्हत्वात्—तस्याव्या-
कृतस्याचिद्वस्तुन एव विकारापन्नस्य रथवत्पुरुषार्थसाधनप्रवृत्त्य-
र्हत्वात् ॥ २ ॥

यदि भूतसूक्ष्ममव्याकृतमभ्युपगम्यते; कापिलतन्त्रसिद्धोपा-
दाने कः प्रद्वेषः तत्रापिहि भूतकारणमेमाव्यक्तमित्युच्यते; तत्राह—

तदधीनत्वादर्थवत् । १ । ४ । ३ ॥

परमकारणभूतपरमपुरुषाधीनत्वात्प्रयोजनवद्भूतसूक्ष्मम् । एत-
दुक्तं भवति—न व्ययमव्यक्तं तत्परिणामविशेषांश्च स्वरूपेण नाभ्यु-
पगच्छामः; अपितु परमपुरुषशरीरतया तदात्मकत्वविरहेण । तदा-
त्मकत्वेनैव हि प्रकृत्यादयस्त्वप्रयोजनं साधयन्ति; अन्यथा स्वरूप-
स्थितिप्रवृत्तिमेवास्तेषां न स्युः; तथाऽनभ्युपगमादेव तन्त्रसिद्धप्र-
क्रियानिरसनम्—इति । भूतिस्मृत्योर्हि जगदुत्पत्तिप्रलयवादेषु पर-
मपुरुषमहिमवादेषु च प्रकृतिविकृतिपुरुषास्तदात्मकास्सङ्कीर्त्यन्ते;
यथा २ "पृथिव्यप्सु लीयन्ते" इत्यारभ्य "तन्मात्राणि भूतादी
लीयन्ते । भूताविर्महनि लीयन्ते । महानभ्यक्ते लीयन्ते । अभ्यक्तमक्षरे
लीयन्ते । अक्षरं तमसि लीयन्ते । नमः परे देव एकीभवति" तथा

१ "यस्य पृथिवी शरीरं यस्यापश्शरीरं यस्य तेजश्शरीरं यस्य वायु-
शरीरं यस्याकाशश्शरीरं यस्याहङ्कारश्शरीरं यस्य बुद्धिश्शरीरं यस्या-
व्यक्तं शरीरं यस्याक्षरं शरीरं यस्य मृत्युश्शरीरम् एव सर्वभूतान्त-
रात्माऽऽहृतपाप्मा विध्यो देव एको नारायणः", तथा २ "भूमिरा-
पोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च । अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना
प्रकृतिरष्टधा ॥ अपरेयमितस्त्यन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् । जीवभूतां
महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणोत्पुपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रमथः प्रलयस्तथा ॥ मत्तः परतरं नाग्यात्कि-
ञ्चिदस्ति धनञ्ज । मायि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव" इति, ३
व्यक्तं विष्णुस्तथाऽव्यक्तं पुरुषः काल एव च" इति, ४ "प्रकृतियां
मयाऽऽख्याता व्यक्ताव्यक्तस्वरूपिणी । पुरुषश्चाप्युभावेर्ता लीयेते
परमात्मनि । परमात्मा च सर्वेषामाधारः परमेश्वरः" इति च ॥ ३ ॥

ज्ञेयत्वावचनाच्च । १ । ४ । ४ ॥

यदि तन्त्रसिद्धमिहाव्यक्तमविवक्षिष्यत्, ज्ञेयत्वमवक्ष्यत् ।
'१ व्यक्ताभ्यक्तश्रुतिज्ञानात् मोक्षं चरन्निस्तान्त्रिकैस्तेषां सर्वेषां
ज्ञेयत्वाभ्युपगमात्, न चास्य ज्ञेयत्वमुच्यते; अतो न तन्त्रसिद्धस्येह
ग्रहणम् ॥ ४ ॥

वदतीति चेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात् । १ । ४ । ५ ॥

१ "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽऽरसं नित्यमगन्धवर्णं यत् ।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाप्य तं मृत्युमुत्थात्प्रमुच्यते", इत्य-
व्यक्तस्य ज्ञेयत्वमनन्तरमेव वदतीयं श्रुतिरिति चेत्—तत्र, प्राज्ञः—
परमपुरुष एव ह्यत्र श्लोके निचाप्यत्येन प्रतिपाद्यते "विद्यानसार-

१. सुषुक्त. ७. कं ॥

२. गी. ७-४, २, १, ७ ॥

३. वि. १-१-१८ ॥

४. वि. ३-४-३६, ४० ॥

५. सांख्यतत्त्वकारिका ॥

१. कठ. १-३-१५ ॥

यस्तु मनः प्रप्रयात्तरः । सोऽध्यनः पारमाज्जोति तच्चिष्णोः परमं
 पदम् १ "एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते । दृश्यते त्वप्रपया
 बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः" इति प्राज्ञस्यैव प्रकृतत्वात् । अत एव
 २ "पुरुषाज्ञ परं किञ्चित्" इति न पञ्चविंशकपुरुषातिरिक्तनस्यनि-
 वेधः । तस्य च परमपुरुषस्याशब्दत्वादयो धर्माः ३ "तत्तद्विश्यम-
 ग्राह्यम्" इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धाः । ३ "महतः परम्" इत्यपि ४
 " बुद्धेरात्मा महान्परः " इति पूर्वप्रकृताज्जीवात्मनः परत्वं
 मेवोच्यते ॥ ५ ॥

त्रयाणामेवैवमुपन्यासः प्रश्नश्च । १ । ४ । ६ ॥

असिन्प्रकरणे ह्युपायोपेयोपेतृणां त्रयाणामेवैवमुपन्यासः—
 ज्ञेयत्वेनोपन्यासाः, तद्विषयश्च प्रश्नो दृश्यते, नान्यस्याव्यकावेः । तथा-
 हि तच्चिकेता मुमुक्षुस्सन्मृत्युप्रदत्ते वरत्रये प्रथमेन वरेणात्मनः पुरु-
 षार्थयोग्यतापादिनीमात्मनि पितुस्तुमनस्कतां प्रतिलभ्य द्वितीयेन
 वरेण मोक्षोपायभूतां तच्चिकेताम्विषयां यत्ने—५ "सत्त्वमग्निं स्वर्ग्य-
 मभ्येयि मृत्योप्रब्रूहि तं श्रद्धयानाय मह्यम् । स्वर्गलोका अमृतत्वं
 भजन्त एतद्बुद्धिनीयेन वृणे वरेण" इति । स्वर्गवदेनात्र परमपुरुषार्थ-
 लक्षणो मोक्षोऽभिधीयते, ५ " अमृतत्वं भजन्ते " इति तत्रस्वस्य
 जननमरणाभायभ्रयणादुत्तरत्र क्षयिफलकर्मनिन्दादर्शनाच्च, ६ "त्रिणा-
 चिकेतास्त्रिभिरित्य सन्धि त्रिकर्मरुत्तरनि जन्ममृत्यु" इति च प्रतिपद्य-
 मात् । तृतीयेन वरेण मोक्षस्वरूपप्रश्नद्वारेणोपेयस्वरूपमुपेतृस्वरूपमुपा-
 यभूतकामोनुगृहीतोपासनस्वरूपं च पृष्टम्—७ "येयं प्रेते त्रिचिकित्सा

१. कठ. १-३-१२ ॥

३. सु. १-१ ॥

५. कठ. १-१-१३ ॥

७. कठ. १-१-२० ॥

२. कठ. १-३-११ ॥

४. कठ. १-३-१० ॥

६. कठ. १-१-१७ ॥

मनुष्ये अस्तीत्येकं नायमस्तीति चेत्के। एतद्विद्यामनुशिष्टस्थयाऽहं
 यराणावेव वरस्तृतीयः ॥ इति । एवं माक्षे पृष्ठे तदुपदेशयोग्यतां
 परीक्ष्योपविदेश—१ “तं दुर्दशं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं
 पुराणम् । अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोको जहाति”
 इति । नर्दयं सामान्येनोपविष्टे नचिकेनाः प्रीतस्सन् १ “देवं मत्वा”
 इत्युपास्यतया निर्दिष्टस्य प्राप्यभूतस्य देवस्य १ “अध्यात्मयोगा-
 धिगमेन” इति चेदितव्यतया निर्दिष्टस्य प्राप्तुः प्रत्यगात्मनश्च १
 “मत्वा धीरो हर्षशोको जहाति” इति निर्दिष्टस्य ब्रह्मोपासनस्य च
 स्वरूपावशोधनाय पुनः पप्रच्छ—२ “अन्यत्रधमादन्यत्रा धमादन्यत्रासा-
 त्कृताकृतात् । अन्यत्र भूतान्नव्याद्य यत्तत्पश्यसि तद्वद” इति । एवं सक-
 लेतरातांतानागतवर्तमानसाध्यसाधनसाधकचिदक्षणे प्रथं पृष्ठे प्रथमं
 प्रणवं प्रशस्य तद्वाच्यं प्राप्यस्वरूपं, तदन्तर्गतं च प्राप्तुस्वरूपं वाचक-
 रूपं चापायं पुनरपि सामान्यं व्याप्यप्रणवं तावदुपावृश—३
 सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति । यादृच्छन्तां
 ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं सङ्गहेण प्रवाभ्यामिदमवतत्” इति । पथमुप-
 दिश्य पुनरपि प्रणवं प्रशस्य प्रथमन्तावत्प्राप्तुः प्रत्यगात्मनस्वरूप-
 माह—४ “न जायते म्रियते वा विपश्चित्” इत्यादिना । प्राप्यस्य
 परस्य ब्रह्मणो विष्णोस्वरूपम् ५ “अणोरणोमान्” इत्यादिना ६ “क
 इत्या वेद यत्र सा” इत्यन्तेनोपदिशन्मध्ये ७ “नायमात्मा
 प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न यदुना ध्रुतेन ” इत्यादिनो-
 पायभूतसोपासनस्य भक्तिरूपतामप्याह । ८ “ऋतं पिवन्ती” इति

१. कठ. १-२-१२ ॥

२. कठ. १-२-१४ ॥

३. कठ. १-२-१२ ॥

४. कठ. १-२-१८ ॥

५. कठ. १-२-२० ॥

६. कठ. १-२-२५ ॥

७. कठ. १-२-२३ ॥

८. कठ. १-२-३ ॥

चोपास्यस्योपासकेन सहायसानात्सुपासतामुक्त्वा १ “आत्मानं
रथिनं विद्धि” इत्यादिना २ “दुर्गं पथस्तत्कथयो वदन्ति” इत्य-
न्तेनोपासनप्रकारमुपासीनस्य च वैष्णवपरमपदप्राप्तिमभिधाय ३
“अशब्दमस्पर्शम्” इत्यादिनोपसंहृतम् । अतस्त्वयाणामेवात्र द्वेयत्वे-
नोपन्यासः प्रश्नश्च, तस्माज्ज्ञेह तान्त्रिकस्याव्यक्तस्य ग्रहणम् ॥

महद्वच । १ । ४ । ७ ॥

यथा ४ “बुद्धेरात्या महात्परः” इत्यत्रोत्तमशब्दसामानाधि-
करणयाञ्च तन्त्रसिद्धं महत्तत्त्वं गृह्यते; एवमव्यक्तमप्यात्मनः परत्वे
नाभिधानाञ्च कापिलतन्त्रसिद्धं गृह्यत इति सिद्धम् ॥ ७ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये आनुमानिकाधिकरणम् ॥ १ ॥

—:(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये चमसाधिकरणम्)—

चमसवदविशेषात् । १ । ४ । ८ ॥

अत्रापि तन्त्रसिद्धप्रक्रिया निरस्यते, न ब्रह्मात्मकानां प्रकृतिम-
हदहङ्कारादीनां स्वरूपम्, धृतिस्मृतिभ्यां ब्रह्मात्मकानां तेषां प्रतिपाद-
नात् । यथा अथर्वणिका अधीयते—५ “विकारजननीमक्षामष्टरूपमजं
ध्रुवाम् । ध्यायते ऽध्यासिता तेन तन्यते प्रेर्यते पुनः । सूयते पुरुषार्थं
च तेनैवाधिष्ठिता जगत् । गौरनायन्तवनी सा जनित्री भूतभाविनी ।
सिताऽसिता च रक्ता च सर्वकामदुष्टाविमोः । पिबन्त्येनामविषमाम-
विज्ञाताः कुमारकाः । एकस्तु पिबते देवः स्वच्छन्दोत्र चशानुगाम् ।
ध्यानक्रियाभ्यां भगवान्भुङ्क्तेऽसौ प्रसन्नं विभुः । सर्वसाधारणी

दोषघ्नो पीड्यमानानां तु यज्वभिः” १ “चतुर्विंशतिसङ्ख्यातमव्यक्तं
व्यक्तमुच्यते” इति । अत्र प्रकृत्यादीनां स्वरूपमभिहितम् ; यदात्मकश्चेत्
प्रकृत्यादयः ; स परमपुरुषोऽपि १ “तं पञ्चदशकमित्याहुस्तत्तद्विशम-
थापरे । पुरुषं निगुणं साङ्ख्यमथर्वशिरसो विदुः” इति प्रतिपाद्यते ;
अपरे चार्थवर्णिकाः १ “अष्टौ प्रकृतयस्पोडश विकाराः” इत्यधीयते ;
इवेताश्चतराश्चैवं प्रकृतिपुरुषेभ्यस्वरूपमामनन्ति २ संयुक्तमेतत्क्षरम-
क्षरं च व्यक्ताव्यक्तं मरते विश्वमोक्षः । अनीशश्चात्मा बध्यते भावतु
भायात् द्यात्वा देवं मुच्यते सूर्यपापीः” २ “प्राज्ञो ह्यायजाधीशनीशा-
धजा लोका भोक्तृभोगार्थयुक्ता । अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रय
यदा चिन्दते ब्रह्ममेतत्” ३ “क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्माना-
वीशते वैच एकः । तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वमाधान्नूयश्चान्ते विश्वमा-
यानिवृत्तिः” ४ “छन्दांसि यथाः कृतवां व्रतानि भूतं भव्यं यच्च
वेदा वदन्ति । अस्मान्मायां सृजते विश्वमंतत्तस्मिन्वान्यो मायया सञ्चि-
रुजः । मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् । तस्याययवभूतैस्तु
व्याप्तं सर्वमिदं जगत्” इति तथोत्तरत्रापि ५ “प्रधानक्षेत्रज्ञपनिर्गुण-
शस्संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः” इति । स्मृतिरपि ६ “प्रकृतिं पुरुषं
चैव विद्वदनादौ उभाथपि । विकरांश्च गुणांश्चैव विधिं प्रकृतिसम्भवानां
कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते । पुरुषस्तुल्यदुःखानां भोक्तृत्वे
हेतुरुच्यते । पुरुषः प्रकृतिस्त्रयोऽपि भुङ्क्ते प्रकृतिज्ञानं गुणान् ! कारणं
गुणमङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु” ७ “मत्स्यं रजस्तम इति गुणाः
प्रकृतिसम्भवाः । नियन्त्रन्ति महाबाहो देहे देहितमव्ययम्” ; तथा

१. मन्त्रिकोपनिषदि ॥

२. खे. १-८, १ ॥

३. खे. १-१० ॥

४. खे. ४-६-१० ॥

५. खे. ५-१९ ॥

६. गी. १३-१६, २०, २१ ॥

७. गी. १४-५ ॥

१“सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् । कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादीं विसृजाम्यहम् ॥ प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः । भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्यशात्” २“मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिस्सूयते सचराचरम् । हेतुनाऽनेन कौन्तेय जगद्धि परित्यजते” इति । तस्माद्-ब्रह्मात्मकत्वेन कोपिलतन्त्रसिद्धाः प्रकृत्यादयो निरस्यन्ते । श्वेताश्व-तरोपनिषदि धूयते ३ “अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजास्व-जमानां सरूपाः । अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तमोगा-मजोऽन्यः” इति । तत्र सन्देहः—किमस्मिन्मन्त्रे केवला तन्त्रसिद्धा प्रकृतिरभिधीयते, उत ब्रह्मात्मिका—इति । किं युक्तम् ? केवलेति । कुतः ? ३ “अजामेकाम्” इत्यस्याः प्रकृतेरकार्यत्वं ध्रुवणात्, ३ “बह्वीः प्रजास्वजमानां सरूपाः” इति स्वातन्त्र्येण सरूपाणां बह्वीनां प्रजानां स्मृत्यध्रुवणाच्च—इति ॥

एवं प्राप्तेऽभिधीयते—चममवदधिशोपात्—न जायत इत्य-ज्येयजात्यमात्रप्रतिपादनात्तन्त्रसिद्धाब्रह्मात्मकाजगद्ब्रह्मो विशोपाप्रतीतिः, चमसयत्—यथा ४ “अर्वाग्विलक्ष्मस ऊर्ध्वबुध्नः” इत्यस्मिन्मन्त्रे चमसस्य भक्षणसाधनत्वमात्रं चमसशब्देन प्रतीयत इति न नाचन्मा-त्रेण चमसविशेषप्रतीतिः, यौगिकशब्दानामर्थप्रकरणादिभिर्विनाऽर्थ-विशेषनिश्चयायोगात्; तत्र ५ “यथेदं तच्छिरः एष ह्यर्वाग्विलक्ष्मस ऊर्ध्वबुध्नः” इत्यादिना वाक्यशेषेण शिरसश्चमससत्त्वनिश्चयः, तथाऽ-क्षाप्यर्थप्रकरणादिभिरेवाजा निर्णेतव्या; नचात्र तन्त्रसिद्धाजगद्ब्रह्म-हेतवोऽर्थप्रकरणादयो दृश्यन्ते; नचास्यास्स्वातन्त्र्येण स्मृत्यर्थं प्रतीयते, “बह्वीः प्रजास्वजमानाम्” इति स्मृत्यमात्रप्रतीतिः । अतोऽनेन मन्त्रेण नाब्रह्मान्तिकाऽजाऽभिधीयते ॥ ८ ॥

ब्रह्मात्मकाजामग्रहण एव विशेषहेतुरस्तीत्याह—

ज्योतिरूपक्रमा तु तथाह्यधीयत एके । १ । ४ । ९ ॥

तुशब्दोऽवधारणार्थः; ज्योतिरूपक्रमेवेयाऽजा; ज्योतिः ब्रह्म
 १“तं देवा ज्योतिषां ज्योतिः” २“अथ यदृतः परो दिवो ज्योतिर्दी-
 प्यते” इत्यादिभ्युत्तिप्रसिद्धेः । ज्योतिरूपक्रमा ब्रह्मकारणिकेत्यर्थः ।
 तथाह्यधीयत एके—हीति हेतौ, यस्मादस्या अजाया ब्रह्मकारणकत्व-
 मेके शाखिनः तैत्तिरीया अधीयते—३“अणोरणीयान्महतो महीया-
 नात्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः” इति हृदयगुहायामुपास्यत्वेन
 सन्निहितं ब्रह्माभिधाय “सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्” इत्यादिना
 सर्वेषां लोकानां ब्रह्मादीनां च तत उत्पत्तिमभिधाय सर्वकारणी-
 भूताऽजा तत उत्पन्नाऽभिधीयते ४“अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां
 बह्वीं प्रजां जनयन्तीं सरूपाम् । अजो होको जुपमाणोऽनुशेते
 जहात्येनां भुक्तमोगामजोऽन्यः” इति । सर्वस्य तद्व्यतिरिक्तस्य
 यस्तुजातस्य तत उत्पत्त्या तदात्मकत्वोपवेशे प्रक्रियमाणेऽभिधीय-
 मानत्वात्प्राणसमुद्रपर्यन्तादिष्वेयाऽप्यजा बह्वीनां सरूपाणां प्रजानां
 स्रष्ट्री कर्मचश्येनाऽत्मना भुज्यमाना अन्येन विदुषाऽऽत्मना त्यज्य-
 माना च ब्रह्मण उत्पन्ना ब्रह्मात्मिकाऽवगन्तव्येत्यर्थः । अतो याव्य-
 शेषाद्यमस्यिशेषवच्छालान्नरीयादेनत्सरूपात्प्रत्यभिज्ञायमानार्थाद्वा-
 क्यान्नियमिताऽजा ब्रह्मात्मिकेति निधीयते । इहापि प्रकरणोपक्रमे
 ५“किं कारणं ब्रह्म” इत्यारम्य ६“ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्देवा-
 त्मशक्तिं स्रगुणैर्निरुद्धाम्” इति परब्रह्मशक्तिरूपाया अजाया अवगतैः,
 उपरिष्ठाच्च ७“अस्मान्मायी सृजते विभ्रमेतत्तस्मिन्धान्यो मायया

१. इ. १-४-१९ ॥

२. छा. ३-१३-७ ॥

३. तै-नारा. १२ ॥

४. तै. नारा. १२ ॥

५. श्वे. १-१ ॥

६. श्वे. १-३ ॥

७. श्वे. ४-३ ॥

सन्निरुद्धः ॥ १॥ मायां तु प्रकृति विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ॥ १॥ यो
योनिर्योनिमधितिष्ठत्येकः ॥ इति च तस्या एव प्रतीतेर्नास्मिन्मन्त्रे
नान्नसिद्धस्तन्तत्प्रकृतिप्रतिपत्तिगन्धः ॥

कथं तर्हि ज्योतिरुपक्रममाया लोहितशुक्लकृष्णरूपाया अस्याः
प्रकृतेरजास्वम्, अजाया वा कथं ज्योतिरुपक्रमात्यमित्यन्नाह—

कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः । १ । ४ । १० ॥

प्रसक्ताशङ्कानिवृत्त्यर्थश्चशब्दः । अस्याः प्रकृतेरजात्वं ज्योति-
रुपक्रमात्वं च न विरुध्यते, कुनः ? कल्पनोपदेशात् । कल्पनं प्लुतिः
सृष्टिः, जगत्सृष्ट्युपदेशादित्यर्थः । यथा २ “सूर्याचन्द्रमसौ धाता
यथापूर्वमकल्पयत्” इति कल्पनं सृष्टिः । अत्रापि ३ “अस्मान्मायी
सृजते विभ्रमेतत्” इति जगत्सृष्टिरुपदिश्यते । स्वेनाविभक्तादस्मा-
त्सूक्ष्मावस्थात्कारणान्मायि सर्वेश्वरस्सर्वं जगत्सृजतीत्यर्थः । अनेन
कल्पनोपदेशेनास्याः प्रकृतेः कार्यकारणरूपेणावस्थान्वययोऽवग-
म्यते । सा हि प्रलयवेलायां ब्रह्मतापन्ना भविभक्तनामरूपा सूक्ष्म-
रूपेणावतिष्ठते; सृष्टिवेलायां तद्भूतसत्त्वादिगुणा विभक्तनामरूपाऽ
व्यक्तादिशब्दवाच्या तेजावन्नादिरूपेण च परिणता लोहितशुक्ल-
कृष्णाकारा चावतिष्ठते । अतः कारणावस्थाऽजा, कार्यावस्था ज्योति-
रुपक्रमेति न विरोधः । मध्वादिवत्—यथेश्वरेणादित्यस्य कारणा-
वस्थायामेकस्यैवावस्थितस्य कार्यावस्थायामुग्यन्तुस्सामाधर्म्यप्रतिपाद्य-
कर्मनिष्पाद्यरसाध्रयतया यस्यादिदेवताभांग्यत्याय मधुस्यकल्पनमुद-
यास्तमयकल्पनं च न विरुध्यते । तदुक्तं मधुविद्यायाम् ४ “असौ या
आदित्यो देवमधु” इत्यारभ्य ५ “अथ तत ऊर्ध्वं उदेत्य नैवोदेता

नास्तमेतैकल एव मध्ये स्थाता” इत्यन्तं । एकलः एकस्वभावः । अतोऽनेन मन्त्रेण ब्रह्मात्मिकाऽजैवाभिधीयते, न काणिलतन्त्रासिद्धांत सिद्धम् ॥

अन्ये त्वसिन्मन्त्रं तेजोबलक्षणाऽजैकाभिधीयत इति प्रवृत्ते । तं प्रष्टव्याः—किं तेजोबलान्येष तेजोबन्नात्मिकाऽजैका, उत तेजोबलरूपं ब्रह्मैव; किं वा तेजोबलकारणभूता काचित्---इति । प्रथमं कल्पे तेजोबन्नानामनेकत्वात् “अजामेकाम्” इति विरुध्यते । न च चाच्यं तेजोबन्नानामनेकत्वेऽपि त्रिवृत्करणैकतापत्तिरिति । त्रिवृत्कल्पेऽपि बहुत्वानपगमात्, १ “इमास्तिष्ठो देवताः” २ “तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि” इति प्रत्येकं त्रिवृत्करणोपदेशात् । द्वितीयः कल्पो विकल्प्यः किं तेजोबन्नरूपेण विवृतं ब्रह्मैवाजैका; किं वा स्वरूपेणावस्थितमविकृतमिति । प्रथमः कल्पो बहुत्वानपायादेव निरस्तः । द्वितीयेऽपि ३ “लोहितशुक्रकृष्णाम्” इति विरुध्यते । स्वरूपेणावस्थितं ब्रह्म तेजोबन्नलक्षणमिति वक्तुमात्रं न शक्यते तृतीये कल्पेऽप्यजाशब्देन तेजोबन्नानि निर्दिश्य तैस्तत्कारणावस्थोपस्थापनीयेत्यास्पेयम् । ततो वरमजाशब्देन तेजोबलकारणायस्थायाः भुतिसिद्धाया एवाभिधानम् । यत्पुनरस्याः प्रकृतेरजाशब्देन च्छागत्वपरिकल्पनमुपदिश्यत इति; तदप्यसङ्गतम्, निष्प्रयोजनत्वात् । यथा ४ “आत्मानं रथिनं विद्धि” इत्यादिषु ब्रह्मप्राप्त्युपायतात्पर्यापनाय शरीरादिषु रथादिरूपणां क्रियते; यथा-चादित्ये वस्त्रादीनां भोग्यत्वव्यापनाय मधुत्वकल्पनं क्रियते; तद्वदस्यां प्रकृती च्छागत्वपरिकल्पनं कोपयुज्यते; न केवलमुपयोगाभाव एव, विरोधश्च, कृत्स्नजगत्कारणभूतायाः स्वसिन्ननादिकालसम्य-

ज्ञानां सर्वेषामेव चेतनानां निजिलसुखदुः खोपमोगापवर्गसाधन-
भूतायः भवेतनायाः अत्यल्पप्रज्ञासर्गकरागन्तुकसङ्क्रमचेतनविशेषैक-
रूपात्यल्पप्रयोजनसाधनस्वपरित्यागाहेतुभूतस्वसम्बन्धिपरित्यागसम-
र्थचेतनविशेषरूपच्छागस्वभावख्यापनाय तद्रूपत्वकल्पनं विरुद्धमेव ।
१ “अजामेकाम्” १ “अजो लोकः” १ “अजोऽन्यः” इत्यत्राज्ञाश-
ब्दस्य विरूपार्थकल्पनं च न शोभनम् । सर्वत्र च्छागत्य परिकल्प्यत
इति चेत् १ “जहात्येनां भुक्तमोगामजोऽन्यः इति विदुष आत्यन्तिक-
प्रकृतिपरित्यागं कुर्वतोऽनेनयाऽन्येनवा पुनरपि सम्यन्धयोग्यच्छा-
गत्यपरिकल्पनमत्यन्तविरुद्धम् ॥ १० ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये चमसाधिकरणम् ॥ २ ॥

—(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये संख्योपसंग्रहाधिकरणम् ॥ ३ ॥)—

न संख्योपसंग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च ।

१ । ४ । ११ ॥

याजसनेयिनस्समामनन्ति २ “यस्मिन्पञ्च पञ्चजना आका-
शाश्च प्रतिष्ठितः । तमेवमग्न्य आत्मानं विद्वान्ब्रह्मामृतोऽमृतम्”
इति । कियमं मन्त्रः कापिलतन्त्रसिद्धतत्त्वप्रतिपादनपरः, उत नेति
सन्दिह्यते । किं युक्तम् ? तन्त्रसिद्धतत्त्वप्रतिपादनपर इति कुतः ?
पञ्चशब्दविशेषितात्पञ्चजनशब्दात्पञ्च विंशतितत्त्वप्रतीतिः । एतदुक्तं
भवति २ “पञ्चजनाः” इति समासस्समाहारविषयः । पञ्चानां
जनानां सनूहाः पञ्चजनाः; ‘पञ्चपूज्य’ इतिवत् । पञ्च जना इति लिङ्ग-

व्यत्ययश्छान्दसः । ते च समूहाः कतीत्यपेक्षायां पञ्चजनशब्दविशेष-
णेन प्रथमेन पञ्चशब्देन समूहाः पञ्चेति प्रतीयन्ते, यथा पञ्च पञ्च-
पूज्य इति । अतः १ “पञ्च पञ्चजनाः” इति पञ्चविंशतिपदार्थावगती
ते कतम इत्यपेक्षायां मोक्षाधिकारान्मुमुक्षुभिः ज्ञातव्यतया स्मृ-
तिप्रसिद्धाः प्रकृत्याद्य एव ज्ञायन्ते । २ “मूलप्रकृतिरविकृति-
र्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयस्सप्त । षोडशकञ्च विकारो न प्रकृतिर्न
विकृतिः पुरुषः” इति हि कापिलानां प्रसिद्धिः अतस्तन्त्रसिद्ध-
तत्त्वप्रतिपादनपरः ॥

❖❖❖(सिद्धान्तः)❖❖❖

इति प्राप्ते !चक्ष्महे—न सङ्ख्योपसङ्गप्रहादपि—इति ३
“पञ्च पञ्चजनाः” इति पञ्चविंशतिसङ्ख्योपसङ्गप्रहादपि न तन्त्रसि-
द्धतत्त्वप्रतीतिः । कुतः ? नानामायात्—एषां पञ्चसङ्ख्याविशेषितानां
पञ्चजनानां तन्त्रसिद्धेभ्यस्तत्त्वेभ्यः पृथग्भावात् ३ “यस्मिन् पञ्च
पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः” इत्येतेषां यच्छब्दनिर्दिष्टग्रन्थाध्ययतया
ब्रह्मात्मकत्वं हि प्रतीयते ३ “तमेवम्भन्य आत्मानं चिद्वान्ब्रह्मामृ-
तोऽमृतम्” इत्यत्र तमिति परामर्शेन यच्छब्दनिर्दिष्टं ब्रह्मेत्यवग-
म्यते । अतस्तैभ्यः पृथग्भूताः पञ्चजना इति न तन्त्रसिद्धा एते ।
अतिरेकाच्च—तन्त्रसिद्धेभ्यस्तत्त्वेभ्योऽत्र तत्त्वातिरेकोऽपि भवति;
यच्छब्दनिर्दिष्ट आत्मा आकाशश्चात्रातिरिच्येते । अतः ४ “तं पङ्क्ति-
शकमित्याहुस्सप्तविंशमथापरे” इति ध्रुतिप्रसिद्धसर्वतत्त्वाध्ययभूत-
स्सर्वेश्वरः परमपुरुषोऽत्रामिधीयते ‘न सङ्ख्योपसङ्गप्रहादपि’ इत्य-
पिशब्दस्य ३ “पञ्च पञ्चजनाः” इत्यत्र पञ्चविंशतितत्त्वप्रतिपत्तिरेव न

सम्भवतीत्यभिप्रायः । कथम् ? पञ्चभिरारब्धसमूहपञ्चकासम्भवात् ; नहि तन्त्रसिद्धतत्त्वेषु पञ्चसु पञ्चसनुगतं यत्सङ्ख्यानिवेशनिमित्तं ज्ञात्वाद्यस्ति, नच वाच्यं—पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि, पञ्च महाभूतानि, पञ्च तन्मात्राणि, भविषिष्ठानि पञ्च—इत्यवान्तर-सङ्ख्यानिवेशायनिमित्तमस्त्येव—इति; आकाशस्य पृथक्निर्देशेन पञ्च-भिरारब्धमहाभूतसमूहासिद्धेः । अतः १ “पञ्चजनाः” इत्ययं समासो न समाहारविषयः; अयं तु २ “द्विसङ्ख्ये संज्ञायाम्” इति संज्ञा-विषयः; अन्यथा पञ्चजनाः इति लिङ्गव्यत्ययश्च । पञ्चजना नाम केचित्सन्ति; तेच पञ्चसङ्ख्यया विशेष्यन्ते, पञ्च पञ्चजनाः इति; सप्त सप्तम्य इति यत् ॥ ११ ॥

के पुनस्ते पञ्चजनाः इत्यत आह—

प्राणादयो वाक्यशेषात् । १ । ४ । ९२ ॥

३ “प्राणस्य प्राणामुत चक्षुपञ्चतुष्टोत्रस्य श्रोत्रमजस्यानं मनसो ये मनो विदुः” इति वाक्यशेषाद्विज्ञाध्यायाः प्राणादय एव पञ्च पञ्चजनाः इति विज्ञायन्ते ॥ १२ ॥

अथ स्यात्—काण्वानां प्राच्यन्दिनानां च ४ “यस्मिन् पञ्च पञ्चजनाः” इत्ययं मन्त्रस्समानः; ३ “प्राणस्य प्राणम्” इत्यादिवाक्यशेषे काण्वानामजस्य पाठो न विद्यते; तेषां पञ्च पञ्चजनाः प्राणादय इति न शक्यं यक्तुम्—इति; अत्रोत्तरम्

ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने । १ । ४ । १३ ॥

एकेषां काण्वानां पाठे असत्यग्ने ज्योतिषा पञ्चजनाः इन्द्रियाणीति ज्ञायन्ते; तेषां वाक्यशेषः प्रदर्शनार्थः । एतदुक्तं भवति—

१ “यस्मिन् पञ्च पञ्चजनाः” इत्यस्मात्पूर्वस्मिन्मन्त्रे २ “तं देवा
 ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽष्टुनम्” इति ज्योतिषां ज्योतिष्टु-
 ब्रह्मण्यमिधीयमाने ब्रह्माधीनस्यकार्याणि कानिचिज्ज्योतींषि प्रतिपन्नानि,
 तानि च विषयाणां प्रकाशकानीन्द्रियाणीति १ “यस्मिन् पञ्च पञ्च-
 जनाः” इत्यनिर्धारितविशेषनिर्देशोनाद्यगम्यन्ते - इति ३ “प्राणस्य”
 इति प्राणशब्देन स्पर्शानेन्द्रियं गृह्यते, वायुसम्बन्धित्वात्स्पर्शनेन्द्रियस्य
 मुख्यप्राणस्य ज्योतिःशब्देन प्रदर्शनायोगात् । चक्षुष इति चक्षुरिन्द्रि-
 यम्, श्रोत्रस्येति श्रोत्रेन्द्रियम्, अन्नस्येति घ्राणरसनयोस्तन्त्रेणोपा-
 दानम्, अन्नशब्दोदितपृथिवीसम्बन्धित्वाद्घ्राणेन्द्रियमनेन गृह्यते,
 अग्नेऽनेनेत्यन्नमिति रसनेन्द्रियमपि गृह्यते । मनस इति मनः ।
 घ्राणरसनयोस्तन्त्रेणोपादानमिति पञ्चत्वमप्यचिरुद्धम् । प्रकाशकानि
 मनःपर्यन्तानीन्द्रियाणि पञ्चजनशब्दनिर्दिष्टानि तद्विरोधाय घ्राण-
 रसनयोस्तन्त्रेणोपादानम् । तदेवम् १ “यस्मिन्पञ्च पञ्चजना आका-
 शश्च प्रतिष्ठितः” इति पञ्चजनशब्दनिर्दिष्टानीन्द्रियाण्याकाशशब्द-
 प्रदर्शितानि महाभूतानि च ब्रह्मणि प्रतिष्ठितानीति सर्वतत्त्वानां
 ब्रह्माभ्यत्यप्रदिपादनात् तन्त्रसिद्धपञ्चविंशतितत्त्वप्रसङ्गः । अतस्स-
 र्वत्र वेदान्तं सङ्ख्योपसङ्गग्रहे तदभावे वा न कापिलतन्त्रसिद्धतत्त्वप्र-
 तीतिरिति स्मृतम् ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये सङ्ख्योपसङ्गग्रहाधिकरणम् ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये कारणत्वाधिकरणम् ॥ ४ ॥)

कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः ।

१ । ४ । १४ ॥

पुनः प्रधानकारणवादी प्रत्ययतिष्ठते—न वेदान्तेष्वेकस्मात्सृष्टिरास्मायत इति जगतो ब्रह्मैककारणत्वं न युज्यते । कथम् ? तथाहि १ “सदेव सोम्येदमग्र आसीत्” इति सत्पूर्विका सृष्टिरास्मायते; २ “असद्वा इदमग्र आसीत्” इत्यसत्पूर्विका च; अन्यत्र— ३ “असदेवेदमग्र आसीत्तत्सदासीत्तत्समभवत्” इति च । अतो वेदान्तेषु अच्युतव्यवस्थितेर्जगतो ब्रह्मैककारणत्वं न निश्चेतुं शक्यम्; प्रत्युत प्रधानकारणत्वमेव निश्चेतुं शक्यते ४ “तज्जदेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्” इत्यव्याकृते प्रधाने जगतः प्रलयमभिधाय ४ “तज्जामरूपाभ्यां व्याकृतयते” इत्यव्याकृतादेव जगतस्सृष्टिश्चाभिधीयते । अव्याकृतं ह्यव्यक्तम्, नामरूपाभ्यां न व्याक्रियते—न व्यज्यत इत्यर्थः । अव्यक्तं प्रधानमेव । अस्य च स्वरूपनित्यत्वेन परिणामाश्रयत्वेन च जगत्कारणवादिवाक्यगतौ सद्सच्छब्दौ ब्रह्मणीयास्मिन्नविरोत्स्येते । एवमव्याकृतकारणत्वे निश्चिते सतीक्षणादयः कारणगतास्सृष्ट्यौन्मुख्याभिप्रायेण योजयितव्याः । ब्रह्मात्मशब्दादपि बृहत्स्वव्यापित्वाभ्यां प्रधान एव वर्तते । अतः स्मृतिग्यायप्रसिद्धं प्रधानमेव जगत्कारणं वेदान्तवाक्यैः प्रतिपाद्यते ॥

~*~*~(सिद्धान्तः)~*~*~

इति प्राप्ते प्रचक्ष्महे—कारणत्वेनचाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः—चशब्दस्तुशब्दार्थः, सर्वघातसर्वेश्वरात्सत्यसङ्कुणाशिरस्तनि-

खिलदोषगन्धात्परस्माद्वक्षण एव जगदुत्पद्यत इति निश्चेतुं शक्यते ।
 कुतः ? आकाशादिषु कारणत्वेन यथाव्यपदिष्टसंकोः—सर्वप्रत्या-
 दिविशिष्टत्वेन १ “जन्माद्यस्य यतः” इत्येवमादिषु प्रतिपादितं
 ब्रह्म यथाव्यपदिष्टमित्युच्यते, तस्यैकस्यैवाकाशादिषु कारणत्वे-
 नोक्तेः । २ “तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशस्सम्भूतः” ३ “तत्ते-
 जोऽसृजत” इत्यादिषु सर्वज्ञं ब्रह्मैव कारणत्वेनोच्यते । तथाहि २
 “सत्यं धानमनन्तं ब्रह्म” २ “सोऽश्नुते सर्वान्कामान्—स्सह ब्रह्मणा
 विपश्चिता” इति प्रकृतं विपश्चिदेव ब्रह्म २ “तस्माद्वा एतस्मात्” इति
 परामुश्यते । तथा ३ “तदैक्षत बहु स्याम्” इति निर्विष्टं सर्वज्ञं
 ब्रह्मैव ३ “तत्तेऽजोऽसृजत” इति परामुश्यते । एवं सर्वत्र सूक्ष्म-
 वाक्येषु द्रष्टव्यम् । मतो ब्रह्मैककारणं जगदिति निश्चीयते ।

ननु ४ “असद्वा इदमग्र आसीत्” इत्यसदेव कारणत्वेन
 व्यपदिश्यते, तत्कथमिव सर्वप्रस्य सत्यसङ्कुल्पस्य ब्रह्मण एव कार-
 णत्वं निश्चीयत इत्यत आह—

समाकर्षात् । १ । ४ । १५ ॥

४ “असद्वा इदमग्र आसीत्” इत्यत्रापि विपश्चिदानन्दमयं
 सत्यसङ्कुल्पं ब्रह्मैव समाकृत्यते । कथम् ! ५ “तस्माद्वा एतस्माद्वि-
 ज्ञानमयात् । अन्योऽन्तर आत्माऽनन्दमयः” ६ “सोऽकामयत ।
 बहु स्यां प्रजायेवति” ६ इदं सर्वमसृजत । यद्विदं किंच । तत्सृष्ट्वा ।

१. शारी. १-१-२ ॥

२. तै. आ. १ ॥

३. छा. ४-२-३ ॥

४. तै. आ. ७-१ ॥

५. २. आ. ४ ॥

६. तै. आ. ६ ॥

तदेयानुप्राविशत् । तदनुप्रविश्य सच्चत्यद्याभवत् ” इत्यादिना
 ब्राह्मणेनाऽनन्दमयं ब्रह्म सत्यसङ्कुलं सर्वस्य स्रष्टु सयानुप्रवेशेन
 सर्वात्मभूतमभिधाय १ “ तदप्येपरलोकोभवति ” इत्युक्तस्यार्थस्य
 सर्वस्य साक्षित्वेनोदाहृतोऽयं श्लोकः २ “अमहो इदमग्र आसीत्”
 इति । तथोत्तरत्र ३ “भीषाऽस्माद्वातः पयने” इत्यादिना तदेव
 ब्रह्म समाकृष्य सर्वस्य प्रशासितृत्वनिरतिशयानन्दत्वादयोऽभिधी-
 यन्ते । अतोऽयं मन्त्रस्तद्विषय एव । तदानीं नामरूपविभागाभावेन
 तत्सम्बन्धितयाऽस्तित्वाभावाद्ब्रह्मैवोसच्छब्देनोच्यते । ४, “असवेद्येद-
 मग्र आसीत्” इत्यत्राप्ययमेव निर्वाहः । यदुक्तं ५ “तर्ह्येदं तर्ह्य-
 व्याकृतमासीत्” इति प्रधानमेव जगत्कारणत्वेनाभिधीयत इति,
 नेत्युच्यते, तत्राप्यव्याकृतशब्देनाव्याकृतशरीरं ब्रह्मैवाभिधीयते ५
 “स एष इह प्रविष्ट आनजाग्रोभ्यः पश्यंश्चक्षुः शृण्वञ् धोत्रं मन्वानो
 मन आत्मेत्येवोपासीत” इत्यत्र ६ “स एषः” इति तच्छब्दे-
 नाव्याकृतशब्दनिर्दिष्टस्यान्तःप्रतिश्यप्रशासितृत्वेनानुकर्त्तव्यं, ६
 “तत्तुष्ट्वा तदेयानुप्राविशत्” ७ “अनेन जीवेनाऽत्मनाऽनुप्रविश्य
 नामरूपे व्याकरवाणि” इति स्रष्टुस्सर्वज्ञस्य परस्य ब्रह्मणः कार्या-
 नुप्रवेशानामरूपव्याकरणप्रसिद्धेऽर्थे । ८ “अन्तः प्रविष्टश्चास्ता जनानां”
 इति नियमनार्थत्वादनुप्रवेशस्य प्रधानस्याचेतनस्यैवंरूपोऽनुप्रवेशो
 न सम्भवति । अतः अव्याकृतम्—अव्याकृतशरीरं ब्रह्म ९ “तज्जाम-
 रूपाभ्यां व्याक्रियत” इति तदेवाधिभक्तनामरूपं ब्रह्म सर्वज्ञसत्य-

१. तै. आ. १ ॥

२. तै. आ. ८ ॥

५. ए. ३-४-७ ॥

७. छा. १-१-२ ॥

९. ए. १-४-७ ॥

२. तै. आ. ७ ॥

४. छा. ३-१४-१ ॥

५. तै. आ. ६ ॥

८. आरण्य. १-३-२१ ॥

सङ्कल्पं स्वेनैव विभक्तनामकं स्वयमेव व्याक्रियतेत्युच्यते । एवं च सति-ईक्षणादयो भुक्त्या एव भवन्ति । ब्रह्मात्मशब्दावपि निरतिशययुहस्वनियमनार्थव्यापित्वाभावेन प्रधाने न कथंचिदुपपद्येते । अतो ब्रह्मैककारणं जगदिति स्थितम् ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये कारणत्वाधिकरणम् ॥ ४ ॥

—*(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये जगद्धाचित्वाधिकरणम्)*

जगद्धाचित्वात् । १ । ४ १६ ॥

पुनरपि साङ्ख्यः प्रत्ययतिष्ठते—यद्यपि वेदान्तवाक्यानि चेतनं जगत्कारणत्वेन प्रतिपादयन्ति, तथापि तन्प्रसिद्धप्रधानपुरुषातिरिक्तं वस्तु जगत्कारणं वेद्यतया न तेभ्यः प्रतीयते । तथाहि—भोक्तारमेव पुरुषं कारणं वेद्यतयाऽधीयते कौपीतकिनो बालाक्यजातशत्रुसंघादे १ “ब्रह्म तं प्रयाणि” इत्युपक्रम्य १ “यो वै बालाक पतेपां पुरुषाणां कर्ता यस्य वैतत्कर्म स वै वेदितव्यः” इति उपक्रमे वक्तव्यतया बालाकिनोर्पाक्षस्तं ब्रह्माजानते तस्मा एवाजातशत्रुणा १ “स वै वेदितव्यः” इति ब्रह्मोपदिश्यते । १ “यस्य वैतत्कर्म” इति कर्मसम्यग्धा-त्प्रकृत्यध्यक्षो भोक्ता पुरुषो वेदितव्यतयोपदिष्टं ब्रह्मेति निश्चीयते, नार्थान्तरम्, तस्य कर्मसम्यग्धानभ्युपगमात् । कर्मच पुण्यापुण्यलक्षणां क्षेत्रज्ञस्यैव सम्भवति । न च यान्यम्—क्रियत इति कर्मेति व्युत्पत्त्या प्रत्यक्षादिप्रमाणोपस्थापितं जगदेतत्कर्मेति निर्दिश्यते, यस्यैतत्कृत्स्नं जगत्कर्म, स वेदितव्य इति क्षेत्रज्ञादर्थान्तरमेव प्रती-

यते—इति; १ “यो वै बालाके-एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य वैतत्कर्म”
 इति पृथग्निर्देशवैयर्थ्यात्, कर्मशब्दस्य च लोकवेदयोः पुण्यपाप-
 रूप एव कर्माणि प्रसिद्धेः । तत्तद्भोक्तृकर्मनिमित्तत्वाज्जगदुत्पत्तौरे-
 तेषां पुरुषाणां कर्तृति च भोक्तुरेवोपपद्यते । तदयमर्थः—एतेषामा-
 दित्यमण्डलाद्यधिकरणानां क्षेत्रज्ञभोग्यभोगोपकरणभूतानां पुरुषाणां
 यः कारणभूतः, एतत्कारणभावहेतुभूतं पुण्यापुण्यलक्षणं च कर्म
 यस्य, स वेदितव्यः—तत्स्वरूपं प्रकृतेर्विचिक्तं वेदितव्यम्—इति ।
 तथोत्तरत्र १ “तौ ह सुप्तं पुरुषमाजगमतुः तं यष्टिना चिक्षेप” इति
 सुप्तपुरुषागमनयष्टिघातोत्थापनादीनि च भोक्तृप्रतिपादन एव
 लिङ्गानि । तथोपरिष्ठादपि भोक्तृव्य प्रतिपाद्यते २ “तद्यथा ध्रेष्टी
 स्वैर्मुकुक्ते यथा या स्यादध्रेष्टिनं भुजन्त्येवमेवैव प्रज्ञात्मीतेरात्मभि-
 र्मुकुक्ते एवमेवैत आत्मान एनं भुजन्ति ” इति । तथा १ “कैषा
 एतद्बालाके पुरुषोऽशयिष्ट क था एतदभूत्कृत एतदायात्” इति पृष्ठम-
 र्थमज्ञानते तस्मै स्वयमेवाजातशत्रुरयाच ३ “हिना नाम नाख्यस्तासु
 तदा भवति यदा सुप्तस्वप्नं न कथंचन पश्यत्यथासिन्प्राण एवै-
 कधा भवति तदैव वाक्सर्वैर्नामभिस्सहाप्येति मनस्सर्वैर्ध्यानैस्सहा-
 प्येति स यदा प्रतिबुध्यते यथाग्नेर्ज्वलतस्सर्वा दिशो विस्फुलिङ्गा
 विप्रतिष्ठेरन्नेवमेवैतस्मादात्मनः प्राणा यथागतनं विप्रतिष्ठन्ते
 प्राणेभ्यो देवा देवभ्यो लोकाः” इति सुषुप्त्याधारतया स्वप्नसुषुप्ति-
 जागरितावस्थासु वर्तमानं यागादिकरणाध्ययोरग्रस्थानमेव जीवा-
 त्मानम् ३ “अथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति” इत्युक्तवान् । अस्मिन्
 जीवात्मनि प्राणभृत्स्वनिबन्धनोऽयं प्राणशब्दः ३ “स यदा प्रति-
 बुध्यते” इति प्राणशब्दनिर्दिष्टस्य प्रबोधश्रवणात् मुख्याप्राणस्ये-

भ्वरस्य च सुपुतिप्रबोधयोरसम्भवात् अथवा १“अस्मिन्प्राणे”
इति व्यधिकरणे सप्तम्या, अस्मिन्नात्मनि वर्तमाने प्राण एवैकधा
भवति धागादिकरणग्राम इति । प्राणशब्दस्य मुख्यप्राणपरत्वेऽपि
जीव एवास्मिन्प्रकरणे प्रतिपाद्यते, स्वतः प्राणस्य जीवोपकरण-
त्वात् । अतो घक्तव्यतयोपक्रान्तं ब्रह्म पुरुष एवेति तद्व्यतिरिक्ते-
भ्वरासिद्धेः । कारणगताभ्यक्षणाद्यभ्येतनधर्मा अस्मिन्नेवोपपद्यन्त
इत्येतदधिष्ठितं प्रधानमेव जगत्कारणम् ॥

—*—(सिद्धान्तः)—*—

इति प्राप्ते प्रचक्ष्महे—जगद्वाचित्वात्—अत्र पुण्यापुण्यपरगणः
शुद्धः श्रेष्ठस्त्वस्मिन् प्रकृतिधर्माध्यासेन तत्परिणामहेतुभूतः पुरुषो
नाभिधीयते; अपितु निरस्तसमस्तायिद्यादिदोषगन्धोऽनवधिकातिश-
यासङ्गोऽयमव्यागुणनिधिर्निखिल जगदेककारणभूतः पुरुषोत्तमो-
ऽभिधीयते । कुतः ? २“यस्य वैतत्कर्म” इत्यत्रैतच्छब्दान्वितस्य कर्म-
शब्दस्य परमपुरुषकार्यभूतजगद्वाचित्वात् । एतच्छब्दो ह्यर्थप्रकरणा-
दिभिरसङ्कुचितवृत्तिरविशेषेण प्रत्यक्षादिप्रमाणोपस्थापितनिखिलचि-
दचिन्मिश्रजगद्विषयः । न च पुण्यापुण्यलक्षणं कर्मात्र कर्मशब्दाभि-
धेयं २ “ब्रह्म ते वाचाणि” इत्युपक्रम्य ब्रह्मत्वेन बालाकिना निदि-
ष्टानामादित्यमण्डलाद्यधिकरणानां पुरुषाणामब्रह्मत्वेन २“सृष्ट्या
ये खलु गा संघादयिष्ठाः” इति तमब्रह्मवादिनमपेक्ष्य तेनायिदित-
ब्रह्मदानायाज्ञातशत्रुषोऽं वाक्यमवनारितं २ “यो वै बालाके”
इत्यादि । पुण्यापुण्यलक्षणकर्मसम्यन्धिन आदित्याद्यधिकरणास्त-
त्सजातीयाश्च पुरुषास्तेनैव विदिता इति तद्विदितपुरुषविशेषज्ञा-
पनपरोऽयं कर्मशब्दो न पुण्यापुण्यमात्रवाची; अगि तु वृत्तस्य

जगतः कार्यन्वयानी । एवमेव अलवचिदितोऽर्थ उपादिष्टो भवति ।
 पुरुषस्य कर्मसम्यग्धोपलक्षितस्याभाधिकस्यरूपस्याज्ञातस्य वेदितव्य-
 त्वोपदेशे च लक्षणा, कर्मसम्यग्धमात्रस्यैव वेदितव्यस्वरूपलक्षण-
 त्वाद्यस्य कर्म स वेदितव्य इत्येतावतीत्य तत्सिद्धेः, १ “यस्य चैत-
 त्कर्म” इत्येतच्छब्दवैयर्थ्यं च । १ “य एतेषां कर्त्ता यस्य चैतत्कर्म”
 इति पृथक्निर्देशस्य चायमभिप्रायः—ये त्वया ब्रह्मत्वेन निर्दिष्टाः
 तेषां यः कर्त्ता, ते यत्कार्यभूताः, किं विशिष्याभिधीयते, कृत्स्न
 जगद्यस्य कार्यम्, उत्कृष्टा अपकृष्टाश्चेतना अचेतनाश्च सर्वे पदार्था
 यत्कार्यत्वे तुल्याः, स परमकारणभूतः पुरुषोत्तमो वेदितव्यः—
 इति । जगदुत्पत्तेरजीवकर्मनिबन्धनत्वेऽपि न जीवस्त्वभोग्यभोगो-
 पकरणादेस्त्वयमुत्पादकः, अपि तु स्वकर्मानुगुण्येनैश्वरखण्डं सर्वं
 भुङ्क्ते; अतो न तस्य पुरुषान्प्रति कर्तृत्वमुपपद्यते । अतस्त्व-
 र्यवेदान्तेषु परमकारणतया प्रसिद्धं परं ब्रह्मैवात्र वेदितव्यतयो-
 पविश्यते ॥ १६ ॥

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेत्तद्व्याख्यातम् ।

१ । ४ । १७ ॥

अथ यदुक्तम्—जीवलिङ्गान्मुख्यप्राण संङ्कीर्तनाच्च—लिङ्गा-
 न्नोक्तैषा स्मिन्प्रकरणे प्रतिपाद्यते, न परमात्मा—इति; तद्व्याख्या-
 तम्—तस्य निर्वाहः प्रसर्दनविधायामभिहितः । एतदुक्तं भवति—
 यत्रोपक्रमोपसंहारयोर्लोचनया ब्रह्मपरं वाक्यमिति निश्चिनम्,
 तत्राभ्यलिङ्गानि तदनुरोधेन वर्णनीयानीनि तत्र प्रतिपादितम् । अत्रा-
 प्युपक्रमे १ ब्रह्म ते प्रयाणि” इति ब्रह्मोपक्षिप्तम्, मध्ये च १ “यस्य
 चैतत्कर्म” इति निर्दिष्टं न पुरुषमात्रम्, अपि तु निश्चिजगद्वेदकारणां

ब्रह्मैवेत्युक्तम् । उपसंहारे च ? "सर्वाङ्गात्मनोऽपहृत्य सर्वेषां च भूतानां श्रेष्ठं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्येति य एवं वेद" इति ब्रह्मोपासनेकान्तं सर्वपापापहतिपूर्वकं स्वाराज्यं च फलं धृतम् ; अतोऽस्य वाक्यस्य ब्रह्मपरत्वनिश्चयेन जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्यपि तत्परतया वर्णनीयानि—इति । प्रातर्दने ह्युपासाग्निध्वेन जीवमुख्यप्राणलिङ्गानां ब्रह्मपरत्वमुक्तम् ; अत्रापि २ "अथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति" इति सामानाधिकरण्यसम्भवे वैयधिकरण्यसमाश्रयणायोगाद्ब्रह्मण्येव प्राणशब्दप्रयोगनिश्चयेन च प्राणशरीरकब्रह्मोपासनार्थं प्राणसङ्कीर्तनं लिङ्गं युज्यते ॥ १७ ॥

जीवलिङ्गानां पुनः कथं ब्रह्मपरत्वमित्यब्राह्—

अन्यार्थं तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपि
चैवमेके । १ । ४ । १८ ॥

तुशब्दो जीवसङ्कीर्तनेन वाक्यस्य तत्परत्वसम्भायनाध्या-
वृत्त्यर्थः । अन्यार्थं जीवसङ्कीर्तनं जीवातिरिक्तब्रह्मस्वरूपप्रतिबोधना-
र्थमिति जैमिनिराचार्यो मन्यते । कुतः ? प्रश्नव्याख्यानाभ्याम् ;
प्रश्नस्तावत् ३ "तौ ह सुप्तं पुरुषमाजगमतुः" इत्यादिना सुप्तस्य प्रबु-
द्धप्राणस्यैव प्राणनामभिरामन्त्रणाश्रयणयष्टिघातोत्थापनाभ्यां प्राणा-
दिष्यतिरिक्तजीवं प्रतिबोध्य पुनर्जीवस्यतिरिक्तब्रह्मप्रतिबोधनपरो
दृश्यते ३ "कैप एतद्बालाके पुरुषोऽत्रापिष्ट क वा एतदभूत्कुत एत-
दागात्" इति । व्याख्यानमपि २ "यदा सुप्तस्वप्नं न कथञ्चन पश्यत्य-
थास्मिन्प्राण एवैकधा भवति एतस्मादात्मनः प्राणा यथायतनं विप्र-
तिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः" इति जीवावधान्दरभूतपर-

मात्मपरमेव । सुषुप्तस्य हि जीवस्य यत्रोपिनस्य जागरितस्वप्नदशा-
सम्बन्धिविचित्रसुखदुःखानुभवकालुष्यविरहेण संप्रसन्नस्य स्वस्य-
तापत्तिः, पुनरप्यस्य यस्माद्भोगाय निष्क्रमणम्, सोऽयं परमात्मा ।
तथाहि १“सता सोम्य तदा सम्पन्ना भवति” २“प्राज्ञेनाऽत्मना
सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्” इति सुषुप्तयोधारतया
प्रसिद्धो जीवादर्थान्तरभूतः प्राज्ञः परमात्मा । अतः प्रश्नप्रतिवच-
नाभ्यां जीवसङ्कीर्तनं जीवादर्थान्तरभूतपरमात्मप्रतिपादनार्थमिति
निर्द्ध्यते । यदुक्तं प्रश्नव्याख्यानं जीवपरे सुषुप्तिस्थानं च नाक्य एव,
कारणग्रामश्च प्राणशब्दनिर्विण्ढे जीव एवैकधा भवति—इति, तद-
युक्तम्, नाडीनां स्वप्नस्थानत्वात्, उक्तरीत्या ब्रह्मण एव सुषुप्तिस्थान-
त्वात् । प्राणशब्दनिर्विण्ढे ब्रह्मण्येव जीवस्य तदुपकरणभूतवागादि-
करणग्रामस्य चैकतापत्तिविभागवचनाच्च । अपिचैवमेकं—याज्ञसने-
यिनोऽस्मिन्नेव बालाक्यजातशत्रुसंवादे सुषुप्ताद्विज्ञानमयाङ्गदेन
तदाध्ययभूतं परमात्मानमामनन्ति ३“य एव विज्ञानमयः पुरुषः
कैव तदाऽभूत्कुत पतद्वागात्” ३ यत्रैव एतत्सुप्तोऽभूथ एव विज्ञा-
नमयः पुरुषस्तदेतेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमावाय य एषोऽ-
न्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छ्वेते” इति । आकाशशब्दश्च परमात्मनि
प्रसिद्धः ४“दहरोऽस्मिन्नन्तर आकाशः” इति । अतोऽत्र जीव-
सङ्कीर्तनं तस्मादर्थान्तरभूतस्य प्राज्ञस्य परस्य ब्रह्मणः प्रतिषेध-
नार्थमित्यवगम्यते । तस्मादस्मिन्वाक्ये पुरुषादर्थान्तरभूतस्य नि-
खिलजगत्कारणस्य परस्यैव ब्रह्मणो वेदितव्यतयाऽभिधाना-
द्यतन्त्रसिद्धस्य पुरुषस्य तदधिष्ठितस्य वा प्रधानस्य कारणत्वं कचिदपि
वेदान्ते प्रतीयत इति खिन्नम् ॥ १८ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये जगद्धाचित्याधिकरणम् ॥१४॥

—(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये वाक्यान्वयाधिकरणम्)—

वाक्यान्वयात् । १ । ४ । १९ ॥

अत्रापि कापिलतन्त्रसिद्धपुरुषतत्त्वावेदनपरं वाक्यं कचिद्-
 श्यत इति तदरिक्त ईश्वरो नाम न . कश्चित्सम्भवतीत्यशङ्क्य निराक-
 रोति । बृहदारण्यके मैत्रेयीब्राह्मणे श्रूयते—१ “न वा अरे पत्युः
 कामाय पतिः प्रियो भवति” इत्यारभ्यः—१ “न वा अरे सर्वस्य
 कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मा वा अरे द्रष्टव्यश्रोतव्यो मन्तव्यो
 निदिध्यासितव्यः मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे भुते मते विद्याते इदं
 सर्वं विदितम्” इति । तत्र संशयः—किमसिन्धाक्ये द्रष्टव्यतयोप-
 दिश्यमानस्तन्त्रसिद्धः पुरुषः एव ? अथवा सर्वग्रस्तस्य सङ्कल्पस्स-
 र्वेश्वरः ? इति । किं युक्तम् ? पुरुष इति । कुतः ? आदिमध्यावसा-
 नेषु पुरुषस्यैव प्रतीतेः ; उपक्रमे तावत्प्रतिज्ञायापुत्रवित्तपश्वादिप्रिय-
 त्वयोगाज्जीवात्मैव प्रतीयते ; मध्येऽपि २ “विज्ञानघन एवेतेभ्यो
 भूतेभ्यस्समुत्थाय तान्येवानुचिन्शति न प्रेत्य संश्र्वाऽस्ति” इत्युत्प-
 त्तिविनाशयोगात्स एवावगम्यते ; तथाऽन्तेच ३ “विद्यातारमरे केन
 विजानीयात्” इति स एव ज्ञाता क्षेत्रज्ञ एव प्रतीयते, नेश्वरः ।
 अतस्तन्त्रसिद्धपुरुषप्रतिपादनपरमिदं वाक्यमिति निश्चीयते । ननु
 “अमृततत्त्वस्य तु नाशऽस्ति विसेन” इत्युपक्रमामृतत्वप्राप्त्युपायो-
 पदेशपरमिदं वाक्यमित्यवगम्यते । तत्कथं पुरुषप्रतिपादनपरत्वमस्य
 वाक्यस्य ; तदुच्यते—अत एव हात्र पुरुषप्रतिपादनम् । तन्त्रे हाचिद्ध-
 र्माध्यासवियुक्तपुरुषस्वरूपरूपयाथात्म्यविज्ञानमेवामृततत्त्वहेतुत्वे—
 नोच्यते । अतो जीवात्मनः प्रकृतिवियुक्तं स्वरूपमिहामृतत्वाय

१“आत्मा वा अदे द्रष्टव्यः” इत्यादिनोपदिश्यते । सर्वेषामात्मनां प्रकृतिवियुक्तस्यात्मयाथात्म्यविज्ञानेन सर्वं एवात्मानो विदिता भवन्तीत्यात्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानमुपपन्नम् ; देवादिस्थावरान्तेषु सर्वेषु भूनेष्वात्मस्वरूपस्य धानैकप्रकारत्वात् २ “इदं सर्वं यद्यमात्मा” इत्यैकात्म्योपदेशः ; देवाद्याकाराणामनात्माकारत्वात् २ “सर्वं तं परादात्” इत्यादिनाऽन्यत्थनिषेधश्च ३ “यत्र हि द्वैनमिव भवति” इति च नानात्थनिषेधेनैकस्वरूपे ह्यात्मनि देवादिप्रकृतिपरिणामभेदेन नानात्वं मिथ्येत्युच्यते ; ४ “तस्य ह वा एतस्य महतो भूतस्य निश्चलितमेतद्यद्वेदः” इत्याद्यपि प्रकृतेरधिष्ठातृत्वेन पुरुषनिमित्तत्वाज्जगदुत्पत्तोरुपपद्यते । एवमस्मिन्वाक्ये पुरुषपरे निश्चिते सति तदैकाग्र्यात्सर्वं वेदन्तास्तन्त्रसिद्धं पुरुषमेवामिदधतीति तदधिष्ठिना प्रकृतिरेव जगदुपादानम् , नेश्वरः—इति ॥

—*(सिद्धान्तः)—

एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे—वाक्यान्ययात्—इति । सर्वेश्वर एवास्मिन्याक्ये प्रतीयते ; फलतः ? एवमेष हि वाक्याद्ययवानामन्योन्यान्वयस्समञ्जसो भवति । ५ “अमृतत्वस्य तु नाशाऽस्ति विरोधः” इति यावद्यल्यक्येनाभिहिते ५ “येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहि” इत्यमृतत्वानुपायतया विज्ञाद्यनावरेणामृतत्वप्राप्त्युपायमेव प्रार्थयमानायै मैत्रेय्यै तदुपायतया द्रष्टव्यत्वेनोपदिष्टोऽयमात्मा परमात्मैव १ “तमेव विदित्वाऽनिमृत्युमेति” ७ “तमेवं विद्वानमृत इह भवति नान्यः पन्थाः” इत्यादिभिरमृतत्वस्य परमपुरुषवेदनैकोपायतया प्रतिपादनात् । परमपुरुषविभूतिभूतस्य प्राप्तुरात्मनस्वरूपयाथात्म्यमपवर्गसाधनपरमपुरुषवेदनोपयोगितयाऽधगन्तव्यम् । न स्यात् एवोपायत्वेन । अतोऽत्र परमात्मै-

धामृतत्वोपायतया १ “ब्रष्टव्यः” इत्यादिनोपदिश्यते । तथा २ ‘तस्य
 इ वा एतस्य महतो भूतस्य निश्चसितमेतद्यद्वावेदः” इत्यादिना
 कृत्स्नस्य जगतः कारणत्वमुच्यमानं परमपुरुषादन्यस्य कर्मपरवशस्य
 मुक्तस्य निर्व्यापारस्य च पुरुषमात्रस्य न सम्भवति । तथा ३ “आ-
 त्मनो वा अरे दर्शनेन” इत्यादिना एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानमभिधी-
 यमानं सर्वात्मभूते परमात्मन्येवावकल्पते । यस्येतदेकरूपत्वात्मा-
 नामेकात्मविज्ञानेन सर्वात्मविज्ञानमुच्यत इति; तद्व्युक्तम् । अचेतन-
 प्रपञ्चज्ञानाभावेन सर्वविज्ञानाभावात् । प्रतिज्ञोपपादनाय च ४ “इदं
 ब्रह्मेदं क्षत्रम्” इत्युपक्रम्य ४ “इदं सर्वं यद्व्यमात्मा” इति प्रत्यक्षा-
 दिसिद्धं चिदचिन्मिश्रं प्रपञ्चम् ‘इदम्’ इति निर्दिश्य ‘एनद्व्यमात्मा’
 इत्येकात्म्योपदेशश्च परमात्मन एवोपपद्यते । नहीदंशब्दवाच्यं
 चिदचिन्मिश्रं जगत्पुरुषेणाचित्संसृष्टेन तद्व्युक्तेन स्वरूपेण चाऽ-
 वस्थितेन चैक्यमुपगच्छति । अतएव ४ “सर्वं तं परादाद्योऽन्य-
 त्राऽत्मनस्सर्वं वेद” इति व्यतिरिक्तत्वेन सर्ववेदननिन्दा च; तथा
 प्रथमेच मैत्रेयीब्राह्मणे ५ “महद्भूतमनन्तमपारम्” इति ध्रुता मह-
 त्त्वाद्यो गुणाः परमात्मन एव सम्भवन्ति । अतस्स एवात्र प्रति-
 पाद्यते । यत्तूक्तं पतिजायोपुत्रचित्तपञ्चादिप्रियान्ययिनो जीवात्मान
 उपक्रमे त्वन्वेष्टव्यतया प्रतिपादनात्तद्विषयमेवेदं वाक्यमिति; तद-
 व्युक्तम्, ६ “आत्मनस्तु * कामाय” इत्यात्मशब्देन जीवात्मसंशब्दने

* अत्रात्मशब्देन परमात्मा प्राज्ञः— यस्मात्पतिजायादीनां प्रियत्वं
 यत्संकल्पायां तस्मात्तस्य परमात्मनः प्रसादाय परमात्मा ब्रष्टव्यः । नहि
 परमात्मदर्शनेन प्रसन्नः सम्सर्वेषामपि यस्त्वां पतिजायादिवत्ततोऽधिकं वा
 प्रियत्वमापादयितुं शक्नोति । नपरयो मृत्युं परयति, नरोगं नेतुं दुःखता
 मितिभवत्यादितिभावः ॥

तस्य “आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः” इत्यनेनानन्वयप्रसङ्गात् । १ “आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः” इत्यात्मनो द्रष्टव्यत्वोपयोगितया १ “आत्मनस्तु कामाय” इत्युपदिष्टमिति प्रतीयते । आत्मनस्तु कामाय—आत्मनः कामसम्पत्तये; काम्यन्त इति कामाः; आत्मन इष्टसम्पत्तय इति यावत् । न च—जीवात्मन इष्टसम्पत्तये पत्यादयः प्रिया भवन्ति—इत्युक्ते सति तस्य जीवस्य स्वरूपमन्वेष्टव्यं भवति । प्रियमेव ह्यन्वेष्टव्यम्, नतु प्रियं प्रति शेषिणः प्रियधियुक्तं स्वरूपम् । यस्मादात्मन इष्टसम्पत्तये पत्यादयः प्रिया भवन्ति, तस्मात्पत्यादि प्रियं परित्यज्य तद्वियुक्तमात्मस्वरूपमन्वेष्टव्यमित्यसङ्गतं भवति । प्रत्युत न पत्यादि-शेषतया पत्यादीनां प्रियत्वम्; अपित्वात्मनःशेषतया पत्यादीनां प्रियत्वमित्युक्ते स्वशेषतया त एवोपादेयास्त्युः । १, “आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति” इत्यस्य परेणानन्वये वाक्यभेदः प्रसज्येत अभ्युपगम्यमानेऽपि वाक्यभेदे पूर्णवाक्यस्य न किञ्चित्प्रयोजनं दृश्यते । अतः पत्यादि सर्वं प्रियं परित्यज्यात्मन एवान्वेष्टव्यत्वं यथा प्रतीयते, तथा वाक्यार्थो वर्णनीयः; सोऽयमुच्यते—२ “अमृतत्वस्य तु नाशाऽस्ति वित्तेन” इति वित्तादीनां नित्यनिर्दोषनिरतिशयानन्दरूपाभृतत्वप्राप्तयनुपायतामुक्त्वाचित्तपुत्रपतिजायादीनां सातिशयदुःखमिश्रकादाचित्कप्रियत्वमनुभूयमानं न पत्यादिस्वरूपप्रयुक्तम्, अपितु निरतिशयानन्दस्वभावपरमात्मप्रयुक्तम् । अतो य एव स्वयं निरतिशयानन्दस्सन्नन्येषामपि प्रियत्वलेशास्पदत्वमापादयति, स परमात्मैव द्रष्टव्य इत्युपदिश्यते । तद्वयमर्थः—१ “न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति” न हि पतिजायापुत्रवि-त्तादयो मत्प्रयोजनायाहमस्य प्रियस्त्वामिति स्वसङ्कल्पादिप्रिया भवन्ति, अपि त्वात्मनः कामाय परमात्मनस्साराधकप्रियप्र-

तिलम्भनरूपेष्टनिवृत्तय इत्यर्थाः । परमात्मा हि कर्मभिराराधित-
स्तत्तत्कर्मानुगुणं प्रतिनियतदेशकालस्वरूपपरिमाणमाराधकानां तत्त-
द्वस्तुगतं प्रियत्वमापादयति १ एष श्रियानन्वयाति २ इति श्रुतेः ।
ननु तत्तद्वस्तु स्वरूपेण प्रियमप्रियं वा । यथोक्तं—“तदेव प्रीत्ये
भूत्वा पुनर्दुःखाय जायते । तदेव कोपाय यतः प्रसादाय च
जायते ॥ तस्माद्दुःखात्मकं नास्ति न च किञ्चित्सुखात्मकम्”
इति । २ “आत्मनस्तु कामाय” इत्यस्य जीवात्मपरत्वेऽपि
२ “आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः” इति तु परमात्मविषयमेव । तत्राय-
मर्थाः—यस्मात्पत्यादीनामिष्टसम्पत्तये तत्परवशेन पत्यादयः प्रियत्वेन
नोपादीयन्ते, अपित्वात्मैष्टसम्पत्तये स्वतन्त्रेण स्वप्रियत्वेनोपादीयन्ते,
तस्माद्य एवाऽऽत्मनो निरुपाधिकनिर्दोषनिरवधिकप्रियः परमात्मा,
स एव हि द्रष्टव्यः, न दुःखमिष्टाद्यसुखदुःखोदकाः परायस्तत्त-
त्स्वभावाः पतिजायापुत्रवित्तादयो विषयाः—इति । अस्मिन्स्तु प्रकरणे
जीवात्मवाचिशब्देनापि परमात्मन एवाभिधानात् २ “आत्मनस्तु
कामाय” २ “आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः” इति पूर्वोक्तप्रक्रिययोग्यव्रात्म-
शब्दाद्येकविषयी ॥ १९ ॥

मतान्तरेणापि जीवशब्देन परमात्माभिधानोपपादनायाह—

प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः । १ । ४ । २० ॥

एकविधानेन सर्वविद्यानप्रतिज्ञासिद्धेरिदं लिङ्गम्, यज्जीवात्म-
वाचिशब्दैः परमात्मनोऽभिधानम्—इत्याश्मरथ्य आचार्यां मन्य-
ते सः । यद्यर्थं जीवः परमात्मकार्यतया परमात्मैव न भवेत्, तदा
तद्व्यतिरिक्ततया परमात्मविज्ञानादेन विज्ञानं न सेत्स्यति । ३ “आत्मा
वा इदमेक एवाग्र आसीत्” इति प्राकृत्यष्टरेकत्वावधारणान्

१ "यथासुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गास्सद्वक्षशः प्रभवन्ते सरूपाः ।
तथाऽक्षराद्विधिधास्तोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति" इत्या-
दिभिर्ब्रह्मणो जीवानामुत्पत्तिप्रवणत्तस्मिन्नेव लयप्रवणाच्च जीवानां
ब्रह्मकार्यत्वेन ब्रह्मणैक्यमवगम्यते । अतो जीवशब्देन परमात्माभि-
धानमिति ॥ २० ॥

उत्क्रमिष्यत एवम्भावादित्यौडलोमिः । १।४।२१॥

यदुक्तं जीवस्य ब्रह्मकार्यतया ब्रह्मणैक्येनैकविधानेन सर्ववि-
धानप्रतिक्षोपपादनार्थं ब्रह्मणो जीवशब्देन प्रतिपादनमिति, तदयुक्तं
२ "नजायते म्रियते वा विपश्चित्" इत्यादिनाऽजत्वमुतेर्जोवात्मनां
प्राचीनकर्मफलभोगाय जगत्सृष्ट्यभ्युपगमाच्च, अन्यथा विपमसृष्ट्य-
नुपपत्तेश्च, ब्रह्मकार्यस्य जीवस्य ब्रह्मतापत्तिलक्षणो मोक्ष आकाशा-
दिवद्वर्जनीय इति तदुपायविधानानुष्ठानानर्थक्याच्च, घटादिवत्का-
रणप्राप्तेर्विनाशरूपत्वेन मोक्षस्यापुरुषार्थत्वाच्च । जीवात्मन उत्पत्ति-
प्रलयबाधोपपत्तिरुत्तरतः प्रपञ्चयिष्यते । अतः ३ "एष सम्प्रसादोऽस्मा-
च्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंगम्य स्वेन रूपेणामिनिष्पद्यते"
४ "यथा नद्यस्स्यन्दमानाः ससमुद्रे अस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।
तथा विद्वाञ्चांमरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्" इत्युत्क-
मिष्यतः परमात्मभावाज्जीवशब्देन परमात्मनोऽभिधानमित्यौडलो-
मिराचार्यो मग्न्यतेऽस्य ॥ २१ ॥

अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः । १।४।२२॥

यदुक्तमुत्क्रमिष्यतो जीवस्य ब्रह्मभावादुब्रह्मणस्तच्छब्देनाभि-

धानमिति; तदप्ययुक्तम्, चिकलपासहत्वात् । अस्य जीयात्मन
 उत्क्रान्तेः पूर्वमनेयम्भावः किं स्वाभाविकः; उतीपाधिकः, तद्व्यापि-
 पारमार्थिकः, अपारमार्थिका धेति । स्वाभाविकत्वे ब्रह्मभायो नोप-
 पद्यते, भेदस्य स्वरूपप्रयुक्तत्वेन स्वरूपे विद्यमाने तदनपायात् । अथ
 भेदेन सह स्वरूपमप्यर्पतीति, तथा सति चिनष्ट्याद्येव तस्य न ब्रह्म-
 भावः, अपुरुषार्थत्वादित्येव प्रसङ्गश्च । पारमार्थिकीपाधिकत्वे प्रागपि
 ब्रह्मैवेति 'उत्क्रमिष्यत एवम्भायात्' इति विशेषो न युज्यते यक्तुम् ।
 अस्मिन्पक्षेऽहं पाधिब्रह्मव्यतिरेकेण वस्तुवन्तराभावाभिरवयवस्य ब्रह्मण
 उपाधिना च्छेदाद्यसम्भवाच्चोपाधिगत एव भेद इत्युत्क्रान्तेः प्रागपि
 ब्रह्मैव । औपाधिकस्य भेदस्यापारमार्थिकत्वे कस्यायमुत्क्रान्ती
 ब्रह्मभाव इति यक्तव्यम् । ब्रह्मण एवाविद्योपाधितिरोहितस्वरूपस्येति
 चेन्न, नित्यमुक्तस्वरूपस्याविद्योपाधितिरोधानासम्भवात् ।
 तिरोधानं नाम वस्तुस्वरूपे विद्यमाने तत्प्रकाशनिवृत्तिः । प्रकाश एव
 वस्तुस्वरूपमित्यङ्गीकारे तिरोधानाभावस्वरूपनाशो वा ह्यात् ।
 अतो नित्याविर्भूतस्वरूपस्यात्तस्योत्क्रान्ती ब्रह्मभावे न कश्चिद्विशेष
 इति 'उत्क्रमिष्यतः' इति विशेषणं व्यर्थमेव । १"अस्माच्छरीरात्स-
 मुत्थाय" इति पूर्वमनेयं रूपस्य न तदानीं ब्रह्मतापत्तिमाह; अपितु
 पूर्वसिद्धस्वरूपस्याविर्भावम् । तथाहि यद्व्यते २"सम्पद्याविर्भाव-
 स्त्वेनशब्दात्" इत्यादिभिः । अतः ३"मनेन जीयेनाऽऽत्मनाऽनुप्र-
 विश्य" ४"य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्याऽ-
 त्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्माऽन्तर्याम्यमुतः" ५
 "योऽक्षरमन्तरे सञ्चरन्त्यस्याक्षरं शरीरं यमक्षरं न वेद एष सर्व-
 भूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः" ६"अन्तः

प्रविष्टशक्ता जनानां सर्वात्मा^१ इति स्वशरीरभूते जीवात्मन्यात्म-
 तयाऽवस्थितेर्जीवशब्देन ब्रह्मप्रतिपादनमिति काशकृत्स्न भाचार्यो
 मन्यते स्म । जीवशब्दश्च जीवस्य परमात्मपर्यन्तस्यैव वाचको न
 जीवमात्रस्येति पूर्वमेवोक्तम् १ "नामरूपे व्याकरणाणि" इत्यत्र ।
 एवमात्मशरीरभावेन तादात्म्योपपादने परस्य ब्रह्मणोऽपहृतपाप्म-
 त्वसर्वश्रव्यादिगोचरा जीवस्याधिदुःखशोचतो ब्रह्मोपासनान्मोक्षवा-
 दिन्यो जगत्सृष्टिप्रलयाभिधायिन्यो जगतो ब्रह्मतादात्म्योपदेशपराश्च
 सर्वाश्भुतयस्तस्म्यगुणपादिता भवन्तीति काशकृत्स्नोयमेव मतं सूत्र-
 कारस्वीकृतवान् । अयमत्र वाक्यार्थः—अमृतत्वोपाये मैत्रेय्या पृष्टे
 याज्ञवल्क्यः—२ "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" इत्यादिना परमात्मोपा-
 सनममृतत्वोपायमुक्त्या २ "आत्मनि शब्दरे दृष्टे" इत्यादिनोपास्य-
 लक्षणम्, दुन्दुभ्यादिदृष्टान्तैश्चोपासनोपकरणभूतमनः-प्रभृतिकरण-
 नियमनं च सामान्येनाभिधाय ३ "स यथाऽऽर्द्धेधाग्नेः" इत्यादिना
 ४ "स यथा सर्वासामपां समुद्र एकायनम्" इत्यादिना चोपास्यभूतस्य
 परस्य ब्रह्मणो निलिलजगदेककारणत्वम्, सकलयियप्रवृत्तिमूल-
 करणग्रामनियमनं च विस्तीर्णमुपदिश्य ५ "स यथा सैन्धवघनः"
 इत्यादिनाऽमृतत्वोपायप्रवृत्तिप्रोत्साहनाय जीवात्मस्वरूपेणावस्थितस्य
 परमात्मनोऽपरिच्छिन्नज्ञानैकाकारतामुपगम्य तस्यैवारिच्छिन्नज्ञानैका-
 कारस्य संसारदशायां भूतपरिणामानुवृत्तिं ६ "विज्ञानघन एवेनेभ्यो
 भूतेभ्यस्समुत्थाय नान्येवानुचिनश्यति" इत्यभिधाय ६ "न प्रेत्य
 संश्रान्ति" इति मोक्षदशायां स्वाभाविकापरिच्छिन्नज्ञानसङ्कोचभावेन
 भूतसङ्कानेनैकीकृत्याऽम्मनि देवादिरूपज्ञानाभायमुक्त्या पुनरपि ७ "यत्र

१. का. १-३-२ ॥ २. घ. १-२-६ ॥ ३. घ. ४-४-१० ॥ ४. घ. ४-४-११ ॥

५. घ. १-५-१३ ॥

६. घ. ४-४-१२ ॥

७. घ. ४-४-१४ ॥

हि द्वैतमिव भवति" इत्यादिना अग्रह्यात्मकत्वेन नानाभूतयस्तु-
दर्शनमज्ञानकृतमिति निरस्तनिखिलाज्ञानस्य ग्रह्यात्मकं कृतं जगद-
नुभवतो ब्रह्माव्यतिरिक्तयस्त्यन्तराभावेन भेददर्शनं निरस्य १ "येनेदं
सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्" इतिच जीवात्मा स्वात्मतयाऽ-
वस्थितेन येन परमात्मना आहितज्ञानस्सन्निधं सर्वं विजानाति, अयं
तं केन विजानीयात्, न केनापीति परमात्मनो दुरवगमत्वमुपपाद्य
२ "स एव नेतिनेति" इत्यादिनाऽयं सर्वेभ्वरस्स्वेतरसमस्तचिदचिद्व-
स्तुविलक्षणस्वरूप एव सर्वशरीरस्सर्वस्याऽत्मतयाऽवस्थित इति
स्वशरीरभूतचिदचिद्वस्तुगतैर्दोषैर्न स्पृश्यत इत्यभिधाय ३ "विद्यातार-
मरे केन विजानीयादित्युक्तानुशासनाऽसि मैत्रेय्येतावदरे खल्व-
मृतत्वम्" इति समस्तवस्तुविसजातीयं निखिलजगदेककारणभूतं
सर्वस्य विद्यातारं पुरुषोत्तममुक्तप्रकारादुपासनादृते केन विजानीया-
दितीदमेवोपासनममृतत्वोपायः, ब्रह्मप्राप्तिरेव चामृतत्वमभिधीयते-
इत्युक्तवान्। अतः परं ब्रह्मैवास्मिन्वाक्ये प्रतिपाद्यत इति परमेव
ब्रह्म जगत्कारणम्, न पुरुषस्तदधिष्ठिता च प्रकृतिरिति स्थितम् ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये वाक्यान्वयाधिकरणम् ॥ ६ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये प्रकृत्याधिकरणम् ॥ ७ ॥)

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टन्तानुपरोधोत् ॥ १॥४॥२३ ॥

एवं निरीभ्वरसाङ्ख्ये निरस्ते सति सेभ्वरसाङ्ख्यः पत्यवति-
ष्ठिते-यद्यपीक्षणादिगुणयोगात्सर्वज्ञमीभ्वरं जगत्कारणत्वेन चेदन्ताः
प्रतिपादयन्ति, तथापि चेदान्तेरेव जगदुपादानतया प्रधानमेव प्रति-

पाद्यत इति प्रतीयते । नहि वेदान्तास्सर्वद्वयस्यापरिणामिनोऽधिष्ठातुरी-
 श्वरस्याधिष्ठेयेनाचेतनेन परिणामिना प्रधानेन चिना जगतः कारण-
 स्वमवगमयन्ति । तथाह्यपरिणामिनं प्रधानेनं प्रकृतिं चैतदधिष्ठातां
 परिणामिनीमधीयते — १“निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरयद्यं निरञ्ज-
 नम्” २“स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरः” ३“विकारजननी-
 महामण्डरूपामजां ध्रुवाम्” ३“ध्यायतेऽध्यासिता नेन तन्यते प्रेर्यते
 पुनः । सूयते पुरुषार्थं च तेनैवाधिष्ठिता जगत् । गोरनाद्यन्तघटी सा
 जनित्री भूतमाविनी” इति । तथा प्रकृतिमुपादानभूतामधिष्ठायैवैश्वरो
 विश्वं जगत्सृजतीति ध्रुयते ४ “अस्मान्मायो सृजते विभ्वमेतत्
 ४“मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्” इति । स्मृतिरपि
 ५“मयाध्यक्षेण प्रकृतिस्सूयते सचराचरम्” इति । एवमभूतेऽपि ।
 प्रधानोपादानत्वे ब्रह्मणो जगत्कारणत्वभूत्यन्यथानुपपत्त्यैव प्रधानस्व-
 रूपं तस्यैश्वराधिष्ठितस्य जगदुपादानत्वं च सिद्ध्यति ।। एवमेव हि
 लोके निमित्तोपादानयोरत्यन्तमेवो दृश्यते । मृतसुवर्णादेरचेतनस्य
 घटकटकाद्युपादानत्वं चेतनस्य कुलालसुवर्णकारादेर्निमित्तत्वं च नि-
 यतमुपलभ्यते कार्यनिष्पत्तिश्च नियमेनानेककारकसव्यपेक्षा दृष्टा ।।
 एवं निमित्तोपादानयोर्मैद्वनियमं कार्यनिष्पत्तेरनेककारकसव्यपेक्षत्व-
 नियमं चातिक्रम्यैकमेव ब्रह्मोपादानं निमित्तं च प्रतिपादयितुं न प्रम-
 यन्ति वेदान्तवाक्यानि । अतो ब्रह्म निमित्तकारणमेव, नोपादानम् ।
 उपादानं तु तदधिष्ठितं प्रधानमेव—इति ॥

(सिद्धान्तः)

एवं प्राप्तेऽभिधीयते—प्रकृतिश्च प्रतिष्ठादृष्टान्तानुपरोधात्—इति ।
 प्रकृतिश्च—उपादानं च । न निमित्तकारणमात्रं ब्रह्म, उपादानकारणं

च ब्रह्मैवेत्यर्थः । कुतः ? प्रतिष्ठाद्वष्टान्तानुपरोधात् । एवमेवहि प्रतिष्ठा-
 द्वष्टान्तौ नोपकथ्येते । प्रतिष्ठा तावत् १ "स्तम्भोऽस्युत तमादेशमप्रा-
 क्ष्यः येनाभूतं भुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्" इत्येकविज्ञानेन
 सर्वविज्ञानविषया । द्वष्टान्तश्च २ "यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृ-
 ण्मयं विज्ञातं स्यात् ४ "यथा सोम्यैकेन लोहमणिना" ४ "यथा सोम्यै-
 केन नखनिकृन्तनेन" इति कारणविज्ञानात्कार्यविज्ञानविषयः । यदि
 निमित्तकारणमेव जगतो ब्रह्म, तदा तद्विज्ञानाच्च समस्तं जगद्विज्ञातं
 स्यात् । नहि कुलालादिविज्ञानेन घटादिर्विज्ञायते । अतः प्रतिष्ठाद्व-
 ष्टान्तयोर्बाध एव । ब्रह्मण एवोपादानत्वे उपादानभूतमृत्पिण्डलो-
 हमणि नखनिकृन्तनविज्ञानेन घटमणिककटकमुकुटयासीपर-
 भ्यधादितत्कार्यविज्ञानवन्निखिलजगदुपादानभूते ब्राह्मणि विज्ञाते
 तत्कार्यं निश्चितं जगद्विज्ञातं स्यात् । कारणमेवात्रस्थान्तरापत्तं
 कार्यम्, 'न द्रव्यान्तरमिति कार्यकारणरूपेणावस्थितमुत्तद्वि-
 कारादिनिर्देशेन प्रतिष्ठासमर्थनाद्ब्रह्म जगदुपादानं चेति निश्ची-
 यते । यत्तु निमित्तोपादानयोर्भेदश्रुत्यैव प्रतीयत इति, तदसत्,
 निमित्तोपादानयोरैक्यप्रतीतिः ५ "उत तमादेशमप्राक्ष्यः येनाभूतं भुतं
 भवति" इति । आदिश्यते प्रशिष्येनेऽनेनेत्यादेशः, ६ "एतस्य वा
 वा बह्वरस्य प्रशासने गार्गि" इत्यादिभूतेः । साधकतमत्वेन कर्ता
 विवक्षितः । तमादिष्टारमप्राक्ष्यः, येनाभूतं भुतं भवति, येनादिष्टाऽऽ-
 धिष्ठात्रा भूतेनाभूतमपि भुतं भवतीति निमित्तोपादानयोरैक्यं प्रती-
 यते, ७ "सन्नेय सोम्येदमग्न आसीदेकमेव" इति प्राक्स्फुट्टेरेकवावधा-
 रणाद्वितीयपदेनाधिष्ठात्रन्तरनिवारणाच्च । नन्वेवं सति ८ "विकार-
 जननीम्" ८ "गौरनाद्यन्तवती" इत्यादिभिः प्रकृतेराद्यन्नधिरहेण

नित्यत्वं जगदुपादानत्वं च भूयमाणं कथमुपपद्यते । तदुच्यते-तत्रा-
 प्यविभक्तनामरूपं कारणावस्थं ब्रह्मैव प्रकृतिशब्देनाभिधीयते । ब्रह्म-
 व्यतिरिक्तयस्थान्तराभावात् । तथाहि ध्रुवः १ "सर्वं तं परादाद्यो-
 ऽप्यत्राऽत्मनस्सर्वं वेद" २ "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं
 पश्येत्" इत्याद्याः ; ३ "सर्वं स्रष्टिदं ब्रह्म" ४ "पेतदात्म्यमिदं सर्वम्"
 इति कार्यावस्थं कारणावस्थं च सर्वं जगद्ब्रह्मात्मकमिति श्रवणाच्च ।
 एतदुक्तं भवति—१ "यः पृथिवीमन्तरे सञ्चरन्त्यस्य पृथिवी शरीरं यं
 पृथिवी न वेद" इत्यारभ्य ५ "योऽव्यक्तमन्तरे सञ्चरन्त्यस्याव्यक्तं
 शरीरं यमव्यक्तं न वेद" ६ "योऽक्षरमन्तरे सञ्चरन्त्यस्याक्षरं शरीरं यमक्षरं
 न वेद" ७ "यः पृथिव्यां तिष्ठान्पृथिव्या अन्तरां यं पृथिवी न वेद यस्य
 पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति" इत्यारभ्य ८ "य आत्मनि
 तिष्ठान्मात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्याऽत्मा शरीरं य आत्मा-
 नमन्तरो यमयति त आत्माऽन्तर्याम्यमृता" इति च सर्वचिदचिद्व-
 स्तुशरीरनया सर्वदा सर्वात्मभूतं परं ब्रह्म कदाचिद्विभक्तनामरूपम्,
 कदाचिद्विभक्तनामरूपम्; यदा विभक्तनामरूपं तदा तदेव द्रष्टृत्वेन
 कार्यत्वेन चोच्यते; यदा चाविभक्तनामरूपं तदैकमद्वितीयं कारण-
 मिति च । एवं सर्वदा चिदचिद्वस्तुशरीरस्य परस्य ब्रह्मणोऽविभक्त-
 नामरूपा या कारणावस्था सा ९ "गौरनाद्यन्तवती" ९ "विकारजन-
 नीमलाम्" १० "अजामेकाम्" इत्यादिभिरभिधीयते--इति । ननु च
 ११ "महानव्यक्ते लीयते अव्यक्तमक्षरे लीयते" इति प्रलयधर्तेरव्यक्त-
 स्योत्पत्तिप्रलयौ प्रतीयते; तथा च महाभारते ११ "तस्मादव्यक्त-

१. वृ. १-१-७ ॥

२. वृ. १-१-१४ ॥

३. वा. ३-१४-१ ॥

४. वा. १-८-७ ॥

५. सुभा. ७ ॥

६. वृ. २-७-३ ॥

७. वृ. ५-७-२२ ॥

८. मन्त्रिकोप ॥

९. श्वे. ४-५ ॥

१०. सुभा. २ ॥

११. भारते, शाम्भू. मोक्ष. ८-१३, १४ ॥

मुत्पन्नं त्रिगुणं द्विजसत्तमम् १० अथैकं पुरुषे ब्रह्मक्षिप्रिये सम्प्रली-
यते ॥ इति । नैप दोषः, अचिद्वस्तुशरीरस्य ब्रह्मणोऽव्यक्तशब्दाच्या-
यास्त्रिगुणावस्थायाः कार्यत्वात् । "यदा तमस्तमं दिवा न रात्रिः"
इति कृत्स्नप्रलयदशायामपि ब्रह्मात्मकस्यातिसूक्ष्मस्याचिद्वस्तुनस्थि-
त्यभिधाना जगत्कारणस्य परस्य ब्रह्मणः प्रकारभूतमतिसूक्ष्मं चाचि-
द्वस्तु नित्यमेवेति तत्प्रकारं ब्रह्मैव २० "गौरनाद्यन्तयती" इत्यादिष्वभि-
धीयते । अत एव च ३० "अक्षरं तमसि लीयते तमः परे देय एकी
भवति" इति तमस एकीभायमात्रमेव भूयते, न तु लयः । एकीभाय
इति तमोभिधानातिसूक्ष्माचित्प्रकारस्य ब्रह्मणोऽविभक्तानामरूपतया-
ऽवस्थानमभिधीयते । "तम आसीत्तमसा गूढमग्रे प्रकृतं तमसस्त-
न्महिनाजायतैकम्" इत्याद्यप्येतदेव वदति । तथा च मानवं यच्चः
४० "मासो दिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् । अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्त-
मिव सर्वतः" इति । ५० "अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्" इत्याद्यन्त-
रमेषोपपादयिष्यते; ब्रह्मणोऽपरिणामित्वधृतयश्च । यत्वेकस्य निमित्त-
त्वमुपादाकत्वं च न सम्भवति, एककारकनिष्पाद्यत्वं च कार्यस्य
लोके तथा नियमवर्शनात् । अतोऽग्निना सिञ्चेदिति पदेदास्तवाग्न्या-
न्येकस्यावेद्योत्पत्तिं प्रतिपादयितुं न प्रभवन्तीति । अत्रोच्यते—सकले-
तरविलक्षणस्य परस्य ब्रह्मणस्सर्वशक्तेस्सर्वप्रस्यैकस्यैव सर्वमुपपद्यते ।
मृदादेरचेतनस्य ज्ञानाभावेनाधिष्ठातृत्वायोगादाधिष्ठातुः कुलालादे-
र्विचित्रपरिणामशक्तिविरहात्सत्यसङ्कल्पतया च तथा दर्शननियमः ।
अतो ब्रह्मैव जगतो निमित्तमुपादानं च ॥२३॥

अभिध्योपदेशाच्च । १ । ४ । २४ ॥

इतश्चोभयं ब्रह्मैव, १० "सोऽकामायत बहु स्यां प्रजायेयेति"

१ "तर्देक्षत बहु स्यां प्रजायेय" इति स्रष्टुर्ब्रह्मणस्त्वस्यैव बहुभवनसङ्क-
ल्योपदेशात् । विचित्रचिद्विद्रूपेणाहमेव बहु स्यां तथा प्रजायेयेति
सङ्कल्पपूर्विका हि सृष्टिरुपदिश्यते ॥२४॥

साक्षाच्चोभयाम्नानात् । १ । ४ । २५ ॥

न केवलं प्रतिष्ठाद्वष्टान्ताभिध्योपदेशादिगिर्यमर्थो निश्चीयते,
ब्रह्मण एव निमित्तत्वमुपादानत्वं साक्षादाम्नायते २ "किं स्विद्वनं क उ
स वृक्ष आसीद्यतो द्यावापृथिवी निष्ठतक्षुः । मनीषिणो मनसा पृच्छ-
तेदुतद्यध्यतिष्ठद्बुधनानि धारयन् । ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आसीद्यतो
द्यावापृथिवी निष्ठतक्षुः । मनीषिणो मनसा विप्रवीमि 'चो ब्रह्माध्यति-
ष्ठद्बुधनानि धारयन्' इति । अतः हि स्रष्टुर्ब्रह्मणः किमुपादानं कानि
चोपकरणानीति लोकदृष्ट्या पृष्टे सकलेतरविलक्षणस्य ब्रह्मणस्सर्वश-
क्तिं योगो न विरुद्ध इति ब्रह्मैवोपादानमुपकरणानि चेति परिहृतम् ।
अतश्चोभयं ब्रह्म ॥२५॥

आत्मकृतेः १ । ४ । २६ ॥

३ "सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय" इति सिंस्रुत्वेन प्रकृतस्य
ब्रह्मणः ४ "तदात्मानं स्वयमकुक्षत" इति स्रष्टुः कर्मत्वं कर्तृत्वं च
प्रतीयत इत्यात्मन एव बहुत्वकरणात्तस्यैव निमित्तत्वमुपादानत्वं च
प्रतीयते । अविभक्तनामरूप आत्मा कर्ता, स एव विभक्तनामरूपः
कार्यमिति मर्तृत्वकर्मत्वयोर्न विरोधः । स्वयमेवाऽत्मानं तथाऽकुक्षतेति
निमित्तमुपादानं च ॥२६॥

१“सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म” २“आनन्दो ब्रह्म” ३“अपहृतपाप्मा
विज्ञो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः” ४“निष्कलं निष्क्रियं
शान्तं निरवयवं निरञ्जनम्” ५“स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरः
इति स्वभायतो निरस्तसमस्तचेतनाचेतनवर्तिदोषगन्धस्य निरतिश-
यज्ञानानन्दैकतानस्य परस्य ब्रह्मणो विचित्रानन्तापुरुषार्थास्पदचिद-
चिन्मिथप्रपञ्चरूपेणऽत्मनो बहुभयनसङ्कल्पपूर्वकं बहुत्यकरणं कथमु-
पपद्यत इत्याशङ्क्याह—

परिणामात् । १ । ४ । २७ ॥

परिणामस्वाभाव्यात्; नात्रोपदिश्यमानस्य परिणामस्य
परसिन्धुब्रह्मणि दोषावहत्यं स्वभावात्. प्रत्युतनिरङ्कु शैश्वर्यावहत्यमेवे-
त्यभिप्रायः । एयमेव हि परिणाम उपदिश्यते; अशेषदेयप्रत्यनीकक-
ल्याणैकतानं सौतरसमस्तशस्तुचिलक्षणं सर्वज्ञं सत्यसङ्कल्पमयान-
समस्तकाममनवधिकानिशयानन्दं स्वलीलोपकरणभूतसमस्तचिदचिद-
स्तुजानशरीरतया तदात्मभूतं परं ब्रह्म स्वशरीरभूतं प्रपञ्चे तन्मात्रा-
हङ्कारादिकारणपरम्परया तमश्शब्दवाच्यातिसूक्ष्माचिह्नस्त्येकशेषे
सति, तमसि च. स्वशरीरतयापि पृथङ्निर्देशानर्हातिसूक्ष्मदशागस्या
स्वसिन्नेकतामापद्ये सति, तथाभूततमश्शरीरं ब्रह्म पूर्ववद्विभक्तनाम-
रूपचिदचिन्मिथप्रपञ्चशरीरं स्यामिति सङ्कल्प्याप्ययक्रमेण जगच्छरी-
रतया आत्मानं परिणमयतीति सर्वेषु वेदान्तेषु परिणामोपदेशः ।
तथैव बृहदारण्यके कृत्स्नस्य जगतो ब्रह्मशरीरत्वं ब्रह्मणस्तदात्मत्वं
चाम्नायने १“यः पृथिव्यां तिष्ठन्पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद

१. तै. सा. १-१ ॥ २. तै. अ. १ ॥ ३. का. ८-१-२ ॥

४. अ. १-१६ ॥ ५. य. १-४-२५ ॥

६. य. ५-७-३ पाठ्यभारतस्य यस्यरेतशरीरमिति ३३ पाठ्यपर्यन्तम् ॥

यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्या-
म्यमृतः” इत्यारभ्य “यस्यापश्शरीरम्” “यस्याग्निश्शरीरं”
“यस्यान्तरिक्षं शरीरम्” “यस्य वायुश्शरीरम्” “यस्य द्यौश्श-
रीरम्” “यस्यादित्यश्शरीरम्” “यस्य दिशश्शरीरम्” “यस्य
चन्द्रनारकं शरीरम्” “यस्याकाशश्शरीरम्” “यस्य तमश्शरीरं”
“यस्य तेजश्शरीरम्” “यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरम्” “यस्य
प्राणश्शरीरम्” “यस्य वाक्छरीरम्” “यस्य चक्षुश्शरीरम्”
“यस्य श्रोत्रं शरीरम्” “यस्त मनश्शरीरम्” “यस्य त्वक्छ-
रीरम्” “यस्य विज्ञानं शरीरम्” “यस्य रेतश्शरीरं” इत्येवम-
न्तेन काण्वपाठे माध्यन्दिने तु पाठे विज्ञानस्थाने ‘यस्याऽत्मा शरी-
रम्’ इति विशेषः । लोकयष्टवेदानां परमात्मशरीरत्वमधिकम् ।
सुबालोपनिषदि च पृथिव्यादीनां तत्त्वानां परमात्मशरीरत्वमभि-
धाय चाजसनेयकेऽनुक्तानामपि तत्त्वानां शरीरत्वं ब्रह्मण आत्मर्त्यं
च भूयते १ “यस्य बुद्धिश्शरीरम्” १ “यस्याहङ्कारश्शरीरं” १ “यस्य
चित्तं शरीरं” १ “यस्याव्यक्तं शरीरम्” १ “यस्याक्षरं शरीरम्” “यो
मृत्युमन्तरे सञ्जरन्त्यस्य मृत्युश्शरीरं यं मृत्युर्न वेद एष सर्वभूता-
न्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः” इति । अत्र
मृत्युशब्देन परमसूक्ष्ममचिह्नस्तुतमश्शब्दाभ्यामभिधीयते, २ “अव्य-
क्तमक्षरे लीयते अक्षरं तमसि लीयते” इति तस्यामेवोपनिषदि क्रमप्र-
त्यभिधानात् । सर्वेषामात्मनां धानावरणानर्थमूलत्वेन तदेव हि तमो
मृत्युशब्दव्यपदेश्यम् । सुबालोपनिषदे च ब्रह्मशरीरतया नदात्मकानां
तत्त्वानां ब्रह्मण्येव प्रलय भासायते २ “पृथिव्यप्सु प्रलीयते आपस्ते-
जसि लीयन्ते तेजो घायी लीयते वायुराकाशे लीयते आकाशमिन्द्रि-
येष्विन्द्रियाणि तन्मात्रेषु तन्मात्राणि भूतादी लीयन्ते भूताविर्महन्ति

लीयते महानव्यक्ते लीयते अव्यक्तमक्षरे लीयते अक्षरं तमसि लीयते
 तमः परे देवे एकी भवति" इति । अधिभागापत्तिदशायामपि
 चिदचिद्वस्तुत्वतिसूक्ष्मं सकर्मसंस्कारं तिष्ठतीत्युत्तरत्न वक्ष्यते—१“न
 कर्माधिभागादिति चेन्नानादित्वादुपगम्यते चाप्युपलभ्यतेच ” इति ।
 एवं स्वसाक्षिभागव्यपदेशानर्हन्तया परमात्मनैकीभूतात्यन्तसूक्ष्मचिद-
 चिद्वस्तुशरीरादेकस्मादेवाद्वितीयाक्षिरतिशयानन्दात्सर्वभात्सल्यसङ्ग-
 त्पाद्विज्ञानो नामरूपविभागार्हस्थूलचिदचिद्वस्तुशरीरतया बहुभवन-
 सङ्कल्पपूर्वको जगदाकारेण परिणामश्च्युते । २“सत्यं ज्ञानमनन्तं
 ब्रह्म” ३“तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात् । अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्द-
 मयः” ४“एष होवानन्दयाति” ५“सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेयेति
 स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमखुजत यदिदं किञ्च तत्सृष्ट्वा
 तदेवानुप्राविशत् तदनु प्रविश्य सद्य त्यजामधत् निरुक्तं चानिरुक्तं च
 निलयनं चानिलयनं च विज्ञानं चाविज्ञानं च सत्यं चानृतं च सत्य-
 मभवत्” इति । अत्र तपश्शब्देन प्राचीनजगदाकारपर्यालोचनरूपं
 ज्ञानमभिधीयते ६“यस्य ज्ञानमयं तपः” इत्यादिभ्रुतेः । प्राक्सृष्टं
 जगत्संज्ञानमालोच्येदानीमपि तत्संज्ञानं जगदखुजदित्यर्थः ; तथैव हि
 ब्रह्म सर्वेषु कल्पेष्वेकरूपमेव जगत्सृजति ७“सूर्याचन्द्रमसौ धाता
 यथापूर्यमकल्पयत् । दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो सुवः”
 ८“यद्यत्तुंश्वृतुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये । दृश्यन्ते तानितान्येव
 तथा भाषां युगादिषु” इति ध्रुतिस्मृतिभ्यः । तदयमर्थः—स्वयमपरि-
 च्छिन्नज्ञानानन्दव्यभावोऽत्यन्तसूक्ष्मनयाऽसत्कल्पस्वलीलोगकरणचिद-
 चिद्वस्तुशरीरतया तन्मयः परमात्मा विचित्रानन्तक्रीडनकोपादित्सया

१. शांती. २-१-३२ ॥

२. तै. आ. १-१ ॥

३. तै. आ. २-२ ॥

४. तै. आ. ७-७ ॥

५. तै. आ. ६-२ ॥

६. जु. १-१-१ ॥

७. तै. आरा. १-२४ ॥

८. वि. पु. १-२-६५ ॥

स्वशरीरभूतप्रकृतिपुरुषसमष्टिपरम्परया महाभूतपर्यन्तमात्मानं तत्त-
च्छरीरकं परिणमय्य तन्मयः पुनस्तत्त्यच्छब्दवाच्यविचित्रचिद-
चिन्मिथदेवादित्थावरान्तजगद्रूपोऽभवत्—इति । १“तदेवानुप्राविश-
त्तदनुप्रविश्य” इति कारणावस्थायामात्मतयाऽवस्थितः परमात्मैव
कार्यरूपेण विक्रियमाणद्रव्यस्याप्यात्मतयाऽवस्थाय तत्तदमवदित्यु-
च्यते । एवं परमात्मचिदचित्सङ्घातरूपजगदाकारपरिणामे परमात्म-
शरीरभूतचिदंशगतास्सर्वे एवापुरुषार्थाः ; तथाभूताचिदंशगताश्च
सर्वे विकाराः ; परमात्मनि कार्यत्वम् ; तदवस्थयोस्तयोर्नियन्तृत्वेना-
त्मत्वम् ; परमात्मा तु तयोस्त्वशरीरभूतयोर्नियन्तृतयात्मभूतस्तद्वतां-
पुरुषार्थैर्विकारैश्च न स्पृश्यते; अपरिच्छिन्नज्ञानानन्दमयस्सर्वदैकरूप
एव जगत्परिवर्तनलीलयाऽवतिष्ठते । तदेतदाह २“सत्यं चानृतं च
सत्यममवत्” इति । विचित्रचिदचिद्रूपेण विक्रियमाणमपि ब्रह्म
सत्यमेवावयत्—निरस्तनिषिद्धदोषगन्धमपरिच्छिन्नज्ञानानन्दमेकरूप-
मेवावयदित्यर्थः । सर्वाणि चिदचिद्वस्तूनि सूक्ष्मवशापन्नानि स्थूल-
वशापन्नानि च परस्य ब्रह्मणो लीलोपकरणानि; सृष्ट्यादयश्च लीलेनि
भगवद्बुद्धेर्गायमपराशरादिभिरुक्तम् ३“अव्यक्तादिघिशेषान्तं परिणाम-
धिसंयुतम् । क्रीडा हरेरिदं सर्वं क्षरमित्युपधार्यताम्” ४“क्रीडनो
बालकस्येव चेष्टा तस्य निशामय” ५ “बालः क्रीडनकैरिष”
इत्यादिभिः । यक्ष्यन्तिच ६ “लोकयत्तु लीलाकैवल्यम्” इति ।
७“अस्मान्मायी सृजते विभ्वमेतत्तस्मिन्नान्यो मायया सर्गिरुद्धः” इति
ब्रह्मणि जगद्रूपतया विक्रियमाणेऽपि तत्प्रकारभूताचिदंशगतास्सर्वे
विकारास्तत्प्रकारभूतक्षेत्रज्ञगताश्चापुरुषार्था इति विवेक्तुं प्रकृतिपुरुष-
गोब्रह्मशरीरभूतयोस्तदानीं तथा निर्देशानर्हानिसूक्ष्मवशापस्या

१. तै. भा. १-३ ॥ २. वि. पु. १-२-१८ ॥ ३. वायुपु. उत्तरखं. ३६-३६ ॥

४. शारी. २-१-३३ ॥ ५. श्वे. ४-३ ॥ ६. तै. भा. ७ ॥ ७. मनु. १-८ ॥

ब्रह्मण्यैकीभूतयोरपि भेदेन व्यगदेशः, १ "तदात्मानं खयमकुरुत" इत्यादिभिरैकाध्यात् । तथाच मानवं यच्चः २ "सोऽमिध्याय शरीरा-
त्स्वात्सिद्धुर्विधिधाः प्रजाः । अप एव ससर्जादौ तासु धीर्यमपा-
सृजत्" इति । अत एव ब्रह्मणा निर्दोषत्वनिर्विकारत्यश्रुतयश्चोप-
पन्नाः । अतो ब्रह्मेव जगतो निमित्तमुपादानञ्च ॥ २७ ॥

योनिश्चहि गीयते । १ । ४ । २८ ॥

इतश्च जगतो निमित्तमुपादानञ्च ब्रह्म, यस्माद्योनित्वेनाप्यभि-
धीयते ३ "कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्म योनिम्" इति । ४ "यद्वृत्तयोनिं
परिणययति धीराः" इति च योनिशब्दोपादानवचन इति
४ "यथोर्णानामिस्सृजते गृह्णे च" इति वाक्यशेषादयमभ्यन्ते ॥ २८ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये प्रकृत्याधिकरणम् ॥ ७ ॥

-*- (श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये सर्वव्याख्यानाधिकरणम् ॥ ६ ॥) -*-

एतेन सर्वे व्याख्याताव्याख्याताः । १ । ४ । २९ ॥

एतेन पादचतुष्टयोक्तन्यायकलापेन, सर्ववैदान्तेषु जगत्कारण-
प्रतिपादनपरास्सर्वे वाक्यविशेषाश्चेतनविलक्षणसर्वदासर्वशक्तिब्रह्म-
प्रतिपादनपरा व्याख्याताः । 'व्याख्याताः' इति पदभाष्यासौऽध्याय-
परिसमाप्तिद्योतनार्थः ॥ २९ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये सर्वव्याख्यानाधिकरणम् ॥ ८ ॥

इति श्रीमग्नवद्रामानुजनिर्निने शारीरकमीमांसा भाष्ये

प्रथमस्माध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

॥ समाप्तश्चाध्यायः ॥

श्रीः

श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये प्रथमाध्यायस्य अकारादिक्रमेण सूत्राणां सूची ॥

| सूत्राणि. | पं- ३ | पं- ८ | पं- १४ | सूत्राणि. | पं- ३ | पं- ८ | पं- १४ |
|----------------------------|----------|----------|-----------|-----------------------------|----------|----------|-----------|
| अचरमम्बरान्तधृतेः. | १ | ३ | ६ | अस्मिन्नस्य च तद्योगं | १ | १ | २० |
| अत एव च नित्यत्वम्. | १ | ३ | २८ | अवस्थितेरितिका- | १ | ४ | २२ |
| अत एव च स ब्रह्म. | १ | २ | १६ | आकाशोऽर्थान्तरत्वा- | १ | ३ | ४२ |
| अत एव न देवता भूत- | १ | २ | २८ | आकाशस्तद्विज्ञात्. | १ | १ | २३ |
| अत एव प्राणः. | १ | १ | २४ | आन्दमयोऽभ्यासात्. | १ | १ | १३ |
| अत्ता चराचरग्रहणात्. | १ | २ | ६ | आमनन्तिधीनम- | १ | २ | ३३ |
| अथातो ब्रह्मजिज्ञासा. | १ | १ | १ | आत्मकृतेः | १ | ४ | २६ |
| अद्वयत्वादिगुणको धर्मोक्तौ | १ | २ | २२ | आनुमानिकमप्येकेषां | १ | ४ | १ |
| अनवस्थितेः संभवाच्च | १ | २ | १८ | ६. | | | |
| अनुकृतेस्तस्य च. | १ | ३ | २१ | इतरपरामर्शास्त- | १ | ३ | १० |
| अनुपपत्तौ न शारीरः | १ | २ | ३ | ६. | | | |
| अनुस्यूतेर्बादरिः. | १ | २ | ३१ | ईदृशिकर्मपक्षदेशास्तः | १ | ३ | १२ |
| अन्तर उपपत्तेः. | १ | २ | १३ | ईदृशेर्नाशब्दम्. | १ | १ | ५ |
| अन्तर्वाग्यभिर्देवाधी | १ | २ | १६ | ७. | | | |
| अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् | १ | १ | २१ | उक्तमिष्यत एवं भा- | १ | ४ | २१ |
| अन्वयावगम्यादुपेक्ष | १ | ३ | ११ | उत्तरस्य यैरर्थेन विज्ञात्. | १ | ३ | ३१ |
| अग्यार्थं तु जैमिनि- | १ | ४ | १८ | उत्तराच्चेदादिभूत- | १ | ३ | १८ |
| अग्याथंश्च परामर्शः | १ | ३ | १९ | उपदेशभेदाद्येति- | १ | १ | २८ |
| अपि स्मर्यते. | १ | ३ | २२ | उभयेऽपि हि भेदेनैव नम | १ | २ | २१ |
| अभिधोपदेशाच्च. | १ | ४ | २४ | ८. | | | |
| अभिधोपदेशादपरमरम्यः | १ | २ | ३० | एतेन सर्वे व्याख्याता- | १ | ४ | २६ |
| अल्पभुते रितित्वे- | १ | ३ | २० | ९. | | | |
| अर्भकोक्तत्वाच्च- | १ | २ | ७ | क. | | | |
| | | | | कल्पनात्. | १ | ३ | ४० |

| सूत्राणि. | ० क. | ० ख. | ० ग. | सूत्राणि. | ० क. | ० ख. | ० ग. |
|-----------------------------|---------|---------|---------|-----------------------------|---------|---------|---------|
| कर्मकर्तृव्यपदेशात् | १ | २ | ४ | तदधीनत्वादर्थवत्. | १ | ४ | ३ |
| कामाद्यमानुमाना- | १ | १ | १६ | तदभावनिर्धारणे च- | १ | ३ | ३७ |
| कल्पनोपदेशाच्च मध्यवि- | १ | ४ | १० | तदुपर्यपि चात्रायणः | १ | ३ | २५ |
| करणत्वेन चाका- | १ | ४ | १४ | तद्येमुव्यपदेशाच्च. | १ | १ | १५ |
| चन्निवत्यगतेष्व- | १ | ३ | ३४ | तन्निष्ठस्य मोक्षोप- | १ | १ | ७ |
| न. | | | | प्रयागामेव चैवमु- | १ | ४ | ६ |
| गतिशब्दाभ्यां तथा- | १ | ३ | १४ | व. | | | |
| गतिसामान्यात्. | १ | १ | ११ | वदर उत्तरेभ्यः. | १ | ३ | १३ |
| गुहां प्रविष्टावात्मा- | १ | २ | ११ | शुभ्वाद्यायतनं स्व- | | ३ | १ |
| गोप्यरचेप्तात्मशब्दान् | १ | १ | ६ | ध. | | | |
| न. | | | | धर्मोपपत्तेः. | १ | ३ | ८ |
| चमसवद्विज्ञोपान् | १ | ४ | ८ | एतेष्व मन्त्रिभ्यो- | १ | ३ | १५ |
| छ. | | | | न. | | | |
| हन्द्दोभिधानाशेतिचेत् | १ | १ | २१ | न च स्मार्तमतद्वर्मा- | १ | २ | २० |
| ज. | | | | न वक्तुरात्मोपदेशा- | १ | १ | ३० |
| जगद्वाचित्वान्. | १ | ४ | १६ | न संख्योपसंग्रहा | १ | ४ | ११ |
| जन्माद्यस्य यतः | १ | १ | २ | मानुमानमतच्छ- | १ | ३ | ३ |
| जीवमुक्त्यप्राणक्षिप्नाशेति | १ | ४ | १७ | नेतरोऽनुपपत्तेः. | १ | १ | १७ |
| चेत्तद्व्याख्यातम् | | | | ग. | | | |
| जीवमुक्त्यप्राणक्षिप्नाशेति | १ | १ | ३२ | पस्यादिशब्देभ्यः | १ | ३ | ४४ |
| चेत्तोषासोर्गविध्यात् | | | | परिणामान्. | १ | ४ | २७ |
| ज्योतिर्दर्शनान्. | १ | ३ | ४१ | प्रकरणाय. | १ | २ | १० |
| ज्योतिरूपक्रमानु- | १ | ४ | ६ | प्रकरणान्. | १ | ३ | ५ |
| ज्योतिश्चरणाभि- | १ | १ | २५ | प्रकृतित्व प्रतिज्ञा- | १ | ४ | २३ |
| ज्योतिरिषावाच्य. | १ | ३ | ३१ | प्रतिज्ञा विरोधान्. | १ | १ | ६ |
| ज्योतिरपैकेयामस- | १ | ४ | १३ | प्रतिज्ञासिद्धेर्निष्प्रमा- | १ | ४ | २० |
| ज्येष्ठावचनाच्च. | १ | ४ | ४ | प्रसिद्धे. | १ | ३ | १६ |
| न. | | | | प्राणस्तथानुगमान्. | १ | १ | २६ |
| ननु, समन्वयान्. | १ | १ | ४ | प्राणादयो चाव्ययोपान् | १ | ४ | १२ |

| सूत्राणि. | पं. अ. | पं. ग. | पं. छ. | सूत्राणि. | पं. अ. | पं. ग. | पं. छ. |
|-------------------------|-----------|-----------|-----------|----------------------------|-----------|-----------|-----------|
| भ. | | | | शब्दादेव प्रमि- | १ | ३ | २३ |
| भार्ग तु वादरायणो- | १ | ३ | ३२ | शास्त्रदृष्ट्यात्प- | १ | १ | ३१ |
| भूतादिपादव्यपदेशोपप- | १ | १ | २७ | शास्त्रयोनित्वात् | १ | १ | ३ |
| भूमा संप्रसादादव्युपदे- | १ | ३ | ७ | शुगस्य तदनादर- | १ | ३ | ३८ |
| भेदव्यपदेशाच्च. | १ | १ | १८ | भवणाध्ययनार्थप्र | १ | १ | १२ |
| भेदव्यपदेशाद्यान्वः. | १ | १ | २२ | भुतत्वाच्च. | १ | २ | १७ |
| भेदव्यपदेशात्. | १ | ३ | ४ | भुतोपनिषत्काम- | | | |
| म. | | | | स्. | | | |
| मन्वादिष्वसम्भवादन | १ | ३ | ३० | संस्कारपरामर्शा- | १ | ३ | ३६ |
| महदद्य. | १ | ४ | ७ | समाकर्पात्. | १ | ४ | १५ |
| मात्रपरिणिकमेव च-- | १ | १ | १६ | समाननामरूप- | १ | ३ | २९ |
| मुक्त्येवसुव्यपदेशाच्च | १ | ३ | २ | सम्पत्तिरिति जै- | १ | २ | ३२ |
| य. | | | | सम्भोगप्राप्तिरिति चे- | १ | २ | ८ |
| योनिश्च हि गीयते. | १ | ४ | २८ | सर्वत्र प्रसिद्धोप- | १ | २ | १ |
| र. | | | | साक्षाद्योभयाक्षा- | १ | ४ | २५ |
| रूपोपन्यासाच्च. | १ | २ | २४ | साच प्रशासनात्. | १ | ३ | १० |
| च. | | | | साक्षादव्यविरो- | १ | २ | २६ |
| यत्तीति चेन्न प्रा- | १ | ४ | ५ | सुखविशिष्टाभि- | १ | २ | २५ |
| वाक्यान्वयान्. | १ | ४ | १९ | सुपुपयुक्तान्वयोर्मे- | १ | ३ | ४३ |
| विकारशब्दाच्चे- | १ | १ | १४ | सुप्त्वं तु तद्वैत्त्वान्- | १ | ४ | २ |
| विरोधः कर्मणी | १ | ३ | १६ | स्थानाद्व्यवप- | १ | २ | १४ |
| विदधितगुणोपपत्तेश्च | १ | २ | २ | स्थित्यदानाम्पां च- | १ | ३ | ६ |
| विशेषणभेदव्यपक्ष | १ | २ | २३ | स्वार्थमाणमनुमान- | १ | २ | २६ |
| विशेषणाच्च. | १ | २ | १२ | स्मृतेश्च- | १ | २ | ६ |
| वैभानररसाधारणश- | १ | २ | २५ | स्मृतेश्च- | १ | ३ | ३६ |
| श. | | | | स्वाप्ययान्- | १ | १ | १० |
| शब्द इति चेन्नातःप्र | १ | ३ | २५ | ह. | १ | | |
| शब्दविशेषात्. | १ | २ | ५ | ह्यपेक्षयानु मनुष्या- | १ | ३ | २४ |
| शब्दादिभ्योऽन्तः- | १ | २ | २७ | हेयत्वावचनाच्च- | १ | १ | ८ |

श्रीभक्ते रामानुजाय नमः
श्रीभगवद्रामानुजविरचिते

श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये

(द्वितीयाध्याये—प्रथमपादे—स्मृत्यधिकरणम् ॥ १ ॥)

स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्नान्यस्मृत्यनव-
काशदोषप्रसङ्गात् २ । १ । १ ॥

प्रथमेऽध्याये प्रत्यक्षादिप्रमाणगोचरादचेतनात्तत्संस्पृष्टात्तद्वियुक्ताच्च
चेतनादर्थान्तरभूतं * निरस्तनिखिलाविश्रायपुरुषार्थगन्धमनन्तज्ञाना-
नन्दैक तानमपरिमितोदारगुणसागरं निखिलजगदेककारणं सर्वान्तरात्म-
भूतं परं ब्रह्म चेतान्तवेद्यमित्युक्तम् ॥

अनन्तरमस्याधेस्य सम्भावनीयसमस्तप्रकारदुर्भरणत्वप्रतिपाद-
नाय द्वितीयोऽध्याय आरभ्यते । प्रथमं तावत्कपिलस्मृतिविरोधाद्वेदान्ता-
नामतत्परत्वमाशङ्क्य तन्निराक्रियते । कथं स्मृतिविरोधाच्छ्रुतेरन्यपरत्वम् ?
उक्तं हि + १ “विरोधे त्यनपेक्ष्यं स्यात्” इति श्रुतिविरुद्धायास्मृतेरना-
दरणीयत्वमा-सत्यम्, “आदुम्बरीं स्पृष्टोद्गायेत्” इत्यादिषु स्वत एवार्थ-

१. पूर्वमीमां १, २, ३ ॥

अर्थात् ग्रन्थेन संगतिं प्रदर्शयन् प्रथमाध्यायार्थं संप्रवेष्टा इ प्रथमेऽध्या-
ये इति । प्रत्यक्षदीर्घादिना अनुमान परिग्रहः ।

* मुक्तास्त व्यापृत्यर्थं निरस्तनिखिलेयादि । सागरः समूहः, अपरिमित
उदारगुणसागरोवस्थेति बहुव्रीहिः एकं निमित्ताभिधोपादानम् ।

+ विरोधे प्रत्यक्षश्रुतिविरोधेसति स्मृतिवचन मनयेद्ब्र मनादरणीयम्-
असति-विरोधे स्मृत्या श्रुतेरनुमानं कार्यमिति सूत्रार्थः-स्मृतीनां श्रुति मूलकरे-
नैव प्रामाण्यात् स्मृत्याश्रुतेरनुमानेपि प्रत्यक्ष श्रुतिविरुद्धाचेत् सा नानुमपिदेश्य-
नादरणीयै वेति भावः ।

† सायमिति अयमाशयः यत्र स्मृति न्यायनिरपेक्षं स्वनः एव श्रुतेरर्थो-
निर्णेतुं शक्यते तत्र प्रत्यक्ष श्रुतिविरुद्धा स्मृति स्पेक्षया यथा आदुम्बरीं स्पृष्टोति-
श्रुतिविरुद्धा आदुम्बरी मवां येष्टितत्त्वेति स्मृतिः, चेद्वान्तवाक्येषु सन्दिग्ध मानार्थ-
त्वात् तन्निरपेक्षं रपगोनिरचेतुष्य शक्यते इति तदर्थं स्मृतिरपेक्षणीयैव-एवमेवाह
इति ।

निश्चयसम्भवात्तद्विरुद्धा स्मृतिरनादरणीयैव; इदं तु वेदान्तवेद्यतत्त्वस्य दुर-
 धयोभवेन परमर्षिप्रणीतस्मृतिविरोधे सत्ययमर्थ इति निश्चयायोगात्
 स्मृत्या भुतेरतत्परत्वोपपादनमधिरुद्धम् । एतदुक्तं भवति—प्राचीनभागो-
 दितनिश्चिताभ्युदयसाधनभूताग्निहोत्रदर्शपूर्णमासज्योतिष्टोमादिकर्माणि य-
 थायदभ्युपगच्छता भुतिस्मृतीतिहासपुराणेषु १ “ऋषिं प्रसूतं कपिलम्”
 इत्यादिवाक्यैराप्तत्वेन सङ्कीर्तितेन परमर्षिणा कपिलेन परमनिःश्रेयसत-
 त्साधनाद्यधोचित्वेनोपनिबद्धस्मृत्युपपृंहणं विना अल्पभुतैर्मन्दमतिभि-
 र्वेदान्तार्थनिश्चयायोगाद्यथाभुतार्थग्रहणं चाप्तप्रणीतायास्साङ्ख्यस्मृतेस्सक-
 लाया एवानवकाशप्रसङ्गाच्च स्मृतिप्रसिद्ध एवार्थो वेदान्तवेद्य इति बला-
 दभ्युपगमनीयम्—इति । न च वाच्यं मन्वादिस्मृतीनां ब्रह्मैककारणत्वधा-
 विनीनामेवं सत्यनवकाशत्वदापप्रसङ्ग इति; धमेप्रतिपादनद्वारा प्राचीन-
 भागोपपृंहण एव सावकाशत्वात् । अस्यास्तु कृत्स्नायास्तत्त्वप्रतिपादन-
 परत्वात्तथाऽनभ्युपगमं निरवकाशत्वमेव स्यात् । तदिदमःशङ्कतेस्मृत्यनव-
 काशादोपप्रसङ्ग इति चेत्—इति ॥

(सिद्धान्तः)

तत्रोत्तरं—नान्यस्मृत्यनवकाशादोपप्रसङ्गात्—इति । अन्या हि म-
 न्वादिस्मृतयो ब्रह्मैककारणतां वदन्ति; यथाऽऽह मनुः २ “आसीदिवं तमो-
 भूतम्” इत्यारभ्य ३ “ततस्त्वयम्भूर्भगवानव्यको व्यञ्जयन्निदम् । महा-
 भूतादिपृत्तीजाः प्रादुरासीत्तमानुदः” ४ “सोऽभिध्याय शरीरात्स्यात्सि-
 सृजुर्विविधाः प्रजाः । अप एव ससर्जादौ तासु धीर्यमपासृजन्” इति ।
 भगवद्गीसु च ५ “अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा” ६ “अहं
 सर्वस्य प्रभवो मत्तस्मै च प्रवर्तते” इति च । महाभारते ७ “कृतस्मृष्टमिदं
 सर्वं जगत् स्थावरजङ्गमम् । प्रलये च कमभ्येति तन्मे ब्रूहि पितामह”

इति प्रष्टु आह १“नारायणो जगन्मूर्तिरनन्तात्मा समातनः” इति । तथा
 २“तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं त्रिगुणं द्विजसत्तम” इति, ३“अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्म-
 भिष्ये सम्प्रलीयते” इति च । आह च भगवान्पराशरः ४“विष्णो-
 स्सकाशादुद्भूतं जगत्तत्रैव च स्थितम् । स्थितिसंयमकर्ताऽसौ जगतोऽस्य
 जगत्तसः” इति । आह चापस्तम्बः ५“पूः प्राणिनस्सर्वे एव गुहाशयस्य
 अहन्यमानस्य विकल्मषस्य” इत्यारभ्य ६“तस्मात्कायाः प्रभवन्ति सर्वे
 स मूलं शाश्वतिकस्स नित्यः” इति । यदि कपिलस्मृत्या वेदान्तवाक्या-
 र्थव्यवस्था स्यात्, तदैतासां सर्वासां स्मृतीनामनवकाशत्वरूपो महान
 दोषः प्रसज्येत । अयमर्थः—यद्यपि वेदान्तवाक्यानामतिक्रान्तप्रत्यक्षादि-
 सकलेतरप्रमाणसम्भावनाभूमिभूताथेप्रतिपादनपरत्वात्तदर्थवैशद्यात्प-
 भुतानां प्रतिपत्तृणां तदुपबृंहणमपाक्षेतम्; तथापि तदर्थानुसारिणां ना-
 माप्रतमप्रणेतानां यत्नानां स्मृतीनां तदुपबृंहणाय प्रवृत्तानामनवकाशत्वं
 मा प्रसाङ्गीदिति भुतिविरुद्धार्था कपिलस्मृतिरुपेक्षणीया । उपबृंहणं च
 भुतिप्रतिपन्नार्थविशदीकरणम्; तच्च विरुद्धार्थया स्मृत्या न शक्यते
 कर्तुम् । नचैतासां स्मृतीनां प्राचीनभागोदितधर्मांशविशदीकरणेन सावका-
 शत्वम्; परब्रह्मभूतपरमपुरुषाराधनत्वेन धर्मान्वितधृतीनामेतासामाराध्य-
 भूतपरमपुरुषप्रतिपादनाभावे सति तदाराधनभूतधर्मप्रतिपादनासम्भवात् ।
 तथाहि परमपुरुषाराधनरूपता सर्वेषां कर्मणां स्मर्यते ७“यतःप्रयुक्तिर्भूतानां
 येन सर्वमिदं ततम् । स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य मिद्धि विन्दति मानवः”
 ८“ध्यायेन्नारायणं देवं स्नानादिषु च कमेसु । ब्रह्मलोकमवाप्नोति न चे-
 ह्यवर्तते पुनः” ९“यैस्त्वकर्मपरैर्नाथ नरैराराधितो भवान् । ते तरन्त्य-
 ग्त्रिलामेतां मायामात्मविमुक्तये” इति । नचैहिकामुष्मिकसांसारिकफल-
 साधनकर्मप्रतिपादनेनैतामां सावकाशत्वम्; यतस्तेषामपि कर्मणां पर-

÷ पूः—पुं शरीरमिति यावत् अङ्गे वपु र्ध्वं पूरम् प्रतोऽस्मिन् इत्याहुः ।

१. २-२-३ आतते. शान्तिपर्य. मोक्षधर्म. छ. १, १२, १३, १४ ॥

४. धि. पु. १-१-३१ ॥ ५. आपस्तम्बधर्म २२-ख. १-२ ॥ ६. आपस्तम्बधर्म

२३. ख-१-२ ॥ ७. गी. १८-४६ ॥ ८. दृष्टमिति ॥ ९. दि. पु. २-३०-१६ ॥

मरुपाराधनत्वमेव स्वरूपम् ; यथोक्तं १“येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते
 भद्रयाऽन्विताः । तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् । अहं हि
 सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च । न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्य-
 वन्ति ते” इति; तथा २“यज्ञैस्त्वमिज्यसे नित्यं सर्वदेवमयाच्युत । हव्य-
 कव्यभुगेकस्त्वं पितृदेवस्त्वनपधृक्” इति । यदुक्तम्—३“अपि प्रसूतं क-
 पिलम्” इति कपिलस्याप्रतया सङ्कीर्तनात्तत्स्मृत्यनुसारेण वेदान्तार्थव्यव-
 स्थापनं न्याय्यम्—इति ; तदसन्, बृहस्पतेरभुतिस्मृतिषु सर्वेषामतिश-
 यितज्ञानानां निदर्शनत्वेन सङ्कीर्तनात्तत्प्रणीतेन लोकायतेन भुत्यर्थव्य-
 वस्थापनप्रसक्तेः—इति ॥ १ ॥

अथ स्यात् कपिलस्य स्वयोगमहिम्ना वस्तुयाथात्म्योपलब्धे-
 स्तत्स्मृत्यनुसारेण वेदान्तार्था व्यवस्थापयितव्यः—इति; अत उत्तरं
 पठति—

इतरेषां चानुपलब्धेः । २ । १ । २ ॥

चराचरस्तुशब्दार्थश्चोदिताशङ्कानिवृत्त्यर्थः । इतरेषां—मन्वादीनां
 घट्टनां स्वयोगमहिमसात्तात्कृन्परावरतत्त्वयाथात्म्यानां निखिलजगद्दे-
 पजभूतस्वयात्त्वतया ४“यद्वै किञ्च मनुरघदत्तदभेपजम्” इति श्रुतिप्रसि-
 द्धानां कपिलदृष्टप्रकारेण तत्त्वानुपलब्धेश्श्रुतिविरुद्धा कपिलोपलब्धि-
 भ्रान्तिमूलंति न तथा यथोक्ते वेदान्तार्थब्रालयितुं शक्य इति सि-
 द्धम् ॥ २ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये स्मृत्यधिकरणम् ॥ १ ॥

श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये योगप्रत्युक्त्यधिकरणम् ॥ २ ॥

एतेन योगः प्रत्युक्तः । २ । १ । ३ ॥

एतेन—कपिलस्मृतिनिराकरणेन योगस्मृतिरपि प्रत्युक्ता । का पु-
 नरप्राधिकाशङ्का, यन्निराकरणाय न्यायानिवेशः—योगस्मृतायर्पाश्रया-
 १. गौ. ६-२३, २४ । २. वि पु-५-२०, २७ ॥ ३. रवे-१-२ ॥ (११. अनु ॥
 ४. यजुर्गि-२-३. अष्ट. च ३. प्रश्न. २.

भ्युपगमान्मोक्षसाधनतया वेदान्तविहितयोगस्य चाभिधानाद्वक्तुर्हिरण्य-
गर्भस्य सर्ववेदान्तप्रवर्तनाधिकृतत्वाच्च तत्स्मृत्या वेदान्तोपबृंहणं न्या-
य्यम्-इति ॥

परिहारस्तु—अब्रह्मात्मकप्रधानकारणवादाभिहितकारणमात्रेश्व-
राभ्युपगमादब्रह्मानात्मकस्य योगस्य ध्येयैकनिरूपणीयस्य ध्येयभूतयोरा-
त्मेश्वरयोर्ब्रह्मात्मकत्वजगदुपादानतादिसर्वकल्याणगुणात्मकत्वधिरहेणादौ
दिकत्वाद्वक्तुर्हिरण्यगर्भस्यापि त्रेत्रज्ञभूतस्य कदाचिद्रजस्तमोभिभयसम्भ-
वाच्च योगस्मृतिरपि तत्प्रणीतरजस्तमोभूलपुराणवद्भ्रान्तिभूलेति न तस्य
वेदान्तोपबृंहणं न्याय्यम्-इति ॥ ३ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये योगप्रत्युत्त्यधिकरणम् ॥ २ ॥

श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये विलक्षणत्वाधिकरणम् ॥ ३ ॥

न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात् । २।१।४।

पुनरपि स्मृतिविरोधयादी तर्कमथलम्बमानः प्रत्यक्षतिष्ठते-यत्सा-
क्ष्यस्मृतिनिराकरणेन जगतो ब्रह्मकार्यत्वमुक्तम्; तन्नोपपद्यते, अस्य
प्रत्यक्षादिभिरचेतनत्वेनाशुद्धत्वेनानीश्वरत्वेनदुःखात्मकत्वेनचोपलभ्यमा-
नस्य चिद्विदात्मकस्य जगतः भवद्भ्युपेतात्सर्वज्ञात्सर्वेश्वराद्वेयप्रत्य-
नीकादानन्दैकतानाद्ब्रह्मणो विलक्षणत्वान् । न केवलं प्रत्यक्षादिभिरेव
जगतो विलक्षणत्वमुपलभ्यते; शब्दाच्च तथात्वं-विलक्षणत्वम्, उपलभ्यते-
१“विज्ञानं चाविज्ञानं च” २“एवमेवैता भूममात्राः प्रज्ञामात्रास्पर्षिताः प्र-
ज्ञामात्राः प्राणोऽर्पिताः” ३“समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति
गृह्यमानः” ४“अनीशश्चात्मा वध्यते भोक्तृभावान्” इत्यादिभिः । कार्यम् ।

हि जगतोऽचेतनत्वदुःखित्वादयो निर्दिश्यन्ते । यद्धि यत्कार्यम्, तत्तस्मा-
द्विलक्षणम्, यथा मृत्युवर्णादिकार्यं घटरुचकादि । अतो ब्रह्मविलक्ष-
णस्यास्य जगतस्तत्कार्यत्वं न सम्भवतीति साङ्ख्यस्मृत्यनुरोधेन कार्य-
विलक्षणं प्रधानमेव कारणं भवितुमर्हति । अथश्यं च शास्त्रस्यानन्या-
पेक्षस्यातीन्द्रियार्थगोचरस्यापि तर्कोऽनुसरणीयः; यतस्सर्वेषां प्रमाणानां
कांचत्काचद्विपये तर्कानुगृहीतानामेवाधेनिश्चयहेतुत्वम् । तर्का हि नाम-
अथेस्यभावविपयेण वा सोऽगमोविपयेण वा निरूपणेनार्थविशेषे प्रमाणं
व्यवस्थापयत्तदितिकर्तव्यतारूपमूहापरपर्यायं ज्ञानम्; तदपेक्षा च सर्वे-
षां प्रमाणानां समाना; शास्त्रस्य तु विशेषेणाकाङ्क्षासन्निधियोग्यताज्ञा-
नाधीनप्रमाणभावस्य सर्वत्रैव तर्कानुग्रहापेक्षा; उक्तञ्च मनुना १ “यस्त-
र्केणानुसन्धत्ते स धर्म वेद नेतरः” इति । तदेव हि तर्कानुगृहीतशास्त्रा-
र्थप्रतिष्ठपानं भुत्या च १ “मन्तव्यः” इत्युच्यते । अथोच्येत-भुत्या जगतो
ब्रह्मैककारणत्वे निश्चिते सति तत्कार्यस्यापि जगतश्चैतन्यानुवृत्तिरभ्युप-
गम्यते । यथा चेतनस्य सुषुप्तिमूर्च्छादिषु चैतन्यानुपलम्भः; तथा घटा-
दिष्वपि सदेव चैतन्यमनुद्भूतम्; अत एव चेतनाचेतनविभागः-इति ।
नैनदुपपत्ते, यतो नित्यानुपलब्धिस्सद्भावमेव साधयति । अत एव
चैतन्यशक्तियोगोऽपि तेषु निरस्तः । यस्य हि कांचत्कदाचिदपि यत्का-
र्यानुपलब्धिः; तस्य तत्कार्यशक्तिं प्रुवाणो धन्यासुतसमितिषु तज्जन-
नीनां प्रजननशक्तिं व्रताम् । किञ्च वेदान्तैर्जगतो ब्रह्मोपादानताप्रति-
पादननिश्चये सति घटादीनां चैतन्यशक्तेश्चैतन्यस्य वाऽनुद्भूतस्य सद्भाव-
निश्चयः, तन्निश्चये सति वेदान्तैर्जगतो ब्रह्मोपादानताप्रतिपादननिश्चय
इतीनरेतराशयत्वम् । विलक्षणयोर्हि कार्यकारणभावः प्रतिपादयितुमेव
न शक्यते । किं पुनः प्रकृतिविकारयोस्सालक्षण्यमभिप्रेतम्, यदभावा-
ज्जगतो ब्रह्मोपादानताप्रतिपादनासम्भवं व्रूये; न तावत्सर्वधर्मसारूप्यम्,
कार्यकारणभावानुपपत्तेः । नहि मृषिण्डकार्येषु घटशरायादिषु पिण्ड-

त्वाद्यनुवृत्तिर्दृश्यते । अथ येनकेनचिद्धर्मेण सारूप्यम्, तज्जगद्ब्रह्मणो-
रपि सत्तादिलक्षणं सम्भवति—तदुच्यते, येन स्वभावेन कारणभूतं
वस्तु वसवन्तराद्यनुवृत्तम्, तस्य स्वभास्य तत्कार्येऽप्यनुवृत्तिः कार्यस्य
कारणसालक्षण्यम् येन ह्याकारेण मृदादिभ्यो भिरण्यं व्यावर्तते,
तदाकारानुवृत्तिस्तत्कार्येषु कुण्डलादिषु दृश्यते । ब्रह्म च हेयप्रत्यनीक-
ज्ञानानन्दैश्वर्यस्वभावम्, जगच्च तत्प्रत्यनीकस्वभावमिति न तदुपादानम् ।
ननु च वैलक्षण्येऽपि कार्यकारणभावो दृश्यते. यथा चेतनान्पुरुषादचे-
तनानि केशनखदन्तलोमानि जायन्ते; यथाचाचेतनाद्गोमयाचेतनो वृश्चि-
को जायते; चेतनाद्योर्णनाभेरचेतनस्तन्तुः; नैतदेवम्, यतस्तत्राप्यचे-
तनांश एव कार्यकारणभावः ॥ ४ ॥

अथ स्यान्-अचेतनत्वेनाभिमतानामपि चैतन्ययोगश्रुतिषु भा-
व्यते १ 'तं पृथिव्यब्रवीन्' २ "आपो या अकामयन्त" ३ "त हेमे प्राणा
अहं श्रेयसे विवदमाना ब्रह्माणं जग्मुः" इति । नदीसमुद्रपर्वतादीना-
मपि चेतनत्वं पौराणिका आतिष्ठन्ते; अतो न वैलक्षण्यम्-इति । अत
उत्तरं पठति—

अभिमानीव्यपदेशस्तु विशेषानु- गतिभ्याम् । २ । १ ५ ॥

तु शब्दश्चोदिताशङ्कानिवृत्त्यर्थः ; पृथिव्यागभिमानिन्यो देवताः
१ "तं पृथिव्यब्रवीन्" इत्यादिषु पृथिव्यादिशब्दैर्व्यपदिश्यन्ते । कुतः ?
विशेषानुगतिभ्यां-विशेषः-विशेषणम्, देवताशब्देन विशेष्य पृथिव्या-
दयोऽभिधीयन्ते, १ "हन्ताऽहमिमास्मिन्मो देवताः" इति तेजोऽयन्नानि
देवताशब्देन विशेष्यन्ते, २ "सर्वा हव्यं देवता अहंश्रेयसे विवदमानाः"
३ "ते देवाः प्राणे निःश्रेयसं विदित्वा" इति च; अनुगतिः-अनुप्रवेशः;

१. यजुषि. २. का. २. २. २. यजु ॥ २. यजुषि. ३. ऋग्वे. १. ५. २. यजुः
३. य. ८-१-७ ॥ ४. ऋ. १-३-२ ॥ २. का. २-१ ॥

१“अग्निर्वाग्भूत्या मुखं प्राविशत् । आदित्यश्चतुर्भूत्याऽक्षिणी प्राविशत् । वायुः प्राणो भूत्या नासिके प्राविशत्” इत्यादिना वागाद्यभिमानित्वे-
नाग्न्यादीनामनुप्रवेशाद्भूयते । अतो जगतोऽचेतनत्वेन विलक्षणत्वाद्ब्रह्म-
कार्यत्वानुपपत्तेस्तर्कानुगृहीतमृत्युनुरोधेन जगतः प्रधानोपादानत्वं वेदा-
न्तैः प्रतिपाद्यते-इति ॥ ५ ॥

सिद्धान्तः ।

एवं प्राप्तेऽभीधीयते—

दृश्यते तु । २ । १ । ६ ॥

तु शब्दात्पक्षो विपरिवर्तते, यदुक्तं—जगतो ब्रह्मविलक्षणत्वेन
ब्रह्मोपादानत्वं न सम्भवति-इति ; तदुक्तम्, विलक्षणयोरपि कार्य-
कारणभावदर्शनात् । दृश्यते हि साक्षिकादेर्विलक्षणस्य क्रिम्यादेस्तस्मा-
दुत्पत्तिः । ननुक्तमचेतनांश एव कार्यकारणभावात्तत्र सालक्षण्यम् ।
सत्यमुक्तम्, न तावता कार्यकारणयोर्भवदभिमतसालक्षण्यसिद्धिः ; यथा
कथञ्चिन्सालक्षण्ये सर्वस्य सर्वसालक्षण्येन सर्वस्मान्सर्वोत्पत्तिप्रसङ्गभया-
दस्तुनो वस्तुन्तरादव्यावृत्तिहेतुभूतस्याकारस्यानुवृत्तिस्सालक्षण्यं भवताऽ-
भ्युपेतम् ; स तु नियमो साक्षिकादिभ्यः क्रिम्याद्युत्पत्तौ न दृश्यत इति
ब्रह्मविलक्षणस्यापि जगतो ब्रह्मकार्यत्वं नानुपपन्नम् । नहि मृद्धिरण्य-
घटमकुट्टादिष्विव वस्तुन्तरव्यावृत्तिहेतुभूतासाधारणाकारानुवृत्तिर्मांशि-
कगोमयक्रिमिपृश्निकादिषु दृश्यते ॥ ६ ॥

असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात् । २ । १ । ७ ॥

यदि कार्यभूताजगतः कारणभूतं ब्रह्म विलक्षणम्, नहि कार्य-
कारणयोर्द्व्यन्तरत्वेन कारणे परस्मिन्ब्रह्मणि कार्यं जगन्न विद्यत
इत्यमत् एव जगत उत्पत्तिः प्रसज्यत इति चेन्न—नैनदेवम् . कार्यकारण
योस्सालक्षण्यनियमप्रतिषेधमात्रमेव हि पूर्वमूत्रेऽभिप्रेतम् ; न तु कारणा-

त्कार्यस्य द्रव्यान्तरत्वम् ; कारणभूतं ब्रह्मैव स्वस्माद्विलक्षणजगदाकारेण
परिणमत इत्येतस्मिन् न परित्यक्तम् ; क्रिमिष्पत्तिकयोरपि हि सति च वै-
लक्षण्ये कुण्डलहिरण्ययोरपि द्रव्यैक्यमस्येव ॥ ७ ॥

अत्र चोदयति—

अपीतौ तद्वत्प्रसङ्गादसमञ्जसम् । २ । १ । ८ ॥

अपीतावित्यपीतिपूर्वकसृष्ट्यादेः प्रदर्शनार्थम् , १“सदेव सान्ये-
दमग्र आसीत्” २“आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्” इत्यादिपुण्य-
यावस्थोपदेशपूर्वकत्वदर्शनात्सृष्ट्यादेः । यदि कार्यकारणयोर्द्रव्यैक्यम-
भ्युपेतम् , तदा कार्यस्य जगतो ब्रह्मण्यप्यसृष्ट्यादिषु सत्सु, ब्रह्मण
एव तत्तदवस्थान्धय इति कार्यगतास्सर्वे एवापरुषार्था ब्रह्मणि प्रस-
ज्येरन् , सुवर्ण इव कुण्डलगता विशेषाः । ततश्च वेदान्तवाक्यं सर्वमस-
मञ्जसं स्यात् , ३“यस्मिन् सर्वस्मिन् सर्वं विन” ४“अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युः”
५“न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तस्मिन् आभ्यधिकश्च दृश्यते”
६“तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति” ७“अनीश आत्मा ध्यते भोक्तृभावान्”
८“अनीशया शोचति मुह्यमानः” इत्येकस्मिन्नेव वस्तुन्येषां परस्परविरु-
द्धानां प्रसक्तेः । अथोच्येत - चिदचिद्वस्तुशरीरकस्य परस्यैव ब्रह्मणः
कार्यकारणभावाच्छरीरभूतचिदचिद्वस्तुगमत्वाच्च दोषाणाम् , न शरीरि-
णि ब्रह्मणि कार्यावस्थे कारणावस्थे च प्रसङ्गः—इति । तदयुक्तम् , ज-
गद्ब्रह्मणोरशरीरशरीरिभावस्यैवासम्भवान् , सम्भवे च ब्रह्मणि शरीरस-
म्बन्धनियन्धनदोषाणामनिवार्यत्वान् ; न हि चिदचिद्वस्तुनां ब्रह्मणश्श-
रीरत्वं सम्भवति, शरीरं हि नाम कर्मफलरूपमुखदुःखभागासाधनभूतं नि-
वाभयः पञ्चवृत्तिप्राणाधीनधारणः पृथिव्यादिभूतमज्ञानविशेषः, तथा-

१. छा. ६-१-१ ॥

२. ऐतरेय. १-१-१ ॥

३. मु. १-१-६ ॥

४. छा. ८-१-२ ॥

५. श्वे. ६-८ ॥

६. मु. ३-१-१ ॥

७. उवे. १-८ ॥

८. मु. ३-१-२ ॥

विधिरथैव लोववेदयोः शरीरत्वप्रसिद्धेः । परमात्मनश्च १ “अपहृतपाप्मा
 विजयः” २ “अनभ्रभ्रन्यो अभिचाकशीति” ३ “अपाणिपादो जयनो
 प्रहीता पश्यत्यचक्षुस्स शृणोत्यकर्णः” ४ “अप्राणो ह्यमनाः” इत्यादिभिः
 कर्मतत्फलभोगयोरभावादिन्द्रियाधीनभोगवाभावात्प्राणवत्याभावाच्च न
 तं प्रति चेतनाचेतनयोः शरीरत्वम् । नचाचेतनव्यष्टिरूपवृत्तकाष्ठा-
 दीनां समष्टिरूपस्य भूतसूक्ष्मस्य चेन्द्रियाभयत्वादि सम्भवति । भूत-
 सूक्ष्मस्य पृथिव्यादिसङ्घातत्वं च न विनश्यते । चेतनस्य तु ज्ञानैकाका-
 रस्य सर्वमेतदसम्भवतीति नितरां शरीरत्वसम्भवः । नच भोगायत-
 नत्वं शरीरत्वमिति शरीरत्वसम्भवः, भोगायतनेषु वेदमादिषु शरीरत्वा-
 प्रसिद्धेः, यत्र वर्तमानस्यैव दुरुदुःखोपभोगः, तदेव भोगायतनमिति चेन्न,
 परकायप्रवेशजन्मसुखदुःखोपभोगायतनस्य परकायस्य प्रविष्टशरीरत्वा-
 प्रसिद्धेः, ईश्वरस्य तु स्वतस्सिद्धनित्यनिरतिशयानन्दस्य भोगं प्रति चिद-
 चित्तोदायतनत्वनियमो न सम्भवति । एतेन भोगसाधनमात्रस्य श-
 रीरत्वं प्रत्युक्तम् । अथ मतं—यदिच्छाधीनस्वरूपस्थितिप्रवृत्ति यत्,
 तत्तस्य शरीरमिति, सर्वस्येश्वरेच्छाधीनस्वरूपस्थितिप्रवृत्तित्वेनेश्वरशरी-
 रत्वं सम्भवति—इति; तदपि न साधीयः, शरीरतया प्रसिद्धेषु तत्तच्चेतने-
 च्छायन्तस्वरूपत्वाभावान्, रुग्णशरीरस्य तदिच्छाधीनप्रवृत्तित्वाभावान्,
 मृतशरीरस्य तदात्मायत्तस्थितित्वाभावाच्च, सालम्बिकादिषु चेतनेच्छा-
 धीनस्वरूपस्थितिप्रवृत्तिषु तच्छरीरत्वाप्रसिद्धेः च, चेतनस्य नित्यस्येश्वरे-
 च्छायन्तस्वरूपत्वाभावाच्च, न तच्छरीरत्वसम्भवः । नच यद्येक-
 नियाम्यम्, यदेकधार्यम्, यस्यैकशेषभूतम्, तत्तस्य शरीरमिति वाच्यम्;
 क्रियादिषु व्यभिचारान् । ५ “अशरीरं शरीरेषु” ६ “अपाणिपादो जयनो
 प्रहीता” इत्यादिभिश्चेश्वरस्य शरीराभावः प्रतिपाद्यते । अतो जगद्ब्रह्म-
 णोऽशरीरशरीरिभावस्यासम्भयान्तसम्भवे च ब्रह्मणि दोषप्रज्ञाद्व्यव-
 कारणवादे वेदान्तवाक्यानामसामञ्जस्यम्— इति ॥ ८ ॥

१. छा. ८-१-२ ॥

२. मु. ३-१-१ ॥

३. खे. ३-१६ ॥

४. मु. २-१-२ ॥

५. कठ १-२-२२ ॥

६. खे. ३-१६ ॥

सिद्धान्तः ।

अत्रोत्तरम्—

न तु दृष्टान्तभावात् । २ । १ । ९ ॥

नैवमसामञ्जस्यम्—एकस्यैवावस्थाद्वयान्वयेऽपि गुणोपव्यवस्थिते-
 र्दृष्टान्तस्य विद्यमानत्वात् । तुल्यद्वन्द्वेऽत्र हंससम्बन्धगन्धस्यासम्भावनीयतां
 शोतयति । एतदुक्तं भवति—चिदचिद्वस्तुशरीरतया तदात्मभूतस्य परस्य
 ब्रह्मणस्सङ्कोचविकासोत्पत्तिकारणभावावस्थाद्वयान्वयेऽपि न कश्चि-
 द्बिरोधः; यत्तत्सङ्कोचविकासौ परब्रह्मशरीरभूतचिदचिद्वस्तुगतौ, शरीर-
 गतास्तु दोषा नात्मनि प्रसज्यन्ते; आत्मगताश्च गुणान् शरीरे; यथा देव
 मनुष्यादीनां सशरीराणां क्षेत्रज्ञानां शरीरगता बालत्वयुवत्वस्थविरत्त्वा-
 द्यो नास्मिन् सम्भाव्यन्ते; आत्मगताश्च ज्ञानमुखाद्यो न शरीरे. अथ
 च 'देवो जातो मनुष्यो जातः, तथा स एव बालो युवा स्थविरश्च' इति व्य-
 पदेशश्च मुख्यः; भूतसूक्ष्मशरीरस्यैव क्षेत्रज्ञस्य देवमनुष्यादिभाव इति
 १ " तदन्तरप्रतिपत्तौ " इति बध्यते—इति । यत्पुनरुक्तं—चिदचिदात्मकस्य
 जगतस्तथूलस्य सूक्ष्मस्य च परमात्मानं प्रति शरीरभावो नापपन्न—इति;
 तदनाकलितसम्बन्धन्यायानुगृहीतवेदान्तवाक्यगणस्य स्वमतिपरिकल्पित-
 कुतर्ककविजृम्भितम्; सर्वे एव हि वेदान्ताः स्थूलस्य सूक्ष्मस्य चेतनस्याचेत-
 नस्य समस्तस्य च परमात्मानं प्रति शरीरत्वं भावयन्ति; बाजसनेयके
 तावत्काण्वशास्त्रायां चान्तर्यामिब्राह्मणे २ 'यः पृथिव्यां तिष्ठन्' यस्य
 पृथिवी शरीरम् " इत्यारभ्य पृथिव्यादिसमस्तमचिद्वस्तु ३ " यो विज्ञानं
 तिष्ठन् " यस्य विज्ञानं शरीरम् " ४ " य आत्मनि तिष्ठन् " इत्या-
 त्मा शरीरम् " इति चेतनमचेतनं च पृथक्पृथक्निर्दिश्य तस्य तस्य परमा-

१. शरीरं. २-१-१. ॥

२. बृ. २-७-३ ॥

३. गृ. २-७-२२. ॥

४. गृ. २-७-२२. मा० पाठः ॥

त्मशरीरत्वमभिधीयते । सुबालोपनिषदि च १ “यः पृथिवीमन्वरे सञ्चर-
 न्यस्य पृथिवी शरीरम् ” इत्यादिभ्य तत्रदेव चिदचितोस्सर्वव्यस्योः प-
 रमात्मशरीरत्वमभिधाय २ “एष सर्वभूतान्तःत्माऽपहृतपाप्मा दिव्यो देव
 गको नारायणः ” इति तस्य सर्वभूतानि प्रत्यात्मत्वमभिधीयते । स्म-
 रन्ति च ३ ‘जगत्सर्वं शरीरं ते’ ४ “यदम्यु वैष्णवः कायः” ५ “तत्स
 र्वं वै हरेस्तनुः” ६ ‘तानि सर्वाणि तद्भुः” ७ “सोऽभिधाय शरीरा-
 त्स्थान्” इत्यादि । भूतसूक्ष्मात्स्वाच्छरीरादित्यर्थः । लोके च शरीरशब्दो
 षट्पादिशब्दवदेकाकारद्रव्यनियतवृत्तिमनासादितः क्रिमिकीटपतङ्गसर्पनर-
 पशुप्रभृतिष्वत्यन्तप्रिलक्षणाकारेषु द्रव्येष्वगौणः प्रयुज्यमानोदृश्यते ।
 तेन तस्य प्रवृत्तिनिमित्तव्यवस्थापनं सर्वप्रयोगानुगुण्येनैव कार्यम् । त्व-
 दुक्तं च ‘कर्मफलभोगहेतुः’ इत्यादिकं प्रवृत्तिनिमित्तलक्षणं न सर्वप्रयो-
 गानुगुणम् । यथोक्तेष्वीश्वरशरीरतयाऽभिहितेषु पृथिव्यादिष्वव्याप्तेः ।
 किञ्च ईश्वरस्येच्छाविग्रहेषु मृच्छानां च ८ “स एकधा भवति” इत्यादि-
 यावद्यावगतेषु विग्रहेषु तल्लक्षणमव्याप्तम्, कर्मफलभोगनिमित्तत्वाभा-
 वात्संपादम् ; परमपुरुषेच्छाविग्रहाभ्र न पृथिव्यादिभूतसङ्घातविशेषाः ९ “न
 भूतमह्संस्थानां देहोऽय परमान्मनः” इति स्मृतः । अतो भूतसङ्घातरूप-
 त्वं च शरीरस्याव्याप्तम् । पञ्चवृत्तिप्राणार्थनिधारणत्वं च स्थावरशरी-
 रव्याप्तम् । स्थावरेषु हि प्राणमज्जावेषु तस्य पञ्चधा अवस्थाय श-
 रीरस्य भारकल्पेनावस्थानं नास्ति । अहल्यादीनां कर्मनिमित्तशिला-
 काप्रादिशरीरेष्विन्द्रियाभयर्थं मुख्यदुःखहेतुत्वं चाव्याप्तम् । अतो यस्य
 नेतृत्वं यद्भूयं सर्वान्मना स्वार्थं नियन्तुं धारयितुं च शक्यम् ,

१. सुबाल, ७ अ. ॥ २. गमायणे बुद्ध्यावहे, १२०-सर्गे २१-२लो ॥
 ३. वि० पु० २८१२-१७ ॥ ४. वि० पु० १-२२-३८ ॥ ५. वि. पु. १-२२-
 ८६- ॥ ६. मनु, १-८ ॥ ७. सु० ७-२-६२ ॥ ८. आशने ॥

तच्छेपतैकस्वरूपं च, तत्तस्य शरीरमिति* शरीरलक्षणमास्थेयम् । कण-
शरीरादिपू नियमनाद्यदर्शनं विद्यमानाया एव नियमनशक्तेः प्रतिबन्ध-
कृतम्, अग्न्यादेशशक्तिप्रतिबन्धादौष्ण्याद्यदर्शनवत् । मृतशरीरं च चेतनवि-
योगसमय एव विशरितुमारब्धम् ; क्षणान्तरे च विशीयते । पूर्वं शरीर-
या परिलक्ष्यप्रसङ्गात्तैकदेशत्वेन च तत्र शरीरत्वव्यवहारः । अतस्म्यं पर-
मपुरुषेण सर्वात्मना स्वार्थं नियाम्यं धार्यं तच्छेपतैकस्वरूपमिति
सर्वं चेतनाचेतनं तस्य शरीरम् । १ “अशरीरं शरीरेषु” इत्यादि च कर्मणि
मित्तशरीरप्रतिषेधपरम्, यथोक्तसर्वशरीरत्वभ्रवणान् । उपरिनादिक-
रणेषु चैतदुपपादयिष्यते । ‘अपीतौ तद्वत्प्रसङ्गादसमञ्जसं’ ‘नतु दृष्टान्तभा-
धान्’ इति सूत्रद्वयेन २ “इतरव्यपदेशान्” इत्यधिकरणसिद्धोऽर्थस्मादिति ॥

स्वपक्षदोषाच्च । २ । १ । १० ॥

न केवलं ब्रह्मकारणवादस्य निर्दोषतयैतत्तममाश्रयणम् ; प्रधान
कारणवादस्य दुष्टत्वाच्च तत्परित्यज्यैतदेव समाश्रयणीयम् । प्रधानका-
रणवादे हि जगत्प्रवृत्तिर्नोपपद्यते । तत्र हि निर्विकारस्य चिन्मात्रैकरस-
स्य पुरुषस्य प्रकृतिसन्निधानेन प्रकृतिधर्माध्यासनिबन्धना जगत्प्रवृत्तिः ।
निर्विकारस्य चिन्मात्ररूपस्य प्रकृतिधर्माध्यासहेतुभूतं प्रकृतिमन्निधानं
किरूपमिति विवेचनीयम् ; किं प्रकृतेस्सद्भावे एव ; उत तद्गतः कश्चिद्वि-
कारः ; अथ पुरुषगत एव कश्चिद्विकारः । न तावत्पुरुषगतः, अनभ्युप-

१. कठ. २-२२ ॥

२. शरी. २-१-२१ ॥

* (चेष्टेभिर्वाधाभयः शरीरम्) इति न्यायसूत्रे शरीरस्य लक्षणत्रय
सूक्तम् (चेष्टाभोगेभिर्वाधयः) इति हि न्यायविदः । अस्य लक्षणत्रयस्यावश्य-
त्वात्-तथापिलक्षणत्रयमाह । (यथेष्टादिना) यस्य चेतनस्य यद् द्रव्यं
सर्वात्मना स्वार्थं नियन्तुं शक्यं तत्तस्य शरीरम्, यस्य चेतनस्य यद् द्रव्यं
सर्वात्मना स्वार्थं धारयितुं शक्यं तत्तस्य शरीरम्, यस्य चेतनस्य तद् द्रव्यं शेष
तैकस्वरूपं तत्तस्य शरीरमिति लक्षणत्रयम् ।

गमात्; नापि प्रकृतेर्विकारः, तस्याध्यासकार्यतयाऽभ्युपेतस्याध्यासहेतु-
त्यासम्भवान्; सद्भावमात्रस्य सन्निधानत्वे मुक्तस्याप्यध्यासप्रसङ्ग इति
त्वत्पक्षे जगत्प्रवृत्तिर्नोपपद्यते । अयमर्थस्तान्न्यपक्षप्रतिषेधसमये । “अ-
भ्युपगमेऽप्यर्थाभावात्” इत्यादिना प्रपञ्चयिष्यते ॥ १ ॥

तर्काप्रतिष्ठानादपि । २ । १ । ११ ॥

तर्कस्याप्रतिष्ठितत्वादपि भुतिमूलो ब्रह्मकारणवाद् एव समाभ्य-
गोयः; न प्रधानकारणवादः । शाक्योक्त्याक्षयादक्षपण्यकपिलपतञ्जलि-
तर्काणामन्योन्यव्याघातात्तर्कस्याप्रतिष्ठित्वं गम्यते ॥ ११ ॥

अन्यथानुमेयमिति चेदेवमप्यनिर्मेक्ष-

प्रसङ्गः । २ । १ । १२ ॥

इदानीं विद्यमानानां शाक्यादीनां तर्कानुद्घूप्यान्यथा प्रधानका-
रणवादमतिक्रान्ततदुपदर्शितदूषणत्वेनानुमास्यामह इति चेत्—एवमपि
पुरुषयुद्धिमूलतर्ककावलम्बनस्य तथैव देशान्तरकालान्तरेषु त्वदधिककु-
तर्ककुशलपुरुषोत्प्रेक्षिततर्कदूष्यत्वसम्भावनया तर्काप्रतिष्ठानदोषादनिर्मे-
क्षो दुर्वारः । अतोऽतीन्त्रियेऽर्थे शास्त्रमेव प्रमाणम्; तदुपष्टुङ्गणायैव तर्क
उपादेयः; तथाचाह २ “आपं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्रविरोधिना । यस्त-
र्कैर्यानुसन्धते स धर्मं वेद नेतरः” इति । वेदाख्यशास्त्राविरोधिनेत्यर्थः ।
अतो वेदविरोधिन्येन वेदार्थविशदीकरणरूपवेदोपष्टुङ्गणतर्कोपादानाय
सान्द्र्यस्मृतिर्नादरणीया ॥ १२ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये विलक्षणव्याधिकरणम् ॥ ३ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये शिष्टापरिग्रहाधिकरणम् ॥४॥)

एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः । २ । १ । १३ ॥

शिष्टाः परिशिष्टाः, न विद्यते वेदपरिग्रहो येषामित्यपरिग्रहाः;
शिष्टाभापरिग्रहाश्च शिष्टापरिग्रहाः एतेन वेदपरिगृहीतसान्द्र्यपक्षप-

येन परिशिष्टाश्च वेदापरिगृहीताः कणभक्षान्नपादन्नपणकभिन्नपक्षाः
क्षपिता वेदितव्याः । परमाणुकारणवादेऽमीषां सर्वेषां संवादात्कारणव-
स्तुविषयस्य तर्कस्याप्रतिष्ठितत्वं न शक्यते वक्तुमित्यधिकाशङ्का ॥

तावन्मात्रसंवादेऽपि तर्कमूलत्वादिशेषान्तरमाणुस्वरूपेऽपि शू-
न्यात्मकत्वाशून्यात्मकत्वज्ञानात्मकत्वार्थात्मकत्वक्षणिकत्यनित्यत्यैकान्त-
नवानेकान्तसत्यासत्यात्मकत्वादिविसंवाददर्शनाद्याप्रतिष्ठितत्यमेवेतिप-
रिहारः ॥ १३ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये शिष्टापरिशिष्टाधिकरणम् ॥ ४ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये भोक्त्रापत्त्यधिकरणम् ॥ ५ ॥)

भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत्स्याल्लोकवत् । २ १ । १४ ॥

पुनरपि साङ्ख्यः प्रत्ययतिष्ठते—यदुक्तं, स्थूलसूक्ष्मचिदचिद्वस्तुश-
रीरस्य परस्य ब्रह्मणः कार्यकारणरूपत्वाज्जीवब्रह्मणोस्त्वभावविभाग
उपपद्यते—इति, स तु विभागो न सम्भवति—ब्रह्मणस्सशरीरत्वे तस्य
भोक्तृत्वापत्तेः, सशरीरत्वे जीवस्येवेश्वरस्यापि सशरीरत्वप्रयुक्तमुखदुः-
खयोर्भोक्तृत्वस्यावर्जनीयत्वान् । ननु च १ “सम्भोगप्राप्तिरिति चेन्न वैश-
प्यात्” इत्यत्रेश्वरस्य भोगप्रसङ्गपरिहार उक्तः, नैवम् तत्र ह्युपास्यतया
हृदयायातने सान्निहितस्य शरीरान्तर्बर्तित्यमात्रेण भोगप्रसङ्गो न विगत
इत्युक्तम्, इह तु जीवबद्ब्रह्मणोऽपि सशरीरत्वे तद्वदेव मुखदुःखयोर्भो-
क्तृत्वप्रसङ्गो दुर्वार इत्युच्यते; दृश्यते हि सशरीराणां जीवानां शरीर
गतबालत्वस्थविरत्वादिविकारासम्भवेऽपि शरीरधानुसाम्यवैयम्यनिमि-
त्तमुखदुःखयोगः । भुतिश्च २ “न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरप-
हतिरस्मि अशरीरं वा य सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः” इति । अतम्मश-
शरीरब्रह्मकारणवादे जीवेश्वरस्यभावविभागासम्भवात्केवलब्रह्मकारणवा-

दे मृत्सुवर्णादियजगद्गतापुरुषार्थादिसर्वविशेषाभयत्वप्रसङ्गाच्च प्रधान-
कारणवाद एव ज्यायानिति चेत्—

सिद्धान्तः ।

अत्रोत्तरं—रयालोकयन् इति । म्यादेव विभागो जीवेश्वरस्य-
भावयोः ; नहि जीवस्य शरीरधातुसाम्यवैषम्यनिमित्तं सुखदुःखयो-
र्भाक्त्वत्वं सशरीरत्वकृतम्, अपि तु पुण्यपापरूपकर्मकृतम् । “न ह वै
सशरीरस्य” इत्यपि कर्मारब्धदेहविषयम्, १ “स एकधा भवति त्रिधा
भवति” २ “स यदि पितृलोककामो भवति” ३ “स तत्र पर्येति जज्ञत्क्रीड-
नममाणः” इति कर्मबन्धविनिर्मुक्तम्याधिभूतस्वरूपस्य सशरीरस्यैवापुरु-
षार्थगन्धाभावात् । अपहतपाप्मनस्तु परमात्मनस्स्थूलसूक्ष्मरूपकृत्स्नजग-
च्छरीरस्येऽपि कर्मसम्बन्धगन्धो नास्तीति नतरामपुरुषार्थगन्धप्रसङ्गः ।
लोकयन्—यथा लोके राजशासनानुयतिनां तद्विचरिणां च राजानुप्र-
हनिप्रहकृतसुखदुःखयोगेऽपि न शरीरित्वमात्रेण शासके राज्यपि शास-
नानुयुच्यतिवृत्तिनिमित्तमुखदुःखयोर्भाक्त्वत्वप्रसङ्गः । यथाह—द्रुमिड-
भाष्यकारः ४ “यथा लोके राजा प्रचुरदन्दशूके घोरेऽन्तर्धसङ्कटेऽपि प्रदे-
शे वर्तमानो व्यजनाद्ययधृतदेहो द्रौपेर्न स्पृश्यते, अभिप्रेतांश्च लोकान्
परिपालयति, भोगांश्च गन्धादीनविभ्रजनोपभोग्यान्धारयति, तथाऽसौ
लोकेऽश्वरो भ्रमत्स्यसामर्थ्यामरो द्रौपेर्न स्पृश्यते, रक्षति च लोकान्प्र-
ह्यलोकादीन्, भोगांश्चाविभ्रजनोपभोग्यान्धारयति” इति मृत्सुवर्णादिवद्ब्र-
ह्मस्वरूपपरिणामस्तु नैवाभ्युपगम्यते, अत्रिकारत्वनिर्दोषत्वादिभूतः ॥

१. द्रा. ७-२१-२ ॥ २. द्रा. ८-२-१ ॥ ३. द्रा. ८-१२-३ ॥

४. सशरीरस्य, पा ॥ १. द्रुमिडभाष्यम् ॥ २. परिपालयति, परिपाल-
यिष्यतीति च, पा ॥

* यत्तु परैर्ब्रह्मकारणत्वादे भोक्तृभोग्यविभागाभावमाशङ्क्य सम-
 फेनतरङ्गदृष्टान्तेन विभागप्रतिपादनपरं सूत्रं व्याख्यातम् ; तदयुक्तम् .
 अन्तर्भावितशक्त्यविशोपाधिकाद्ब्रह्मणस्मृष्टिमभ्युपगच्छतामेवमाक्षेपपरि-
 हारयोरसङ्गतत्वात्, कारणान्तर्गतशक्त्यविशोपाध्युपहितस्य भोक्तृत्वादुपा-
 धेश्च भोग्यत्वान् । विलक्षणयोस्तयोः परस्परभावापत्तिर्हि न सम्भवति-
 स्वरूपपरिणामस्तु तैरपि नाभ्युपेयते, १“न कर्माधिभागादिति चेन्नाना-
 दित्यात्” इति क्षेत्रज्ञानां तद्गतकर्मणां चानादित्वप्रतिपादनान् । स्वरूप-
 परिणामभ्युपगमेऽपि भोक्तृभोग्याविभागाशङ्का कस्यचिदपि न जायते
 मृत्सुवर्णादिपरिणामरूपघटशरावकटकमकुटादिविभागबद्धोक्तृभोग्यवि-
 भागोपपत्तेः । स्वरूपपरिणामे च ब्रह्मण एव भोक्तृभोग्यत्वापत्तिरिति
 पुनरप्यसामञ्जस्यमेव ॥ १४ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये भोक्त्रापत्त्यधिकरणम् ॥ ५ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये आरम्भणाधिकरणम् ॥ ६ ॥)

तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः । २ । १ । १५ ॥

२ “असदिति चेन्न प्रतिपेयमात्रत्वात्” इत्यादिषु कारणभूताद्ब्र-
 ह्मणः कार्यभूतस्य जगज्जोनन्यत्वमभ्युपगम्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वमुप-
 पादितम्, इदानीं तदेवानन्यत्वमाक्षिप्य समाधीयते । तत्र काणादाः

१. शारी. २-१-३५ ॥ २. शारी. २. १. ७ ॥

* अस्य सूत्रस्य शङ्करैः कुतमन्वया इत्याहयामनुवदन्ति (यन्निनि) भोक्तृ-
 शब्दो भोक्तृत्वपर इति तैरप्युक्तम्-भोग्यस्य भोक्तृत्वापत्तिं भोक्तृभोग्य-
 त्वापत्तिचाक्य परः परिहृतम्-तदूपयति (तदयुक्तमिति) आक्षेपपरिहारयोरस-
 ङ्गतत्वमुपपादयति (कारणान्तर्गतेति) उपाधेश्च भोग्यत्वादिति, अशोपाधि-
 शब्दः शक्त्यविशोपाधीनां प्रवाणामपि वाचकः, यथा “बाह्” शब्दः कथामामाग्य
 वाची कथाविशेषवाची च तद्वत् ।

प्राहुः—न कारणात्कार्यस्यानन्यत्वं सम्भवति, घिसत्तणुद्विवोध्य-
त्वात्, न खलु तन्तुपटमृन्पण्डघटादिषु कार्यकारणविषया बुद्धिरेक-
रूपा । शब्दभेदाच्च, न हि तन्तवः पट इत्युच्यन्ते, पटो वा तन्तव इति ।
कार्यभेदाच्च, नहि मृत्पिण्डेनोदकमाह्वयते, घटेन वा कुड्यं निर्मियते ।
कालभेदाच्च, पूर्वकालं च कारणम्, अपरकालं च कार्यम् । आकार-
भेदाच्च, पिण्डाकारं कारणम्, कार्यं च पृथुवृध्नोदराकारम् ; तथा स-
त्यामय मृदि घटां नष्ट इति व्यवहियते । सङ्ख्याभेदश्च दृश्यते—बह-
वस्तन्तवः, एकश्च पटः । कारकव्यापारवैयर्थ्यञ्च—कारणमेवचेत्कार्यं
किं कारकव्यापारसाध्यं स्यात् । सत्यपि कार्ये कार्योपयोगितया का-
रकव्यापारेण भवितव्यं चेत्—सर्वदा कारकव्यापारेण नोपरन्तव्यम् ।
सर्वस्य सर्वदा सत्त्वेन नित्यानित्यविभागश्च न स्यात् । अथ कार्यं स-
न्देश पूर्वमनभिध्यक्तं कारकव्यापारेणाभिध्यज्यते, अतः कारकव्यापा-
रार्थवत्त्वं, नित्यानित्यविभागश्चोच्यते; तदसत्, अभिव्यक्तेरभिव्यक्त्य-
न्तरापेक्षत्वे अनस्थवानादनपेक्षत्वे कार्यस्य नित्योपलब्धिप्रसङ्गात्तदु-
त्पत्त्यभ्युपगमे चासत्कार्यवाद्प्रसङ्गात् । किञ्च कारकव्यापारस्याभिव्य-
ञ्जकत्वे घटार्थेन कारकव्यापारेण करकादेरप्यभिध्यक्तिः प्रसज्यते,
सम्प्रतिपन्नाभिव्यञ्जकभावेणु वीपादिष्वभिध्यङ्ग्यविशेषनियमादर्शनात्;
नहि घटार्थमारोपितः प्रदीपः करकादीन्नाभिध्यनक्ति । अतोऽसत्तः
कार्यस्योत्पत्तिहेतुत्वेनैव कारकव्यापारार्थवत्त्वम्, अतश्च सत्कार्यवादा-
मिद्धिः । न च नियतकारणोपादानं सत एव कार्यत्वं साधयति, का-
रणशक्तिनियमादेव तदुपपत्तेः । नन्वसत्कार्यवादिनोऽपि कारकव्या-
पारो नोपपद्यते ; प्रागुत्पत्तेः कार्यस्यामत्त्वात् । कार्यादन्यत्र कारकव्या-
पारेण भवितव्यम् ; तत्रान्यत्वाविशेषात्तन्नुगतकारकव्यापारेण घटो-
न्पत्तिरपि प्रसज्यते ; नैवम् यत्कार्योत्पादनशक्तं यत्कारणम्, तदुगतका-
रकव्यापारेण तत्कार्योपत्तिमिद्धेः । १ अत्राहुः—कारणादनन्यत्कार्यम् ;

१ अस्मिन् पक्षे मिद्धाभ्येकदेशिमुत्पन्नोत्तरमाह—अत्राहुः इति ॥

नहि परमार्थतः कारणव्यतिरिक्तं कार्यं नाम वस्तुस्ति, अविद्यानिवन्ध-
नत्वात्सफलकार्यतद्व्यवहारयोः । अतो यथा कारणभूतान्मृद्व्याद्यष्टा-
दिषु विकारेषूपलभ्यमानाद्व्यतिरिक्तं घटशरावादिकार्यं व्यवहारमात्रा-
लम्बनं मिथ्या ; कारणभूतं मृद्व्यमेव सत्यम् ; तथा निर्विशेषसन्मात्रा-
त्कारणभूताद्ब्रह्मणोऽन्योऽहङ्कारादिव्यवहारालम्बनः कृत्स्नः प्रपञ्चो मि-
थ्या ; कारणभूतसन्मात्रं ब्रह्मेव सत्यम् । तस्मात्कारणव्यतिरिक्तं का-
र्यं नास्तीति कारणादनन्यत्कार्यम् । नच वाच्यं शुक्तिकारजतादीना-
मिव घटादिकार्याणामसत्यत्वप्रसिद्धेर्दृष्टान्तानुपपत्तिरिति ; यतस्तत्रापि
युक्त्या मृद्व्यमात्रमेव सत्यतया व्यवस्थाप्यते ; तदतिरिक्तं तु युक्त्या
वाध्यते । का पुनरत्र युक्तिः ? , मृद्व्यमात्रस्यानुवर्तमानत्वम् , तदतिरि-
क्तस्य च व्यावर्तमानत्वम् । रज्जुसर्पादिषु ह्यनुवर्तमानस्याधिष्ठानभूतस्य
रज्ज्वादेः सत्यता, व्यावर्तमानस्य च सर्पभूदलनाम्बुधारादेरसत्यता दृष्टा,
तथाऽनुवर्तमानमधिष्ठानभूतं मृद्व्यमेव सत्यम् , व्यावर्तमानास्तु घटश-
रावादयोऽसत्यभूताः । किञ्च सत आत्मनो विनाशाभावादसतश्च शश-
विपाणादेरुपलब्ध्यभावादुपलब्धिनिनाशयोगिकार्यं सदसद्भ्यामनिर्व-
चनीयमिति गम्यते । अनिर्वचनीयं च शुक्तिकारजतादिवन्मृद्वपेव । तस्य
चानिर्वचनीयत्वं प्रतीतिबाधाभ्यां सिद्धम् । किञ्च कार्यमुत्पादयन्मृदादि
कारणद्रव्यं किमविकृतमेव कार्यमुत्पादयति, उत कञ्चन विशेषमा-
पन्नम् । न तावदविकृतमुत्पादयति, सर्वदोत्पादकत्वप्रसङ्गान् । नापि
विशेषान्तरमापन्नम् , विशेषान्तरापत्तेररपि विशेषान्तरापत्तिपूर्वकत्वेन
भवितव्यम् , तस्या अपि तथेत्यनवस्थानान् । अविकृतमेव देशकालनि-
मित्तविशेषसम्बन्धं कार्यमुत्पादयतीति चेन्न । देशादिविशेषसम्बन्धोऽपि ह्य-
विकृतस्य विशेषान्तरमापन्नस्य च पूर्ववन्न सम्भवति । नच वाच्यं मृ-
त्सुवर्णदुग्धादिभ्यो घटरुचकदध्यादीनामुत्पत्तिर्दृश्यते ; शुक्तिकारजतादि-
वदेशकालादिप्रतिपन्नोपायौ बाधश्च न दृश्यते, अतः प्रतीतिशरणां
कारणात्कार्योत्पत्तिरवश्याभ्यर्णीयति ; विकल्पासहत्वान्—किं हमा-

दिमात्रमेव स्वस्तिकादेरारम्भकम्; उत रुचकादि, अथ रुचकाशाभयां हेमादिः; न तावद्धेमादिमात्रमारम्भकम्; हेमव्यतिरिक्तस्य कार्यस्याभाधान्, स्वात्मानं प्रत्यात्मन आरम्भकत्वासम्भवाच्च । हेमव्यतिरिक्तं स्वस्तिकं दृश्यत इति चेत्—न हेमव्यतिरिक्तं तन्, हेमप्रत्यभिज्ञानात्तद्व्यतिरिक्तवस्त्यन्तरानुपलब्धेश्च । बुद्धिशब्दान्तरादिभिर्ब्रह्मव्यतिरिक्तानां शुक्ति-कारजतबुद्धिशब्दादिवद्भ्रान्तिमूलत्वेन वस्त्यन्तरसद्भावावस्थासाधकत्वान्; नापि रुचकादि स्वस्तिकादेरारम्भकम्, स्वस्तिके हि रुचकं पट इव तन्तवो भवतापि नोपलभ्यते । नापि रुचकाभयभूतं हेम, रुचकाभयाकारेण हेमस्वस्तिकंऽनुपलब्धेः; असौ मृदादिकारणातिरिक्तस्य कार्यस्यासम्भत्वं दर्शनाद्ब्रह्मव्यतिरिक्तं कृत्स्नं जगत्कार्यत्वेन मिथ्याभूतम्; तदिदं ब्रह्मव्यतिरिक्तमिथ्यात्वमुखप्रतिपत्तये काल्पनिकमृदादिसत्यत्वमाभित्य कार्यस्यासत्यत्वं प्रतिपादितम् । परमार्थतस्तु मृत्सुवर्णादिकारणमपि पटरुचकादिकार्यवन्मिथ्याभूतम्, ब्रह्मकार्यस्याविशेषान् । १ “पेतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यम्” २ “नेह नानास्ति किञ्चन ३ मृत्योस्स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति” ४ “यत्र हि द्वैनमिव भवति तदितर इतरं पश्यति यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभूतत्वेन कं पश्येत्” ५ “इन्द्रो मायाभिः पुरुष इत्येतं” इत्येवमादिभिश्श्रुतिभिश्च ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य मिथ्यात्वमवगम्यते । नचागमावगतार्थस्य प्रत्यक्षविरोधशङ्कनीयः; यथोक्तप्रकारेण कार्यस्य सर्वस्य मिथ्यात्वावगमान्, प्रत्यक्षस्य सन्मात्रविषयत्वाच्च, विरोधे सत्यस्य सम्भाविनदोषस्य चरमभाविनस्वरूपसद्भावाद्वा प्रत्यक्षावपेक्षयाऽपि प्रमितौ निराकारज्ञस्य निरवकाशस्य शास्त्रस्य प्रतीयस्त्यान् । अतः कारणभूताद्ब्रह्मणोऽन्यासर्वं मिथ्या । नच प्रपञ्चमिथ्यात्वेन जीवमिथ्यात्वमोशाङ्कनीयम्, ब्रह्मण एव जीवभावात् । ब्रह्मैव हि सर्वश-

रीरेषु जीवभावमनुभवति-१ “अनेन जीवेनाऽत्मनाऽनुप्रविश्य” २ “एको देवस्सर्वभूतेषु गूढः” ३ “एको देवो बहुधा निविष्टः” ४ “एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते” ५ “नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा” इत्येवमादिभ्यः । नन्वेकमेव ब्रह्म सर्वशरीरेषु जीवभावमनुभवति चेत्-‘पादे मे वेदना’ ‘शिरसि मे सुखम्’ इतिवत्सर्वशरीरेषु सुखदुःखप्रतिसन्धानं स्यात् ; जीवेश्वर-घट्टमुकशिष्याचार्यज्ञत्वाज्ञत्वादिव्यवस्था च न स्यात् । * अत्र केचिद्वितीयत्वं ब्रह्मणोऽभ्युपयन्त एवैनं समादधते-एकस्यैव ब्रह्मणः प्रतिविम्बभूतानां जीवानां सुखित्यदुःखित्वादय एकस्यैव मुख्यस्य प्रतिविम्बानां मणिकृपाणदर्पणादिपूपलभ्यमानानामल्पत्वमहत्त्वमलिनत्वविमलत्वादिवत्तत्तदुपाधिविशान् ६ व्यवस्थाप्यन्ते । ननु ७ “अनेन जीवेनाऽत्मनाऽनुप्रविश्य” इत्यादिभूतेर्न जीवा ब्रह्मणो भिद्यन्त इत्युक्तम् ; सत्यम्, परमार्थतः ; काल्पनिकं तु भेदमाभित्येयं व्यवस्थोच्यते । कस्य पुनः कल्पना ; न तावद्ब्रह्मणः, तस्य परिशुद्धज्ञानात्मनः कल्पनाशून्यत्वान् । नापि जीवानाम्, इतरेतराभ्यत्यप्रसङ्गान्-कल्पनार्थिनो हि जीवभावः, जीवाभ्या च कल्पना-इति । नैतदेवम्, अविशाजीवभावयोर्भाजाङ्गरन्यायेनानादित्वान् । किञ्च-प्रासादनिगरणादिवदनुपपन्नैकवेपायामवस्तुभूतायामविशायां नेतरेतराभ्यत्वादयो वस्तुदोषा अनवकलुमिमावहन्ति । वस्तुतो ब्रह्मान्यतिरिक्तानां जीवानां स्वतो विशुद्धत्वेऽपि कृपाणादिगतमुखप्रतिविम्बश्यामतादिवदौपाधिकाशुद्धिसम्भवादविशाभ्य-त्वोपपत्तेः काल्पनिकत्वोपपत्तिः । प्रतिविम्बगतश्यामतादिवज्जीवगताशुद्धिरपि भ्रान्तिरेव, अन्यथाऽनिर्मातृप्रसङ्गान् । जीवानां भ्रमस्य प्रवाहानादित्वाच्च तद्धेतुरन्वेपणीयः-इति ॥

१. छा. ६-३-२ ॥ २. श्वे. ६-१५ ॥ ३. यजु. आरण्य. ३-प्रश्न,
१२ अनु. १-पं ॥ ४. कट. ३-१२ ॥ ५. वृ. ५-७-२३ ॥
६. उपनिषद्भाष्ये, पा ॥ ७. छा. ६-३-२ ॥

* एतद्भूतस्यैवव्यवस्थामिदं जीवाज्ञानपक्षमुपन्यस्यति अत्र-केचिदिति ।

ॐ तदेतद्विदिताद्वैतयाथात्म्यानां भेदवादभङ्गालुजनसबहुमानावलोकनलिप्साविजृम्भितम् । तथाहि—जीवस्याकल्पितस्वाभाविकरूपेणाविद्याभयान्वे ब्रह्मण एवाविद्याभयत्वमुक्तं स्यात् । तदतिरिक्तेन तस्मिन्कल्पितेनाकारेणाविद्याभयत्वे जडस्याविद्याभयत्वमुक्तं स्यात् । न खल्वद्वैतयादिनस्तदुभयव्यतिरिक्तमाकारमभ्युपगच्छन्ति । कल्पिताकारविशिष्टेन स्वरूपेणैवाविद्याभयत्वमिति चेत्—तत्र, स्वरूपस्याखण्डैकरसस्याविद्यामन्तरेण विशिष्टरूपत्वासिद्धेः, अविद्याभयाकर एव हि निरूप्यते । किञ्च चन्धमोक्षादिव्यवस्थासिद्धयर्थं हि १ जीवाज्ञानवादाभयणम्, सा तु व्यवस्था जीवाज्ञानपक्षेऽपि न सिध्यति । अविद्याविनाश एव हि मोक्षः । तत्रैकस्मिन्मुक्ते अविद्याविनाशादितरेऽपि विमुच्येरन् । अन्यस्यामुक्तत्वादविद्या तिष्ठतीति चेत्—तर्ह्येकस्याप्यमुक्तिरस्यात्, अविद्याया अविनष्टत्वात् । प्रतिजीवमविद्याभेदः कल्प्यते, तत्र यस्याविद्या विनष्टा, स मोक्ष्यते, यस्य त्वविनष्टा, स भन्त्यस इति चेत्—तत्र, प्रतिजीवमिति जीवभेदमाभित्य ब्रूये, स जीवभेदः किं स्वाभाविकः, उताविद्याकल्पितः ; न तावत्स्वाभाविकः, अनभ्युपगमान् : भेदसिद्धयर्थस्य चाविद्याकल्पनस्य व्यर्थत्वात् । अथाविद्याकल्पितः, तत्रेयं जीवभेदकल्पिकाऽविद्या किं ब्रह्मणः, उत जीवानाम् । ब्रह्मण इति चेत्—आगतोऽमि मदीयं मार्गम् । अथ जीवानाम्, किमस्या जीवभेदकल्पिसिद्धयर्थतां विस्मरसि । अथ प्रतिजीवं यदमुक्तव्यवस्थासिद्धयर्थं या अविद्याः कल्प्यन्ते, ताभिरिव जीवभेदोऽपीति मनुषे, जीवभेदमिदौ तास्सिद्धयन्ति, तासु मिद्वामु जीवभेदमिद्विरितीतरेतराभयन्वम् । न चात्र बीजाङ्कुरन्यायस्तिथ्यनि बीजाङ्कुरेषु ह्यन्यदन्यच्चीजमन्यम्यान्यस्याङ्कुरस्योत्पादकम्, इह तु याभिरविद्याभिर्यं जीवाः कल्प्यन्ते, तानेवाभित्य तामां २ मिद्विरित्यशकनीयता । अथ बीजाङ्कुरन्यायेन पूर्वपर्वजीवाभयाभिरविद्याभिरु-

१. जीवाज्ञानवादयमाभयणम्, पा ॥ २. मिद्विरिणाशद्विनिवना, पा ॥

ॐ जीवाज्ञानपक्षरमाप्रियोऽनार्थम्-नदेनदिनि ।

तरोत्तरजीवकल्पनां मन्यसे, तथा सति जीवानां भङ्गस्त्वमकृताभ्याग-
मकृतविप्रणाशादिप्रसङ्गश्च । अतएव ब्रह्मणः पूर्वपूर्वजीवाभयाभिरविगा-
मिरुत्तरोत्तरजीवभावकल्पनमित्यपि निरस्तम् । अविगाप्रवाहेऽभ्युपग-
म्यमाने तत्कल्पितजीवभावस्यापि तद्वत्प्रवाहानादिता स्यात् । न ध्रुव-
रूपता, आमोक्षाच्च जीवस्य ध्रुवत्वमिष्टं न सिध्येत् । यद्योक्तमविगाया
अवस्तरूपत्वेनानुपपन्नैक्येपाया नेतरेतराभयत्वाद्या वस्तुदोषा अ-
नयकजृप्तिमायहन्तीति, तथा सति मुक्तान् परञ्च ब्रह्माभयेदविगाः, शुद्धवि-
गास्वरूपत्वादशुद्धिरूपा न तत्र प्रसज्यतीति चेत्—किमुपपत्त्यनुयतिर्न्य-
विगा । एवं तर्जुक्ताभिरुपपत्तिभिर्जीवानपि नाभयेत् । किञ्च जीवा-
भयाया अविगायास्तत्त्वज्ञानोदयान्नाशे सति जीवो नश्येद्वा, नवा,
यदि नश्येत्, स्वरूपोच्छित्तिलक्षणो मोक्षस्स्यात्; नो चेदविगाना-
शेऽप्यनिर्मोक्षः, ब्रह्मस्वरूपव्यतिरिक्तजीवव्यावस्थानात् । यद्योक्तं—मणि-
कृपाणदर्पणादिपूपलभ्यमानमुखमलिनत्वविमलत्वादिवच्छुद्धयशुद्ध्यादि-
व्यवस्थोपपत्तिः—इति ; तत्रेदं विमर्शनीयम्—अल्पत्वमलिनत्वादय उ-
पाधिका दोषाः कदा नश्येयुरिति, कृपाणाद्युपाध्यपगम इति चेत्—किं त-
दाऽल्पत्वाद्याभयः प्रतिविम्बं तिष्ठति वा, नवा, तिष्ठति चेत्—तत्स्थानीय-
स्य जीवस्यापि स्थितत्वादनर्मोक्षप्रसङ्गः, नश्यति चेत्—तद्वदेव जीवना-
शात्स्वरूपोच्छित्तिलक्षणो मोक्षस्स्यात् । किञ्च—यस्य ह्यपुरुषार्थरूपदोष-
प्रतिभासः, तस्य तदुच्छेदः पुरुषार्थः, तत्र किमौपाधिकदोषप्रतिभासो
विम्बस्थानीयस्य ब्रह्मणः, उत प्रतिविम्बस्थानीयस्य जीवस्य, उतान्य-
स्य कस्यचिन्; आशयोः कल्पयोर्दृष्टान्तोऽयं न सङ्गच्छते, मुखस्य मु-
खप्रतिविम्बस्य चान्पत्वादिदोषप्रतिभासशून्यत्वात्, नहि मुखं तत्प्रति-
विम्बं वा चेतयते, ब्रह्मणो दोषप्रतिभासे ब्रह्मविगाप्रसङ्गश्च । नृतीया-
ऽपि कल्पो न कल्पने, जीवब्रह्मव्यतिरिक्तस्य द्रष्टृभावान् । किञ्च अ-
विगाकल्पस्य जीवस्य कलरकः क इति निरूपणीयम्, न तावदविगा,
अचेतनत्वात्, नापि जीवः, आत्माभयदोषप्रमद्धान्, शक्तिकारज-
तादिवदविगाकल्पव्याघाच्च जीवभावस्य, प्रदोष कल्पकमिति चेत्—अ-

ब्रह्मज्ञानमेवायातम् । किञ्च ब्रह्माज्ञानानभ्युपगमे किं ब्रह्म जीवान्पश्य-
ति वा, न वा, न पश्यति चेत्-ईत्तापूर्विका विचित्रमृष्टिर्नामरूपक्या-
करणमित्यादि ब्रह्मणो न स्यात् ! अथ पश्यति, अस्वप्नैकरसं ब्रह्म
नाविग्रामन्तरेण जीवान्पश्यतीति ब्रह्माज्ञानप्रसङ्गः । अतएव मायावि-
शाधिभागवाद्दोऽपि निरस्तः । अज्ञानमन्तरेण हि मायिनोऽपि ब्रह्मणो
जीवदर्शित्वं न स्यात् । नच मायायी परानदृष्ट्वा मोहयितुमलम् । नापि
माया मायाविनो दर्शनसाधनम् , दृष्टेप् परेप् तन्मोहनसाधनमात्रत्वा-
त्तस्याः । अथ ब्रह्मणो माया तस्य जीवदर्शित्वं कुर्वती जीवमोहनस्य
हेतुरिति मन्यसे , तर्हि परिशुद्धस्याखण्डैकरसस्वप्रकाशस्य ब्रह्मणः प-
रदर्शनं कुर्वती माया मायापरपर्याया अविशैव स्यात् । अथ मतम्-
विपरीतदर्शनहेतुरविशा ।, माया तु मिथ्याभूतं ब्रह्मव्यतिरिक्तं मिथ्यात्वे-
न दर्शयन्ती न ब्रह्मणो विपरीतदर्शनहेतुः । अतस्तस्या नाविशात्वमि-
ति । नैवम-चन्द्रैकत्वे ज्ञायमाने द्विचन्द्रदर्शनहेतोरप्यविशात्वात् । यदि च
ब्रह्म मिथ्यात्वेनैव स्वव्यतिरिक्तं जानाति, न तर्हि तन्मोहयतिानहनुन्म-
सो मिथ्यात्वेन ज्ञातान्मोहयितुमीदृते । अथापुरुषार्थापरमार्थदर्शनहेतु-
रविशा, माया तु ब्रह्मणो नापुरुषार्थदर्शनहेतुः ; अतोऽस्या नाविशात्व-
मिति मतम् ; तत्र, द्विचन्द्रज्ञानस्य दुःखहेतुत्वाभावेनानुरुपायत्वाभावेऽपि
तद्वेतुरविशैव, तन्निरसने च प्रयस्यन्ति; यदि च नापुरुषार्थदर्शनकरी
माया, तर्ह्यनुच्छेद्यतया नित्या ब्रह्मस्वरूपानुयन्धिनी स्यात् । अस्तु को
दोष इति चेत्-द्वैतदर्शनमेव दोषः । १ " यत्र हि द्वैतमिदं भवति...यत्र
त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्वेन कं परयेन" इत्याद्यद्वैतभूतयः प्रकुप्येयुः । प-
रमार्थविषया अद्वैतभूतयः, मायायास्त्वरपरमार्थत्वादविरोध इति चेत्-
अपरिच्छिन्नानन्दैकस्वरूपस्य ब्रह्मणोऽपरमार्थभूतमायादर्शनं तद्वत्तावा-
विग्रामन्तरेण नोपपद्यते । किञ्च अपरमार्थभूतया नित्यया मायया किं
प्रयोजनं ब्रह्मणः । जीवमोहनमिति चेत्-अपुरुषार्थेन मोहनेन किं प्र-
योजनम् । क्रोडेति चेत्-अपरिच्छिन्नानन्दस्य किं क्रोडया । परिपूर्णभा-

गानामेव क्रीडा पुरुषार्थत्वेन लोके दृष्टेति चेन्नैवमिहोपपद्यतेः नह्यपर-
 मार्थभूतैः क्रीडोपकरणैरपरमार्थतया प्रतिभासमानैर्निष्पन्नयाऽपरमार्थ-
 भूतया क्रीडयाऽपरमार्थभूतेन च तत्प्रतिभासेनानुन्मत्तनां क्रीडारस
 निष्पद्यते । मायाश्रयतयाऽभिमतब्रह्मव्यतिरेकेणाविशाश्रयस्य जीवस्य
 कल्पनासम्भवश्च पूर्ववदेव द्रष्टव्यः । अतो ब्रह्मैवानाशविशाशचलं स्व-
 गतनानात्वं पश्यतीत्यद्वितीयत्वं ब्रह्मणोऽभ्युपगच्छिरभ्युपेत्यम् । यत्
 बन्धमोक्षव्यवस्था नोपपद्यत इति, न तद्ब्रह्माज्ञानयादिनाश्रयम्, एकस्यै-
 व ब्रह्मणोऽज्ञस्य स्याद्ज्ञाननिवृत्त्या मन्द्यमागत्वाद्बद्धमुक्तदिव्यवस्थाया
 एवामावान्, व्यवहियमाणायाश्च बद्धमुक्तशिष्याचार्यादिव्यवस्थायाः
 काल्पनिकत्वान्, स्वप्नदर्शिन इव चैकस्याविद्यायां सर्वकल्पनोपपत्तौ;
 स्वप्नदशास्ये केन दृष्टांशिष्याचार्यादिव्यवस्थादिविद्याकल्पिता एव । अत एव
 यद्विद्याकल्पनमपि न युक्तिमन् । पारमार्थिकी बन्धमोक्षव्यवस्था स्वप-
 रव्यवस्था च जीवाज्ञानयादिनापि नाभ्युपेयते । अपारमार्थिकी त्येक-
 स्यैवाविद्यायां उपपद्यते । प्रयोगश्च-बन्धमोक्षव्यवस्थाः स्वपरव्यवस्थाश्च
 स्वाविद्याकल्पिताः, अपारमार्थिकत्वान्, स्वप्नदृष्टव्यवस्थावदिति । शरी-
 रान्तराण्यपि मयैवात्मवन्ति, शरीरत्वान्, एतच्छरीरवन्, शरीरान्तराण्यपि
 मद्विद्याकल्पितानि, शरीरत्वान्, कार्यत्वान्, जडत्वान्, कल्पितत्वा-
 द्वा, एतच्छरीरवन् । विवादाध्यासितं चेतनजातमहमेव, चेतनत्वान्, य-
 दनहम्, तदचेतनं दृष्टम्, यथा घटः । अतस्सपरविभागो बद्धमुक्तशि-
 ष्याचार्यादिव्यवस्थाचैकस्याविद्याकल्पिताः । द्वैतवादिनापि बद्धमुक्त-
 व्यवस्था दुरुपपादाः, अतीतानां कल्पानामानन्त्यादेर्कस्मिन्कल्पे एकैकमु-
 क्तावपि सर्वेषां मोक्षसम्भवादमुक्तानुपपत्तौ । अतन्तत्वादात्मनाममुक्ता-
 श्च सन्तीति चेत्-किमिदमनन्तत्वम् ? असङ्ख्येयत्वमिति चेन्न, भूयस्त्वाद-
 ल्पज्ञैरसङ्ख्येयत्वेऽपीश्वरस्य सर्वज्ञस्य सङ्ख्येया एव । तस्याप्यशक्यत्वं न-
 सर्वज्ञत्वं न स्यात्; आत्मानां निस्सङ्ख्यत्वादीश्वरस्याविद्यमानसङ्ख्यावेदना-
 भावो नासार्थइयताददतीति चेत्-भिन्नत्वे सङ्ख्याविधुरत्वं नोपपद्यते ।
 आत्मानस्सङ्ख्यावन्तः, भिन्नत्वान्, मापसंपपघटपटादिवन् । भिन्नत्वे चा-

त्मनां घटादिवज्जडत्वमनात्मत्वं ज्ञयित्वं च प्रसज्यते । ब्रह्मणश्चान-
न्तन्म्यं न स्यात् । अनन्तत्वं नाम-परिच्छेदरहितत्वम् । भेदवादे च वस्त्वन्त-
राद्विलक्षणत्वेन ब्रह्मणो वस्तुतः परिच्छेदरहितत्वं न शक्यते वक्तुम् ; व-
स्त्वन्तरभाव एव हि वस्तुतः परिच्छेदः । वस्तुतः परिच्छिन्नस्य देशतः काल-
तश्चापरिच्छिन्नत्वं च न युज्यते ; वस्त्वन्तराद्विलक्षणत्वेन वस्तुतः परिच्छि-
न्ना एव घटादयो देशतः कालतश्च परिच्छिन्ना हि दृष्टाः ; तथा सर्वे चेतनाः
ब्रह्म च वस्तुतः परिच्छिन्नाः देशकालाभ्यामपि परिच्छिद्यन्ते । एवञ्च
१ “सत्यं ज्ञानमनन्तम्” इत्यादिभिस्सर्वप्रकारपरिच्छेदरहितत्वं वदद्भिर्वि-
रोधः । उत्पत्तिविनाशादयश्च जीवानां ब्रह्मणश्च प्रसज्येरन् ; काल-
परिच्छेदएव उत्पत्तिविनाशभागित्वम् अत एकस्यैवापरिच्छिन्नस्य ब्र-
ह्मणोऽविद्याविजृम्भितं ब्रह्मादित्त्वमपर्यन्तं कृत्स्नं जगत् ; सुखदुःखप्रति-
मन्धान्यवस्थादयोऽपि स्वाप्न्यवस्थावदविद्यास्वभाव्यादुपपद्यन्ते । त-
स्मादेकमेव नित्यमुक्तस्वप्रकाशस्वभावमनाद्यविद्यावशाज्जगदाकारेण वि-
वर्तत इति परमार्थतो ब्रह्मव्यतिरिक्ताभावान्नादनन्यत्वं जगतः-इति ॥

* अत्रोच्यते-निर्विशेषस्वप्रकाशमात्रं ब्रह्मानाद्यविद्यातिरोहितस्वस्व-
रूपं स्वगतनानात्वं पश्यतीत्येतन् प्रकाशस्वरूपस्य निरंशस्य प्रकाशनिवृत्ति-
रूपतिरोधाने स्वरूपनाशभ्रसङ्गेन तिरोधानासम्भवादिभ्यस्सकलप्रमाण-
विरुद्धंस्ववचन विरुद्धं चेति पूर्वमेवोक्तम् यन्पुनरुक्तं-कारणव्यतिरिक्तं कार्यं
युक्तिबाधितत्वेन शुक्तिकारजतादिवद्भ्रमः-इति ; तदयुक्तम्, युक्तेरभावात् ।
यत्त्वनुवर्तमानस्य कारणमात्रस्य सत्यत्वम्, व्यावर्तमानानां धटशराया-
दिकार्याणामसत्यत्वमिति ; तदप्यन्यत्र दृष्टस्यान्यत्र व्यावर्तमानता न वा-
धिकेत्यादिभिः पूर्वमेव परिहृतम् । यज्ञोपलभ्यमानत्वाविनाशित्वाभ्यां
सदसदनिर्वाचनीयत्वेन कार्यभ्यः सृष्टात्प्रमितिः ; तदसन् उपलब्धिविनाश-
योगो हि न मिथ्यात्वं साधयति, किन्त्वनिन्यत्वम् । यदेशकालसम्बन्धि-

* ब्रह्मज्ञानवादिनं वैशेषिकः प्रतिपद्यति-अत्रोच्यते इति ॥

तथा यदुपलब्धम्, तद्देशकालसम्बन्धितया बाधितत्वमेव हि तस्य मिथ्या-
 त्वे हेतुः; देशान्तरकालान्तरसम्बन्धितयोपलब्धस्यान्यदेशकालसम्ब-
 न्धित्वेन बाधितत्वं देशान्तरकालान्तराव्याप्तिमात्रं साधयति, न तु मिथ्या-
 त्वम् । प्रतिप्रयोगश्च-घटादि कार्यं सध्यम्, देशकालादिप्रतिपन्नोपाभाव-
 बाधितत्वात्, आत्मयन् । यद्योक्तं-कारणस्वरूपादविकृताद्विकृताश्च कार्यो-
 त्पत्तिर्न सम्भवति-इति; तदसन्, देशकालादिसहकारिसमवह्नितात्कार-
 णात्कार्योत्पत्तिसम्भवान् । तत्समवधानं च विकृतस्याविकृतस्य च न स-
 म्भवति-इति यदुक्तम्; तदयुक्तम्, पूर्वमविकृतस्यैव कालादिसमवधान-
 सम्भवान् । अविकृतत्वाविशेषान् पूर्वमपि देशकालादिसमवधानं प्रसज्यत
 इति चेन्न, देशकालादिसमवधानस्य कारणान्तरायत्तस्यैतदायत्तत्वाभा-
 वात् । अतो देशकालादिसमवधानरूपविशेषमापन्नं कारणं कार्यमुत्पा-
 दयतीति न किञ्चिदवह्नीनम् । कारणस्य च कार्यं प्रत्यारम्भकत्वमबाधितं
 दृश्यमानं न केनापि प्रकारेणापह्नोतुं शक्यते । यत्तु-हेमादिमात्रस्य, रुच-
 कादिकार्यस्यैतदाभ्यस्य वा हेमादेरारम्भकत्वं न सम्भवति-इति; तदयु-
 क्तम्, हेमादिमात्रस्यैव यद्योक्तपरिकरयुक्तस्यारम्भकत्वसम्भवान् । न
 चारम्भकहेमव्यतिरिक्तं कार्यं न दृश्यत इति वक्तुं शक्यम्; हेमाति-
 रिक्तस्य स्वस्तिकस्य दर्शनान्, बुद्धिशब्दान्तरादिभिर्वस्त्वन्तरस्य सा-
 धितत्वाच्च । नचायं शुक्तिकारजतादिवद्भ्रमः, उत्पत्तिविनाशयोरन्तराल
 उपलभ्यमानस्य तद्देशकालसम्बन्धितया बाधादर्शनान् । नचास्या उप-
 लब्धेर्बाधिका काचिदपि युक्तिर्दृश्यते । प्रागनुपलब्धस्वस्तिकोपलब्धि-
 वेलायामपि हेमप्रत्यभिज्ञा स्वस्तिकाभ्यतया हेम्नोऽप्यनुगुणैरविरुद्धा ।
 भुतिभिस्तु प्रपञ्चमिथ्यात्वसाधनं पूर्वमेव निरस्तम् । यथान्यदत्र प्रत्यक्षा-
 विरोधादि प्रतिवक्तव्यम्, तदपि सर्वं पूर्वमेव सुप्रुक्तम् । यद्योक्तम्-एक-
 नात्मना सर्वाणि शरीराण्यात्मवन्ति-इति; तदसन्, एकस्यैव मयशरीरप्र-
 युक्तमुखदुःखप्रतिसन्धानप्रसङ्गान् । मौभरिप्रभृतिषु लात्मनकचनानेक-
 शरीरप्रयुक्तमुखादिप्रतिसन्धानमेकस्य दृश्यते । नचाहमर्थस्य साधुत्वात्त-

इहेदात्मनिसन्धानाभायो नात्मभेदादिति यक्तुं शक्यम् ; आत्मा ज्ञातव्यः,
 स चाहमर्थ एव, अन्तःकरणभूतस्थदृक्कारो जडस्यान्करणत्वाच्च शरीरे-
 न्द्रियादिवन्न ज्ञातव्यमुपपादितत्वात् । यच्च—शरीरस्य जडः स्वकार्यत्वकल्पित-
 त्वैस्मर्त्तशरीराणामेकस्याधिष्ठाकल्पितत्वमुक्तम् ; तदपि मर्त्तशरीराणामधि-
 ष्ठाकल्पितत्वस्यैवाभावादयुक्तम् । तदभावाच्चाधितस्य सत्यत्वोपपाद-
 नान् । यच्च चेतनादन्यस्य जडस्य दशनात्मर्धचेतनानामनन्यत्वमुक्तम्, त-
 दपि मुख्यदुःखव्यवस्थया भेदोपपादनादेव निरस्तम् । यत्तु—मयैवात्म-
 वन्ति मदधिष्ठाकल्पितान्यहमेव सर्वं चेतनज्ञातमित्यहमर्थस्यैक्यमुपपा-
 दितम् । तदज्ञातस्य सिद्धान्तस्य भ्रान्तिरल्पितम्, अहं त्वमागर्थविलक्षणं
 चिन्मात्रं ज्ञात्मा त्यन्मते । किञ्च निर्विशेषचिन्मात्रातिरेकि सर्वं मिथ्येति
 वदतो मोक्षार्थभयणादिप्रयत्नो निष्फलः, अधिष्ठाकार्यत्वात् ; शुक्ति-
 कारजतादिषु रजताद्युपानादिप्रयत्नवन् । मोक्षार्थप्रयत्नो व्यर्थः, कल्पि-
 ताचार्यायत्तज्ञानकार्यत्वात्, शुकप्रज्ञाद्वामदेवादिप्रयत्नवन् । अतस्त्वमस्या-
 दिष्ठाकव्यजन्यज्ञानं न बन्धनिवर्तकम्, अधिष्ठाकल्पितवाक्यजन्यत्वात्,
 स्वयमधिष्ठात्मकत्वात्, अधिष्ठाकल्पितज्ञात्राभयत्वात्, कल्पिताचार्य-
 यत्तभयणजन्यत्वाद्वा, स्वाग्रबन्धनिवर्तनयाक्यजन्यज्ञानवन् । किञ्च
 निर्विशेषचिन्मात्रं ब्रह्म मिथ्या, अधिष्ठाकार्यज्ञानगम्यत्वात्, अधिष्ठाक-
 ल्पितज्ञात्राभयज्ञानगम्यत्वात्, अधिष्ठात्मकज्ञानगम्यत्वाद्वा, यदेवं तत्तथा,
 यथा स्याग्रबन्धनगगादिः । नच निर्विशेषचिन्मात्रं ब्रह्म स्वयं
 प्रकाशने, तेन न प्रमाणान्तरमपेक्षते । यन्त्यात्मसाक्षिकं स्वयं प्रकाशज्ञानं
 दृश्यत, तत्तु ज्ञेयविशेषमिद्विरूपं ज्ञातृगतमेव दृश्यत इति पूर्वमेवाक्तम् ।
 यानि च तस्य निर्विशेषत्वमाध्याकानि शौक्तिकानि ज्ञानान्युपन्य-
 स्तानि, तानि चानन्तरोक्तैरधिष्ठाकार्यत्वादित्वादिभिरनुमानैर्निरस्ता-
 नि । नच निर्विशेषस्य चिन्मात्रस्याज्ञानसाक्षित्वमहङ्कारादिजगद्भ्रमभ्रो-
 पपन्नं, साक्षित्वभ्रमाद्योऽपि हि ज्ञातृविशेषगता दृष्टा, न ज्ञप्तिमात्र-
 गताः ; नच तस्य प्रकाशनं स्वायत्तप्रकाशता या सिध्यति ; प्रकाशो हि

कस्यचित्पुरुषस्य कञ्चनार्थविशेषं प्रति सिद्धिरूपो दृश्यते, तत्र पश्य हि
 तस्य स्वयम्प्रकाशतोपपाद्यते भवद्विरपि । नचातादृशस्य निर्विशेषस्य
 प्रकाशना सम्भवति यः पुनः स्वगोष्टीप्यपरमार्थादपि परमार्थकार्यं
 दृश्यत इत्युद्धोषः. सांऽपि तानि कार्याणि सर्वाण्यथाधितकल्पानि व्याव-
 हारिकमत्यानि; यस्तुतस्यविधात्मकान्येवेति स्याभ्युपगमादेव निरस्तः ।
 अस्माभिरपि सर्वत्र परमार्थादेव कारणान्सर्वकार्योत्पत्तिमुपपादयद्विः
 पूर्वमेव निरस्तः । नच त्वयंपामनुमानानां श्रुतिविरोधो यक्तुं शक्यते,
 श्रुतेरप्यविद्याकार्यत्वेनाविज्ञात्मकत्वेन चोक्तदृष्टान्तेभ्यो विशेषाभावान् ।
 यत्तु ब्रह्मणोऽपारमार्थिकज्ञानगम्यत्वेऽपि पश्चात्तनवाधादर्शनादत्र ब्रह्म सत्य-
 मेव इति, तद्वसन, दुष्टकारणजन्यज्ञानगम्यत्वे निश्चिते सति पश्चात्तनवा-
 धादर्शनस्याकिञ्चित्करत्वात्; यथा शून्यमेव तत्त्वमिति वाक्यजन्यज्ञान
 स्य पश्चात्तनवाधादर्शनेऽपि दोषमूलत्वनिश्चयादेव तदर्थस्यासत्यत्वम् ।
 किञ्च १“नेह नानाऽस्ति किञ्चन” २“विज्ञानमानन्दं ब्रह्म” इति विज्ञान-
 भावतिरिक्तस्य कृत्स्नस्य यस्तुजातस्य निषेवकत्वेन सर्वस्मात्परत्वात्पश्चा-
 त्तनवाधादर्शनमुच्यते, शून्यमेव तत्त्वमिति तस्याप्यभावं वदतस्तस्मात्पर-
 त्वेन पश्चात्तनवाधा दृश्यते । सर्वशून्यत्वातिरेकिनिषेवासम्भवात्तस्यैव
 पश्चात्तनवाधादर्शनम् ; दोषमूलत्वं तु प्रत्यक्षादीनां वेदान्तजन्मनस्सर्वशू-
 न्यज्ञानस्याप्यविशिष्टम् । अतस्त्वं विज्ञानजातं पारमार्थिकज्ञानतृणम्,
 स्वयं च परमार्थभूतमर्थविशेषसिद्धिरूपम्; तत्र किञ्चिन् ज्ञानं दोषमूलम् ;
 दोषश्च परमार्थः; किञ्चिच्च निर्दोषं पारमार्थिकमानमोजन्यमिति यावद्भा-
 व्युपेयते, न नावत्मन्यमिथ्यार्थव्यवस्था, लोकव्यवहारश्च सेत्स्यति । लो-
 कव्यवहारो हि पारमार्थिको भ्रान्तिरूपश्च पारमार्थिकज्ञानतृणानर्थविशे-
 पसिद्धिरूपप्रकाशपूर्वकः; निर्विशेषसन्मात्रस्य तु पारमार्थिकस्यापारमा-
 र्थिकस्य च प्रतिभासादेर्दुत्त्वानन्वयान् लोकव्यवहारो न सम्भवति ।
 यथा—तैर्निर्विघ्नानघ्नानामन्वयान्त्वान्वासाभिधान्य सन्मात्रस्य पार-

पार्थक्यं स्यात् । भेदतत्त्वानभ्युपगमे हि स्वपक्षपरपक्षसाधनदूषणादिविवेकाभावात्सर्वमसमञ्जसं स्यात् । अनन्यप्रसिद्धिश्च देशकालपरिच्छेदरहितत्वमात्रेण ; न वस्तुतोऽपि परिच्छेदरहितत्वेन, तथाविधस्य शशविपाणायमानस्यानुपलब्धेः । *भेदवादिनस्तु सर्वचिदचिद्वस्तुशरीरत्वेन ब्रह्मणस्सर्वप्रकारत्वात् + स्वतः परतोऽपि परिच्छेदो न विगतः । तदेवोपादयद्भूतोऽवगम्यते । आरम्भणशब्द आदिर्येषां वाक्यानाम्, तान्यारम्भणाद्विज्ञस्य कार्यस्य सत्यत्वाद्ब्रह्मकार्यं कृत्स्नं जगद्ब्रह्मणोऽन्यदेव ॥

(सिद्धान्तः)

इति प्राप्तौ प्रचक्ष्महे— सदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः—तस्मान्परमकारणाद्ब्रह्मणः, अनन्यत्वं जगतः आरम्भणशब्दादिभ्यः तदुपरम्भणशब्दादीनि । आरम्भणशब्द आदिर्येषां वाक्यानाम्, तान्यारम्भणशब्दादीनि १ ‘वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेभ्येव सत्यम्’ २ “सदेव सोम्येवमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तदैक्षत बहुस्यां प्रजापेयेति तत्तेजोऽसृजत” ३ “अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य” ४ “सन्मूलास्तोम्येमास्सर्वाः प्रजास्सदायतनास्सत्प्रतिष्ठाः... एतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो” इत्येतानि; प्रकरणान्तरस्थान्यप्येवंजातीयकान्यत्राभिप्रेतानि । एतानि हि वाक्यानि चिदचिदात्मकस्य जगतः

१. छा. ६-१-४ ॥

२. छा. ६-२-१ ॥

३. छा. ६-३-३ ॥

४. छा. ६-८-१७ ॥

* साधारित्वान्निपक्षे वस्तुपरिच्छेद उपाय इत्याह (भेदवादिमस्त्विति)

+ ब्रह्मणः सर्वतत्त्वकारत्वादिभ्येन सर्ववस्तु सामानाधिकरण्यादित्थं वस्तुपरिच्छेद इति भाष्यकाराभिप्रायः । इमिदं न भवतीति हि वस्तु परिच्छेदः, इत्रमिदं भवतीति निर्देश योग्यत्वं वस्तुपरिच्छेद, सर्ववस्तु सामानाधिकरण्यादित्थमित्यर्थः । अनेकविशेषणानामेकविशेषपर्यन्तताभिधानं हि सामानाधिकरण्यादित्थम् । तथा वस्तुमन्था विधत्वात् ॥

परमद्वन्द्वप्रणोऽनन्यन्यमुपपादन्ति । तथा हि-१“स्तब्धोऽस्युत तमादेश-
 शमप्राप्तयो येनाभुतं भुतं भवत्यमनं मतमभिज्ञातं विज्ञातम्” इति कृत्स्नस्य
 जगतो ब्रह्मैककारणत्वम्, कारणकार्यस्यानन्यत्वं च हृदि निधाय
 कारणभूतब्रह्मविज्ञानेन कार्यभूतस्य सत्यस्य विज्ञानं प्रतिज्ञानं सति कृ-
 त्स्नस्य ब्रह्मैककारणतामजानता शिष्टेण २“कथं नु भवत्वस्माद्वेशः”
 इत्यन्यज्ञनेनान्यज्ञाततासम्भवं चादितो जगतो ब्रह्मैककारणतामृषदे-
 द्यन लौकिकप्रतीतिमिदं कारणकार्यस्यानन्यत्वं नायम् ३“यथा सो-
 म्यैकेन मृषिण्डेन सयं मृषमयं विज्ञातं स्यात्” इति दर्शयति । यथैकमृ-
 षिण्डारब्धानां षटशरावावीनां तस्मादनतिरिक्तद्रव्यतया तज्ज्ञानेन ज्ञा-
 तेत्यर्थः । अत्र कारणादवादेन कारणकार्यस्य द्रव्यान्तरत्वमाशङ्क्य
 लोकप्रत्यक्ष कारणकार्यस्यानन्यतामुपपादयति ३“वाचारम्भणं धिका-
 रं नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्” इति । आरभ्यते आलभ्यते स्मृत्य-
 ने इत्यारम्भणम् ; ३“कृत्यल्यदो बहुलम्” इति कर्मणि ल्युट् वाचा
 वाक्पूर्वकेण व्यवहारेण हेतुनेत्यर्थः । ‘घटेनोदकमाहर’ इत्यादियाक्पूर्व-
 कां ह्युक्तादहरणादिव्यवहारः; तस्य व्यवहारस्य सिद्धये, तत्रैव मृद्व्ये-
 ण पृथुपुष्पोदरत्वादिलक्षणे धिकारः-संस्थानविशेषः, तत्प्रयुक्तं च
 घटइत्यादिनामध्येयम्, स्मृत्यने—उदकादहरणादिव्यवहारविशेषसिद्धयै
 मृद्व्यमेव संस्थानान्तरनामधेयान्तरभागभवति । अतो घटाणपि मृत्ति-
 केत्येव स य-मृत्तिकाद्रव्यमित्येव सत्यम्-प्रमाणेनोपलभ्यत इत्यर्थः; नतु
 द्रव्यान्तरत्वेना अतन्तरयैव मृद्धिरण्यादेर्द्रव्यस्य संस्थानान्तरभाक् च नात्रेण
 बुद्धिशब्दान्तरादय उपपद्यन्ते, यथैकस्यैव वेषदत्तस्यावस्थाभेदैः ‘यत्सो युवा
 स्थविरः’ इति बुद्धिशब्दान्तरादयः कार्यविशेषाश्च दृश्यन्ते । यदुक्तं-सत्या-
 मेव मृदि घटो नष्ट इति व्यवहारात्कारणादन्यत्कार्यामिति ; तदुत्पत्तिवि-
 नशादीनां कारणभूतस्यैव द्रव्यगत्यावस्थाविशेषत्वाभ्युपगमादेव परिहृतम् ।
 नत्तदवस्थस्यैकस्यैव द्रव्यस्य न तं शब्दास्त्वानि तानि च कार्याणीति यु-
 क्तम् । द्रव्यस्य तत्तदवस्थस्यैव कारकव्यापाराय नमिति तस्यार्थवत्त्वम् । अ-

मिष्यत्तनुवन्धोनि चोद्यानि तस्या अनभ्युपगमादेव परिहृतानि । उत्प-
 स्यभ्युपगमेऽपि सत्कार्यवाद्यो न विरुध्यते ; सत एवोत्पत्तः । धिप्रतिषिद्ध-
 मिदमभिधीयते,—पूर्वमेव सत्, तदुत्पद्यते च—इति । अज्ञातोत्पत्तिविनाश-
 याधात्म्यस्येदं चोद्यम् ; द्रव्यस्योत्तरांतरसंस्थानयोगः पूर्वपूर्वसंस्थानसं-
 स्थितस्य विनाशः, स्वावस्थस्य नूत्पत्तिः । अतस्सर्वावस्थस्य द्रव्यस्य स-
 त्त्वात्सत्कार्यवाद्यो न विरुध्यते । संस्थानस्यासत उत्पत्तावसत्कार्यवादप्रस-
 ङ्ग इति चेत्—असत्कार्यवादिनोऽप्युत्पत्तेरनुत्पत्तिमत्त्वे सत्कार्यवादप्रसङ्गः ।
 उत्पत्तिमत्त्वे चानवस्था । अस्माकं त्वयस्थानां पृथक्प्रतिपत्तिकार्ययोगान
 ह्यत्वादवस्थावत एवोत्पत्त्यादिकं सर्वमिति निरवद्यम् । कपालत्वचूर्णत्वपि-
 ण्डत्वावस्थाप्रहाणेन घटत्वावस्थावदेकत्ववस्थाप्रहाणेन बहुत्वावस्था त-
 त्प्रहाणेनैकग्यावस्था चेति न कश्चिद्विरोधः । तथा १ “सदेव सोम्येदमग्र आ-
 सीदेकमेवाद्वितीयम्” इति सदेवेदम् इदानीं विभक्तनामरूपत्वेन नानारूपं
 जगत्, अग्रे नामरूपविभागाभावेनैकमेवासीत्, सर्वशक्तित्वेनाधिष्ठात्रन्त-
 रासद्वयया अद्वितीयं चेत्यनन्यत्वमेवौपपादितम् । तथा २ “तदेतत्तद् बहु स्यां
 प्रजायेय” इति स्रक्ष्यमाणतेजःप्रभृतिविविधविचित्रस्थिरन्नरूपजगत्त्वेना-
 त्मनो बहुभवनं सकृत्पुण्य जगत्सर्गाभिधानात्कार्यभूतस्य जगतः परमकार-
 णात्परस्माद्ब्रह्मणोऽनन्यत्वमवसीयते।सच्छब्दवाच्यस्य परस्य ब्रह्मणस्स-
 र्वज्ञस्य सत्यसकृत्पस्य निरवद्यस्यैव सदेवेदमिति निर्देशार्दजगत्त्वम्, सच्छ-
 ष्दवाच्यस्यैव जगतो नामरूपविभागाभावेनैकत्वमधिष्ठात्रन्तरनिरपेक्ष-
 त्वम्, पुनरपि तस्यैव विचित्रस्थिरन्नरूपजगत्त्वेन बहुभवनसकृत्पस्यैव
 णम्, यथासकृत्पं सर्गाश्च कथमुपपद्यत इत्याशङ्काद् ३ “सर्वं देवतैस्तद् इ-
 न्ताहमिमास्मिन्ने देवताः अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकर-
 याणोति तासां त्रिवृतं त्रिवृतम्” इत्यादि । ३ “तन्त्रो देवताः” इति कुत्क्रम-
 चिद्वस्तु निर्दिश्य स्वात्मकजावानुप्रवेशेनैतद्विद्यनामरूपभाकरवाणोत्यु-

क्तम् । अनेन जीवेनात्मना-मदात्मकजीवेन आत्मतयाऽनुप्रविश्यैतद्विचि-
 त्रनामरूपभाक्करवाणीत्यर्थः । स्वात्मनो जीवस्य चात्मतयाऽनुप्रवेशकृत्
 नामरूपभाक्त्वमित्युक्तं भवति । १ “तस्मिन् तदेवानुप्राविशान् तदनुप्रविश्य
 सद्य ग्यद्याभवत्” इति भूत्यन्तरेण स्पष्टं सजीवं जगत्परेण ब्रह्मणा आ-
 त्मतयाऽनुप्रविष्टमिति । तदेतत्कार्यावस्थस्य च कारणावस्थस्य च चिदवि-
 द्वस्तुनः स्थूलस्य सूक्ष्मस्य च परब्रह्मशरीरस्त्वम्, परस्य च ब्रह्मण आत्म-
 त्वमन्तर्यामिब्रह्मणादिषु सिद्धं स्मारितम् । अनेन पूर्वोक्त शक्ता निरस्ता ।
 अचिद्वस्तुनि सजीवे ब्रह्मण्याऽमतयाऽवस्थिते नामरूपव्याकरणवचनाधि-
 दचिद्वस्तुशरीरकं ब्रह्मैव जगच्छब्दवाच्यमिति २ “सदेवेदमग्र एकमेवा-
 सीन्” इत्यादिसर्वमुपपन्नतरम् । शरीरभूतचिदचिद्वस्तुगतास्सर्वे विकारा-
 द्वापुरुषार्थाभेति ब्रह्मणो निरवयवत्वं कल्याणगुणाकरत्वं च सुस्थितमात-
 देवत् ३ “अधिकं तु भेदनिर्देशात्” इत्यनन्तरमेव वक्ष्यति । तथा ४ “पेतदा-
 त्म्यमिदं सर्वम्” इति कृत्स्नस्य चेतनाचेतनस्य ब्रह्मतादात्म्यमुपविशति ।
 तदेव च ५ “तत्त्वमसि” इति निगमयति । तथा प्रकरणान्तरस्थेष्वपि वा-
 क्येषु ६ “सर्वं खल्विदं ब्रह्म ७ “आत्मनि खल्वरे दृष्टे भूते मते विज्ञात इदं
 सर्वं विदितम्” ८ “इदं सर्वं यदयमात्मा” ९ “ब्रह्मैवेदं सर्वम्” १० “आत्मैवेदं
 सर्वम्” इत्यनन्यत्वं प्रतीयते, तथाऽन्यत्वं च निषिध्यते ११ “सर्वं तं परादा-
 गोऽन्यत्रात्मनस्सर्वं वेद” १२ “नेह नानास्ति किञ्चनामृत्योस्स मृत्युमाप्नोति
 य इह जानेय परयति,, इति, तथा १३ “यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं
 परयति यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं परयेत्” इत्यविदुषो द्वैतदर्शनं
 विदुषश्चाद्वैतदर्शनं प्रतिपादयदनन्यत्वमेव तात्त्विकमिति प्रतिपादयति । त-

१. तै. ब्रा. १-२ ॥ २. छा. ३-२-१ ॥ ३. शारी २-१-२२ ॥

४. छा १-८-७ ॥ ५. छा. ३-१४-१ ॥ ६. वृ १-२-१ ॥ ७. वृ १-२-७ ॥

८. ॥ ९. छा. ७-२५-२ ॥ १०. वृ. १-२-७ ॥ ११. वृ. १-४-१३ ॥

१२. वृ. १-२-७ ॥

देवमारम्भणशब्दादिभ्यो जगतः परमकारणात्परस्माद्ब्रह्मणोऽनन्यत्वमुप-
पाद्यते । अत्रेदं तत्त्वं-चिद्विद्वस्तुशरीरतया तत्प्रकारं ब्रह्मैव सर्वदा सर्प-
शब्दाभिधेयम् । तत्कदाचित्स्वस्मात्स्वशरीरतयापि पृथग्व्यपदेशानर्हसूक्ष्म-
दशापन्नचिद्विद्वस्तुशरीरम् । तत्कारणावस्थं ब्रह्म । कदाचिच्च विभक्त-
नामरूपव्यहाराहस्यूलदशापन्नचिद्विद्वस्तुशरीरम् । तच्च कार्यावस्थमि-
ति कारणात्परस्माद्ब्रह्मणः कार्यरूपं जगदनन्यत्वं शरीरभूतचिद्विद्वस्तुनः
शरीरिणो ब्रह्मणश्च कारणावस्थायां कार्यावस्थायांच भुतिरातसिद्धया स्व-
भावव्यवस्थया गुणदोषव्यवस्था च । “ननु दृष्टान्तभावात्” इत्यत्रोक्ता ॥

ये तु कार्यकारणयोरनन्यत्वं कार्यस्य मिथ्यात्वाभयेण चर्णयन्ति,
न तेषां कार्यकारणयोरनन्यत्वं सिध्यति, सत्यनिध्यार्थयोरैक्यानुपपत्तेः;
तथासति ब्रह्मणो मिथ्यात्वं जगतस्सत्यार्थं वा स्यात् ॥

येच + कार्यमपि पारमार्थिकमभ्युपयन्तएव जीवब्रह्मणोरौपाधिक-
मन्यत्वम्, स्वाभाविकं चानन्यत्वम्, अविद्ब्रह्मणोस्तु द्वयमपि स्वा-
भाविकमिति वदन्ति ; तेषामुपाधिब्रह्मण्यतिरिक्तवस्त्वन्तराभावाभिर-
व्यवस्थास्त्वण्डितस्य ब्रह्मण एवोपाधिसम्बन्धाद्ब्रह्मस्वरूपस्यैव देयाकार-
परिणामत्वं शक्तिपरिणामाभ्युपगमे शक्तिब्रह्मणोरनन्यत्वाच्च जीवब्रह्म-
णोः कर्मवश्यत्वापहतपाप्मत्यादिव्यवस्थावादिन्योऽचिद्ब्रह्मणोश्च परिणा-
मवादिन्यश्रुतयो व्याकुलीभवेयुः ॥

ये पुनः × निरस्तनिखिलभोक्त्वत्वादिविकल्पविप्लवं सर्वशक्तियुक्तं
सन्मात्रद्रव्यमेव कारणं ब्रह्म; तच्च प्रलयवेलायां शान्ताशेषमुखदुःखानुभ-
वविशेषं स्वप्रकाशमपि मुक्तात्मवदचिद्विलक्षणमवस्थितम्, सृष्टिवेलायां
सृष्टिकाद्रव्यमिद्य घटशरावादिरूपम्, समुद्र इव च फेनतरङ्गबुद्बुदादिरूपो

१. शरी. २-१-३ ॥

* भावावादिभिरस्वसूत्रस्योक्तमर्थं कूपयति (वेतिवति) ।

+ भास्करमतं कूपयति (दिवेचेति) ।

× यादवप्रकाशमतं कूपयति (ये पुनरिति) ।

भोक्तृभोग्यनियन्तृरूपेणांशत्रयावस्थमवतिष्ठते ; अतो भोक्तृभोग्यनिय-
न्तृत्वादि तत्प्रयुक्तभ्रूणदोषाः शरावत्त्वघटत्वसणिकत्ववत्तद्गतकार्यभेद-
वशं व्यवतिष्ठन्ते ; भोक्तृभोग्यनियन्तृणां सदात्मनैकत्वं च घटशरावमणि-
कादीनां मृदात्मनैकत्ववदुपपद्यते ; अतस्सन्मात्रद्रव्यमेव सर्वार्थस्यावस्थि-
तमिति ब्रह्मणोऽनन्यजगदतिष्ठन्ते ; तेषां सकलश्रुतिस्मृतीतिहासपुराण-
न्यायविरोधः ; सर्वा हि श्रुतयः सस्मृतीतिहासपुराणास्सर्वेश्वरं सदैव सर्वज्ञं
सर्वशक्तिं सत्यमङ्गुल्यं निरवयं देशकालानयच्छिन्नानयधिकातिशयानन्दं
परमकारणं ब्रह्म प्रतिपादयन्ति, न पुनरीश्वरादपि परमेश्वरांशं सन्मात्रम्।
तथाहि १“मदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्” २“तदैक्षत बहु स्यां
प्रजायेयेति” ३“ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव तदेकं सन्न व्यभवत् तच्छ्रेयो
रूपमत्यमृजत सन्नं यान्येतानि देवक्षत्राणीन्द्रो बरुणस्सोमो रुद्रः पर्जन्यो
यमो मृत्युरीशान इति” ४“आत्मा वा इदमेक एकाग्र आसीत् नान्यत्किञ्चन
सिपत् स ऐक्षत लोकान्नु सृजा इति” ५“एको ह वै नारायण आसीत् न
ब्रह्मा नेशानो नेमे वावापृथिवी न नक्षत्राणि नापो नाग्निर्न सोमो न सूर्यः
स एकाको न रमेत तस्य ध्यानान्तस्थस्य” इत्यादिभिः परमकारणं सर्वेश्व-
रेश्वरं नारायण एवेत्यवगम्यते । सद्ब्रह्मात्मशब्दा हि तुल्यप्रकरस्थास्त-
त्तुल्यप्रकरणस्येन नारायणशब्देन विशेषितास्तमेवावगमयन्ति । ६“तमी-
श्वराणां परमं महेश्वरम्” ७“स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चि-
ज्जनिता न चाधिपः” इतीश्वरस्यैव कारणत्वं श्रूयते । स्मृतिरपि मानवी
८“नतस्वयम्भूर्भगवान्” इति प्रकृत्य ९“सोऽभिधाय शरीरात्स्वान्तिसृ-
क्षुर्विधिधाः प्रजाः । अह एव मसर्जदौ ताम् वीर्यमपामृजन्” इति । इति-
हामपुराणान्यपि गुरुपौत्तममेव परमकारणमभिधत्ति १०“नारायणो जग-
न्मूर्तिरनन्तान्मा सन्नाननः... स मिसृक्षुस्महन्नांशादमृजत्पुरुषान् त्रिधा,,

१ छा. ६-२-१ ॥—२. छा. ६-२-२ ॥—३. श्रु. ३-४-११ ॥—४. एतरे
ब. १-१-१ ॥—५. महोप. १.११ ॥—६. श्रु. ६-७ ॥—७. श्रु. ६.६ ॥—८. मनु.
१. ६०—७. मनु. १.८ ॥—१०. आरत. मोष. ८-१२ ॥

१“विष्णोस्सकाशादुद्भूतं जगत्तत्रैव च स्थितम्” इत्यादिपुनर्नचेश्वरसन्मा-
त्रमेवेति वक्तुं शक्यम्, तस्य तदंशत्वाभ्युपगमात्सविशेषत्वाच्चानच तस्य
ज्ञानानन्दाद्यनन्तकल्याणगुणयोगः कादाचित्क इति वक्तुं शक्यम्, तेषां
स्वाभाविकत्वेन सदातनत्वात्, २“पराऽस्य शक्तिर्विधिर्धैव श्रूयते स्वाभा-
विकी ज्ञानयत्नक्रिया च” ३ “यस्सर्वज्ञस्सर्ववित्”, इत्यादिभ्यः। ज्ञानानन्दा
विशक्तियोग एवास्य स्वाभाविक इति मायोचः, ‘शक्तिः स्वाभाविकी,
ज्ञानयत्नक्रिया च स्वाभाविकी, इति पृथङ्निर्देशालक्षणाप्रसङ्गात्। नच पा-
चकादियत् ‘सर्वज्ञः’ इत्यादिपु शक्तिमात्रे कृत्प्रत्यय इति वक्तुं शक्यम्, कृ-
त्प्रत्ययमात्रस्य शक्त्यस्मरणान्, ४“शक्तौ हस्तिकघाटयोः”, इत्यादिपु के-
पाद्भिदेव कृत्प्रत्ययानां शक्तिविषयत्वस्मरणान् । पाचकादिपु त्वगत्या ल-
क्षणा समाधीयते। किञ्च ईश्वरस्य तदंशविशेषत्वात्तस्य चांशित्वे तरङ्गात्स-
मुद्रस्येवांशार्दशिनोऽधिकत्वात्, २“तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्”, ३“न
तत्समश्चाभ्यधिकञ्च दृश्यते”, इत्यादीनीश्वरविषयाणि परश्शस्तानि वचांसि
वाध्येरन् । किञ्च सन्मात्रस्य सर्वात्मकत्वे, अंशित्वे च ईश्वरस्य तदंशविशे-
पत्वात् तस्य सर्वात्मकत्वांशित्वोपदेशाव्याहृन्येरन् । नहि मणिकात्मकत्वं
तदंशत्वं वा घटशरावादेः । स्यांशेषु सर्वेषु सन्मात्रस्य पूर्णत्वेनेश्वरांशेऽपि
तस्य पूर्णत्वात् तदात्मकानि तदंशाश्चेतराणि यस्मिन्तीति चेन्न, घटेऽपि स-
न्मात्रस्य पूर्णत्वादीश्वरस्यापि घटात्मकत्वतदंशत्वप्रसङ्गान् । नच सन्मात्र-
स्य ‘घटोऽस्ति’ ‘पटोऽस्ति, इति वस्तुधर्मतयाऽवगतस्य द्रव्यत्वं कारणत्वं
घोषयते । व्यवहारयोग्यता हि सत्त्वम् । विरोधिद्व्यवहारयोग्यता तद्व्यव-
हारयोग्यस्यासत्त्वम् । द्रव्यमेव सदित्यभ्युपगमे क्रियादीनामसत्त्वप्रसङ्गः।
क्रियादिपुष्काशकुशावतलम्बनेऽपि सर्वत्रैकरूपा सत्ता दुरुपपादा। मदात्म-

१. वि. पु. १-१-३१ ॥ — २. श्वे. ६. ८ ॥ — ३. मु. १-१-३ ॥

४. अष्टा. ३-२-२४ ॥ — ५. श्वे. ६-७ ॥

० काशस्य कुशत्वेन-कुशस्थाने प्रयत्नम्-काशकुशावतलम्बनम्, यद्युपगमि
त्यर्थः ॥

नाच सर्वस्याभिन्नत्वे सर्वज्ञत्वेन सर्वस्यभावप्रतिसन्धानात्सर्वगुणदोषस-
ङ्गप्रसङ्गश्च पूर्वमेवोक्तः । अतो यथोक्तप्रकारमेवानन्यत्वम् ॥ १५ ॥

अथोच्येत—एकस्यैवावस्थान्तरयोगेऽपि बुद्धिशब्दान्तरादयो
बालत्वयुवत्वादिषु दृश्यन्ते, मृदारुहिरण्यादिषु द्रव्यान्तरत्वेऽपि दृश्यन्ते,
तत्र मृदटादिषु कार्यकारणेषु बुद्धिशब्दान्तरादयोऽवस्थानिवन्धना एवे-
ति कुतो निर्णीयते—इति । तत्रोत्तरम्—

भावे चोपलब्धेः २। १। १६॥

कुण्डलादिकार्यसद्भावे च कारणभूतहिरण्यस्योपलब्धेः—‘इदं कु-
ण्डलं हिरण्यम्’ इति हिरण्यत्वेन प्रत्यभिज्ञानादिभ्यर्थः । न चैवं हिरण्या-
दिषु द्रव्यान्तरेषु मृदादय उपलभ्यन्ते । अतो बालयुवादिवत्कारणभू-
तमेव द्रव्यमवस्थान्तरापन्नं कार्यमिति गीयते; द्रव्यान्तरवादिनाऽप्य-
भ्युपेतैनावस्थान्तरयोगेन बुद्धिशब्दान्तरादिषूपपत्तेष्वनुपलब्धद्रव्यान्त-
रकल्पनानुपपत्तेश्च । नच जातिनिवन्धनेयं प्रत्यभिज्ञा, जात्याभयभूतद्र-
व्यान्तरानुपलब्धेः एकमेव हेमजातीयं द्रव्यं कार्यकारणोभयावस्थं दृ-
श्यते । नच द्रव्यभेदे समवायिकारणानुवृत्त्या कार्ये प्रतिसन्धानमिति
वक्तुं शक्यम्, द्रव्यान्तरत्वे सन्वाधयानुवृत्तिमात्रेण तदाभितद्रव्यान्तरे
प्रतिसन्धानानुपपत्तेः । गोमयादिकार्ये वृश्चिकादौ गोमयादिप्रतिसन्धा-
नं न दृश्यते इति चेन्न, तत्रान्यायकारणभूतपृथिवीद्रव्यप्रत्यभिज्ञानान् ।
अग्निकार्ये धूमे अग्निप्रत्यभिज्ञानं दृश्यते इति चेत्—भवतु, न तत्र
प्रत्यभिज्ञानम्; तथापि न दोषः, अग्नेर्निमित्तकारणमात्रत्वान् । अग्नि
संयुक्ताद्रन्धनाद्धि धूमो जायते । गन्धैक्याशाद्रन्धनकार्यमेव धूमः । अतः
कार्यभावे च तद्वेदमित्युपलब्धेर्बुद्धिशब्दान्तरादयोऽवस्थाभेदमात्रनिवन्ध-
ना इत्यवगम्यते । तस्मात्कारणादनन्यत्कार्यम् ॥ १६ ॥

उतश्च—

सत्त्वाच्चापरस्य । २। १। १७॥

अपरस्य कार्यस्य सत्त्वाच्च कारणत्वात्कार्यस्यानन्यत्वम् ।
लोकवेदयोर्हि कार्यमेव कारणतया व्यपदिश्यते ; यथा लोके ‘सर्वमिदं

घटशरावादिकं पूर्वाह्णे श्रुतिकैवासीत् इति ; वदेच १ “सदेव सोम्येदमग्र आसीत्” इति ॥ १७ ॥

असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषा-
श्रुक्तेः शब्दान्तराच्च । २। १। १८॥

यदुक्तं कारणे कार्यस्य सत्त्वं लोकवेदाभ्यामवगम्यत इति ; तद-
युक्तम्, असद्व्यपदेशात् “असदेवेदमग्र आसीत्” २ “असद्वा इदमग्र आ-
सीत्” ३ “इदं वा अग्रे नैव किञ्चनासीत्” इति ; लोकेच “सर्वमिदं घ-
टशरावादिकं पूर्वाह्णे नासीत्” इति । अतो यथोक्तं नोपपद्यत इति चेन-
तन्न, धर्मान्तरेण तथा व्यपदेशान् । न खल्वसद्व्यपदेशास्तस्यैव का-
र्यद्रव्यस्य पूर्वकाले धर्मान्तरेण-संस्थानान्तरेण; न भवदभिप्रेतेन तुच्छ-
त्वेन । सत्त्वासत्त्वे हि द्रव्यधर्माधित्युक्तम् । तत्र सत्त्वधर्माद्धर्मान्तरम-
सत्त्वम् । इदं शब्दनिर्दिष्टस्य जगतस्सत्त्वधर्मो नामरूपं ; अमत्त्वधर्म-
स्तु तद्विरोधिनी सूक्ष्मावस्था । अतो जगतो नामरूपयुक्तस्य तद्विरोधि-
सूक्ष्मदशापत्तिरसत्त्वम् । कथमिदमवगम्यते-वाक्यशेषायुक्तेः शब्दा-
न्तराच्च—वाक्यशेषस्तावत् ४ “इदं वा अग्रे नैव किञ्चनासीत्” इत्यत्र
१ “तदसदेव सन्मनोऽकुरुत स्थामिति” इति; अनेन वाक्यशेषगतेन मत-
स्कारलिङ्गेनासच्छब्दार्थे तुच्छातिरिक्ते निश्चिते, तदेकाग्र्यात् ६ “अस-
देवेदमग्र” इत्यादिप्यसच्छब्दस्यागमेवाधे इति निश्चीयते । युक्तेऽस-
त्त्वस्य धर्मान्तरत्वमवगम्यते; युक्तिर्हि सत्त्वासत्त्वे पदार्थधर्मावगमय-
ति । सूक्ष्मस्य पृथुवुष्मोदराकारयोगो घटोऽस्तीति व्यवहारहेतुः ; न-
स्यैव तद्विरोध्यवस्थान्तरयोगो घटो नास्तीति व्यवहारहेतुः ; तत्र कपा-
लावस्थायास्तद्विरोधित्वेन सैव घटावस्थस्य नास्तीति व्यवहारहेतुः ।

१. छा. ६-२-१, ॥—२. ज्ञापयधर्माग्रणे ६-२-१ । ३. यजुषि २-४८, २ प्र. ६-अनु॥

४. यजुषि. २-४८, २ प्र. ६-अनु ॥ — ५. छा. ६-२-१ ॥ —

३. छा. ६-२-२ ॥

नच तच्च्यतिरिक्तो घटाभावो नाम कश्चिदुपलभ्यते; नच कल्प्यते. साय-
तैवाभावव्यवहारोपपत्तेः । तथा शब्दान्तराच्च पूर्वकाले धर्मान्तरयोग ए-
वावगम्यते । शब्दान्तरञ्च पूर्वोदाहृतम् १“सदेव सोम्येदमग्र आसीत्”
इत्यादिकम् । तत्र हि २“कुतस्तु खलु सोम्यैवं स्यात्” इति तुच्छत्वमा-
क्षिप्य ३“सत्येव सोम्येदमग्र आसीत्” इति स्थापितम् । ४“तद्वैदं तर्ह्य-
व्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत” इति सुस्पष्टमुक्तम् ॥ १८ ॥

इदानीं कार्यस्य कारणादनन्यत्वे निदर्शनद्वयं द्वाभ्यां सूत्राभ्यां
दर्शयति—

पटवच्च । २ । १ । १९ ॥

यथा तन्तव एव व्यतिपन्नविशेषभाजः पट इति नामरूपकार्या-
न्तरादिकं भजन्ते; तद्वद्ब्रह्मापि ॥ १९ ॥

यथा च प्राणादिः । २ । १ । २० ॥

यथा च वायुरेक एव शरीरे वृत्तिविशेषं भजमानः प्राणापाना-
दिनागरूपकार्यान्तराणि भजते; तद्वद्ब्रह्मैकमेव विचित्रस्थिरत्रसरूपं ज-
गद्भवतीति परमकारणात्परस्माद्ब्रह्मणोऽनन्यत्वं जगतस्सिद्धम् ॥ २० ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये आरम्भणाधिकरणम् ॥ ६ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये इतरव्यपदेशाधिकरणम् ॥ ७ ॥)

इतरव्यपदेशाद्धिताकारणादिदोषप्रसक्तिः २।१।२१

जगतो ब्रह्मानन्यत्वं प्रतिपादयद्भि ४“तत्त्वमसि” ५“अयमात्मा ब्र-
ह्म” इत्यादिभिर्जीयस्यापि ब्रह्मानन्यत्वं व्यपदिश्यत इत्युक्तम् ; तत्रेदं चो-
च्यते; यदीतरस्य जीवस्य ब्रह्मभावोऽमीभिर्वाक्यैर्व्यपदिश्यते, तदा ब्र-

क्षणः सार्धस्यसत्यसङ्कल्पवादिद्युक्तस्यात्मनो हितरूपजगदकरणमद्वि-
रूपजगत्करणमित्यादयो दोषाः प्रसज्येरन् । आध्यात्मिकाभिदैयिका-
धिभौतिकानन्तदुःखाकरं चेदं जगत् ; नचेदृशे स्थानर्थे स्वाधीनो बुद्धिमान्
प्रवर्तते । जीवाद्ब्रह्मणो भेदवादिन्यश्नुतयो जगद्ब्रह्मणोरनन्यत्वं वदता
त्वयैव परित्यक्ताः, भेदे सत्यनन्यत्वासिद्धेः ॥

आपाधिकभेदविषया भेदश्रुतयः स्वाभाविकाभेदविषयाश्चाभेद-
श्रुतय इति चेत्-तत्रेदं वक्तव्यम्-स्वभावतः स्वस्मादभिन्नं जीवं किमनुप-
हितं जगत्कारणं ब्रह्म जानाति वा, न वा; न जानाति चेत्-सर्वज्ञत्वहा-
निः; जानाति चेत्-स्वस्मादभिन्नस्य जीवस्य दुःखं स्वदुःखमिति जानतो
ब्रह्मणो हिताकरणाद्वितकरणादिदोषप्रसक्तिरनियार्था ॥

जीवब्रह्मणोरज्ञानकृतो भेदः, तद्विषया भेदश्रुतिरिति चेत्-तत्रापि
जीवाज्ञानपक्षे पूर्वोक्तो विकल्पस्तत्फलं च तदवस्थम् । ब्रह्माज्ञानपक्षे
रूपप्रकाशस्वरूपस्य ब्रह्मणोऽज्ञानसाक्षित्वं तत्कृतजगत्सृष्टिश्च न सम्भवति ।
अज्ञानेन प्रकाशस्तिरोहितश्चेत्-तिरोधानस्य प्रकाशनिवृत्तिकरत्वेन प्रका-
शस्यैव स्वरूपत्वात्स्वरूपनिवृत्तिरेवेति स्वरूपनाशादिदोषसङ्घर्षः प्रागेवो
दीरितम् । अत इदमसङ्गतं ब्रह्मणो जगत्कारणत्वम् ॥ २१ ॥

(सिद्धान्तः)

इति प्राप्तेऽभिधीयते—

अधिकन्तु भेदनिर्देशात् । २ । १ । २२ ॥

तु शब्दः पक्षं व्यावर्तयति; आध्यात्मिकादिदुःखयोगार्हात्प्रत्यगा-
त्मनः अधिकं अर्थान्तरभूतं ब्रह्म । कुतः, भेदनिर्देशान्-प्रत्यगात्मनो
हि भेदेन निर्दिश्यते परं ब्रह्म १“य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमा-
त्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्माऽ-
न्तर्याम्यमृतः” २“पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टानस्तेनामृतत्व-
मेति” ३“स कारणं करणाधिपाधियः” ४“नयोरन्यः पिण्डलं म्याद्विनि

अनभ्रन्न्यो अभिचाकशीति” १ “झाझौ द्वावजायीशनीशौ” २ “प्राज्ञेनाऽ-
त्मना सम्परिष्वक्त.” ३ “प्राज्ञेनात्मनाऽन्वारुद्धः” ४ “अस्मान्मायी सृजते
विश्वमेतन् तस्मिन् आन्यो गायया सन्निरुद्धः” ५ “प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः”
६ “नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको ब्रह्मनां यो विदधाति कामान्”
७ “योऽव्यक्तमन्तरे सञ्चरन् यस्याव्यक्तं शरीरं यमव्यक्तं न वेद योऽ-
क्षरमन्तरे सञ्चरन् यस्याक्षरं शरीरं यमक्षरं न वेद एष सर्वभूतान्तरा-
त्माऽपहृतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः” इत्यादिभिः ॥ २० ॥

अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः । २ । १ । २३ ॥

परमकाष्ठलोष्टवृणार्वाणामत्यन्तहेयानां सततविकारास्पदानाम-
चिद्विशेषाणां निरवयविर्विचारनिखिलहेयप्रत्यनीककल्याणैकत्वानस्थे-
रममस्तवस्तुविलक्षणानन्ताज्ञानानन्दैकस्वरूपनानाविधानन्तमहाविभूति ब्र-
ह्मस्वरूपैक्यं यथा नोपपद्यते, तथा चेतनस्याप्यनन्तदुःखयोगार्हस्य खयो-
गकल्परस्य ८ “अपहृतपाप्मा” इत्यादिवाक्यापगतसकलहेयप्रत्यनीका-
नवधिकातिशयासङ्ख्येयकल्याणगुणाकरब्रह्मभावानुपपत्तिः । सामाना-
धिकरण्यनिर्देशः ९ “यस्यात्मा शरीरम्” इत्यादिभूतेर्जीवरस्य ब्रह्मशरीरत्वा-
द्ब्रह्मणो जीवशरीरतया तदात्मत्वेनाश्रित्येर्जीविप्रकारब्रह्मप्रतिपादनपर-
श्चैतद्विशेषो, प्रत्युर्तेतम्यार्थस्योपपादकश्चेति १० “अवस्थितेरिति काश-
कृष्णः” इत्यादिभिरसकृदुपपादितम् । अतस्मर्वावस्थं ब्रह्म चिदचिद्वस्तु-
शरीरमिति सूक्ष्मचिदचिद्वस्तुशरीरं ब्रह्म कारणम् ; तदेव ब्रह्म स्थूलचि-
दचिद्वस्तुशरीरं जगदात्म्यं कार्यमिति जगद्ब्रह्मणोऽस्मान्माणाधिकरण्योप-
पत्तिः, जगतो ब्रह्मकार्यत्वम्, ब्रह्मणोऽनन्यत्वम्, अचिद्वस्तुनो जीवस्य

१. २ये. १ ६ ॥—२. घ. १-३-२१ ॥—३. घ. १-३-३२ ॥—४. २ये.
४ ६ ॥—५. ३ये. १-१६ ॥ ६. २ये. १-१३ ॥—७. मुवाज. ७ ॥—८. घ.
८-१-२- ३. घ. १-७ २२. मा. पा ॥—९. शरी. १-४-२१ ॥

च ब्रह्मणश्च परिणामित्वदुःखित्वकल्याणगुणाकरत्वस्वभावासङ्गरस्स-
 र्थभुत्यविरोधश्च भवति । १ 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेव' इत्यादि-
 भागावस्थायामप्यचिद्युक्तजीवस्य ब्रह्मशरीरतया सूक्ष्मरूपेणावस्थानम-
 वस्थाभ्युपगन्तव्यम् । २ "यैपम्यनैर्धृत्ये न सापेक्षत्वात्" ३ "न कर्माधि-
 भागादिति चेन्नानादित्वादुपपद्यते चाप्युपलभ्यते ४" इति सूत्रद्वयोदितत्वा-
 त्तदानीमपि सूक्ष्मरूपेणावस्थानस्य : अधिभागस्तु नामरूपधिभागाभावा-
 दुपपद्यते । अतो ब्रह्मकारणत्वं सम्भवत्येव । ये पुनरस्यैव जीवस्याधि-
 यावियुक्तावस्थामभिप्रेत्येवं भेदं वर्णयन्ति, तेषामिदं सर्वमसङ्गतं स्यात् ;
 न हि तदवस्थस्य सर्वज्ञत्वं, सर्वेश्वरत्वं, समस्तकारणत्वं, सर्वात्मत्वं,
 सर्वनियन्तृत्वमित्यादीनि सन्ति । अनेनैव रूपेण ह्यग्निः भुतिभिः
 प्रत्यगात्मनो भेदः प्रतिपाद्यते ; तस्य सर्वस्याधिष्ठापकिकल्पितत्वात् ।
 नचाधिष्ठापकिकल्पितस्याधिष्ठावस्थायां शुक्तिकारज्जनादिभेदवत्परस्पर-
 भेदोऽत्र सूत्रकारेण ५ "अधिकन्तु भेदनिर्देशात्" इत्यादिषु प्रतिपाद्यते ;
 ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्येति जिज्ञास्यतया प्रक्रान्तस्य ब्रह्मणो जगज्जन्मादि-
 कारणस्य वेदान्तवेद्यत्वम्, तस्य च स्मृतिन्यायविरोधपरिहारश्च क्रियते ।
 ६ "अपीतौ तद्वत्प्रसङ्गादसमञ्जसम्" ७ "न तु दृष्टान्तभावान्" इति सूत्रद्वय-
 मेतदधिकरणसिद्धमनुवदति ; तत्र हि विलक्षणयोः कार्यकारणभावस-
 म्यव एवाधिकरणार्थः । ८ "असादिति चेन्न प्रतिपेक्षमात्रत्वात्" इति च
 पूर्वाधिकरणस्थमनुवदति ॥ ३ ॥

इति श्रीशरीरकर्मायांसाभाष्ये इतरव्यपदेशाधिकरणम् ॥ ५ ॥

— — ० : — —

१. वा. १-२-१ ॥—२. शारी. २-१-३४ ॥—३. शारी. २-१-३२ ॥—

४. शारी. २-१-२२ ॥—५. शारी. २-१-८ ॥—६. शारी. २-१-६ ॥—७. शारी.

२-१-७ ॥—

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये उपसंहारदर्शनाधिकरणम्)

उपसंहारदर्शनाच्चेति चेन्न क्षीरवाद्धि । २। १। २४॥

परस्य ब्रह्माणस्सर्वज्ञस्य सत्यसङ्कल्पस्य रथूलसूक्ष्मभावस्थसर्वचेत-
नाचेतनवस्तुशरीरतया सर्वप्रकारत्वेन सर्वात्मत्वं सकलेतरविलक्षणत्वं
चाधिरुद्धमिति स्थापितम् । इदानीं सत्यसङ्कल्पस्य परस्य ब्रह्माणः सङ्क-
ल्पमात्रेण विचित्रजगत्सृष्टिप्रयोगो न विरुद्ध इति स्थाप्यते । ननु च प-
रिमतशक्तीनां कारककलापोपसंहारसापेक्षत्वदर्शनेन सर्वशक्तेर्ब्रह्माणः
कारककलापानुपसंहारेण जगत्कारणत्वविरोधः कथमाशङ्क्यते ? ; उ-
च्यते—लोके तत्तत्कार्यजननशक्तियुक्तस्यापि तत्तदुपकरणापेक्षत्वदर्शना-
त्सर्वशक्तियुक्तस्य परस्य ब्रह्माणोऽपि तत्तदुपकरणविरहिणः स्मृतत्वं नो-
पपद्यते इति कस्यचिन्मन्दधियश्शङ्का जायत इति सा निराक्रियते । घट-
पटादिकारणभूतानां कुलालकुबिन्दादीनां तज्जननसामर्थ्ये सत्यपि का-
निचिदुपकरणान्युपसंहार्यैव जनयितृत्वं दृश्यते । तज्जननाशक्ताः कारक-
कलापोपसंहारेऽपि जनयितुं न शक्नुवन्ति; शक्ताः पुनः कारककला-
पोपसंहारे जनयन्तीत्येतावानेव विशेषः । ब्रह्माणोऽपि सर्वशक्तेः सर्व-
स्य जनयितृत्वं तदुपकरणानामनुपसंहारे नोपपद्यते । प्राक्सृष्टेऽप्यसहायत्वं
—१“सदेव सोमयेदमग्र आसीत्” २“एको ह वै नारायण आसीत्” इत्या-
दिषु प्रतीयते । अतस्मद्रूपत्वं नोपपद्यत इत्येवं प्राप्तम् । तदिदमाशङ्कते—
उपसंहारदर्शनाच्चेति चेत्—इति॥

(सिद्धान्तः)

परिहरति—न क्षीरवाद्धि—इति ; न सर्वेषां कार्यजननशक्तानामु-
पसंहारसापेक्षत्वमस्ति ; यथा क्षीरजलादेर्दधिहिमजननशक्तस्य तज्जनने,
एवं ब्रह्माणोऽपि स्वयमेव सर्वजननशक्तेः सर्वस्य जनयितृत्वमुपपद्यते ।

होति प्रसिद्धबन्निर्देशश्चोक्तस्य मन्दताख्यापनाय । क्षीरादिष्वातञ्चनाग-
पेक्षा न दध्यादिभावाय ; अपितु शैघ्र्यार्थं रसविशेषार्थं वा ॥

देवादिवदपि लोके । २ । १ । २५ ॥

यथा देवादयः स्वस्वे लोके सङ्कल्पमात्रेण स्वापेक्षितानि सृजन्ति;
तथाऽसौ पुरुषोत्तमः कृत्स्नं जगत्सङ्कल्पमात्रेण सृजति । देवादीनां ये-
दाद्यगतशक्तीनां दृष्टान्ततथोपादानम्, ब्रह्मणो वेदाद्यगतशक्तेस्सुखप्रद्व्या-
येति प्रतिपत्तव्यम् ।

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये उपसंहारदर्शनाधिकरणम् ॥ ८ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये कृत्स्नप्रसक्त्यधिकरणम् ॥ ६ ॥)

कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा । २ । १ । २६ ॥

१“सदैव सोम्येदमग्र आसीत्” २“इदं वा अग्रं नैव किञ्चना-
सीत्” ३“आत्मा वा इदमेक एवमग्र आसीत्” इत्यादिषु कारणाव-
स्थायां ब्रह्मैकमेव निरवयवमासीदिति कारणावस्थायां निरस्तचिदचि-
द्विभागतया निरवयवं ब्रह्मैवासीदित्युक्तम् ; तद्विभागमेकं निरवय-
मेव ब्रह्म ४“बहु स्याम्” इति सङ्कल्प्य आकाशवाय्वादिविभागं ब्रह्मा-
दिस्तम्भपर्यन्तक्षेत्रविभागं चाभवदिति चोक्तम् ; एवं सति तदेव परं-
ब्रह्म कृत्स्नं कार्यत्वेनोपयुक्तमित्यभ्युपगन्तव्यम् । अथ चिदंशः क्षेत्रवि-
भागविभक्तः ; अचिदंशश्चाकाशादिविभागविभक्तः इत्युच्यते, तदा “स
देव सोम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्” “ब्रह्मैकमेव” “आत्मैक एव” इ-
त्येवमादयः कारणभूतस्य ब्रह्मणो निरवयवत्व्यादिनशब्दाः कुप्येयुः-
चाधिता भवेयुः । यद्यपि सूक्ष्मचिदचिद्वस्तुशरीरं ब्रह्म कारणम्, स्थूलचिद-
चिद्वस्तुशरीरं ब्रह्म कार्यमित्यभ्युपगम्यते; तथापि शरीरशस्यापि का-

१. छा. १-२-१॥—२. २. अष्ट. २-प्र. ८-अनु॥ ३. ऐतरेय. १-१-१ ॥

४. छा. १-२-३ ॥

र्यत्वाभ्युपगमादुक्तदोषो दुर्वारः । तस्य निरवयवस्य बहुभयनं च नोप-
पद्यते । कार्यत्वानुपयुक्तांशस्थितिश्च नोपपद्यते । तस्मादसमञ्जसमिवा-
भाति । अतो ब्रह्मकारणत्वं नोपपद्यते ॥

इत्याक्षिप्ते समाधत्ते—

श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् । २ । १ । २७ ॥

तु शब्द उक्तदोषं व्यावर्तयति । नैवमसामञ्जस्यम् ; कुतः ? श्रुते-
भूतिस्तावन्निरवयवत्वं ब्रह्मणस्ततो विचित्रसर्गं चाह । भूतेऽर्थे यथा-
भूति प्रतिपत्तव्यमित्यर्थः । ननु च भूतिरपि अग्निना सिद्ध्येदित्यत्परस्पर-
रान्यथायोग्यमर्थं प्रतिपादयितुं न समर्थाः अत आह—शब्दमूलत्वादिति ।
शब्देकप्रमाणकत्वेन सकलेतरवस्तुविसजातीयत्वादस्यार्थस्य विचित्र-
शक्त्योगो न विरुद्धयत इति न सामान्यतो दृष्टं साधनं, दूषणं वा
अर्हति ब्रह्म ॥

आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि । २ । १ । २८ ॥

किंच—एवं वस्तुन्तरसंबन्धिनो धर्मस्य वस्तुन्तरे चारोपणे
सति, अचेतने घटादौ दृष्ट्वा धर्मास्तद्विसजातीयं चेत्ते नित्ये आत्मन्यपि
प्रसज्यन्ते । तदप्रसक्तिश्च भावस्यभावयैवचञ्चयादित्याह—विचित्राश्च हि—
इति ; यथा 'अग्निजलादीनामन्योन्यविसजातीयानामौष्ण्यदिशक्त्यश्च
विसजातीया दृश्यन्ते ; नद्वलोकदृष्टयिमजातीयं परं ब्रह्मणि तत्रनत्रादृष्टा-
स्सहस्रशः शक्त्यस्सन्तीति न किञ्चिदनुपपन्नम् । यथाकृतं भगवता
पराशरेण—१“निर्गुणस्याप्रमंयस्य शुद्धस्याप्यमलात्मनः । कथं मर्गादि-
कर्तृत्वं ब्रह्मणोऽभ्युपगम्यते” इति सामान्यदृष्ट्या परिचोष “शक्त्य-
स्सर्वभायानामविन्त्यज्ञानगोचराः । यतोऽनो ब्रह्मणस्मान्नु मर्गाद्या भा-

याः प्रतिपाद्यः १ “सत्यकामस्तस्य सङ्कल्पः” इति सर्वशक्तियोगं प्रतिपादयन्ति।
तथा २ “मनोमयः प्राणशरीरो भारूपस्तस्य सङ्कल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा
सर्वकामस्सर्वगन्धस्सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्स्योऽवाच्यनारदः” इति च ॥

विकरणात्वात्तेति चेत्तदुक्तम् । २ । १ । ३१ ॥

यद्यप्येकमेव ब्रह्म सकलेतरविलक्षणं सर्वशक्तिः तथापि १ “न त-
स्य कार्यं करणं च विद्यते” इति करणविरहिणस्तस्य न कार्यारम्भस्त-
म्भवतीति चेत्—तत्रोत्तरं—“शब्दमूलत्वान्” । “विचित्राश्च हि” इत्युक्तम् ।
शब्दैकप्रमाणं सकलेतरविलक्षणं तत्तत्करणविरहेणापि तत्तत्कार्यसमर्थ-
मित्यर्थः । तथाच भुक्तिः—४ “पश्यत्यचक्षुस्स शृणोत्यकर्णः अपाणिपादौ
जघनौ प्रहीता” इत्येवमाद्या ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये कृतनप्रसक्त्यधिकरणम् ॥ ६ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये प्रयोजनवत्त्वाधिकरणम् ॥ १० ॥)

न प्रयोजनवत्त्वात् । २ । १ । ३२ ॥

यद्यपीश्वरः प्राक्सृष्टेरेक एव सन् सकलेतरविलक्षणत्वेन सर्वार्थ-
शक्तियुक्तः स्वयमेव विचित्रं सगन्मष्टुं शक्नोति; तथापीश्वरकारणत्वं न
सम्भवति, प्रयोजनवत्त्वाद्विचित्रसृष्टेः, ईश्वरस्य च प्रयोजनाभावान्। बुद्धि-
पूर्वकारिणामारम्भे द्विविधं हि प्रयोजनं—स्वार्थः परार्थो वा । नहि पर-
स्य ब्रह्मणस्त्वभावत एवावाप्तसमस्तकामस्य जगत्सर्गेण किञ्चन प्रयोज-
नमनवाप्तमवाप्यते । नापि परार्थः, अथाप्तकामस्य परार्थता हि परानुम-
हंण भवति; नचेदृशगर्भजन्मजरामरणरकादिनानाविधानन्तदुःखचटुलं
जगत्करणया सृजति; प्रत्युत सुखैकाननमेव जनयेज्जगत्करणया सृजन् ।
अतः प्रयोजनाभावाद्ब्रह्मणः कारणत्वं नोपपन्नम् इति ॥ ३० ॥

एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे—

लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् । २ । १ । ३३ ॥

अवाप्तसमस्तकामस्य परिपूर्णस्य स्वसङ्कल्पविकार्यविविधविचित्र-
चिदचिन्मिभ्रजगत्सर्गे लोलैव केवला प्रयोजनम्, लोकवत्तु—यथा लोके
सप्तद्वीपां मेदिनीमथितिष्ठतस्संपूर्णशौर्यधीर्यपराक्रमस्यापि महाराजस्य के-
वललीलैकप्रयोजनाः कन्तुकाचारम्भा दृश्यन्ते; तथैव परस्यापि ब्रह्मणः
स्वसङ्कल्पमात्रावकल्पजगज्जन्मस्थितिध्वंसादेर्लोलैव प्रयोजनमिति निर-
यणम् ॥

वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथाहि

दर्शयति । २ । १ । ३४ ॥

यद्यपि परमपुरुषस्य सकलेतरचिदचिद्वस्तुविलक्षणस्याचिन्त्यश-
क्तियोगात्प्राक्सृष्टरेकस्य निरवयवस्यापि विचित्रचिदचिन्मिभ्रजगत्सृ-
ष्टिस्सम्भाव्येत, तथापि देवतिर्यङ्मनुष्यस्वाधरात्मनोत्कृष्टमध्यमापकृष्टसृ-
ष्ट्या पक्षपातः प्रसज्येत । अतिघोरदुःखयोगकरणान्नैर्घृण्यं चादर्जनीयमि-
ति । तत्रोत्तरं—न सापेक्षत्वादिति; न प्रसज्येयातां वैषम्यनैर्घृण्ये, कुतः सा-
पेक्षत्वात्—सृज्यमानदेवादिक्षेत्रज्ञकर्मसापेक्षत्वाद्विषमसृष्टेः । देवादीनां क्षे-
त्रज्ञानां देवादिशरीरयोगं तत्तत्कर्मसापेक्षं दर्शयन्ति हि भ्रुतिगमृतयः—
१“साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति पुण्यः पुण्येन क-
र्मणा भवति पापः पापेन कर्मणा”, तथा भगवता पराशरेणापि देवा-
दिवैचित्र्यहेतुः सृज्यमानानां क्षेत्रज्ञानां प्राचीनकर्मशक्तिरेवेत्युक्तं—
२“निमित्तमात्रमेवासौ सृज्यानां सर्गकर्मणि । प्रधानकारिणीभूता यनां चं
सृज्यशक्तयः ॥ निमित्तमात्रं मुक्तवैव नान्यत्किंचिदपेक्षते । नीयते तपतां
भ्रेष्ट स्वशक्त्या वस्तु वस्तुताम्” इति । स्वशक्त्या स्वकर्मणैव देवादिव-
स्तुताप्राप्तिरिति ॥

न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वादुपपद्यते चाप्युपलभ्यते च । २ । १ । ३५ ॥

प्राक्सृष्टेः क्षेत्रज्ञा न सन्ति; कुतः ? अविभागभवेणात्, १“स-
देव सोम्येदमग्रआसीत्” इति; अतस्तदानीं तदभावात्तत्कर्म न विभ-
क्तं; कथं तदपेक्षं सृष्टिवैपम्यमित्युच्यत इति चेत्—न, अनादित्वात् क्षेत्र-
ज्ञानां तत्कर्मप्रवाहाणां च । तदनादित्वेऽप्यविभाग उपपद्यते च; यतस्तत्
क्षेत्रज्ञवस्तु परित्यक्तनामरूपं ब्रह्मशरीरतयापि पृथग्व्यपदेशानर्हमसि-
द्धम् । तथाऽनभ्युपगमे अकृताभ्यागमकृतविप्रणशप्रसङ्गश्च । उपलभ्यते
च तेषामनादित्वं—२“ न जायते म्रियते वा विपश्चित ” इति । सृष्टिप्रवा-
हानादित्वं च ३“सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्” इत्यादौ । ४“त-
देवं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत्” इति नामरूपव्याकर-
णमात्रभवेणात् क्षेत्रज्ञानां स्वरूपानादित्वं सिद्धम् । स्मृतावपि ५“प्रकृ-
तिं पुरुषं चैव विद्वयनादी उभावपि” इति । अतस्सर्वविलक्षणत्वात्स-
र्वशक्तित्वात्, लीलैकप्रयोजनत्वात्, क्षेत्रज्ञकर्मानुगुण्येन विचित्रसृष्टि-
योगाद्ब्रह्मैव जगत्कारणम् ॥ ३५ ॥

सर्वधर्मोपपत्तेश्च । २ । १ । ३६ ॥

प्रधानपरमाण्यादीनां कारणत्वे यद्धर्मवैकल्यमुक्तं, वक्ष्यमाणं च
तस्य सर्वस्य धर्मजातस्य कारणत्वोपपादिनां ब्रह्मण्युपपत्तेश्च ब्रह्मैव
जगत्कारणमिति स्थितम् ॥ ३६ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये प्रयोजनवत्त्वाधिकरणम् ॥ १० ॥

इति श्रीभगवद्रामानुजधिरचिन्ते शारीरकमीमांसाभाष्ये

द्वितीयस्याध्यायस्य प्रथमः पादः ॥ १ ॥

ॐ श्रीमते रामानुजाय नमः ॐ

श्रीभगवद्रामानुजविरचिते

श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये

(द्वितीयाध्याये-द्वितीयपादे-रचनानुपपत्त्यधिकरणम् ॥१॥)

रचनानुपपत्तेश्च नानुमानं प्रवृत्तेश्च । २ । २ । १ ॥

उक्तं जगज्जन्मादिकारणं परं ब्रह्मेति ; तत्र परैरुद्वाचिताश्च दोषाः परिहृताः ; इदानीं स्वपक्षरक्षणाय परपक्षाः प्रतिक्षिप्यन्ते ; इतरथा कस्यचिन्मन्दधियस्तेषां पक्षाणां युक्त्याभासमूलतामजानतः प्रामाणिक-त्वशङ्कया वैदिकपक्षे किञ्चिच्छ्रद्धायैकल्यं जायेतापि; अतः परपक्षप्रतिक्षे-पायानन्तरः पादः प्रवर्तते । तत्र प्रथमं तावत्कापिलमतं निरस्यते. वैदि-कानुमतसत्कार्यवादाद्यर्थसङ्ग्रहेणैतस्य सत्पक्षनिक्षेपसम्भावनाभ्रमहेतु-त्वातिरेकात् । १ “इक्षतेर्नाशब्दम्” इत्यादिभिः वैदिकवाक्यानामतत्परत्व-मात्रमुक्तम् ; अत्रैव तत्पक्षस्वरूपप्रतिक्षेपः क्रियत इति न पौनरुक्त्याशङ्का । अप्या साङ्ख्यानानां दर्शनस्थितिः-२ ‘मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाणाः प्रकृति-विकृतयस्सप्त । षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ” इति तत्त्वसङ्ग्रहः । मूलप्रकृतिर्नाम सुखदुःखमोहात्मकानि लाघवप्रकाशचल-नोपद्रुम्भनगौरवावरणकार्याण्यत्यन्तातीन्द्रियाणि कार्यैकनिरूपणविवेका-न्यन्यूनानतिरेकाणि समतामुपेतानि सत्त्वरजस्तमांसि द्रव्याणि । सा च सत्त्वरजस्तमसां साम्यरूपा प्रकृतिरेका स्वयमचेतनाऽनेकचेतनभागाप-धर्गार्था नित्या मर्त्यगता सततविक्रिया न कस्यचिद्विकृतिः, अपितु पर

मकारणमेव; महदाशास्तद्विकृतयोऽन्येषां च प्रकृतयस्सप्त; गद्गानहङ्कारः
 शब्दतन्मात्रं स्पर्शतन्मात्रं रूपतन्मात्रं रसतन्मात्रं गन्धतन्मात्रम्—इति ।
 तत्राहङ्कारस्त्रिधा—वैकारिकस्तैजसो भूतादिश्च, क्रमात्सात्त्विको राजस-
 सामसश्च; तत्र वैकारिकस्सात्त्विक इन्द्रियादि; भूतादिस्सामसो महामू-
 तहेतुभूततन्मात्रहेतुः; तैजसो राजंसस्तूभयोरनुग्राहकः; आकाशादिनि-
 पञ्च महामूतानि श्रोत्रादीनि पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि वागादीनि पञ्च कर्मे-
 न्द्रियाणि मन इति केवलविकाराः षोडशः पुरुषस्तु निष्पारेणामत्वेन
 न कस्यचित्प्रकृतिः न कस्यचिद्विकृतिः; तत एव निर्धर्मकश्चैतन्यमात्र-
 यपुर्नित्यो निष्क्रियस्सर्वगतः प्रतिशरीरं भिन्नश्च; निर्विकारत्वान्निष्क्रिय-
 त्वाच्च तस्य कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च न सम्भवति । एवंभूतेऽपि तत्त्वे मूढाः
 प्रकृतिपुरुषसन्निधिमात्रेण पुरुषस्य चैतन्यं प्रकृतावध्यस्य प्रकृतेश्च कर्तृ-
 त्वं स्फटिकमणादिव जपाकुसुमस्यारुणिमानं पुरुषेऽध्यस्य 'अहंकर्ता
 भोक्ता' इति मन्यन्ते । एवमज्ञानाद्भोगः, तत्त्वज्ञानश्चापवर्गः । तदेतत्प्र-
 त्यक्षानुमानागमैस्साध्यन्ति । तत्र प्रत्यक्षसिद्धेऽपि पदार्थेषु नातीव विचा-
 दपदमस्ति । आगमोऽपि कर्मापलादिसर्वज्ञज्ञानमूल इति सोऽपि प्रथमे
 काण्डे प्रमाणलक्षणे निरस्तप्रायः । यदिदं प्रधानमेव जगत्कारणमित्यनु-
 मानम्, तन्निरसनेन तन्मतं सर्वं निरस्तं भवतीति तदेव निरस्यते । तेष्वेवं
 दर्शयन्ति—कृत्स्नस्य जगत एकमूलत्वमवश्याभ्युपगमनीयम्, अने-
 केभ्यः कार्योत्पत्त्यभ्युपगमे कारणानवस्थानात् । तन्तुप्रभृतयो ह्यवयवाः
 स्वांशभूतैरप्यङ्गैः पार्श्वैः परस्परं संयुज्यमाना अवयवित्तमुत्पादयन्ति ;
 तेच तन्वाद्यः स्वावयवैस्तथाभूतैरुत्पाद्यन्ते; तेच तथाभूतैः स्वावयवैरिति
 परमाणुभिरपिस्वकीयैरप्यङ्गैः पार्श्वैस्संयुज्यमानैरेव स्वकार्योत्पाद-
 नमभ्युपेतव्यम्, अन्यथा प्रथिमानुपपत्तेः । परमाणवोऽप्यंशित्वेन स्वां-
 शैस्तथैवोत्पाद्यन्ते, तेच स्वांशैरिति न कचित्कारणव्यवस्थितिः । अतः
 कारणव्यवस्थासिद्धयर्थमेकद्रव्यं विविधविचित्रपरिणामशक्तियुक्तं स्वय-
 मप्रच्युतस्वरूपेव महदाद्यनन्तावस्थाभयः कारणमाश्रयणीयम् । तच्चैकं

कारणं गुणत्रयसाम्यरूपं प्रधानमिति तत्कल्पने हेतूनुपपत्त्यस्यन्ति-१ “भेदानां परिमाणात्समन्वयान्छक्तिः प्रवृत्तेश्च । कारणकार्यविभागाद्विभागाद्वैश्वरूप्यस्य । कारणमस्त्यव्यक्तम् ” इति । अयमर्थः-विश्वरूपमेव वैश्वरूप्यम्, विचित्रसन्निवेशं तनुभुवनादि कृत्स्नं जगत् ; तत्र जगद्विचित्रसन्निवेशत्वेन कार्यभूतं तत्सरूपाव्यक्तकारणकम् ; कुतः?, कार्यत्वात् ; कार्यस्य हि सर्वस्य तत्सरूपात्कारणविशेषाद्विभागस्तस्मिन्नेवाविभागश्च दृश्यते ; यथा घटमकुटादेः कार्यस्य तत्सरूपान्मुत्सुवर्णादेः कारणाद्विभागस्तस्मिन्नेव चाविभागः ; अतो विश्वरूपस्य जगतस्तत्सरूपात्प्रधानादुत्पत्तिस्तस्मिन्नेव लयश्चेति प्रधानकारणकमेव जगत् । गुणत्रयसाम्यरूपं प्रधानमेव जगत्सरूपं कारणम् ; सत्त्वरजस्तमोमयसुखदुःखमोहात्मकत्वाज्जगतः । यथा सृष्टाःमनाघटस्य सृष्टव्यमेव कारणम् ; तदेव हि तदुत्पत्त्याख्यप्रवृत्तिशक्तिमत्, तथा दर्शनात् । अव्यक्तत्रय गुणसाम्यरूपस्य देशतः कालतश्चापरिमितस्यैव कारणत्वं भेदानां महद्दहद्वारतन्मात्रादीनां परिमितत्वादवगम्यते । महद्वादीनि च घटादिवत्परिमितानि कृत्स्नजगदुत्पत्तौ न प्रभवन्ति, अतस्त्रिगुणं जगद्गुणत्रयसाम्यरूपप्रधानैककारणमिति निश्चीयते ॥

अत्रोच्यते-रचनानुपपत्तेश्च नानुमानं प्रवृत्तेश्च-अनुमीयतइत्यनुमानम् ; न भवदुक्तं प्रधानं-विचित्रजगद्रचनासमर्थम्, अचेतनत्वे सति तत्स्वभावाभिज्ञानधिष्ठितत्वात् । यदेवं तत्तथा, यथा रथप्रासादादिनिर्माणे केवलद्वार्यादिकम् । द्वारिरेचेतनस्य तज्ज्ञानधिष्ठितस्य कार्यारम्भानुपपत्तेर्दर्शनात्, तज्ज्ञानधिष्ठितस्य कार्यारम्भप्रवृत्तेर्दर्शनाच्च न प्राज्ञानधिष्ठितं प्रधानं कारणमित्युक्तं भवति । अकारादन्वयस्यानैकान्त्यं समुच्चिनोति ; न ह्यन्वितं शैक्ल्यगोत्रादि कारणत्वव्याप्तम् ; न च वाच्यं सा भूदन्विता नामपि शैक्लयादिधर्माणां कारणत्वम्, द्रव्यस्य तु हेमादेः कार्येऽन्वितमत्र कारणत्वव्याप्तिरस्त्येव ; सत्त्वादीन्यपि द्रव्याणि कार्येऽन्वितानि कारणा-

त्वव्याप्तानि-इति ; यतस्सत्त्वादयो द्रव्यधर्माः, न तु द्रव्यस्वरूपम् ; सत्त्वादयो हि पृथिव्यादिद्रव्यगतलघुत्वप्रकाशादिहेतुभूतास्तत्स्वभावविशेषा एव ; न तु मृद्धिरण्यादिबहुव्यतया कार्यान्विता उपलभ्यन्ते ; गुणा इत्येव च सत्त्वादीनां प्रसिद्धिः । यच्च कारणव्यवस्थसिद्धये जगतः एकमूलत्वमुक्तम्, तदपि सत्त्वादीनामनेकत्वान्नोपपद्यते । अत एव कारणव्यवस्था च न सिद्धयति । साम्यावस्थास्सत्त्वादय एव हि प्रधानमिति त्वन्मतम् । अतः कारणबहुत्वादनवस्था तदवस्थैव । न च तेषामपरिमितत्वेन व्यवस्थासिद्धिः, अपरिमितत्वे हि त्रयाणामपि सर्वागतत्वेन न्यूनाधिकभावाभावाद्वैपम्यासिद्धेः कार्यारम्भासम्भवान् । कार्यारम्भादेव परिमितत्वमवश्याभ्यणीयम् ॥

यत्र रथादिषु स्पष्टं चेतनाधिष्ठितत्वं दृष्टम्, तद्व्यतिरिक्तं सर्वं पक्षीकृतमित्याह—

पयोम्बुवच्चेत्तत्रापि । २ । २ । २ ॥

यदुक्तं प्रधानस्य प्राज्ञानधिष्ठितस्य विचित्रजगद्रचनानुपपत्तिरिति ; तन्न, यतः पयोऽम्बुवत्प्रवृत्तिरुपपद्यते । पयसस्तावदधिभावेन परिणममानस्यानन्यापेक्षस्याऽऽपरिस्पन्दप्रवृत्तिपरिणामपरम्परा स्वत एवोपपद्यते ; यथा च पारिविमुक्तस्याम्बुन एकरसस्य नारियेलतालचूतकपिस्थानिम्यतिन्निष्ठस्यादिविचित्ररसरूपेण परिणामप्रवृत्तिः स्वत एव दृश्यते ; तथा प्रधानस्यापि परिणामस्वभावस्यान्यानधिष्ठितस्यैव प्रतिमर्गावस्थायां सदृशपरिणामेनादस्थितस्य सर्गावस्थायां गुणवैपम्यनिमित्तविचित्रपरिणाम उपपद्यते । यथोक्तं १“परिणामतस्सलिलवत्प्रतिप्रतिगुणाभ्यविशेषात्” इति । तदेवमव्यक्तमनन्यापेक्षं प्रथर्नत इति चेत्— अत उत्तरं-तत्रापि-इति ; यन् क्षीरजलादिदृष्टान्ततया निदर्शितम्, तत्रापि प्राज्ञानधिष्ठानं प्रवृत्तिर्नापपद्यते ; तदपि पूर्वत्र पक्षीकृतमित्यभिप्रायः । २“उपसंहारदर्शनामेति चेन्न क्षीरवद्धि” इत्यत्र दृष्टपरिकगान्नर-

हितस्यापि स्वासाधारणपरिणाम उपपद्यत इत्येतावदुक्तम्, न प्राज्ञाधि-
ष्ठितत्वं पराकृतम्, १ “योऽसु तिष्ठन्” इत्यादिभ्रुतेः ॥

व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात् । २ । २ । ३ ॥

इतश्च सत्यसङ्कल्पेश्वराधिष्ठानानपेक्षपरिणामित्वे सर्गव्यतिरेकेण
प्रतिसर्गावस्थयाऽनवस्थितिप्रसङ्गाच्च न प्राज्ञानधिष्ठितं प्रधानं कारणम् ;
प्राज्ञाधिष्ठितत्वे तस्य सत्यसङ्कल्पत्वेन सर्गप्रतिसर्गविचित्रसृष्टिव्यवस्था-
सिद्धिः । न च वाच्यं प्राज्ञाधिष्ठितत्वंऽपि तस्याधातुसमस्तकामस्य परि-
पूर्णस्यानवधिकातिशयानन्दस्य निरवयवस्य निरञ्जस्य सर्गप्रतिसर्गव्य-
वस्थाहेत्वभायाद्विषमसृष्टौ निर्दयत्वप्रसङ्गाच्च समानोऽयं दोष इति; परि-
पूर्णस्यापि लीलार्थप्रवृत्तिसम्भवात्, सर्वज्ञस्य तस्य परिणामविशेषापन्न-
प्रकृतिदर्शनरूपसर्गप्रतिसर्गविशेषहेतोः सम्भवात्, क्षेत्रज्ञकर्मणामेव विष-
मसृष्टिव्यवस्थापकत्वाच्च। नन्वेवं क्षेत्रज्ञपुण्यापुण्यरूपकर्मभिरेव सर्वा व्यव-
वस्थास्सिध्यन्तीति कृतमीश्वरेणाधिष्ठात्रा; पुण्यापुण्यस्वरूपानुष्ठितकर्मसं-
स्कृता प्रकृतिरेव पुरुषार्थानुरूपं तथातथा व्यवस्थया परिणम्यते; यथा
विपादिदूषितानामन्नपानादीनामौषधविशेषाव्यायितानां च सुखदुःखहेतु
भूतः परिणामविशेषो वैशकालव्यवस्थया दृश्यते; अतस्सर्गप्रतिसर्गव्यव-
स्था देयादिविषमसृष्टिः कैवल्यव्यवस्था च सर्वप्रकारपरिणामशक्तियुक्त-
स्य प्रधानस्यैवापपद्यत इति । अनभिज्ञो भवान् पुण्यापुण्यकर्मस्वरूपयोः
पुण्यापुण्यस्वरूपे हि शास्त्रैकसमधिगम्ये ; शास्त्रं चानादिनिभनायि-
च्छिन्नपाठसम्प्रदायानाघातप्रमादादिदोषगन्धवेदाख्याक्षरराशिः; तच्च प-
रमपुरुषाराधनतद्विपर्ययरूपे कर्मणी पुण्यापुण्ये, तदनुग्रहनिग्रहायत्ते च त-
त्फले सुखदुःखे-इति वदति । तथाह ब्रह्मिडाचार्यः १ “फलसंविभत्सया हि
कर्मभिरात्मानं पिप्रीषन्ति स प्रीतोऽलं फलायेतिशास्त्रमर्यादा ” इति । त-
थाच भुतिः २ “इष्टापूर्तं बहुधा जातं जायमानं विरथं विभर्ति भुवनस्य ना-

भिः" इति । तथाच भगवता स्वयमेवोक्तं १ "यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्व-
मिदं ततम् । स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दसि मानवः" इति २ "तानहं
द्विपतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् । क्षिपाम्यजस्रमशुभानामुरीष्वेव यो-
निषु" इति च । स भगवान् पुरुषोत्तमोऽद्याप्तसमस्तकामस्सर्वज्ञस्सर्वेश्वर-
स्त्यसङ्कल्पः स्वमाहात्म्यानुगुणलीलाप्रवृत्तः, एतानि कर्माणि समीचीना-
न्येतान्यसमीचीनीति कर्मद्वैविध्यं संविधाय तदुपादानोचितदेहेन्द्रिया-
दिकं तन्निग्रमनशक्तिं च सर्वेषां क्षेत्रज्ञानां सामान्येन प्रविश्य स्वशासनाय-
योषि शास्त्रं च प्रदर्श्य तदुपसंहारार्थं चान्तरात्मतयाऽनुप्रविश्यानुमन्तृतया
च नियच्छंस्तिष्ठति । क्षेत्रज्ञास्तु तदाहितशक्त्यस्तत्प्रतिष्ठाकरणकलेयरादि-
कामन्दाधाराश्च स्वयमेव स्वेच्छानुगुण्येन पुण्यापुण्यरूपे कर्मणी उपादत्ते;
तत्र पुण्यापुण्यरूपकर्मकारिणं स्वशासनानुवर्तिनं ज्ञात्वा धर्मार्थकाममो-
क्षैर्वर्धयते; शासनातिवर्तिनं च तद्विपर्ययैर्योजयति; अतः स्वातन्त्र्यादिवै-
कल्यचोद्यानि नावकाशं लभन्ते । दया हि नाम स्वार्थनिरपेक्षा परदुःखा-
सदिष्णुता; सा च स्वशासनातिवृत्तिव्यवसायिन्यपि वर्तमाना न गुणाया-
वकल्पते; प्रत्युतापुंस्त्वमेवायहति; तन्निग्रह एव तत्र गुणः, अन्यथा शत्रु-
निग्रहादीनामगुणत्वप्रसङ्गात् । स्वशासनातिवृत्तिव्यवसायनिवृत्तिमात्रेणा-
नाशनन्तकल्पोपचितदुर्विपहानन्तापराधानङ्गीकारेणनिरतिशयसुखसंवृद्ध-
ये स्वयमेव प्रयतते । यथोक्तं ३ "तेषां सततयुक्तवर्ता भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
वदामि बुद्धियोगन्तं येन मामुपयान्ति ते । तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं
तमः । नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भाव्यता" इति । अतः प्राज्ञान-
धिष्ठितं प्रधानं न कारणम् ॥ ३ ॥

अथ म्यान—यद्यपि प्राज्ञानधिष्ठितायाः प्रकृतेः परिस्पन्दप्रवृत्तिर-
पि न सम्भवतीत्युक्तम्, तथाऽप्यनपेक्षाया एव परिणामप्रवृत्तिरसम्भवति,
तथादर्शनान् ; धेन्यादिनोपयुक्तं हि कुणोदकादि स्वयमेव क्षीराद्याकारेण
परिणममानं दृश्यते । अतः प्रकृतिरपि स्वयमेव जगदाकारेण परिणम्यते —
इति । तत्राह—

अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत् । २ । २ । ४ ॥

नैतदुपपद्यते, तृणादेः प्राज्ञानधिष्ठितस्य परिणामाभावाददृष्टान्तासिद्धेः; कथमसिद्धिः? अन्यत्राभावात्—यदि हि तृणोदकादिकमनदुहाद्यपयुक्तं प्रहीणं वा क्षीराकारेण पर्यणस्यत, ततः प्राज्ञानधिष्ठितमेव परिणमत इति वक्तुमशक्यत; नचैतदस्ति; अतो धेन्वाद्युपयुक्तं प्राज्ञ एव क्षीरीकरोति । १“पयोभ्युषच्चेत्तत्रापि” इत्युक्तमेवात्र प्रपञ्चितं तत्रैव व्यभिचारप्रदर्शनाय ॥

पुरुषाश्मवदितिचेत्तथापि । २ । २ । ५ ॥

अथोच्येत—यद्यपि चैतन्यमात्रवपुः पुरुषो निष्क्रियः, प्रधानमपि दृक्छक्तिविकलम्; तथापि पुरुषसन्निधानादचेतनं प्रधानं प्रवर्तते, तथा दर्शानात्; गमनशक्तिविकलदृक्छक्तियुक्तपद्गुसन्निधानात्तच्चैतन्योपकृतो दृक्छक्तिविकलः प्रवृत्तिशक्तोऽन्धः प्रवर्तते; अयस्कान्ताश्मसन्निधानात्तथाः प्रवर्तते । एवं प्रकृतिपुरुषसंयोगकृतो जगत्सर्गः प्रवर्तते । यथोक्तं १“पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य । पंग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतस्सर्गः” इति । पुरुषस्य प्रधानोपयोगार्थं कैवल्यार्थं च पुरुषसन्निधानात्प्रधानं सर्गादौ प्रवर्तत इत्यर्थः । अत्रोत्तरं—तथापीति । एवमपि प्रधानस्य प्रवृत्त्यसम्भयस्तदवस्थ एव, पद्गोर्गमनशक्तिविकलस्यापि मार्गदर्शनतदुपदेशादयः कादाचित्का विशेषाः सहस्रशस्सन्ति; अन्योऽपि चेतनस्संस्तदुपदेशाद्यवगमेन प्रवर्तते; तथा अयस्कान्तमणेरप्यवस्सभीषागमनादयस्सन्ति; पुरुषस्य तु निष्क्रियस्य न तादृशा विकारास्सम्भवन्ति । सन्निधानमात्रस्य नित्यत्वेन नित्यसर्गप्रसङ्गो नित्यमुक्तत्वेन बन्धाभावोऽपवर्गाभावश्च ॥ ५ ॥

अङ्गित्वानुपपत्तेश्च । २ । २ । ६ ॥

गुणानामुत्कर्षनिकर्षनबन्धनाङ्गाङ्गिभावाद्धि जगत्प्रवृत्तिः १“प्रतिप्रतिगुणाभयविशेषात्” इति वदद्भिर्भवद्भिरेभ्युपगम्यते । प्रतिसर्गाविस्थायां

तु साम्यावस्थानां सत्त्वरजस्तमसामन्योन्याभिव्यन्यूनत्वाभावादङ्गाङ्गि-
भावानुपपत्तेर्न जगत्सर्ग उपपद्यते ; तदापि वैषम्याभ्युपगमे नित्यसर्गप्र-
सङ्गः । अतश्च न प्राज्ञानभिष्टितं प्रधानं कारणम् ॥ ६ ॥

अन्यथानुमितौ च ज्ञशक्तिवियोगात् । २ । २ । ७ ॥

दृषितप्रकारातिरिक्तप्रकारान्तरेण प्रधानानुमितौ च प्रधानस्य ज्ञा-
तृत्वशक्तिवियोगात् एव दोषाः प्रादुःप्युः । अतो न कथंचिदप्यनुमानेन
प्रधानमिद्विः ॥ ७ ॥

अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात् । २ । २ । ८ ॥

अनुमानेन प्रधानसिद्धयभ्युपगमेऽपि प्रधानेन प्रयोजनाभावात् त-
दनुमातव्यम् । “पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य” इति प्रधान-
स्य प्रयोजनं पुरुषभोगापवर्गावभिमतौ, तौ च न सम्भवतः ; पुरुषस्य चै-
तन्यमात्रवपुषो निष्क्रियस्य निर्विकारस्य निर्मलस्य ततएव नित्यमुक्तस्व-
रूपस्य प्रकृतिदर्शनरूपो भोगस्तद्वियोगरूपोऽपवर्गश्च न सम्भवति । एवं-
रूपस्यैव प्रकृतिसन्निधानात्तत्परिणामविशेषसुखदुःखदर्शनरूपभोगसम्भा-
यनायां प्रकृतिमन्निधानस्य नित्यत्वेन कदाचिदप्यपवर्गो न सेत्स्यति ॥ ८ ॥

विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम् । २ । २ । ९ ॥

विप्रतिषिद्धं चेदं साङ्ग्यानां दर्शनम् । तथाहि—प्रकृतेः परार्थत्वेन
हरयत्येन भोग्यत्वेन च प्रकृतं भोक्तारमधिप्रातारं द्रष्टारं साङ्गिणं च पु-
रुषमभ्युपगम्य प्रकृत्यैव माधनभूतया तस्य कैवल्यमपि प्राप्त्यं वदन्त एव
तस्य नित्यनिर्विकारचैतन्यमात्रस्वरूपतया अकतृत्वं, कैवल्यं च स्वरूप-
मेवाहुः ; ततएव यन्धमोक्षमाधनानुप्राप्तं मोक्षश्च प्रकृतेरेवेत्याहुः, एवंभू-
तनिर्विकारोऽमीनपुरुषमन्निधानात्प्रकृतेरितरेतराध्यासेन सर्गादिप्रवृत्ति
पुरुषभोगापवर्गार्थत्वं चाहः २ “मङ्गावपरार्थत्वात् त्रिगुणादिधिपर्ययादधि-

पठानात् । पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात्कैवल्यार्थप्रवृत्तेश्च ॥ तस्माच्च विपर्या-
सात्सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य । कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वं कर्तृभावश्च"
इति; १ "पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य" इत्युक्तवैवमाहुः २ "त-
स्मान्न बध्यते नापि मुच्येत नापि संसरति कश्चित् । संसरति बध्यते मुच्यते
च नानाभया प्रकृतिः" इति ; तथा ३ "तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव
लिङ्गम् । गुणकर्तृत्वे च तथा कर्तव्यं भवत्युदासीनः ॥ पुरुषस्य दर्शनार्थं
कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य । पञ्चबन्धदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतस्सर्गः"
इति । साक्षित्वद्रष्टृत्वभोक्तृत्वादयो नित्यनिर्विकारस्याकर्तृरुदासीनस्य
कैवल्यैकस्वरूपस्य न सम्भवन्ति । एवंपुरुषस्य तस्याध्यासमूलभ्रमोऽपि न
सम्भवति, अध्यासभ्रमयोरपि विकारत्वात् । प्रकृतेश्च तौ न सम्भवतः,
तयोश्चेतनधर्मत्वात् । अध्यासो हि नाम चेतनस्यान्यस्मिन्नन्यधर्मानुस-
न्धानम् स च चेतनधर्मो विकारश्च । नच पुरुषस्य प्रकृतिसन्निधिमात्रेणा-
ध्यासादयस्सम्भवन्ति, निर्विकारत्वादेव; सम्भवन्ति चेत्—नित्यं प्रसज्येरन्,
सन्निधेरकिञ्चित्करत्वाच्च ४ "नविलक्षणत्वात्" इत्यत्र प्रतिपादितम् । प्रकृति-
रेव संसरति बध्यते मुच्यते चेत्—कथं नित्यमुक्तस्य पुरुषस्योपकारिणी
सेत्युच्यते ? वदन्ति हि ५ "नानाविधैरुपायैरुपकारिण्यनुपकारिणः पुंसः ।
गुणवत्यगुणस्य सतस्तत्स्यार्थमपार्थक्यं चरति" इति । तथा प्रकृतिर्येन
पुरुषेण यथास्वभावा दृष्टा, तस्मात्पुरुषात्तदानीमेव निवर्तते इतिचाहुः ।
६ "रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्तान् । पुरुषस्य तथाऽऽत्मानं
प्रकाशय विनिवर्तते प्रकृतिः ॥ प्रकृतेस्सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीति मे मनि-
र्भवति । या दृष्टास्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य" इति , तदप्यसङ्गतम् ,
पुरुषो हि नित्यमुक्तवान्निर्विकारत्वाच्च तां कदाचिदपि पश्यति, नाध्यस्यति
च । स्वयं च स्यात्मानं न पश्यति, अचेतनत्वात् । पुरुषस्य स्यात्मादर्शनं
स्वदर्शनमिति नाध्यस्यतिच, स्वयमचेतनत्वात्, पुरुषस्य च दर्शनरूपधि-

कारासम्भवात् । अथ सन्निधिमात्रमेव दर्शनमित्युच्यते; सन्निधेर्नित्य-
त्वेन नित्यदर्शनप्रसङ्ग इत्युक्तम् । स्वरूपातिरिक्तादाचित्सन्निधिरपि
नित्यनिर्विकारस्य नोपपद्यते । किंच मोक्षहेतुस्तु स्वसन्निधानरूपमेव
दर्शनं चेत् यन्महेतुरपि तदेवेति नित्यवद्बन्धो मोक्षश्च स्याताम् । अथवा-
दर्शनं बन्धहेतुः, यथावत्स्वरूपदर्शनं मोक्षहेतुरिति चेत्—उभयविधस्यापि
दर्शनस्य सन्निधानरूपतानतिरेकात्सदोभयप्रसङ्ग एव । सन्निधेरनित्यत्वे
तस्य हेतुरन्वेपणीयः, तस्यापीत्यनवस्था । अथैतदोपपरिजिहीर्षया स्वरू-
पसद्भावे एव सन्निधिरिति, तदा स्वरूपस्य नित्यत्वेन नित्यवद्बन्धमोक्षौ ।
अत एवमादेर्विप्रतिषेधात्साङ्ग्यानां दर्शनमसमञ्जसम् । येऽपि कूटस्थनि-
त्यनिर्विशेषस्वप्रकाशचिन्मात्रं ब्रह्माविद्यासाक्षित्वेनापारमार्थिकबन्धमो-
क्षभागिति वदन्ति, तेषामप्युक्तनीत्याऽविद्यासाक्षित्वाभ्यासाद्यसम्भवाद-
सामञ्जस्यमेव; इयांस्तु विशेषः—माङ्ग्याः जननमरणप्रतिनियमादिक्यवस्था
सिद्धयर्थं पुनरप्यहुत्वमिच्छन्ति, ते तु तदपि नेच्छन्तीति सुतरामसामञ्ज-
स्यम् । यत्तु प्रकृतेः पारमार्थ्या पारमार्थ्यविभागेन वैषम्यमुक्तम्, तदयुक्तम्
पारमार्थिकत्वेऽप्यपारमार्थिकत्वेऽपि नित्यनिर्विकारस्वप्रकाशैकरसचिन्मा-
त्रस्य स्वव्यतिरिक्तसाक्षित्वागनुपपत्तेः । अपारमार्थिकत्वे तु तस्याः दृश्य-
त्ववाध्यत्वाभ्युपगमात्सुतरामसङ्गतम् । औपाधिकभेदवादेऽपि उपाधिस-
म्बन्धनां ब्रह्मणोऽयमेव स्वभाव इत्युपाधिसम्बन्धागनुपपत्तोरसामञ्ज-
स्यं पूर्वमेवोक्तम् ॥

इति श्रीशरीरकमीमांसाभाष्ये रचनानुपपत्त्यधिकरणम् ॥१॥

श्रीशरीरकमीमांसाभाष्ये महर्षिर्धाधिकरणम् ॥ २ ॥

महर्षिर्वद्वाहस्वपरिमण्डलाभ्याम् । २।२।१०॥

प्रधानकारणवादस्य युक्त्याभासमूलतया विप्रतिषिद्धत्वाच्चासाम-
ञ्जस्यमुक्तम् ; सन्प्रति परमाणुकारणावादस्याप्यसामञ्जस्यं प्रतिपाद्यते—

महर्षीर्षयश्चा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम्—इति । असमञ्जसमिति वर्तते, या-
शब्दार्थे । ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम् द्व्यणुकपरमाणुभ्यां, महर्षीर्षय-
त्र्यणुकोत्पत्तिवादयत्, अन्यच्च तदभ्युपगतं सर्वमसमञ्जसम्, परमाणु-
भ्यो द्व्यणुकादिक्रमेण जगदुत्पत्तिवादवदन्यदप्यसमञ्जसमित्यर्थः ।
तथाहि—तन्तुप्रभृतयो ह्यवयवाः स्वाशैप्पद्भिः पार्श्वैस्संयुज्यमाना अव-
यविनमुत्पादयन्ति, परमाणवोऽपि स्वकीयैः पद्भिः पार्श्वैस्संयुज्यमाना
एव द्व्यणुकादीनामुत्पादका मधेयुः, अन्यथा परमाणूनां प्रदेशभेदाभावं
सति सहस्रपरमाणुसंयोगेऽप्येकस्मात्परमाणोरनतिरिक्तपरिमाणतया अ-
णुत्वह्रस्वत्वमहत्त्वदीर्घत्वागतिद्विरस्यात् । प्रदेशभेदाभ्युपगमे परमाणवो-
ऽपि सांशाः स्वकीयैरंशैः । ते च स्वकीयैरंशैरित्यनवस्था । न च बान्धवम्—
अवयवाल्पत्वमहत्त्वाभ्यां हि सर्पपमदीधरयोः वैपम्यम्, परमाणोरप्य-
नन्तावयवत्वे अवयवानन्त्यसाम्यात्सर्पपमदीधरयोः वैपम्यासिद्धेः । अव-
यवापकर्षकाष्टावस्याभ्युपगमनीया—इति । परमाणूनां प्रदेशभेदाभावं
सत्येकपरमाणुपरिमाणातिरेकी प्रथिमा न जायेतेति सपममदीधरयोरैवा-
सिद्धेः । किं कुर्म इति चेत्—वैदिकः पक्षः परिगृह्यताम् । यत्तु परः
ब्रह्मकारणवाददूषणपरिहारपरमिदं सूत्र व्याख्यातम् ; तदुक्तं, पुनरु-
क्तं च ; ब्रह्मकारणवादे परोक्षान् द्वोपान् पूर्यस्मिन् पादे परिहृत्य परपक्षप्र-
तिषेधो ह्यस्मिन् पादे क्रियते । चेत्तनाद्ब्रह्मणो जगदुत्पत्तिसम्भवश्च
१ 'न विलक्षणत्वात्' इत्यत्रैव प्रवृत्तः । अतो ह्रस्वपरिमण्डलाभ्यां मह-
र्षीर्षाणुह्रस्वोत्पत्तिवदन्यच्च तदभ्युपगतं सर्वमसमञ्जसमित्येव सूत्रार्थः ॥१०॥

किमन्यदसमञ्जसमित्यत्राह—

उभयथाऽपि न कर्मातस्तदभावः ॥२॥२॥१॥

परमाणुकारणवादे हि परमाणुगतकमेजनिततत्संयोगपूर्वकद्व्य-
णुकादिक्रमेण जगदुत्पत्तिरिष्यते, तत्र निखिलजगदुत्पत्तिकारणभूतपर-

माणुगतमाद्यं कर्मादृष्टकारितमित्यभ्युपगम्यते “अग्नेरूर्ध्वज्वलनं यायो-
 स्तियंगमनमग्न्युमनसोश्चाद्यं कर्मेत्यदृष्टकारितानि” इति । तदिदं परमा-
 णुगतं कर्म स्वगतादृष्टकारितम्, आत्मगतादृष्टकारितं वा । उभयथाऽपि
 न सम्भवति, चेन्नज्ञपुण्यपापानुष्ठानजनितस्यादृष्टस्य परमाणुगतत्वासम्भ-
 वात्, सम्भवे च सदोत्पादकत्वप्रसङ्गः । आत्मगतस्य चादृष्टस्य परमाणु-
 गतकर्मात्पत्तिहेतुत्वं न सम्भवति । अथादृष्टवदात्मसंयोगादणुपु-
 कर्मात्पत्तिः, तदा तस्यादृष्टप्रवाहस्य नित्यत्वेन नित्यसंगेप्रसङ्गः । नन्व-
 दृष्टं विपाकापेक्षं फलायालम् । कानिचिददृष्टानि तदानीमेव विपच्यन्ते,
 कानिचिजन्मान्तरे, कानिचित्कल्पान्तरे । अतो विपाकापेक्षत्वान्न सर्वदा-
 त्पादकत्वप्रसङ्ग इति । नैतत्, अनन्तैरात्मभिस्सङ्केतपूर्वकमयुगपदनुष्ठि-
 तानेकविधकर्मजनितानामदृष्टानामेकस्मिन्काले एकरूपविपाकस्याप्रामा-
 ण्यकत्वात् । अत एव युगपत्सर्वसंहारो द्विपरार्धकालमविपाकेनावस्थानं
 न न सङ्गच्छते । नचेश्वरेच्छाहितविशेषादृष्टसंयोगादणुपु कर्म, आनुमा-
 निकेश्वरासिद्धेः १ “शास्त्रयोनित्वात्” इत्यत्रोपपादितत्वात् । अतो जगदु-
 त्पत्तोरणुगतकर्मपूर्वकत्वाभावः ॥ ११ ॥

समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः २।१।१२।

समवायाभ्युपगमाच्चसमञ्जसम्, कुतः ? साम्यादनवस्थितेः—
 समवायस्याप्यवयवजातिगुणवदुपपादकान्तरापेक्षासाम्यादुपपादकान्तर-
 स्यापि तथेत्यनवस्थितेरसमञ्जसमेव । एतदुक्तं भवति—अयुतमिद्वाना-
 माधाराधेयभूतानामिह प्रत्ययहेतुर्यस्सम्यन्धः, स समवाय इति समवा-
 योऽभ्युपगम्यते । अपृथक्संस्थित्युपलब्धीनां जात्यादीनां तथाभावस्य नि-
 र्याहकत्वेन चेत्समवायोऽभ्युपगम्यते, समवायस्यापि तत्साम्यात्तथाभाव-
 हेतुरन्वेपणीयः तस्यापि तथेन्यनवस्थितिः । समवायस्य तदपृथक्सिद्धस्य

स्वभाव इति परिकल्प्यते चेत्—जातिगुणानामेवैष स्वभावः परिकल्पनीयः, न पुनरदृष्टचरं समवायमभ्युपगम्य तस्यैष स्वभाव इति कल्पयितुं युक्तम्—इति ॥ १२ ॥

समवायस्य नित्यत्वे अनित्यत्वे चायं दोषस्समानः, नित्यत्वं दोषान्तरं चाह—

नित्यमेव च भावात् । २ । २ । १३ ॥

समवायस्य सम्बन्धत्वात्सम्बन्धस्य नित्यत्वे सम्बन्धिनो जगत-
श्च नित्यमेव भावादसमञ्जसम् ॥ १३ ॥

रूपादिमत्वाच्च विपर्ययो दर्शनात् । २ । २ । १४ ॥

परमाणूनां पार्थिवाप्यतैजसवायवीयानां चतुर्विधानां रूपरसगन्धस्पर्शवत्त्वाभ्युपगमादभिमतनित्यत्वसूक्ष्मत्वनिरवयवत्वादिविपर्ययेणानित्यत्वस्थूलत्वसावयवत्वादि प्रसज्यते, रूपादिमतां घटादीनामनित्यत्वतथाविधकारणान्तरारब्धत्वादिदर्शनात् । नहि दर्शनानुगुण्येनादृष्टोऽर्थः कल्प्यमानः स्वाभिमतविशेषे व्यवस्थापयितुं शक्यः । दर्शनानुगुण्येन हि परमाणूनां रूपादिमत्त्वं त्वया कल्प्यते । अतोऽप्यसमञ्जसम् ॥ १४ ॥

अयं दोषपरिजिहीर्षया परमाणूनां रूपादिमत्त्वं नाभ्युपगम्यते,
मत्राह—

उभयधा च दोषात् । २ । २ । १५ ॥

न केवलं परमाणूनां रूपादिमत्त्वाभ्युपगम एव दोषः, रूपादिविरहेऽपि कारणगुणपूर्वकत्वात्कार्यगुणानां प्रथिक्यादयो रूपादिशून्यास्त्युः । तत्परिजिहीर्षया रूपादिमत्त्वाभ्युपगमे पूर्वोक्तदोष इत्युभयधा च दोषादसमञ्जसम् ॥ १५ ॥

अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा । २ । २ । १६ ॥

कापिलपक्षस्य भूतिन्यायविरोधपरित्यक्तस्यापि सत्कार्यवादादि-
ना कचिदंशे वैदिकैः परिग्रहोऽस्ति, अस्य तु काण्डपक्षस्य केनाप्यंशे-
नापरिग्रहादनुपपन्नत्वाच्चान्यन्तमनपेक्षैव निःश्रेयसार्थिभिः कार्या ॥

इति महद्दीर्घाधिकरणं समाप्तम् ॥ २ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये समुदायाधिकरणम् ॥ ३ ॥)

समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः । २ । २ । १७ ॥

परमाणुकारणवादिनो वैशेषिका निरस्ताः; सौगताश्च जगतः पर-
माणुकारणत्वमभ्युपगच्छन्तीत्यनन्तरं तन्मतेऽपि जगदुत्पत्तितद्वयवहारा-
दिकं नोपपद्यत इत्युच्यते ते चतुर्विधाः—केचित्पार्थिवान्प्रत्यक्षसमायवीय-
परमाणुसङ्घातरूपान् भूतभौतिकान् धार्मिकान् चैतन्यरूपांश्चाभ्यन्तरानर्थान्
प्रत्यक्षानुमानसिद्धान्भ्युपयन्ति, अन्ये तु बाह्यार्थान् सर्वान् पृथिव्या-
न्निष्पन्नाननुमेयान्ब्रूयन्ति, अपरे त्वर्थशून्यं विज्ञानमेव परमार्थसन्, वा-
च्यार्थस्तु स्वप्नार्थकल्पा इत्याहुः; त्रयोऽप्येते स्वाभ्युपगतं वस्तु क्षणिक-
माचक्षते, उक्तभूतभौतिकचित्तचैतन्यतिरिक्तमात्माकाशादिकं स्वरूपेणैव
नानुमन्वते, अन्ये तु सर्वशून्यत्वमेव सङ्गिरन्ते; तत्र ये बाह्यार्थस्तित्व-
वादिनः, ते तावन्निरस्यन्ते; तेचैवं मन्यन्ते—रूपरसस्पर्शगन्धस्वभावाः
पार्थिवाः परमाणवः, रूपरसस्पर्शस्वभावाश्चाप्याः, रूपस्पर्शस्यभावाश्च
तैजसाः, स्पर्शस्वभावाश्च वायवीयाः पृथिव्यप्तेजोवायुरूपेण संहन्यन्ते,
नेभ्यश्च पृथिव्यादिभ्यः शरीरेन्द्रियविषयरूपसङ्घाता भवन्ति; तत्र च
शरीरान्तर्धर्तौ प्रादुर्गभिमानारूढौ विज्ञानसन्तान एवात्मत्वेनायतिष्ठते;
नन एव सर्वो लौकिको व्यवहारः प्रवर्तते—इति ॥

तत्राभिधीयते—समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः—योऽयमणुरेतु-
 प्रथिव्यादिभूतात्मकस्समुदायः, यश्च प्रथिव्यादिहेतुकश्शरीरेन्द्रियावयव-
 रूपस्समुदायः, तस्मिन्नुभयहेतुकेऽपि समुदाये तत्प्राप्तिर्नोपपद्यते—जगत्ता-
 म्कसमुदायोत्पत्तिर्नोपपद्यत इत्यर्थः । परमाणूनां प्रथिव्यादिभूतानां च
 क्षणिकत्वाभ्युपगमात्, क्षणार्धसिनः परमाणवो भूतानि च कदा मंहतां
 व्याप्तिर्यन्ते, कदा वा संहन्यन्ते, कदा विज्ञानविषयभूताः, कदा च दानो-
 पादानदिव्यवहारास्पदनां भजन्ते, को वा विज्ञानात्मा कं च विषयं सृ-
 शति कश्च विज्ञानात्मा कमर्थं कदा वेदयते, कं वा विदितमर्थं कश्च कदा-
 पादते; स्पष्टा हि नष्टः, स्पष्टश्च नष्टः; तथा वेदिता विदितश्च नष्टः; कथं
 नान्येन स्पष्टमन्यो वेदयते, कथञ्चान्येन विदितमर्थमन्य उपादते; सन्ता-
 नानामेकत्वेऽपि सन्तानिभ्यस्तेषां वस्तुतो यस्त्वन्तरत्वाभ्युपगमाच्च त-
 त्रिवन्धनं व्यवहारादिकमुपपद्यते; अहमर्थ एवात्मा, सच ज्ञानेवेति चो-
 पपादितं पुरस्तात् ॥ १७ ॥

इतरेतरप्रत्ययत्वादुपपन्नमिति चेन्न संघातभावा- निमित्तत्वात् । २ । २ । १८ ॥

अविद्यादीनामितरेतरहेतुत्वेनोपपन्नं सङ्घातभावादिकमिति चेत्; एत-
 द्दुक्तं भवति—यद्यपि क्षणिकस्सर्वे भावाः, तथाऽप्यविशयैतत्सर्वमुपपद्यते;
 अविद्या हि नाम विपरीतबुद्धिः क्षणिकादिषु स्थिरत्वादिगोचरा; तथा
 संस्काराख्याः रागद्वेषादयो जायन्ते; तत्रश्चित्ताभिज्वलनरूपं विज्ञानम्;
 ततश्च नामाख्याश्चित्तचैत्ताः प्रथिव्यादिकं च रूपिद्रव्यम्; ततश्च द्रव्य-
 तत्ताख्यमिन्द्रियपदकम्; ततः स्पर्शाख्यः कायः; ततो वेदनादयः; ततश्च
 पुनरप्यविद्यादयो यथोक्ता इत्यनादिरियमविद्यादिकाऽन्यान्वमूला चक्र-
 परिधृतिः; एतच्च सर्वं प्रथिव्यादिभूतभौतिकसङ्घातमन्तरेण नोपपद्यते ।
 अतस्सङ्घातभावादिकमुपपन्नम्—इति । तत्रोत्तरं—न सङ्घातभावानिमित्त-
 त्वात्—इति । नैतदुपपद्यते—एवमविद्यादीनां प्रथिव्यादिभूतभौतिकसङ्घा-

नभाथं प्रत्यनिमित्तत्वात् ; न स्वल्पस्थिरादिषु स्थिरत्वादिबुद्ध्यात्मिकाऽ-
 धिना तन्निमित्ता रागद्वेषादयो वाऽर्थान्तरस्य क्षणिकस्य संदतिहेतुतां प्रति-
 पद्यन्ते ; शुक्तिकारजतादियुद्धिर्हि न शुक्त्यागर्भसंहतिहेतुर्भवति; किंच य-
 म्य क्षणिके स्थिरव्यबुद्धिः, स तदैव नष्ट इति कस्य रागादय उत्पद्यन्ते; सं-
 स्काराभ्रयं स्थिरमेकं द्रव्यमनभ्युपगच्छतां संस्कारानुवृत्तिरपि न शक्या
 कल्पयितुम् ॥ १८ ॥

उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात् । २ । २ । १९ ।

इतश्च क्षणिकत्वपक्षे जगदुत्पत्तिर्नोपपद्यते, उत्तरक्षणेत्पत्तिवेलायां
 पूर्वक्षणस्य विनष्टत्वात्, तस्योत्तरक्षणे प्रति हेतुत्वानुपपत्तेः ; अभावस्य
 हेतुत्वे सर्वं सर्वत्र सर्वदोत्पद्यते; अथ पूर्वक्षणवर्तित्वमेव हेतुत्वमित्युच्यते,
 एवं तर्हि कश्चिदेव घटक्षणस्तदुत्तरकालभाविनां सर्वेषामेव गोमहिषाभ्र-
 कुडमपापाणादीनां त्रैलोक्यवर्तिनां हेतुस्स्यात् . अथैकजातीयस्यैव पूर्वक्ष-
 णवर्तिनो हेतुत्वमिष्यते, तथापि सर्वदेशवर्तिनामुत्तरक्षणाभाविनां घटा-
 नामेक एव पूर्वक्षणावर्तिघटो हेतुस्स्यात् ; अथैकस्यैव हेतुरेक इति मनुषे.
 तथापि कस्यैकस्य को हेतुरिति न ज्ञायते: अथ यस्मिन् देशे यो घटक्ष-
 णः स्थितः, तद्देशसम्बन्धिन एवोत्तरक्षणस्य न हेतुरिति, किं देशस्य स्थि-
 रत्वं मनुषे; किञ्च चक्षुरादिसम्प्रयुक्तस्यार्थस्य ज्ञानोत्पत्तिकालेऽनव-
 स्थितत्वात् कस्यचिदर्थस्य ज्ञानविषयत्वं सम्भवति ॥ १९ ॥

असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा । २ । २ । २० ॥

असत्यपि हेतोः कार्यमुत्पन्नं चेन्न-मर्थं सर्वत्र सर्वदोत्पद्येतेत्युक्तम्,
 न केवलमुत्पत्तिविरोध एव, प्रतिज्ञा च भवनामुपपद्येन, अधिपतिमदृका-
 र्यालम्बनसमनन्तरप्रत्ययाश्रित्वारां विज्ञानोत्पत्तिर्ना हेतु इति च: प्रतिज्ञा:
 अधिपतिः इन्द्रियम् । अथ प्रतिज्ञानुपरोधाथ घटक्षणे स्थित एव घटक्ष-
 णान्नरोत्पत्तिरिष्यते नथान भति द्वयोः कार्यकारणयोर्घटक्षणां यौग-
 पद्येनोपलब्धिः प्रसज्येत, न च तथोपलभ्यते, ज्ञानकत्वप्रतिज्ञा चैवं ही-
 येत । क्षणिकत्वं स्थितमेवेति चेन्न-इन्द्रियमंग्रयोगज्ञानयोर्योगपद्यं प्रसज्येत ॥

प्रतिसंख्याप्रतिसंख्यानिरोधाप्राप्तिरवि-

च्छेदात् । २ । २ । २१ ॥

एवं तावदसत् उत्पत्तिर्निरस्ता; सतो निरन्वयविनाशोऽपि नोप-
पद्यत इत्युच्यते; क्षणिकत्वयादिभिर्मुद्गराभिघाताशनन्तरभावितायोपल-
ब्धियोग्यस्सदृशसन्तानाद्यसानरूपः स्थूलो यः, सदृशसन्ताने प्रतिक्षणमा-
यी चोपलब्धनर्हस्सूक्ष्मश्च या निरन्वयो विनाशः प्रतिसङ्ख्यानिरोधाप्रति-
सङ्ख्यानिरोधशब्दाभ्यामभिधीयेते, तौ न सम्भवत इत्यर्थः । कुतः ? अवि-
च्छेदात्-सतो निरन्वयविच्छेदासम्भवात् । असम्भवश्च सत् उत्पत्तिवि-
नाशौ नामावस्थान्तरापत्तिरेव; अवस्थायोगि तु द्रव्यमेकमेव स्थिरमिति
कारणादनन्यत्वं कार्यस्योपपादयद्भिरस्माभिः १ "तदनन्यत्वम्" इत्यत्र प्रति-
पादितम् । निर्वाणस्य दीपस्य निरन्वयविनाशदर्शनादन्यत्रापि विनाशो नि-
रन्वयोऽनुमीयत इति चेन्न; धटशरावादौ मृदादिद्रव्यानुवृत्त्युपलब्ध्या स-
नो द्रव्यस्यावस्थान्तरापत्तिरेव विनाश इति निश्चितं सति प्रदीपादौ सू-
क्ष्मदृशपस्याऽप्यनुपलम्भोपपत्तेः । तत्राप्यवस्थान्तरापत्तिकल्पनस्यैव यु-
क्तत्वात् ॥ २१ ॥

उभयथा च दोषात् । २ । २ । २२ ॥

क्षणिकत्वयादिभिरभ्युपेता तुच्छादुत्पत्तिः उत्पन्नस्य तुच्छतापत्तिश्च
न सम्भवतीत्युक्तम् ; तदुभयप्रकाराभ्युपगतौ दोषश्च भवति । तुच्छादुत्प-
त्तौ तुच्छात्मकमेव कार्यं स्यात् ; याद्व यस्मादुत्पद्यते, तत्तदात्मकं दृष्टम्,-
यथा मृत्सुवर्णादेरुत्पन्नं मणिकमुकुटादि मृत्सुवर्णाद्यात्मकं दृष्टम्, नच जग-
त्तुच्छात्मकं भवद्भिरभ्युपगम्यते; नच प्रतीयते । सतो निरन्वयविनाशो स-
त्येकज्ञादूर्ध्वं कृत्स्नस्य जगतस्तुच्छतापत्तिरेव स्यात्, पश्चात्तुच्छाजग-
दुत्पत्तौ अनन्तरौकं तुच्छात्मकत्वमेव स्यात् । अन उभयथापि दोषाश्च
भवदुक्तप्रकारावुत्पत्तिनिरोधौ ॥ २२ ॥

आकाशे चाविशेषात् । २ । २ । २३ ॥

बाह्याभ्यन्तरवस्तुनः स्थिरत्वप्रतिपादनाय प्रतिसङ्ख्याप्रतिसङ्ख्या-
निरोधयोस्तुच्छरूपता निराकृता ; तत्प्रसङ्गेन ताभ्यां सह तुच्छत्वेन सौ-
गतैः परिगणितस्याकाशस्यापि तुच्छता प्रतिहिष्यते । आकाशे च निरु-
पाख्यता न युक्ता, भावरूपत्वेनाभ्युपगतपृथिव्यादिवदाकाशस्यापि अ-
वाधितप्रतीतिसिद्धत्वाविशेषात् । प्रतीयते ह्याकाशः 'अत्र श्येनः पतति,
अत्र गृध्रः' इति श्येनादिपतनदेशत्वेन । नच पृथिव्याद्यभावमात्रमाकाश इति
वक्तुं शक्यम्, विकल्पासङ्गत्वात् । पृथिव्यादेः प्रागभावः, प्रध्वंसाभावः,
इतरेतराभावः, अत्यन्ताभावो वा आकाशः; सर्वथाऽप्याकाशप्रतीत्यनुपप-
त्तिस्स्यात् । प्रागभावप्रध्वंसाभावयोराकाशत्वे पृथिव्यादिषु वर्तमानेषु आ-
काशप्रतीत्ययोगान् निराकाशं जगत्स्यात् । इतरेतराभावस्याकाशत्वेऽपि इ-
तरेतराभावस्य तत्तद्वस्तुगतत्वेन तेषामन्तराले आकाशप्रतीतिर्न स्यात् । अ-
भ्यन्ताभावस्तु पृथिव्यादीनां न सम्भवति । अभावस्य विद्यमानपदार्थाव-
स्थायिशेषत्वोपपादनाच्चाकाशस्याभावरूपत्वेऽपि न निरुपाख्यत्वम् । अ-
एकान्तर्दतिनआकाशस्य त्रिवृत्फरणोपदेशप्रदर्शितपञ्चीकरणेन रूपवस्वा-
वानुपत्वेऽप्यविरोधः ॥ २३ ॥

अनुस्मृतेश्च । २ । २ । २४ ॥

पूर्वप्रगतुं यस्तुनः स्थिरत्वमेवोपपाद्यते-अनुस्मरणं-पूर्वानुभूतव-
स्तुविषयं ज्ञानम्, प्रत्यभिज्ञानमित्यर्थः । तदेवेदमिति सर्वं यस्तुजातमतीत-
कालानुभूतं प्रत्यभिज्ञायते । नच भवद्विज्यालादिष्विव सादृश्यनिबन्धनोऽ-
यमेकत्वव्यामोह इति वक्तुं शक्यम्, व्यामुह्यतो ज्ञातुरेकस्यानभ्युपगमान् ।
नह्यन्यानुभूतैकत्वं सादृश्यं वा स्यानुभूतरन्याऽनुसन्धत्ते । अतो भिन्न-
कालवस्त्याभयसादृश्यानुभवनियन्धनमेकत्वव्यामोहं वदद्विज्ञातुरेकत्वमव-
स्थाभयणीयम् । नच ज्ञेयेष्वपि घटादिषु ज्वालादिष्विव भेदसाधनप्रमाण-
मुपलभामहे, येन सादृश्यनिबन्धनां प्रत्यभिज्ञां करूपयेम । यदपि चेदमुच्यते-

प्रत्यक्षानुमानाभ्यां घटादेः क्षणिकत्वं सिध्यति; प्रत्यक्षं तावद्वर्तमानार्थविषयमवर्तमानाद्वस्तुनो व्यापृत्तं स्वविषयमवगमयति, नीलमिव पीतात् एवं च भूतभविष्यद्व्यां वर्तमानस्य वस्तुवन्तरत्यमवगतं भवति । अनुमानमपि-
 अर्थक्रियाकारित्वात्सत्त्वाच्च घटादिः क्षणिकः, यदक्षणिकं शशविपाण्णादि,
 नवनर्थक्रियाकार्यसत्त्वं । तथा अन्यघटक्षणसत्त्वात्पूर्वघटक्षणसत्त्वानि वि-
 नाशीनि, घटक्षणसत्त्वात्, अन्यघटक्षणसत्त्ववत्-इति; तच्चकार्यकारणभावा-
 नुपपत्त्यादिभिः पूर्वमेव निरस्ताम् । किञ्च प्रत्यक्षगम्या वर्तमानस्यावर्तमाना-
 द्वायुत्तिर्न वर्तमानस्य वस्तुवन्तरत्वमवगमयति; अपितु वर्तमानकालयोगि-
 तामात्रम् । नच तावता वस्तुवन्तरत्वं सिध्यति, तस्यैव कालान्तरयोगसम्भ-
 वात् । यत्तु सत्त्वादर्थक्रियाकारित्वाच्चेति क्षणिकत्वे हेतुद्वयमुक्तम्, तदभि-
 मतविपरीतसाधनत्वाद्विरुद्धम् । सत्त्वादर्थक्रियाकारित्वाद्वा घटादि स्थास्तु,
 यदस्थास्तु तदसदनर्थक्रियाकारि च, यथा शशविपाण्णमित्यपि हि वक्तुं श-
 क्यम् किञ्च अर्थक्रियाकारित्वमक्षणिकत्वमेव साधयेत् । क्षणध्वंसिनो हि
 व्यापारसम्भवादर्थक्रियाकारित्वं न सम्भवतीत्युक्तम् । तथाऽन्यघटक्षण-
 स्य हेतुतो नाशदर्शनादितरेऽपि घटक्षणा हेत्वपेक्षविनाशास्त्युरित्यामुदगरा-
 दिहेतूपनिपातात् स्थास्तुत्वमेव । नच वाच्यं न मुदगरादयो विनाशहेतवः,
 अपितु कपालादिधिसदृशसन्तानोत्पत्तिहेतव इति, कपालत्वायस्थापत्तिरेव
 घटादीनां विनाश इत्युपपादितत्वात् । कपालोत्पत्तिव्यतिरिक्तत्वाभ्युपगमे-
 ऽपि विनाशस्य विनाशहेतुत्वमेव मुदगरादेरानन्तर्यायकम् । अतः प्रत्यभिज्ञा-
 या स्थिरत्वमवगम्यमानं न केनापि प्रकारेणापह्नोतुं शक्यम् । पूर्वापरकाल-
 सम्बन्धवर्धक्यविषयायाः प्रत्यभिज्ञाया अन्यविषयत्वं ब्रुवन्नोलादिज्ञाना-
 नामपि नीलादेरर्थान्तरविषयत्वं ब्रूयात् किञ्च प्रमातृप्रमेययोः क्षणिकत्वं
 यदद्विवर्त्याप्यवधारणवत्स्मरणपूर्वकानुमानाभ्युपगमोऽपि दुःशङ्कः । तथा
 इदं क्षणिकमित्यादिप्रतिज्ञापूर्वकहेतूपन्यासादिकमपि नोपपद्यते भवताम्,
 प्रतिज्ञोपक्रमज्ञान एव वक्तुर्विनाशप्रत्ययान् ; न ह्यन्येनोपक्रान्तमजानद्विरन्य-
 स्समापयितुं शक्यम् ॥ २४ ॥

नासतोऽदृष्टत्वात् । २ । २ । २५ ॥

एवं तावद्वैभाषिकसौत्रान्तिकयोर्वाप्यार्थास्तित्ववादिनोस्साधारणानि दूषणान्युक्तानि ; तत्र यदुक्तं-सम्प्रयुक्तस्यार्थस्य ज्ञानोत्पत्तिकालेऽनवस्थितत्वात् कस्यचिदर्थस्य ज्ञानविषयत्वं सम्भवतीति ; तत्र सौत्रान्तिकः प्रत्ययतिष्ठते—न ज्ञानकालेऽनवस्थानमर्थस्य ज्ञानाविषयत्वहेतुः ; ज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वमेव हि ज्ञानविषयत्वम् । नचैतावता चक्षुरादेः ज्ञानविषयत्वप्रसङ्गः, स्वाकारसमर्पणेन ज्ञानहेतोरेव ज्ञानविषयत्वाभ्युपगमात् । ज्ञाने स्वाकारं समप्यं विनष्टोऽप्यर्थो ज्ञानगतेन नीलाद्याकारेणानुमीयते । नचपूर्वपूर्वज्ञानेनोत्तरोत्तरज्ञानाकारसिद्धिः, नीलज्ञानसन्ततौ पीतज्ञानानुत्पत्तिप्रसङ्गात् । अतोऽर्थकृतमेव ज्ञानवैचित्र्यम्-इति । अत्रोच्यते-नासतोऽदृष्टत्वात्-इति, योऽयं ज्ञाने नीलादिराकार उपलभ्यते, स विनष्टस्यासतोऽर्थस्याकारो भवितुं नार्हति; कुतः ? अदृष्टत्वात्-न खलु धर्मिणि विनष्टे तद्धर्मस्यार्थान्तरे सकृद्वर्णं दृष्टम् । प्रतिविम्बादिकमपि स्थिरस्यैव भवति । तत्रापि न धर्ममात्रस्य । अतोऽर्थवैचित्र्यकृतं ज्ञानवैचित्र्यमर्थस्य ज्ञानकालेऽवस्थानादेव भवति ॥ २५ ॥

पुनरपि साधारणं दूषणमाह—

उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः । २ । २ । २६ ॥

एवं क्षणिकत्वासदुत्पत्त्यहेतुकविनाशाद्यभ्युपगमे उदासीनानामनुपपन्नानामपि सर्वार्थसिद्धिस्स्यात् इष्टप्राप्तिरनिष्टनिवृत्तिर्वा प्रयत्नादिभिस्साध्यते; क्षणध्वंसे हि सर्वेषां भावानां पूर्वपूर्वं यस्तु तद्गतो वा विशेषः संस्कारादिको विद्यादिर्वा उत्तरत्र न कश्चिदनुवर्तत इति प्रयत्नादिसाध्यं न किञ्चिदस्ति । एवं सत्यहेतुसाध्यत्वात्सर्वसिद्धीनामुदासीनानामप्यैहिकामुष्मिकफलं मोक्षश्च सिद्ध्येत् ॥ २६ ॥

इति भीशारीरकमीमांसाभाष्ये समुदायाधिकरणं समाप्तम् ॥ ३ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये उपलब्ध्यधिकरणम् ॥ ४ ॥)

नाभाव उपलब्धेः । २ । २ । २७ ॥

विज्ञानमात्रास्तित्वयादिनो योगाचाराः प्रत्यक्षतिष्ठन्ते । यदुक्तमर्थ-
वैचित्र्यकृतं ज्ञानवैचित्र्यमिति; तन्नोपपद्यते, अर्थवत् ज्ञानानामेव साकारा-
णां स्वरूपमेव विशिष्टत्वात् । तच्च स्वरूपवैचित्र्यं वासनाचरादेवोपपद्यते ।
वासना च विलक्षणप्रत्ययप्रवाह एव । यद्यद्यदाकारज्ञानं कपालाकारज्ञान-
स्योत्पादकम्, तस्य तथाविधस्योत्पादकं तत्पूर्वघटज्ञानम् । तस्य च तथा-
विधस्योत्पादकं ततः पूर्वघटज्ञानम् इत्येवं रूपः प्रवाह एव वासनेत्युच्यते ।
कथं बहिष्ठसर्पपमहीधरादेराकार आन्तरस्य ज्ञानस्येत्युच्यते ? इत्थम्-
अर्थस्यापि व्यवहारयोग्यत्वं ज्ञानप्रकाशायत्तम्, अन्यथा स्वपरवैयर्थ्यो-
नतिशयप्रसङ्गान् । प्रकाशमानस्य च ज्ञानस्य साकारत्वमवश्याभ्युपगम्यम्,
निराकारस्य प्रकाशयोगान् । एकआयमाकार उपलब्ध्यमानो ज्ञानस्यैव ।
तस्य च बहिर्बद्वभासोऽपि भ्रमकृतः । ज्ञानार्थयोस्सहोपलम्भनियमाच्च
ज्ञानादव्यतिरिक्तोऽर्थः । किञ्च बाह्यमथमभ्युपयद्भिरपि घटपटादिविज्ञा-
नेषु ज्ञानस्य तत्तदर्थसाधारण्यं तत्तदर्थसारूप्यमन्तरेण नोपपद्यत इत्य-
वश्यं ज्ञानेऽर्थसरूपं रूपमास्थेयम् । तावदेव सर्वव्यवहारोपपत्तेः तद्व्यति-
रिक्तार्थकल्पना निष्प्रामाणिका । अतो विज्ञानमात्रमेव तत्त्वम्, न वाशा-
र्थोऽस्ति—इति ।

एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे नाभाव उपलब्धेः—इति । ज्ञानातिरिक्तस्वार्थ-
स्थाभावो वक्तुं न शक्यते; कुतः ? उपलब्धेः—ज्ञातुरात्मनोऽर्थविशेषव्यव-
हारयोग्यतापादनरूपेण ज्ञानस्योपलब्धेः । एवमेव हि सर्वे लौकिकाः
प्रतियन्ति—‘घटमहं जानामि’ इति । एवंप्रकारेण सकर्मकेण सकर्तृकेन ज्ञाधा-
त्वर्थेन सत्त्वैकसाक्षिकमपरोक्षमयभासमानेनैव ज्ञानमात्रमेव परमार्थ इति
माधयन्तस्सर्वलोकोपहासोपकरणं भवन्तीति चेदद्याच्छब्दप्रच्छन्नभयौड-
निराकरणे निपुणतरं प्रपञ्चितम् । यत् ‘सहोपलम्भनियमादभेदां नील-

तद्विद्योः" इति, तत्स्थयचनविरुद्धम्, सादिर्यस्यार्थभेदहेतुकत्वात् । तदर्थ-
न्यवहारयोग्यतैकस्वरूपस्य ज्ञानस्य तेन सहोपलम्भनियमस्तस्मादवैल-
क्ष्यसाधनमिति च हास्यम् । निरन्वयविनाशिनां ज्ञानानां मनुवर्तमानस्थि-
राकारविरहाद्वासना च दुरुपपादा । दिनष्टेन पूर्वज्ञानेनानुत्पन्नमुत्तरज्ञानं-
कथं वास्यते । अतो ज्ञानवैचित्र्यमप्यर्थवैचित्र्यकृतमेव । तत्तदर्थव्यवहा-
रयोग्यतापादनरूपतया साक्षात्प्रतीयमानस्य ज्ञानस्य तत्तदर्थसम्बन्धा-
यत् तत्तदसाधारण्यम् । सम्बन्धश्च संयोगलक्षणः । ज्ञानमपि हि द्रव्यमेव ।
प्रभाद्रव्यस्य प्रदीपगुणभूतस्येव ज्ञानस्याप्यात्मगुणभूतस्य द्रव्यत्वमविरु-
द्धमित्युक्तम् । अतो न बाह्याभावाभावः ॥

यत्परैः स्वप्नज्ञानदृष्टान्तेन जागरितज्ञानानामपि निरालम्बनत्वं
मुक्तम्; तत्राह—

वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् । २ । २ । २८ ॥

स्वप्नज्ञानवैधर्म्याज्जागरितज्ञानानामर्थशून्यत्वं न युज्यते वक्तुम् ।
स्वप्नज्ञानानि हि निद्रादिदोषदुष्टकरणजन्यानि, बाधितानि च; जागरित-
ज्ञानानि तु तद्विपरीतानीति तेषां न तत्साम्यम् । सर्वेषां च ज्ञानानामर्थ-
शून्यत्वे भयद्विस्साध्योऽप्यर्थो न सिध्यति. निरालम्बनानुमानस्याप्यर्थ-
शून्यत्वान् । तस्यार्थवत्त्वे ज्ञानत्वस्थानैकान्त्यात्सुतरामर्थशून्यत्वासिद्धिः ॥

न भावोऽनुपलब्धेः । २ । २ । २९ ॥

न केवलस्यार्थशून्यस्य ज्ञानस्य भावस्सम्भवति; कुतः ? कचिदप्य-
नुपलब्धेः नष्टकष्टकस्याकर्मकस्य वा ज्ञानस्य कचिदुपलब्धिः । स्वप्नज्ञा-
नादिष्वपि नार्थशून्यत्वमिति कयातिनिर्गुणं प्रतिपादितम् ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये उपलब्ध्यधिकरणम् ॥ ४ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसामाख्ये सर्वथानुपपत्त्यधिकरणम् ॥५॥)

सर्वथानुपपत्तेः च । २ । २ । ३० ॥

अत्र सर्वशून्यवादी माध्यमिकः प्रत्यवतिष्ठते । शून्यवाद एव हि मुगतमतकाग्रा । शिष्यबुद्धियोग्यतानुगुण्येनार्थाभ्युपगमादिना क्षणिकः-
इय उक्तः । विज्ञानं बाह्याधारश्च सर्वे न सन्ति, शून्यमेव तत्त्वम्; अभा-
वापत्तिरेव च मोक्ष इत्येव बुद्धस्याभिप्रायः । तदेव हि युक्तम् ; शून्यस्याहं-
तुसाध्यतया स्वतस्सिद्धेः, सत एव हि हेतुरन्वयणोयः; तत्र सन् भावादभा-
वाच्च नोत्पद्यते; भावान्नावयव कस्यचिदुत्पत्तिर्दृष्टा; न हि घटादिरनुपपत्तिर्न
पिण्डादिके जायते । नाप्यभावादुत्पत्तिस्सम्भवति नष्टे पिण्डादिके ह्य
भावादुत्पद्यमानं घटादिकमभावात्मकमेव स्यात् । तथा स्वतः परतश्चा-
त्यन्तिर्न सम्भवति, स्वतः स्वोत्पत्तावात्माभ्रयदोषपसङ्गान्, प्रयोजनाभा-
वाच्च । परतः परोत्पत्तौ पश्त्वाविशेषात्सर्वेषां सर्वेभ्य उन्पत्तिप्रसङ्गः ।
जन्माभावादेव विनाशस्याप्यभावः । अतः शून्यमेव तत्त्वम् । अनो ज-
न्मविनाशसदसदादयो भ्रान्तिमात्रम् । नच निरधिष्ठानभ्रमासम्भवाद्भ्र-
माधिष्ठानं किञ्चित्पारमार्थिकं तत्त्वमाभ्यवितव्यम्, दोषदोषाभ्रयत्त्वज्ञान-
त्वाद्यपारमार्थ्येऽपि भ्रमोपपत्तिवदधिष्ठानापारमार्थ्येऽपि भ्रमोपपत्तेः ।
अतः शून्यमेव तत्त्वम् ॥

इति प्राप्ते उच्यते-सर्वथानुपपत्तेश्च-इति । सर्वथानुपपत्तेस्तस्य शून्यस्य
च भवदभिप्रेतं न सम्भवति । किं भवान् सर्वं सदिति वा प्रतिजानीते, अ-
सदिति वा, अन्यथा वा; सर्वथा तवाभिप्रेतं तुच्छत्वं न सम्भवंति; लोके
भावाभावशब्दयोस्तत्प्रतीत्योश्च विद्यमानस्यैव बहूनोऽवस्थाविशेषगोनर-
त्वस्य प्रतिपादितत्वात् । अतस्तत् सर्वं शून्यमिति प्रतिजानता सर्वं सदिति
प्रतिजानतेव सर्वस्य विद्यमानस्यावस्थाविशेषयोगितैव प्रतिज्ञाता भवती-
ति भवदभिप्रेता तुच्छता न कुतश्चिदपि सिध्यति । किञ्च कुतश्चित्प्रमा-

णाच्छून्यत्वमुपलभ्य शून्यत्वं सिपाधयिषता तस्य प्रमाणस्य सत्यत्वम-
भ्युपेत्यम् ; तस्यासत्यत्वे सर्वं सत्यं स्यादिनि सर्वथा सर्वशून्यत्वं चा-
नुपपन्नम् ।

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये सर्वथानुपपत्त्यधिकरणम् ॥ ५ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये एकस्मिन्सम्भवाधिकरणम् ॥)

नैकस्मिन्न सम्भवात् । २ । २ ३१ ॥

निरस्तास्तौगताः । जैना अपि परमाणुकारणत्वादिकं जगतो व-
दन्तीत्यनन्तरं जैनपक्षः प्रसिद्धिप्यते । ते किलमन्यन्ते—जीवाजीवा-
त्मकं जगदेतन्निरीश्वरम् ; तच्च पदद्रव्यात्मकम् । तानि च द्रव्याणि जी-
वधर्माधर्मपुद्गलकालाकाशाख्यानि । तत्र जीवाः—यक्षाः, योगसिद्धाः,
मुक्ताश्चेति त्रिविधाः । धर्मो नाम गतिमतां गतिहेतुभूतो द्रव्यविशेषो ज-
गद्व्यापी, । अधर्मश्च स्थितिहेतुभूतो व्यापी । पुद्गलो नाम वर्णगन्धरस-
स्पर्शवद्द्रव्यम् । तच्च द्विविधम्—परमाणुरूपम्, तत्सङ्घातरूपं च पवनज्व-
लनसलिलधरणीतनुभुवनदिकम् । कालस्तु अभूदस्तिभविष्यतीति व्य-
वहारहेतुरणुरूपो द्रव्यविशेषः । आकाशोऽप्येकोऽनन्तप्रवेशश्च । तेषु
चाणु १ व्यातेरिक्तद्रव्याणि पञ्चास्तिकाया इति च संगृह्यन्ते—जीवास्तिका-
यः, धर्मास्तिकायः, अधर्मास्तिकायः, पुद्गलास्तिकायः, आकाशास्ति-
कायः—इति । अनेकदेशवर्तिनि द्रव्येऽस्तिकायश्चायः प्रयुज्यते । जीवानां
मोक्षोपायोगिनमपरमपि संग्रहं कुर्वन्ति—जीवाजीवात्मवधन्निर्जरसंवर-
मोक्षान्—इति । मोक्षसंग्रहेण मोक्षोपायश्च गृहीतः । स च सम्यग्ज्ञानद-
र्शनचारित्र्यरूपः । तत्र जीवस्तु—ज्ञानदर्शनमुखवीर्यगुणः । अजीवश्च जी-
वभोग्यवस्तुजातम् । आत्मवः तद्गोपकरणभूतमिन्द्रियादिकम् । बन्ध-

आष्टविधः—घातिकर्मचतुष्टयमघातिकर्मचतुष्टयं चेति । तत्रार्थं जीवगुणानां स्वाभाविकानां ज्ञानदर्शनवीर्यसुखानां प्रतिघातकरम् । अरं शरीरसंस्थानतदभिमानतत्स्थितितन्प्रयुक्तसुखदुःखोपेक्षाहेतुभूतम् । निर्जम् भाञ्जसाधनमर्हदुपदेशावगतं तपः । संवरो नामेन्द्रियनिरोधः समाधिरूपः । मच्चस्तु निवृत्तरागादिक्लेशस्य स्वाभावाविकात्मस्वरूपाविर्भावः । पृथिव्यादिहेतुभूताध्माणवो वैशेषिकादीनामिव न चतुर्विधाः । अपित्वेकम्यभावाः । पृथिव्यादिभेदस्तु परिणामकृतः । सर्वं च वस्तुजातं सत्त्वासत्त्वनित्यत्वानित्यत्वभिन्नत्वाभिन्नत्वादिभिरनैकान्तिकमिच्छन्ति—स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्तिच नास्तिच, स्यादवक्तव्यम्, स्यादस्तिचावक्तव्यं च, स्यानास्तिचावक्तव्यं च, स्यादस्तिच नास्तिचावक्तव्यं चेति सर्वत्र सप्तभङ्गीनयावतारात् । सर्वं वस्तुजातं द्रव्यपर्यायात्मकमिति द्रव्यात्मना सत्त्वैकत्वं नित्यत्वाद्युपपादयन्ति; पर्यायात्मना च तद्विपरीतम् । पर्यायाश्च द्रव्यस्यावस्थाविशेषाः । तेषां च भावाभावरूपत्वात्सत्त्वासत्त्वादिकं सर्वमुपपन्नम्—इति ॥

अत्राभिधीयते—नैकस्मिन्नसम्भवान्—इति । नैतदुपपद्यते; कुतः ? एकस्मिन्नसम्भवान्—एकस्मिन्वस्तुनि अस्तिनेत्वनास्तित्वादेर्विरुद्धस्य च्छायातपवद्युगपदसम्भवान् । एतदुक्तं भयमि—द्रव्यस्य तद्विशेषणभूतपर्यायशब्दाभिधेयावस्थाविशेषस्य च पृथक्पदार्थत्वान्नैकस्मिन्विरुद्धधर्मसमावेशस्तम्भवति—इति । तथाहि—एकेनास्तित्वादिनाऽवस्थाविशेषेण विशिष्टस्य तदानीमेव न तद्विपरीतनास्तित्वादिविशिष्टत्वं सम्भवति । उत्पत्तिविनाशाज्यपरिणामविशेषास्पदत्वं न द्रव्यस्यानित्यत्वम्, तद्विपरीतं च नित्यत्वं तस्मिन् कथं समवेति; विरोधिधर्माभूतत्वं च भिन्नत्वम्, तद्विपरीतत्वाभिन्नत्वं कथं वा तस्मिन् समवेति ?; यथाऽभूत्वमहिपम्वयोर्युगपदेकस्मिन्नसम्भवः । अयमर्थः पूर्वमेव भेदाभेदवानिनिरसनसमये “त-

तु ममन्वयात्" इत्यत्र प्रपञ्चितः । कालस्य पदार्थविशेषणतयैव प्रतीतेस्त-
स्य प्रथमस्तित्वनास्तित्वादयो न वक्तव्याः, न च परिहर्तव्याः । का-
लोऽस्ति नास्तीति व्यवहारो व्यवहर्तृणां जात्याणस्तित्वनास्तित्वव्यवहा-
रतुल्यः । जात्यादयो हि द्रव्यविशेषणतयैव प्रतीयन्त इति पूर्वमेवोक्तम् ।
कथं पुनरेकमेव ब्रह्म सर्वात्मकमिति भोत्रियैरुच्यते ? सर्वचेतनाचेतनश-
रीरत्वात्सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेस्सम्यक्सङ्कल्पस्य पुरुषोत्तमस्येत्युक्तम् । शरीर-
शरीरिणोस्तद्वर्माणाम्नात्यन्तवैतल्यमप्युक्तम् । किञ्च जीवादीनां प-
गणां द्रव्याणामेकद्रव्यपर्यायत्वाभावात्तु पुं द्रव्यैकत्वं पर्यायात्मना च-
कथनान्नक्तत्वादयो दुरुपपादाः । अथोच्येत-पडेतानि इत्याणि स्वकीयः
पर्यायैः स्वेनस्वेनचात्मना तथा भवन्ति-इति । एवमपि सर्वमनैकान्तिक-
मित्यभ्युपगमविरोधः, अन्योन्यसादात्म्याभावात् । अतो न युक्तमिदं
जैनमतम् । ईश्वरानधिष्ठितपरमाणुकारणवादे पूर्वाक्तशोपास्तथैवा-
वतिष्ठन्ते ॥

एवं चात्माकात्स्न्यम् । २ । २ । ३२ ॥

एवं भवदभ्युपगमे सति आत्मकात्स्न्यं प्रसज्यते । जीवोऽ-
सङ्ख्यातप्रदेशो देहपरिमाण इति हि भवतां स्थितिः । तत्र हस्त्यादिशरी-
रेऽवस्थितस्यात्मनस्ततो न्यूनपरिमाणे पिपीलिफादिशरीरे प्रविशतोऽल्प-
देशाद्यापित्वेनाकात्स्न्यं प्रसज्यते-अपरिपूर्णता प्रसज्यत इत्यर्थः ॥३२॥

अथ सङ्कोचविकासधर्मतया आत्मनः पर्यायशब्दामिधेयावस्था-
न्तरापत्त्या विरोधः परिहित इत्युच्यते ; तत्राह—

न च पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः । २ । २ । ३३ ॥

न च सङ्कोचविकासरूपावस्थान्तरापत्त्या विरोधः परिहर्तुं शक्यते,
विकारतत्प्रयुक्तनित्यत्वादिदोषप्रसक्तैर्घटादितुल्यत्वप्रसङ्गात् ॥ ३३ ॥

अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः ॥ २ ॥ २ ॥ ३४ ॥

जीवस्य यदन्त्यं परिमाणं मोक्षावस्थागतम्, तस्य पश्चाद्देहान्तर-
परिमहामावाद्बस्थितत्वादात्मनश्च मोक्षावस्थस्य तत्परिमाणस्य चोभ-
योर्नित्यत्वात्तदेव आत्मनः स्वाभाविकं परिमाणमिति प्रथमं तस्माद-
विशेषः स्यात् । अतो वेदपरिमाणत्वमात्मनो न स्यादित्यसङ्गतमेवेदमार्ह-
तमतम् ॥ ३४ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये एकस्मिन्नसम्भवाधिकरणम् ॥ ६ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये पशुपत्त्याधिकरणम् ॥ ७ ॥)

पत्युरसामञ्जस्यात् । २ । २ । ३५ ॥

फलिकण्ठादसुगताहृतमतानामसामञ्जस्यात् वेदवाण्यत्वाच्चान्तरभ्येसा-
र्थिभिरनादरणीयत्वमुक्तम् ; इदानीं पशुपतिमतस्य वेदविरोधादसामञ्ज-
स्याच्च अनादरणीयतोच्यते । तन्मतानुसारिणश्चतुर्विधाः—१ कापालाः, का-
लामुखाः, पाशुपताः, शैवाश्च—इति । सर्वेचैते वेदविरुद्धां तत्त्वप्रक्रियाम्
गृह्णिकामुष्मिकनिश्चयससाधनकल्पनाश्च कलयन्ति । निमित्तोपादानयो-
र्भेदं, निमित्तकारणं च पशुपतिमाचक्षते । तथा निश्चयससाधनमपि मुद्रि-
कापट्कारणादिकमायथाहुः कापालाः २ “मुद्रिकापट्कतचक्रः परमुद्रा-
यिशारदः । भगवन्स्थमात्मानं ध्यात्वा निष्ठां प्रवृच्छति । कण्ठिका रुचकं
चैव कुण्डलं च शिखाश्लिः । भस्म यज्ञोपवीतं च मुद्रापट्कं प्रचक्षते ॥
आभिर्मुद्रितदेहस्तु नभूय इह जायते” इत्यादिकम् । तथा कालामुखा अ-
पि कपालपात्रभोजनशयभस्मस्नानतत्प्राशनलगुडधारणमुराकुम्भस्थापन
तदाधारदेवपूजादिकर्मगृह्णिकामुष्मिकसकलफलसाधनमभिदधति । ३ “रुद्रा-
क्षफट्कणं हस्ते जटा चैका च मस्तके । कपालं भस्मना स्नानम्” इत्यादि
च प्रसिद्धं शैवागमेषु । तथा केनचिन्क्रियाविशेषेण विजातीयानामपि प्रा-

‘क्षय्यप्राप्तिमुत्तमाभमप्राप्तिं चाहुः—१’ दीक्षाप्रवेशमात्रेण ब्राह्मणो भवति क्षणान् । कापालं व्रतमास्थाय यतिर्भवति मानवः ” इति ॥

(सिद्धान्तः)

तत्रेवमुच्यते—पत्युरसामञ्जस्यात्—इति । “ नैकस्मिन्नसम्भ-
वान् ” इत्यतो ‘न’ इत्यनुवर्तते । पत्युः—पशुपतेः, मतं नारदणी-म् ;
कुतः ? असामञ्जस्यात् । त्वसामञ्जस्यं च अन्योन्यव्याघातात् वेदविरो-
धाच्च । मुद्रिकापट्कधारणभगासनस्थात्मध्यानसुराकुम्भस्थापनतत्त्वदे-
वतार्चनं गूढाचारश्मशानं भस्मस्नानप्रणवपूर्वाभिध्यानान्यन्योन्यविरुद्धानि
वेदविरुद्धचेदं तत्त्वपरिकल्पनमुपासनमाचारश्च । वेदाः खलु परं ब्रह्म
नारायणमेव जगन्निमित्तमुपादानं च वदन्ति—१“ नारायणं परं ब्रह्म
नत्वं नारायणः परः । नारायणं परो ज्योतिरात्मा नारायणः परः ”
१“तदेतत् बहु स्यां प्रजायेयेति ” २“ सोऽकामयत् बहु स्यां प्रजायेयेति”
३“तदात्मानं स्वयमकुरुत” इत्यादयः । परब्रह्मभूतपरमपुरुषवेदनमेव च
मोक्षसाधनमुपासनं वदन्ति—४“वेदादमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमस-
स्तु पारे” ५“तमेवं विद्वानमृत इह भवति । नान्यः पन्था अयनाय वि-
गते” इत्यादिना एकांतां गतास्सर्वे वेदान्ताः, तद्वित्तिकर्तव्यताभूतं कर्म-
च वेदविहितवर्णाभिमसम्भन्धि यज्ञादिकमेव वदन्ति—६“तमेतं वेदानुषच-
नेन ब्राह्मणा विविदिपन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन” ७“एतमेव
लोकमिच्छन्तः प्रभ्राजिनः प्रब्रजन्ति” इत्यादयः । केवलपरतत्त्वप्रतिपा-
दनपरनारायणानुवाकसिद्धतत्त्वपराः केपुचिदुपासनादिविधिपरेषु वा-
क्येषु भुनाः प्रजापतिशिष्येन्द्राकाशप्राणादिशब्दा इति ८ ‘शास्त्रदृष्ट्या तूप-
देशो वामदेववन्’ इत्यत्र प्रतिपादितम् । तथा ९ ‘एको इव नारायण आ-
सीन्न ब्रह्मा नेशान्” इत्यारम्भ १० ‘स एकाकी न रमेत ” इति सृष्टिवा-

१. शीवागमे ॥ — २. तै. भाग. १३ ॥ — ३. सु. १-२-३ ॥—

४. तै. भाग. ६. अशु. २ ॥ — ५. तै. भाग. ७ ॥ — ६. पुण्डर. ॥—

७. सु. १-४-२१ ॥ — ८. शारी. १-१-२१ ॥ — ९. महोप. १-१ ॥

व्योदितं स्रष्टारं नारायणमेव समानप्रकरणस्थाः 'सदेव सौम्येदमग्रे'
इत्यादिषु साधारणाः सद्ब्रह्मात्मादिशब्दाः प्रतिपाद्यन्तीति २ 'जन्माण-
स्य यतः' इत्यत्र प्रतिपादितम् । अतो वेदविरुद्धतत्त्वोपासनानुष्ठाना-
भिधानात्पशुपतिमतमनादरणीयमेव ॥ २५ ॥

अधिष्ठानानुपपत्तेश्च । २ । २ । ३६ ॥

वेदब्राह्मणानामनुमानाद्धि केवलनिमित्तेश्वरकल्पना; तथा सति दृष्टा-
नुसारेण कुलालादिवदधिष्ठानं कर्तव्यम्; न च कुलालादेर्मुदाशधिष्ठानव-
त्पशुपतेर्निमित्तभूतस्य प्रधानाधिष्ठानमुपपद्यते, अशरीरत्वान्; सशरीरा-
णामेव हि कुलालादीनामधिष्ठानशक्तिर्दृष्टा; नचेश्वरस्य सशरीरत्वमभ्यु-
पगन्तव्यम्, तच्छरीरस्य सावधवस्य नित्यत्वं अनित्यत्वे च ३ 'शास्त्र-
यान्तित्वात्' इत्यत्र दोषस्योक्तत्वात् ॥ ३६ ॥

करणावच्छेन्न भोगादिभ्यः । २ । २ । ३७ ॥

यथा भोक्तुर्जीवस्य करणकलेत्रराद्यधिष्ठानमशरीरस्यैव हरयते ;
तद्वन्महेश्वरस्याप्यशरीरस्यैव प्रधानाधिष्ठानमुपपद्यत इति चेत्-न, भो-
गादिभ्यः पुण्यपापरूपकमफलभांगार्थं पुण्यपापरूपादृष्टकारितं हि तद-
धिष्ठानम्; तद्वत्पशुपतेरपि पुण्यपापरूपादृष्टवत्तया तत्फलभोगादि सर्वं
प्रसज्येत; अतो नाधिष्ठानसम्भवः ॥ ३७ ॥

अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा । २ । २ । ३८ ॥

याशब्दश्चार्थः; पशुपतेः पुण्यापुण्यरूपादृष्टवत्त्वे जीववदन्तवत्त्वं
मृष्टिसंहारात्पापदत्त्वमसर्वज्ञता च स्यादित्यनारदणीयमेवेदं मतम्, ४ "वि-
रोधे त्वनपेक्षं स्यात्" इत्यादिना वेदविरुद्धस्यानारदणीयत्वे सिद्धेऽपि
पशुपतिमतस्य वेदविरुद्धताख्यापनार्थं "पत्पुरमामञ्जस्यात्" इति पुन

१. वा. १-२-१ ॥ --२. जार्गी. १-१-२ ॥ --३. जार्गी. १-१-३ ॥

४ प. मी. १-१-३ ॥

रास्त्वः । यद्यपि पाशुपतशैवयोर्वेदाविरोधिन इव केचन धर्माः प्रतीयन्ते; तथापि वेदविरुद्धनिमित्तोपादानभेदकल्पनापराधरतत्त्वव्यत्ययकल्पनामूलत्वात् सवम मञ्जसमंवेति 'असामञ्जस्यात्' इत्युक्तम् ॥ ८८ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये पशुपत्यधिकरणम् ॥ ७ ॥

श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये उत्पत्त्यसम्भवाधिकरणम् ॥ ८ ॥

उत्पत्त्यसम्भवात् । २ । २ । ३९ ॥

कपिलादितन्त्रसामान्याद्भूगवदभिहितपरमनिःश्रेयससाधनावबोधिनि पञ्चरात्रतन्त्रेऽप्यग्रामाण्यमाशङ्क्य निराक्रियते; तत्रैवमाशङ्कते १ "परमकारणात्परब्रह्मभूताद्यासुदैवात्सकूर्पणो नाम जीवो जायते सकूर्पणात्प्रद्युम्नसंज्ञं मनो जायते तस्माद्वनिरुद्धसंज्ञोऽहङ्कारो जायते" इति हि भागवतप्रक्रिया । अत्र जीवस्योत्पत्तिः श्रुतिविरुद्धा प्रतीयते; श्रुतयो हि जीवस्यानादित्वं वदन्ति २ "न जायते म्रियते वा विपश्चित्" इत्याद्याः ॥ ३६ ॥

न च कर्तुः करणम् । २ । २ । ४० ॥

१ "सकूर्पणात्प्रद्युम्नसंज्ञं मनो जायते" इति कर्तुः जीवान्, करणस्य मनस उत्पत्तिर्न सम्भवति, २ "एतस्माज्जायते प्राणो मनस्सर्वेन्द्रियाणि च" इति परस्मादेव ब्रह्मणो मनसोऽप्युत्पत्तिश्रुतेः । अतः श्रुतिविरुद्धार्थप्रतिपादनादस्यापि तन्त्रस्य ग्रामाण्यं प्रतिपिद्यत इति ॥ ४० ॥

एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे—

विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः । २ । २ । ४१ ॥

वाराज्यात्पक्षो विपरिवर्तते; विज्ञानं चादिचेति परब्रह्म विज्ञानादि । सकूर्पणप्रशुन्नानिरुद्धानामपि परब्रह्मभावे सति तत्प्रतिपादनपरस्य

शास्त्रस्य प्रामाण्यं न प्रतिपिष्यते । एतदुक्तं भवति भागवतप्रक्रियामज्ञानतामिदं 'चोय'-यर्ज्ञावोत्पत्तिर्विरुद्धाऽभिहिता—इति । वासुदेवान्यं परं ब्रह्मैवाभितवत्सल स्वाभितसमाभयणीयत्वाय स्वेच्छया चतुर्धाऽवतिष्ठत इति हि तत्प्रक्रिया । यथा पौष्करसंहितायां १ "कर्तव्यत्वेन यं यत्र चातुरात्म्यमुपास्यते । क्रमागतैस्त्वसंज्ञाभिः ब्राह्मणैरागमं तु तत्" इत्यादि । तच्च चातुरात्म्यापासनं वासुदेवाख्यपरब्रह्मोपासनमिति सात्त्वतसंहितायामुक्तं १ "ब्राह्मणानां हि सद्ब्रह्मवासुदेवाख्ययाजिनाम् विवेकद परं शास्त्रं ब्रह्मोपनिषदं महत्" इति । तद्वि वासुदेवाख्यं परं ब्रह्म सम्पूर्णेपाङ्गुण्यवपुः सूक्ष्मव्यूहविभवभेदभिन्नं यथाधिकारं भक्तैः ज्ञानपूर्वेण कर्मणा अभ्यर्चितं सम्यक्प्राप्यते । विभवाचर्चनाव्यूहं प्राप्य व्यूहाचनात्परं ब्रह्म वासुदेवाख्यं सूक्ष्मं प्राप्यत इति वदन्ति । विभवो हि नाम रामकृष्णादिप्रादुर्भावगणः । व्यूहो वासुदेवसङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धरूपभ्रतुव्यूहः । सूक्ष्मं तु केवलपाङ्गुण्यविग्रहं वासुदेवाख्यं परब्रह्म । यथा पौष्करे १ "यस्मात्सम्यक्परं ब्रह्म वासुदेवाख्यमव्ययम् । अस्मादवाप्यते शास्त्रान ज्ञानपूर्वेण कर्मणा" इत्यादि । अतरसङ्कर्षणादीनामपि परस्यैव ब्रह्मणः स्वेच्छाविग्रहरूपत्वात् ३ "अजायमानो बहुधा विजायते" इति भुतिसिद्धस्यैवाभितवात्सल्यनिमित्तस्येच्छाविग्रहसंग्रहरूपजन्मनाऽभिधानात्तदभिधायि-शास्त्रप्रामाण्यस्याप्रतिषेधः—इति । तत्र जीवमनोहृद्भारतत्त्वानामधिष्ठातारः सङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धा इति तेषामेव जीवादिशब्दैरभिधानमविरुद्धम् ; यथा आकाशप्राणादिशब्दैः ब्रह्मणोऽभिधानम् ॥ ४१ ॥

विप्रतिषेधाच्च । २ । २ । ४२ ॥

विप्रतिषिद्धा हि जीवोत्पत्तिस्तस्मिन्नपि तन्त्रे ; यथोक्तं परमसंहितायाम् ४ "अचेतना परार्था य नित्या सततविक्रिया । त्रिगुणा कर्मि-

णां क्षेत्रं प्रकृतेरुपमुच्यते ॥ व्याप्तिरूपेण सम्बन्धस्तरवाश्च पुरुषस्य च ।
 मङ्गनादिरनन्तश्च परमार्थेन निश्चितः” इति । एवं सर्वास्त्यपि सं-
 नासु जीवस्य नित्यत्ववचनाज्जीवस्वरूपोत्पत्तिः पञ्चरात्रतन्त्रे प्रतिपिद्धैव ।
 जन्ममरणादिव्यवहारस्तु लोकवेदयोर्जीवस्य यथोपपद्यते, तथा १ “नात्मा
 भूतः” इत्यत्र वक्ष्यते । अतो जीवस्योत्पत्तिस्तत्रापि प्रतिपिद्धैवेति जी-
 वोत्पत्तिवाद्निमित्ताप्रामाण्यशङ्का दूरोत्सारिता । यश्चैप केपाञ्जिदुद्घोषः
 २ “साङ्गेषु वेदेषु निष्ठा मलभमानः शाण्डिल्यः पञ्चरात्रशास्त्रमधीतवान्”
 इति । साङ्गेषु वेदेषु पुरुषार्थनिष्ठा न लब्धेति वचनाद्देदविरुद्धमेवेदं तन्त्रम्
 इति, सोऽप्यनाधत्तवेदवचसामनाफलिततदुपपत्तिरन्यायकलापानां भद्धा
 रात्रिविजृम्भितः, यथा ३ “प्रातःप्रातरनृतं ते यदन्ति पुरांदयाञ्जुति
 येऽग्निहोत्रम्” इति अनुवितहोमनिन्दा उदितहोमप्रशंसार्थेत्युक्तम्; यथा
 च भूमविद्याप्रक्रमं नारदेन ४ “अन्वेदं भगवाऽभ्येमि यजुर्वेदं सामवेदमा-
 यदं चतुर्थमितिहामपुराणं पञ्चमम्” इत्यारभ्य सर्वं विद्यास्थानम-
 मिधाय ५ “सोऽहं भगवो मन्त्रविदेयास्मि नात्मवित्” इति भूमविद्याव्य-
 रिक्तासु सर्वासु विद्यास्वात्मवेदनालाभवचनं वक्ष्यमाणभूमविद्याप्रशं-
 सार्थं कृतम्; अथवा अस्य नारदस्य साङ्गेषु वेदेषु यत्परतत्त्वं प्रतिपा-
 द्यते, तदलाभनिमित्तोऽयं वादः । एवमेष शाण्डिल्यस्येति । पञ्चाद्देदान्त-
 देयवासुदेवाख्यपरब्रह्मनत्वाभिधानादवगम्यते । तथा वेदार्थस्य दुर्ज्ञान-
 मया सुखायबोधार्थशशास्त्रारम्भः परमसंहितायामुच्यते ६ “अधीता भग-
 दन्वेदास्ताङ्गोपाङ्गास्सवितराः । भूतानि च मयाऽङ्गानि वाकोवाक्च-
 दूतानि च । नचैतेषु समस्तेषु संशयेन विना कचिन् । श्रेयोमार्गं प्रप-
 श्यामि येन सिद्धिर्भविष्यति” इति, ६ “वेदान्तेषु यथा सारं संगृह्य भगवान्
 हरिः । भक्तानुकम्पया विद्वान् मन्त्रिणेषु यथामुत्तमम्” इति च । अत-
 स्म भगवान्त्वेदं कवेयः परब्रह्माभिधानां वासुदेवां निखिलदेयप्रत्यनीकक-

१. शमी. २-३-१८ ॥ २ पञ्चरात्र ३ तैत्तिरीयब्राह्मणे ४-२ छ. ३-१-२, १॥

४. पञ्चरात्र ॥

ल्याणैकज्ञानानन्तज्ञानानन्दाद्यपरिमितोदारगुणसागरस्सत्यसङ्कल्पश्चातु-
र्वर्ष्यवातुराभ्युदयवस्थयाऽवस्थितान् धर्मार्थकाममोक्षाख्यपुरुषार्थाभि-
मुखान् भक्तानवलोक्यापारकारुण्यसौशील्यवात्सल्योदायमहोदधिः स्व-
स्वरूपस्थधिभूतिस्वाराधनतत्फलयाथात्म्यावबोधिनी वेदान् अग्न्यजुस्सा-
माथवमेवभिन्नानपरिमितशास्त्रान विध्यर्थवादमन्त्ररूपान स्वेतरसकल-
सुरनरदुरवगाहान्वावधार्य तदर्थयाथात्म्यावबोधि पञ्चरात्रशास्त्रं स्वयमे-
व निरमिमीतेति निरवयवम् ॥

यत्तु—परैस्तुत्रचतुष्टयं कस्यचिद्विकृष्टांशस्य प्रामाण्यनिप-
धपरं व्याख्यातम्; तत्सूत्राक्षराननुगुणम्, सूत्रकारामिप्रायवि-
रुद्धञ्च । तथाहि—सूत्रकारेण वेदान्तन्यायाभिधायीनि सूत्राण्यभि-
धाय वेदोक्तदृष्ट्याय च भारतसंहितां शनसहस्रिकां कुर्वता मोक्षधर्मे ज्ञा-
नकाण्डेऽभिहितं १ “गृहस्थो ब्रह्मचारी च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः । य इच्छे-
त्सिद्धिमास्थातुं देवतां कां यजेत सः” इत्यारभ्य महता प्रबन्धेन पञ्चरात्र-
शास्त्रप्रक्रियां प्रतिपाद्य—“इदं शनसहस्राद्रि भागताख्यानविस्तरान् । आचि-
ध्य मति मन्थानं दध्नां घृतमिबोद्धृतम् । नवनीतं यथा दध्नो द्विपदां ब्राह्म-
णो यथा । आरण्यकं च वेदेभ्यः औपधोभ्यो यथाऽसृतम्” २ “इदं महोप-
निषदं चतुर्वेदसमन्वितम् । साङ्ख्ययोगकृतान्तेन पञ्चरात्रानुशुद्धितम्” ३ “इ-
दं श्रेय इदं ब्रह्म इदं हितमनुत्तमम् । अग्न्यजुस्नामभिर्जुष्टमधर्वाङ्गिरसैस्तथा ।
भक्षिष्यति प्रमाणं वा एतदेवानुशामनम्” इति । साङ्ख्ययोगशब्दा-
भ्यां ज्ञानयोगकर्मयोगावभिहितौ; यथोक्तं ४ “ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां
कर्मयोगेन योगिनाम्” इति । भीष्मपर्वण्यपि ६ “ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैः
शूद्रैश्च कृतलक्षणैः । अर्चनीयश्च मेव्यश्च पूजनीयश्च माधवः । सान्धतं
विधिमास्थाय गीतस्सङ्कर्षणेन यः” इति । कथमेवं प्रमाणो वादरायणो वे-

१. भारतं शास्त्रि-मोक्ष. ३३५-१ ॥ २. भारते, शास्त्रि-मोक्ष. ३४४-११ ॥

३. भारते शास्त्रि मोक्ष ३४८-१११ ॥ ४. भारते शास्त्रिमोक्ष ३४९-३१ ॥

५. गी० ३-३ ॥ ६. भारते भीष्मपर्वणि ६९-३६, ४० ॥

द्विदग्नेसरो वेदान्तवेद्यपरब्रह्मभूतवासुदेवोपासनार्चनादिप्रतिपादनपरस्य-
 सात्त्वतशान्तस्याप्रामाण्यं ब्रूयात् । ननु च १ “साङ्ख्यं योगः पञ्चरात्रं वेदाः
 पाशुपतं तथा ।” “किमेतान्येकनिष्ठानि पृथङ्निष्ठानि वा मुने” इत्यादिना
 साङ्ख्यादीनामप्यादरणीयतोच्यते; शारीरके तु साङ्ख्यादीनि प्रतिपि-
 ष्यन्ते; अत इदमपि तन्त्रं तत्तुल्यम्, नेत्युच्यते, यतस्तत्रापोममेव शा-
 रीरकोक्तं न्यायमवतारयति; “किमेतान्येकनिष्ठानि पृथङ्निष्ठानि वा”
 इति प्रश्नस्यायमर्थः—किं साङ्ख्ययोगपाशुपतवेदपञ्चरात्राण्येकतत्त्वप्रति-
 पादनपराणि, पृथक्तत्त्वप्रतिपादनपराणि वा; यदैकतत्त्वप्रतिपादनपरा-
 णि; किं तदेकं तत्त्वम्; यथा तु पृथक्तत्त्वप्रतिपादनपराणि, सदैवां पर-
 स्परं विरुद्धार्थप्रतिपादनपरत्वाद्वास्तुनि विकल्पासम्भवाच्चैकमेव प्रमाणम-
 ङ्गीकरणीयम्, किं तदेकम्—इति । अस्योत्तरं ब्रूयन् २ “ज्ञानान्येतानि
 राजर्षे विद्धि नानामतानि वै । साङ्ख्यस्य यत्तत्र कपिलः” इत्यादिभ्यः सा-
 ङ्ख्ययोगपाशुपतानां कपिलहिरण्यगर्भपशुपतिकृतत्वेन पौरुषेयत्वं प्रतिपा-
 दय ३ “अथान्तरतपा नाम वेदाचार्यस्स उच्यते” इति वेदानामपौरुषेयत्वम-
 भिधाय ४ “पञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य यत्तत्र नारायणस्स्वयम्” इति पञ्चरात्रतन्त्र-
 स्य यत्तत्र नारायणः स्वयमेवेत्युक्तवान् । एवं वदतश्चायमाशयः—पौरुषया-
 णां तन्त्राणां परस्परविरुद्धवस्तुवादितया अपौरुषेयत्वेन निरस्तप्रमादा-
 दिनिश्चितशेषगन्धवेदवेद्यवस्तुविरुद्धाभिधायित्वाच्च यथावस्थितयस्तुनि
 प्रामाण्यं दुर्लभम्; वेदवेद्यश्च परब्रह्मभूतो नारायणः; अतस्तत्तन्त्रा-
 भिहितप्रधानपुरुषपशुपतिप्रभृतितत्त्वस्य वेदान्तवेद्यपरब्रह्मभूतनारायणा-
 त्मकतयैव वस्तुत्वमभ्युपगमनीयम्—इति । तदिदमाह च ५ “सर्वेषु च नृ-
 पभ्रेष्ठज्ञानेष्वेतेषु दृश्यते । यथागमं यथान्यायं निप्रा नारायणः प्रभुः”
 इति । “यथागमं यथान्यायम्” इति न्यायानुगृहीततत्तदागमोक्तं वस्तु
 परामृशतो नारायण एव सर्वस्य वस्तुनां निष्ठेति दृश्यते, अब्रह्मात्मकत-

१. भारते शान्ति-माह ३२०-१, २ ॥ २. भारते शान्ति-मोह ३२०-१३, ६४ ॥

३. भारते शान्ति-मोह ३२०-१२ ॥ ४. भार, शा, मो. ३२०-१०, ६८ ॥

५. छा. ३-१४-१ ॥

या तत्तत्तन्त्राभिहितानां तत्त्वानां १“ सर्वं स्वस्त्रिदं ब्रह्म ” २“ विश्वं नारायणः ” इत्यादिना सर्वस्य ब्रह्मात्मकतामनुसन्धानस्य नारायण एव निष्ठेति प्रतीयत इत्यर्थः । अतो वेदान्तदेशः परब्रह्मभूतो नारायणः स्वयमेव पञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य वक्तेति, तत्स्वरूपतदुपासनाभिधायि तत्तन्त्रमिति च तस्मिन्नितरतन्त्रसामान्यं न केनचिदुद्गात्रयितुं शक्यम् । अतस्तत्रैवेदमुच्यते १ ‘एवमेकं सांख्ययोगं वेदारण्यकमेव च । परस्पराङ्गान्येतानि पञ्चरात्रं तु कथ्यते ’ इति । सांख्यं च योगश्च सांख्ययोगम्, वेदाभ्यारण्यकानि च वेदारण्यकम् परस्पराङ्गान्येतानि एकतत्त्वप्रतिपादनपरतयैकीभूतानि एकं पञ्चरात्रमिति कथ्यते । एतदुक्तं भवति—सांख्योक्तानि पञ्चत्रिशतिनत्त्वानि, योगोक्तं च यमनियमाङ्गात्मकं योगम्, वेदोदितकर्मस्वरूपाण्यङ्गीकृत्य तत्त्वानां ब्रह्मात्मकत्वं । योगस्य च ब्रह्मोपासनप्रकारत्वं कर्मणां च तद्वाराधनरूपतामभिदधति-ब्रह्मस्वरूपं प्रतिपादयन्त्यारण्यकानि । एतदेव परेण ब्रह्मणा नारायणेन स्वयमेव पञ्चरात्रतन्त्रे विशदीकृतम्—इति । शारीरके च सांख्योक्ततत्त्वानामब्रह्मात्मकतामात्रं निराकृतम्; न स्वरूपम् । योगशशुपतयोश्चेश्वरस्य केवलनिमित्तकारणता, परावरतत्त्वावपरीतकल्पना, वेदवहिष्कृतागारो निराकृतः, न योगस्वरूपम्, पशुपतिस्वरूपं च । अतः १“ सांख्यं योगः पञ्चरात्रं वेदाः पशुपतं तथा । आत्मप्रमाणान्येतानि न हन्तव्यानि हेतुभिः ” इत्यपि तत्तदभिहिततत्त्वस्वरूपमात्रमङ्गोक्तार्थम्, जिनमुगताभिहिततन्त्रवत्सर्वं न वहिष्कार्यमित्युच्यते । २यथागमं “ यथान्यायं निष्ठा नारायणः प्रभुः ” इत्यनेनैकाध्यात् ॥ ४१ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये उत्पत्त्यसम्भवाधिकरणम् ॥ ८ ॥

इति श्रीभगवद्रामानुजविरचिते शारीरकमीमांसाभाष्ये

द्वितीयस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

१. सु०. ३-१४-१ ॥—२. तै. नारा. १३ ॥—३. भारते. शा. मो. ३४६-८१.
४. भारते. शा. मो. ३२०-४३ ॥—५. भारते. शा. मो. ३२०-४८ ॥

भीमते रामानुजाय नमः.

श्रीभगवद्रामानुजविरचिते

श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये

(द्वितीयाध्याये-तृतीयपादे-वियदधिकरणम् ॥)

न वियदश्रुतेः । २ । ३ । १ ॥

साङ्ख्यदिवेदवाह्यतन्त्राणां न्यायाभासमूलतया विप्रतिपेक्षा-
सामञ्जस्यमुक्तम् । इदानीं स्वपक्षस्य विप्रतिपेक्षादिदोषाभावक्यापनाय ब्र-
ह्मकार्यतयाऽभिमतचिदचिदात्मरूपप्रपञ्चस्य कार्यताप्रकारो विशोध्यते । तत्र
वियदुत्पद्यते, नचा—इति संशय्यते । किं युक्तम् ? न वियदुत्पद्यत इति ।
कुतः ? अभूतः संभावितस्य हि भवणसंभवः; असंभावितस्य तु गगन-
कुसुमवियदुत्पत्त्यावेः शब्दाभिधेयत्वं न संभवति । न खलु निरवयवस्य
मर्षगतस्याकाशस्य आत्मनः, इवोत्पत्तिर्निरूपयितुं शक्यते; अत एव उ-
त्पत्त्यसंभवान् छान्दोग्ये सृष्टिप्रकरणे तेजःप्रभृतीनामेवोत्पत्तिराम्नायते—
१“तदेतत् बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत” इति । तैत्तिरीयकार्थवर्णा-
दिषु २“तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशस्संभूतः” ३“एतस्माज्जायते प्रा-
णो मनस्सर्वेन्द्रियाणि च खं वायुर्ज्योतिरापः” इत्यादिषु भूयमाणा वि-
यदुत्पत्तिः अर्थविरोधाद्वाच्यते—इति ॥ १ ॥

(सिद्धान्तः)

एवं प्राप्तेऽभिधीयते—

अस्ति तु । २ । ३ । २ ॥

अस्तित्वाकाशस्योत्पत्तिः; अतीन्द्रियार्थविषया हि भुतिः प्रमाणा-
न्तराप्रतीतामपि वियदुत्पत्तिं प्रतिपादयितुं समर्थेय । न च भुतिप्रतिप-

त्रेऽर्थे तद्विरोधिनिरवयवत्वादिहेतुकमनुत्पत्त्यनुमानमुदेतुमलम्, आगमनो-
ऽनुत्पत्तिर्न निरवयवत्वप्रयुक्तेति वक्ष्यते ॥ २ ॥

पुनश्चोदयति—

गौण्यसम्भवाच्छब्दाच्च । २ । ३ । ३ ॥

१ “तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः” इत्यादिवियदुत्प-
त्तिश्रुतिर्गौणीति कल्पयितुं युक्तम्, १२ “तत्तेजोऽस्तृजत” इति सिम्बुत्ताः
ब्रह्मणः प्रथमं तेज उत्पद्यत इति तेजोऽत्पत्तिप्राथम्येन वियदुत्पत्तिप्रति-
पादनासम्भवात्, ३ “वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतम्” इति वियतोऽमृतत्वश-
ब्दाच्च ॥ ३ ॥

कथमेकस्य संभूतशब्दस्य आकाशापेक्षया गौणत्वम्, अन्यथापे-
क्षया मुख्यत्वमिति चेत्—तत्राह—

स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत् । २ । ३ । ४ ॥

एकस्यैव १ “तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशस्संभूतः” इत्याकाशो मु-
ख्यत्वासंभवात् गौणतया प्रयुक्तस्य सम्भूतशब्दस्य १ “वायोरग्निः” इत्या-
दिष्वनुपक्तस्य मुख्यत्वं स्यादेव; ब्रह्मशब्दवत्—यथा ब्रह्मशब्दः, ४ “त-
स्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमर्भं च जायते” इत्यत्र प्रधाने गौणतया प्रयुक्तस्त्व-
स्मिन्नेव प्रकरणे ५ “तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते” इति ब्रह्मणि
मुख्यतया प्रयुज्यते; तद्वत् । अनुपक्वे च भवणावृत्ताविवाभिधानावृत्ति-
विशत एवेत्यर्थः ॥ ४ ॥

परिहरति—

प्रतिज्ञाहानिरव्यतिरेकात् । २ । ३ । ५ ॥

छान्दोग्यभुवनसारेणान्यासां वियदुत्पत्तिवादिनीनां भूतीनां गौ-

गुत्वं कल्पयितुं न युज्यते, यतः छान्दोग्यश्रुत्यैव वियदुत्पत्तिरङ्गीकृता;
 १ 'येनाभुतं भुतम्' इत्यादिना ब्रह्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञानान् ।
 नस्या हि प्रतिज्ञायाः अहानिराकाशस्यापि ब्रह्मकार्यत्वेन तदव्यतिरेका-
 नेव भवति ॥ ५ ॥

शब्देभ्यः । २ । ३ । ६ ॥

इतश्च वियदुत्पत्तिः छान्दोग्ये प्रतीयते, २ 'सदेव सोम्येदमग्र आ-
 सीदेकमेवाद्वितीयम्' इति प्राक्सृष्टरेकत्वावधारणशब्दात्; ३ 'एतदात्म्य-
 मिदं सर्वम्' इत्येवमाविशब्देभ्यश्च कायत्वेन ब्रह्मणोऽव्यतिरेकप्रतीतेः ।
 नच ४ "तत्तेजोऽसृजत" इति तेजस उत्पत्तिश्रुतिर्वियदुत्पत्तिं वारयति ।
 वियदुत्पत्त्यवचनमात्रेण तेजसः प्रतीयमानं प्राथम्यं श्रुत्यन्तरप्रतिपक्षां
 वियदुत्पत्तिं न निवारयितुमलम् ॥ ६ ॥

यावद्विकारन्तु विभागो लोकवत् । २ । ३ । ७ ॥

तुराध्यर्थः; ३ "एतदात्म्यमिदं सर्वम्" इत्यादिभिराकाशस्य वि-
 कारत्यवचनेन तस्याकाशस्य ब्रह्मणो विभाग-उत्पत्तिरप्युक्तैव । लोक-
 वत्-यथा लोके एते सर्वे देवदत्तपुत्रा इत्यभिधाय तेषु केषांचित्तत् उत्प-
 न्तिवचनेन सर्वेषामुत्पत्तिरुक्ता स्यात्, तद्वन् । एवंच सति ५ 'वायुश्चान्त-
 रिच्छन्नैतदमृतम्' इति सुराणामिव चिरकालस्थायित्वाभिप्रायम् ॥ ७ ॥

एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः । २ । ३ । ८ ॥

अनेनैव हेतुना मातरिश्वनो घायोरप्युत्पत्तिर्व्याख्याता । वियन्मा-
 तरिश्वनोः पृथग्योगकरणं ६ "तेजोऽस्तथाग्राह" इति मातरिश्वपराम-
 सार्थम् ॥ ८ ॥

असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेः । २ । ३ । ९ ॥

तुराद्योऽवधारणार्थः, असम्भवः—अनुत्पत्तिः । सतः—ब्रह्मण एव; तद्व्यतिरिक्तस्य कस्यचिदप्यनुत्पत्तिर्न सम्भवति, अनुपपत्तेः । एतदुक्तं भवति वियन्मातरिश्वनोरुत्पत्तिप्रतिपादनमुदाहरणार्थम् ; उत्पत्त्यसम्भवस्तु सतः परमकारणस्य परस्यैव ब्रह्मणः । तद्व्यतिरिक्तस्य कृत्स्नस्याव्यक्तमहद्ब्रह्मरतन्मात्रेन्द्रियवियत्यवनादिकस्य प्रपञ्चस्यैकविज्ञानं न सर्वविज्ञानप्रतिज्ञादिभिरवगतकार्येभावस्यानुत्पत्तिर्नोपपद्यत इति ॥६॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये वियदधिकरणम् ॥ १ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये तेजोधिकरणम् ॥ २ ॥)

तेजोऽतस्तथाह्याह । २ । ३ । १० ॥

ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य कृत्स्नस्य ब्रह्मकार्यत्वमुक्तम्, इदानीं व्यवहितकार्याणां किं केषलात्तत्तदन्तरकारणभूतावस्तुन उत्पत्तिः, आहोस्वित्तद्रूपाद्ब्रह्मण इति चिन्त्यन्ते । किं युक्तम्? केषलात्तत्तद्वस्तुन इति । कुतः तेजस्तावन अतः—मातरिश्वन एवोत्पद्यते । १ “वायोरग्निः” इति आह १०।

आपः । २ । ३ । ११ ॥

आपोऽपि अतः—तेजम एवोत्पद्यन्ते, १ ‘अग्नेरापः’ २ ‘तदपोऽमृजन्’ इति आह ॥ ११ ॥

पृथिवी । २ । ३ । १२ ॥

पृथिवी अद्भ्य उत्पद्यते—३ “अद्भ्यः पृथिवी” ४ “ना अन्नममृजन्त” इति आह ॥ १२ ॥

नन्वग्नशब्देन कथं पृथिव्यभिधीयते ? अत आह—

अधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः । २ । ३ । १३ ॥

महाभूतमृष्टयधिकारात्पृथिव्येवाग्नशब्देनोक्तेति प्रतीयते । अदनी-
यस्य सर्वस्य पृथिवीविकारत्वात् कारणे कार्यशब्दः । तथा वाक्यशेषे भूता-
नां रूपसंशब्देन, १“यदग्नेरोदितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कु-
प्यं तदग्नस्य” इत्यप्तेजसोऽस्मज्जातीयमेवाग्नशब्दवाच्यं प्रतीयते । शब्दान्त-
रेष समानप्रकारेण २“अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी”इति भूयते । अतः पृथिव्ये-
वाग्नशब्देनोच्यते इत्यद्भ्यः एव पृथिवी जायते । उदाहृतास्तेजः प्रभृतयः प्रद-
र्शनार्थाः । महदादयोऽपि स्वानन्तरवस्तुन एवोत्पद्यन्ते, यथाभुत्यभ्युप-
गमाविरोधान् । ३“एतस्माज्जायते प्राणो मनस्सर्वेन्द्रियाणि च । स्यं वायु-
र्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी” ४“तस्मादेतद्ब्रह्मनामरूपमन्नं च
जायते” ५“तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशस्सम्भूतः” ६“तत्तेजोऽमृजत”
इत्यादयो ब्रह्मणः परम्परया कारणत्वेऽप्युपपद्यन्ते इति ॥ १३ ॥

(सिद्धान्तः)

एवं प्राप्ते प्रचक्षते—

तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात्सः । २ । ३ । १४ ॥

तुशब्दात्पञ्चो व्यावृत्तः, महदादिकार्याणामपि तत्तदनन्तरवस्तुशरीर-
कम्स एव पुरुषोत्तमः कारणम्, कुतः ? तदभिध्यानरूपात्तल्लिङ्गान् ; अभिध्या-
नम्—बहु स्यामिति मङ्गल्यः, १“तत्तेज एक्षन् बहु स्यां प्रजायेयेति” २“ता
आप एक्षन् बहुभ्यमस्यामः प्रजायेमहि” इत्यात्मनो बहुभवनसङ्कल्परूपेक्षणा-
भवणान्महद्ब्रह्माकाशादीनामपि कारणानां तथाविधेक्षापूर्विकैव स्व-
कार्यमृष्टिरिति गम्यते, तथाविधेक्षणां तत्तच्छरीरकस्य परस्यैव ब्रह्म-
ण, उपपद्यते । भूयतेच सर्वशरीरकत्वेन सर्वात्मकत्वं परस्य ब्रह्मणोऽन्त-

१. छा. ६-४-१ ॥—२. तै. ब्रा. १ अनु. २ ॥—३. मु. २-१-३ ॥

४. मु. १-१-३ ॥—५. छा. ६-२-३ ॥—६. छा. ६-२-४ ॥

यामित्राद्वये १“यः पृथिव्यां तिष्ठन्” १ “योऽप्सु तिष्ठन्” १ “यस्तेज-
सि तिष्ठन्” १ “यो वायौ तिष्ठन्” १ “य आकाशे तिष्ठन्” इत्यादि । सु-
बालोपनिषदि च १“यस्य पृथिवी शरीरम्” इत्यारभ्य २“यस्याहङ्का-
रशरीरं” ३“यस्य बुद्धिशरीरं” ४“यस्यान्यक्तं शरीरम्” इत्यादि ॥

यद्योक्तम् १“एतस्माज्जायते प्राणो मनस्सर्वेन्द्रियाणि च” इत्यादिपु
भूयमाणा ब्रह्मणः प्राणादिचुष्टिः परम्परयाऽप्युपपद्यते इति; अत्रोच्यते-

विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च । २ । ३ । १५ ॥

तुशब्दोऽवधारणार्थः । अव्यक्तमहद्बह्माराकाशादिक्रमाद्विपर्ययेण
यस्सर्वेषां कार्याणां ब्रह्मान्तर्यरूपः क्रमः १। “एतस्माज्जायते प्राणः” इत्या-
दिपु प्रतीयते, सच क्रमस्तत्तद्वृत्ताद्ब्रह्मणस्तत्तत्कार्योत्पत्तौरेषोपपद्यते । परम्प-
रया कारणत्वे ह्यनन्द्यभरणमुपगृह्येत । अतः १“एतस्माज्जायते” इत्यादि
क्रमपि सर्वस्य ब्रह्मणः साक्षात्सम्भवस्योक्तम्भनम् ॥ १५ ॥

**अन्तरा विज्ञानमनसो क्रमेण तल्लिङ्गादिति चेन्ना-
विशेषात् । २ । ३ । १६ ॥**

विज्ञानसाधनत्वादिन्द्रियाणि विज्ञानमित्युच्यन्ते, यदुक्तम् १“ए-
तस्माज्जायते” इत्यादिना सर्वस्य ब्रह्मणोऽनन्तरकार्यत्वं भाव्यते; अतश्च-
नेन वाक्येन सर्वस्य साक्षाद्ब्रह्मण उत्पत्तिरभिध्यानलिङ्गावगतोक्तभ्यत
इति; तन्नोपपद्यते-क्रमविशेषपरत्वादस्य वाक्यस्य; अत्रापि सर्वेषां क्रमप्र-
तीतिः । स्वादिपु तावन् भुत्यन्तरसिद्धिः क्रमोऽत्रापि प्रतीयते तैरसहपाठलि-
ङ्गाद् तप्राणयोरन्तराले विज्ञानमनसो अपि क्रमेणोत्पद्यते इति प्रतीयते ।
अतस्सर्वस्य साक्षाद्ब्रह्मण एव सम्भवस्योक्तम्भनमिदंवाक्यं न भवतीति
चेत्-तन्न, अविशेषात् ४“एतस्माज्जायते प्राणः” इत्यनेनाविशेषात् । विज्ञा-
नमनसोः स्वादीनां च ४“एतस्माज्जायते” इत्यनेन साक्षात्सम्भवरूपसम्भ-

न्धस्याभिधेयस्य सर्वेषां प्राणादिप्रथिव्यन्तानामविशिष्टत्वात्स एव विधे-
यः, न क्रमः । भुत्यन्तरसिद्धक्रमविरोद्धाच्च नेदं क्रमपरम्, १“प्रथिव्यप्सु
प्रलीयते” इत्यारभ्य “तम... एकीभवति” इत्यन्तेन क्रमान्तरप्रतीतेः । अतो-
ऽव्यक्तादिशरीरकात्परस्माद्ब्रह्मण एव सर्वकार्याणामुत्पत्तिः । तेजःप्रभृतयश्च
शब्दास्तदात्मभूतं ब्रह्मैवाभिदधति ॥ २६ ॥

नन्देवं सर्वशब्दानां ब्रह्मवाचित्वे सति तैस्तैश्शब्दैः तत्तद्वस्तुव्यप-
देशो व्युत्पत्तिसिद्धय उपरुद्धयेतः ; तत्राह-

चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तद्व्यपदेशोभाक्तस्तद्भाव-
भावित्वात् । २ । ३ । १७ ॥

तुशब्दधोविताशब्दानियुत्तरर्थः, निखिलजङ्गमस्वाचरव्यपाश्रयस्त-
त्तद्व्यपदेशः भाक्तः-वाच्यैकदेशे भज्यत इत्यर्थः, समस्तवस्तुप्रका-
रिणो ब्रह्मणः प्रकारभूतवस्तुमादिप्रत्यक्षादिप्रमाणाविषयत्वाद्देवान्तभव-
गात्प्राक्प्रकार्यप्रतीतेः, प्रकारिप्रतीतिभावभावित्वाच्च तत्पर्यवसानस्य, लोके
तत्तद्वस्तुमात्रे वाच्यैकदेशे तेते शब्दाः भङ्क्त्वाभङ्क्त्वा व्यपदिश्यन्ते ।
अथवा तेजःप्रभृतिभिरशब्दैस्तत्तद्वस्तुमात्रवाचितया व्युत्पन्नैर्ब्रह्मणो व्य-
पदेशो भाक्तस्स्यात्-अमुख्यस्यादित्याशङ्क्य-चराचरव्यपाश्रयस्तु-इ-
त्युच्यते । चराचरव्यपाश्रयः तद्व्यपदेशः-तद्वाचिशब्दः, चराचरवाचिश-
ब्दो ब्रह्मण्यभाक्तः मुख्य एव; कुतः?, ब्रह्मभावभावित्वात्सर्वशब्दानां वा-
चकभावस्य; नामरूपव्याकरणभृत्या हि तथाऽवगतम् ॥ १७ ॥

इति भीशारीरकमीमांसाभाष्ये तेजोभिकरणम् ॥ २ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये आत्माधिकरणम् ॥ ३ ॥)

नात्मा श्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः । २ । ३ । १८ ॥

वियदादेः कृत्स्नस्य परस्माद्ब्रह्मण उत्पत्तिरुक्ता । इदानीं जीवस्याप्युत्पत्तिरस्ति नेति संशय्यते; किं युक्तम् ? अस्तीति, कुतः, एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञोपपत्तेः, प्राक्सृष्टेरेकत्वावधारणाच्च । वियदादेरिव जीवस्याप्युत्पत्तिर्वादिन्यः भुतयश्च सन्ति-१“यतः प्रसूता जगतः प्रसूती तोयेन जीवान् व्यससर्ज भूम्याम्”२“प्रजापतिः प्रजा असृजत”३“सन्मूलास्सोम्येमास्सर्वाः प्रजास्सदायतनास्सत्प्रतिष्ठाः”,४“यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते”, इति । एवं सचेतनस्य जगत उत्पत्तिवचनात् जीवस्याप्युत्पत्तिः प्रतीयते । नच बाह्यं-ब्रह्मणो नित्यत्वात् तत्त्वमस्यादिभिश्च जीवस्य ब्रह्मत्वावगमाज्जीवस्य नित्यत्वम्-इति ५ “ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्, ६ “सर्वं खल्विदं ब्रह्म”, इत्येवमादिभिर्वियदादेरपि ब्रह्मत्वावगमात्तस्यापि नित्यत्व-प्रसङ्गेः । अतो जीवोपि वियदादिवदुत्पन्न इति ॥

(सिद्धान्तः)

एवं प्राप्तेऽभिधीयते-नात्मा भूते-इति । नात्मोत्पत्तेः कुतः ? भूतेः ७ “न जायते म्रियते वा विपश्चित्”, ८ “शास्त्रं द्वायजौ”, इत्यादिभिर्जीवस्योत्पत्तिप्रतिषेधो हि भूयते । आत्मनो नित्यत्वं च ताभ्यः-भूतिभ्य एवागम्यते ९ “नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको यहूनां यो विदधानि कामान्”, १० “अजो नित्यश्शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे, इत्यादिभ्यः । अतश्च

१. मै. आभ. १-१ ॥

२. यत्र. २-अष्ट ॥

३. छा. ६-८-४ ॥

४. मै. आन. ॥

५. छा. ६-८-७ ॥

६. छा. ३-१४-१ ॥

७. कठ. २-१८ ॥

८. श्वे. १-६ ॥

९. श्वे. ६-१३ ॥

नात्मोत्पद्यते । कथं तर्हि कविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञोपपद्यते; इत्थमुपपद्यते-
जीवस्यापि कार्यत्वात्कार्यकारणयोरनन्यत्वाच्च । एवं तर्हि वियदादिबहु-
त्पत्तिमत्त्वमङ्गीकृतं स्यात्; नेत्युच्यते-कार्यत्वं हि नामैकस्य द्रव्यस्यावस्था-
न्तरापत्तिः, तज्जीवस्याप्यस्त्येव । इयांस्तु विशेषः वियदादेरचेतनस्य
यादृशोऽन्यथाभावो न तादृशो जीवस्य ज्ञानसङ्कोचविकासलक्षणो जी-
वस्यान्यथाभावः; वियदादेस्तु स्वरूपान्यथाभावलक्षणः । सेयं स्वरू-
पान्यथाभावलक्षणोत्पत्तिर्जीवे प्रतिपिष्यते । एतदुक्तं भवति—भोग्य-
भोक्तृनियन्तृन् वियक्तस्यभावान् प्रतिपाद्य भोग्यगतमुत्पत्त्यादिकं, भो-
क्तरे प्रतिपिष्य तस्य नित्यतां च प्रतिपाद्य भोग्यगतमुत्पत्त्यादिकं,
भोक्तृगतं चापुरुषार्थाभ्यर्थं नियन्तरि प्रतिपिष्य तस्य नित्यत्वं, नि-
रवशत्वं सर्वदा सर्वज्ञत्वं, सत्यसङ्कल्पत्वं, करणाधिपाधिपत्वं, विश्वस्य
पतित्वं, च प्रतिपाद्य सार्थावस्थयोश्चिदचितोस्तं प्रति शरीरत्वं तस्य चा-
त्मत्वम्, प्रतिपादितम्; अतस्सर्वदा चिदचिद्वस्तुतया तत्प्रकारं ब्रह्म;
तत्कदाचित्स्वस्माद्विभक्तव्यपदेशानर्हान्तिसूक्ष्मदशापन्नचिदचिद्वस्तु शरीरं
तिष्ठति; तत्कारणावस्थं ब्रह्म । कदाचिच्च विभक्तनामरूपस्थूलचिदचि-
द्वस्तुशरीरम्; तच्च कार्यावस्थम् । तत्र कारणावस्थस्य कार्यावस्थापत्ता-
यचिदंशस्य कारणावस्थायां शब्दादिविहीनस्य भोग्यत्वाय शब्दादिम-
त्तया स्वरूपान्यथाभावरूपविकारो भवति । चिदंशस्य च कर्मफलवि-
शेषभोक्तृत्वाय तदनु रूपज्ञानविकासरूपविकारो भवति । उभयप्रकार-
विशिष्टे नियन्त्रंशे तदवस्थतदुभयविशिष्टतारूपविकारो भवति; कार-
णावस्थायां अवस्थान्तरापत्तिरूपो विकारः प्रकारद्वये प्रकारिणि च
ममानः । अत्र एवैकस्यावस्थान्तरापत्तिरूपविकारापेक्षया १“येनाश्रुतं
भूतम्” इत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञाय मुदादिदृष्टान्तो २“यथा
मोम्यैकेन” इत्यादिना निदर्शितः । ईदृशज्ञानसङ्कोचविकासकरनत्तदेह-
मस्यन्धवियोगाभिप्रायाः जीवस्योत्पत्तिमरणवादिन्यः, १“प्रजापतिः प्रजा

असृजत" इत्याशाः भुतयः । अविदंशवत्स्वरूपान्यथात्वाभावाभिप्राया उत्पत्तिप्रतिषेधवादिन्यो नित्यत्ववादिन्यश्च १ "न जायते म्रियते" इत्याशाः, २ "नित्यो नित्यानाम्" इत्याशाश्च भुतयः । स्वरूपान्यथात्वज्ञानसङ्कोचविकासरूपोभयविधानिष्ठविकाराभावाभिप्रायाः ३ "सवा एष महा-नज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतो ब्रह्म" ४ "नित्यो नित्यानाम्" इत्याशाः परविषयाः भुतयः । एवं सर्वदा चिद्विद्वस्तुविशिष्टस्य ब्रह्मणः प्राक्मृष्टरेकत्वावधारणं च नामरूपविभागाभावादुपपद्यते । ५ "तद्धेदं तर्ह्यव्याकृत-मासीत्तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत इति हि नामरूपविभागभावाभावाभ्यां नानात्वैकत्वे वदति-इति । ये त्वविणोपाधिकं जीवत्वंवदन्ति, ये च पारमार्थिकोपाधिकृतम्, ये च सन्मात्रस्वरूपं ब्रह्म स्वयमेव भोक्तृभोग्यनियन्तृरूपं-ण त्रिधाऽवस्थितं वदन्ति; सर्वेऽप्येते अविनाशक्तेरुपाधिशक्तेर्भोक्तृभोग्य-नियन्तृशक्तीनां च प्रलयकालेऽवस्थानेऽपि तदानीमेकत्वावधारणं नाम-रूपविभागाभावादवोपपादयन्ति । ६ "वैषम्यनैष्टु" एवे न सापेक्षत्वात् ७ "न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वादुपपद्यते चाप्युपलभ्यते च,, इति मृत्वाभ्यां जीवभेदस्य तत्कर्मप्रवाहस्य नानादित्वाभ्युपगमाच्च । इयान्विशेषः-एक-स्यानागविगया ब्रह्म स्वयमेव मुच्यति, अन्यस्य पारमार्थिकानामुपाधिना ब्रह्मस्वरूपमेव वध्यते, उपाधिब्रह्मव्यतिरिक्त्यस्यन्तराभावात् । अपरस्य ब्रह्मैव विविधकारणं परिणमते, कर्मफलानि चानिष्टानि भुङ्क्ते, नियन्त्र-शस्य भोक्तृत्वाभावेऽपि सर्वज्ञत्वात्स्वस्मादभिन्नं भोक्तारमनुसंधातोनि स्वयमेव भुङ्क्ते; अस्माकं तु स्थूलसूक्ष्मावस्थचिद्विद्वस्तुशरीरं ब्रह्म कार्य-कारणोभयावस्थावस्थितनपि सर्वदा निरन्तनिश्चिदवोपगन्धं मत्स्यमङ्ग-ल्पस्त्राणपरिभितोद्धारगुणसागरमवतिष्ठते । प्रकारभूतचिद्विद्वस्तुगनाः अ-पुरुषार्थाः स्वरूपान्यथाभावाच्चेति सर्वं समञ्जसम् ॥ १८ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये आत्माधिकरणम् ॥ ३ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये ज्ञाधिकरणम् ॥ ४ ॥)

ज्ञोऽत एव । २ । ३ । १९ ॥

वियथादिवज्जीवो नोत्पद्यत इत्युक्तम्, तत्प्रसङ्गेन जीवस्वरूपं नि-
रूप्यते । किं सुगतकपिलाभिमतचिन्मात्रमेवात्मनस्वरूपम् । उत कण-
भुगभिमतपापाणुकल्पस्वरूपमचित्स्वभावमेवागन्तुकचैतन्यगुणकम् ; अथ
ज्ञातृत्वमेवास्य स्वरूपमिति । किंयुक्तम् ? चिन्मात्रमिति ; कुतः तथा
श्रुतेः । अन्तर्यामिणाद्येष्टि १“ य आत्मनि तिष्ठन् ” इति माध्यन्दि-
नीयपर्यायस्य स्थाने १“ यो विज्ञाने तिष्ठन् ” इति काण्वा अधीयते ।
तथा २“ विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपिच ” इति कर्तुरात्मनो विज्ञा-
नमेव स्वरूपं भूयते । स्मृतिषु च १“ ज्ञानस्वरूपमत्यन्तनिर्मलं परमार्थतः ”
इत्यादिष्वात्मनो ज्ञानस्वरूपत्वं प्रतीयते । अपरस्तु-जीवात्मनो ज्ञानत्वे-
ज्ञातृत्वे च आभाषिकेऽभ्युपगम्यमाने तस्य सर्वगतस्य सर्वदा सर्वत्रो-
पलक्षिप्रसङ्गान्, करणानां च वैयर्थ्यात्, सुषुप्तिमूर्च्छादिषु सतोऽप्यात्मन-
श्चैतन्यानुपलक्ष्येर्जाप्रतस्सामग्र्यां सत्यां ज्ञानोत्पत्तिदर्शनादस्य न ज्ञानं
स्वरूपम् ; नापि ज्ञातृत्वम् ; आगन्तुकमेव चैतन्यम् ; सर्वगतत्वं चात्मनो-
ऽवस्थाभ्युपेत्यम्, सर्वत्र कार्योपलक्ष्येः सर्वत्रात्मनस्सन्निधानाभ्युपग-
माच्छरीरगमनेनैव कार्यसम्भवे सति गतिकल्पनायां प्रमाणाभावाच्च ।
भूतिरपि सुषुप्तिवेलायां ज्ञानाभावं दर्शयति—४“ नाहं स्वल्पयमेवं स-
म्प्रत्यात्मानं ज्ञानात्ययमहमस्मीति नो ज्ञेयमानि भूतानि ” इति । तथा मो-
क्षश्रयाणां ज्ञानाभावं दर्शयति—२“ न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति ” इति । ३“ ज्ञानस्व-
रूपम् ” इत्यादिप्रयोगस्तु ज्ञानस्य तदसाधारणगुणत्वेन साक्ष्येणैव इति ॥

एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे-ज्ञोऽत एव-ज्ञ एव-अयमात्मा ज्ञातृत्वस्वरूप एव,
न ज्ञानमात्रम्, नापि जडस्वरूपः ; कुतः ? अन एव-भूतरेवेत्यर्थः । “ ना-

१. बृ. ४-३-२२ ॥—२. तै. आन. २-१॥—३. वि. पू. १-चं. २-स. ६-१॥

—४. मु. २-११-२ ॥—५. बृ. ६-४-१३ ॥

त्मा भुतेः" इति प्रकृता भुतः अन इति शब्देन परामृश्यते । तथा छान्दोग्यं प्रजापतिवाक्ये मुक्तामुक्तात्मस्वरूपकथने १ "अथ यो वेदेदं जिघ्राषोति स आत्मा" २ "मनसैर्वेतान् कामान् पर्यन्नमते य एते ब्रह्मलोके" ३ "सत्यकामस्तस्य सङ्कल्पः" ४ "नोपजनं स्मरन्निदं शरीरम्" अन्यत्रापि ५ "न परयो मृत्युं पर्यति" तथा वाजसनेयके ६ "कतम आत्मा" इति पृष्ट्वा ७ "योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु ब्रह्मन्तर्ज्योतिः पुरुषः" इति तथा ८ "विज्ञाता रमरे केन विजानीयात्" ९ "जानायेवायं पुरुषः" तथा १० "एष हि प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः" ११ "एष मेवास्य परिद्रष्टुरिमाप्नोडशकलाः" ॥ इति १२ ॥

यत्तत्कं ज्ञातृत्वे न्याभाविके सति सर्वगतस्य तस्य सर्वदा सर्वत्रोपलब्धिः प्रसज्यते इति ; तत्रोच्यते -

उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् । २ । ३ । २० ॥

नायं सर्वगतः, अपित्वणुरेवायमात्मा ; कुतः ? उत्क्रान्ति गत्यागतीनां भुतेः ; उत्क्रान्तिस्तावच्छ्रूयते १२ तेन प्रशोतेनैव आत्मा निष्कामति चक्षुषो वा मूर्ध्ना वाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः" इति । गतिरपि १३ "यै केचास्माल्लोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति" इति आगतिरपि १४ "तस्माल्लोकान् पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे" इति । विभुत्वे श्रोता उत्क्रान्त्यादयो नोपपद्येरन् ॥ २० ॥

स्वात्मना चोत्तरयोः । २ । ३ । २१ ॥

च शब्दोऽवधारणे । यद्यपि शरीरवियोगरूपत्वेनोत्क्रान्तिः स्थि-

१. घृ. ५-३-२२ ॥ — २. छा. ८-१२-४ ॥ — ३. छा. ८-३-१ ॥

४. छा. ८-१२-३ ॥ — ५. छा. ७-२६-२ ॥ — ६. उ. ६-३-७ । — ७. घृ. ६-२-१५ ॥ — ८ ॥ १०. प्रश्न. ४-६ ॥ — ११. प्रश्न. ६-६ ॥ — १२. घृ. ६-४-२॥

१३. कोपी. १-१ ॥ — १४. घृ. ६-४-६ ॥

तस्याप्यात्मनः कथंचिदुपपद्यते; गत्यागती तु न कथंचिदुपपद्येते । अत-
स्ते स्यात्मनैव सम्पाद्ये ॥ २१ ॥

नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात् २।३।२२॥

१. 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' इति जीवं प्रस्तुत्य २. 'स या एष
महानज आत्मा' इति महत्त्वश्रुतेः नाणुर्जीव इति चेन्न; इतराधिका-
रात्-जीवादितरस्य प्राज्ञस्य तत्राधिकारात्; यद्यप्युपक्रमे जीवः प्रस्तुतः,
तथापि ३. 'यस्यानुविष्टः प्रतिबुद्ध आत्मा' इति मध्ये परः प्रतिपाद्यत
इति तत्सम्बन्धीदं महत्वम्; न जीवस्य ॥ २२ ॥

स्वशब्दोन्मानाभ्यांच । २ । ३ । २३ ॥

साक्षादणुशब्द एव श्रूयते ४. 'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो
यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संघिवेश' इति; उद्धृत्य मानमुन्मानम्; अणुसदृशं
यस्तुद्धृत्य तन्मानत्वं जीवस्य श्रूयते ५. 'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पि-
तस्य च । भागो जीवस्स विज्ञेयः' इति; ६. 'आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः'
इतिच । अतोऽणुरेवायमात्मा ॥ २३ ॥

अथ स्यान्-आत्मनोऽणुत्वे सकलशरीरव्यापिनी वेदना नोपप-
द्यत इति; तत्र मतान्तरेण परिहारमाह—

अविरोधश्चन्दनवत् । २ । ३ । २४ ॥

यथा हरिचन्दनविन्दुर्देहदेशवर्त्यपि सकलदेहव्यापिनमाह्लावं
जनयति, तद्वदात्माऽपि देहदेशवर्ती सकलदेशवर्तिनी वेदनामनुभवति ॥

अवस्थितिर्वैशेष्यादिति चेन्नाभ्युपगमा-

द्धृदिहि । २ । ३ । २५ ॥

१. घ. १-१ ७ ॥—२. घ. १-४-२२ ॥—३. घ. १-४-१३ ॥—४. सु.
३-१-६ ॥—५. खे. १-६ ॥—६. खे. १. ६ ॥

हरिचन्दनविन्दादेर्देहदेशविशेषस्थितिविशेषात्तथाभायः, आत्म-
नस्तु तन्न विद्यत इति चेन्न, आत्मनाऽपि देहदेशविशेषे स्थित्यभ्युपगमात्;
हृदयदेशे ह्यात्मनः स्थितिः भूयते १ “हृदि ह्ययमात्मा तत्रकशतं नाडानाम्”
इति; तथा २ “कृतम आत्मा” इति प्रकृत्य २ “योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु
दृश्यन्तर्न्योतिः” इति । आत्मनो देशविशेषस्थितिख्यापनाय चन्दन-
दृष्टान्तः प्रदर्शितः; न तु चन्दनस्य देशविशेषापेक्षा ॥ २५ ॥

एकदेशवर्तिनस्तत्कलदेहव्यापिकार्यकरत्वप्रकारं स्वमतेनाह—

गुणाद्वाऽऽलोकवत् । २ । ३ । २६ ॥

याशब्दो भवान्तरव्यावृत्त्यर्थः; आत्मा स्वगुणेन ज्ञानेन सकल-
देहं व्याप्यावस्थितः; आलोकवत्-यथा मणिश्चमणिप्रभृतीनामेकदेशव-
र्तिनामालोकोऽनेकदेशव्यापी दृश्यते, तद्वद्दृश्यस्वस्थाऽत्मनो ज्ञानं सकल-
देहं व्याप्य वर्तते; ज्ञातुः प्रभास्थानीयस्य ज्ञानस्य स्वाभयाद्व्यत्र वृत्ति-
र्मणिप्रभावदुपपद्यत इति प्रथमसूत्रे स्थापितम् ॥ २६ ॥

ननक्तं ज्ञानमात्रमेवात्मेति; तत्कथं ज्ञानस्य स्वरूपव्यतिरिक्तगु-
णत्वमुच्यते; अत्र—

व्यतिरेको गन्धवत्तथा च दर्शयति । २ । ३ । २७ ॥

यथा पृथिव्याः गन्धस्य गुणत्वेनोपलभ्यमानस्य ततो व्यतिरेकः,
तथा जानामीति ज्ञातृगुणत्वेन प्रतीयमानस्य ज्ञानरथाऽत्मनो व्यतिरेक-
स्तिद्वयः; दर्शयति च भूतिः २ “जानात्येवायं पुरुषः” इति ॥ २७ ॥

पृथगुपदेशात् । २ । ३ । २८ ॥

स्वशब्देनैव ज्ञानं विज्ञातुः पृथगुपदिश्यते ४ “नहि विज्ञातुर्विज्ञानं
विपरिलोपो विद्यते” इति ॥ २८ ॥

यत्तूक्तं १“यो विज्ञानं तिष्ठन्” २ विज्ञानं यत् तनुते” ३“ज्ञानस्वरूपमत्यन्तनिर्मलम्” इत्यादिषु ज्ञानमेवात्मेति व्यपदिश्यत इति, तत्राह—

तद्गुणसारत्वात् तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् । २।३।२९॥

तुराब्दश्रवणं व्यावर्तयति, तद्गुणसारत्वात्-विज्ञानगुणसारत्वात् आत्मनो विज्ञानमिति व्यपदेशः । विज्ञानमेवास्य सारभूतो गुणः, यथा प्राज्ञस्यानन्दसारभूतो गुण इति प्राज्ञ आनन्दशब्देन व्यपदिश्यते-“य-
त्रैव आकाश आनन्दो न स्यात्” ५ “आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्” इति; प्राज्ञस्य ज्ञानन्दसारभूतो गुणः-“६ स एको ब्रह्मण आनन्दः” “आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चन” इति । यथावा ८“सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म” इति विपश्चितः प्राज्ञस्य ज्ञानशब्देन व्यपदेशः-“सह ब्रह्मणा विप-
श्चिता” ६ “यस्तत्त्वज्ञः” इत्यादिषु प्राज्ञस्य ज्ञानं सारभूतो गुण इति विज्ञायते ॥

यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात् । २।३।३०॥

विज्ञानस्य यावदात्मभावधर्मत्वात्तेन तद्व्यपदेशो न दोषः; तथाच स्वच्छादयो यावरस्वरूपभाविगोत्वादिधर्मशब्देन गौरिति व्यपदिश्यमाना दृश्यन्ते; स्वरूपनिरूपणधर्मत्वादित्यर्थः । चकारात् ज्ञानवदात्मनोऽपि स्व-
प्रकाशत्वेन विज्ञानमिति व्यपदेशो न दोष इति समुच्चिनोति ॥ ३० ॥

यद्योक्तं सुषुप्त्यादिषु ज्ञानाभावात् ज्ञानस्य न स्वरूपानुबन्धिधर्म-
त्वमिति, तत्राह—

पुंस्त्वादिवत्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात् । २।३।३१॥

तुराब्दश्रवणविज्ञानादिषु तत्त्वार्थः । अस्य-ज्ञानस्य सुषुप्त्यादिष्वपि वि-

१. वृ. ४-७-१२ ॥ २. तै. आन. २-१ ॥ ३. वि. पु. १-२-६ ॥
४. तै. आन. ७-१ ॥ ५. तै. भू. ५-१ ॥ ६. तै. आन. ८-४ ॥ ७. तै.
आन. ४-१ ॥ ८. तै. आन. १-१, २ ॥ ९. सु. १-१-४ ॥

यमानस्य जागर्यादिष्वभिव्यक्तिसम्भवात्स्वरूपानुबन्धिधर्मत्वापपत्तिः;
 पुंस्त्वादिवत्-यथा पुंस्त्वाद्यसाधारणस्य धातोर्धात्यावस्थायां सनोऽव-
 नभिव्यक्तस्य युवत्वेऽभिव्यक्तौ पुंमस्तद्वत्ता न कादाचित्की भवति । सप्त-
 धातुमयत्वं हि शरीरस्य स्वरूपानुबन्धि-१ "तत्सप्तधातु त्रिमलं द्विधोनि
 चतुर्विधाहारमयं शरीरम्" इति शरीरस्वरूपव्यपदेशात् । सुषुप्त्यादिष्वप्य-
 हर्मथः प्रकाशत इति प्रागेवोक्तम् । तस्य निगमानस्य ज्ञानस्य विषयगोच-
 रत्वं जागर्यादावुपलभ्यते; एते चात्मनो ज्ञातृत्वादयो धर्माः प्रागेवोपपा-
 दिताः । अतो ज्ञातृत्वमेव जीवात्मनः स्वरूपम् । स चायमात्माऽणुपरिमाण
 २ "न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति" इत्यपि न मुक्तस्य ज्ञानाभावात् उच्यते; अपितु २ "एतं
 भ्योभूतेभ्यस्समुत्थायतान्येयानुविनश्यति" इतिसंसारदशायां यद्भूतानु-
 विधायित्वप्रयुक्तं जन्मनाशादिदर्शनम्, तन्मुक्तस्य न विद्यते ३ "न पश्यां
 मृत्युं पश्यति न रोगं नोत्त दुःखताम् । सर्वं हि पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति
 सर्वशः" ४ "नोपजन् स्मरन्निदं शरीरम्" ५ "मनसैतान् कामान् पश्य-
 जतते" इत्यादिश्रुत्यैकाग्र्यान् ॥ ३१ ॥

सम्प्रति ज्ञानात्मवादे तस्य सर्वगतत्वे रूपणमाह—

नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गोऽन्यतरनियमो वा-
 न्यथा । २ । ३ । ३२ ॥

अन्यथा सर्वगतत्वपक्षे तस्य ज्ञानमात्रत्वपक्षे च नित्यमुपलब्ध्यनु-
 पलब्धी सहैव प्रसज्येयाताम् ; अन्यतरनियमो वा-उपलब्धिरेव वा नि-
 त्यं स्यात्, अनुपलब्धिरेव वा । एतदुक्तं भवति-लोकं तावद्वर्तमानयोर-
 त्मोपलब्ध्यनुपलब्ध्योरयं ज्ञानात्मा सर्वगतो हेतुस्स्यात् उपलब्धेरेव वा,
 अनुपलब्धेरेव वा; उभयहेतुत्वे सर्वदा सर्वत्रोभयं प्रसज्येत; यद्युपलब्धेरेव,
 सर्वस्य सर्वदासर्वत्रानुपलम्भो न स्यात् । अथानुपलब्धेरेव, सर्वदा सर्व-

१. ॥ २. वृ. ४-४-१२ ॥ ३. वा. ७-२१-२ ॥ ४. वा. ८-११-२ ॥

५. वा. ८-१२-५ ॥

त्रोपलब्धिर्न स्यात्-इति । अस्माकं शरीरस्यान्तरेयावस्थितत्वादात्मनस्त-
त्रैवोपलब्धिर्नान्यत्रेति व्ययस्थासिद्धिः । करणायतोपलब्धेरपि सर्वेषा-
मात्मनां सर्वतत्त्वेन सर्वैः करणैस्सर्वदा संयुक्तत्वाददृष्टादेरप्यनियमा-
दुक्तदोषस्समानः ॥ ३२ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये ज्ञाधिकरणम् ॥ ४ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये कर्त्रधिकरणम् ॥ ५ ॥)

कर्ता शास्त्रार्थवत्वात् । २ । ३ । ३३ ॥

अयमात्मा ज्ञाता, स चाणपरिमाण इत्युक्तम्; इदानीं किं स एव
कर्ता; उत स्वयमकर्तृव सन्नचेतनानां गुणानां कर्तृत्वमात्मन्यप्यस्यतीति
चिन्त्यते । किं युक्तम्, अकर्तृत्वात्मेति । कुतः ? आत्मनो ह्यकर्तृत्वम्, गु-
णानामेव च कर्तृत्वमप्यात्मशास्त्रेषु भूयते । तथाहि कठयल्लीपु जीवस्य "न
जायते म्रियते" इत्यादिना जन्मजयमरणदिकं सर्वं प्रकृतिधर्म प्रतिपि-
प्य हननादिषु क्रियासु कर्तृत्वमपि प्रतिपिष्यते-२ "हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं
हनर्भेन्मन्यते हतम् । उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते" इति ।
हन्तारमात्मानं जानन्न जानात्यात्मानमित्यर्थः । तथा च भगवता स्वय-
मेव जीवस्याकर्तृत्वं स्वरूपम्, कर्तृत्वाभमानस्तु व्यामोह इत्युच्यते—
१ "प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः । अहङ्कारविमूढात्मा क-
र्ताऽहमिति मन्यते" ३ "नान्य गुणेष्वयःकर्तारं यदा द्रष्टाऽनुपश्यति" ' का-
र्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते । पुरुषस्मुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतु-
रन्यते" इति च । अतः पुरुषस्य भोक्तृत्वमेव, प्रकृतेरेव तु कर्तृत्वम् इति

१. कठ-२-१८ ॥—२. कठ २-१६ ॥—३. गी. ३-२७ ॥—४. गी. १४-
१३ ॥—५. गी. १३-२० ॥

(सिद्धान्तः)

एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे- कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वान्-इति । आत्मैव कर्ताः न गुणाः, कस्मान् ? शास्त्रार्थवत्त्वान् । शास्त्राणि हि 'यजेत स्वर्गकामः' 'मुमुक्षुर्ब्रह्मोपासीत' इत्येवमादीनि स्वर्गमोक्षादिफलस्य भोक्तारमेव कर्तृत्वे नियुज्यते, न ह्यचेतनस्य कर्तृत्वेऽन्यो नियुज्यते । शासनाच्च शास्त्रम् ; शासनं च प्रवर्तनम् ; शास्त्रस्य च प्रवर्तकत्वं बोधजननद्वारेण, अचेतनं च प्रधानं न योगयितुं शक्यम् । अतः शास्त्राणामर्थवन्त्वं भोक्तुञ्चेतनस्यैव कर्तृत्वे भवेत् । तदुक्तं १ "शास्त्रफलं प्रयोक्तारि" इति । यदुक्तं २ "हन्ता चेन्मन्यते" इत्यादिना हननक्रियायामकर्तृत्वमात्मनः श्रूयते इति ; तदात्मनो नित्यत्वेन हन्तव्यत्वाभावादुच्यते । यत्र ३ "प्रकृतेः क्रियमाणानि" इत्यादिना गुणानामेव कर्तृत्वं स्मर्यते इति ; तत्सांसारिकप्रवृत्तिष्वस्य कर्तृता सत्त्वरजस्तमोगुणसंसर्गकृता; न स्वरूपप्रयुक्तेति प्राप्ताप्राप्ताविवेकेन गुणानामेव कर्तृतेत्युच्यते । तथाच तत्रैवोच्यते ४ "कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदस्यो निजन्मसु" इति । तथा तत्रैवात्मनश्च कर्तृत्वमभ्युपेत्योच्यते ५ "तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः । परयत्यकृतबुद्धित्वाच्च स पश्यति दुर्मतिः" इति । ६ "अभिप्रायं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् । विधिधा च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्" इत्यभिप्रायानादिदेवपर्यन्तसापेक्षे सत्यात्मनः कर्तृत्वे य आत्मानमेव केवलं कर्तारं मन्यते, न स परयतीत्यर्थः ॥ ३३ ॥

उपादानाद्विहारोपदेशाच्च । २ । ३ । ३४ ॥

७ "स यथा महाराजः" इति प्रकृत्य, ८ "एवमेवैष एतान् गृह्णत्वा स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते" इति प्राणानामुपादाने विहारे च कर्तृत्वमुपदिश्यते ॥ ३४ ॥

१० पुर्वमीमांसाध्यायः ॥—२. कठ, २-१६ ॥—३ गी ३-२७ ॥

४. गी, १६-२१ ॥—५, गी, १८-१६ ॥—६, गी, १८१ ४ ॥—७, वृ, ४-१ १८ ॥

यथा च तदोभयथा । २ । ३ । ३९ ॥

धागादिकरणसम्पन्नोऽप्यात्मा यदेच्छति, तदा करोति यदा तु
नेच्छति, तदा न करोति; यथा तत्रा वास्यादिकरणसन्निधानेऽपि इच्छा-
नुगुण्येन करोति, न करोति च । बुद्धेस्त्वचेतनायाः कर्तृत्वे तस्याः भा-
गवाञ्छादिनियमकारणाभावात्सर्वदा कर्तृत्वमेव स्यात् ॥ ३६ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये कर्त्रधिकरणम् ॥ ५ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये परायत्ताधिकरणम् ॥ ६ ॥)

परात्तुतच्छ्रुतेः । २ । ३ । ४० ॥

इदं जीवस्य कर्तृत्वं किं स्वातन्त्र्येण ? उत परमात्मायत्तमिति ।
किं प्राप्तम् ? स्वातन्त्र्येणेति । परमात्मायत्तत्वे हि विधिनिषेधशास्त्रानर्थ-
क्यं प्रसज्येत । यो हि स्वबुद्ध्या प्रवृत्तिनिवृत्त्यारम्भशक्तः; स एव नि-
योज्यो भवति । अतः स्वातन्त्र्येणास्य कर्तृत्वम् ॥

(सिद्धान्तः)

उति प्राप्तेऽभिधीयते—परात्तुतच्छ्रुतेः—इति । तत्राहः पक्षं व्याव-
र्तयति; सत्-कर्तृत्वं अस्य—जीवस्य परान-परमात्मन एव हेतोर्भवति,
कुतः श्रुतेः—१ “ अन्तः प्रविष्टशशस्त्रा जनानां सर्वात्मा ” २ “ य
आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरं यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मा-
नमन्तरं यमवति स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ” इति । स्मृतिरपि ३ “ स
र्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिः ज्ञानमपोहनं च ” ४ “ ईश्वरस्य
वर्भूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति । भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ”
इति ॥ ४० ॥

१. तै. आरण्य. ३-११-१० ॥—२. बु. ४-७-२२ ॥—३. गी. १५-१५ ॥

४. गी. १८-६१ ॥

नन्वेवं विधिनिषेधशास्त्रानर्थक्यं प्रसज्येतेत्युक्तम् ; तत्राह—

कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः ।

२ । ३ । ४१ ॥

सर्वासु क्रियासु पुरुषेण कृतं प्रयत्नम् उद्योगमपेक्ष्यान्तर्यामी परमात्मा तदनुमतिदानेन प्रवर्तयति । परमात्मानुमतिमन्तरेणास्य प्रवृत्तिर्नोपपद्यत इत्यर्थः । कुत एतत् ? विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः—आदिशब्देनानुग्रहनिग्रहादयो गृह्यन्ते । यथा द्वयोस्ताधारणे धने परस्वत्वापादनमन्यतरानुमतिमन्तरेण नोपपद्यते ; अथापीतरानुमतेः स्वेनैव कृतमिति तत्फलं स्वस्यैव भवति । पापकर्मसु निवर्तनशक्तस्याप्यनुमन्तृत्वं न निर्दयत्वमावहतीति साक्ष्यसमर्थनरूपेण प्रतिपादितम् नन्वेवम् १ “एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमंभ्यो लोकेभ्य उन्निनीपति एष एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीपति ” इत्युन्निनीपयाऽधोनिनीपया च स्वयमेव साध्वसाधुनी कर्मणी कारयतीत्येतन्नोपपद्यते । उच्यते—एतन्न सर्वसाधारणम्, यस्त्वतिमात्रपरमपुरुषानुकूल्ये व्यवस्थितः प्रवर्तते ; तमनुगृह्णन् भगवान् स्वयमेव स्वप्राप्त्युपायेष्वतिकल्याणेषु कर्मस्वेव रुचिं जनयति । यश्चातिमात्रप्रातिकूल्ये व्यवस्थितः प्रवर्तते ; तं निगृह्णन् स्वप्राप्तिविरोधिष्वधोगतिसाधनेषु कर्मसु रुचिं जनयति । यथोक्तं भगवता स्वयमेव १ “अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तस्सर्वं प्रवर्तते । इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ” इत्यारभ्य ४ “तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् । ददामि बुद्धियोगं तंयेन मामुपयान्तिते” ५ “तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः नाशयाम्यामभावस्थो ज्ञानदापेन भास्वता” इति । तथा १ “असत्यमप्रतिष्ठं

१. कौषी. ३-६ ॥—२. तं स्वप्राप्तिविरोधिषु अधोगतिसाधनेषु कर्मसु सज्जयति. पा ॥—३. गी. १०-८ ॥—४. गी. १०-१०, ११ ॥—५. गी. ११-८ ॥

ते जगदादुरनीश्वरम्" इत्यादि^१ "मामात्मपरदेहेषु प्रद्विपन्तोऽभ्यसूयकाः" इत्यन्तमुक्त्वा ^२ "तानहं द्विपतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् । विषाम्य-जलमशुभानासुरीष्वेव योनिषु" इत्युक्तम् ॥ ४१ ॥

इति श्री शारीरकमीमांसामाष्ये परायत्ताधिकरणम् ॥ १ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसामाष्ये अंशाधिकरणम् ॥ ७ ॥)

अंशो नानाव्यपदेशादन्यथाचापि दाशक्तिवादि-
त्वमधीयत एके । २ । ३ । ४२ ॥

जीवस्य कर्तृत्वं परमपुरुषायत्तमित्युक्तम् ; इदानीं किमयं जीवः परस्मादत्यन्तभिन्नः, उत परमेव ब्रह्म भ्रान्तम्, उत ब्रह्मैवोपाध्यव-च्छिन्नम्, अथ ब्रह्मांश इति संशय्यते; श्रुतिविप्रतिपत्तेस्मंशयः । ननु १ "तदनन्यन्यमारम्भणशक्तिद्वयः" २ "अधिकं तु भेदनिर्देशान्" इत्य-त्रैवायमर्थो निर्णीतः । सत्यम्, स एव नानात्वैकत्वश्रुतिविप्रतिपत्त्या आक्षिप्य जीवस्य ब्रह्मांशत्वोपपादनेन विशेषतो निर्णीयते; यावद्वि जीवस्य ब्रह्मांशत्वं न निर्णीतम्, तावज्जीवस्य ब्रह्मयोनित्वं, ब्रह्म-णस्तस्मादधिकत्वं च न प्रतितिष्ठति । किं तावत्प्राप्तम् ? अत्यन्तभिन्न इ-ति; कुतः? ३ "शाश्वौ द्वायजावीशनीशौ" इत्यादिभेदनिर्देशान् । ब्रह्मयोरभे-दश्रुतयस्तु 'अग्निना सिञ्चते' इतिवद्विरुद्धार्थप्रतिपादनादौपचारिक्यः । ब्रह्मणोऽंशो जीव इत्यापि न सार्वीयः, एकवस्त्वेकदेशवाची ह्यंशशब्दः, जीवस्य ब्रह्मैकदेशत्वे तद्गता दाया ब्रह्मणि भवेयुः । न च ब्रह्मखण्डो जीव इत्यंशत्वोपपत्तिः, खण्डनानर्हत्वादब्रह्मणः प्रागुक्तदोषप्रसङ्गाच्च । त-स्मादत्यन्तभिन्नस्य च तदंशत्वं दुरुपपाद्यम् । यथा भ्रान्तं ब्रह्मैव जीवः,

१. गी. ११-१८ ॥ २. गी. १६-१६ ॥ ३. शरी. २-१-१२ ॥

४. शारी. २-१-२२ ॥ ५. खे. १-३ ॥

कुतः ? “तत्त्वमसि” २ “अयमात्मा ब्रह्म” इत्यादिब्रह्मात्मभावोपदेशात् । नानात्वज्ञादिन्यस्तु प्रत्यक्षादिसिद्धार्थानुवादित्वादनन्यथासिद्धाद्वैतोपदेशपराभिः श्रुतिभिः प्रत्यक्षाद्य इवाधिगान्तर्गताः क्लृप्यन्ते । अथवा ब्रह्मैवानाद्युपाध्यवच्छिन्नं जीवः । कुतः, तत एव ब्रह्मात्मभावोपदेशात् । नचायमुपाधिभ्रान्तिपरिकल्पित इति वक्तुं शक्यम्, बन्धमोक्षादिव्यवस्थानुपपत्तेः—इति ॥

एवं प्राप्तेऽभिधीयते ब्रह्मांश इति । कुतः? नानाव्यपदेशात्, अन्यथा च—एकत्वेन व्यपदेशात् । उभयथाहि व्यपदेशो दृश्यते । नानात्वव्यपदेशस्तावत्सष्टत्वसृज्यत्वनियन्तृत्वनियान्यत्वसर्वज्ञत्वाज्ञत्वस्थाधीनत्वपराधीनत्वशुद्धत्वाशुद्धत्वकल्याणगुणाकरत्वतद्विपरीतत्वपतित्वशेषत्वादिभिर्दृश्यते । अन्यथाच अमेदेन व्यपदेशोऽपि १ “तत्त्वमसि” २ “अयमात्मा ब्रह्म” इत्यादिभिर्दृश्यते । अपि दाशकितवादित्वमधीयत एके ३ “ब्रह्मदाशा ब्रह्मदासा ब्रह्मे मे कितवाः” इत्याथर्वणिका ब्रह्मणो दाशकितवादित्वमप्यधीयते । ततश्च सर्वजीवव्यापित्वेनामेदो व्यपदिरयत इत्यर्थः । एवमुभयव्यपदेशमुल्यत्वसिद्धये जीवोऽयं ब्रह्मणोरा इत्यभ्युपगन्तव्यः । नच भेदव्यपदेशानां प्रत्यक्षादिसिद्धार्थत्वेनान्यथासिद्धत्वम्, ब्रह्मसृज्यत्वतन्मियान्यत्वतच्छरीरत्वतच्छेषत्वतदाधारत्वतत्पाल्यत्वतत्संहार्यत्वतदुपासकत्वतत्प्रसादलभ्यधर्मार्थकाममोक्षरूपपुरुषार्थभाक्त्वादयस्तत्कृतश्च जीवब्रह्मणोर्भेदः, प्रत्यक्षाद्यगोचरत्वेनानन्यथासिद्धः । अतो न जगत्सृष्ट्यादियादिनीनां प्रमाणान्तरसिद्धभेदानुवादेन मिथ्यार्थोपदेशपरत्वम् । नचास्वप्नैकरसचिन्मात्रस्वरूपेण ब्रह्मणा आत्मनोऽतद्भावानुसन्धानम्, बहुभवनसङ्कल्पपूर्वकवियदाविसृष्टिं, जीवभावेन तत्प्रवेशं, विचित्रनामरूपव्याकरणं, तत्कृतानन्तविषयानुभवाभिनिमित्तसुखदुःखभागित्यम्, अभोक्तृत्वेन तत्र स्थित्वा तन्मियमनेनान्तर्यामित्वं, जीवभूतस्य स्वस्य कारणब्रह्मात्मभावा-

नुसन्धानं, संसारमोक्षं, तदुपदेशशास्त्रं च कुर्वाणेन भ्रमितव्यमित्युपदि-
श्यते, तथा सत्युन्मत्तप्रलपितत्वापातान् । उपाध्ययच्छिन्नं ब्रह्म जीव इ-
त्यपि न साधीय, पूर्वनिर्दिष्टनियन्तृत्वनियाम्यत्वादिव्यपदेशाभादेव ।
नहि देवदत्तादेरेकस्यैव गुहाद्युपाधिभेदाभियन्तृनियाम्यभावादिसिद्धिः ।
अत उभयव्यपदेशोपपत्तये जीवोऽयं ब्रह्मणोऽंश इत्यभ्युपेत्यम् ॥ ४२ ॥

मन्त्रवर्णाति । २ । ३ । ४३ ॥

१ “पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यासृतं विधिः” इति मन्त्रव-
र्णाच्च ब्रह्मणोऽंशो जीवः । अंशवाचो हि पादशब्दः । १ “विश्वाभूतानि”
इति जीवानां बहुत्वाद्बहुवचन मन्त्रे, सूत्रेऽपि अंश इत्येकवचनं जात्य-
भिप्रायम् । २ “नात्माभुतेः” इत्यग्राप्येकवचनं जात्यभिप्रायम्, ३ “नित्यां
नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्” इत्यादि-
भुतिभ्य ईश्वराद्भेदस्यात्मनां बहुत्वनित्यत्ययोऽप्यभिधीयमानत्वात् । एवं
नित्यानामात्मनां बहुत्वे प्रामाण्ये सति ज्ञानस्वरूपत्वेन सर्वेषामेकरूप-
त्वेऽपि भेदकाकारः आत्मयाथात्म्यवेदनक्षमैरवगम्यते ४ “अजन्ततेऽश्ना
व्यतिकरः” इत्यनन्तरमेव चात्मबहुत्वं वक्ष्यति ॥ ४३ ॥

अपि स्मर्यते । २ । ३ । ४४ ॥

५ “ममैवांशौ जीवलोके जीवभूतस्सनातनः” इति जीवस्य पुरुषो
त्तमांशत्वं स्मर्यते, अतश्चायमंशः ॥ ४४ ॥

अंशत्वेऽपि जीवस्य ब्रह्मैकदेशत्वेन जीवगता दोषा ब्रह्मण एवे-
त्याशङ्क्याह—

प्रकाशादिवत्तु नैवं परः । २ । ३ । ४५ ॥

तु शब्दश्चोद्यं व्यावर्तयति ; प्रकाशादिवज्जीवः परमात्मनोऽंशः—

१. पुरुषसु ॥ २. गारी. २-३-१८ ॥ ३. स्वे. ६-१३ ॥ ४. गारी.
२-३-७ ॥ ५. गी. १५-७ ॥

यथाऽग्नयादित्यादेर्मास्त्वतो भारूपः प्रकाशोऽशो भवति, यथा गवाभ्रशु-
 ऋकृष्णादीनां गोत्वादिविशिष्टानां वस्तूनां गोत्वादीनि विशेषणान्यंशाः,
 यथा वा देहिनां देवमनुष्यादिर्देहोऽशः तद्वत् । एकवस्त्वेकदेशत्वं हांशत्वम्,
 विशिष्टस्यैकस्य वस्तुनो विशेषणमंश एव । तथाच विवेचकाः विशिष्टे व-
 स्तुनि विशेषणांशोऽयम्, विशेष्यांशोयमिति व्यपदिशन्ति । विशेषणवि-
 शेष्ययोरंशांशित्वेऽपि स्वभाववैलक्षण्यं दृश्यते । एवं जीवपरयोर्विशेषणवि-
 शेष्ययोरंशांशित्वं, स्वभावभेदोपपद्यते । तदिदमुच्यते—नैवं पर इति । य-
 थाभूतो जीवः, न तथाभूतः परः । यथैवहि प्रभावाः प्रभावानन्यथाभूतः
 तथा प्रभावात्प्रभावात्स्वांशाज्जीवादर्शी परोऽप्यर्थान्तरभूत इत्यर्थः । एवं
 जीवपरयोर्विशेषणविशेष्यत्वकृतं स्वभाववैलक्षण्यमाभित्य भेदनिर्देशाः
 प्रवर्तन्ते; अभेदनिर्देशास्तु पृथक्सिद्धयनर्हविशेषणानां विशेष्यपर्यन्तत्व-
 माभित्य मुख्यत्वेनोपपद्यन्ते । १“तत्त्वमसि” २“अयमात्मा ब्रह्म” इत्या-
 दिपु, तच्छब्दब्रह्मशब्दयत् त्वमयमात्मैतिशब्दा अपि जीवशरीरकब्रह्म-
 वाचकत्वेनैकार्थाभिधायित्वादित्ययमर्थः प्रागेव प्रपञ्चितः ॥ ४५ ॥

स्मरन्ति च । २ । ३ । ४६ ॥

एवं प्रभाप्रभावद्रूपेण शक्तिशक्तिमद्रूपेण शरीरात्मभावेन चांशां-
 शिभायं जगद्ब्रह्मणोः पराशरादयः स्मरन्ति १ एकदेशस्थितस्याग्नेर्ज्योत्स्ना
 विस्तारिणी यथा । परस्य ब्रह्मणश्शक्तिस्तथेदमखिलं जगत् २ “य-
 त्किञ्चिन्मृज्यते येन सत्त्वजातेन वै द्विज । तस्य मृज्यस्य सम्भूतौ तत्स-
 र्वं वै हरेस्मनुः” इत्यादिना । चक्राच्छ्रुतयोऽपि—३“यस्यात्मा शरीरम्”
 इत्यादिना आत्मशरीरभावेनांशांशित्वं घटन्तीत्युच्यते ॥ ४६ ॥

एवं ब्रह्मणोऽंशत्वं, ब्रह्मप्रत्ययत्वं, इत्येव सर्वेषां समानं केषांचि-
 द्बुद्धाध्ययनतदर्थानुष्ठानाद्यनुज्ञा, केषांचिनत्पराहारः, केषांचिदर्शनस्पर्श-

१. छा. ५-१०-३ ॥—२. य. ५-४-२ ॥—३. वि. प. १-२२-१६ ॥

४. वि. पु. १-२२-३८ ॥—५. छ. ५-३-२२ ॥

नायनुष्ठा, केषांचित्तत्परिहारश्च, शास्त्रेषु कथमुपपद्यत इत्याशाङ्क्याह-

अनुज्ञापरिहारौ देहसम्बन्धाज्ज्योतिरा-

दिवत् । २ । ३ । ४७ ॥

सर्वेषां ब्रह्मांशत्वप्रत्यादिनैकरूपत्वे सत्यपि ब्राह्मणसृष्ट्रियवैश्य-
शूद्रादिरूपशुच्यशुचिदेहसम्बन्धनियन्धनावनुज्ञापरिहारानुपपद्येते; ज्योति-
रादिवत्-यथाग्नेरग्नित्वेनैकरूपत्वेऽपि भोग्रियागारादग्निराह्वयते ; रम-
शानावेस्तु परिह्वयते । यथाचान्नादि भोग्रियादेरनुज्ञायते ; अभिशस्ता-
देस्तु परिह्वयते ॥ ४७ ॥

असन्ततेश्चाव्यतिकरः । २ । ३ । ४८ ॥

ब्रह्मांशत्वादिनैकरूपत्वे सत्यपि जीवानामन्योन्यभेदादणुत्वेन प्र-
तिशरीरं भिन्नत्वाच्च भोगव्यतिकरोऽपि न भवति । भ्रान्तब्रह्मजीववादे
चोपहितब्रह्मजीववादे च जीवपरयोर्जीवानां च भोगव्यतिकरादयस्सर्ग
दोषास्सन्तीत्यभिप्रायेण स्वपक्षे भोगव्यतिकराभाय उक्तः ॥ ४८ ॥

ननु भ्रान्तब्रह्मजीववादेऽप्यधिष्ठाकृतोपाधिभेदाद्भोगव्यवस्थादय
उपपद्यन्ते ; अत आह-

आभास एव च । २ । ३ । ४९ ॥

अस्यण्डैकरसप्रकाशमात्रस्वरूपस्य स्वरूपेतिरोधानपूर्वकोपाधिभे-
दोपपादनहेतुराभास एव । प्रकाशैकस्वरूपस्य प्रकाशतिरोधानं प्रकाशनाश
एवेति प्रागेवोपपादितम् । 'आभासा एव' इति वा पाठः; तथासति हेत-
व आभासाः, चकारात् १ "पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा" = "झाझी द्वी"
३ 'तयोरन्यः पिप्पलं स्याद्वृत्ति' इत्यादिभूतिविरोधश्च । अविद्यापरि-
कल्पितोपाधिभेदेऽपि सर्वोपाधाभिरुपहितस्वरूपस्यैकत्वाभ्युपगमान् भो-
गव्यतिकरस्तद्वस्थ एव ॥ ४९ ॥

पारमार्थिकोपाध्युपहितब्रह्मजीववादेऽप्युपाधिभेदहेतुभूतानाद्यदृष्ट
वशाद्व्यवस्था भविष्यतीत्याशङ्क्याह-

अदृष्टानियमात् । २ । ३ । ५० ॥

उपाधिपरस्परहेतुभूतस्यादृष्टस्यापि ब्रह्मस्वरूपाग्रयत्वेन नियम-
हेत्वभावादव्यवस्थैव, उपाधिभिरदृष्टैश्च स्वसम्बन्धेन ब्रह्मस्वरूपच्छेदास-
म्भवात् ॥ ५० ॥

अभिसन्ध्यादिष्वपि चैवम् । २ । ३ । ५१ ॥

अदृष्टहेतुभूताभिसन्ध्यादिष्वप्युक्तादेव हेतोरनियम एव ॥ ५१ ॥

प्रदेशभेदादिति चेन्नान्तर्भावात् । २ । ३ । ५२ ॥

यद्यप्येकमेव ब्रह्मस्वरूपम्, तच्छेदानहं नानाविधोपाधिभिस्स-
म्बध्यते- तथाप्युपाधिसम्बन्धिब्रह्मप्रदेशभेदादुपपद्यत एव भोग्यवस्थेति
चेन-तत्र, उपाधीनां तत्र तत्र गमनात्सर्वप्रदेशानां सर्वोपाध्यन्तर्भावाद्व्य-
वस्थास्तदवस्थ एव । प्रदेशभेदेन सम्बन्धेऽपि सर्वस्य ब्रह्मप्रदेशत्वात्त-
त्प्रदेशसम्बन्धि दुःखं ब्रह्मण एव स्यात् । पूर्वत्र “नित्योपलब्ध्यनुपल-
ब्धिप्रसङ्गोऽन्यतरनियमो वाऽन्यथा” २ “उपलब्धिबद्धनियमः” इत्याभ्यां
मूत्राभ्यां वेदवाह्यानां सर्वगतजीववादिनां दोष उक्तः; अत्रतु ३ “आभास
एव च” इत्यादिभिस्मूत्रैवेदावलम्बिनामात्मैकत्ववादिनां दोष उच्यते ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अंशाधिकरणम् ॥ ७ ॥

इति श्रीभगवद्रामानुजविरचिते शारीरकमीमांसाभाष्ये

द्वितीयस्याध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

॥ श्रीमते रामानुजाय नमः ॥

श्रीभगवद्रामानुजविरचिते—

श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये

(द्वितीयाध्याये-चतुर्थः पादः-प्राणोत्पत्त्यधिकरणम् ॥)

तथा प्राणाः । २ । ४ । १ ॥

ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य वियदादेः कृत्स्नस्य कार्यत्वेनोत्पत्तावुत्पाद्यां जीवस्य कार्यत्वेऽपि स्वरूपान्यथाभावलक्षणोत्पत्तिरपोदिता; तत्प्रसङ्गेन जीवस्वरूपं शोधितम्; सम्प्रति जीवोपकरणानामिन्द्रियाणां प्राणस्य चोत्पत्त्यादिप्रकारो विशोध्यते । तत्र किमिन्द्रियाणां कार्यत्वं जीववत्; उत वियदादिवदिति चिन्त्यते । किं युक्तम् ? जीववदेवेत्याह पूर्वपक्षी- तथा प्राणाः—इति । प्राणाः—इन्द्रियाणि । यथा जीवो नोत्पद्यते; तथेन्द्रियाण्यपि नोत्पद्यन्ते । कुतः ? भुतेः । यथा जीवस्यानुत्पत्तिः भुतेरवगम्यते; तथा प्राणानामप्यनुत्पत्तिः भुतेरेवावगम्यते । तथा प्राणा इति प्रमाणमप्यतिदिश्यते । का पुनरत्र भुतिः ? २ “असद्वा इदमग्र आसीन्न तदाहुः किं तदासीदिति ऋपयो वा य ते अग्रे सदासीत् तदाहुः के ते ऋपय इति प्राणा वा य ऋपयः” इति जगदुत्पत्तेः प्रागिन्द्रियाणां सद्भावः भूयते । प्राणशब्दे बहुवचनादिन्द्रियाण्येवेति निश्चीयते । नचेयं भुतिः ३ “वायुश्चान्तरिक्षं चैतदसृत्तम्” ४ “सैपाऽनस्तमिता देवता यद्वायुः” इति वृषिकालावस्थायित्वेन परिणेतुं शक्या, ५ “असद्वा इदमग्र आसीन् इति कृत्स्नप्रपञ्चप्रलयवेलायामप्यवस्थितत्वं भवणान् । उत्पत्तिवादिन्यस्तु जीवोत्पत्तिवादिन्य इव नेतव्या इति ॥

१. प्रमाणमपि प्रतिदिश्यते, पा. ॥—२. सतपथ. १-१-१ ॥—३. ५.

४-३-३ ॥—४. —५. सतपथ. १-१-१ ॥

सिद्धान्तः

एवं प्राप्तेऽभिधीयते-विद्यदादिवदेव प्राणाश्चोत्पद्यन्तेःकृतः ११ 'स
देव सोम्येदमग्र आसीत्' २ "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्" इ-
त्यादिषु प्राक्सूष्ट्रेरेकत्वावधारणान्, ३ 'एतस्माज्जायते प्राणो मनस्सर्वेन्द्रि-
याणि च' इतीन्द्रियाणामुत्पत्तिभ्रशणाच्च, प्रागवस्थानासम्भवात् । नचा-
त्मोत्पत्तिवादवदिन्द्रियोत्पत्तिवादाः परिणेतुं शक्याः, आत्मवदुत्पत्तिप्र-
तिषेधभूतीनां नित्यत्वेभ्रुतीनां चादर्शनात् । ४ "असद्वा इदमग्र आसीत्"
इत्यादिवाक्येऽपि प्राणशब्देन परमात्मैव निर्दिश्यते । ५ "सर्वाणि इ वा
इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते" इति प्राणश-
ब्दस्य परमात्मन्यपि प्रसिद्धेः । ४ "प्राणा वा व ऋपयः" इति ऋपिशब्द-
श्च सवज्ञे तस्मिन्नेव युज्यते । न त्वचेतनेष्विन्द्रियेषु ॥ १ ॥

ऋपयः, प्राणा इति च बहुवचनभूतिः कथमुपपद्यत इति चेत्—

तत्राह—

गौण्यसम्भवात्तत्प्रावच्छ्रुतेश्च । २ । ४ । २ ॥

बहुवचनभूतिगौणी, बहुर्थासम्भवान्; तस्यैव परमात्मनः सूष्ट्रेः
प्रागवस्थानभूतेरेव ॥ २ ॥

तत्पूर्वकत्वाद्वाचः । २ । ४ । ३ ॥

इतश्च प्राणशब्दः परमात्मवचनः; वाचः—परमात्मव्यतिरिक्तवि-
षयस्य नामधेयस्य वाग्विषय भूतविद्यदादिसूष्ट्रिपूर्वकत्वान् । ६ "तद्धेदं त-
र्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत" इति नामरूपभाजामभावा-
त्तदानीं वागादीन्द्रियकार्याभावाच्च तानि न सन्नीत्यर्थः ॥ ३ ॥

इति भीशारीरकमीमांसाभाष्ये प्राणोत्पत्त्यधिकरणम् ॥ १ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये सप्तगत्यधिकरणम् ॥ २ ॥)

सप्त गतेर्विशेषितत्वाच्च । २ । ४ । ४ ॥

तानीन्द्रियाणि किं सप्तैव स्युः, अथर्वेकादशेति चिन्त्यतं । भ्रातृ-
विप्रतिपत्तेस्संशयः । किं प्राप्तम्, सप्तन्ति । कुतः? गतेर्विशेषितत्वाच्च । ग-
तिस्तावज्जायमानेन म्रियमाणेन च जीवेन सह लोकेषु सञ्चरणरूपा सप्ता-
नामेव भूयते १ “सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निदितास्सप्त स-
प्त” इति । योप्सा पुरुषभेदाभिप्राया । विशेषिताश्च तं गतिमन्तः प्राणाः स्व-
रूपतः २ “यदा पञ्चावतिष्ठन्तं ज्ञानानि मनसा सह । बुद्धिश्च न विचेष्टेत
तामाहुः परमां गतिम्” इति । शरीरान्तस्सञ्चरणं विहाय मोक्षार्थगमनं
परमा गतिः । एवं जीवेन सह जन्ममरणयोस्सप्तानामेव गतिभ्रवणानां
योगदशायां ज्ञानानीति विशेषितत्वाच्च जीवस्य करणानि श्रोत्रत्वक्चक्षु-
र्जिह्वाघ्राणबुद्धिर्मनांसि सप्तैवेति गम्यतं । यानि त्वितराणि विषयाणां
प्राहकत्वेन ३ “अष्टौ प्रहाः” ४ “सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः द्वाधवाञ्चौ”
इत्यादिषु चतुर्दशपर्यन्तानि प्राणप्रतिपादकवाक्येषु वाक्पाणिपादपायूप-
स्थाहङ्कारचित्तास्थानीन्द्रियाणि प्रतीयन्ते तेषां जीवेन सह गतिभ्रवणा-
भावाज्जीवस्याल्पालपोपकारकत्वमात्रेणौपचारिकः प्राणव्यपदेशः ॥ ४ ॥

सिद्धान्तः

इति प्राप्ते प्रवक्ष्ये—

हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम् । २ । ४ । ५ ॥

न सप्तैवेन्द्रियाणि, अपि त्वेकादश, हस्तादीनामपि शरीरे स्थिते जीवे
नस्य भोगोपकरणत्वात्, कार्यभेदाच्च । दृश्यतं हि श्रोत्रादीनामिव हस्तादी-

१. सु. २-१-८ ॥ २. कठ. २-६-१० ॥ ३. दृ. २-१-६ ॥
४. अथ. ७-३-११ ॥

नामपि कायभेद आदानादिः; अतस्तेऽपि सन्त्येव । अतो नैवम्-अतो हस्ता-
दयां न सन्तात्येवं न सन्तव्यमित्यर्थः । अप्यवसायाभिमानचिन्तावृत्तिभे-
दान्मन एव बुद्धयहङ्कारचित्तशब्दैर्व्यपदिश्यत इत्येकादशेन्द्रियाणि । अतः
१ 'दशमे पुरुषे प्राणाः आत्मैकादशः' इति-आत्मशब्देन मनोऽभिधीयते;
२ "इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः" ३ "तैजसान्तीन्द्रियाण्याहु-
र्देवा वैकारिका दश । एकादशं मनश्चात्र" इत्यादिभ्रुतिस्मृतिसिद्धेन्द्रियस-
ङ्ख्या स्थिता । अधिकसङ्ख्यायादाः मनोवृत्तिभेदाभिप्रायाः; न्यूनव्यपदेशा-
स्तु तत्रतत्र विवक्षितगमनादिकार्यविशेषप्रयुक्ताः २ ॥

इति भीशारीरकमीमांसाभाष्ये सप्तगन्धधिकरणम् ॥ २ ॥

(भीशारीरकमीमांसाभाष्ये प्राणानुत्वाधिकरणम् ॥ ३ ॥)

अणवश्च । २ । ४ । ६ ॥

४ 'त एते सर्व एव समाः सर्वेऽनन्ताः' इत्यानन्त्यभ्रवणाद्विभुत्वं
प्राणानाम्—

(सिद्धान्तः)

इति प्राप्तेऽभिधीयते-२ 'प्राणमनूत्क्रान्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्राम-
न्ति' इत्युत्क्रान्त्यादिभ्रवणात्परिमितत्वे सिद्धे 'सत्युत्क्रान्त्यादिषु पार्श्व-
स्थैरनुपलभ्यमानत्वावगणवच्च प्राणाः । आनन्त्यभ्रुतिस्तु ४ "अथ यो हैता-
ननन्तानुपास्ते" इत्युपासनभ्रवणादुपास्यप्राणविशेषणभूतकार्यवाहुत्या-
भिप्रायाः ॥ ६ ॥

श्रेष्ठश्च । २ । ४ । ७ ॥

प्राणसंवाये शरीरस्थितिहेतुत्वेन श्रेष्ठतया निर्णीतो मुख्यप्राणः ६ 'आ-

नीदवातं स्वभया तदेकम्” इति महाप्रलयसमये स्वकार्यभूतप्राणानसङ्गावध-
वणान्, “एतस्माज्जायत” इति जन्मभवणस्य जीवजन्मभवणवदुपपत्तेर्ना-
स्पद्यत इत्याशङ्क्य प्राप्सृष्टेरेकत्वावधारणादिविरोधान्, १ “एतस्माज्जायन्ते
प्राणः” इति पृथिव्यादितुल्योत्पत्तिभवेणान्, उत्पत्तिनिषेधाभावाच्च.
जायत एव श्रेष्ठश्च प्राण इत्युच्यते । २ “आनीदवातम्” इति तु न ज्ञेयं श्रेष्ठं
प्राणमभिप्रेत्योच्यते; अपितु परस्य ब्रह्मण एकस्यैव विद्यमानत्वमुच्यते ।
३ “अवातम्” इति तत्रैव भवणान् । पूर्वेष्वेव तुल्यन्यायत्वेऽपि पृथग्यांगकर-
णमुत्तरचिन्तार्थम् ॥ ७ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये प्राणानुत्पाधिकरणम् ॥ ३ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये वायुक्रियाधिकरणम् ॥ ४ ॥)

न वायुक्रिये पृथगुपदेशात् । २ । ४ । ८ ॥

सोऽयं श्रेष्ठः प्राणः किं महाभूतद्वितीयवायुमात्रम् ; तस्य वा स्प-
न्दरूपक्रिया; अथवा वायुरेव कञ्चन विशेषमापन्नः—इति विशये वायु-
रेवेति प्राप्तम्, “यः प्राणस्त वायुः” इति व्यपदेशान् । यद्वा वायुमात्रं
प्राणत्वप्रसिद्धगमावादुच्छ्वासनिरश्वासादिवायुक्रियायां प्राणशब्दप्रसिद्धे-
अ तत्क्रियैव—

(सिद्धान्तः)

इति प्राप्ते वायुमात्रम्, नच तत्क्रियेऽप्युच्यते; कुतः, पृथगुपदे-
शान्—१ “एतस्माज्जायते प्राणो मनस्सर्वेन्द्रियाणि च । त्वं वायुः” इति
नत एव पृथगुपदेशान् वायुक्रियापि न भवति प्राणः; नहि तेजः प्रभृती-
नां क्रिया तैस्सह पृथग्व्यवस्थितोपदिश्यते ४ “यः प्राणस्त वायुः”
इति तु वायुरेवावस्थान्तरमापन्नः प्राणः; न तेजः प्रभृतिवत्तत्त्वान्तर-

मिति ज्ञापनार्थम् । उच्छ्वासासनिश्वासादावपि प्राणः स्पन्दत इति क्रियावति
द्रव्य एव प्राणशब्दप्रसिद्धिः ; न क्रियमात्रे ॥ ८ ॥

किमयं प्राणो वायोर्विकारस्सन्नमिवद्भूतान्तरम् ? , नेत्याह--

चक्षुरादिवत्तु तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः । २।४।९॥

नायं भूतविरोधः; अपितु चक्षुरादिवज्जीवोपकरणविरोधः । तथा
पकरणत्वमुपकरणभूतैरिन्द्रियैस्सहशिष्ट्यादिभ्योऽवगम्यते । चक्षुरादिभि-
स्सहायं प्राणशिराष्यते प्राणसंवादादिषु तत्सजातीयत्वे हि तैस्सह-
शासनं युज्यते । प्राणशब्दपरिगृहीतेषु करणेष्वस्य विशिष्याभिधानमा-
दिशब्देन गृह्यते; १^१ अथ ह य एवायं मुख्यः प्राणः ” २^१ योऽयं मध्यमः
प्राणः” इत्यादिषु विशिष्याभिधानात् ॥ ६ ॥

चक्षुरादिवदस्यापि करणत्वे तद्वदस्यापि जीवं प्रत्युपकारविरोध-
रूपक्रियाया भवितव्यम् ; सा तु न दृश्यते; अतो नायं चक्षुरादिवद्भवितु-
मर्हतीति चेत्-तत्राह--

अकरणत्वाच्च न दोषस्तथा हि दर्शयति । २।४।१०॥

अकरणत्वात्-करणं क्रिया, अक्रियत्वान् अस्य प्राणस्य जीवं
प्रत्युपकारविरोधरूपक्रियारहितत्वाच्च यो दोष उद्भाष्यते, स नास्ति; यत
उपकारविरोधरूपां शरीरेन्द्रियधारणादिरूपां क्रियां दर्शयति भुक्तिः-
१^१ यस्मिन्नुत्क्रान्ते इदं शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्यते सवः भ्रेष्टः ”
इत्युक्त्वा वागाद्युत्क्रमणेऽपि शरीरस्येन्द्रियाणां च स्थितिं दर्शयित्वा
प्राणोत्क्रमणे शरीरेन्द्रियशैथिल्याभिधानम् । अतः प्राणोपानव्यानोदान-
ममानाकारेण पञ्चधाऽवस्थिनोऽयं प्राणः शरीरेन्द्रियधारणादिना जीव-
स्योपकरोतीति चक्षुरादिवत्करणत्वम् ॥ १० ॥

नन्वेवं नामभेदात्कार्यभेदाच्च प्राण्यापानादयस्तत्त्वान्तराणि स्युः ।
तत्राह—

पञ्चवृत्तिर्मनोवद्व्यपदिश्यते । २ । ४ । ११ ॥

यथा कामादिबुद्धिभेदे तत्कार्यभेदेऽपि न कामादिकं मनसस्तत्त्वान्तरं १ “कामस्सङ्कल्पो विचिकित्सा भट्टाऽभट्टा धृतिरधृतिर्हीर्षोर्मीरित्येतत्सर्वं मन एव” इति वचनान् । एवं १ “प्राणोऽपानो व्यान उदानस्समान इत्येतत्सर्वं प्राण एव” इति वचनान् अपानादयोऽपि प्राणस्यैव बुद्धिविशेषाः ; न तत्त्वान्तरमित्यवगम्यते ॥ ११ ॥

इति भीशारीरकमीमांसाभाष्ये वायुक्रियाधिकरणम् ॥ ४ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये श्रेष्ठाणुत्वाधिकरणम् ॥ ५ ॥)

अणुश्च । २ । ४ । १२ ॥

अणुश्चायम्, पूर्ववदुत्क्रान्त्यादिभवणान् २ “तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनुत्क्रामति” इत्यादिपु । अधिकाराद्वा तु ३ “सम पभिन्निभिलोकैस्समोऽनेन सर्वेण” ४ “प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्” ५ “मवं ह्रीदं प्राणेनायुतम्” इत्यादिभवणान् महापरिमाण इति ॥

(सिद्धान्तः)

परिहारस्तु—उत्क्रान्त्यादिभवणात्परिच्छिन्नत्वे निश्चितं सर्वस्य प्राणिजातस्य प्राणायत्तस्थितित्वेन वैभववादादपपत्तिः—इति ॥ १२ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये श्रेष्ठाणुत्वाधिकरणम् ॥ ५ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये ज्योतिराद्यधिष्ठानाधिकरणम् ॥)

ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात्प्राणवता

शब्दात् । २ । ४ । १३ ॥

सध्रेष्ठानां प्राणानां ब्रह्मण उत्पत्तिरियत्तापरिमाणं चोक्तम् ; तेषां प्राणानामग्नयादिदेवताधिष्ठितत्वं च पूर्वमेव १ “अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगातेभ्याम्” इत्यनेन सूत्रेण प्रसङ्गादुपपादितम् ; जायस्य च स्वभोगसाधनानामेवामधिष्ठातृत्वं लोकासिद्धम्, २ “एवमेवैष एतान् प्राणान् गृहीत्वा स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते” इत्यादिभृतिसिद्धं च । तदिदं जीवस्याग्नयादिदेवतानां च प्राणविषयमधिष्ठानं किं स्वायत्तम् ; उत परमात्मायत्तमिति विषये नैरपेक्ष्यात्स्वायत्तम् ॥

—(सिद्धान्तः)—

इति प्राप्त उच्यते—ज्योतिराद्यधिष्ठानमिति । प्राणवता-जीवेन सह ज्योतिरादीनामग्नयादिदेवतानां प्राणविषयमधिष्ठानम्, तदामननात्—तस्य परमात्मनः आमननाद्भवति । आमननम्—आभिमुख्येन मननम्, परमात्मनरसङ्कल्पादेव भवतीत्यर्थः । कुत एतत् ? शब्दात्—इन्द्रियाणां साभिमानिदेवतानां जीवात्मनश्च स्वकार्येषु परमपुरुषमननायत्तत्वशास्त्रात् । यथाऽन्तर्यामिब्रह्मणादिषु ३ “योऽग्नौ तिष्ठन्ननेरन्तरो यमग्निर्न वेद यस्याग्निशरीरं योऽग्निमन्तरो यमयति स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः” ४ “यो वायौ तिष्ठन्” ५ “य आदित्यं तिष्ठन्” ६ “य आत्मनि तिष्ठन्” ७ “यश्चक्षुषि तिष्ठन्” इत्यादि । यथा च ४ “भीषाऽस्माद्वालः पबते भीषादेति सूत्रेः । भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च । मृत्युर्धावति पञ्चमः” इति । तथा ५ “एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमर्सा विधृतौ तिष्ठतः” इत्यादि ॥

१. शारी. २-१-५ ॥ २. वृ. ४-१-१८ ॥ ३. वृ. २-३-५, ३. २, २२,

१८ ॥ ४. तै. आन. ८-१ ॥ ५. वृ. २-८-६ ॥

तस्य च नित्यत्वात् । २ । ४ । १४ ॥

सर्वेषां परमात्माधिष्ठितत्वस्य नित्यत्वात् , स्वरूपानुबन्धित्वेन नियतत्वाच्च तत्सङ्कल्पादेवैषामधिष्ठातृप्रमवर्जनीयम् । १ “तत्सृष्ट्वा तदे-
वानुप्राविशत् तदनुप्रविश्य सच्च त्यक्ताभवत्” इत्यादिना परमपुरुषस्य नियन्तृत्वेन सर्वविद्विद्वत्स्यनुप्रवेशः स्वरूपानुबन्धी भूयते; स्मर्यते च
२ “विष्टभ्यादमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्” इति ॥ १४ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये ज्योतिरागधिष्ठानाधिकरणम् ॥ ६ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये इन्द्रियाधिकरणम् ॥ ७ ॥)

त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात्

। २ । ४ । १५ ॥

किं सर्वे प्राणशब्दनिर्दिष्टा इन्द्रियाणि, उत श्रेष्ठप्राणव्यतिरिक्ता-
ण्वेति विशये प्राणशब्दवाच्यत्वात् , करणत्वाच्च सर्व एवेन्द्रियाणि ॥

(सिद्धान्तः)

इति प्राप्त उच्यते-श्रेष्ठव्यतिरिक्ता एव प्राणा इन्द्रियाणि, कुतः?
श्रेष्ठादन्वेषेव प्राणेषु तद्व्यपदेशात् १ “इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रि-
यगोचराः” इत्यादिभिर्हि चक्षुरादिषु समनस्केष्वेव इन्द्रियशब्दो व्यप-
दिश्यते ॥ १५ ॥

भेदश्रुतेर्वैलक्षण्याच्च । २ । ४ । १६ ॥

४ “एतस्माज्जायते प्राणो मनस्सर्वेन्द्रियाणिच” इत्यादिभिर्इन्द्रिये-

भ्यःप्राणस्य पृथक्छवणत्प्राणव्यतिरिक्तानामेवेन्द्रियत्वमवगम्यते । मन-
सः पृथक्छवणेऽपि तस्यान्यत्रेन्द्रियान्तर्भाव उक्तः १ “मनस्पृष्टानीन्द्रिया-
णि” इत्यादौ । बेलक्षणं च चक्षुरादिभ्यः श्रेष्ठप्राणस्योपलभ्यते; सुप्तौ
हि प्राणस्य वृत्तिरुपलभ्यते, चक्षुरादीनां तु वृत्तिर्नोपलभ्यते । कार्यं च
चक्षुर्यागादीनां समनस्कानां ज्ञानकर्मसाधनत्वम्, प्राणस्य तु शरीरेन्द्रि-
यधारणम्; प्राणाधीनधारणत्वादिबन्धित्वेपु प्राणशब्दव्यपदेशः; तथा च
भूतिः २ “तप्तस्यैव सर्वं रूपमभवन् तस्मादेत एतेनाख्यायन्ते” इति ।
रूपमभवन्—शरीरमभवन्, तदधीनप्रवृत्तयोऽभवन्मित्यर्थः ॥ १६ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये इन्द्रियाधिकरणम् ॥ ७ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये संज्ञामूर्तिक्लृप्त्यधिकरणम् ॥ ८ ॥)

संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात् । २।४।१७॥

भूतेन्द्रियादीनां समष्टिस्मृष्टिः, जीवानां कर्तृत्वं च परस्माद्ब्रह्मण
इत्युक्तं पुरस्तान् । जीवानां स्वेन्द्रियाधिष्ठानं च परायत्तमिति चानन्तरं
स्थिरीकरणाय स्मारितम् । या त्वियं नामरूपव्याकरणात्मिका प्रपञ्चव्य-
ष्टिस्मृष्टिः, सा किं समष्टिजीवरूपस्य हिरण्यगर्भस्यैव कर्म, उत तेजःप्र-
भृतिशरीरकस्य परस्याद्यादिस्मृष्टिविहिरण्यगर्भशरीरकस्य परस्य ब्रह्मण,
इतोदानां चिन्त्यते । किं युक्तम् ? समष्टिजीवस्येति; कुतः ? ३ “अनेन जीवे-
नाऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि” इति जीवकर्तृकत्वभ्रवणान् ।
न हि परा देवता स्वेन रूपेण नामरूपे व्याकरवाणीत्यैकतः; अपितु स्वा-
शभूतेन जीवरूपेण, ३ “अनेन जीवेनाऽत्मना” इति वचनात् । नन्वेवं चा-
रेणानुप्रविश्य परपलं सङ्कलयानीतिवन् ३ “व्याकरवाणि” इत्युत्तमपुरुषः

कतृ स्वक्रियश्च प्रथिशतिर्लाक्षणिकस्त्यात् । नैवम्, तत्र राजचारयोः स्वरूपभेदाद्वाक्ष्यकत्वम्, इह तु जीवस्यापि स्वांशत्वेन स्वरूपत्वाच्चेन रूपेण प्रवेशो व्याकरणं चात्मन एवेति न लाक्षणिकत्वप्रसङ्गः । नच सहयोगलक्षणेयं तृतीया, कारकविभक्तौ सम्भवन्त्यामुपपदविभक्तेरन्याव्यत्वात् । नच करणे तृतीया, ब्रह्मकर्तृकयोः प्रवेशव्याकरणयोर्जीवस्य साधकतमत्वाभावात् । नच जीवस्य कर्तृत्वं प्रवेशमात्रे पर्यवस्यति, नामरूपव्याकरणं तु ब्रह्मण एवेति शक्यं वक्तुम् । तत्रापत्ययेन समानकर्तृकत्वप्रतीतिः । जीवस्य स्वांशत्वेन स्वरूपत्वेऽपि परस्वरूपव्यावृत्त्यर्थः १ “अनेन जीवेन” इति पराकवेन परामर्शः । अतो हिरण्यगर्भकर्तृकं नामरूपव्याक्रिया । अतएव च स्मृतिषु चतुर्मुखकर्तृकमृष्टिप्रकरणे नामरूपव्याकरणं सङ्कीर्त्यते २ “नामरूपं च भूतानां कृत्यानां च प्रपञ्चनम् । वेदशब्देभ्य एवानां देवादीनां चकार मः” इत्यादि ॥

(सिद्धान्तः)

एवं प्राप्तोऽभिधीयते—संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु—इति । तुशब्दः पक्षं व्याधत्तयति; संज्ञामूर्तिक्लृप्तिः—नामरूपव्याकरणम् । तत्रिष्टुत्तुर्धतः परस्यैव ब्रह्मणः, तस्यैव नामरूप व्याकरणोपदेशात् । त्रिष्टुत्करणं कुर्वत एव ‘दि नामरूपव्याकरणमुपदिश्यते—१ “सेयं देवतैस्तु हन्ताहमिमास्मिन्नो देवता अनेन जीवेनाऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि तासां त्रिष्टुतं त्रिष्टुतमेकैकां करवाणि” इति समानकर्तृकत्वप्रतीतिः । त्रिष्टुत्करणं तु चतुर्मुखस्याण्डान्तर्वर्तिनो न सम्भवति, त्रिष्टुत्कृतेस्तेजोबन्तैर्षण्डमुत्पागते; चतुर्मुखस्य चाण्डे सम्भवः स्मर्यते—२ “तस्मिन्नण्डेऽभवद्ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः” इति । अतस्त्रिष्टुत्करणं परस्यैव ब्रह्मणः; तत्समानकर्तृकं नामरूपव्याकरणं च तस्यैवेति विज्ञायते । कथं तर्हि १ “अनेन जीवेन” इति सङ्गच्छते, १ “आत्मना जीवेन” इति सामानाधिकरण्यात् जीवशरीरं परं

ब्रह्मैव जीवशब्देनाभिधीयते; यथा १ 'तत्तेज ऐक्षत' १ 'तदपोऽसृजत'
 १ 'ता आप ऐक्षन्तः' १ 'ता अन्नमसृजन्त' इति तेजः प्रसृतिशरीरकं पर-
 मेव ब्रह्माभिधीयते । अतो जीवसमष्टिभूतहिरण्यगर्भशरीरकस्य परस्यैव
 ब्रह्मणः कर्म नामरूपव्याकरणम् । एवं च २ 'प्रविश्य नामरूपे व्याकर-
 वाणि' इति प्रविशतिरुक्तमपुरुषश्चाक्लिष्टौ मुख्यार्थावेव भवतः । प्रवेशव्या-
 करणयोस्मानकर्तृकत्वमप्युपपद्यते । चतुर्मुखशरीरकस्य परस्यैव ब्रह्म-
 णः कर्म देवादिबिचित्रसृष्टिरिति चतुर्मुखकर्तृकसृष्टिप्रकरणे नामरूपव्या-
 क्रियोपदेशोपपद्यते । अतः ३ "सेयं देवता" इत्यादिवाक्यस्यायमर्थः-
 इमाः-तेजोऽद्यन्नरूपास्त्रिमा देवताः अनेन जीवेन-जीवसमष्टिविशिष्टेना-
 ऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि-देवादिबिचित्रसृष्टितन्माभेया-
 नि च करवाणि । तदर्थमन्योन्यसंसर्गमप्राप्तानामेषां तेजोब्रह्मानां विशे-
 यमृष्टमसमर्थानां तत्त्वामर्थायैकैका त्रिष्टुतं त्रिष्टुतं करवाणि-इति । अतः
 परस्यैव ब्रह्मणः कर्मेदं नामरूपव्याकरणम् ॥ १७ ॥

अथ स्यान् नामरूपव्याकरणस्य त्रिष्टुत्करणेनैककर्तृकत्वात्परमा-
 त्मकर्तृकमिति न शक्यते वक्तुम् , त्रिष्टुत्करणस्यापि जीवकर्तृकत्वसम्भ-
 वान् । अण्डसृष्ट्युत्तरकालं हि चतुर्मुखसृष्टिजीवेषु त्रिष्टुत्करणप्रकार उप-
 दिश्यते-४ "यथा तु खलु सोम्येमास्त्रिमा देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिष्टुत्त्रि-
 ष्टकैका भवति तन्मे विजानाहीति" ५ "अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य
 यः स्थिष्यो भागमत्पुरोयं भवति यो मध्यमस्तन्मांसं योऽणिष्ठः तन्म-
 नः" इत्यादिना । तथा पूर्वस्मिन्नपि वाक्ये ४ "यदग्नेरोहितं रूपं तेजस-
 स्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यच्छुष्णं तदन्नस्य" इत्यादिना चतुर्मुखसृष्ट्याग्न्या-
 दित्येवन्त्रिष्टुत् त्रिष्टुत्करणं प्रदर्श्यते । नामरूपव्याकरणोत्तरकालं च
 त्रिष्टुत्करणं भूयते । ६ "मेयं त्रेवतेमास्त्रिमा देवताः अनेन जीवेनाऽत्मना-

१. छा. ६-२-३, ४ ॥ २. छा. ६-३-२ ॥ ३. छा. ६-३-२ ।

४. छा. ६-४-७, १ ॥ ५. छा. ६-५-१ ॥ ६. ६-३-३३, ४ ॥

ऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत्तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोत्" इति । तत्राह—

मांसादि भौमं यथाशब्दमितरयोश्च । २।४।१८॥

यदुक्तमण्डसृष्ट्युत्तरकालं चतुर्मुखसृष्ट्येवतादिविषयोऽयं १ "तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोत्" इति त्रिवृत्करणोपदेश इति; तन्नोपपद्यते, २ "अन्नमशितं त्रेधा विधीयते" इत्यत्र मांसमनसोः पुरीषादुत्पत्तेनाणीयस्त्वेन च व्यपदिष्टयोः कारणानुधिधायित्वेनाप्यतैजसत्वप्रसङ्गात्, ३ "आपः पीताः" इत्यत्रापि मूत्रप्राणयोः स्वविष्ठाणीयसोः पार्थिवत्वतैजसत्वप्रसङ्गाच्च । नचैवमिष्यते; मांसादि भौममिष्यते—परीषयन्मांसमनसी अपि भौमे—पार्थिवे इष्यते ३ "अन्नमशितं त्रेधा" इति प्रक्रमान् । यथाशब्दमितरयोश्च—इतरयोरपि ३ "आपः पीताः" ३ "तेजोऽशितम्" इति पर्याययोर्यथाशब्दं विकारा इष्यन्ते । ३ "आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते" इत्यपामेव त्रेधा परिणामः शब्दात्प्रतीयते; तथा "तेजोऽशितं त्रेधा विधीयते" इत्यपि तेजस एव त्रेधा परिणामः शब्दात्प्रतीयते; अतः पुरीषमांसमनांसि पृथिवीविकाराः, मूत्रलोहितप्राणाः अश्विकाराः, अस्थिमज्जावाचस्तेजोविकारा इति प्रतिपत्तव्यम् ; ३ "अन्नमयं हि साम्य मनः, आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वाक् इति वाक्यशेषाधिरोधाच्च । अतः ४ "तासां त्रिवृतां त्रिवृतमेकैकामकरात्" इत्युक्तान्वृत्तकरणप्रकारः १ "अन्नमशितम्" इत्यादिना न प्रदर्श्यते; तथा सात मनःप्राणवाचां त्रयाणामप्यणीयस्त्वेन तेजसत्वात् २ "अन्नमयं हि साम्य मनः इत्यादिर्विरुध्येत् । प्रागेव त्रिवृत्कृतानां पृथिव्यादीनां पुरुषं प्राप्तानाम् ३ "अन्नमशितम्" इत्यादिनैकैकस्य त्रेधा परिणाम उच्यते । अण्डसृष्टेः प्रागेव च तंजोयज्ञानां त्रिवृत्करणेन भवितव्यम्, अत्रिवृत्क-

१. पा. १-२-२ ॥ २. पा. १-२-१ ॥ ३. पा. १-२-२, १, ३, ४, ॥

४. पा. १-२-४ ॥

तानां तेषां कार्यारम्भासामर्थ्यात् । अन्योन्यसंयुक्तानामेव हि कार्यार-
म्भसामर्थ्यम् ; तदेव च त्रिवृत्करणम् । तथा च स्मर्यते १ “नानाधीर्याः
पृथग्भूतास्ततस्ते संहतिं विना । नाशक्नुवन् प्रजारस्त्रिपुटसमागम्य कृत्स्न-
शः ॥ समेत्यान्योन्यसंयोगं परस्पर समाभयाः । महदाद्या विशोपान्ता ह्य-
एहमुत्पादयन्ति ते” इति । अत एव च २ “अनेन जीवेनाऽत्मनाऽनुप्रविश्य
नामरूपे व्याकरोत् तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोत्” इति पाठक्रमोऽ-
र्थक्रमेण बाध्यते । अण्डान्तर्धर्तिष्वग्न्यादित्यादिषु त्रिवृत्करणप्रदर्शनं श्वेत
केतोश्शुभ्रूपोरण्डान्तर्धर्तित्वेन; तस्य बहिष्ठवस्तुषु त्रिवृत्करणप्रदर्शनायो-
गात्रिवृत्कृतानां कार्येषु अग्न्यादित्यादिषु क्रियते ॥ १२ ॥

स्यादेतत्, ३ ‘अन्नमशितम्’ ३ ‘आपः पीताः’ ३ ‘तेजोऽशितम्’
इति त्रिवृत्कृतानामन्नादीनामेकैकस्य तेजोयन्नात्मकत्वेन त्रिरूपस्य कथम-
न्नामापस्तेज इत्येकैकरूपेण व्यपदेश उपपद्यत इति; तत्राह—

वैशेष्यात् तद्वादस्तद्वादः । २ । ४ । १९ ॥

वैशेष्यं—विशेषभावः । त्रिवृत्करणेन त्रिरूपेऽप्येकैकस्मिन्नन्नाद्या-
धिक्यात्तत्रतन्नादिवादः । द्विरुक्तिरध्यायसमाप्तिं शोतयति ॥ १६ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये संज्ञामूर्तिवृत्तप्रथमधिकरणम् ॥३॥

इति श्रीभगवद्रामानुजविरचिते शारीरकमीमांसाभाष्ये

द्वितीयस्याध्यायस्य चतुर्थ पादः ॥ ४ ॥

समाप्तश्चाध्यायः ।

॥ श्रीमते रामानुजाय नमः ॥

श्रीभगवद्रामानुजविरचिते

श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये

(तृतीयाध्याये - प्रथमः पादः-तदन्तरप्रतिपत्त्यधिकरणम् ॥)



तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूप-
णाम्याम् । ३ । १ । १ ॥

अतिक्रान्ताध्यायद्वयेन निखिलजगद्वेककारणं निरस्तनिखिलदा-
यगन्धमपरिमितोदारगुणसागरं सकलेतरविलक्षणं परं ब्रह्म मुमुक्षुभिरु-
पास्यतया वेदान्ताः प्रतिपादयन्तीत्ययमर्थः स्मृतिन्यायविरोधपरिहार
परपक्षप्रतिषेधवेदान्तवाक्यपरस्परविरोधपरिहाररूपकार्यस्वरूपसंशोधनै-
स्तद्दर्शपणत्वहेतुभिस्सह स्थापितः ; अतोऽध्यायद्वयेन ब्रह्मस्वरूपं प्र-
तिपादितम् । उत्तरेखेदानीं तत्प्राप्त्युपायैस्सह प्राप्तिप्रकारभिन्नयितुमि-
ष्यते । तत्र तृतीयाध्याये उपायभूतोपासनविषया चिन्ता वर्तते । उपा-
सनारम्भाभ्यर्हितोपायश्च प्राप्यवस्तुव्यतिरिक्तवैतृष्यम् , प्राप्यतृप्णाचे-
ति ; तत्सिद्धयर्थं जीवस्य लोकान्तरेषु सञ्चरतं जाग्रतस्मृतस्मृपुप्रभ्य
मूर्च्छतश्च दायाः, परस्य च ब्रह्मणस्तद्रहितता, कल्याणगुणाकरत्वं च प्र-
थमद्वितीययोः पादयोः प्रतिपाद्यते । तत्र वेदावेदान्तरं गच्छद्वयं जीवां
वेदान्तरारम्भहेतुभिर्भूतसूक्ष्मैस्सम्परिष्वक्त एव गच्छति, उन नैति चि-
न्तायां—यद्यत्र जीवा याति; तद्यत्र भूतसूक्ष्माणां मुलभत्वादसम्परि-
ष्वक्ते यातीति प्राप्तम् । परचादपि पूर्वपक्षार्थाजान्युपन्यस्य निरसिष्येति ॥

(सिद्धान्तः)

तत्र सिद्धान्तमाह—तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति सम्परिष्वक्तः—इति ।
 १ “संज्ञामूर्तिक्लृप्तिः” इति मूर्तिशब्देन देहः प्रस्तुतः ; स तच्छब्देन परा-
 मृश्यते । तदन्तरप्रतिपत्तौ—देहान्तरगमने भूतसूक्ष्मैस्सम्परिष्वक्तोजीवो
 रंहति—गच्छतीत्यर्थः । कुतः ? प्रभनिरूपणाभ्यां—प्रभप्रतिवचनाभ्याम् ।
 पञ्चामिषिणायामेषं प्रभप्रतिवचने आम्नायेते—श्वेतकेतुं किलारुणेयं पा-
 ञ्चालः प्रवाङ्मणः कर्मिणां गन्तव्यदेशं, पुनरावृत्तिप्रकारं, देवयान-
 पितृयाणपथव्यावर्तने, अमुष्य लोकस्याप्राप्तारं च येत्येति प्रष्टुं दमपि प-
 प्रच्छ—२ “वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति ” इति ।
 नत इमं पश्चिमं प्रश्नं प्रतिग्र्यञ्च द्यलोकमग्नित्वेन रूपयित्वा ३ ‘तस्मि-
 न्नेतस्मिन्नप्रौ देवाः भद्रां जुहति तस्या आहुतेस्सोमो राजा सम्भवति ”
 इत्यादिना—देवाख्याः जीवस्य प्राणाः अग्नित्वेन रूपिते द्यलोके भद्रा-
 न्यं वस्तु प्रक्षिपन्ति ; सा च भद्रा सोमराजाख्यामृतमयदेहरूपेण प-
 रिणमते ; तं चामृतमयं देहं त एव प्राणाः पर्जन्येऽग्नित्वेन रूपिते प्रक्षि-
 पन्ति ; स च देहस्तत्र प्रक्षिप्तो ययं भवति ; तच्च ययं त एव प्राणाः पृ-
 थिव्यामग्नित्वरूपितायां प्रक्षिपन्ति ; तच्च तत्र प्रक्षिप्तमन्नं भवति ; त-
 थान्नं त एव पुरुषेऽग्नित्वरूपिते प्रक्षिपन्ति ; तच्च तत्र रेतो भवति ; त-
 च त एव योपायामग्नित्वरूपितायां प्रक्षिपन्ति ; तच्च तत्र प्रक्षिप्तं गर्भो
 भवतीत्युक्त्वा आह—४ “इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो
 भवन्ति” इति । एवं पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीत्यर्थः ।
 एषमुक्तं पूर्वस्थप्याहुतिष्वनुवर्तमानानामेवापां सूक्ष्मरू-
 पाणामिन्द्राणां पुरुषाकारत्वं भवतीत्युक्तं भवति । अत एव प्रभप्रतिव-
 चनाभ्यां देहहेतुर्भूतैर्मूक्ष्मैस्सह नत्रतत्रयानीति गम्यते ॥ १ ॥

ननु १ “आपः पुरुषवचसः” इत्युक्ते अपां पुरुषाकारपरिणामप्र-
तीतेर्गच्छता जीवेन तासामेव परिप्वङ्गः प्रतीयते; अतः कथं सर्वेषां
भूतसूक्ष्माणां परिप्वङ्ग इति; तत्राह—

त्रयात्मकत्वात् भूयस्त्वात् । ३ । १ । २ ॥

तुशब्दश्चोद्यं व्यावर्तयति । देहारम्भकाणामपां केवलानां न दे-
हारम्भसम्भवः । देहाशारम्भाय हि २ “तासां त्रिधृतत्रिधृतमेकैकामक-
रोत्” इति त्रिधुत्करणम् । केवलानामपां भवणं तु तासां भूयस्त्वान् ।
देहे च लांहितादिभूयस्त्वेनारम्भकेष्वपां भूयस्त्वं गम्यते ॥ २ ॥

प्राणगतेश्च । ३ । १ । ३ ॥

इतश्च भूतसूक्ष्मपरिप्वक्तस्य गमनमिति गम्यते । उत्क्रामति जीवे
प्राणानां तदनुगतिरभूयते-३ “तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रा-
मन्तं सर्वं प्राणा अनूत्क्रामन्ति” इति । स्मर्यते च-४ “मनस्पष्टानांन्द्रया
णि प्रकृतिस्थानि कपोते । शरीरं यदवाप्नोति यथाप्युत्क्रामतीश्वरः
रुहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिचाशयात्” इति । नच निराभयाणां
गतिरुपपन्न इति तदाश्रयभूतानां भूतसूक्ष्माणामपि गतिरभ्युपगन्त-
व्या ॥ ३ ॥

अग्न्यादिगतिश्रुतेरिति चेन्न भाक्तत्वात् । ३ । १ । ४ ॥

१ “यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति, वातं प्राणश्चक्षुरादि-
त्यम्” इत्यादिना प्राणानां जीवमरणकाले अग्न्यादिप्वत्ययभ्रवणान्न ने-
यां जीवेन सह गमनमिति गतिभ्रतिरन्यथा नेयेतिचेन्-न, भाक्तत्वात्
अग्न्यादिप्वत्ययभ्रवणस्य । कथं भाक्तत्वम्? २ “ओषधीर्लोमानि वन-
स्पतीन् केशाः” इत्यनपियद्भिर्लोमादिभिस्सह भ्रवणान् । अमश्चक्षुराग-
त्ययश्रुतिरधिष्ठानृदेवतापक्रमणपरा ॥ ४ ॥

१. पा. १-३-१ ॥-२. छा. १-३-३ ॥-३. बृ. १-४-२ ॥-४. गी. १५-३॥

२. बृ. १-२-१ ॥

प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न ता एव ह्युपपत्तेः । ३।१।५॥

यदुक्तमद्विस्सूदमामिर्भूतान्तरसंसृष्टाभिः परिप्वक्तो जीवो गच्छ-
तीति प्रभप्रतिवचनाभ्यामवगम्यत इति ; तन्नोपपद्यते, द्युलोकाग्निविप-
ये प्रथमे होमे अपां होम्यत्वाभ्यवृत्त्या । १ “तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः भ-
क्षां जुहति” इति भक्षैव होम्यत्वेन भुता । भक्षा नाम जीवस्य मनोवृ-
त्तिविशेषत्वेन प्रसिद्धा । अतो नापस्तत्र होम्या इति चेत्—न, यतः
ताः—आप एव भक्षाशब्देन तत्राभिधीयन्ते; कुतः ? प्रभप्रतिवचनोपपत्तेः ।
२ “येत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति” इति प्रभस्य
प्रतिवचनोपक्रमे हि भक्षा द्युलोकाग्नौ होम्यत्वेन भुता ; तत्र यदि भक्षा-
शब्देनापो नोच्येरन् ; ततोऽन्यथा प्रभोऽन्यथा प्रतिवचनमित्यसङ्गतं
स्यात् । ३ “इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसः” इति प्रतिवच-
ननिगमनं च भक्षाया अप्वचमेव सूचयति । २ “येत्थ यथा” इति हि प्रभ-
गतः प्रकारः १ “इति तु पञ्चम्याम् ” इतीतिशब्देन परिहारे निगम्यते ।
भक्षासोमराजवर्षाभरेतोर्गर्भरूपेणापां परिणाममुत्तत्रा ह्येवमापः पुरुषवचस
इति निगम्यते । भक्षाशब्दस्य चाप्सु वैदिकप्रयोगो दृश्यते—४ “अपः
प्रणयति भक्षा या आपः ” इति । १ “भक्षां जुहति तस्या आहुतेस्सोमो
राजा सम्भवति” इति सोमाकारेण परिणामश्चापामेवोपपद्यते । अतो भू-
तान्तरसंसृष्टाभिरद्विस्सम्परिप्वक्तो जीवो रंहतीत्युपपन्नम् ॥ ४ ॥

अश्रुतत्वादिति चेन्नेष्टादिकारिणां प्रतीतेः । ३।१।६॥

यः पुनरुक्तमद्विस्संपरिप्वक्त्रे जीवो यामित्ययमर्थ एतस्मादाक्या-
वगम्यत इति ; तन्नोपपद्यते, अस्मिन्वाक्ये जीवस्याभ्यवृत्त्या । अत्र हि
भक्षादय एवाम्यवस्थाविशेषा होम्यत्वेन भुताः ; न तु जीवस्तत्परिप्वक्त
इति चेन्न—तन्न, इष्टादिकारिणां प्रतीतेः—अस्मिन्नेव वाक्ये द्युत्तरत्र ब्रह्म
ज्ञानविधुरेष्टापूर्तदत्तकारिणो द्युलोकं प्राप्य सोमराजानो भवन्ति; पुण्य-

कर्मावसाने च पुनरागत्य गर्भं प्राप्नुवन्तीत्युच्यते । “अथ य इमे प्रागे
इष्टापूर्वे दत्तमित्युपासते ते धूममभिसम्भवन्ति” इत्यादि १ ‘पितृलोका-
नाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसमेव सोमो राजा तदेवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति’
१ ‘तस्मिन्यावत्सम्पातमुपित्वाऽर्थैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते’ १ ‘योथो ह्य-
न्नमस्ति यो रेतस्सिञ्चति तद्भूय एव भवति’ इति । अत्रापि धुलांकाग्नौ
२ ‘भद्रां जुहति तस्या आहुतेस्सोमो राजा सम्भवति’ इति तदेकार्थ-
त्वाच्छ्रुतस्य देहविशिष्टस्सोमरूपदेहविशिष्टो भवतीत्युक्तमिति गम्यते ।
देहस्य जीवविशेषणतैकस्वरूपस्य वाचकः शब्दो विशेष्ये जीव एव पर्यव-
स्यति; अतस्सम्परिष्वक्ते जीवां यातीत्युपपद्यते ॥ ६ ॥

ननुच १ ‘तं देवा भक्षयन्ति’ इति देवैर्भक्ष्यमाणत्ववचनान् १ ‘सो-
मो राजा’ इति न जीव उच्यते, जीवस्यानदनीयत्वात् ; तत्राह—

भाक्तं वानात्मवित्वात्तथाहि दर्शयति । ३।१।७॥

वाशब्दश्चोद्यं व्यावर्तयति । इष्टादिकारिणोऽनात्मविच्चात्स देवानां
भोगोपकरणत्वेनेहामुत्र च वर्तते । इहेष्टादिना तदाराधनं कुर्वन्नुपकरोति;
आराधनप्रीतैर्वैर्दत्तममुं लोकं प्राप्य तत्र तत्समानभोगस्तदुपकरणं भवति
३ ‘यथा पशुरेवं स देवानाम्’ इत्यनात्मविदो देवानामुपकरणत्वं दर्शयति
श्रुतिः । स्पृतिरप्यात्मविदां ब्रह्मप्राप्तिमनात्मविदां च देवभोग्यत्वं दर्शयति
४ ‘देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि’ इति । अतो जीवस्य
देवानां भोगोपकरणत्वाभिप्रायमन्नत्येन भक्ष्यत्ववचनम् ; अतस्तद्भाक्तम् ।
तेन तृप्तिरेव च देवानां भक्षणमिति श्रूयते २ ‘न वै देवा अरन्ति न पिव-
न्ति एतदेवाधृतं दष्ट्वा तृप्यन्ति’ इति । तस्मादभूतमूर्तसम्परिष्वक्ता
जीवां रंहतीति सिद्धम् ॥ ७ ॥

इति भोशारीरकमीमांसाभाष्ये तदन्तरप्रतिपक्ष्यधिकरणम् ॥ १॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये कृतात्ययाधिकरणम् ॥ २ ॥)

कृतात्ययेऽनुशयवान्दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च

। ३ । १ । ८ ॥

केषलेष्टापूर्तदत्तकारिणां धूमादिना पितृयाणेन पथा गमनं कर्मफ-
लावसाने पुनरावर्तनं चास्नातं १ 'यावत्सम्पातमुपित्वाऽथैतमेवाभ्वानं
पुनर्निवर्तन्ते' इति । तत्र प्रत्यवरोहन् जीवः किमनुशयवान् प्रत्यवरोहति,
उत नेति संशय्यते । किं युक्तम् ? कमेणः कृत्स्नस्योपभुक्तत्वात् नानुश-
यवानिति प्राप्तम् । अनुशयो ह्युपभुक्तशिष्टं कर्म । तत्र कृत्स्नफलोपभोगेऽस्मि
नावशिष्यते । १ 'यावत्सम्पातमुपित्वा' इति वचनात् कृत्स्नोपभोगश्च
वायतः सम्पतन्त्यनेन स्वर्गं लोकमिति सम्पातः कर्मोच्यते । भृत्यन्तरं च
२ 'प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किञ्चिद् करोत्ययम् । तस्माज्जोफात्पुनरेत्यस्मै
नोकाय कमेणः' इति ॥

सिद्धान्तः

यत्वं प्राप्तेऽभिधीयते-अनुशयवान् प्रत्यवरोहति-इति । कुतः? दृष्ट-
स्मृतिभ्यां-भृतिस्मृतिभ्यामित्यर्थः । भृतिस्तावत्-३ 'तत्र इह रमणीयचरणा
अभ्याशो ह यत्ते' रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं क्षत्रिययोनिं
वैश्ययोनिं वा अथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनि-
मापद्येरन् श्रयोनिं वा सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा' इति प्रत्यवरु-
द्धान् प्रतिभूयते । असुप्ताज्जोफात्प्रत्यवरुद्धेषु रमणीयकर्माणो रमणीयां
ब्राह्मणादियोनिं प्रतिपद्यन्ते; कपूयचरणाः-कुत्सितकर्माणः कुत्सितां श्र-
नूकर चण्डालादियोनिं प्रतिपद्यन्त इति प्रत्यवरुद्धानां पुन्यपापकर्मयोगं द-

शयति । स्मृतिरपि १ 'वर्णा आश्रमाश्च स्वकर्मनिष्ठाः प्रेक्ष्य कर्मफलम-
नुभूय ततः शेषेण विशिष्टदेशजातिकुलरूपायुश्श्रुतवित्तवृत्तमुखमेधसो ज-
न्म प्रतिपद्यन्ते विप्रश्चो विपरीता नश्यन्ति' इति । तथा—२ 'ततः प-
रिवृत्तौ कर्मफलशेषेण जातिं रूपं वर्णं यत्नं मेधां प्रज्ञां द्रव्याणि धर्मानु-
ष्ठानमिति प्रतिपद्यन्ते तद्यत्नवदुभयोर्लोकयोस्सुख एव वर्तते' इति ।
३ 'यावत्सम्भ्रातम्' इति । फलदानप्रवृत्तकर्मविशेषविषयम् ; ४ 'यत्कि-
ंचेह करोत्ययम्' इतीदमपि तद्विषयमेव । अमुक्तफलानामकृतप्रायश्चित्ता-
नां च कर्मणां कर्मान्तरफलानुभवाभाशोऽप्यनुपपन्नः । अतोऽमुं लोकं
गतास्तानुशया एव यथेतमनेयं च पुनर्निवर्तन्ते-आरोहणप्रकारेण प्रका-
रान्तरेण च पुनर्निवर्तन्ते इत्यर्थः आरोहणं हि धूमराग्न्यपरपक्षवृत्ति-
णायनपरमासपितृलोकाकाशचन्द्रक्रमेण । अवरोहणं तु चन्द्रमसः स्था-
नादाकाशवायुधूमाभ्रमेयक्रमेण । तत्राकाशवरोहणाद्यथेतमः श्राम्वादि-
प्राप्तेः पितृलोकागमप्राप्तेऽश्नानेवम् ॥ = ॥

चरणादिति चेन्न तदुपलक्ष्यार्थेति काष्णार्जिनिः

। ३ । १ । ९ ॥

१ 'रमणीयचरणाः' ५ 'कपयचरणाः' इति न चरणशब्देन प-
र्ययापरूपं कर्माभिधीयते, चरणशब्दस्य लोकवेदयोराचारे प्रसिद्धेः, लौ-
किकाः खलु चरणमाचारः शीलं वृत्तमिति पर्यायानभिमुख्यते; येदे च
६ 'यान्यनवगानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि' ६ 'यान्यस्माकं मुचरि-
तानि तानि त्वयोपास्यानि' इति चरणकर्मणी भेदेन इत्यपदिश्यते; अतः
चरणान्-शीलान् योनिविशेषप्राप्तिः, नानुशयादिति चेत्—तत्र, चरण-

एकान्तशास्त्रादिति

१. गौतम. १-प्र. ११ अ. १२, १३, ॥ ४ आपस्तम्ब. २-१-२-३ ॥

३. ज्ञा. २-१-७, २ ॥ ४. वृ. १-४-६ ॥ ५. ज्ञा. २-१०-७ ॥ ६, तै. तिथा
११-२ ॥

भ्रुतिः कर्मोपलक्ष्यार्थेति काष्ण्याजिनिराचार्यो मन्यते, केवलादाचारा-
सुखदुःखप्राप्त्यसम्भवात् । सुखदुःखे हि पुण्यपापरूपकर्मफले ॥ ६ ॥

आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात् । ३ । १ । १० ॥

एवं तर्ह्यफलत्वादाचारस्य स्मृतिविहितस्यानर्थक्यमेवेति चेत्—तत्र
तदपेक्षत्वात्पुण्यस्य कर्मणः । आचारवत् एव पुण्यकर्मस्वधिकारः—‘स-
न्ध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्हस्सर्वकर्मसु’ १ ‘आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः’
इत्यादिष्वचनेभ्यः । अतश्चरणभ्रुतिः कर्मोपलक्ष्यार्थेति काष्ण्याजिनेरभि-
प्रायः ॥ १० ॥

सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः । ३ । १ । ११ ॥

‘पुण्यं कर्माचरति’ पापं ‘कर्माचरति’ इति कर्मणि चरतेः प्रयोगात्
पृथक्निर्देशस्य च प्रत्यक्षभ्रुतिसिद्धाचारानुमितभ्रुतिसिद्धविषयत्वेन गोय-
लीयवर्धन्यायेनोपपत्तेः । मुख्ये सम्भवति न लक्षणा न्यायेति सुकृतदुष्कृ-
ते एव चरणशब्दाभिधेये; इति बादरिराचार्यो मन्यते । अत्र बादरिमतमेष
स्वमतम् ; आचारानुमितभ्रुतिविहितसन्ध्यावन्दनादेः कर्मान्तराधिकार-
सम्पादनं फलमिति तु स्वीकृतम् । अतस्सानुशया एव प्रत्यबरोहन्ति ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसामाष्ये कृतात्ययाधिकरणम् ॥ २ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसामाष्ये अनिष्टादिकार्यधिकरणम् ॥ ३ ॥)

अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम् ३ । १ । १२ ॥

केवलेष्टापूर्तदत्तकारिणश्चन्द्रमसं गत्वा सानुशया एव नियतन्तं इ-
त्युक्तम् ; इदानीमनिष्टादिकारिणोऽपि चन्द्रमसं गच्छन्ति, नेति चिन्त्यते ।
ये विहितं न कुर्वन्ति, निषिद्धं च कुर्वन्ति, स उभयेऽपि पापकर्माणांऽ-

निष्टादिकारिणः । किं युक्तम् ? तेऽपि चन्द्रमसं गच्छन्तोति; कुतः ? ते-
पामपि हि तद्गमनं भुतं-१ "ये वैकेचास्माज्जोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते
सर्वे गच्छन्ति" इत्यविशेषेण सर्वेषामेव गतिभ्रवणम् ॥ १२ ॥

एव तर्हि सुकृतदुष्कृतकारिणोरुभयोरप्यविशिष्टैव गतिस्स्यात्,
नेत्याह—

**संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद्गति-
दर्शनात् । ३ । १ । १३ ॥**

तु शब्दशराङ्कां व्यावर्तयति; इतरेषाम्-अनिष्टादिकारिणां चन्द्रा-
रोहावरोहौ संयमने-यमशासने तत्प्रयुक्तयातना अनुभूयैव, नान्यथा;
कुतः ? तद्गतिदर्शनात्-दृश्यते हि पापकर्मणां यमवश्यतया तद्गमनम्
रं अयं लोको नास्ति न पर इतिमानी पुनःपुनर्वंशमापद्यते मे' १ 'वैवस्वतं
सङ्गमनं जनानां यमं राजानम्" इत्यादिषु ॥ १३ ॥

स्मरन्ति च । ३ । १ । १४ ॥

स्मरन्ति च सर्वेषां यमवश्यतां पराशरादयः ४ "सर्वे चैते वशं
यान्ति यमस्य भगवन्किल" इत्यादिषु ॥ १४ ॥

अपि सप्त । ३ । १ । १५ ॥

पापकर्मणां गन्तव्यत्वेन रौरवादीन् सप्त नरकानपि स्मरन्ति ॥ १५ ॥
ननु सप्तसु लोकेषु गच्छतां कथं यमसदनप्राप्तिः, अत आह—

तत्रापि तद्व्यापारादविरोधः । ३ । १ । १६ ॥

तेष्वपि सप्तसु यमाक्षयैव गमनादविरोधः । अत्रोऽनिष्टादिकारि-
णामपि यमलोकं प्राप्य स्वकर्मानुरूपं यातनाभ्यानुभूय पश्चाच्चन्द्रारोहा-
वरोहौ स्तः ॥ १६ ॥

१. कीर्त्तय, अ, १. २ ॥ २. ॥ ३. आरख २. प्र. १ प. ॥ ४. वि, ५,
३ ७-४ ॥

(सिद्धान्तः)

इति प्राप्त उच्यते—

विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात् । ३ । १ । १७ ।

तु शब्दः पञ्चव्यापृत्त्यर्थः । अनिष्टादिकारिणामपि चन्द्रप्राप्तिरस्ती-
त्येतन्नोपपद्यते; कुतः ? विद्याकर्मणोरिति विद्याकर्मणोः फलभोगार्थत्वा-
देवयानपितृयाणयोः । एतदुक्तं भवति—अनिष्टादिकारिणां यथा विद्या-
विधुरत्वादेवयानेन पथा गमनं न सम्भवति; तद्वदेवेष्टापूर्तवत्तविधुर-
त्वात्पितृयाणेन चन्द्रगमनमपि न सम्भवति—इति । देवयानपितृयाणयोः
विद्याविषयत्वं पुण्यकर्मविषयत्वं च कथमवगम्यत इति चेत्—प्रकृतत्वा-
त्तयोः । प्रकृता हि देवयाने विद्या, पितृयाणे च कर्म १ “तत्र इत्थं विदुर्ये
चेमेऽरण्ये भद्रा तप इत्युपासते” इत्युक्त्वा १ “तेऽर्चिपमभिसम्भवन्त्य-
र्विपोऽहः” इत्यादिना देवयानवचनात्, २ “अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते
वृत्तमित्युपासते” इत्युक्त्वा २ “ते धूममभिसम्भवन्ति” इत्यादिना पि-
तृयाणवचनात् ३ “ये वै के चास्मान्लोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे ग-
च्छन्ति” इत्येतदपि वचनं ‘य इष्टादिकारिणः ते सर्वे’ इति परियेयम् ॥

ननु पापकर्मणां चन्द्रगमनाभावे पञ्चमाहुत्यसम्भवाच्छरीरारम्भ
एव नोपपद्यते; ४ “पञ्चम्यामाहुताथापः पुरुषवचसो भवन्ति” इति हि
शरीरारम्भरभूयते, सा चाहुतिश्चन्द्रप्राप्तिपूर्विकेति दर्शितम् ; अतश्शरीरा-
रम्भायैव तेषामपि चन्द्रारोहावरोहावश्याभ्युपेत्यावित्यत आह—

न तृतीये तथोपलब्धेः ३ । १ । १८ ॥

* तृतीयस्थानस्य शरीरारम्भाय न पञ्चमाहुत्यपेक्षा; कुतः ? तथो-
पलब्धेः—तृतीयस्थानशब्देन केवलपापकर्माण उच्यन्ते, तेषां देहागम्भे

१. छा. २-१-१ । २. छा. २-१-३ ॥ ३. कौषी. १ अ. २ ॥
४. छा. २-४-१ ॥ * तृतीयस्य स्थानस्य. पा. ॥

पञ्चमाहुत्यनपेक्षत्वमुपलभ्यते १ “वेत्थ यथा केनासौ लोको न संपूर्यते”
इत्यस्य प्रभस्य प्रतिवचने २ “अथैतयोः पथोर्न कतरेण च तान्तामानि
क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्यन्निवस्यन्त्येतत्तृतीयं स्थानं
तेनासौ लोको न संपूर्यते” इति तृतीयस्थानस्य क्षुलांकारोदावरोदाभा-
वेन क्षुलोकासंपूर्तिवचनादस्य तृतीयस्थानस्य शरीरारम्भाय न पञ्चमाहु-
त्यपेक्षा । ३ “पञ्चम्यामाहुती” इतिचापां पञ्चमाग्निसम्बन्धस्य पुरुषव-
चस्त्वहेतुत्वमात्रं प्रतिपादयति, नान्यन्निवारयति, अवधारणाभयगुणान् ॥

स्मर्यतेऽपि च लोके । ३ । १ । १९ ॥

पुण्यकर्मणामपि केषाञ्चित्पञ्चमाहुत्यनपेक्षया देहारम्भो लोके
स्मर्यते द्रोपदीधृष्टद्युम्नप्रभृतीनाम् ॥ १६ ॥

दर्शनाच्च । ३ । १ । २० ॥

श्रुतावपि दृश्यते केषाञ्चित्पञ्चमाहुत्यनपेक्षया देहारम्भः ३ “तेषां
खल्वेषां भूतानां त्रीण्येष बीजानि भवन्ति आण्डजं जीवजमुद्भिज्जम्” इति
पञ्चमुद्भिज्जस्वेदजयोः भूतयोः पञ्चमाहुतिमन्तरंणोत्पत्तिर्दृश्यते ॥ २० ॥

ननु स्वेदजानामत्र न सङ्कीर्तनमस्ति ३ “त्रीण्येष बीजानि” इति
वचनात् ; तत्राह—

तृतीयशब्दावरोधस्संशोकजस्य । ३ । १ । २१ ॥

संशोकजस्य-स्वेदजस्यापि ४ “आण्डजं जीवजमुद्भिज्जम्” इत्यत्र
तृतीयेनोद्भिज्जशब्देनावरोधः संप्रहो विग्रहत इत्यर्थः ; अतः केवलपापक-
र्मणां चन्द्रप्राप्तिर्न सम्भवति ॥ २१ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अनिष्टाधिकार्यधिकरणम् ॥ ३ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये तत्स्वाभाव्यापत्त्यधिकरणम् ॥)

तत्स्वाभाव्यापत्तिरूपपत्तेः । ३ । १ । २२ ॥

इष्टादिकारिणो भूतसूक्ष्मपरिप्लवत्तास्सानुशयाच्चन्द्रमसोऽवरोहन्ती-
न्युक्तम् , अयरोहप्रकारश्च १ "अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतमाकाशम्
आकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वाऽभ्रं भवति अभ्रं भूत्वा
मेघो भवति, मेघो भूत्वा प्रवर्षति" इति वचनात् । 'यथेतमनेवञ्च' इ-
त्युक्तम् ; तत्रास्याकाशादिप्रतिपत्तौ देवमनुष्यादिभाववदाकाशादिभावः,
उत च तत्सादृश्यापत्तिमात्रमिति विशये अद्यावत्स्थस्य सोमभाववदविशेषा
वाकाशादिभावः—

(सिद्धान्तः)

इति प्राप्ते तत्स्वाभाव्यापत्तिरेवेत्युच्यते । तत्स्वाभाव्यापत्तिः—त-
त्सादृश्यापत्तिरित्यर्थः । कुत एतत्? उपपत्तेः सोमभावमनुष्यभावादौ हि सु-
खदुःखोपभोगाय तद्भावः; अत्र त्वाकाशादौ सुखदुःखोपभोगाभावात्तद्भा-
वानुपपत्तेस्तदापत्तिवचनं तत्संसर्गकृततत्सादृश्यापत्त्यभिप्रायम् ॥ २० ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये तत्स्वाभाव्यापत्त्यधिकरणम् ॥ ४ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये नातिचिराधिकरणम् ॥ ७ ॥)

नातिचिरेण विशेषात् । ३ । १ । २३ ॥

आकाशप्राप्तिप्रभृति यावद्ग्रीष्मादिप्राप्ति किं तत्रतत्र नातिचिरं ति-
ति, उतानियम इति विशये नियमहेत्वभावादनियमः—

१. छा. २-१०-२ ॥ ४ तत्सादृश्यमात्रम्, तत्स्वाभाव्यापत्तिमात्रम्, वा ॥

(सिद्धान्तः)

इति प्राप्ते उच्यते-नातिचिरेण-इति । कुतः? विशेषान्-उत्तरत्र ब्राह्मादिप्राप्तौ १ "अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरम्" इति विशिष्य कृच्छ्रनिष्क्रमणत्वाभिधानात् पूर्वत्र ह्याकाशादिप्राप्तावचिरनिष्क्रमणं गम्यते । दुर्निष्प्रपतरमिति च्छान्दसस्तशब्दलोपः; दुर्निष्प्रपतरं-दुःखनिष्क्रमणतरमित्यर्थः ।

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये नातिचिराधिकरणम् ॥ १ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अन्याधिष्ठिताधिकरणम् ॥ ६ ॥)

अन्याधिष्ठिते पूर्ववदभिलाषात् । ३ । १ । २४ ॥

अवरोहन्तो जीवाः ब्रीह्यादिभायेन जायन्ते इति भ्रूयते १ "मेघां भूत्वा प्रयर्पति त इह ब्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा जायन्ते" इति । ते किमन्यैर्भोक्तृभिर्ब्रीह्यादिशरीरैरधिष्ठितान्ब्रीह्यादीनां शिलष्यन्तिः उत ते भोक्तारो ब्रीह्यादिशरीरा जायन्ते इति विशये २ "जायन्ते" इति वचनादेवो जायते मनुष्यो जायन् इति वदुर्ब्रीह्यादिशरीरा एव--

(सिद्धान्तः)

इति प्राप्त उच्यते-अन्याधिष्ठिते-इति । जीवान्तरंगाधिष्ठिते ब्रीह्यादिशरीरे तेषां संश्लेषमात्रमेव । कुतः? पूर्ववदभिलाषात्-आकाशादिमेघपर्यन्तवत्केवलतद्वावाभिलाषान् । यत्र हि भोक्तृत्यमभिप्रेतम् ; तत्र नन्माधनमृतं कर्माभिलष्यते १ "रमणीयचरणाः... कपूयचरणाः" इति । इह चाकाशादिवज्राभिलष्यते कर्म, फलप्रदाने प्रवृत्तस्य स्वर्गोपभोग्यफलभ्येषादेः कर्मणः स्वर्गोपभोगादेव समाप्तत्वात्, अनारब्धस्य १ "रमणीयचरणाः

“कपूयचरणाः” इति वक्ष्यमाणत्वात्, मध्ये कर्मान्तराभावाच्च । अत आकाशादिभाववचनवद्ब्रीह्यादिभावेन जन्मवचनमौपचारिकम् ॥२१॥

अशुद्धमिति चेन्न शब्दात् । ३ । १ । २५ ॥

नैतदस्ति—यदन्याधिष्ठिते ब्रीह्यादिशरीरे संश्लेषमात्रम्, भोक्तृत्व-
हेत्वभावाच्च ब्रीह्यादिभावेन जन्म—इति भोक्तृत्वहेतुसद्भावात् स्वर्गो-
पभोग्यफलमिष्टादिकर्मैवाशुद्धम्—पापमिश्रम्, अग्नीपोमीयादिर्हिंसायुक्त-
त्वात् । हिंसा च १ “न हिंस्यात्सर्वा भूतानि” इति निषिद्धत्वात्पापमेव ।

चात्र पदाहवनीयादिवदुत्सर्गापवादभावस्सम्भवति, मिश्रविषयत्वात् ।
अग्नीपोमीयर्हिंसाविधिर्हिंसायाः क्रतूपकारकत्वं बोधयति; १ “न हिंस्यात्”
इति तु हिंसायाः प्रत्ययाय फलत्वम् । अथोच्येत—अग्नीपोमीयादिषु वि-
हितः प्रवृत्तेर्न तद्विषयं निषेधविधिरास्कन्दति, रागप्राप्तविषयत्वात्तस्येति;
नै म्, इहापि रागप्राप्तेरपिशिष्टत्वात् । २ “स्वर्गकामो यजेत” इत्येवमादौ हि
कामिनः कर्तव्यतया यागाद्युपदेशायागादेः स्वर्गादिसाधनत्वमवगम्य फ-
लरागत एव यागादौ प्रवर्तते । अग्नीपोमीयादिष्वपि तेषां फलसाधनभू-
तस्य यागादेरुपकारकत्वं शास्त्रादवगम्य रागादेव प्रवर्तते । लौकिक्यामपि
हिंसायां केनचित्प्रमाणेन हिंसायाः स्वसमीहितसाधनत्वमवगम्य रागा-
त्प्रवर्तत इति न कश्चन विशेषः । तथा नित्येष्वपि कमसु ३ “सर्ववर्णानां
स्वधर्मानुष्ठाने परमपरिमितं मुख्यम्” इत्यादिवचनात्फलसाधनत्वमवगम्य
रागादेव प्रवृत्तिरिति तेषामप्यशुद्धैर्युक्तत्वम् । अत इष्टादीनां पापमिश्र-
त्वेनाशुद्धयुक्तानां स्वर्गोऽनुभाव्यं फलं स्वर्गोऽनुभूय हिंसाशस्य फलं ब्री-
ह्यादिस्यादभावेनानुभूयते । स्यादभावं च पापकृतं स्मरन्ति ४ “शरी-
रजैः कमदोपैर्याति स्यादरतां नरः” इति । अनो ब्रीह्यादिभावेन भोगाया-
नुशयिनो जायन्त इति चेन्न तन्न, कुतः? शब्दात्—अग्नीपोमीयादेस्संज्ञपन-

स्य स्वर्गलोकप्राप्तिहेतुतया हिंसात्वाभावात् शब्दान् । पशोर्हि संशयननिमि-
त्तां स्वर्गलोकप्राप्तिवदन्तं शब्दमामनन्ति १ "हिरण्यशरीर ऊर्ध्वः स्वर्ग-
लोकमेति" इत्यादिकम् । अतिशयिताभ्युदयसाधनभूतो व्यापारोऽल्पदुः-
खदोऽपि न हिंसा, प्रत्युत रक्षणमेव । तथा च मन्त्रवर्णः २ "न वा उ-
पतन्मित्रयसे न रिप्यसि देवान् इदेषि पथिभिस्सुगेभिः । यत्र यन्ति सुकृ-
तो नापि दुष्कृतस्तत्र त्वा देवस्सयिता दधातु" इति । चिकित्सकं च
नादात्यिकाल्पदुःखकारिणमपि रक्तकमेव वदन्ति, पूजयन्ति च तज्ज्ञाः ॥

रेतस्सिग्योगोऽथ । ३ । १ । २६ ॥

इतश्चौपचारिकं ग्रीष्मादिजन्मवचनम्, ग्रीष्मादिभाववचनानन्तरं ३ 'यो
यो ह्यन्नमसि यो रेतस्सिञ्चति तद्भूमय एव भवति' इति रेतस्सिगभावोऽ-
नुशयिनां भूयमाणो यथा तद्योगमात्रं प्रतिपादयति, तद्वद्ग्रीष्मादिभावोऽ-
पीत्यर्थः । २६ ॥

योनेश्शरीरम् । ३ । १ । २७ ॥

योनिप्राप्तेः पश्चाद्देवानुशयिनां शरीरप्राप्तिः, तत्रैव सुखदुःखोप-
भोगसद्भावान् । ततः प्रागाकाशादिप्राप्तिप्रभृति तद्योगमात्रमेवेत्यर्थः ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अन्याधिष्ठिताधिकरणम् ॥ ६ ॥

इति श्रीभगवद्रामानुजविरचिते शारीरकमीमांसाभाष्ये

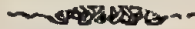
तृतीयस्याध्यायस्य प्रथमः पादः ॥ १ ॥

॥ श्रीमते रामानुजाय नमः ॥

श्रीभगवद्रामानुजविरचिते

श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये

—(तृतीयाध्याये -द्वितीयः पादः-सन्ध्याधिकरणम् ॥)—



सन्ध्ये सृष्टिराह हि । ३ । २ । १ ॥

एवं कर्मानुरूपगमनागमनजन्मादियोगेन जाग्रतो जीवस्य दुःखित्वं स्थापितम् ; इदानीमस्य स्वप्नावस्था परीक्ष्यते । स्वप्नमधिकृत्य भूयते १ 'न तत्र रथा न रथयांगा न पन्थानो भवन्ति अथ रथान् रथयोगान् पथस्तृजते न तत्रानन्दा मुदः प्रमुदो भवन्ति अधानन्दान् मुदः प्रमुदः सृजते न तत्र वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यो भवन्ति अथ वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यस्तृजते स हि कर्ता' इति । तत्र संशयः-किमियं रथा-दिसृष्टिर्जीविनैव क्रियते ; अहोस्विदीश्वरेण—इति । किमुक्तम् ? सन्ध्ये सृष्टिर्जीविनैति । कुतः ? सन्ध्यं-स्वप्नस्थानमुच्यते, २ 'सन्ध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानम्' इति वचनात् ; सा तु जीविनैव क्रियते १ 'सृजते स हि कर्ता' इत्याह हि । स्वप्नदृग्जीव एव तत्र प्रतीयते ॥ १ ॥

निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च । ३ । २ । २ ॥

किञ्च-एनं जीवं स्वप्ने कामानां निर्मातारमेके शास्त्रिनोऽधीयते ३ 'य एषु सुषेणु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः' इति ; पुत्रादयश्च तत्र काम्यमानतया कामशब्देन निर्दिश्यन्ते, नेच्छामात्रम्; पूर्वत्र हि ४ 'स-

वान् कामान् छन्दतः प्रार्थयस्व" १"शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृषीष्व" इति
पुत्रादय एव कामाः प्रकृताः । अतो रथादीन् जीवः स्वप्ने मृजति, जीवस्य
च सत्यसङ्कल्पत्वं प्रजापतिवाक्ये श्रुतम् ; अत उपकरणशब्भावेऽपि सृष्टि-
रूपपश्यते ॥ २ ॥

—(सिद्धान्तः)—

इति प्राप्तेऽभिधीयते—

मायामात्रं तु कात्स्न्येनानभिव्यक्त-
स्वरूपत्वात् । ३ । २ । ३ ॥

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति; स्वप्न रथपुष्करिण्यागर्थजातं मायामा-
त्रं परमपुरुषसृष्टमित्यर्थः । मायाशब्दो ह्याश्चर्यवाची २' जनकस्य कुले
जाता देवमायेव निर्मिता' इत्यादिषु तथा दर्शानान् । अत्रापि ३ "न तत्र
रथा न रथायोगा न पन्थानः"—सकलेतरपुरुषानुभाष्यतया न भवन्ती-
त्यर्थः, ३' "अथ रथान्त्रययोगान्पथः सृजते"—स्वप्नदृगनुभाष्यतया तत्काश-
मात्रावसानान् सृजत इत्याश्चर्यरूपत्वमेवाह । एवंविधाश्चर्यरूपा सृष्टिस्स-
त्यसङ्कल्पस्य परमपुरुषस्यैवोपपद्यते, न जीवस्य तस्य सत्यसङ्कल्पत्वादि-
शुक्तस्यापि संसारदशायां कात्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वाच्च जीवस्य तथा-
विधाश्चर्यसृष्टिरूपपद्यते । ४' कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः" इति च परम-
पुरुषमेव निर्मातारमाह— ५' "य एषु सुप्तेषु जागर्नि" ४' "तदेव शुक्रं तद्ब्र-
ह्म तदेवाभूतमुच्यते । तस्मिन् लोकारिभतास्सर्वं तद् नान्येति कश्चन"
इत्युपक्रमोपसंहारयोः परमपुरुषसाधारणस्वभावप्रतीतेः । ६' "अथ वेशा-
न्तान् पुष्करिण्यः स्रवन्त्यः सृजते स हि कर्ता" इति च तथा श्रुत्यैका-
ध्यात्परमपुरुषमेव कर्तारमाह ॥ ३ ॥

१. कठ १-१-१३ ॥-२. श्रीरामायणे. बानकाण्डे. १-२७ ॥-३. इ. ४-३-
१० ॥-४. कठ. २-६-८ ॥

स्वाभाविकं चेज्जीवस्यापहतपाप्मत्वादिकम् , फुतस्तत्राभिव्यज्यत
इत्यन आह—

पराभिध्यानात् तिरोहितं ततोह्यस्य
बन्धविपर्ययौ । ३ । २ । ४ ॥

तुशब्दश्चाङ्गान्यावृत्त्यर्थः; पराभिध्यानात्-परमपुरुषसङ्कल्पान् ,
अस्य जीवस्य स्वाभाविकं रूपं तिरोहितम् ; अनादिकर्मपरम्परया कृता-
पराधस्य ह्यस्य स्वाभाविकं कल्याणरूपं परमपुरुषस्तिरोधापयति; ततः
नत्सङ्कल्पादेव हि अस्य जीवस्य बन्धमोक्षौ भूतौ १“यदा ह्येवैष एतस्मि-
न्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते अथ सोऽभयं ग-
नो भवति यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति”
१“एष ह्येवानन्दयाति” २“भीषाऽस्माद्भानः पवते” इत्यादिषु ॥ ४ ॥

देहयोगाद्वा सोऽपि । ३ । २ । ५ ॥

सोऽपि तिरोभावो देहयोगद्वारेण वा भवति, सूक्ष्माचिच्छक्ति-
योगद्वारेण वा ; सृष्टिकाले देहावस्थेनाचिद्वस्तुना संयोगाद्भवति, प्रलय-
काले नामरूपविभागानर्हातिसूक्ष्माचिद्वस्तुयोगात् । अतोऽनभिव्यक्तस्य-
रूपत्वात्स्वप्ने जीवो न रणादीन् सङ्कल्पमात्रेण स्मरं शक्नोति । ३“तस्मि-
ल्लोकादिभूतास्सर्वे तदु नात्येति कश्चन” इति सर्वेप्युप्तेषु जागरणं सर्व-
ल्लोकाभ्रत्यमित्यादयो हि परमपुरुषस्यैव सम्भवन्ति । अतो जीवानाम-
न्त्यात्मकमनुगुणफलानुभवार्थं तावन्मात्रकालावसानान् तदेकानुभाव्या-
नर्थानुत्पादयति ॥ ५ ॥

सूचकश्च हि श्रतेराचक्षते च तद्विदः । ३ । २ । ६ ॥

इतश्च स्यान्ता अर्था न जीवसङ्कल्पपूर्वकाः; यतः स्वप्नोऽभ्युदया-

१. तै. आन. ७-२ ॥—२. तै. आन. ८-१ ॥—३. कठ. १-८ ॥ ४. वा.

नभ्युदययोस्सूचकः भूतेरवगम्यते। “यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन् स्वप्ननिदर्शने” इति; २ “अथ स्वप्ने पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्तं पश्यति स एनं हन्ति” इत्यादेशः । स्वप्नाध्याय-विषयः स्वप्नं शुभाशुभयोस्सूचकमाचक्षते । सूचकत्वं च स्वसङ्कल्पायत-स्य नोपपन्नते; तथाचाशुभस्यानिष्टत्वाच्छुभस्य सूचकमेव सूत्रा परयेत् । अतः स्वप्ने सृष्टिरीश्वरेणैव कृता ॥ ६ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये सन्ध्याधिकरणम् ॥ १ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये तदभावाधिकरणम् ॥ २ ॥)

तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च । ३ । २ । ७ ॥

इदानीं सुषुप्तिस्थानं परीक्ष्यते; इदमाग्रायते ३ “यत्रैतत्सुषुप्त-मस्तस्मिन्प्रसन्नः स्वप्नं न विजानाति आसु तदा नाडीषु सूप्तो भवति” इति; तथा ४ “अथ यदा सुषुप्तो भवति यदा न कस्यचन वेद हिता नाम नाड्यो द्वासप्ततिसहस्राणि हृदयात्पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते ताभिः प्रत्यवसृ-प्य पुरीतति शेते” इति; तथा-५ “यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सो-म्य तदा सम्पन्नो भवति” इति । एवं नाड्यः पुरीतद्वग्नश्च सुषुप्तिस्था-नत्वेन भूयन्ते; किमेषां विकल्पः समुच्चयो वेति विशये निरपेक्षत्वप्रतीतिः युगपदनेकस्थानवृत्त्यसम्भवाच्च विकल्पः—

—(सिद्धान्तः)—

इति प्राप्त उच्यते—तदभावः—इति । तदभावः—स्वप्नाभावः॥ सुषुप्तिः नाडीषु पुरीतन्यान्मनि च भवति, एषां स्थानानां समुच्चय इत्यर्थः । कुलः?

१. वा. ५-२-४ ॥ २ ॥ ३. वा. ८-६-३ ॥ ४. वृ. ४-१-१६ ॥

५. वा. ९-८-१ ॥

तच्छ्रुतेः-त्रयाणां स्थानत्वश्रुतेः । न च कार्यभेदेन समुच्चये सम्भवति पाक्षि-
कबाधगर्मविकल्पो न्याय्यः । सम्भवति च प्रासादखट्वापर्यङ्कवत्प्रासा-
दीनां कार्यभेदः । तत्र नांडीपुरीततौ प्रासादखट्वास्थानीयौ; ब्रह्म तु प-
र्यङ्कस्थानीयम् । अतो ब्रह्मैव साक्षात्सुपुप्तिस्थानम् ॥ ७ ॥

अतः प्रबोधोऽस्मात् । ३ । २ । ८ ॥

यतो ब्रह्मैव साक्षात्सुपुप्तिस्थानम्, अतः अस्मात्-ब्रह्मणः एषां जी-
वानां प्रबोधः भूयमाण उपपद्यते-१ "सत आगम्य न त्रिदुः सत आग-
च्छामहे" इत्यादिषु ॥ ८ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये तदभावाधिकरणम् ॥ २ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये कर्मानुस्मृतिशब्दविध्यधिकरणम् ॥३॥)

स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः । ३ । २ । ९ ॥

किं सुपुप्त एव प्रबोध समये उत्तिष्ठति, उतान्य इति संशये अस्य
सकलोपाधिविनिर्मुक्तस्य ब्रह्मणि सम्पन्नस्य मुक्तादविलक्षणत्वेन प्राची-
नशारीरेन्द्रियादिसम्यग्भावादन्यः—

—(सिद्धान्तः)—

इति प्राप्त उच्यते-स एव तु-इति । तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति, स
एवोत्तिष्ठति; कृतः? कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः । कर्म तावत्-सुपुप्तेन पू-
र्वकृतं पुण्यपापरूपं तत्त्वज्ञानात्प्राक्तेनैव भोक्तव्यम् । अनुस्मृतिरपि-य-य-
बाहं सुप्तः, स एव प्रबुद्धोऽस्मीति । शब्दोऽपि-सुपुप्तप्रबुद्धसण्वेति दर्श-
यति-१"त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा प-
तङ्गो वा दंशो वा मशको वा यगद्भवन्ति तथा भवन्ति" इति । विध्यग्र
मोक्षार्थासुपुप्तस्य मुक्तत्वेऽनर्थकास्थुः । नचासौ सर्वोपाधिविनिर्मुक्त

आविर्भूतस्वरूपः—१“तत्रैतत्सुपुत्रः” इति सुपुत्रं प्रकृत्य १“नार्ह स्वत्व
यमेव सम्प्रत्यात्मानं जानान्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि विनाश-
मेवापीतो भवति नाहमत्र भोग्यं पश्यामि” इति वचनात् । मुक्तस्य च
२“परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते” ३“स तत्र पर्येति ज-
ज्ञत्कीडन्नममाणाः” ४“स स्वराड्भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भ-
वति” ५“सर्वं हि पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वशः” इति सर्वज्ञत्वा-
दिभूयते । अतस्सुपुत्रसंसरमेव आयस्तसर्वकरणो ज्ञानभोगागशक्तो
विभ्रमस्थानं परमात्मानमुपसम्पद्याश्चस्तः पुनर्भोगायोत्तिष्ठति ॥ ६ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये कर्मानुस्मृतिशब्दविध्यधिकरणम् ॥३॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये मुग्धाधिकरणम् ॥ ४ ॥)

मुग्धेऽर्थसम्पत्तिः परिशेषात् । ३ । २ । १० ॥

मुग्धमधिकृत्य विन्यते; किमियं मूर्च्छा सुपुत्रादिष्वन्यतमाव-
स्था, उतावस्थान्तरमिति विशये सुपुत्रादीनामन्यतमावस्थायामेव मू-
र्च्छाप्रसिद्धयुपपत्तेरवस्थान्तरकल्पने प्रमाणाभावादन्यतमावस्था—

—(सिद्धान्तः)—

इति प्राप्त उच्यते—मुग्धेऽर्थसम्पत्तिः—इति । मुग्धे पुरुषे या तस्या
वस्था, सा मरणागार्थसम्पत्तिः । कुतः? परिशेषात्—न तावत्स्वप्नजागरी,
ज्ञानाभावात्; निमित्तवैकल्यादाकारवैकल्याच्च न सुषुप्तिमरणे । निमित्तं
हि मूर्च्छाया अभिघातादिः । पारिशेष्यान्मरणागार्थसम्पत्तिर्मूर्च्छा । मर-
णं हि सर्वप्राणदेहसम्बन्धोपरतिः; सूक्ष्मप्राणदेहसम्बन्धावस्थितिर्मूर्च्छा ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये मुग्धाधिकरणम् ॥ ४ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये उभयलिङ्गाधिकरणम् ॥ ५ ॥)

न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि ३।२।११

दोषदर्शनाद्वैराग्योदयाय जीवस्यावस्थाविशेषा निरूपिताः, इवा-
नीं ब्रह्मप्राप्तिवृत्त्याजननाय प्राप्यस्य ब्रह्मणो निर्दोषत्वकल्याणगुणात्मक-
त्वप्रतिपादनायारभते । तत्र जागरस्वप्रसुप्तमुग्ध्युत्क्रान्तिषु स्थानेषु त-
त्तत्स्थानप्रयुक्ता जीवस्य ये दोषाः, ते तदन्तर्यामिणः परस्य ब्रह्मणोऽपि
तत्रतत्रावस्थितस्य सन्ति, नेति विचार्यते । किं युक्तम् ? सन्तीति । कुतः ?
तत्तदवस्थशरीरेऽवस्थानात् । ननु १“सम्भोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात्”
२“स्थित्यवनाभ्यां च” इत्यादिषु परस्याकर्मवरयत्वेन दोषाभाव उक्तः, त-
त्कथमकर्मवरयस्य परस्य ब्रह्मणस्तत्तत्स्थानसम्बन्धादपि उच्यते, इत्य-
मुच्यते—कर्माण्यपि देहसम्बन्धमापादयन्त्यपुरुषार्थजननानि भवन्ति—इति
३“देहयोगाद्वा” इत्यत्रोक्तम् ; तच्च देहसम्बन्धस्यापुरुषार्थत्वेन भवति; इ-
तरथा कर्माण्येव दुःखं जनयिष्यन्ति; किं देहसम्बन्धेन, अतोऽकर्मवरयत्वे
सत्यपि नानाविधाशुचिदेहसम्बन्धोऽपुरुषार्थ एव; अतस्तन्मित्रमनार्थ स्वे-
च्छया तन्प्रवेशोऽप्यपुरुषार्थसम्बन्धोऽयर्जनीयः; पूयशोणितादिमज्जनं हि
स्वेच्छाकारितमप्यपुरुषार्थ एव । अतो यद्यपि जगदेककारणं सर्वज्ञत्वा-
दिकल्याणगुणाकारं च ब्रह्म, तथापि ४“यः पृथिव्यां तिष्ठन्” ५“य
आत्मनि तिष्ठन्” ६“यश्चाक्षुषि तिष्ठन्” ७“यो रेतसि तिष्ठन्” इत्या-
दिवचनात् तत्रतत्रावस्थितस्य तत्तत्सम्बन्धरूपापुरुषार्थास्सन्ति—इति ॥

(सिद्धान्तः)

एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे—न स्थानतोऽपि परस्य—इति । न पृथिव्या-

१. शारी. १-२-८ ॥—२. शारी. १-३-६ ।—३. शारी. ३-१-२ ॥

—४. घृ. २ ७-३, २२. १८, २३ ॥

त्मादिस्थानतोऽपि परस्म्य ब्रह्मणः अपुरुषार्थगन्धस्सम्भवति । कुतः ?
 उभयलिङ्गं सर्वत्र हि-यतः सर्वत्र भुतिस्मृतिषु परं ब्रह्म उभयलिङ्गम्
 उभयलक्षणमभिधीयते, निरस्तनिखिलदोषत्वकल्याणगुणाकरत्वलक्षणो-
 पेतमित्यर्थः । १“अपहृतपाप्मा विजरां विमृत्युर्विशोको विजिघ्रसोऽपि-
 पासस्तस्य कामस्तस्य सकल्पः ” २“ समस्तकल्याणगुणात्मकोऽसौ स्वश-
 क्तिलेशाद्धृतभूतसर्गः ” ३“तेजां च लैश्वर्यमहायथोधसुवीर्यशक्त्यादिगुणैक-
 राशिः । परः पराणां सकला न यत्र क्लेशादयस्सन्ति परावरेणो ”
 ४“समस्तदेयरहितं विष्णुरूपं परमं पदम्” इत्यादिभुतिस्मृतिभ्यः उभ-
 यलक्षणं हि ब्रह्मावगतम् ॥ ११ ॥

भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात् । ३ । २ । १२ ।

यथा जीवस्य प्रजापतिवाक्यावगतापहृतपाप्मात्वाद्युभयलिङ्गस्यापि
 देवादिदेहयोगरूपावस्थाभेदादपुरुषार्थयोगः, तथाऽन्तर्यामिणः परस्या-
 पि स्वतोऽपहृतपाप्मत्वाद्युभयलिङ्गस्य तत्तदेवादिशरीरयोगरूपावस्थाभे-
 दादपुरुषार्थयोगोऽवर्जनीय इति चेत्-तन्न, प्रत्येकमतद्वचनात्—४“यः
 प्रथिव्यां तिष्ठन् ” ४“य आत्मानि तिष्ठन् ” इत्यादिषु प्रतिपर्यायं ५“स-
 त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः” इत्यन्तर्यामिणोऽमृतत्ववचनेन तत्रतत्र स्वेच्छया
 नियमनं कुर्वतस्तत्तत्सम्बन्धप्रयुक्तापुरुषार्थप्रतिपेधान् । जीवस्य तु तत्स्व-
 रूपं तिरोहितमिति ६“पराभिध्यानात् तिरोहितम्” इत्यत्रोक्तम् । ननु
 स्वेच्छया कुर्वतोऽपि तत्तद्वस्तुस्वभावायत्तापुरुषार्थसम्बन्धोऽवर्जनीय इ-
 त्युक्तम् ; नैतद्युक्तम्, नह्यचिद्वस्तुपि स्वभावतोऽपुरुषार्थस्वरूपम् ; कर्म-
 वर्यानां तु कर्मस्वभावानुगुण्येन परमपुरुषसङ्कल्पादेकमेव वस्तु कालभे-

१. ब्रा. ८-१-२ ॥ — २. वि. पु. १-२-८४, ८५ ॥ — ३. वि. पु.
 १-२१-२३ ॥ — ४. वृ. २-७-३, २२ ॥ — ५. पृ. १-७-३, २३ ॥ — ६. शारी.
 ३-२-४ ॥

देन पुरुषभेदेन च सुखाय दुःखाय च भवति; वस्तुस्वरूपप्रयुक्ते तु ता-
द्रूपे सर्वं सर्वदा सर्वस्य सुखायैव दुःखायैव वास्यात्; नचैवं दृश्यते;
तथाचोक्तं—१“नरकस्वर्गसंज्ञे वै पापपुण्ये द्विजोत्तम । वस्त्वेकमेव दुः-
खाय सुखायेर्ष्यागमाय च । कोपाय च यतस्तस्माद्वस्तु वस्त्यात्मकं कुतः ।
तदेव प्रीतये भूत्या पुनर्दुःखाय जायते । तदेव कोपाय यतः प्रसादाय च
जायते । तस्मादुःखात्मकं नास्ति न च कंचित्सुखात्मकम्” इति । अतो
जीवस्य कर्मवश्यत्वात्तत्तत्कर्मानुगुण्येन तत्तद्वस्तुसम्बन्ध एवापुरुषार्थ-
स्यात्; परस्य तु ब्रह्मणः स्वाधीनस्य स एव सम्बन्धस्तत्तद्विचित्रनियम-
नरूपलीलारसायैव स्यात् ॥ १२ ॥

अपिचैवमेके । ३ । २ । १३ ॥

अपिच एके शास्त्रिनः एकस्मिन्नेव देहसंयोगे जीवस्यापुरुषार्थं परस्य
तु तदभावं नियमनरूपैश्वर्यायत्तदीप्तिभोगं च स्वशाब्देनाधीयते—२“हा
मुपर्णा सयुजा सखाया समानं बृहत् परिपस्वजाते । तयोरन्यः पिप्पलं
स्याद्वक्ष्यनभ्रन्नयो अभिचाकशीति” इति ॥

अथ स्यात्—३“अनेन जीवेनाऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकर-
त्राणि” इति ब्रह्मात्मकजीवानुप्रवेशपूर्वकं नामरूपव्याकरणमिति ब्रह्मणोऽ-
पि तदात्मभूतस्य देवमनुष्यादिरूपस्य तन्नामभात्तत्वं चास्ति, ततश्च४“ब्रा-
ह्मणो यजेत” इत्यादिविधिनिषेधशाम्नागोचरघेन कर्मवश्यत्वमवर्जनीयमि-
ति; तत्राह—

अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् । ३ । २ । १४ ॥

देवादिशरीरानुप्रवेशे तेन रूपेण युक्तमत्यरूपवदेव तन् ब्रह्म-रूप-
रहिततुल्यमेव; जीववच्छरीरित्वनियन्धनं कर्मवश्यत्वमस्य न विद्यत इ-

१. वि. पु. ७-१. ४६-४७-४८ ॥—२. सु. ३-१-३ ॥—३. धा. १-३-

त्यर्थः । कुतः ? निर्वाहकत्वेन प्रधानत्वात् । १ “आकाशो ह्येव नामरूपयो-
निर्वोदिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म” इति सर्वानुप्रवेशेऽपि नामरूपकार्यास्पर्शेन
नामरूपयोर्निर्वोदत्वमेव ब्रह्मणः प्रतिपादयति । ननु-तच्छरीरकत्वेन तद्वन्-
र्यामित्ये कथमरूपवदिति रूपसम्बन्धरहिततुल्यत्वमुच्यते? इत्थं-यथा जा-
यस्य तत्तज्जन्यसुखदुःखभाक्त्वेन तत्तद्रूपसम्बन्धः, तथा तदभावात्परस्या-
रूपवत्त्वम् । विधिनिषेधशास्त्राण्यपि कर्मवर्यमेवाधिकुर्वन्ति; तस्मादरूपतु-
ल्यमेव परं ब्रह्म । ततश्चान्तर्यामिरूपेणावस्थितमपि ब्रह्म निरस्तनिखिल-
दोषत्वकल्याणगुणाकरत्वरूपोभयलिङ्गमेव ॥ १४ ॥

ननु च २ “सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म” इत्यादिभिर्निर्दिशेपप्रकाशै-
कस्वरूपं ब्रह्मावगम्यते, अन्यत्तु सत्यज्ञत्वसत्यसङ्कल्पत्वजगत्कारणत्वसर्वा-
न्तरात्मत्वसत्यकामत्वादिकं १ “नेतिनेति” इत्यादिभिः प्रतिपिध्यमानत्वे-
न मिथ्याभूतमित्यवगन्तव्यम् ; तत्कथं कल्याणगुणाकरत्वनिरस्तनिखि-
लदोषत्वरूपोभयलिङ्गत्वं ब्रह्मण इति; अत आह—

प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात् । ३ । २ । १५ ॥

यथा २ “सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म” इत्यादिवाक्यावैयर्थ्यात्प्रका-
शस्वरूपत्वं ब्रह्मणोऽभ्युपगम्यते ; तथा सत्यसङ्कल्पत्वसत्यज्ञजगत्कार-
णत्वसर्वात्मकत्वनिरस्तनिखिलादिवादिदोषत्वाद्यभिधायिवाक्यावैयर्थ्या-
द्भयलिङ्गमेव ब्रह्म ॥ १५ ॥

आह च तन्मात्रम् । ३ । २ । १६ ॥

किञ्च २ “सत्यं ज्ञानमनन्तम्” इत्यादिवाक्यं ब्रह्मणः प्रकाशस्व-
रूपतामात्रं प्रतिपादयति, नान्यत्सत्यसङ्कल्पत्वादिकं वाक्यान्तरावगन्तं
निषेधति; १ “नेतिनेति” इति च निषेधविषयोऽनन्तरमेव वदयन् ॥

दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते । ३ । २ । १७ ॥

दर्शयति च वेदान्तगणः कल्याणगुणाकरत्वं निरस्तनिखिलदो-
पत्वं च १ “तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं दैवतानां परमं च दैवतम् ।
स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता नचाधिपः । न
तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते । पराऽस्य
शक्तिर्विविधैव भूयते स्वाभाविकी ज्ञानयत्नक्रिया च” २ “यत्सर्वज्ञस्सर्ववित्
यस्य ज्ञानमयं तपः” ३ “भीषाऽस्माद्धातः पवते भीषोदेति सूर्यः” ४ “ स
एको ब्रह्मण आनन्दः” ५ “यतो वाचो निर्वर्तन्ते । अप्राप्य मनसा सह ।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चनेति ६ “निष्कलं निष्क्रियं
शान्तं निरवयवं निरञ्जनम्” इत्यादि । स्मर्यते च ६ “यो मामजमनादिं च
वेत्ति लोकमहेश्वरम्” ७ “विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्”
८ “मयाऽभ्यक्षेण प्रकृतिस्सूयते सचराचरम् । हेतुनाऽनेन कौन्तेय जगद्धि
परिवर्तते” ९ “उत्तमः पुरुषस्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः । यो लोकत्रयमा-
धिरय विभर्त्यव्यय ईश्वरः” १० “सर्वज्ञस्सर्वकृत्सर्वशक्तिज्ञानबलधिमान् ।
अन्यूनश्चाप्यशुद्धिश्च स्वाधीनो नादिमान्वशी । क्लृप्ततन्त्रीभयक्रोधकामादि
भिरसंयुतः । निरवयवः परः प्राप्तेर्निरधिष्ठोऽक्षरः क्रमः” इत्यादिः । अतस्स-
प्रावस्थितस्यापि ब्रह्मण उभयलिङ्गत्वात्तत्तत्स्थानप्रयुक्ता बोधा न परं
ब्रह्म स्पृशन्ति ॥ १७ ॥

अत एवचोपमा सूर्यकादिवत् । ३ । २ । १८ ॥

यतो नानाविधेषु स्थानेषु स्थितस्यापि परस्य ब्रह्मणो न तत्प्रयु-
क्तदोषभाक्त्वम्, अत एव जलदर्पणादिप्रतिबिम्बितसूर्यादिवत्परमात्मा
तत्रतत्रावस्थितोऽपि निर्दोष इति शास्त्रेऽपूपमा क्रियते-११ “आकाशमेकं हि
यथा घटादिषु पृथग्भवेत् । तथात्मैको ह्यनेकस्थो जलाधारेऽपि वांशुमान् ।

१, रवे, ५-३-८ ॥-३, सु, १-१-६ ॥-३, तै, आ, ८-४ ॥-४, तै, आ,
४-१ ॥-५, रवे, ५-१६ ॥-६, गी, १०-३ ॥-७, गी, १०-४२ ॥-८, गी,
४-१० ॥-९, गी, १५-१७ ॥-१०, बि, सु, ४-१-४३-४८-४९ ॥-११, वाङ्म-
वय, प्रायश्चित्त, अध्यात्म, १४४ ॥

एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः । एकधा बहुधा चैव दृश्यते ज-
लचन्द्रवत्” इत्यादिषु ॥ १८ ॥

अत्र चोदयति—

अम्बुवदग्रहणात् न तथात्वम् । ३ । २ । १९ ॥

तुराग्नोश्चयं चोदयति । अम्बुवदिति सप्तम्यन्तात् घतिः । अम्बुद-
र्पणादिषु यथा सूर्यमुखादयो गृह्यन्ते; न तथा पृथिव्यादिषु स्थानेषु पर-
मात्मा गृह्यते । अम्बुवादिषु हि सूर्यादयो भ्रान्त्या तत्रस्था इव गृह्यन्ते,
न परमार्थतस्तत्रस्थाः । इह तु २ “यः पृथिव्यां तिष्ठन्” २ “योऽप्सु ति-
ष्ठन्” २ “य आत्मनि तिष्ठन्” इत्येवमादिना परमार्थत एव परमात्मा पृ-
थिव्यादिषु स्थितो गृह्यते । अतस्तूर्यादेरम्बुदर्पणादिप्रयुक्तदोषाननुपग-
स्तत्रतत्र स्थित्यभावादेव । अतो न तथात्वं—दार्ष्टान्तिकस्य न दृष्टान्त-
तुल्यत्वमित्यर्थः ॥ १९ ॥

परिहरति-

वृद्धिहासभाक्त्वमन्तर्भावाद्भयसामञ्जस्यादेवं
दर्शनाच्च । ३ । २ । २० ॥

पृथिव्यादिस्थानान्तर्भावात्स्थानिनः परस्य ब्रह्मणः स्वरूपतो गु-
णतश्च पृथिव्यादिस्थानगतवृद्धिहासादिदोषभाक्त्वमात्रं सूर्यादिदृष्टान्तेन
नियत्यते । कथमिदमवगम्यते? उभयसामञ्जस्यादेवम्—उभयदृष्टान्तसामञ्ज-
स्यादेयमिति निश्चीयते । १ “आकाशमेकं हि यथाषटादिषु पृथग्भवेत्” “ज-
लाधारेऽपि ब्रह्मांशुमान्” इति दोषवत्त्वेनैकेषु वस्तुषु वस्तुतोऽवस्थितस्या-
काशस्य, वस्तुतोऽन्यस्थितस्यांशुमतश्चोभयस्य दृष्टान्तस्योपादानं हि पर-
मात्मनः पृथिव्यादिगतदोषभाक्त्वनिवर्तनमात्रे प्रतिपाद्ये समञ्जसं भवति ।

घटकरकादिषु यथा वृद्धिह्लासभाजु पृथक्पृथक्संयुज्यमानमप्याकाशं वृद्धि-
ह्लासादिदोषैर्न स्पृश्यते; यथा च जलाधारेषु धिपमेषु दृश्यमानोऽशुमान्
तद्गतवृद्धिह्लासादिभिर्न स्पृश्यते; तथाऽयं परमात्मा पृथिव्यादिषु नाना-
कारेण्यचेतनेषु चेतनेषु च स्थितस्तत्तद्गतवृद्धिह्लासादिदोषैरसंस्पृष्टस्सर्वत्र
वर्तमानोऽप्येक एवास्पृष्टदोषगन्धः कल्याणगुणाकर एव । एतदुक्तं भवति
—यथा जलादिषु वस्तुतोऽनवस्थितस्यांशुमत्तो हेत्वभावाज्जलादिदोषान-
भिज्वङ्गः, तथा पृथिव्यादिष्ववस्थितस्यापि परमात्मनो दोषप्रत्यनोका-
कारतया शोषहेत्वभावात्त दोषसम्यन्धः—इति । दर्शनाच्च—दृश्यते चैवं स-
र्वात्मना साधर्म्याभावेऽपि विवक्षितांशसाधर्म्याद्दृष्टान्तोपादानं, सिंह इव
माणवक इत्यादौ । अतः स्वभावतो निरस्तनिखिलाज्ञानादिदोषगन्धस्य
समस्तकल्याणगुणाकरस्य पृथिव्यादिस्थानतोऽपि न दोषसम्भवः ॥२०॥

अथ स्मात्—१' द्वे वाच ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चामूर्तमेव च" इति प्र-
कृत्य समस्तं स्थूलसूक्ष्मरूपं प्रपञ्चं ब्रह्मणो रूपत्वेन परामृश्य २"तस्य
इ वा एतस्य पुरुषस्य रूपं यथा माहारजनं वासः" इत्यादिना आकारविशे-
षं चाभिधाय २' अथात आदेशो नेतिनेति नष्टोतस्मादितिनेत्यन्यत्परम-
स्ति" इति सर्वं प्रकृतं ब्रह्मणः प्रकारमिति शब्देन परामृश्य तत्सर्वं प्रति-
पिष्य सर्वविशेषाधिष्ठानं सन्मात्रमेव ब्रह्म; विशेषास्त्वेवंविधं स्वस्वरूप-
मजानता ब्रह्मणा कल्पिता इति दर्शयति; अतः कथमुभयलिङ्गत्वं ब्रह्मण
इति—अत्राह—

प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततोब्रवीति च

भूयः । ३ । २ । २१ ॥

नैतदुपपद्यते—यद्ब्रह्मणः प्रकृतविशेषवत्त्वं २"नेतिनेति" इति
प्रतिपिष्यत—इति, तथा सति भ्रान्तजल्पितायमानत्वान् । न हि ब्रह्मणो
विशेषणतया प्रमाणान्तराप्रज्ञातं सर्वं तद्विशेषणत्वेनोपदिश्य पुनस्तदेवा-

नुन्मत्तः प्रतिपेधति । यद्यपि निर्दिश्यमानेषु केचन पदार्थाः प्रमाणान्तरप्रसिद्धाः; तथापि तेषां ब्रह्मणः प्रकारत्वमप्रज्ञातमेव, इतरेषां तु स्वरूपं ब्रह्मणः प्रकारत्वं चाज्ञातम् । अतस्तेषामनुवादासम्भवाद्त्रैवोपदिश्यन्ते । अतस्तन्निपेधो नोपपद्यते । यस्मादेवं, तस्मात्प्रकृतैतावत्त्वं ब्रह्मणः प्रतिपेधतोद् वाक्यम् । ये ब्रह्मणो विशेषाः प्रकृताः, तद्विशिष्टतया ब्रह्मणः प्रतीयमानेयता १“नेतिनेति” इति प्रतिपिध्यते । नेतिनेति—नैवं नैवम्, उक्तप्रकारमात्रविशिष्टं न भवति ब्रह्म; उक्तप्रकारविशिष्टतया या ब्रह्मण इयत्ता प्रकृता; साऽत्र इतिशब्देन परामृश्यत इत्यर्थः । यतश्च निपेधानन्तरं ब्रह्मणो भूयो गुणजातं ब्रवीति, अतश्च प्रकृतविशेषणयोगित्वमात्रं ब्रह्मणः प्रतिपेधति । ब्रवीति हि भूयो गुणजातं—१“न ह्येतस्मादितिनेत्यन्यत्परमस्त्यय नामधेयं सत्यस्यसत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेव सत्यम्” इति । अयमर्थः—इति नेति यद्ब्रह्म प्रतिगदितम्, तस्मादेतस्मादन्यद्वस्तु परं न ह्यस्ति, ब्रह्मणोऽन्यन् स्वरूपतो गुणतश्चोत्कृष्टं नास्तीत्यर्थः । तस्य च ब्रह्मणः सत्यस्य सत्यमिति नामधेयम् । तस्य च निर्वचनं १“प्राणा वै सत्यं तेषामेव सत्यम्” इति । प्राणशब्देन प्राणसाहचर्याज्जीवाः परामृश्यन्ते; ते तावत्सत्यम्, वियद्वादिवत्स्वरूपान्यथाभावरूपपरिणामाभावात्; तेषामेव सत्यम्—तेभ्योऽप्येव परमपुरुषसत्यम्, जीवानां कर्मानुगुण्येन ज्ञानसङ्कोचविकासौ विद्येते; परमपुरुषस्य त्वपहतपाप्मनस्तौ न विद्येते; अतस्तेभ्योऽप्येव सत्यम् । अतश्चैवं यावद्विशेषोक्तिगुणजातयोगात् १“नेतिनेति” इति ब्रह्मणस्सविशेषत्वं न प्रतिपिध्यते; अपि तु पूर्वप्रकृत्येयत्तामात्रम् । अत उभयलिङ्गमेव परं ब्रह्म ॥ २१ ॥

ब्रह्मणः प्रमाणान्तरागोचरत्वेन तत्सम्बन्धितया भूताभूतादिरूपा-
नुवादेन तन्निपेधासम्भवात्प्रकृत्येयत्ताप्रतिपेध उक्तः; तदेव प्रमाणान्तरा-
गोचरत्वं दृढयति—

तदव्यक्तमाह हि । ३ । २ । २२ ॥

तत्—ब्रह्म प्रमाणान्तरेण न व्यज्यते. आह हि शास्त्रं १“न सन्दृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्” २“न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा” इत्यादि ॥

हेत्वन्तरं चाह—

अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाम्याम् । ३ । २ । २३ ॥

अपि च संराधने—सम्यक्प्रीणने भक्तिरूपापन्ने निदिध्यासन-
पथास्य साक्षात्कारः; नान्यत्रेति श्रुतिस्मृतिभ्यामवगम्यते । १“नायमा-
स्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रतेन । यमेवैष शृणुते तेन
लभ्यस्तस्यैव आत्मा विद्युणुते तनूं स्वाम् २“ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्व-
स्ततः तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः” इति श्रुतिः । स्मृतिरपि
३“नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया” ४“भक्त्या त्वनन्वया शक्य
अद्भ्यर्थविधोऽर्जुन । ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप” इति ।
भक्तिरूपापन्नमेवोपासनं संराधनम्—तस्य प्रीणनमिति पूर्वमेवोक्तम् । अनां
निदिध्यासनाय ब्रह्मस्वरूपमुपदिशत् ५ ‘हे वाच ब्रह्मणः’ इत्यादि-
शास्त्रं ब्रह्मणो मूर्तामूर्तरूपद्वयादिविशिष्टतां प्रागसिद्धां नानुवर्दि-
तमम् ॥ २३ ॥

प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्म-

ण्यभ्यासात् । ३ । २ । २४ ।

इतश्च प्रकृतैतावच्चमेव प्रतिषेधति; न मूर्तामूर्तादिविशिष्टत्वम्;
यतस्मात्साक्षात्कृतपरब्रह्मस्वरूपाणां धामदेयादीनां दर्शने प्रकाशादिवत्-
ज्ञानानन्दादिस्वरूपवन्मूर्ताविप्रपञ्चविशिष्टताया अपि ब्रह्मगुणत्वावैशे-

१. तै. नारा. १- अथु. १० ॥—२. सु. ३-१-८ ॥—३. सु. ३-२३ ।—

४. गी. ११-२३. ५४ ॥—५. बृ. ४-३-१ ॥

प्यं प्रतीयते-१“तद्धेतत्परयन्तृपिर्वामदेवः प्रतिपेदे अहं मनुरभवं सूर्यश्च”
इत्यादि । ब्रह्मस्वरूपभूतप्रकाशानन्दादिश्च तेषां वामदेवादीनां संराधना-
त्मके कर्मण्यभ्यासादुपलभ्यते । तद्व्याभ्यस्तसंराधनानां तेषां मूर्तामूर्ता-
दिविशिष्टत्वमप्यविशेषेण प्रतीयत इत्यर्थः ॥ २४ ॥

उक्तं ब्रह्मण उभयलिङ्गत्वमुपसंहरति—

अतोऽनन्तेन तथाहि लिङ्गम् । ३ । २ । २५ ॥

अतः—उक्तोद्देतभिर्ब्रह्मणः अनन्तेन कल्याणगुणगणेन विशिष्ट-
त्वं सिद्धम् । तथा हि सत्युभयलिङ्गं ब्रह्मोपपन्नं भवति ॥ २५ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये उभयलिङ्गाधिकरणम् ॥ ५ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अहिकुण्डलाधिकरणम् ॥ ६ ॥)

उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत् । ३ । २ । २६ ॥

मूर्तामूर्तात्मकस्य अचित्प्रपञ्चस्य ब्रह्मणो रूपत्वं २“द्वे वाव ब्रह्मणो
रूपे” इत्यादिनोपदिश्यते । ३“अथात आदेशो नेतिनेति” इति मूर्तामूर्ता-
चिद्वस्तुरूपतया ब्रह्मण इयत्ता प्रतिपिध्यते । ३“नह्येतस्मादितिनेयन्यत्प-
रमस्ति” इति ब्रह्मणोऽन्यदुत्कृष्टं नह्यस्तीति प्रतिपादितम् । तदुपपादनाय
३“अथ नामधेयं सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेव सत्यम्” इति
प्राणशब्दनिर्दिष्टेभ्यश्चेतनेभ्योऽप्येव सत्यमिति कदाचिदपि ज्ञानादिसङ्को-
चाभावादुक्तम् । तथा ४“प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गणेशः” ५“पतिं विश्वस्याऽन्मेश्वरं”
६“नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्” इत्यादिभूतं आयमर्थोऽवगम्यते ।

१. घ. ३-४-१० ॥—२. ३. घ. २-३ १।५ ॥—४. खं. १-१५ ॥—

५. तै. वा. ३-४नु. ॥—६. खं. १-१३ ॥

तस्याचिद्वस्तुनो ब्रह्मरूपत्वप्रकार इदानीं चिन्त्यते, ब्रह्मणो निर्दोषत्वसिद्धयर्थम्—किमस्याचिद्वस्तुनो ब्रह्मरूपत्वमदिकुण्डलन्यायेन, उत प्रभाप्रभाय-
तोरिवैकजातियोगेन, उत जीयस्येव विशेषणविशेष्यतयांशांशिभावेन-इति ।
इह स्थाप्यमानं विशेषणविशेष्यभाषमङ्गीकृत्य १ “प्रकृतिश्च प्रतिष्ठादष्टान्ता-
नुपरोधात्” २ “तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः” इत्यत्र सूक्ष्मचिदचिद्व-
स्तुविशिष्टाद्ब्रह्मणः स्थूलचिदचिद्वस्तुविशिष्टस्योत्पत्तिरनन्यत्वं चोक्तम् ।
किं युक्तम्? अदिकुण्डलवदिति; कुतः? उभयव्यपदेशात् १ “ब्रह्मैवेदं सर्वम्”
२ “आत्मैवेदं सर्वम्” इति तादात्म्यव्यपदेशात्, ३ “इन्ताडमिमास्तिस्त्रो
देवताः” अनेन जीवेनाऽऽमनाऽनुप्रविश्य” इत्यादिभेदव्यपदेशाच्च अहे-
कुण्डलभाष्यञ्च जुभाष्यत्, तस्यैव ब्रह्मणस्संस्थानविशेषो यदाचिद्वस्तूनि । २६॥

प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् । ३ । २ । २७ ॥

याशब्दः पक्षद्वयावृत्त्यर्थः; ब्रह्मस्वरूपस्यैवाचिद्रूपेणावस्थाने भेद-
भूतयो ब्रह्मणोऽपरिणामित्ववादिन्योऽपि बाधिता भवेयुः; अतो यथा
तेजस्त्वेन प्रभातदाश्रययोरपि तादात्म्यम्; एवमचित्प्रपञ्चस्य ब्रह्मणो
रूपत्वमित्यर्थः ॥ २७ ॥

पूर्ववद्वा । ३ । २ । २८ ॥

याशब्दः पक्षद्वयावृत्त्यर्थः; एकस्यैव द्रव्यस्यावस्थाविशेषयोगे
ब्रह्मस्वरूपस्यैवाचिद्रूपत्वादुक्तदोषादनिर्माहः । अथ प्रभातदाश्रययो-
रिवाचिद्ब्रह्मणोर्ब्रह्मत्वजातियांगमात्रम्; पर्वं तर्ह्यश्रित्वगोत्ववद्ब्रह्मापीश्वरे
चिदचिद्वस्तुनोऽनानुवर्तमानं सामान्यमिति सकलभ्रुतिस्मृतिव्यवहारवि-
रोधः । पूर्ववदेव १, अंशो नानाव्यपदेशात्” २ “प्रकाशादिवस्तु नैवं परः”

१. शारी. १-३-१३ ॥—२. शारी. २-१-१२ ॥—३. वृ. ३-२-१ ॥—
४. वृ. ७-२७-२ ॥—५. वृ. ६-१-२ ॥—६. रज्जु. पा ॥—७. शारी. २-३-
४२ ॥— ८. शारी. १-१-४२ ॥

इति जीववत्पृथक्सिद्धयनर्हविशेषणत्वेनाचिद्वस्तुनो ब्रह्मांशत्वम्; विशि-
ष्टवस्त्वेकदेशत्वेनाभेदव्यवहारो मुख्यः, विशेषणविशेष्ययोः स्वरूपत्वभा-
वभेदेन भेदव्यवहारो मुख्यः, ब्रह्मणो निर्दोषत्वं च रक्षितम् । तदेवं प्रका-
शजातिगुणशरीराणां मणिन्यक्तिगुण्यात्मनः = प्रत्यपृथक्सिद्धिलक्षणवि-
शेषणतया यथांशत्वम्; तथेह जीवस्याचिद्वस्तुनश्च ब्रह्म प्रत्यंशत्वम् ॥२८

प्रतिषेधाच्च । ३ । २ । २९ ॥

१'स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरः२'नास्य जरयैतजीर्यति'
इत्यादिभिः ब्रह्मणोऽचिद्धर्मप्रतिषेधाच्च विशेषणविशेष्यत्वेनैवांशांशिभाव
इत्यर्थः । अतस्मूहमचिदचिद्वस्तुविशिष्टं कारणभूतं ब्रह्म, स्थूलचिदचि-
द्वस्तुविशिष्टं कार्यभूतं ब्रह्मेति कारणात्कार्यस्यानन्यत्वम्, कारणभूतब्र-
ह्मविज्ञानेन कार्यस्य ज्ञाततत्वादि सर्वमुपपन्नम्; ब्रह्मणो निर्दोषत्वं च र-
क्षितम् । ब्रह्मणो निर्दोषत्वेन कल्याणगुणाकरत्वेनचोभयलिङ्गत्वमपि
सिद्धम् ॥ २६ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अद्विकुण्डलाधिकरणम् ॥ ६ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये पराधिकरणम् ॥ ७ ॥)

परमतस्सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यप-

देशेभ्यः । ३ । २ । ३०

इदानीमस्मात्परमाज्जगन्निमित्तोपादानरूपपरमकारणात्परब्रह्मणः
परमपि किञ्चित्तत्त्वमस्तीति कैश्चिद्वेत्वाभासैराशङ्क्य निराक्रियते, अस्यां-
पास्यस्य निर्दोषत्वानवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणाकरत्वस्थेन । त-

त्रेयमाशङ्क्यदिदं परं ब्रह्मोभयलिङ्गम्, एतस्मान्निखिलजगत्कारणात्प-
रमपि किञ्चित्तत्त्वमस्ति । कथम् ? १ 'अथ य आत्मा स सेतुर्विष्टुतिः'
इत्यस्य परस्य सेतुत्वव्यपदेशात् । सेतुशब्दस्य च लांके कूलान्तरप्राप्तिहेतौ
प्रसिद्धेरितोऽन्यदनेन प्राप्तव्यमस्तीति गम्यते । तथा २ "एतं सेतुं तीर्त्वाऽ-
न्यस्सन्ननन्यो भवति" इति तरितव्यता चास्याभिधीयते, अतश्चान्यत्प्राप्य-
मस्ति । उन्मानव्यपदेशाच्च-उन्मितं-परिमितम् इदं परं ब्रह्म, ३ "चतुष्पा-
दब्रह्म" ४ "षोडशकलम्" इत्युन्मानव्यपदेशात् । सचायमुन्मानव्यपदेशस्तेन
सेतुना प्राप्यस्यानुन्मितस्यास्तितां शोतयति । तथा सम्बन्धव्यपदेशश्च से-
तुसेतुमतोः प्रापकत्वप्राप्यत्वलक्षणो दृश्यते, ५ "अमृतस्य परं सेतुं दग्धे-
न्यनमिबानलम्" ६ "अमृतस्यैव सेतुः" इति । अतश्च परात्परमस्ति । भे-
देन च परात्परं व्यपदिश्यते, ७ "परात्परं पुरुषमुपैति" ८ "परात्परं य-
न्महतो महान्तम्" इति च । तथा ९ "तिनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्" १० "ततो
यदुत्तरतरं तद्वरूपमनामयम्" इति । अत एभ्यो हेतुभ्यः परस्माद्ब्रह्मणः
परमपि किञ्चिदस्तीति गम्यत इति ॥ १० ॥

—(सिद्धान्तः)—

एवं प्राप्तेऽभिधीयते—

सामान्यात्तु । ३ । २ । ३१ ॥

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति; यत्तावदुक्तं सेतुव्यपदेशात्परापरमस्ती-
ति; तन्नोपपद्यते । न ह्ययमत्र किञ्चित्प्राप्यं प्रति सेतुरुच्यते, ११ "एषां
लोकानामसम्भेदाय" इति सेतुसामान्येन सर्वलोकासङ्करकरत्वश्रुतेः । सि-
नोति-वञ्जाति स्वस्मिन् सर्वं चिद्विद्वस्तुजातमसङ्कीर्णमिति सेतुरुच्यते ।

१. का. ८-४-१ ॥ २. का. ८-४-२ ॥ ३. का. ३-१८-२ ॥ ४. परम
४-१ ॥ ५. खे. ४-१६ ॥ ६. सु. २-२-५ ॥ ७. सु. ३-२-८ ॥ ८. ति.
नार. १-५ ॥ ९. खे. ३-६ ॥ १०. खे. ३-१० ॥ ११. का. ८-४-१, २.

१“एतं सेतुं तोत्वा” इति तरतिश्च प्राप्तियचनः । यथा ‘वेदान्तं तरति’ इति ॥ ३१ ॥

बुद्धयर्थः पादवत् । ३ । २ । ३२ ॥

योऽयं २“चतुष्पादब्रह्म” ३“षोडशकलम्” ४“पादोऽस्याविधा भूता-
नि” इत्युन्मानव्यपदेशः; स बुद्धयर्थः—उपासनार्थः, ५“सत्यं ज्ञानमनन्तं
ब्रह्म” इत्यादिभिर्जगत्कारणस्य ब्रह्मणोऽपरिच्छिन्नत्वावगमात्स्वत उन्मि-
तत्वासम्भवात् । जगत्कारणत्वं हि तस्यैव भूयते ६“तस्माद्वा एतस्मादात्मन
आकाशसम्भूतः” ७“सोऽकामयत यद्वा स्यां प्रजायेयेति” इति । अतो
यथा ८“वाक्पादः प्राणः पादः चक्षुः पादो मनः पादः” इत्यादिना ब्र-
ह्मणो वागादिपादव्यपदेश उपासनार्थः एवमयमपि ॥ ३२ ॥

स्वयमनुमितस्य कथमुपासनार्थतयाऽप्युन्मानसम्भवः; तत्राह—

स्थानविशेषात्प्रकाशादिवत् । ३ । २ । ३३ ॥

प्रतिपन्नवागादिस्थानविशेषरूपोपाधिभेदात्तत्सम्बन्धितयोन्मित-
त्वानुसन्धानं सम्भवति; यथा प्रकाशाकाशादेर्विततस्य घातायनघटादि-
स्थानभेदैः परिच्छिन्नानुसन्धानसम्भव इत्यर्थः ॥ ३३ ॥

उपपत्तेश्च । ३ । २ । ३४ ॥

यदुक्तम्—९“अमृतस्यैवसेतुः” इति प्राप्यप्रापकसम्बन्धव्यपदेशात्प्रा-
पकात्परं प्राप्यमस्तीति; तन्न, प्राप्यस्य परमपुरुषस्य स्वप्राप्ती स्वस्यैवापा-
यत्वोपपत्तेः १०“नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना भुतेन ।
यसैवेप ब्रूयते तेन लभ्यस्तस्यैव आत्मा विब्रूयते तनूं स्वात्” इत्यनन्यो-
पायत्यभवत्तान् ॥ ३४ ॥

१. छा. ८-४-१, २ ॥ २. छा. ३-१८-२ ॥ ३. प्रश्न. १-१ ॥
४. पुरुष सू. ॥ ५. तै. आन. १ अनु. १ ॥ ६. तै. आन. १ अनु. २ ॥
७. तै. आन. १ अनु. २ ॥ ८. छा. २-१८-२ ॥ ९. मु. २. २-२ ॥
१०. मु. २. १-३ ॥

तथाऽन्यप्रतिषेधात् ३ । २ । ३५ ॥

यत्पुनरुक्तं—१“ततो यदुत्तरतरं” २ “परात्परं पुरुषम्” ३ “अ-
 क्षरात्परतः परः” इत्यादिभेदव्यपदेशात्परात्परमस्तीति—तन्नोपपद्यते, त-
 त्रैव ततोऽन्यस्य परस्य प्रतिषेधात्, ४ “यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्य-
 स्माभ्राणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्” इति । यस्मादपरं परं नास्ति कि-
 ञ्चित्—न केनापि प्रकारेण परमस्तीत्यर्थः । तथाऽन्यत्रापि ५ “न ह्येतस्मा-
 दितिनेत्यन्यत्परमस्ति” इति—इति नेति निर्विघ्नादेवस्माद्ब्रह्मणोऽन्यत्परं न
 ह्यस्तीत्यर्थः । तथा ६ “न तस्येशो कश्चन तस्य नाम महेशः” इति । तद्धि
 जगदुपादानकारणतयाऽनन्तरमुक्तं ७ “सर्वे निमेषा जह्निरे विद्युतः पुरु-
 पादधि” ८ “स आपः प्रदुषे उभे इमे” इत्यादिना । ९ “अद्भ्यस्सम्भूतो
 हिरण्यगर्भ इत्यष्टौ” इति च जगत्कारणं पुरुषमेतं प्रत्यभिज्ञापयति । १० “ततो
 यदुत्तरतरम्” इति किमुच्यत इति चेत्—पूर्वत्र १० “वेदाहमेतं पुरुषं महा-
 न्तमादित्यवर्णं तमसः परेस्तान्, तमेव विदित्वाऽतिसृत्युमेति नान्यः प-
 न्था यिगतेऽयनाय” इति परस्य ब्रह्मणो महापुरुषस्य वेदनमेवास्मृतत्व-
 साधनम्, नान्योऽस्मृतत्वस्य पन्था इत्युपदिश्य तदुपपादनाय १ “यस्मात्परं
 नापरमस्ति किञ्चिद्यस्माभ्राणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित् । वृत्त इव स्तब्धो
 द्विवि निष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्” इति पुरुषस्य परत्वं, तद्व्य-
 तिरिक्तस्य परत्वासम्भवश्च प्रतिपाद्यते । २ “ततो यदुत्तरतरं तद्रूपमनामयम्-
 य एतद्विदुरमुतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःस्वमेवापियन्ति” इति पूर्वोक्तमर्थं हेतु-
 तो निगमयति—यदुत्तरतरं पुरुषतत्त्वम्, तदेवास्मृतमनामयं यतः, ततो य-
 एतत्पुरुषतत्त्वं विदुः, त एवास्मृता भवन्ति, अथेतरे दुःस्वमेवापियन्ति-
 इति । अन्यथापक्रमविरोधोऽनन्तरोक्तिविरोधश्च । २ “परात्परं पुरुषमुपैति

१. खे, ३. अ, १० ॥ २. सु. ३-२-८ ॥ ३. सु. २-१-२ ॥ ४. खे.
 ३-६ ॥ ५. सु. २-३-६ ॥ ६. तै. नारा. १-६ ॥ ७. तै. नारा. १-८ ॥
 ८. तै. नारा. १-११ ॥ ९. खे. ३-१० ॥ १०. ११, खे. ३-८-६ ॥
 १२. सु. ३-२-८ ॥

दिभ्यम्" इति पूर्वत्र १ "अक्षरात्परतः परः" इति अक्षरात् अव्याकृतान
यः परः-समष्टिपुरुषः; तस्मात्परो योऽदृश्यत्वादिगुणकस्त्वर्थः परमपुरुषः,
स एवेहापि 'परात्परः' इति समष्टिपुरुषात्परत्वेनोच्यते ॥ ३५ ॥

अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः । ३ । २ । ३६ ॥

अनेन ब्रह्मणा, सर्वगतत्वम्-सर्वस्य जगतो व्याप्तत्वम्, आयामशब्दा
दिभ्यः सर्वव्याप्तिवाचिशब्देभ्योऽवगम्यमानमस्मात्परं नास्तीत्यवगमयति
आयामशब्दस्तावत् २ 'तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्' ३ 'यच्च किञ्चिज्जगत्य-
स्मिन् दृश्यते भूयतेऽपि वा । अन्तर्बहिःशतत्सर्थं व्याप्य नारायणः स्थितः"
४ "नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः" । आदि-
शब्दात् ५ "ब्रह्मैवेदं सर्वम्" ६ "आत्मैवेदं सर्वम्" इत्याद्यो गृह्यन्ते ! अत
इदं परं ब्रह्मैव सर्वस्मात्परम् ॥ ३६ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये पराधिकरणम् ॥ ७ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये फलाधिकरणम् ॥ ८ ॥)

फलमत उपपत्तेः । ३ । २ । ३७ ॥

उक्तमुपासिसिपोपजननार्थं जीवस्य सर्वाविस्थासु सक्षोपत्वं, प्रा-
प्यस्य च परमपुरुषस्य निर्दोषत्वं, कल्याणगुणाकरत्वं सर्वस्मात्परत्वञ्च;
अतः परमुपासनं विवक्षन्मुपासीनानां परस्मादेवास्मात्पुरुषात्तत्प्राप्तिरूप-
मपवर्गाख्यं फलमिति सम्प्रति ब्रूते । तुल्यन्यायतया शास्त्रीयमैहिकामुष्मि-
कमपि फलम्, अत एव परस्मात्पुरुषाद्भवतीति सामान्येन 'फलमतः' इत्यु-
च्यते । कुत एतत् ? उपपत्तेः-स एव हि सर्वज्ञस्त्वर्वाशक्तिर्महोदारो यागदा-
नहोमादिभिरुपासनेन चाराधित ऐहिकामुष्मिकभोगजातं स्वस्वरूपावा-

१. सु. २-१-२॥—२. श्वे. १-४॥—३. नारायण १-१३॥—४. सु. १-१-१॥

—५. वृ. ४-२-१ ॥—६. छा. ७-२२-२ ॥

स्तिरूपमपवर्गं च दातुमीष्टे; न ह्यचेतनं कर्म जगृध्वंसि कालान्तरमाविफलं
साधनं भवितुमर्हति ॥ ३७ ॥

श्रुतत्वाच्च । ३ । २ । ३८ ॥

१“स वा एष महान्तज आत्माऽन्नादो वसुदानः” २“एष ह्येवान-
न्दयाति” इति भोगापवर्गरूपं फलमयमेव ददातीति हि मूयते ॥ ३८ ॥

सम्प्रति पूर्वपक्षमाह—

धर्मं जैमिनिरेत एव । ३ । २ । ३९ ॥

अत एव-उपपत्तोः, शास्त्राच्च यागदानहोमोपासनरूपधर्ममेव फलप्रदं
जैमिनिराचार्यो मन्यते । लोके हि कृष्यादिकर्म, दानादिकं च कर्म सा-
क्षाद्वा, परम्परया वा स्वयमेव फलसाधनं दृष्टम्; एवं वेदेऽपि यागदानहो-
मार्दानां साक्षात्फलसाधनत्वाभावेऽपि परम्परया अपूर्वद्वारेण फलसाधन-
त्वमुपपद्यते । तथा ३ “यजेत स्वर्गकामः” इत्यादिशास्त्रमपि सिषाधयिषित-
स्वर्गस्य कर्तव्यतया यागाद्यभिदधदन्वधानुपपत्त्या अपूर्वद्वारेण फलसा-
धनत्वमवगमयति ॥ ३९ ॥

पूर्वं तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात् । ३ । २ । ४० ॥

तु शब्दः पक्षव्यावृत्त्यर्थः; पूर्वोक्तं परमपुरुषस्यैव फलप्रदत्वं भग-
वान्बादरायणो मन्यते । कुतः ? हेतुव्यपदेशात्-४“यज-देवपूजायाम्” इति
देवताराधनभूतयागागाराध्यभूताग्निवाय्वादिदेवतानामेव तत्तत्फलहेतुतया
तस्मिन्निमित्तमपि वाक्ये व्यपदेशात् ५“वायव्यं श्वेतमा लभेत भूतिकामो
वायुर्वं क्षेपिष्ठा देवता वायुमेव स्येन भागधेयेनोपधावति स एवैनं भूतिं ग-
मयति” इत्यादिषु कामिनिस्सिषाधयिषितफलसाधनत्वप्रकारोपदेशोऽपि वि-
ध्यपेक्षित एवेति नातत्परत्वशङ्का युक्ता । एवमपेक्षितेऽपि फलसाधनत्वप्रका-
रे शब्दादेवावगतं सति तत्परित्यागमभ्युतापूर्वादिपरिकल्पनं च प्रामाणिका

१. वृ. ५-४-२४ ॥--२. तै. आर्च- ७-१ ॥--३. यजुषि, २-२-२ ॥

४. धातु, उवाचि, ॥--५. यजु, २-का, १-प्र, १-पं ॥

न सहन्ते । शिवाद्योऽपि देवताराधनभूतयागादेः प्रकृत्यर्थस्य कर्तृव्यापार-
साध्यता व्युत्पत्तिसिद्धां शब्दानुशासनानुमतामभिदधति; नान्यदलौकि-
कमिति प्रागेवोक्तम् । तदेवं १“वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता” इत्यादिशब्दाद्वा-
ग्वादीनां फलप्रदत्वमवगम्यते । वाग्वाचात्मना च परमपुरुष एवाराध्यतया
फलप्रदायित्वेन चावतिष्ठत इति भूयते २“इष्टापूर्तं बहुधा जातं जायमानं
विरवं विभर्ति भुवनस्य नाभिः । तदेवाग्निस्तद्वायुस्तत्सूर्यस्तदु चन्द्रमाः”
इति । अन्तर्यामिप्राकृते च ३“यो वायी तिष्ठन्त्यस्य वायुरशरीरम्”
४“योऽन्तौ तिष्ठन्” ५“य आवित्ये तिष्ठन्” इत्यादि भूयते । स्मर्यते च ६“यो
यो यां यां तनुं भक्तः भद्रयाऽर्चितुमिच्छति । तस्य तस्याचलां भद्रां तामेव
विदधान्यहम् ॥ सन्त्या भद्रया युक्तस्तस्याराधनमीहते । लभते च ततः
कामान् मयैव विहितान् हि तान्” इति, ६“अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च
प्रभुरेव च” इति । प्रभुरिति-फलप्रदायीत्यर्थः । ७“देवान् देवयज्ञो यान्ति
मद्भुक्तं यान्ति मामपि” ८“यान्ति मयाजिनोऽपि माम्” इति च । लोकं
च कृष्यादिभिर्विचित्ररूपान् द्रव्यविशेषान् सम्प्राप्य तैः राजानं भृत्यद्वारेण
साक्षाद्वाऽर्चयन्ति; अर्चितश्च राजा तत्तदर्थनानुगुणं फलं प्रयच्छन् दृश्यते ।
वेदान्तास्त्यतिपतितसकलेतरप्रमाणसम्भावनाभूमिं निरस्तसमस्ताविद्या-
दिदोषगन्धं स्वाभाविकानवधिकातिशयापरिमितोद्धारगुणसागरं पुरुषोत्त-
मं प्रतिपाद्य, तदाराधनरूपाणि च यागदानहोमात्मकानि, स्तुतिनमस्कार-
कीर्तनार्चनध्यानानि च तदाराधनानि, आराधितात्परस्मात्पुरुषाद्भोगाप-
वर्गरूपं फलं च, वदन्तीति सर्वं समञ्जसम् ॥ ४० ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये फलाधिकरणम् ॥ ८ ॥

इति श्रीभगवद्रामानुजविरचिते शारीरकमीमांसाभाष्ये
तृतीयस्थाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

१. यजु. १-३-१-१५. ॥—३. तै. जस-१-५-॥—३. य. २-३-३ ॥
४. य. २-३-२-३ ॥—५. गी. ७-२१-२२-२३ ॥—६. गी. ८-२४-५२ ॥

॥ श्रीमते रामानुजाय नमः ॥

श्रीभगवद्रामानुजविरचिते—

श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये

(तृतीयाध्याये-तृतीयः पादः-सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरणम् ॥)

सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात् । ३ । ३ । १ ॥

उक्तं ब्रह्मोपासिसिधोपजननाय यत्कृत्यं ब्रह्मणः फलदायित्वपर्यन्तम् । इदानीं ब्रह्मोपासनानां गुणोपसंहारधिकल्पनिर्णयाय विद्याभेदचिन्ता प्रस्तूयते । प्रथमं तावदेकस्या वैश्वानरविद्यादिकाया अनेकशास्त्रासु भूयमाणायाः किमेकविद्यात्वम्, उत विद्याभेद इति चिन्त्यते । अधिशेष-पुनरभरणस्य प्रकरणान्तरस्य च भेदकरवाच्छास्त्रान्तरे चोभयोरवर्जनीयत्वाद्विद्याभेद इति प्राप्तम् । अत एव : “तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां घृहेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्यम्” इति शिरोव्रतव्रतामाध्ववेष्टिकानामेव विद्योपदेशनियम उपपद्यते । विद्यैक्ये हि विद्याङ्गस्य शिरोव्रतस्यान्येषामपि शास्त्रिणां प्राप्तेर्नियमो नोपपद्यते—

—(सिद्धान्तः)—

एवं प्राप्त उच्यते—सर्ववेदान्तप्रत्ययमेकमुपासनमिति । कुतः ? चोदनाद्यविशेषात्-चोदना तावत् २ “उपासीत” ३ “विद्यात्” इत्येवंजातीय-को धात्वर्थविशेषविधिः । आदिशब्देन ४ “एकं वा संयोगरूपचोदनाख्या-

विशेषान् " इति कर्मकाण्डशास्त्रान्तराधिकरणमूत्रोक्तास्संयोगरूपाख्या
गृह्यन्ते । एषां चोदनादीनामविशेषान् संवेगं विद्येति शास्त्रान्तरे प्रत्यभि-
ज्ञायते । तथाहि-छान्दोग्यवाजसनेयकयोः ? " वैश्वानरमुपास्ते " इति
चोदना तावदेकरूपा ; येद्यैकनिरूपणीयस्वरूपस्य विधिपर्यायस्योपासेर्वै-
श्वभूतवैश्वानरैकवाद्रूपमप्यविशिष्टम् ; आख्या च वैश्वानरविद्येत्यविशिष्टाः
फलसंयोगोऽप्युभयत्रापि ब्रह्मप्राप्तिरूपोऽविशिष्टः । अत एभिः प्रत्यभि-
ज्ञानाच्छास्त्रान्तरेऽपि विद्यैक्यम् ॥ १ ॥

यदुक्तमविशेषपुनश्चोदनात्प्रकरणान्तराद्य विधेयभेदप्रतीतिर्न वि-
द्यैक्यमिति, तदनुभाष्य परिहरति—

भेदान्नेति चेदेकस्यामपि । ३ । ३ । २ ॥

अविशेषपुनश्चोदनात् प्रकरणान्तराद्य विधेयभेदान्न विद्यैक्यमिति
चेत्-एकस्यामपि विद्यायां प्रतिपत्तुर्भेदात्पुनश्चोदनात् प्रकरणान्तरं चोप-
पद्यते । यत्र शेरुमिन् प्रतिपत्तिरि पुनश्चोदनात् प्रकरणान्तरं च विद्यते ; त-
त्रान्यथानुपपत्त्या विधेयभेदाद्विद्याभेदः, प्रतिपत्तुर्भेदे तु तत्प्रतिपत्त्यर्थतया
पुनश्चोदनात्पुनश्चोदनात् न विधेयान्तरसम्भवः ॥ २ ॥

यद्योक्तं शिरोव्रतवतामाथर्धणिकानामेव विद्यापदेशनियमदर्शनादि-
शाभेदः प्रतीयत इति, तत्राह—

**स्वाध्यायस्य तथात्वे हि समाचारे ऽधिकारच्च
सववच्च तन्नियमः । ३ । ३ । ३ ॥**

नैतदस्ति-शिरोव्रतोपदेशनियमदर्शनं विद्याभेदं शोतयति-इति,
शिरोव्रतस्य विद्याङ्गत्वाभावात् । स्वाध्यायस्य तथात्वे हि तन्नियमः स्वा-
ध्यायस्य तथात्वेनैव सिद्धयर्थं-तज्जन्यसंस्कारभाक्त्वसिद्धयर्थं हि शिरोव्रतोप-
देशनियमः, न विद्यायाः । कुत एतन् ? २ "नैतद्विद्यैक्यव्रतोऽध्यायीत" इति
तस्याभ्ययनसंयोगान् ; समाचारेऽधिकाराद्य-समाचाराख्ये ग्रन्थेऽ"इदमपि
वेदग्रन्थेन व्याख्यातम्" इत्यतिदेशान् । ४ "तेपामेवैतां ब्रह्मविद्यां यद्वेत"

वेदविशामित्यर्थः । सववच्च तन्नियमः—यथाहि सवहोमास्तप्त सूर्यादयरश-
तोश्नपर्यन्ता आधर्वणिकैकाग्निसम्बन्धिनस्तत्रैव भवन्ति; न त्रेताग्निषु ॥

दर्शयति च । ३ । ३ । ४ ॥

दर्शयति च भुतिरूपासनस्य सर्ववेदान्तप्रत्ययत्वम्; तथाहि-छान्दो-
ग्ये १“तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्” इत्युक्त्वा २“किं तदत्र विद्यते यदन्वे-
ष्टव्यम् ” इति प्रभपूर्वकम् अपदतपाप्मत्वादिगुणाष्टकविशिष्टः परमात्मा
तस्मिन्नुपास्य इत्युक्तम् ; तैत्तिरीयके तु छान्दोग्यस्थं प्रतिनिर्देशमुपजीव्य
३“तत्रापि दहरं गगनं विशोकस्तस्मिन्यदन्तस्तदुपासितव्यम्” इति गुणा-
ष्टकविशिष्टस्य परमात्मन उपासनमुच्यते ; तदुभयत्र विशैकत्वेन गुणोप-
संहारादेवोपपद्यते ॥ ३ ॥

तदेवं शास्त्रान्तराधिकरणन्यायसिद्धं विशैक्यं स्थिरीकृत्य तत्प्र-
योजनमाह—

उपसंहारोऽर्थाभेदाद्विशेषवत्समाने च । ३ । ३ । ५ ॥

एवं सर्ववेदान्तेषु समाने सत्युपासने वेदान्तान्तरात्मनातानां गुणा-
नां वेदान्तान्तर उपसंहारः कर्तव्यः; कुतः ? विशिरोपवदार्थाभेदान्-यथै-
कस्मिन्वेदान्ते भूतो वैश्वानरदहरादिविशिरोपो गुणस्तद्विद्यासम्बन्धात्तदु-
पकाररूपप्रयोजनसिद्धयर्थमनुष्ठीयते ; तथा वेदान्तान्तरोदितोऽपि तद्वि-
द्यासम्बन्धित्वेन तदुपकाराविशोपादुपसंहर्तव्य इत्यर्थः । चशब्दोऽवधा-
रणे ॥ ४ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरणम् ॥ १ ॥

—(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अन्यथात्वाधिकरणम् ॥ २ ॥)—

अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नाविशेषात् । ३ । ३ । ६ ॥

एवं चोदनायविशोपाद्विशैकत्वम्, एकत्वे च गुणोपसंहारः कर्तव्य

इत्युक्तम् ; अतः परं काश्चन विद्या अधिकृत्य प्रत्यभिज्ञाहेतुभूतचोद-
नाद्यविशेषोऽस्ति, नेति निरूप्य निर्णयते । अस्युद्गीथविद्या वाजिनां
छन्दोगानां च । वाजिनां तावत् १“द्वया ह प्राजापत्या देवाभ्यासुराभ्य”
इत्यारभ्य १“ते ह देवा ऊचुः हन्तासुरान्यज्ञ उद्गीथेनात्ययाम” इत्यु-
द्गीथेनासुरविध्वंसनं प्रतिज्ञायोद्गीथे वागादिमनःपर्यन्तदृष्टौ असुरैरभि-
भवमुक्त्वा २“अथ हेममासन्यं प्राणमूचुः” इत्यादिना उद्गीथे प्राणदृ-
ष्ट्या असुरपराभवमुक्त्वा २“भवत्यात्मना परास्य द्विपद् भ्रातृव्यो भ-
वति य एवं वेद” इति शत्रुपराजयफलायोद्गीथे प्राणदृष्टिर्विहिता । एवं
छन्दोगानामपि ३“देवासुरा ह वै यत्र संयेतिरे” इत्यारभ्य ३“तद्
देवा उद्गीथमाजङ्गुरनेनैनानभिद्वनिप्यामः” इत्युद्गीथेनासुरपराभवं प्र-
तिज्ञाय तद्देवोद्गीथे वागादिदृष्टौ दोषमभिधाय ४“अथ ह य एवायं
मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासाञ्चकिरे” इत्यादिना उद्गीथे प्राणदृष्ट्या अ-
सुरपराभवमुक्त्वा ४“ यथाऽरमानमाखणमृत्वा विध्वंसते एवं ह वै स वि-
ध्वंसते य एवं विद्दि पापं कामयते” इति शत्रुपराभवाय उद्गीथे प्राण-
दृष्टिर्विहिता । वेदनविषयविधिप्रत्ययाभवणोऽपि फलसाधनत्वभवणाद्वे-
दनविषयो विधिः कल्प्यते । उद्गीथविद्यायाः कर्तव्यत्वेन क्रतुसादगुण्यफल
त्वेऽप्यार्थवादिकमपि फलं तद्विरुद्धं प्राप्तमेवेति देवताधिकरणे प्रतिपा-
दितम् । तत्र संशय्यते—किमत्र विनैक्यम्, उत नेति । किं युक्तम् ? वि-
नैक्यमिति । कुतः ? उभयत्रोद्गीथस्यैवाध्यस्तप्राणभावस्योपास्यत्वभवणा-
चोदनाद्यविशेषात् । फलसंयोगस्तावच्छत्रुपरिभयरूपो न विशिष्यते ।
रूपमप्यध्यस्तप्राणभावोद्गीथाख्योपास्यैक्यादविशिष्टम् । चोदना च वि-
दिधात्वर्थगताऽविशिष्टा । आख्या चोद्गीथविशेषेत्यविशिष्टा । अत्र रादा-
न्तिच्छायाया परिचोश परिहरति—अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नाविशो-
पात्—इति । यदुक्तं विनैक्यमिति, तन्नोपपद्यते, रूपभेदान् ; रूपान्यथात्वं

हि शब्ददेय प्रतीयते ; वाजसनेयके हि १“अथ हेममासन्यं प्राणमृचु-
स्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्य एष प्राण उद्गायत्” इत्युद्गानस्य
कर्तरि प्राणदृष्ट्याऽमुरपराभवमुक्त्वा १“य एवं वेद” इति कर्त-
र्येव प्राणदृष्टिरेवंशब्दादवगम्यते । छान्दोग्ये २“अथ ह य एवायं
मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासाञ्चक्रे” इत्युद्गानस्य कर्मण्युद्गीथे प्राणदृ-
ष्ट्या अमुरपराभवमुक्त्वा २“य एवंविदि पापं कामयते” इत्येवंशब्दात्कर्म-
र्येवोद्गीथे प्राणदृष्टिर्विहिता । अत एकत्र कर्तरि प्राणदृष्टिशब्दादन्यत्र
कर्मणि प्राणदृष्टिशब्दाच्च रूपान्यथात्वं स्पष्टम् । रूपान्यथात्वे च विधेय-
भेदे सति केवल चोदनावधिशेषोऽकिञ्चित्कर इति विद्याभेद इति चेत्-
तत्र, अविशेषान्-अविशेषेण णुभयत्र उद्गीथसाधनकपरपरिभव उपक्रमे
प्रतीयते ; वाजसनेयके ३“ते ह देवा ऊचुर्हन्तामुरान्यज्ञ उद्गीथेनात्मास”
इत्युपक्रमे भूयते; छान्दोग्येऽपि ४“तद्ध देवा उद्गीथमाजहुरनेनैनानभि-
हन्तिष्यामः” इति । अत उपक्रमाविरोधाय १“तेभ्य एष प्राण उद्गा-
यन्” इत्यध्यस्तप्राणभाव उद्गीथ उद्गानकर्मभूत एव पाकादिष्वोदनादि-
यत्सौकर्यातिशयविधत्तया कर्तृत्वेनोच्यते; अन्यथोपक्रमगत उद्गीथशब्दः
कर्तरि लाक्षणिकः स्यात्, अतो विधैक्यम् ॥ ६ ॥

—(सिद्धान्तः)—

इति प्राप्ते प्रचक्ष्महे—

न वा प्रकरणभेदात्परोवरीयस्त्वादिवत् । ३।३।७॥

नवन्ति पक्षं व्यावर्तयति ; नचैतदस्ति, यद्विशैक्यमिति; कुतः ?
प्रकरणभेदान् ५“ओमित्येतदङ्गरमुद्गीथमुपासीत” इति प्रकृतमुद्गीथावय-
वभूतं प्रणवं प्रस्तुत्य ६“एतस्य वा अक्षरस्योपव्याख्यानं भवति” ७“देवा-
मुरा हवै यत्र संवतिरे” इत्यारभ्य ८“अथ ह य एवायं मुख्यः प्राण-

१. घ. १-३-७ ॥ — २. घ. १-२-७, ङ ॥ — ३. घ. ३-३-१ ॥ —

४. घ. १-२-१ — २. घ. १-१-१ ॥ — ५. घ. १-१-१० ॥ — ६. घ. १-२-१॥

७. घ. १-२-७ ॥

स्तमुद्गीथमुपासाञ्चकिरे" इत्युद्गीथावयवभूतप्रणवविषयमुपासनं छन्दो-
गा अवीयते; वाजिनस्तु तादृशप्राचीनप्रहरणाभावात् १ "हन्तामुरान्यश
उद्गीथेनात्ययाम" इति कृत्स्नमुद्गीथं प्रस्तुत्य २ "अथ हेममासन्यं प्राण-
मूचुस्त्वं न उद्गाय" इत्यादिकृत्स्नोद्गीथविषयमधीयते; अतः प्रकरण-
भेदेन विधेयभेदः, विधेयभेदे च रूपभेद इति न विरोधः ३ "अथ
हयएवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासाञ्चकिरे" इति पूर्वप्रकृत उद्गीथ-
वयवभूतः प्रणव एवाभ्यस्तप्राणभावरह्छन्दोगानामुपास्यः; वाजिनां तु कृ-
त्स्नस्योद्गीथस्य कर्तोद्गाथा प्राणदृष्ट्योपास्य इति । ४ "अथ हेममासन्यं प्राण-
मूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्य एष प्राण उद्गायन्" इत्युद्गातरि प्रा-
णाध्यासं निर्दिश्य २ "य एवं वद" इत्युद्गार्तयाऽथस्तप्राणभाव उपास्यो
विवीयते; अतश्च रूपभेदः । नचोद्गातयुपास्ये विहितं १ "उद्गीथेनात्ययाम"
इत्याख्यायिकापक्रमविरोधश्शङ्कनीयः; उद्गातुरुपासनं उद्गीतस्योद्गानकर्म
भूतस्वावरयापेक्षितत्वात्स्यापि परपरिमवाक्यं कञ्च प्रति हन्तुत्वान् । अतो
रूपभेदाद्विधाभेद इति चोदनाग्रविशेषेऽपि न विरोधः । परोवरीय-
स्त्वादिवन्—अथैकस्यामपि शाखायामुद्गीथावयवभूतं प्रणवे परमात्मदृ-
ष्टिविधानसाम्येऽपि हिरण्यगुरुपदद्विविधानात् परोवरीयस्त्वाद्विगुणवि-
शिष्टद्विविधानमर्थान्तरभूतम् ॥ ७ ॥

संज्ञातश्चेत्तदुक्तमस्ति तु तदपि । ३ । ३ । ८ ॥

उद्गीथविधेति संज्ञैक्यात् तन्-विशैक्यमुक्तं चेत्-तन्-संज्ञैक्यं विधे-
यभेदेऽप्यस्त्येव; यथा अग्निहोत्रसंज्ञा नित्याग्निहोत्रे, कुण्डपायिनामयना-
ग्निहोत्रेच; यथाचोद्गीथविधेति छान्दोग्ये प्रथमप्रपाठकोदितासु यज्ञीषु
विद्यासु ॥ ८ ॥

व्याप्तेश्च समञ्जसम् । ३ । ३ । ९ ॥

छान्दोग्ये प्रथमप्रपाठके उत्तराख्यपि विश्वासूद्गीथावयवस्य प्रणवस्य प्रथमप्रस्तुतस्योपास्यत्वेन व्याप्तेश्च तन्मध्यगतस्य १“तद्ध देवा उद्गीथमाजह्नुः” इत्युद्गीथशब्दस्य प्रणवविषयत्वमेव समञ्जसम् । अवयवे च समुदायशब्दः ‘पटो दग्धः’ इत्यादिषु दृश्यते । अतश्चोद्गीथावयवभूतः प्रणव एवोद्गीथशब्दनिर्दिष्ट इति स एव प्राणदृष्ट्योपास्यश्छान्दोग्ये प्रतिपत्तव्यः । वाजसनेयके तु कृत्स्नोद्गीथविषय उद्गीथशब्द इति कृत्स्नोद्गीथस्य कर्तोद्गाता प्राणदृष्ट्योपास्य इति विशानानात्वं सिद्धम् ॥ ६ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अन्यथात्वाधिकरणम् ॥ २ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये सर्वाभेदाधिकरणम् ॥ ३ ॥)

सर्वाभेदादन्यत्रेमे । ३ ३ । १० ॥

छान्दोग्यवाजसनेयकयोः प्राणविद्या आग्रायते २“यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेदं ज्येष्ठं ह वै श्रेष्ठं भवति प्राणो वायु ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च” इत्यादि । तत्र ज्यैष्ठ्यश्रेष्ठ्यगुणकं प्राणमुपास्यं प्रतिपाद्य वाक्चक्षुरश्रोत्रमनस्सु वसिष्ठत्वप्रतिष्ठात्वसम्पत्त्वायतनत्वाख्यानं गुणान् प्रतिपाद्य वागादीनां देहस्य च प्राणायत्तस्थितित्वेन तदायत्ततत्तत्कार्यत्वेन च प्राणस्य श्रेष्ठ्यं प्रतिपाद्य वागादि सम्बन्धितया भुतान्वसिष्ठत्वादीन् गुणान्श्च प्राणसम्बन्धितया प्रतिपादयति । एवं छान्दोग्यवाजसनेयकयोर्यैष्ठ्यश्रेष्ठ्यगुणको वसिष्ठत्वादिगुणकश्च प्राण उपास्यः प्रतिपाद्यते । कौपीतकिनां तु प्राणविद्यायां तथैव ज्यैष्ठ्यश्रेष्ठ्यगुणकः प्राण उपास्यः प्रतिपादितः; न पुनर्वसिष्ठत्वादयो वागादिसम्बन्धिनो गुणाः प्राणसम्बन्धितया प्रतिपादिताः । तत्र संशयः—किमत्र विद्या भिद्यते, उत नेति । किं युक्तम् ? भिद्यत इति । कुतः; ? रूपभेदान् । यद्यप्यभयत्र प्राण एव ज्यैष्ठ्यश्रेष्ठ्यगुणक उपास्यः; तथाप्येकत्र वसिष्ठत्वादिभिरपि गुणैर्युक्तः प्राण उपास्यः प्रतीयते; इतरत्र तु तद्विधुर इत्युपास्य रूपभेदाद्विद्याभेदः—

(सिद्धान्तः)

इति प्राप्ते भ्रूमः—सर्वाभेदादन्यत्रेमेन्तात्र विद्याभेदः, अन्यत्र कौपीतकिनां प्राणविद्यायामपि इमे—वसिष्ठत्वादयो गुणा उपास्यामसन्ति; कुतः ? सर्वाभेदात्—प्रतिज्ञातप्राणज्यैष्ठ्यभैष्ठ्योपपादनप्रकारस्य सर्वस्य तत्राप्यभेदात् । तथाहि—छन्दोगवाजसनेयिनां प्राणविद्यायाम् १“एता ह वै देवता अहंभेयसे व्यूदिरे” ३“अहंभेयसे विवदमानाः” इति चोपक्रम्य वागाद्यैकैकापक्रमणे अन्येषां सप्राणानामिन्द्रियाणां शरीरस्य च स्थितिं तत्तत्कार्यं चाविकलं प्रतिपाद्य प्राणोत्क्रमणे सर्वेषां विशरणमकार्यकरत्वं चाभिधाय सर्वेषां प्राणाधीनस्थितित्वतदधीनकार्यत्वाभ्यां प्राणस्य ज्यैष्ठ्यमुपपादितम् । एवमुपपादितं वागादिकार्यस्य प्राणाधीनत्वम् ३“अथ ह्येनं वागुवाच यदहं वसिष्ठोऽस्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसि” इत्यादिना वागादिभिरनूयते । कौपीतकिनां प्राणविद्यायामपि प्राणज्यैष्ठ्यभैष्ठ्यप्रतिपादनाय वागादिषु वसिष्ठत्वादयः प्रतिपादिताः । ४“अथ हेमा देवताः प्रजापतिं पितरमेत्याब्रुवन् को वै नः भ्रेष्ठः” इत्यादिना वागादिगता गुणा वागादयश्च देहश्च प्राणधीना इति प्राणस्य ज्यैष्ठ्यमुपपादितम् । वागादिभिः स्वस्वगुणानां वसिष्ठत्वादीनां प्राणाधीनत्वानुवादमात्रं तु न कृतम् । नैतावता रूपभेदः, वागादीनां वसिष्ठत्वादिगुणान्वितानां प्राणाधीनकार्यत्वोपपादनेनैव प्राणस्य वागादिवसिष्ठत्वादिगुणहेतुत्वस्य सिद्धत्वान् । तदेव हि प्राणस्य वसिष्ठत्वादिगुणयोगित्वम् : यद्वागादिवसिष्ठत्वादिहेतुत्वम् । अतोऽत्रापि वसिष्ठत्वादिगुणयोगान्प्राप्तो ज्येष्ठः प्रतिपन्न इति नास्ति विद्याभेदः ॥ १८ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये सर्वाभेदाधिकरणम् ॥ ३ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये आनन्दाद्यधिकरणम् ॥ ४ ॥)

प्राणविनाङ्गविषयसन्ध्यदपि निरूपणमनन्तरमेव करिष्यते । यथा प्राणस्य घसिष्ठत्वागनुसन्धानेन विना ज्यैष्ठ्यभ्रैष्ठ्यानुसन्धानानुपपत्तेरनुष्ठानामपि बलिष्ठत्वादीनां कौपीतकिप्राणविनायां प्राप्तिः; तथा ब्रह्मस्वरूपानुसन्धानं यैर्गुणैर्विना नोपपद्यते ; ते ब्रह्मविनासु सर्वास्वप्यनुसन्धेया इत्ययमर्थः प्रतिपाद्यते—

आनन्दादयः प्रधानस्य । ३ । ३ । ११ ॥

अत्र ब्रह्मस्वरूपगुणानां सर्वासु परविशासूपसंहारोऽस्ति, नेति विचार्यते । अप्रकरणाधीतानामुपसंहारे प्रमाणाभावात्प्रकरणश्रुतानामेवोपसंहार इति ॥

—(सिद्धान्तः)—

एवं प्राप्ते ब्रूमः—आनन्दादयः प्रधानस्य-अभेदादिति वर्तते; प्रधानस्य गुणिनो ब्रह्मणस्सर्वेषूपपासनेष्वभेदान्, गुण्यपृथग्भावादगुणानां, सर्वत्रानन्दादयस्तद्गुणा उपसंहर्तव्याः ॥ ११ ॥

एवं तर्हि गुण्यपृथग्भावादेवानन्दादिविप्रियशिरस्त्वादयोऽपि ? “तस्य प्रियमेव शिरः” इत्यादौ ब्रह्मगुणत्वेन श्रुताम्सर्वत्र प्रसज्येरन; नेत्याह—

**प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरूपचयापचयौ हि
भेदे । ३ । ३ । १२ ॥**

ब्रह्मस्वरूपगुणानां प्राप्ताद्युच्यमानायां प्रियशिरस्त्वादीनामप्राप्तिः, तेषामब्रह्मगुणत्वान्; ब्रह्मणः पुरुषविधत्वरूपणमात्रान्तर्गतत्वात्प्रियशिरस्त्वादीनाम् । अन्यथा शिरःपक्षपुच्छाणवयवभेदे मति ब्रह्मणोऽयूपचयापचयौ प्रसज्येयाताम् । तथा च सति २ “मत्तं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म” इत्यादि विरुध्यते ॥ १२ ॥

नन्वेवमेव ब्रह्मसम्बन्धिनामेवैश्वर्यगान्भीर्योर्द्वयकारुण्यादीनां गु-
णानामनन्तानां गुण्यप्रथक्स्थितत्वमात्रेण तत्राभुतानामप्युपसंहारे सर्वे
सर्वत्र प्रसज्येरन्, आनन्त्यादुपसंहाराशक्तिश्च; तत्राह—

इतरे त्वर्थसामान्यात् । ३ । ३ । १३ ॥

तुल्यत्वञ्चोद्यं व्यावर्तयति; इतरेतु—आनन्दादयः अर्थसामान्या-
त्सर्वत्रानुवर्तन्ते । ये त्वर्थसमानाः—अर्थस्वरूपनिरूपणधर्मत्वेनार्थप्रती-
त्यनुबन्धिनः; तेऽर्थस्वरूपवत्सर्वत्रानुवर्तन्ते । ते च गुणास्सत्यज्ञानान-
न्दात्मकत्वानन्तत्थानि । १ “यतो वा इमानि” इत्यादिना जगत्कारण-
तयोपलक्षितं ब्रह्म २ “सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म” ३ “आनन्दो ब्रह्म” इत्या-
नन्दादिभिर्हि स्वरूपतो निरूप्यते । अत उपास्यब्रह्मस्वरूपावगमाय स-
र्वासु विद्यास्वानन्दादयोऽनुवर्तन्ते । ये तु निरूपितस्वरूपस्य ब्रह्मणः
कारुण्यादयो गुणाः प्रतिपन्नाः; तेषां गुण्यप्रथक्स्थितत्वेऽपि प्रतीत्यनुबन्धि-
त्वाभावात्—ये यत्र भूताः, तेतत्रोपसंहार्याः—इति निरवयवम् ॥ १३ ॥

यत्तत्पचयापचयप्रसङ्गात्प्रियशिरस्त्वादयो ब्रह्मणः पुरुषविषयत्वरू-
पणमात्रार्थाः; न तु ब्रह्मगुणाः । तर्ह्यतथारूपस्य ब्रह्मणस्तथात्वेन रूपणं
किमर्थं क्रियते; अतथाभूतस्य हि तथात्वरूपणे केनचित्प्रयोजनेन भ-
वितव्यम् ; यथा ४ “आत्मानं रथिनं विद्धि” इत्यादिनोपासकस्य तदु-
पकरणानां च रथिरथादित्वरूपणम् उपासनोपकरणभूतशरीरेन्द्रियादिव-
शीकरणार्थं क्रियत इत्युक्तम् । नचेह तथाविधं किञ्चिप्रयोजनं दृश्यते ।
इति यत्तादृग्ब्रह्मगुणत्वं प्रियशिरस्त्वादीनामभ्युपेत्यम् । तत्राह—

आध्यानाय प्रयोजनाभावात् । ३ । ३ । १४ ॥

प्रयोजनान्तराभावादाध्यानायायं रूपणोपदेशः क्रियते । आ-
ध्यानम् अनुचिन्तनम्, उपासनमुच्यते । २ “ब्रह्मविदाप्नोति परम्” इ-
त्यत्रोपविष्टाध्यानरूपवेदनसिद्धये ह्यानन्दमयब्रह्मप्रतिपत्त्यर्थमानन्दमयं

१. तै. मृ. १ अनु. ॥ २. तै. आ. १ अनु. १. ॥ ३. तै. भृ. १ अनु. ॥
४. व. ३. १-अ ३-३ ॥

प्रज्ञा प्रियमोदादिरूपेण विभज्य शिरःपक्षादित्वेन रूपयित्वोपदिश्यते ।
 यथाऽन्नमयः पुरुषः अयं देहः शिरःपक्षादिभिः १ “तस्येदमेव शिरः” इ-
 त्यादिना बुद्धावारोप्यते; यथा च प्राणमयमनोमयविज्ञानमयाः २ “तस्य
 प्राण एव शिरः” इत्यादिना प्राणाणवयवैर्बुद्धावारोप्यन्ते; एवमेभ्योऽर्था-
 न्तरभूतस्तदन्तरात्मा आनन्दमयोऽपि प्रियमोदादिभिरेकदेशैः शिरःप्रभृ-
 तित्वेन रूपितैराध्यानाय बुद्धावारोप्यते । एवमानन्दमयोपलक्षणत्वात्प्रि-
 यशिरस्त्यादीनां न सर्वदा आनन्दमयप्रतीतावनुवर्तन्ते ॥ १४ ॥

आत्मशब्दाच्च । ३ । ३ । १५ ॥

३ “अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः” इत्यात्मशब्देन निर्देशाद्वात्मनश्च
 शिरःपक्षपुच्छासम्भवात्प्रियशिरस्त्वादयस्तस्य सुखप्रतिपत्त्यर्थं रूपणमा-
 त्रमिति गम्यते ॥ १४ ॥

तनुः ४ “अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः” २ “अन्योऽन्तर आत्मा मनो-
 मयः” इत्यात्मशब्दस्य नात्मस्वपि पूर्वं प्रयुक्तत्वात् २ “अन्योऽन्तर आत्मा-
 ऽऽनन्दमयः” इत्यात्मशब्दस्य परमात्मविषयत्वं कथं निश्चीयते ? तत्राह-

आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात् । ३ । ३ । १६ ॥

२ “अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः” इत्यात्मशब्देन परमात्मन एव
 ग्रहणम्; इतरवत्-यथेष्ट १ “आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् स ईक्षत
 लोकान्नु सृजै” इत्यादिप्रात्मशब्देन परमात्मन एव ग्रहणम्; तद्वत् ।
 कुत एतन् ? उत्तरान्-३ “सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय” इत्यानन्दमय-
 विषयादुत्तराद्वाक्यात् ॥ १६ ॥

अन्वयादिति चेत्स्यादवधारणात् । ३ । ३ । १७ ॥

पूर्वप्रं प्राणमयादिपञ्चनात्मशब्दान्वयदर्शनाभ्योत्तराभिरुच्येतुं श-
 क्यत इति चेत्-स्यादवधारणात्-स्यादेव निश्चयः; कुतः ? अवधारणात्

१, तै. आ. १ अनु. १॥२, . तै. आ. १ अनु. ३. ॥ ३, तै. आन. २-अनु. १॥-४, तै.
 आन. २-१ ॥ २, तै. आन. ३-१॥- १, ऐतरेव. १-१-१॥-३, तै. आन. १-२॥-

पूर्वत्रापि १“तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशस्सम्भूतः” इति परमात्मन एव बुद्ध्याऽवधारितत्वात् अन्नमयादनन्तरे प्राणमये प्रथमं परमात्मबुद्धिर-
वतीर्णाः तदनन्तरं च प्राणमयादनन्तरे मनोमये; ततो विज्ञानमये, तत आ-
नन्दमये प्रक्रान्ता परमात्मबुद्धिस्तदन्तराभावादुत्तराण २“सोऽकामयत”
इति वाक्यात्प्रतिष्ठितेत्युपक्रमेऽप्यपरमात्मनि परमात्मबुद्ध्या आत्मशब्दा-
न्वयः इति निरवयवम् ॥ १७ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये आनन्दशब्दधिकरणम् ॥ ४ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये कार्याख्यानाधिकरणम् ॥ ५ ॥)

कार्याख्यानादपूर्वम् । ३ । ३ । १८ ॥

पूर्वप्रस्तुतप्राणविशारोपभूतमिदानीं चिन्त्यते । छान्दोग्यवाजसनं-
यकयोः ज्येष्ठं च भ्रेष्ठं च प्राणमुपास्यमुक्त्वा प्राणस्य वासस्त्वेनापोऽभि-
धीयन्ते । छान्दोग्ये तावत् ३ “स होवाच किं मे वासो भविष्यतीत्याप
इति होचुस्तस्माद्वा एतदशिष्यन्तः पुरस्ताद्योपरिष्ठायाङ्किः परिदधति
लम्बुको ह वासो भवत्यनघो भवति” इति ; वाजसनेयके, “किं मे वासः”
इति प्राणेन पृष्ठा वागादयः ऊचुः ४ “आपो नास इति तद्विद्वान्संश्र-
त्रिया अशिष्यन्त आचामन्त्यशित्वा चाचामन्त्येतमेव तदनमनग्नं कुर्वन्तो
मन्यन्ते” ५ “तस्मादेवंविदशिष्यन्नाचामेदशित्वा चाचामेदेतमेव तदनम-
नग्नं कुरुते” इति । तत्र संशयः—किमत्राचमनं विधीयते, उतापां प्राण-
वासस्यवानुसन्धानमिति । ५ “अशिष्यन्नाचामेदशित्वा चाचामेन” इत्या-
चमने विधिप्रत्ययभवेणान्, ‘एतमेव तदनमनं कुरुते’ इति वेदेने वि-

*. मै. आन. १ अनु. २ व २, तै. आन. ६ अनु. २ ॥ ३. वा. १-२-२॥

४. पू. ८-१-१४ ॥ ५. ॥

विधिप्रत्ययाभावादनग्नतासङ्कीर्तनस्य स्तुत्यर्थतयाऽन्वयोपपत्तेरत्र, भोजनाङ्ग-
स्याचमनस्य स्मृत्याचारप्राप्तत्वेन विधिप्रत्ययवलात्प्राणविर्याङ्गमाचमना-
न्तरं विधीयते—

—(सिद्धान्तः)—

इति प्राप्ते ऋमः—आचमनीयानामपां प्राणस्य वासस्त्वानुसन्धान-
मेवेह—अपूर्वम्—अप्राप्तं विधीयते, कार्याख्यानात्—अप्राप्ताख्यानात्, अप्रा-
प्राख्याने शब्दस्यार्थवत्त्वादित्यर्थः । एतदुक्तं भवति—१ “किं मे वासः”
१ “आपो वासः” २ “अद्भिः परिदधति” ३ “एतमेव तदनमनग्नं कुरुते”
इत्युपक्रमोपसंहारयोर्वाक्यस्यापां प्राणवासोद्वष्टिपरत्वप्रतीतेराचमनस्य
स्मृत्याचारप्राप्तत्वादाचमनमनूयाचमनीयास्वप्सु प्राणवासस्त्वानुसन्धानं
विधीयते इति । अत एव च्छान्दोग्ये २ “तस्माद्वा एतदशिष्यन्तः पुरस्ता-
दोपरिष्ठाद्याद्भिः परिदधति” इत्याद्भिः परिधानमेधोक्तम्; नाचमनम् ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये कार्याख्यानाधिकरणम् ॥ ५ ॥

—(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये समानाधिकरणम् ॥ ६ ॥)—

समान एवं चाभेदात् । ३ । ३ । १९ ॥

वाजसनेयके अग्निरहस्ये शाण्डिल्यविद्याऽऽम्नाता १ “सत्यं ब्रह्मेत्यु-
पासीत् अथ सलु क्रतुमयोऽयं पुरुषः” इत्यारभ्य ४ “स आत्मानमुपा-
सीत् मनोमयं प्राणशरीरं भास्वरं सत्यसङ्कल्पमाकाशात्मानम्” इति । तथा
तस्मिन्नेव बृहदारण्यके पुनरपि शाण्डिल्यविद्याऽऽम्नायते ५ “मनोमयोऽयं
पुरुषो भास्वरं सत्यं तस्मिन्नन्तर्हृदये यथा ग्रीहिर्वा यवो वा स एव सर्वस्य

१. बृ. ८-१-१४ ॥-२. वा. ४-२-२ ॥-३. ॥-४. वाजसनेयके अग्निरहस्ये ॥

यशी सर्वस्येशानस्सर्वस्याधिपतिस्सर्वमिदं प्रशस्ति यदिदं किञ्च" इति ।
तत्र संशयः—किमत्र विद्या भिद्यते, उत नेति । संयोगबोदनाख्यानाम-
विशेषेऽपि वशित्वाद्युपास्यगुणभेदेन रूपभेदाद्विद्याभेदः—

—(सिद्धान्तः)—

इति प्राप्त उच्यते—समान एवमिति । यथाऽग्निरहस्ये मनोमय-
प्राणशरीरभारूपसत्यसङ्कल्पत्वगुणगणः भुतः; एवं बृहदारण्यकेऽपि मनो-
मयत्वादिके समाने सत्यधिकस्य वशित्वादेश्च सत्यसङ्कल्पत्वगुणाभेदाच्च
रूपभेदः; अतो विद्यैक्यम् ॥ १० ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये समानाधिकरणम् ॥ ६ ॥

—:—:—

—(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये सम्बन्धाधिकरणम् ॥ ७ ॥)—

सम्बन्धादेवमन्यत्रापि । ३ । ३ । २० ॥

बृहदारण्यके भूयते—१“सत्यं ब्रह्म” इत्युपक्रम्य २“तद्यत्सत्यमसौ
स आदित्यो य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषो यश्चायं वक्षिणेऽक्षिन्” इत्यु-
पक्रम्य आदित्यमण्डलेऽक्षिणि च सत्यस्य ब्रह्मणो व्यावृत्तिशरीरत्वेनो-
पास्यत्वमुक्त्वा ३ “तस्योपनिषद्हरित्यधिदैवतम्” ३“तस्योपनिषद्हमि-
त्यध्यात्मम्” इति द्वे उपनिषदौ—रहस्यनामनी उपासनरोपतयाऽभ्यासेन;
ते किं यथाभूतस्थानविशेषनियतत्वेन व्यवस्थिते, उतोभयत्रोभे अनिय-
मेनेति संशये सत्यस्य व्यावृत्तिशरीरस्यैवोपास्यस्य ब्रह्मणो द्वयोः स्थान-
योस्सम्बन्धादुपास्यैक्येन रूपाभेदात्संयोगाच्च भेदाच्च विद्यैक्यादनियमेने-
ति प्राप्तम् । तदिदमुच्यते—सम्बन्धादेवमन्यत्रापि । यथा मनोमय-
त्वादिगुणविशिष्टस्यैकत्वादुपास्यैक्येन रूपाभेदाद्विद्यैक्यादुपास्योपसंहारः ;

एवमन्यत्राद्यादित्यसम्बन्धिनो ब्रह्मणस्सत्यस्यैकत्वेन विनैवयादुभयो-
रुभयत्रोपसंहारः ॥ २० ॥

—(सिद्धान्तः)—

एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे—

न वा विशेषात् । ३ । ३ । २१ ॥

न चैतदस्ति—यद्विश्वक्यादुपसंहारः इति । कुतः ? विशेषात्—
उपास्यरूपविशेषात् । ब्रह्मण एकत्वेऽप्येकत्रादित्यमण्डलस्थतया उपास्य-
त्वम् । इतरत्राद्याधारतयोपास्यत्वमिति स्थानसम्बन्धित्वभेदेन रूपभे-
दाद्विशाभेदः । नैवं शाण्डिल्यविद्यायाः उपास्यस्थानं भिद्यते, उभयत्र
हृदयाधारत्वेनोपास्यत्वान् । अतो व्ययस्थित इति ॥ २१ ॥

दर्शयति च । ३ । ३ । २२ ॥

दर्शयति चाद्याधारादित्याधारयोर्गुणानुपसंहारं १ “तस्यैतस्य
तदेव रूपं यदमुष्य रूपम्” इत्यादिना रूपाद्यतिदेशेन । स्वतो ह्यप्राप्ताय-
तिदेशेन प्राप्त्यपेक्षा ॥ २२ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये सम्बन्धाधिकरणम् । ७ ॥

—३—

—(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये सम्भृत्यधिकरणम् ॥ ८ ॥)—

सम्भृतिद्युव्याप्त्यपि चातः । ३ । ३ । २३ ॥

तैत्तिरीयके त्रैविध्यव्याप्त्यानां खिलेषु च २ “ब्रह्म ज्येष्ठा वीर्या स-
म्भृतानि ब्रह्मणे ज्येष्ठ दिवमाततान । ब्रह्म भूतानां प्रथमोऽत जज्ञे ते-
नार्हति ब्रह्मणा स्पर्धितुं कः” इति ब्रह्मणि ज्येष्ठानां वीर्याणां सम्भृ-
तिः, शुभ्याप्तिश्चेत्यादिगुणजातमाग्नातम् । तेषामुपासनविशेषमनारभ्या-
धीतानां गुणानां सत्वांसु विद्यासूपसंहारे प्राप्त उच्यते—

—(सिद्धान्तः)—

सम्भृतिगुण्याप्यपि-इति । सम्भृतिगुण्यातीति समाहारद्वन्द्वत्वादे-
कवद्भावः । सम्भृत्यादिकमनारभ्याधीतमपि अत एव स्थानभेदादुच्यवस्था-
प्यम् ; न सर्वत्रोपसंहर्तव्यम् । कथमनारभ्याधोतानां स्थानविशेषनिय-
तत्वम् 'स्वसामर्थ्यादिति धूमः । गुण्यातिस्तावद्धृदयागल्पस्थानगोच-
रासु विद्यासु नोपसंहर्तुं शक्या ; सम्भृत्यादयोऽपि तत्सहचारिणस्तत्तु-
ल्यदेशा इत्यल्पस्थानविषयासु विद्यास्वनुपसंहार्याः । शाण्डिल्यद्वारादि-
विद्यास्वरूपस्थानविषयासु १ "ग्यायान् पृथिव्याः" २ यावान्वा अय-
माकाशस्तावानेपोऽन्तर्हृदय आकाशः" इत्यादयस्तत्रतत्राशक्त्योपसंहाराः
मनोमयत्वापहतपाप्मत्वादिविशिष्टस्योपास्यस्य माहात्म्यप्रतिपादनपराः ॥
इति भीशारीरकमीमांसाभाष्ये सम्भृत्यधिकरणम् ॥ ८ ॥

—०—

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये पुरुषविद्याधिकरणम् ॥ ६ ॥)

पुरुषविद्यायामपि चतरेषामनाम्नानात् । ३ । ३ । २४ ॥

तैत्तिरीयके पुरुषविद्याऽऽम्नायते ३ "तस्येवंविदुषो यज्ञस्याऽन्मा
यजमानश्श्रद्धा पत्नी शरीरमिध्ममुरो वेदिलोमानि यर्हिः" इत्यादिका ।
छान्दोग्येऽपि पुरुषविद्याऽऽम्नायते ४ "पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतु-
र्विंशतिवर्षाणि" इत्यादिका । तत्र संशयः-किमत्र विद्या भिद्यते, उत
नेति । पुरुषविद्येति नामैक्यात्पुरुषावयवेषु यज्ञावयवफलानसाम्येन क-
र्तव्यत्वात् तैत्तिरीयके फलसंयोगाभवरणात् ५ "प्र ह पोडशं वर्षशतं जीव-
ति" इति छान्दोग्ये भुतस्यैव पुरुषविद्याफलत्वात्फलसंयोगस्यात्यविशे-
षाद्विज्ञेयत्वम् ॥

—(सिद्धान्तः)—

इति प्राप्त उच्यते—उभयत्रान्नातयोर्विद्ययोः पुरुषविद्यात्वेऽपि
विद्याभेदोऽस्त्येव; कुतः ? इतरेषामनाम्नानात्-एकस्यां राम्नायामान्मा-
सानां गुणानामन्यत्रानाम्नानान् । तथा हि १ "यत्सायं प्रातर्मध्यन्दिनं
च तानि सबनानि" इत्यादयस्तैत्तिरीयके आम्नाताः छान्दोग्ये सयन-

१. छा. ३-१४-३ ॥ २. छा. ८-१-३ ॥ ३. तै नारायण ४२-प्रबु ॥ ४. छा
३-१६-१ ॥ ५. छा ३-१९-७ ॥

त्वेन नाम्नायन्ते; त्रेधा विभक्तं पुरुषायुषं छान्दोग्ये सवनत्वेन कल्प्य-
ते; छान्दोग्ये भुतानामशिशिपादीनां वीक्षादित्वकल्पनं तैत्तिरीयके न
कृतम्; यत्रमानपल्यादिपरिकल्पनं चान्यथा । अतो रूपमुभयत्र भिन्ना-
ते । तथा फलसंयोगोऽपि भिद्यते; तैत्तिरीयके हि पूर्वानुवाके १ “ब्रह्म-
णो त्वामहस ओमित्यात्मानं युञ्जीत” इति ब्रह्मविद्यामभिधाय तत्फल-
त्वेन २ “ब्रह्मणो महिमानमाप्नोति” इत्युक्त्वा ३ ‘तस्यैवं विदुषः’ इत्या-
दिना आम्नाता पुरुषविद्याऽस्त्यैव ब्रह्मविदुषो यज्ञत्वकल्पनमिति गम्यते ॥

अतो ब्रह्मविद्याङ्गत्वाद्ब्रह्मप्राप्तिरेवात्र फलम् ; ४ ‘फलवत्सन्निधा-
यफलं तदङ्गम्’ इति न्यायासौत्तिरीयकाम्नाता पुरुषविद्या ब्रह्मविद्याङ्गमिति
गम्यते । छान्दोग्ये त्वायुःप्राप्तिफला पुरुषविद्येत्युक्तम् । अतो रूपसंयो-
गयोर्भेदाद्विद्याभेद इत्येकत्राम्नातानां गुणानामितरत्रानुपसंहारः ॥२५॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये पुरुषविद्याधिकरणम् ॥ ६ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये वेधाद्यधिकरणम् ॥ १० ॥)

वेधाद्यर्थभेदात् । ३ । ३ । २५ ॥

आधर्षणिका उपनिषदारम्भे ४ ‘शुक्रं प्रविष्य हृदयं प्रविष्य’ इत्या-
दीन्मन्त्रानधीयते; सामगात्र रहस्यब्राह्मणारम्भे ५ ‘देव सधितः प्रसुव
यमं प्रसुव’ इत्याद्यामनन्ति; काठकास्तैत्तिरीयकाश्च ६ ‘शं नो मित्ररशं
वरुणः’ इत्यादिकम् ; शाटपायनिनश्च ७ ‘श्वेतोऽश्वो हरिनीलोऽसि’ इ-
त्यादिकम् ; ऐतरेयिणस्तु महाव्रतब्राह्मणमधीयते ८ ‘इन्द्रो हवै युधं हत्वा
महानभयन’ इत्यादि; कौपीतकिनोऽपि महाव्रतब्राह्मणमेव ९ ‘प्रजापतिर्ये

१. तै. नारायणं २१-अनु. ॥ १. तै. नारायणं. २१-अनु. ॥

३. नृवं मीमांसा भाष्यः ॥ ७. ॥ २. साममु. २१-अनु. ब्रह्मणो ॥ ६. तै. शी.

१-अनु. ॥ ७. ॥—८. ॥—९. ॥

संवत्सरस्तस्यैव आत्मा यन्महाव्रतम्' इति, याजसनेयिनस्तु प्रवर्ग्यत्रा-
करणं १ 'देवा हवै सत्रं निपेदुः' इत्यादि । तत्र संशयः—किमुपनिषदा-
म्भेष्वधीताः २ 'शुक्रं प्रविध्य' ३ 'शं नो मित्रः' इत्यादयो मन्त्राः प्रव-
र्ग्यादीनि च कर्माणि विद्याङ्गम्, उत नेति । किं युक्तम् ? विद्याङ्गमिति ।
कुतः ? सन्निधिसमाम्नानात् विद्याङ्गत्वप्रतीतिः । यद्यपि २ 'शुक्रं प्रविध्य'
इत्यादीनां मन्त्राणां प्रवर्ग्यदिश्च कर्मणः भुतिलिङ्गवाक्यैर्वलवद्विर्यथायथं
कर्मसु विनियोगोऽवगम्यते, तथाऽपि ३ 'शं नो मित्रः' ४ 'सह नावचतु'
इत्यादिर्मन्त्रस्यान्यत्र विनियोगाभावाद्विद्याधिकाराच्च विद्याङ्गत्वमवर्जनीय-
मिति सर्वासु विद्यासु इमे मन्त्राः उपसंहर्तव्याः—

—(सिद्धान्तः)—

एवं प्राप्ते प्रवचमहे-वेधाद्यर्थभेदान् २ 'शुक्रं प्रविध्य हृदयं प्रविध्य'
३ 'ऋतं वदिष्यामि' ४ सत्यं वदिष्यामि' ५ 'ऋतमवादिपं' सत्यमवादिपं
६ 'तेजस्विनाऽवधीतमस्तु मा शिद्धिपावहे' इत्यादिभिलिङ्गैरभिचाराध्य-
यनादिष्वेपां विनियोगावगमाच्च विद्याङ्गत्वम् । एतदुक्तं भवति—यथा
२ 'हृदयं प्रविध्य' इत्यादिमन्त्रसामर्थ्यात् २ 'शुक्रं प्रविध्य' इत्यादीना-
मभिचारादिशेषत्वमवगम्यते, एवमेव ३ 'ऋतं वदिष्यामि' ५ 'तेजस्विनाऽव-
धीतमस्तु' इत्यादिमन्त्रसामर्थ्यादेव स्वाध्यायशेषत्वं ३ 'शं नो मित्रः'
इत्यादिमन्त्राणामवगम्यते; अतो न तेषां विद्याङ्गत्वम्" इति २ 'शुक्रं प्र-
विध्य' इत्यादीनां प्रवर्ग्यादिव्राह्मणानां चेह पाठो दिवाकीर्त्यत्वारण्ये-
नुवाक्यत्वकृतः ॥ २५ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसामाष्ये वेधाद्यधिकरणम् ॥ १० ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये हान्यधिकरणम् ॥ ११ ॥)

हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात्कुशाच्छन्दस्स्तुत्युप-
गानवत्तदुक्तम् । ३ । ३ । २६ ॥

छन्दोगा आमनन्ति-१“अथ इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात्प्रमुच्य । धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसम्भवानि” इति । आथर्वणिकाश्च २ ‘तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति’ इति; शाट्वायनिनस्तु ३ ‘तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृद-स्साधुकृत्यां द्विपन्तः पापकृत्याम्’ इत्यादि; कौपीतकिनस्तु ४ “तत्सुकृत-दुष्कृते धूनुते तस्य प्रिया घातयस्सुकृतमुपयन्ति अप्रिया दुष्कृतम्” इति । एवं कचित्पुण्यपापयोर्हानिः, क्वचित्प्रियाप्रियेषु तत्प्राप्तिः, क्वचिदुभयं च भुतम् । तदुभयमेकैकविधायां भुतमपि सर्वविद्याङ्गमास्थेयम्, सर्वब्रह्मविद्यानिष्ठस्यापि ब्रह्म प्राप्नुवतः पुण्यपापप्रहाणस्यावश्यंभावितात् प्रहीणधिपयत्वाद्धोपायनस्य । तच्चिन्तनं च विधीयमानं सर्वविद्याङ्गं भवितुमर्हति । तत्रेदं विचार्यते-हानिचिन्तनमुपायनचिन्तनमुभयचिन्तनं च विकल्पेरन्, उपसंहियेरन्वा । किं युक्तम् ? विकल्पेरन्निति । कुतः ? पृथगान्नानसामर्थ्यान् । समुच्ये हि सर्वत्रोभयानुसन्धानं स्यात्, तच्च कौपीतकीवाक्येनैव सिद्धमित्यन्यत्राज्ञानमनर्थकमेव स्यात् । अतोऽनेकश्रान्तानस्य विकल्प एव प्रयोजनम् । नचाध्येतृभेदेन परिहर्तुं शक्य-मनेकश्रान्तानम्, अविशेषपुनश्चरणं ह्याध्येतृभेदपरिहार्यम्, अत्र तु हानिरेव द्वयोः शास्त्रयोः, उपायनमेव चैकस्याम् । न च विद्याभेदेन व्यवस्थापयितुं शक्यम्, सर्वशेषभूतदिदमनुसन्धानमित्युक्तत्वात् ॥

(सिद्धान्तः)

अत्रेदमुच्यते-हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात्-इति । तु शब्दः पक्षं दृष्ट्वा वर्तयति, हानादिति प्रदर्शनार्थम्, केवलायां हानौ केवले चोपायने भू-

यमाणे तयोरितरेतरसमुच्चयोऽवश्यंभावो; कुतः ? उपायनशब्दशेषत्वात्-
 उपायनशब्दस्य हानिवाक्यशेषत्वात् । उपायनवाक्यस्य हि हानिवाक्य-
 शेषत्वेमेवोचितम्, विदुषा त्यक्तयोः पुण्यपापयोः प्रवेशशान्नावाचित्वा
 दुपायनवाक्यस्य । प्रदेशान्तरान्नातस्य वाक्यस्य प्रदेशान्तरान्नातवाक्य-
 शेषत्वे दृष्टान्ता उपन्यस्यन्ते—कुशाच्छन्दस्तुत्युपगानवदिति । काला-
 पिनः १“कुशा वानस्पत्याः” इत्यामनन्ति; शात्रवायनिनां तु २“औदु-
 म्बर्यः कुशाः” इति वाक्यं सामान्येन वानस्पत्यत्येनावगताः कुशाः
 औदुम्बर्य इति विशिष्टतद्वाक्यशेषतामापद्यते; तथा ३“देवासुराणां छ-
 न्दोभिः” इत्यादिना अविशेषेण देवासुराणां छन्दसां प्रसङ्गे ४“देवच्छ-
 न्दांसि पूर्वम्” इति वचनं क्रमविशेषं प्रतिपादयत्तद्वाक्यशेषतां गच्छति;
 तथा हिरण्येन षोडशिनः स्तोत्रमुपाकरोति” इत्यविशेषेण प्राप्ते ५“स-
 मयाविपिते सूर्ये षोडशिनः स्तोत्रमुपाकरोति” इति विशेषविषयं वा-
 क्यं तद्वाक्यशेषतां भजते; तथा ६“ऋत्विज उपगायन्ति” इत्यविशेष-
 प्राप्तस्य ७“नाध्वर्युरुपगायेत्” इति वाक्यमनध्वर्युविषयतामवगमयत्तद्वा-
 क्यशेषत्वमुच्छति; एवं सामान्येनावगतमर्थं विशेषे व्यवस्थापयितुं चमस्य
 वाक्यस्य तच्छेषत्वमनभ्युपगच्छद्विस्तयोरर्थयोर्विकल्पस्तमाश्रयितव्यः;
 स च सम्भवन्त्यां गतौ न युज्यते; तदुक्तं पूर्वस्मिन् काण्डे ८“अपितु
 वाक्यशेषस्याद्वयव्यत्वाद्विकल्पस्य विधोनामेकदेशः स्यात्” इति । त-
 देवं केवलहानोपायनवाक्ययोरेकवाक्यत्वात्केवलस्य हानस्य, केवलस्य-
 चोपायनस्याभावाद्विकल्पो नोपपद्यते । कौपीतकिनामुभयाम्नानमविशेष-
 पुनश्चयणत्वेन प्रतिपन्नभेदाद्विरुद्धम् ॥ २६ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये हान्यधिकरणम् ॥ ११ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये साम्परायाधिकरणम् ॥ १२ ॥

साम्पराये तर्तव्याभावात्तथा ह्यन्ये । ३।३।२७॥

सुकृतदुष्कृतयोर्हानिमुपायनं च सर्वासु विद्यासु चिन्तनीयमित्युक्तम्; तद्वानं किं देहवियोगकाले देहादुत्क्रान्तस्याध्वनि च, उत देहवियोगकाल एवेति विशये उभयत्रेति युक्तम्, उभयथा श्रुतत्वात्; एवं हि कोपीतकि-
नस्समामनन्ति १“स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकं गच्छति” इत्युप-
क्रम्य १“स आगच्छति विरजां नदीं तां मनसाऽयेति तत्सुकृतदुष्कृते
धूनुते” इति । अत्र वाक्ये अंध्रानि सुकृतदुष्कृतहानिः प्रतीयते । तार्हिणस्तु
२“अथ इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात्प्रमुच्य । धूत्वा
शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसम्भवानि” इति । अत्र तु देहवि-
योगकाल इति प्रतीयते; शाठ्यायनकेऽपि ३“तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति
मुहदस्साधुकृत्यां द्विपन्तः पापकृत्याम्” इति पुत्रेषु दायसंक्रान्तिसमकालं
सुकृतदुष्कृतसंक्रमणं भूयमाणं देहवियोगकाल इति गम्यते । अतस्सुकृत-
दुष्कृतयोरेकदेशो देहवियोगकाले हीयते; शेषस्त्वध्वनि—

इति प्राप्त उच्यते—साम्पराये—इति । साम्पराये—देहादपक्रमणकाले
एव विदुपस्सुकृतदुष्कृते निरवशेषं हीयेते । कुतः ? तर्तव्याभावात्—विदुपो
देहवियोगात्पश्चात्सुकृतदुष्कृताभ्यां तरितव्यभोगाभावात् । विद्याफलभूत-
ब्रह्मप्राप्तिव्यतिरेकेण हि सुकृतदुष्कृताभ्यां भोक्तव्ये सुखदुःखे न विद्येते ।
तथा ह्यन्ये देहवियोगादूर्ध्वं ब्रह्मप्राप्तिव्यतिरिक्तसुखदुःखोपभोगाभावमधी-
यते ४“अशरीरं वा य सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः” ४“एष सम्प्रसादोऽ-
स्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते”
५“तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोहयेऽथ सम्पत्स्ये” इति ॥ २७ ॥

१. कोपी. १-३-७॥—२.॥—४. ८-१-१३ ॥—३॥ ४. छ. ८-१२.

१. २ ॥—२. छ. ४-१४-२ ॥

छन्दत उभयाविरोधात् । ३ । ३ । २८ ॥

एवमर्थस्वाभाव्यात्सुकृतदुष्कृतहानिकालेऽवधृते सत्युभयाविरो-
धेन—भुतेरर्थस्वभावस्य चाविरोधेन छन्दतः—यथेष्टं पदानामन्वयो वर्ण-
नीयः । कौपीतकीवाक्ये १“तत्सुकृतदुष्कृते धनृते” इति चरमभुतोवा-
क्यावयवः १“एतं देवयानं पन्थानमापन्न” इति प्रथमभुतावयवान्प्राग-
नुगमयितव्य इत्यर्थः ॥ २८ ॥

अत्र पूर्वपक्षी प्रत्यवतिष्ठते—

गतेरर्थवत्त्वमुभयधाऽन्यथा हि विरोध । ३ । ३ । २९ ।

सुकृतदुष्कृतयोरेकदेशस्य देहवियोगकाले हानिः, श्रोपस्य च पश्चा-
दिति उभयधा कर्मक्षये सत्येव गतेरर्थवत्त्वम्—देवयानगतिभुतेरर्थवत्त्व-
मित्यर्थः । अन्यथा हि विरोधः—देहवियोगकाल एव सर्वकर्मक्षयेसूक्ष्म-
शरीरस्यापि विनाशस्त्यागः तथा सति केवलस्यात्मनो गमनं नोपपद्यते ।
अत उत्क्रान्तिसमये बिदुषो निश्शेषकर्मक्षयो नोपपन्नः ॥ २९ ॥

अबोत्तरम्—

उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेर्लोकवत् । ३ । ३ । ३० ॥

उपपन्न एवोत्क्रान्तिकाले सर्वकर्मक्षयः, कथम् ? तल्लक्षणार्थोपल-
ब्धेः—क्षीणकर्मणोऽप्याविर्भूतस्वरूपस्य देहसम्यन्धलक्षणार्थोपलब्धेः ।
१“परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते” २“स तत्र पर्येति जल-
त्कीडन्नममाणः” ३“स स्वराड्भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो
भवति” ४“स एकधा भवति त्रिधा भवति ” इत्यादिषु देह सम्यन्धा-
ख्योऽर्थो ह्युपलभ्यते । अतः क्षीण कर्मणोऽपि सूक्ष्मशरीरयुक्तस्य देव-
यानेन गमनमुपपद्यते । कथं सूक्ष्मशरीरमप्यारम्भकर्मक्षयिनाशोऽवति-
ष्ठत इति चेत्—विद्यामाहात्म्यादिति ब्रूमः । विद्या हि स्वयं सूक्ष्म

१. कौपी. १-घ. ४, ३ ॥—२. छा. ८-१२-२-३ ॥—३. छा.

७-२६-२ ॥—४. छा. ७-२६-२ ॥

शरीरस्यानारम्भिकापि प्राकृतसुखदुःखोपभोगसाधनस्थूलशरीरस्य सर्वकर्मणां च निरवशेषक्षयेऽपि स्वफलभूतब्रह्मप्राप्तिप्रदानाय देवयानेन पथेन गमयितुं सूक्ष्मशरीरं स्थापयति; लोकयन्—यथा लोके सस्यादिसमृद्धयर्थमारब्धे तटाकादिके तद्धेतुषु तदिच्छादिषु विनिष्टेष्वपि तदेव तटाकादिकमशिथिलं कुर्वन्तस्तत्र पानीयपानादि कुर्वन्ति; तद्वन् ॥३०॥

अथ स्यात्—ज्ञानिनां साक्षात्कृतपरतत्त्वानां देहपातसमये कर्मणो निरवशेषक्षयादेहपातादूर्ध्वं सूक्ष्मशरीरमात्रं गत्यर्थमनुवर्तते, सुखदुःखानुभवो न विद्यत—इति यदुक्तम्; तन्नोपपद्यते; वसिष्ठावाप्तारण्यप्रभृतीनां साक्षात्कृतपरतत्त्वानां देहपातादूर्ध्वं देहान्तरसङ्गमः, पुत्रजन्मविपत्त्यादिनिमित्तसुखदुःखानुभवश्च दृश्यते—इति । अत उत्तरं पठति—

यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम् । ३ । ३ । ३१ ॥

नारम्भाभिस्सर्वेषां ज्ञानिनां देहपातसमये मुक्ततदुष्कृतयोर्विनाश उक्तः; अपितु तेषां ज्ञानिनां देहपातानन्तरमर्चिरादिका गतिः प्राप्ता, तेषां देहपातसमये मुक्ततदुष्कृतहानिरुक्तम् । वसिष्ठादीनां त्वाधिकारिकाणां न देहपातानन्तरमर्चिरादिगतिप्राप्तिः, प्रारब्धस्याधिकारस्यासमाप्तत्वात् । तेषां कर्मविशेषेणाधिकारविशेषं प्राप्तानां यावदधिकारसमाप्ति तदारम्भकं कर्म न क्षीयते । प्रारब्धस्य हि कर्मणोभोगादेव क्षयः । अत आधिकारिकाणां तदारम्भकं कर्म यावदधिकारमवतिष्ठते । अतस्तेषां न देहपातादनन्तरमर्चिरादिगतिप्राप्तिः ॥ ३१ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये साम्परायाधिकरणम् ॥ १२ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अनियमाधिकरणम् ॥ १३ ॥)

अनियमस्सर्वेषामविरोधशब्दानुमानाभ्याम् ।

३ । ३ । ३२ ॥

उपकोसलादिषु येषुपासनेष्वर्चिरादिगतिः श्रूयते; किं तन्निष्ठानामेव तथा ब्रह्मप्राप्तिः, उत सर्वेषां ब्रह्मोपासननिष्ठानागिति संशये । इतरेष्वनाम्नात्, १ “ये चेमेऽरण्ये भद्धा तप इत्युपासते” २ “भद्धां सत्यमुपासते” इतीतरसकलब्रह्मविशोपस्थापकत्वे प्रमाणाभावाच्च तन्निष्ठानामेव—

—(सिद्धान्तः)—

इति प्राप्तेऽभिधीयते—अनियमः—इति । सर्वेषां—सर्वोपासन-निष्ठानां तथैव गन्तव्यत्वात् तन्निष्ठानामेवेति नियमो नास्ति । सर्वेषां तथैव गमने हि सति शब्दानुमानाभ्यां—भुतिस्मृतिभ्यामविरोधः, अन्यथा विरोध एवेत्यर्थः । भुतिस्त्वावत् छान्दोग्यवाजसनेयकयोः पञ्चाभिधियायामर्चिरादिमार्गेण सर्वब्रह्मोपासननिष्ठानां गमनमाह २ “य एषमेतद्विदुर्ये चामी अरण्ये भद्धां सत्यमुपासते तेऽर्चिपमभिसम्भवन्ति” इति वाजसनेयके; ३ “तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये भद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिपमभिसम्भवन्ति” इति छान्दोग्ये; “य इत्थं विदुः” इति पञ्चाभिधियानिष्ठान् “ये चेमे” इत्यादिना भद्धापूर्वकं ब्रह्मोपासीनां ओद्दिश्या-र्चिरादिका गतिरुपदिश्यते, ४ “सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म” ५ “सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यम्” इति सत्यशब्दस्य ब्रह्मणिप्रसिद्धेः । तपश्शब्दस्यापि तेनैकाभ्यात्मित्यतपश्शब्दाभ्यां ब्रह्मैवाभिधीयते । “भद्धापूर्वकं ब्रह्मोपा-

३. पा. २-१०-१ ॥—२. वृ. ८-२-१७ ॥—३. वा. २-१०-१ ॥

४. तै. शा. १ अ. ॥—५. वा. ३-१०-१ ॥

सनं चान्यत्र भुतं १ “सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यम्” इत्युपक्रम्य २ “अ-
ह्मा त्वेव विजिज्ञासितव्या” इति । स्मृतिरपि ३ “अग्निज्योतिरुद्गशुक्लः
पण्मासा उत्तरायणम् । तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः” इति
सर्वेषां ब्रह्मविदामनेनैव मार्गेण गमनमित्याह । एवंजातीयकाः भुतिस्मृ-
तयो बह्व्यस्सन्ति । एवं सर्वविद्यासाधारणी इयं गतिः प्राप्तेवोपकोशल-
विद्यादायनृयते ॥ ३२ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अनियमाधिकरणम् ॥ १४ ॥

—(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अक्षरध्यधिकरणम् ॥ १४ ॥)—

अक्षरधियां त्ववरोधस्सामान्यतद्भावाभ्यामौपसद-
वत्तदुक्तम् । ३ । ३ । ३३ ॥

बृहदारण्यके भूयते ४ “एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्रह्मणा अभिवदन्ति
अस्थूलमनण्यहस्यमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छाद्यमतमोऽवाय्वनाकाशमस-
क्लमरसमगन्धमचक्षुष्कमभोग्रमघागमनोऽतेजस्कमप्राणमसुखममात्रमनंत-
रमबाह्यं न तदभाति किंच न एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याच-
न्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः” इति । तथा आथर्वणे ५ “अथ परा यया तदक्ष-
रमधिगम्यते यत्तद्वैरयमब्राह्ममगोत्रमवर्णमचक्षुरभोग्रं तदपाणिपादम्” इ-
ति । तत्र संशयः—किमिमे अक्षरशब्दनिर्दिष्टब्रह्मसम्बन्धितया भुताः अस्थू-
लत्वादयः प्रपञ्चप्रत्यनीकतास्वरूपास्त्वर्गामु ब्रह्मविद्यास्वनुसन्धेयाः, उत
यत्र भूयन्ते तत्रैव—इति । किं युक्तम्? यत्र भुतास्तत्रैवेति । कुतः? विद्यान्त-
रस्य रूपभूतानां गुणानां विद्यान्तरस्य रूपत्वे प्रमाणाभावात्, प्रतिपेक्ष-
रूपाणामेवामानन्दादियत्स्वरूपावगमोपायत्वाभावाच्च । आनन्दादिभिर-

१. छा. ७-१७-गर्. ॥—२. छा. १.१ गर्. ॥—३. गी. ८-२४ ॥
४. बृ. १-८-८ ॥—५. सु. १-१-५ ॥

वगतस्वरूपे हि ब्रह्मणि स्थूलत्वादयः प्रपञ्चधर्माः प्रतिपिध्यन्ते, निरालम्बनप्रतिषेधयोगान् ॥

—(सिद्धान्तः)—

एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे-अक्षरधियां त्ववरोधः-इति । अक्षरप्रदसम्बन्धिनामस्थूलत्वादिधियां सर्वब्रह्मविगासवरोधः-संप्रहणमित्यर्थः । कुतः? सामान्यतद्भावाभ्यां-सर्वेपूपासनेपूपास्यस्याक्षरस्य ब्रह्मणः समानत्वादस्थूलत्वादीनां तत्स्वरूपप्रतीतौ भावाच्च । एतदुक्तं भवति-असाधारणाकारेण प्रहणं हि वस्तुनो प्रहणम् । नच केवलमानन्दावि ब्रह्मणोऽसाधारणमाकारमुपस्थापयति, प्रत्यगात्मन्यध्यानान्दादेर्विगमानत्वात् । हेयप्रत्यनीको ह्यानन्दादिब्रह्मणोऽसाधारणं रूपम् । प्रत्यगात्मनस्तु स्वतो हेयविरहिणोऽपि हेयसम्बन्धयोग्यताऽस्ति; हेयप्रत्यनीकत्वं च विद्विदात्मकप्रपञ्चधर्मभूतस्थूलत्वादिविपरीतरूपम् । अतोऽसाधारणाकारेण ब्रह्मानुसन्धिताऽस्थूलत्वादिविशेषितज्ञानानन्दागाकारं ब्रह्मानुसन्धेयमिति अस्थूलत्वादीनामानन्दादिष्वद्ब्रह्मस्वरूपप्रतीत्यन्तर्भावात्सर्वासु ब्रह्मविगासु तथैव ब्रह्मानुसन्धेयमिति । गुणानां प्रधानानुवर्तित्वे दृष्टान्तमाह-औपसद्वन-इति । यथा जामदग्न्यचतूराश्रपुरोडाशयुपसदगुणभूतः सामवेदपठितः १ 'अग्निर्धे होत्रं वेतु' इत्यादिको मन्त्रः प्रधानानुवर्तिनया याजुर्वेदिकेनोपांशुत्वेन प्रयुज्यते । तदुक्तं प्रथमे काण्डे २ "गुणमुक्यत्यतिक्रमे तदर्थत्वान्मुक्येन वेदसंयोगः" इति ॥ ३३ ॥

नन्वेवं सर्वासु ब्रह्मविगासु ब्रह्मण एव गुणित्वाद्गुणानां च प्रधानानुवर्तित्वान् ३ "सर्वकर्मा सर्वगन्धस्सर्वरसः" इत्यादेर्गुणजातस्यप्रतिविगं व्यवस्थितम्याप्यव्यवस्था स्यात्; तत्राह—

इयदामननात् ३ । ३ । ३४ ॥

आमननम्—आभिमुख्येन मननम्—अनुचिन्तनम् । आमननादे-

तोरियदेव गुणजातं सर्वत्रानुसन्धेयत्वेन प्राप्तम्; यदस्थूलत्वादिविशेषि-
तमानन्दादिकम् । येन गुणजातेन विना ब्रह्मस्वरूपस्येतरव्यावृत्तस्यानु-
सन्धानं न सम्भवति, तदेव सर्वत्रानुवर्तनीयम्; तच्छेयदेवेत्यर्थः । इत-
रे तु सर्वकर्मत्वादयः प्रधानानुवर्तिनोऽपि चिन्तनीयत्वेन प्रतिविशं व्य-
वस्थिताः ॥ ३४ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अक्षरार्थधिकरणम् ॥ १४ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अन्तरत्वाधिकरणम् ॥ १५ ॥)

अन्तरा भूतग्रामवत्स्वात्मनोऽन्यथा भेदानुपप-
त्तिरिति चेन्नोपदेशवत् । ३ । ३ । ३५ ॥

वृद्धारण्यके उपस्तप्रश्न एवमाग्रायते १“यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म
य आत्मा सर्वान्तरः तन्मे व्याचक्ष्व” इति । तस्य प्रतिवचनं १“यः
प्राणेन प्राणिनि स त आत्मा सर्वान्तरो योऽपानेनापानिति स त आ-
त्मा” इत्यादि । अनुष्ठेन तेन पुनः पृष्ठ आह २“न दृष्टेर्द्रष्टारं परयेन भुते-
रभोतारं शृणुयाः न मतेर्मन्तारं मन्वोधाः न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानी-
या एष त आत्मा सर्वान्तरोऽतोऽन्यदार्तम्” इति । तथा तदनन्तरं कङ्काल-
प्रश्ने चैवमाग्रायते ३“यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरः
तन्मे व्याचक्ष्व” इति । प्रतिवचनं च ३“योऽज्ञानायापिपासे शोकं मोहं
जरां मृत्युमत्येति एवं द्वैतमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणः पुत्रपण्यायाश्च वित्ते-
पण्यायाश्च” इत्यादि “अतोऽन्यदार्तम्” इत्यन्तम् । तत्र संशयते-
किमनयोर्विनाभेदोऽस्ति, नेति । किं युक्तम् ? भेद इति; कुतः ? रूपभे-
दान् । प्रतिवचनभेदाद्रूतं भिद्यते । प्रभस्यैकरूप्येऽपि प्रतिवचनप्रकारो
हि भेदेनोपलभ्यते । पूर्वत्र प्राणनादीनां कर्ता सर्वान्तरात्मत्वेनोच्यते;

परत्राशनायापिपासादिरहितः । अतः पूर्वत्र प्राणिता देहेन्द्रियबुद्धिमनः-
प्राणव्यतिरिक्तः प्रत्यगात्मोच्यते; परत्र तु तद्वतिरिक्तोऽशनायापिपासादि-
रहितः परमात्मा । अतो रूपं भिद्यते । भूतग्रामवत्तश्च प्रत्यगात्मनस्तस्य
भूतग्रामस्य १ सर्वस्यान्तरत्वेन सर्वान्तरत्वमप्युपपन्नम् । यद्यपि प्रत्यगा-
त्मनः सर्वान्तरत्वं भूतग्राममात्रापेक्षत्वेनापेक्षिकम् तथापि तदेव प्राणम्,
अन्यथा मुख्यान्तरात्मपरिग्रहलोभात्परमात्मस्वीकारे प्रतिवचनभेदे नो-
पपद्यते । प्रतिवचनं हि पूर्वत्र प्रत्यगात्मविषयम्, परमात्मनः प्राणितृ-
त्यापानितृत्याणसम्भवात् । परं च परमात्मविषयम्, अशनायापिपासा-
शतीतत्वात् । तदिदमाशङ्कते-अन्तरा भूतग्रामवत्स्वात्मनोऽन्यथा भेदानुप-
पत्तिरिति चेत्—इति । अन्तरा-सर्वान्तरत्वेन प्रथमप्रतिवचनं भूतग्रामव-
त्स्वात्मनः-भूतग्रामवान्-तदन्तरः स्वात्मा-प्रत्यगात्मा सर्वान्तर इत्युच्यते
इत्यर्थः । अन्यथा २ “यः प्राणेन प्राणिति” “योऽशनायापिपासाशतीतः”—
इति प्रतिवचनभेदानुपपत्तिरिति चेत्—

—(सिद्धान्तः)—

अत्रोत्तरं—नेति । न विशाभेद इत्यर्थः । उभयत्र परविषयत्वा-
त्प्रभप्रतिवचनयोः । तथाहि—२ “यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा स-
र्वान्तरः” इति प्रभस्तावत्परमात्मविषय एव, ब्रह्मशब्दस्य परमात्मा-
साधारणत्वेऽपि प्रत्यगात्मन्यपि कदाचिदुपचरितप्रयोगदर्शनात्तन्वागृह्या
परमात्मप्रतिपत्त्यर्थं ३ “यत्साक्षाद्ब्रह्म” इति विशेषणं क्रियते । अपरोक्ष-
त्वमपि सर्वदेशसर्वकालसम्बन्धित्वं ४ “सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म” इत्यन-
न्तत्वेनावगतस्य परमात्मन एवोपपद्यते । सर्वान्तरत्वमपि ५ “यः पृथि-
व्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरः” इत्याख्य ६ “य आत्मनि तिष्ठन्नात्म-
नोऽन्तरः” इति सर्वान्तर्यामिणः परमात्मन एव सम्भवति । प्रतिवच-
नमपि तथैव परमात्मविषयम् । ७ “यः प्राणेन, प्राणिति” इति

१. सर्वस्यान्तरत्वात्वेन सर्वान्तरत्व, पा. २, वृ. २-४-१ ॥—३. तै. आन.

१-१० ॥—४. वृ. २-३-३ ॥—५. वृ. २-३-२३, मा. पा ॥

निरुपाधिकं प्राणनस्य कर्तृत्वं परमात्मन एव, प्रत्यगात्मनस्सुषुप्तौ प्राणन-
 म्प्रति कर्तृत्वाभावात् । एवमज्ञानतोपस्तेन प्राणने कर्तृत्वमात्रमुक्तं मन्वानेन
 प्रत्यगात्मनोऽपि साधारणत्वं प्रतिवचनस्य मत्वा अतुष्टेन पुनः पृष्टस्तं
 प्रति प्रत्यगात्मनो व्यावृत्तं निरुपाधिकत्वेन प्राणनस्य कर्तारं परमात्मा-
 नमाह = १“ न दृष्टेर्दृष्टारं पश्येः ” इत्यादिना । इन्द्रियाधीनानां दर्शन-
 भक्षणमननविज्ञानानां कर्तारं प्रत्यगात्मानं प्राणनस्य कर्तृत्वेनोक्त इति न
 मन्वीथाः ; तस्य सुषुप्तिमूर्च्छादौ प्राणनादेरकर्तृत्वात् । २“को होवान्या-
 त्कः प्राण्यान् यद्वेप आकाश आनन्दो न स्यात्” इति सर्वप्राणिप्राणन-
 हेतुत्वं हि परमात्मन एवान्यत्र श्रुतम् । अतः पूर्वप्रभप्रतिवचने परमा-
 त्मविषये । एवमुत्तरे अपि, अशनायायतीतत्वस्य परमात्मासाधारणत्वान् ।
 उभयत्र १“ अतोऽन्यदार्तम् ” इत्युपसंहाररचैकरूपः । प्रभप्रतिवचनाश्रु-
 त्तिस्तु कृत्स्नप्राणिप्राणनहेतोः परस्य ब्रह्मणोऽशनायायतीतत्वप्रतिपाद-
 नाय । तत्र दृष्टान्तमाह-उपदेशचदिति । यथा सद्विद्यायाम् ३“उत त-
 मादेशमप्रादयः ” इति प्रकान्ते सदुपदेशे ४“भगवांस्त्वेव मे तद्व्रवीत्वि-
 ति” ५“भूय एव सा भगवान् विज्ञापयतु” इति प्रभस्य ६“ण्योऽणिमा
 पेवदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यम्” इति प्रतिवचनस्य च भूयोभूय आश्रु-
 त्तिस्सतो ब्रह्मणस्तत्तन्माहात्म्यविशेषप्रतिपादनाय दृश्यते ; तद्वन् । अ-
 त एकस्यैव सर्वान्तरभूतस्य ब्रह्मणः कृत्स्नप्राणिप्राणनहेतुत्वाशनायाय-
 तीतत्वप्रतिपादनेन रूपैक्याद्विगैक्यम् ॥ ३५ ॥

अथ स्यान्-यद्यप्युमे प्रभप्रतिवचने परब्रह्मविषये ; तथापि वि-
 षाभेदोऽवर्जनीयः, एकत्र सर्वप्राणिप्राणनहेतुत्वेनोपास्थम्, इतरत्राश-
 नायायतीतत्वेनेत्युपास्थगुणभेदेन रूपभेदान्, प्रष्टुभेदाच्च, पूर्वत्र उप-
 स्तः प्रष्टा ; उत्तरत्र कहोलः-इति ; तत्राह-

व्यतिहारो विंशतिरिति होतरवत् । ३ । ३ । ३६ ॥

नात्र विनाभेदः, प्रभप्रतिवचनाभ्यामेकरूपार्थविषयाभ्यामेकेन च विधिपदेनैकवाक्यत्वप्रतीतिः । प्रभद्वयं तावत्सर्वान्तरात्मत्वविशिष्टब्रह्म-विषयम् । द्वितीये प्रश्ने १ “यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरः” इत्येवकारश्च पूर्वोपस्तेन पृष्टगुणविशिष्टब्रह्मविषयत्वं कहोलप्रभस्यावधारयति । प्रतिवचनं चोभयत्र २ “स त आत्मा सर्वान्तरः” इति सर्वान्तरात्मत्वविशिष्टब्रह्मविषयमेकरूपमेव । विधिप्रत्ययश्चोत्तरत्रैव दृश्यते १ “तस्माद्ब्रह्मणः पाण्डित्यं निर्विण्ण बाल्येन तिष्ठासेत्” इति । एवं सर्वान्तरात्मत्वविशिष्टब्रह्मैकविषयत्वे द्वयोरवगते सत्येकस्मिन्नेव सर्वान्तरात्मत्वविशिष्टे ब्रह्मण्युपास्ये उपस्तकहोलयोरितरेतरबुद्धिर्व्यतिहारः कर्तव्यः । उपस्तस्य या सर्वान्तरात्मनो ब्रह्मणस्सर्वप्राणिप्राणनहेतुत्वविषया बुद्धिः ; सा कहोलेनापि प्रप्रा कार्या ; या च कहोलस्य तस्यैव ब्रह्मणोऽशानायागतीतत्वविषया बुद्धिः, सा उपस्तेनापि कार्या । एवं व्यतिहारे कृते उभाभ्यां सर्वान्तरस्य ब्रह्मणो जीवव्यावृत्तिरवगता भवति । एवं सर्वान्तरात्मानं प्रत्यगात्मनो व्यावृत्तमवगमयितुं सर्वप्राणिप्राणनहेतुत्वाशानायागतीतत्वप्रतिपादनेन विशिपन्ति हि याज्ञवल्क्यस्य प्रतिवचनानि । अतो ब्रह्मणस्सर्वान्तरात्मत्वमेषोपास्यगुणः । प्राणनहेतुत्वादयस्तु तस्योपपादकाः ; नोपास्याः । ननूपास्यगुणः सर्वान्तरात्मत्वमेव चेन्-प्राणनहेतुत्वस्य अशानायागतीतत्वस्य च प्रप्राः व्यतिद्वयानुसन्धानं किमर्थम् ? तदुच्यते-सर्वप्राणिप्राणनहेतुत्वेन सर्वान्तरात्मनि जीवाद्वापृत्तो ब्रह्मण्युपस्तेनावगते सति कहोलेन जीवस्य सर्वात्मना असम्भावितेन स्वभावविशेषेण सर्वान्तरात्मा व्यावृत्तोऽनुसन्धेय इति कृत्वा पुनः प्रभः कृतः । याज्ञवल्क्योपि तदभिप्रायमभिज्ञाय प्रत्यगात्मनोऽसम्भाविनमशानायादिप्रत्यनीकत्वमुक्तवान् । अतश्चोपास्यस्य व्यावृत्तिप्रतीतिसिद्धयर्थमुभाभ्यां परम्परबुद्धिर्व्यतिहारः कर्तव्यः । इतरवन्-यथेतरत्र सद्विज्ञायां भूयोभूयः प्रश्नैः

प्रतिवचनेश्च तदेव सद्ब्रह्म व्यवच्छिद्यते; न पुनः पूर्वप्रतिपन्नाद्गुणा-
द्गुणान्तरविशिष्टतयोपास्यं प्रतिपाद्यते; तद्वत् ॥ ३६ ॥

तत्रापि प्रभप्रतिवचनभेदे सति कथमैक्यमवगम्यत इति चेत्-
तत्राह-

सैव हि सत्यादयः । ३ । ३ । ३७ ॥

सैव हि—सच्छब्दाभिहिता परमकारणभूता परा देवतैव १“से-
यं देवतैर्ज्ञतम्” २“तेजः परस्यां देवतायाम्” इति प्रकृता ३“यथा सोम्य
मधु मधुकृतो निलिप्नन्ति” इत्यादिषु पर्यायेषु सर्वेषूपपाद्यते । यतः
४“ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा” इति प्रथमपर्यायोदितास्सत्या-
दयस्सर्वेषु पर्यायेषूपपात्रांपसंहियन्ते ॥

केचित्तु—‘व्यतिहारो विशिष्यन्ति ह्यीतरवत्’ ‘सैव हि सत्यादयः’
इति सूत्रद्वयमधिकरणद्वयं वर्णयन्ति । तत्र पूर्वेण १“त्वं वाऽहमस्मि भ-
गवो देवते अहं वै त्वमसि भगवो देवते तयोऽहं सोऽसौ योऽसौ सो-
ऽहम्” इति वाक्ये जीवपरयोर्व्यतिहारानुसन्धानं प्रतिपाद्यत इत्युच्यत
इत्याहुः; तत् ६“सर्वं खल्विदं ब्रह्म” ७“ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्” ७“त-
त्त्वमसि” इत्यवगतसर्वात्मभावंविषयत्वादस्य वाक्यस्य नात्र प्रतिपाद-
नीयमपूर्वमस्तीत्यनादरणीयम् । तत्तु वक्ष्यते—“आत्मेति नृपगच्छन्ति
प्राहयन्ति च” इति । नच सर्वात्मत्वानुसन्धानातिरेकेण परस्मिन् ब्रह्म-
णि जीवत्वानुसन्धानम्, जीवे च परब्रह्मत्वानुसन्धानं, तदर्थं सम्भव,
ति । उत्तरेण च सूत्रेण ६“स यो हृद्यं नन्महश्चक्षुं प्रथमजं वेद सत्यं ब्र-
ह्म” इत्यादियाव्यप्रतिपादितस्य सत्योपासनस्य १०“तद्यत्सत्यमसौ स

१. छा. १-३-२ ॥—२. छा. १-८-१ ॥—३. छा. १-३-१ ॥—४. छा.
१-८-७ ॥—५. ॥—६. छा. ३-१४-१ ॥—७. छा. १-१६-३ ॥—८. शारी.
४-१-३ ॥—९. छ. ७-४-१ ॥—१०. य. ७-२-१ ॥

आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षिन्” इत्या-
दिवाक्यप्रतिपादितोपासनस्य चैक्यं प्रतिपाद्यत इति; तदप्ययुक्तम्,
उत्तरवाक्ये अद्यादित्यस्थानभेदेन विनाभेदस्य पूर्वमेव १ “न वा विशेषो-
पात्” इत्यनेन प्रतिपादितत्वात् । नच द्वयोरनयोर्व्याहृत्यादिशरीरफलत्वेन
रूपवतोः २ “हन्ति पाप्मानं जहाति च य एषं वेद” इति पृथक्संयोगचो-
दनावतोर्द्वयोरुपासनयोः ३ “स यो ह वै तन्मह्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्र-
ह्मेति जयतीमान् लोकान्” इति संयोगरूपादिमत्तया निरपेक्षेण पूर्वैकै-
केनोपासनेनाभेदस्तम्भवति । नच २ “हन्ति पाप्मानं जहाति” इति गु-
णफलाधिकारत्वम्, प्रमाणाभावात् । पूर्वैकैकविद्यात्वं प्रमाणमिति चेत्-
न, इतरेतराभ्यत्वान् । एकविद्यात्वे निश्चिते पूर्वफलस्यैव प्रधानफलत्वे-
नोत्तरयोः फलयोर्गुणफलत्वम्, तयोर्गुणफलस्ये निश्चिते सति संयोग-
भेदाभावात्पूर्वेण विधैक्यमितीतरेतराभ्यत्वमित्येवमादिभिर्न्यथोक्तप्रकार-
मेव सूत्रद्वयम् ॥ ३७ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अन्तरत्वाधिकरणम् ॥ १५ ॥

—(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये कामाद्यधिकरणम् ॥ १६ ॥)—

कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः । ३ । ३ । ३८ ॥

छान्दोग्ये भूयते ४ “अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वे-
शम दहरोऽस्मिन्नन्तर आकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्” इत्यादि; याज-
सनेयके च ५ “स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु य
एषोऽन्तर्द्ध्य आकाशस्तस्मिन् ब्रह्मेते सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः” इत्यादि ।
तत्र संशयः—किमनयोर्विनाभेदः, उत नेति । किं युक्तम् ? भेद इति कुतः ?
रूपभेदान् ; अपहृतपाप्मत्वादिगुणाष्टकविराष्ट आकाशः छान्दोग्ये उपास्यः

१. शार्ङ्ग. ३-३-२१ ॥—२. वृ. ७-४-२ ॥—३. वृ. ७-४-१ ॥

४. छा. ८-१-१ ॥—५. वृ. ६-१-२२ ॥

प्रतीयते; वाजसनेयके त्वाकाशे शयानो वशित्वादिगुणशिष्ट उपास्यः प्रतीयते; अतो रूपभेदाद्विनाशमेव—

—(सिद्धान्तः)—

इति प्राप्ते प्रचक्षमहे—न भेद इति । कुतः ? रूपाभेदात्—इतरत्र तत्र च कामाद्येव हि रूपं—वाजसनेयके छान्दोग्ये च सत्यकामादिविशिष्टमेव ब्रह्मोपास्यमित्यर्थः । कुत एतद्वगम्यते ? आद्यतनादिभ्यः—हृदयायतनत्वं सेतुत्वविधरणत्वादिभिस्तावदुभयत्र सैव विद्येति प्रत्यभिज्ञायते; वशित्वादयश्च वाजसनेयके श्रुताः छान्दोग्येश्रुतस्य गुणाष्टकान्यतमभूतस्य सत्यसङ्कल्पत्वस्य विरोधा एवेति सत्यसङ्कल्पत्वसङ्घारिणां सत्यकामत्वादीनामपहतपाप्मत्वपर्यन्तानां सद्भावमवगमयन्ति; अतो रूपं न भिद्यते । संयोगोऽपि १“परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभित्यज्यते” २“अभयं वै ब्रह्म भवति” इति ब्रह्मप्राप्तिरूपो न भिद्यते । आकाशशब्दः छान्दोग्ये परमात्मविषय इति, ३“दहर उत्तरेभ्यः” इत्यत्र निर्णीतम् । वाजसनेयके त्वाकाशे शयानस्य वशित्वादिभ्रवणात्तस्य शयानस्य परमात्मत्वे सति तदाधाराभिधायिन आकाशशब्दस्य ४“तस्यान्ते सुपिरं सूक्ष्मम्” इति हृदयान्तर्गतस्य सुपिरशब्दवाच्यस्याकाशस्याभिधायकत्वमवगम्यते । अतो विद्यैक्यम् ॥ ३८ ॥

अथ स्यात्—यदुक्तं वाजसनेयके वशित्वादिभिस्सह सत्यकामत्वादिसद्भावोऽवगम्यते—इति; तन्नोपपद्यते, वशित्वादीनामेव तत्र परमार्थतत्सद्भावाभावात्; तदभावश्च ५“मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति किञ्चन । मृत्योस्समृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति” ६“एकधैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमेयं ध्रुवम्” इति प्रकृतेन वाक्येन ७“स एष नेतिनेत्यात्मा” इत्युत्तरेण चोपास्यस्य ब्रह्मणो निर्विशेषत्वप्रतीतिरवगम्यते; अतो वशित्वा-

१. छा. ८-१-४ ॥— २. छ. १-४-१२ ॥— ३. शारी. १-३-१३ ॥—

४. तै. मा. ११-४ ॥— ५. छ. १-४-१३, २०, २२ ॥

दयोऽपि स्थूलत्वाणुत्वव्यभिपेक्ष्या इति प्रतीयन्ते, अत एव छान्दो-
म्येऽपि सत्यकामत्वादयो न ब्रह्मणः पारमार्थिका गुणा उच्यन्ते;
अतोऽपारमार्थिकत्वादेवजातीयकानां गुणानां मोक्षार्थेऽप्युपासनेषु लोप
इति; तत्राह—

आदरादलोपः । ३ । ३ । ३९ ॥

ब्रह्मगुणत्वेन प्रमाणान्तराप्रामाणां गुणानामेषां सत्यकामत्वादीनां
१“तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्” २“एष आत्माऽपहृतपाप्मा विजरो वि-
मृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासस्त्यकामस्त्यसङ्कल्पः” ३“सर्वस्य
वशी सर्वस्येशानः” ४“एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष
सेतुर्विधरण एषां लोकानामसम्मोदाय” इत्यादिभिरनयोः भुत्वोरन्या-
सु च मोक्षार्थोपासनोपास्यब्रह्मगुणत्वेन सादरमुपदेशादेवामलोपः; अपि-
तूपसंहार एव कार्यः । छान्दोग्ये तावत् ४“तत्र इहात्मानमनुविश
ब्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामान् तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति” इ-
ति सत्यकामत्वादिगुणविशिष्टस्य ब्रह्मणो वेदनमभिधाय ४“अथ य इहा-
त्मानमनुविश ब्रजन्त्येतांश्च सत्यान्कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेष्वकामचारो
भवति” इत्यवेदननिन्दा क्रियमाणा गुणविशिष्टवेदनस्यादरं दर्शयति ।
तथा वाजसनेयके १“सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः” २“एष सर्वेश्वर
एष भूताधिपतिरेष भूतपालः” इति भूयोभूय ऐश्वर्योपदेशाद्गुणेष्वप्यादरः
प्रतीयते । एवमन्यत्रापि । न च मातापितृसदृशेभ्योऽपि यत्सल्लतर्
शास्त्रं प्रतारकवदपारमार्थिकान्निरसनीयान् गुणान् प्रमाणान्तराप्रतिप-
न्नानादरेणोपदिश्य संसारचक्रपरिवर्तनेन पूर्वमेव यन्त्रभ्रम्यमाणान्मुमुक्षून्
भूयोऽपि भ्रमयितुमलम् । ४“नेह नानाऽस्ति किञ्चन” १“एकैवातु-
द्रष्टव्यम्” इति तु सर्वस्य ब्रह्मकार्यत्वेन तदात्मकत्वादेकधाऽनुदर्शनं

विधायाप्रज्ञात्मकत्वेन पूर्वसिद्धनानात्यदर्शनं निषेधतीत्ययमर्थः प्रागेव प्र-
पञ्चितः । १“स एव नेतिनेत्यात्मा” इत्यत्र चेतिशब्देन प्रमाणान्तरप्रति-
पन्नं प्रपञ्चाकारं परामृश्य न तथाविधं ब्रह्मेति सर्वात्मभूतस्य ब्रह्मणः प्र-
पञ्चविलक्षणत्वं प्रतिपाद्यते; तदेव चानन्तरमुपपादयति १“अब्राह्मो न हि
गृह्यते अशीर्यो न हि शीर्यते असङ्गो न हि सङ्गते अव्यधितो न व्यथते
न रिप्यति” इति । प्रमाणान्तरप्राज्ञाविसजातीयत्वात्प्रमाणान्तरेण न गृह्य-
ते; विशरणीयविसजातीयत्वाच्च विशीर्यते; एवमुत्तरत्रानुसन्धेयम् । छा-
न्दोग्येऽपि १“नास्य जरयैतज्जीर्यति न वधेनास्य हन्यते एतत्सत्यं ब्रह्मपु-
रमस्मिन् कामास्समाहिताः” इति सर्वविसजातीयत्वं ब्रह्मणः प्रतिपाद्य-
तस्मिन् सत्यकामत्वादयो विधीयन्ते ॥ ३६ ॥

नन्येवमपि १“तत्र ब्रह्मात्मानमनुविद्य ब्रजन्त्येतोश्च सत्यान् कामा-
स्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति स यदि पितृलोककामो भवति”
इत्यादिना सत्यकामादिगुणविशिष्टवेदनस्य सांसारिकफलसम्बन्धभ्रवणा-
न्मुमुक्षोर्ब्रह्मप्रेप्सोर्न सगुणं ब्रह्मोपास्यम्; परविद्याफलं च १“परं ज्योति-
रुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते” इतीदं मेव । अतस्सत्यकामत्वादयो
ब्रह्मप्रेप्सोर्नोपसंहार्या इति; अत उत्तरं पठति—

उपस्थितेऽतस्तद्वचनात् । ३ । ३ । ४० ॥

उपस्थितिः—उपस्थानम्, ब्रह्मोपसम्पन्ने सर्ववन्धविनिर्मुक्ते स्वेन
रूपेणाभिनिष्पन्ने प्रत्यगात्मनि अत एव—उपसम्पत्तोरवहेतोस्सर्वेषु लो-
केषु कामचार उच्यते १“परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते
स उत्तमः पुरुषः स तत्र पर्येति जज्ञत्कीदञ्जममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा
क्षाभिर्वा नोपजनं स्मरन्निदं शरीरं स स्वराद्भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु
कामचारो भवति” इति तदेतच्चतुर्थं निपुणतरमुपपादयिष्यते । अतस्स
र्वेषु लोकेषु कामचारस्य मुक्तोपभोग्यफलत्वान् मुमुक्षोस्सत्यकामत्वादयो
गुणा उपसंहार्याः ॥ ४० ॥

इति भीशारीरकमीमांसाभाष्ये कामाद्यधिकरणम् ॥ १६ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये तन्निर्धारणानियमाधिकरणम् ॥)

तन्निर्धारणानियमस्तद्वृष्टेः पृथग्ध्यप्रतिबन्धः

फलम् । ३ । ३ । ४१ ॥

१ “ओमित्येतद्वत्तरमुद्गीथमुपासीत” इत्यादीनि कर्माङ्गाभयाद्युपासनानि कर्माङ्गभूतोद्गीथादिमुखेन जुह्वादिमुखेन पर्णतादिवन् कर्माङ्गत्वेन निरूढानुष्ठानानां त्युद्गीथाणुपासनसम्बन्धिनो २ “यदेव विद्यया करोति भद्रयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति ” इति वर्तमाननिर्देशस्य पर्णतादिसम्बन्धपापरलोकप्रवणवत्पृथक्कृतत्प्रकल्पनायोगात्क्रतुपु नियमं नोपसंहार्याणीति ॥

—(सिद्धान्तः)—

एवं प्राप्ते प्रचरमद्वे-तन्निर्धारणानियमः-इति । निर्धारणं निश्चयेन मनसोऽयस्थापनम्, ध्यानमित्यर्थः; तन्निर्धारणानियमः-कर्मसूद्गीथाद्युपासनानामनियमः; कुतः? तद्वृष्टेः-उपलभ्यते ह्युपासनानुष्ठानानियमः-२ “तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद” इत्यविदुषोऽप्यनुष्ठानवचनात् । नचाङ्गत्वे सत्युपासनस्यानुष्ठानानियम उपपद्यते । एवमुपासनस्यानङ्गत्वे निश्चिते सत्युपासनविधेः फलाकांक्षायां रात्रिसत्रन्यायेन वीर्यवत्तरत्वं कर्मफलान्पृथग्भूतं फलमित्यवगम्यते । किमिदं वीर्यवत्तरत्वम् ? कर्मफलस्यैवाप्रतिबन्धः । प्रतिबध्यते हि कर्मफलं प्रबलकर्मान्तरफलेन तावन्तं कालम् ; तदभावोऽप्रतिबन्धः । स ह्यप्रतिबन्धः कर्मफलात्सर्गादिलक्षणात्पृथग्भूतमेव फलम् । तदिदमुच्यते-पृथग्ध्यप्रतिबन्धः फलमिति । अतः कर्माङ्गाभयाणामपि पृथक्कृतत्वाद्गोशेहनादिवत्कर्मसूद्गीथाणुपासनानामनियमेनोपसंहारः ॥ ४१ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये तन्निर्धारणानियमाधिकरणम् ॥ १७ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये प्रदानाधिकरणम् ॥)

प्रदानवदेव तदुक्तम् । ३ । ३ । ४२ ॥

दहरविशयां १ “तद्य इहात्मानमनुविद्य ब्रजन्त्येतांश्च सत्या
म्कामान्” इति दहराकाशस्य परमात्मन उपासनमुक्त्वा १ “एतांश्च स-
त्यान्कामान्” इति गुणानामपि पृथगुपासनं विहितम् । तत्र संशयः-गु-
णचिन्तनेऽपि तत्तद्गुणविशिष्टतया दहरस्यात्मनश्चिन्तनमावर्तनीयम्, उत
नेति । दहराकाशस्यैवापहतपाप्मत्वादीनां गुणित्वात्तस्य च सकृदेवानुस-
न्धानुं शक्यः तद्गुणार्थन्तश्चिन्तनं नावर्तनीयम्-

—(सिद्धान्तः)—

इति प्राप्त उच्यते-प्रदानवदेव-इति । प्रदानवदावर्तनीयमेवेत्यर्थः ।
यद्यपि दहराकाश एक एवापहतपाप्मत्वादिगुणानां गुणी; स च प्रथमं
चिन्तितः; तथाऽपि स्वरूपमात्राद्गुणविशिष्टाकारस्य भिन्नत्वात् २ “अपह-
तपाप्मा विजरः” इत्यादिना गुणविशिष्टतया चोपास्यत्वेन विहितत्वा-
त्पृथक्स्यरूपेणानुसंहितस्यापहतपाप्मत्वादिविशिष्टतयाऽनुसन्धानार्थमावृत्तिः
कर्तव्या; यथा १ “इन्द्राय राज्ञे पुरोडाशमेकादशकपालं निर्वपेन्” ३ “इन्द्रा-
याधिराजाय” ३ “इन्द्राय स्वराज्ञे” इतीन्द्रस्यैव राजत्वादिगुणविशिष्टत्वेऽपि
न तद्गुणमन्यन्ध्याकारस्य भिन्नत्वात्प्रदानावृत्तिः क्रियते; तदुक्तं साङ्कर्षणे
४ “नाना वा देवता पृथक्तवान्” इति ॥ ४२ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये प्रदानाधिकरणम् ॥ १८ ॥

—ॐ:—

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणम् ॥)

लिङ्गभूयस्त्वात्तद्धि बलीयस्तदपि । ३। ३। ४३ ॥

तैत्तिरीया दहरविद्यानन्तरमधीयते १“सहस्रशीर्षं देवं विश्वाक्षं
विश्वशम्भुवम् । विश्वं नारायणं देवमक्षरं परमं प्रभुम् ” इत्यारभ्य
“ सोऽक्षरः परमस्त्वराट् ” इत्यन्तम् । तत्र संशयः—किं पूर्वप्रकृतविश्व-
यैकविद्यात्वेन तदुपास्यविशेषनिर्धारणमनेन क्रियते, उत सर्ववेदान्तोवि-
त्तपरविशोपास्यविशेषनिर्धारणम्—इति । किं युक्तम् ? दहरविशोपास्यवि-
शेषनिर्धारणमिति । कुतः ? प्रकरणान् । पूर्वस्मिन्ननुवाके दहरविद्यादि
प्रकृता २“दहं विपाप्मं परवेशमभूतं यत्पुण्डरीकं पुरमध्यसंस्थम् । तत्रा-
पि दहं गगनं विशोकस्तस्मिन्पदन्तस्तदुपासितव्यम्” इति । अस्मिन्नु-
वाके ३“पद्मकोशप्रतीकाशं हृदयं चाप्यधोमुखम्” इत्यादिना हृदयपुण्ड-
रीकाभिधानमस्य नारायणानुवाकस्य दहरविशोपास्यनिर्धारणार्थत्वमु-
पोद्बलयतीति ॥

एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे—लिङ्गभूयस्त्वात्—इति । अस्य निखिलपर-
विशोपास्यविशेषनिर्धारणार्थत्वे भूयांसि लिङ्गानि दृश्यन्ते ; तथा हि
—परविशाखक्षरशिवशम्भुपरब्रह्मपरज्योतिःपरतत्त्वपरमात्मादिशब्दनि-
र्दिष्टमुपास्यं यस्त्विह तैरेव शब्दैरनूय तस्य नारायणत्वं विधीयते ; भू-
यसीषु विशासु भुताननूय नारायणत्वविधानभूयस्त्वं नारायण एव स-
र्वविशासूपास्यमस्थूलत्वादिविशेषितानन्दादिगुणकं परं ब्रह्मेति विशेष-
निर्णये भूयः बहुतरं लिङ्गं भवति । अत्र लिङ्गशब्दः चिह्नपर्यायः । चि-
ह्नभूतं वाक्यं बहुतरमस्तीत्यर्थः । तद्धि प्रकरणाद्वलीयः । तदप्युक्तं प्रथ-
मकाण्डे ४“भूतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये परदौर्ब-
ल्यमर्थविप्रकर्षात्” इति । यत्तूक्तं १“ पद्मकोपप्रतीकाशम्” इत्यादिवचनं

१. तै. ना-१-अनु ॥—२. तै. ना. १०. अनु ॥—३. तै. ना. ११-अनु ॥

४. पूर्वमीमांसा. ३-३-१४

दहरशेषत्वमस्योपोद्बलयति--इति; तन्न, यलीयसा प्रमाणेन सर्व-
विशोपास्यनिर्धारणार्थत्वेऽवधूते सति दहरविशायामपि तस्यैव नाराय-
णस्योपास्यत्वेन तद्वचनोपपत्तेः । नच १ "सहस्रशीर्षम्" इत्यादिद्वितीया-
निर्देशेन पूर्वानुवाकोदितोपासिना सम्यन्धशशङ्कनीयः, २ "तस्मिन् यद्-
न्तस्तदुपासितव्यम्" इत्युपासिगतेन कृत्प्रत्ययेनोपास्यस्य कर्मणोऽभि-
हितत्वात्तदुपास्ये द्वितीयानुपपत्तेः । १ 'विश्वमेवेदं पुरुषः' १ "तत्त्वं
नारायणः परः" इत्यादिप्रथमानिर्देशाच्च प्रथमार्थे द्वितीया वेदितव्या ।
१ "अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः" १ 'तस्याशिशलाया
मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः । स ब्रह्मा स शिवस्सेन्द्रः सोऽक्षरः परम-
स्वराट्" इति निर्देशैस्सर्वस्मात्परो नारायण एव सर्वत्रोपास्य इति नि-
र्णयमानत्वाच्च प्रथमार्थे द्वितीयेति निश्चीयते ॥ ४३ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणम् ॥ १६ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये पूर्वविकल्पाधिकरणम् ॥ २० ॥)

पूर्वविकल्पः प्रकरणात्स्यात्क्रिया मान-

सवत् । ३ । ३ । ४४ ॥

याजसनेयके अग्निरहस्ये मनश्चितादयोऽग्नयः भूयन्ते--३ "मन-
श्चितो वाक्चितः प्राणचितः चक्षुश्चितः श्रोत्रचितः कर्मचितोऽग्निचितः"
इति । तत्र संशयः--किमेते मनश्चितादयस्साम्पादिकत्वेन विशारूपा अ-
ग्नयः क्रियामयकृत्वनुप्रवेशेन क्रियारूपाः, आहोस्विद्विशामयकृत्वनुप्रवे-
शेन विशारूपा एव--इति विशयं क्रियारूपत्वं तावदाह--पूर्व विकल्पः
--इत्यादिना । चिरयाग्नित्वेन सम्पादितानामेषां मनश्चितादीनां कृत्वनु-
प्रवेशासाक्षात्ताणां स्वदेशे कृतुविध्यभावात्पूर्वत्र ४ "असद्वा इदमग्र

आसीन्” इत्यादिनेष्टकचितस्याग्नेः प्रकृतत्वान् तस्य च क्रियामयकृत्वव्यभिचारित्वेन तत्र क्रतुसन्निधानात्तत्प्रकरणगृहीता मनश्चितादयस्तेनेष्टकचितेनाग्निना विकल्प्यमानाः क्रियारूपा एव स्युः। विद्यारूपाणामपि क्रियामयकृत्वनुप्रवेशेन क्रियारूपत्वं मानसप्रद्वदुपपद्यते। यथा द्वादशाहं अविवाक्ये दशमेऽहनि मानसप्रदस्य मनोनिष्पाद्यप्रद्वद्व्यासादनस्तोत्रशस्त्रप्रत्याहरणमन्त्रणत्वेन विद्यारूपस्यापि क्रियामयकृत्ववद्भवति क्रियारूपत्वम् ; तथेहापि ॥ ४४ ॥

अतिदेशाच्च । ३ । ३ । ४५ ॥

इतरचेष्टकचितेनाग्निना मनश्चितादीनां विकल्पः क्रियारूपत्वं चावगम्यते; ‘तेषामेकैक एव तावान् यावानसौ पूर्वः” इति पूर्वस्येष्टकचितस्याग्नेर्वीर्यं मनश्चितादिष्वतिद्विरयते; तेन तुल्यकार्यत्वाद्विकल्पः। ततरचेष्टकचितवत्क्रतुनिर्वर्तनेन तदङ्गभूताः मनश्चितादयः १(क्रियामय-
नुप्रवेशेन) क्रियारूपा एवेति ॥ ४५ ॥

प्राप्ते प्रथममे—

विधैव तु निर्धारणादर्शनाच्च ३ । ३ । ४६ ॥

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति ; यदुक्तं मनश्चितादयः क्रियामयकृत्वनुप्रवेशेन क्रियारूपा एवेति; नैतदस्ति; विद्यारूपा एवेति—विद्यारूपकृत्ववन्वयिन इत्यर्थः। कुतः? निर्धारणादर्शनाच्च; निर्धारणं तावत्-
“ते ह्येते विद्याचित एव विद्यया ह्येवैव एवंविदश्चिता भवन्ति” इति; याद्व्यमनश्चुरादिन्यापाराणामिष्टकादिवचनानुपपत्तेर्मनसा सम्पादिता-
ग्नित्वेन विद्यारूपत्वे मिद्वेजपि “विद्याचित एव” “विद्यया ह्येवैव” इति आध्याहारणं विद्यामयकृत्ववन्वयेन विद्यारूपत्वप्रापनार्थमिति निश्ची-
र्यते। दृश्यते चात्रैवैषां शेषी विद्यारूपः क्रतुः “ते मनसैवाधीयन्त मनसैवाधीयन्त मनसैव प्रहा अप्रहन्त मनसास्तुवन्त मनसाशंसन् यत्किञ्च

यज्ञे कर्म क्रियते, यत्किञ्च यज्ञीयं कर्म मनसैव तेषु मनोमयेषु मन-
श्चित्सु मनोमयमक्रियत" इति । इष्टकचितेष्वाग्निषु यत्क्रियामयं यज्ञीयं
कर्म क्रियते; तन्मनोनिर्घर्त्येषु मनश्चिताद्यग्निषु मनोमयमेवाक्रियतेति वच-
नात् क्रतुरपि विद्यामयोऽत्र प्रतीयते ॥ ४६ ॥

नन्वत्र विधिपदाभवरणान् फलसम्बन्धाप्रतीतिश्चेष्टकचितान्युपस्था-
पितक्रियामयक्रतुप्रकरणाद्विद्यामयक्रत्वन्वयेन विद्यारूपतैपां बाध्यते, ने-
त्याह—

श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच्च न बाधः । ३ । ३ । ४७ ॥

श्रुतिलिङ्गवाक्यानां प्रकरणाद्वलीयस्त्वेन श्रुत्याद्यवगतः क्रतुरेपां
तदन्वयश्च दुर्यलेन प्रकरणेन बाधितुं न शक्यते; श्रुतिस्तावत्—१ "ते
हैते विद्याचित एव" इति । तां विदुषोति १ "विद्यायां ह्येवैत एवविदश्चिता-
भवन्ति" इति । विद्यायां विद्यामयेन क्रतुना सम्बद्धा मनश्चिता-
द्यश्चिता भवन्तीत्यर्थः । २ "तान् हैतानेवविदे सर्वदा सर्वाणि भूतानि
चिन्वन्त्यपि स्वपते" इति लिङ्गम् । वाक्यं च ३ "एवविदे चिन्वन्ति"
इति । समभिध्याहारो वाक्यम् । एवविदे विद्यामयक्रतुमते सर्वदा स-
र्वाणि भूतानि चिन्वन्तीत्यर्थः । सर्वभूतकर्तृकं सर्वकालव्यापि चयनं म-
नसा सम्पादितं परिमितकर्तृकालक्रियामयेष्टकचितकार्यद्वारेण क्रत्वनुप्र-
वेशसम्भवमलभमानं विद्यामयक्रत्वनुप्रवेशो लिङ्गं भवति ॥ ४७ ॥

यद्येदमुक्तं—विधिप्रत्ययाभवरणात्फलसम्बन्धाप्रतीतिश्च क्रियामया-
त्क्रतोरेन्योऽत्र विद्यामयः क्रतुर्न सम्भवति—इति, तत्राह—

**अनुबन्धादिभ्यः प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववद्दृष्टश्च तदु-
क्तम् । ३ । ३ । ४८ ॥**

इष्टकचितान्वयिनः क्रियामयात्क्रतोर्विद्यामयोऽयं क्रतुः पृथक्त्वेन

अनुयन्धादिभ्यः पृथक्त्वहेतुभ्योऽवगम्यते । अनुयन्धाः यज्ञानुयन्धिनो
 ग्रहस्रोत्रशस्त्रादयः १ “मनसैषु ग्रहा अगृह्यन्त मनसास्तुवन्त मनसाशं-
 सन्” इत्यादिना प्रतिपादिताः । आदिशब्देन श्रुत्यादयः पूर्वोक्ता गृह्य-
 न्ते । श्रुत्यादिभिस्मानुयन्धैर्विद्यामयक्रतुः पृथगवगम्यत इत्यर्थः । प्रज्ञा-
 न्तरपृथक्त्ववत्—यथा प्रज्ञान्तरं दहरविद्यादि क्रियामयात्कृतोः पृथग्भूतं
 श्रुत्यादिभिरवगम्यते, एवमयमपि । एवं चानुयन्धादिभिः पृथग्भूते वि-
 द्यामये यन्त्रोऽवगते सति विधिः परिकल्प्यते । दृष्टश्चानुवादसरूपेषु क-
 ल्प्यमानो विधिः । तदुक्तं—२ “वचनानि त्वपूर्वत्पान्” इति । फलं च
 ३ “तेषामेकैक एव तावान् यावानसो पूर्वः” इत्यतिदेशान् स्वक्रतुद्वारेण-
 प्रकथितस्याग्नेर्यत्फलम्, तदेव मनश्चितादीनामपि स्वक्रतुद्वारेण फलमि-
 त्यवगम्यते ॥ ४८ ॥

यत्पुनरतिदेशेन तुल्यकार्यत्वावगमात्क्रियामयक्रत्वनुप्रवेशोऽवग-
 म्यत इत्युक्तम्, तत्राह—

न सामान्यादप्युपलब्धेर्मृत्युवन्न हि लोका-
 पत्तिः । ३ । ३ । ४९ ॥

नात्रयमतिदेशाद्यन्तरव्यापारस्यापितुल्यतया भवितव्यम्, येन
 क्रियामयक्रत्वनुप्रवेश एषां स्यात्, यस्मात्कस्माच्चित्सामान्यमात्रादतिदे-
 शोपलब्धेः; उपलब्ध्यते हि ४ “स एष एव मृत्युर्य एष एतस्मिन् मण्डले
 पुरुषः” इत्यादिषु संदृष्ट्वादिसामान्यमात्रादतिदेशः; नहि तत्र मण्डल-
 पुरुषस्य मृत्युवत्तज्जोकापत्तिः—तद्देशप्राप्तिरपि भवति; एवमिहापि मनश्चि-
 तादीनामिष्टप्रकथिताग्निबद्धावातिदेशमात्रेणैष्टप्रकथिताग्निदेशरूपक्रियामयक्र-
 त्वनुप्रवेशेनापि न भवितव्यम् । अत इष्टप्रकथिताग्नेः स्वक्रतुद्वारेण यत्फलम्
 तदेव मनश्चितादीनामपि विद्यामयक्रतुद्वारेण फलमित्यतिदेशादवगम्यते ॥

परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं भूयस्त्वात्त्वनु-

बन्धः । ३ । ३ । ५० ॥

परेण च ब्राह्मणेनास्यापि मनश्चित्तागमिधायिनः शब्दस्य ताद्वि-
ध्यं-तद्विधत्वम्, विद्यामयप्रतिपादित्वमवगम्यते; परेणहि ब्राह्मणेन
१“अयं वायुः लोक एषोऽग्निचित्तस्तस्याप एव परिभिताः” इत्यदिना
२“स यो ह्येतदेवं वेद लोकंप्रणानामेनं भूतमेतत्सर्वमभिसम्पश्यते” इति
प्रथक्फला विधौ विधीयते, तथा वैश्वानरविद्यादौ च विधौ विधीयते ।
अतोऽग्निरहस्यस्य क्रियैव विषयत्वं नास्ति । एवं तर्हि विद्यामया मनश्चि-
तादयो बृहदारण्यकेऽनुबद्धव्याः, किमर्थमिहानुबध्यन्ते; तत्रोच्यते-भूय
स्त्वात्त्वानुबन्धः-इति । मनश्चित्तादिषु सम्पादनीयानामग्न्यङ्गानां भूयस्त्वा-
त्सन्निधाविहानुबन्धः कृतः ॥ ५० ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये पूर्वधिकल्पाधिकरणम् ॥ २० ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये शरीरेभावाधिकरणम् ॥ २१ ॥)

एक आत्मनश्शरीरे भावात् । ३ । ३ । ५१ ॥

सर्वासु परविद्यासूपास्यां पासनस्वरूपदुपासकस्वरूपस्यापि ज्ञात-
व्यत्वमुक्तं—१“त्रयाणामेवैवमुपन्यासः प्रभञ्ज” इति । वदयति चा-
स्य प्रत्यगात्मनः परमात्मात्मकत्वेनानुसन्धानम् २“आत्मेति तूपगच्छ-
न्ति ग्राहयन्ति च” इति । किमयं प्रत्यगात्मा ज्ञाता कर्ता भोक्तेऽहमुत्र
सञ्चारत्तमांऽनुसन्धेयः, उत प्रजापतिवाक्योदिनापहतपाप्मत्वादिस्वरूपः;
किं युक्तम् ? स्मृत्याणांकारमात्र इत्येके मन्यन्ते; कुतः ? अस्योपासक-
स्यात्मनः शरीरे भावात्; शरीरे वर्तमानस्य तादृशमेव रूपम्; तावन्त-

वानुसन्धानेन तत्फलसिद्ध्युपपत्तेश्च; नहि कर्मस्वधिकृतानां स्वर्गादि-
फलार्थिनां श्रावृत्याद्यतिरेकेण फलानुभवदशायां यादृशं रूपम्, तादृशं
रूपं साधनानुप्राप्तदशायामनुसन्धातव्यम्, तावदेव साधनानुप्राप्ततत्फ-
लयोरितद्वेरेतिरिक्तानुसन्धाने प्रयोजनाभावात्; तद्विशेषादिहापि त-
थैव । ननुचात्र १“यथाक्रतुरस्मिन्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भ-
वति” इतिधिशोपवचनादपह्नत्पाप्मत्वाद्याकार एवानुसन्धातव्य इत्यव-
गम्यते; मैवम्, २“तं यथायथोपासते” इत्युपास्यविषयत्वात्तस्य ॥

—(सिद्धान्तः)—

एवं प्राप्ते प्रवृत्तगद्गे—

व्यतिरेकस्तद्भावभावित्वान्न तूपलब्धि-

वत् । ३ । ३ । ५२ ॥

न त्वेतदस्ति—यत् श्रावृत्याद्याकार एवानुसन्धेय इति; अस्यात्म-
नस्संसारदशायाः मोक्षदशायां यो व्यतिरेकः, सोऽपह्नत्पाप्मत्वादिफोऽ-
नुसन्धेयः; अस्य मोक्षदशायां यादृशं रूपं, तादृशं एवोपासनवेला-
यामात्माऽनुसन्धेय इत्यर्थः । कुतः ? तद्भावभावित्वात्तद्रूपापत्तेः;
१“यथाक्रतुरस्मिन् लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति २“तं यथा-
यथोपासते तथैव भवति” इति यथोपासनमेव हि प्राप्तिः भूयते । नच
परस्वरूपमात्रविषयमेवेदमिति वक्तुं शक्यते, प्रत्यगात्मनोऽप्युपास्यभूत-
परब्रह्मशरीरतयोपास्यकोटिनिक्षिप्तत्वात् । अतः प्रजापतिवाक्योदिताप-
ह्नत्पाप्मत्वादिगुणकप्रत्यगात्मशरीरपरमात्मोपासनस्य तथारूपमेव प्राप्य-
मित्युक्तं भवति । अत एव ३“एवं क्रतुर्हामुं लोकं प्रेत्याभिसम्भवतितास्मि”
इत्युच्यते । तस्मात्प्रत्यगात्मा प्राप्याकार एवानुसन्धेयः । उपलब्धिवन्त्यथा

ब्रह्मोपलब्धिर्विहिता यथावस्थितब्रह्मस्वरूपविषया, तथाऽऽत्मोपलब्धिरपि यथावस्थितात्मस्वरूपविषयेत्यर्थः । कर्मस्वात्मस्वरूपानुसंधानं कर्माङ्गम्; १ “यजेत स्वर्गकामः” इति कर्मानुष्ठानमेव हि फलाय चोद्यते । देहातिरिक्तज्ञातृत्वाद्याकारात्मावगतिः कालान्तरभाविफलसाधनकर्माधिकारार्थेति तावन्मात्रमेव तत्रापेक्षितमिति न किञ्चिदपह्नीनम् ॥ ५२ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये शरीरेभावाधिकरणम् ॥ २१ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अङ्गावबद्धाधिकरणम् ॥ २२ ॥)

अङ्गावबद्धास्तु न शाखास्तु हि प्रतिवेदम् । ३।३।५३॥

१ “ओमित्येतद्गङ्गासमुद्गीथमुपासीत” २ “लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत” ३ “उक्तमुक्तमिति वै प्रजा वदन्ति तदिदमेवोक्तम् इयमेव पृथिवी” ४ “अयं वाच लोके ण्योऽभिहितः” इत्येवमाद्याः ऋत्विजाभ्या उपसना भवन्ति; ताः किं यासु शाखास्तु भूयन्ते, तास्वेव नियताः, उत सर्वासु शाखासुद्गीथादिषु सम्बध्यन्ते इति विचारः । सर्ववेदान्तप्रत्ययत्वे स्थितेऽपि प्रतिवेदं स्वरभेदादुद्गीथादयो भिद्यन्ते इति तत्रतत्र व्यवतिष्ठेरन्निति युक्तं शङ्का । किं युक्तम् ? व्यवतिष्ठेरन्निति । कुतः ? १ “उद्गीथमुपासीत” इति सामान्येनोद्गीथसम्बन्धितया भुतायास्तस्यामेव शाखायां स्वरविशेषयुक्तस्योद्गीथविशेषस्य सन्निधानात्तस्मिन्नेव विशेषे पर्यवसानं युक्तमिति । एवमाद्यास्तास्वेव शाखास्तु व्यवतिष्ठेरन्निति ॥

—(सिद्धान्तः)—

एवं प्राप्ते प्रचरमहे—अङ्गावबद्धास्तु—इति । तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति; नह्युद्गीथाङ्गावबद्धा उपसनास्तास्वेव शाखास्तु व्यवतिष्ठेरन्नः;

१. ब. २-२-२ ॥—२. छा. १-१-१ ॥—३. छा. १-२-१ ॥—

४ ॥—५ ॥—६. छा. १-१-१ ॥

अपितु प्रतिवेदं सम्बध्येरन् ; सर्वासु शाखास्वित्यर्थः । हि शब्दो द्वेता । यस्मान्छ्रुत्यैवोद्गीथाद्यङ्गमात्राययद्वाः, तस्माद्यत्रोद्गीथादयः, तत्र सर्वत्र सम्बध्येरन् । यद्यपि स्वरभेदेनोद्गीथव्यक्तयो भिद्यन्ते; तथापि सामान्येनोद्गीथभृत्या सर्वा व्यक्तयस्तन्निहिता इति न कचिद्व्यवस्थायां प्रमाणमस्ति । सर्वशाखाप्रत्ययन्यायेन च सर्वासु शाखासु क्रतुरेकः । अतस्सर्वासु शाखास्वेकस्य क्रतोस्सन्निधानान् कत्वङ्गभूतोद्गीथादयोऽपि सन्निहिता इति नैकस्य सन्निधिविशेषोऽस्तीति न व्यवस्था ॥ ५३ ॥

मन्त्राद्भिदव ऽविरोधः । ३ । ३ । ५४ ॥

वाशब्दार्थे; आदिशब्देन जातिगुणसङ्ख्यासादृश्यक्रमद्रव्यकर्मणि गृह्यन्ते; यथा मन्त्रादीनामेकैकशाखास्त्वान्तातानामपि शेषिणः क्रतोस्सर्वशाखास्वेकत्वेन यथायथं भृत्यादिभिरसर्वासु शाखासु विनियोगो न विरुध्यते; तद्विदिहाप्यविरोधः ॥ ५४ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अङ्गावयव्याधिकरणम् ॥ २२ ॥

श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये भूमज्यायस्त्वाधिकरणम् ॥ २३ ॥

भूमनः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथाहि दर्शयति । ३ । ३ । ५५ ॥

१ “प्राचीनशाल औपमन्यवः” इत्यारभ्य वैश्वानरविशा अन्नाता तत्र वैश्वानरः परमात्मा त्रैलोक्यशरीर उपास्यरभुतः स्वर्लोकादित्यवा-
य्वाकाशाण्युधित्यवयवः; तत्र च गौर्मूर्धा, आदित्यभ्रुतः, वायुः प्राणः,
आकाशस्तन्नेहः मध्यकाय इत्यर्थः; आपो वस्तिः, पृथिवी पादावित्यव-
यवविशेषाः । तत्र संशयः—किमस्य त्रैलोक्य शरीरस्य द्यस्तस्वोपासनं

कर्तव्यम्, उत व्यस्तस्य समस्तस्यच, अथ समस्तस्यैवेति । किं युक्तम् ? व्यस्तस्येति; कुतः ? उपक्रमे व्यस्तोपासनोपदेशात् । तथाद्युपदिश्यते— औपमन्यवादयः किलोद्दालकपट्टाः केकयमश्वपतिमुपसण १ “आत्मानमेवेम वैश्वानरं सम्प्रत्यध्येपि तमेव नो ब्रूहि” इति प्रपच्छुः । स च तेभ्यः प्रत्येकं स्वोपास्यान् शुप्रभृतीनुक्तवद्भयो मूर्ध्निपु व्यस्तेपूपासनं तत्रतत्र फलं चोक्तवान् २ “अन्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य ए तमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते मूर्धा त्वेप आत्मन” इति ३ “एष वै सुतेजा आत्मा वैश्वानरः” इत्यादिना ४ तेपुतेपूपासनेपूपास्यस्य वैश्वानरत्वं चाह । अतो व्यस्तस्योपासनं कर्तव्यम् । परत्र ३ “यस्त्वेतमेवं प्रादेशमाग्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते” इति । शुप्रभृतिप्रदेशायच्छिन्नमात्रे वैश्वानरे उक्तस्य मूर्ध्नाद्युपासनस्य समासेनोपसंहार इत्यवगन्तव्यम् । अपर आह—एवमेव समस्तस्याप्युपासनं कार्यमिति, पृथक्फलनिर्देशात् ३ “यस्त्वेतमेवं प्रादेशमाग्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्व्यात्मस्वन्नमन्ति” इति । नचैतावता वाक्यमेव; यथा भूमविशोपक्रमे नामाद्युपासनं तत्तत्फलञ्चाभिधाय ४ “एष तु या अतियदति यस्सत्येनातियदति” इत्यादिना भूमविशामुपदिश्य ५ “स स्वराद्भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति” इति तत्फलञ्च व्यपदिशति; तत्र भूमविशापरत्वेऽपि वाक्यस्य नामाद्यवन्तरोपासनं तत्तत्फलं चाङ्गीक्रियते, तथा इहापीति ॥

—[सिद्धान्तः]—

एवं प्राप्तेऽभिधीयते—भूम्नो ज्यायस्त्वमिति । भूम्नः—विपुलस्य समस्तस्यैव, ज्यायस्त्वं प्रामाणिकत्वमित्यर्थः; एकवाक्यत्वावगतेः । तथा हि ६ “प्राचीनशाल औपन्ययः” इत्युपक्रम्य ६ “उद्दालको ह वै

१. छा. २-११-१ ॥—२. छा. २-१२-७ ॥—३. छा. २-१८-१ ॥

४. छा. ७-११-१ ॥—५. छा. ७-२५-२ ॥—६. छा. २-११-१, २ ॥

भगवन्तोऽयमाकृष्टिस्तम्प्रतीममात्मानं वैश्वानरमध्येति तं इन्ताभ्याग-
च्छाम" इति वैश्वानरात्मबुभुत्सयौपमन्यवादयः पञ्च महर्षयः तमुद्दाल-
कमुपेत्य तत्र वैश्वानरात्मवेदनमलभमानास्तेन च सहाश्वपतिं केकयं वै-
श्वानरात्मवेदिनमुपसङ्गम्य १ "आत्मानमेवेमं वैश्वानरं सम्प्रत्यध्येपि त-
मेव नो ब्रूहि" इति पृष्ट्वा तत्सकाशात् परमात्मानं वैश्वानरं स्वर्लोका-
दिपृथिव्यन्तशरीरमुपास्यमथगम्य तत्फलं च सर्वलोकसर्वभूतसर्वात्मा-
न्नभूतब्रह्मानुभवमवगतवन्त इत्युपसंहारतो वाक्यस्यैकत्वमथगम्यते ।
एवमेकवाक्यत्वेऽवगते सत्यवयवविशेषेपूपास्तिवचनं फलनिर्देशश्च सम-
स्तोपासनैकदेशानुवादमात्रमिति निश्चीयते । कतुवत्—यथा २ "वैश्व-
नरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जाते" इति विहितस्यैव क्रतुरेकदेशः
२ "यदष्टाकपालो भवति" इत्यादिभिरनूयन्ते; तथा समस्तोपासनमेव
न्याय्यम्, न व्यस्तोपासनम् । तथाहि दर्शयतीत्यं भुतिः व्यस्तोपासने
अनर्थं ब्रुवती ३ "मूर्धां ते व्यपतिष्ययन्मां नागमिष्यः" इति ४ "अ-
न्योऽभविष्यो यन्मां नागमिष्यः" इत्यादिका । अत इदमप्यपास्तं,
यन्नामाद्युपासनसाम्यमुक्तम् । तत्र हि नामाद्युपासनेष्वनर्थो न भुतः,
नामाद्युपासनेभ्यो भूमोपासनस्यातिशयितफलत्वं भुतम् ५ "एष तु या
अतिवदति यस्तत्तेनातिवदति" इति । तत एव तत्र भूमविशापरत्वेऽ-
पि वाक्यस्य नामाद्युपासनानां सफलानां विवक्षितत्वम्; अन्यथाऽति-
शयितफलत्वनिमित्तातिवादेन भूमविशास्तुत्यनुपपत्तेः, अतस्समस्तोपा-
सनमेव न्याय्यम् ॥ ५५ ॥

इति श्रीशरीरकमीमांसाभाष्ये भूमज्यायस्त्वाधिकरणम् ॥२३॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये शब्दादिभेदाधिकरणम् ॥२४॥)

नाना शब्दादिभेदात् । ३ । ३ । ५६ ॥

इह ब्रह्मविद्यास्सर्वाः ब्रह्मप्राप्तिरूपमोक्षैककथाः सद्धिद्याभूमविद्यादहरविद्योपकोसलविद्याशाण्डिल्यविद्यात्रैश्वानरविद्यानन्दमयविद्याक्षरविद्यादिना एकशाखागतशशाखान्तरगताश्चोदाहरणम्; अन्याः प्राणागैकविषयफलाश्च । किमत्र त्रिद्यैक्यम्, उत त्रियामेद इति संशयते । अत्रैवासां परस्परभेदे समर्थितं सत्यैकस्या दहरविद्यादिनायास्सर्ववेदान्तप्रत्ययन्यायः । किं युक्तम् ? त्रिद्यैक्यमिति । कुतः ? वेद्यस्य ब्रह्मण्येकत्वान्; वेद्यं हि विद्यायां रूपम्; अतो रूपैक्याद्विद्यैक्यमिति ॥

—(सिद्धान्तः)—

एवं प्राप्तेऽभिधीयते—नाना-इति । नानाभूता विद्याः; कुतः ? शब्दादिभेदान्-आदिशब्देनाभ्याससङ्ख्यागुणप्रक्रियानामधेयानि गृह्यन्ते; शब्दान्तरादिभिरत्र विधेयभेदहेतवोऽनुबन्धभेदाः दृश्यन्ते; यद्यपि वेदोपासीतेत्यादयः शब्दाः प्रत्ययावृत्त्यभिधायिनः; प्रत्ययाश्च ब्रह्मैकविषयाः; तथाऽपि तत्तत्प्रकरणोदितजगदेककारणत्वापहतपाप्मत्वादि-विशेषणविशिष्टब्रह्मविषयप्रत्ययावृत्त्यवधोधिनाः प्रत्ययावृत्तिरूपाः विद्याभिन्दन्ति । ब्रह्मप्राप्तिरूपफलसम्यन्ध्युपासनविशेषाभिधायीनि च निराकाङ्क्षाणि वाक्यानि प्रतिप्रकरणं विलक्षणविद्याभिधायीनीति निश्चीयते । अस्मिन्नर्थे १ 'शब्दान्तरे कर्मभेदः' इत्यादिभिः पूर्वकाण्डोदितैस्सूत्रैस्सिद्धेऽपि पुनरिह प्रतिपादनं वेदान्तवाक्यानि अविधेयज्ञानपराणीति कुतश्चिनिरसनाय । असौ विद्याभेद इति स्थितम् ॥ ५६ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये शब्दादिभेदाधिकरणम् ॥ २४ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये विकल्पाधिकरणम् ॥२५॥)

विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात् । ३ । ३ । ५७ ॥

ब्रह्मप्राप्तिफलानां सद्विद्यादहरविद्यादीनां नानात्वमुक्तम्; इदानीमासां विद्यानामेकस्मिन् पुरुषे प्रयोजनवत्त्वेन समुच्चयोऽपि सम्भवति, उत प्रयोजनाभावाद्विकल्प एवेति विशये—किं युक्तम्; समुच्चयोऽपि सम्भवतीति; कुतः एकफलानां भिन्नशास्त्रार्थानामपि समुच्चयदर्शनात् । दृश्यते ह्येकस्यैव स्वर्गादिस्साधनानामग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादीनां तस्यैव स्वर्गस्य भूयस्त्वापेक्षयैकत्र पुरुषे समुच्चयः; एवमिहापि ब्रह्मानुभवभूयस्त्वापेक्षया समुच्चयोऽपि सम्भवतीति ॥

—[सिद्धान्तः]—

एवं प्राप्ते प्रचक्षते—विकल्प एव; न समुच्चयसम्भवतीति । कुतः ? अविशिष्टफलत्वात्—सर्वासां हि ब्रह्मविद्यानामनवविकृतिशायानन्दब्रह्मानुभवः फलमविशिष्टं भूयते १ “ब्रह्मविद्याजोति परम्” २ “स एको ब्रह्मण आनन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य” ३ “यदा पश्यः पश्यते रुक्मयणं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् । तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरुद्धनः परमं साम्यमुपैति” इत्यादिभ्यः । ब्रह्म हि स्वस्य परम्य च स्वयमनुभूयमानमनवविकृतिशायानन्दं भवति । स च तादृशो ब्रह्मानुभव एकया विद्ययाऽवाप्यते चेन—किमन्ययेति न समुच्चयसम्भवः स्वर्गादेर्हि देशतः कालतः स्वरूपतश्च परिमितत्वेन तत्र देशाद्यपेक्षया भूयस्त्वसम्भवान्तर्धिनस्तमुच्चयस्तसम्भवति; इह तु तद्विपरीतस्वरूपे ब्रह्मणि तन्न सम्भवति । सर्वाश्च विद्याः ब्रह्मानुभवविरोध-

१. तै. ब्राह्म. १-अनु. १ ॥—२. तै. ब्राह्म. ८-अनु. ४ ॥—३. सु.

३-१-३ ॥

नादिकर्माविद्यानिरसनमुखेन ब्रह्मप्राप्तिफला इत्यविशिष्टफलत्वात्सर्वा-
सां विकल्प एव ॥ ५७ ॥

ब्रह्मप्राप्तिव्यतिरिक्तफलास्तु विद्यास्वर्गादिफलकर्मवशधेटुं वि-
कल्पेरन्, समुचीयेरन्वा, तासां परिमितफलत्वेन भूयस्त्वापेक्षासम्भ-
वात् । तदाह—

काम्यास्तु यथाकामं समुचीयेरन् वा पूर्वहेत्व-
भावात् । ३ । ३ । ५८ ॥

अपरिमितफलत्वाभावादित्यर्थः ॥ ५८ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये विकल्पाधिकरणम् ॥ २५ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये यथाश्रयभावाधिकरणम् ॥ २६ ॥)

अङ्गेषु यथाश्रयभावः । ३ । ३ । ५९ ॥

उद्गीथादिकृत्यंगेष्वभिज्ञाः १ “ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत”
इत्यादिका विद्याः किमुद्गीथादिवत्कृत्यर्थतया क्रतुषु नियमेनोपादेयाः,
उत गोदोहनादिवत्पुरुषार्थतया यथाकाममिति विशये—नियमेनोपादेया
इति युक्तम् । ननु चासां पुरुषार्थत्वेनानियमः प्रतिपादितः २ “त-
न्निर्धारणानियमस्तददृष्टेः पृथग्यप्रतिबन्धः फलम्” इत्यत्र । सत्यम्; त-
देव द्रष्टव्यं किंभिन्निकृद्दर्शनैर्युक्त्या चाक्षिप्यते । तत्र हि ३ “तेनोभौ कुरु-
तः” इत्यनियमदर्शनात्पृथक्फलत्वमुक्तम् । उपासनाभयभूतोद्गीथादिवदु-
पासनानामप्यङ्गतयोपादाननियमं बहवो हेतव उपलभ्यन्ते; न ह्यत्र
४ “गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेत्” इत्यादिवदुपासनाविधिवाक्ये-

फलसम्बन्धः श्रूयते ; १“उद्गीथमुपासीत” इत्युद्गीथादिसम्बन्धितयै-
वोपासनं प्रतीयते । २“यदेव विद्यया करोति भद्रयोपनिषदा तदेव धीर्य-
वत्तरम्” इति वर्तमानोपदेशरूपवाक्यान्तराद्धि फलसम्बन्धो ज्ञायते; स्व-
वाक्येनैवाव्यभिचरितक्रतुसम्बन्ध्युद्गीथादिसम्बन्धेन निर्ज्ञातक्रत्वङ्गभा-
यस्य वाक्यान्तरस्थवर्तमानफलसम्बन्धनिर्देशोऽर्थवादमात्रं स्यात्, अ-
पापभ्योक्तश्रयणादियत् । अतो यथोद्गीथादय उपासनाभयाः क्रत्वङ्गत-
या प्रयोगविधिना नियमेनोपादीयन्ते ; तथा तदाभिताम्बोपासनास्तन्मु-
खेन क्रत्वङ्गभूता इति नियमेनोपादेया एव ॥ ५६ ॥

शिष्टेऽथ । ३ । ३ । ६० ॥

शिष्टिः शासनम्, विधानमित्यर्थः । ३“उद्गीथमुपासीत” इत्यु-
द्गीथाङ्गतयोपासनविधानाबोपासननियमः । ४“गोबोद्धनेन पशुकामस्य
प्रणयेत्” इत्यादिवद्विधिव्याक्येऽधिकारान्तराभवणादुद्गीथाङ्गभाव एव हि
विधेय इति गम्यते ॥ ६० ॥

समाहारात् । ३ । ३ । ६१ ॥

५“होतृपदनाद्धैवापि दुरुद्गीथमनुसमाहरति” इत्युपासनस्य समा-
हारनियमो दृश्यते । दुरुद्गीथं वेदनविहीनमुद्गीथम् । वेदनहानावन्येन
समाधानं ब्रुवत्तस्य नियमेनोपादानं दर्शयति ॥ ६१ ॥

१. छा० १-१-१ ॥—२. वृ. १-१-१० ॥—३. वृ. १-१-१ ॥—

४. ॥—५. वृ. १-२-२ ॥

५ होतृपदनाद्धै वापि दुरुद्गीथ मिति-तस्य ह्ययमर्थः-होत्राप्रयुज्यमानस्य
प्रणवस्य, उद्गात्रा प्रयुज्यमानस्य, उद्गीथस्य चैकस्य विज्ञानेन उद्गात्रा
अनुष्ठिते सति, तद्विज्ञानमाहात्म्यादुद्गाता स्वकर्मयुद्गाताने यत् चलं स्वर प्रमा-
दादि रूपं लब्धोत् कृतात् सगवक् संसनाद्धेतोस्वमात्रपातीत्यर्थः, दुष्टस्य सामी-
चीमेवैवंधि दुष्टस्य सामीचीन्यं नच तीति युज्यत इति ॥

गुणसाधारण्यश्रुतेश्च । ३ । ३ । ६२ ॥

उपासनगुणस्य उपासनाश्रयस्य प्रणवस्य सोपासनस्य १' तेनेयं प्रयी विद्या वर्तते ओमित्याभावयत्योमिति शंसत्योमित्युद्गायति" इति साधारण्यश्रुतेऽधोपासनसमाहारो गम्यते । १' तेन" इति प्रकृतपरामर्शात्सोपासन एव प्रणवस्सर्वत्र सञ्चरति । अत उपासनस्य प्रणवसह-
भावनियमदर्शनाच्चोद्गीथाशुपासनानामुद्गीथादिवन्नियमेनोपादानम् ॥

—(सिद्धान्तः)—

इति प्राप्त उच्यते—

न वा तत्सहभावाश्रुतेः । ३ । ३ । ६३ ॥

नचैतदस्ति-यदुद्गीथाशुपासनानां क्रतुपूर्वगुणसाधारण्यनियमः-
इति । कुतः ? तत्सहभावाश्रुतेः-उद्गीथाङ्गभावाश्रुतेरित्यर्थः । अङ्गभा-
वे हि सहभावनियमो भवति । यद्यपि २' उद्गीथमुपासीत" इत्यस्मिन्
पदसमुदायेऽधिकारान्तरं न प्रतीयते; तथापि तदन्तरमेव ३' यदेव वि-
द्या करोति भद्रयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति" इति विद्यायाः
क्रतुवीर्यवत्तरत्वं प्रति साधनभावः प्रतिपाद्यते । तेन क्रतुफलात्पृथग्भू-
तफलसाधनभूता विद्या २' "उद्गीथमुपासीत" इति कर्तव्यतया विधीयते ।
क्रतुफलात्पृथग्भूतफलसाधनतयः स्वगतस्योपासनस्य कृत्वङ्गभूतोद्गीथा-
ङ्गतया विनियोगो नोपपद्यते । अथ उपासनस्याश्रयापेक्षायां सन्निहित
उद्गीथ आश्रयमात्रं भवति । उद्गीथञ्च कृत्वङ्गभूत इति क्रतुप्रयुक्तेऽद्गी-
थाभावे उपासने कृत्वधिकारिण एव क्रतुवीर्यवत्तरत्वेच्छानिमित्तमिद-
मधिकारान्तरमिति न क्रतुपु नदुपादाननियमः । वीर्यवत्तरत्वं च क्रतुफ-
लस्य प्रबलकर्मन्तरफलेनाप्रतिपद्यते इत्युक्तम् । क्रतोरविलम्बितफलत्व-
मित्यर्थः । पर्यादादीनां तु ३' यदेव विद्या करोति तदेव वीर्यवत्तरं भव-
ति" इति विद्यायाः फलसाधनत्ववदुपासनाश्रयश्रुत्यादिफलं प्रति साक्षा-

त्साधनभावो न भुत इति कृत्वङ्गभूतजुहायङ्गतया विनियोगाविरोधान्त-
दङ्गभूतानां फलान्तरसाधनभावकल्पनानुपपत्तेस्तत्र फलभुतिरर्थवादमा-
त्रं स्यात् ॥ ६३ ॥

दर्शनाच्च । ३ । ३ । ६४ ॥

दर्शयति च भुतिरूपासनापादानानियमम् १ “एवं विद्वद्ब्रह्मा
यज्ञं यजमानं सर्वांश्चत्विजोऽभिरक्षति” इति ब्रह्मणो वेदेन सत्त्वं
रक्षणं श्रूयती । उद्गातृप्रभृतीनां वेदनस्यानियमे सत्येतदुपपद्यते । अनेन
लिंगेन पूर्वोक्तानां समाहारादिलिङ्गानां प्रायिकम्बन्धमवगम्यते । अतोऽनि-
यम एवेति स्थितम् ॥ ६४ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये यथाश्रयभावाधिकरणम् ॥ २६ ॥

इति श्रीभगवद्रामानुजभिरचिते शारीरकमीमांसाभाष्ये
तृतीयस्याध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ३ ॥



श्रीमते रामानुजाय नमः

श्रीभगवद्रामानुजविरचिते

श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये

(तृतीयाध्याये - चतुर्थः पादः- पुरुषार्थाधिकरणम् ॥ १ ॥)



पुरुषार्थोऽतश्शब्दादिति वादरायणः । ३ । ४ । १ ।

गुणोपसंहारानुपसंहारफला विशैकत्वनानात्वचिन्ता कृता; इदानीं
विशातः पुरुषार्थः, उत विशाङ्गकात्कर्मण इति चिन्त्यते । किं युक्तम् ?
अतः—विशातः पुरुषार्थ इति भगवान् वादरायणो मन्यते; कुतः ?
शब्दान्—दृश्यते ह्यौपनिषदः शब्दो विशातः पुरुषार्थं ब्रुवन् १“ब्रह्म-
विद्याप्नोति परम्” २“वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः पर-
स्तात् । तमेवं विद्वानमृत इह भवति । नान्यः पन्था विशतेऽयनाय”
३“यथा नद्यः स्यन्दमानास्समुद्रे अस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय । तथा
विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्” इत्यादि ॥१॥

अत्र पूर्वपक्षी प्रत्यवतिष्ठते—

शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथान्येष्विति

जैमिनिः । ३ । ४ । २ ॥

नैतदेवम्—यद्विशातः पुरुषार्थावामिश्रशब्दादथगम्यते—इति । न ह्येषः

१“ब्रह्मविदाप्नोति परम्” इत्यादिशब्दो वेदनात्पुरुषार्थावाप्तिमवगमयति, कर्मसु कर्तृभूतस्याऽत्मनो याथात्म्यवेदनप्रतिपादनपरत्वान् । अतः कर्तृ-
स्संस्कारद्वारेण विद्यायाः क्रतुशेषत्वात्तत्र फलभुतिरर्थवादमात्रम्; यथाऽ-
न्येषु द्रव्यादिषु-इति जैमिनिराचार्यो मन्यते । तदुक्तं २“द्रव्यगुणसंस्कार-
कर्मसु परार्थत्वात्फलभुतिरर्थवादस्यात्” इति । ननुच कर्मसु कर्तृजीवाद्-
न्यो मुमुक्षुभिः प्राप्यतया वेदान्तेषु धेन उपदिश्यत इति प्रागेवोपपादितं-
३“नेतरोऽनुपपत्तेः” ४“भेदव्यपदेशाच्च” ५“अनुपपत्तोस्तु न शारीरः”
६“इतरपरामर्शात्स इति चेन्नासम्भवात्” इत्येवमादिभिस्मूत्रैः; तदेव
ब्रह्म तत्त्वमस्यादिसामानाधिकरण्यात् जीवादनंतरिक्तमित्येतदपि
७“अधिकं तु भेदनिर्देशान्” इत्येवमादिभिर्निर्स्तम्; सामानाधिकरण्य-
निर्देशाच्च ८“हेतदात्म्यमिदं सर्वं” ९सर्वं खल्विदं ब्रह्म” इति चेतना-
चेतनसाधारणः; १०“यः पृथिव्यां तिष्ठन्” ११“य आत्मनि तिष्ठन्”
इत्यादिनाऽवगततत्तदात्मतयाऽवस्थितिनिबन्धन इति १२“अवस्थितेरिति
काशकृत्स्नः” इत्यादिभिरुपपादितम्; तत्कथं कर्मसु कर्तुरात्मनो याथा-
त्म्योपदेशपरा वेदान्तशब्दा इति विद्यायाः कर्माङ्गत्वं प्रतिपादते ? उच्यते-
वेदान्तवाक्येष्वेव विद्यायाः कर्मप्राधान्यं सूचयद्भिर्लिंगैस्तदुपबृंहितसा-
मानाधिकरण्यनिर्देशेन च वेदान्तशब्दा देहातिरिक्तजीवस्वरूपयाथा-
त्म्योपदेशपरा इति बलादभ्युपगमनीयमिति पूर्वपक्षिणोऽभिप्रायः । ननु
च कर्तृसंस्कारमुखेन विद्यायाः क्रतुनुप्रवेशो न शक्यते वक्तुम्, कर्तु-
लौकिकवैदिकसाधारणत्वेनाध्यभिचरितक्रतुसम्यङ्गित्वान् । नैवम्,
लौकिकस्य कर्मणः कर्तुर्देहादव्यतिरिक्तत्वेऽभ्युपपत्तौर्देहातिरिक्तनित्यात्म-

१. तै. सा. १-४नु ॥—२. पूर्वमीमांसा, ४-३-१ ॥—३. शारी.
१-१-१७ ॥—४. शारी. १-१-१८ ॥—५. शारी. १-२-३ ॥—६. शारी.
१-२-१७ ॥—७. शारी. २-१-२२ ॥—८. छा. ६-८-७ ॥—९. ब्रा.
३-१४-१ ॥—१०. बृ. १-३-३ ॥—११. बृ. २-४-२२, मा.पा॥—१२. शारी.
१-४-२२ ॥

स्वरूपस्य कृतावेवोपयोगात्स्वरूपप्रतिपादनमुखेन कृत्वनुप्रवेशो न वि-
रुध्यते । अतो विद्यायाः कृतुशेषत्वाभातः पुरुषार्थः ॥ २ ॥

कानि पुनस्तानि लिङ्गानि; यदुपवृद्धितसामानाधिकरण्यनिर्देशेन
वेदान्तशब्दा जीवस्वरूपपरा इति निर्णयन्ते । तत्राह—

आचारदर्शनात् । ३ । ४ । ३ ॥

ब्रह्मविदां प्राधान्येन कर्मस्येवाचारो दृश्यते अन्धपतिः केकयः
किल : आत्मवित्तमस्तद्विज्ञानायोपगतांस्तानृपोन् प्रत्याह—१“यद्यमाणा
ह वै भगवन्तोऽहमस्मि” इति । तथा जनकादयो ब्रह्मविदप्रेसराः कर्म
निष्ठाः स्मृतिषु दृश्यन्ते २“कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः”
३“इयाज सोऽपि सुब्रह्मन् यज्ञान् ज्ञानव्यपाभयः” इति । अतो ब्रह्मविदां
कर्मप्रधानत्वदर्शनाद्विद्यायाः कर्तृस्वरूपयेदनरूपत्वेन कर्माङ्गत्वमेवेति
न विद्यातः पुरुषार्थः ॥ ३ ॥

लिङ्गमिदम्; प्राप्तिरुच्यतामित्यत्राह—

तच्छ्रुतेः । ३ । ४ । ४ ॥

भुतिरेव हि विद्यायाः कर्माङ्गत्वमाह—४“यदेव विद्याया करोति
भद्वयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति” इति । नेयं भुतिः प्रकरणादु-
दगीयमाग्रविषयेतिव्यवस्थापयितुं शक्या; यतः प्रकरणाच्छ्रुतिर्बलीयसी;
४“यदेव विद्याया करोति” इति विद्यामाग्रविषया हीयं भुतिः ॥ ४ ॥

समन्वारम्भणात् । ३ । ४ । ५ ॥

५“तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते” इति विद्याकर्मणोस्साहिभ्यं च

दृश्यते । साहित्यं चोक्तेन न्यायेन विद्यायाः कर्माङ्गत्वे सत्येव भवति ॥

तद्वतो विधानात् । ३ । ४ । ६ ॥

विद्यावतः कर्मविधानाद्विद्या कर्माङ्गमित्यवगम्यते—१“आचार्य-
कुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेपेणाभिसमाधृत्य कुटुम्बे शु-
चौ देशे” इत्यादौ । १“वेदमधीत्य” इत्यध्ययनवतः कर्माणि विदधद-
र्थावबोधपर्यन्ताध्ययनवत एव विदधाति । अर्थावबोधपर्यन्तं हाध्ययन
मिति स्थापितम् । अतो ब्रह्मविद्यापि कर्मसु विनियुक्तेति न पृथक्फला-
यावकल्पते ॥ ६ ॥

नियमात् । ३ । ४ । ७ ॥

इतश्च न विद्यातः पुरुषार्थः । २“कुर्वन्नेवेद कर्माणि जिजीविषे-
च्छतं समाः” इत्यात्मविदः, पुरुषायुषस्य सर्वस्य कर्मसु नियमेन विनि-
योगात्कर्मण एव फलमित्यवगम्यते । विद्या तु कर्माङ्गमिति ॥ ७ ॥

—(सिद्धान्तः)—

एवं प्राप्ते प्रथमहे—

अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैव

तद्दर्शनात् । ३ । ४ । ८ ॥

तुशब्दात्पक्षो व्यावृत्तः; विद्यात एव पुरुषार्थः; कुतः ? अधि-
कोपदेशात्-कर्मसु कर्तुर्जीवाद्धेयप्रत्यनीकानवधिकातिशयासंख्येयकल्या-
णगुणाकरत्वेनाधिकस्थार्थान्तरभूतस्य परस्य ब्रह्मणो वेगतयोपदेशात्
भगवतो बादरायणस्य विद्यातः ३ फलमित्येवमेव मतम् । लिङ्गानि ति-
ष्ठन्तु; वेगतयोपदेशस्तु तावत्कर्तुः प्रत्यगात्मनोऽधिकस्यैव । कथम् ? त-
द्दर्शनात्-प्रत्यगात्मन्यशुद्धे शुद्धेऽप्यसम्भावनीयानन्तगुणाकरस्य वेगस्य

निरस्तनिखिलहेयगन्धस्य स्वसङ्कल्पकृतजगदुदयविभवलयलीलस्य सर्व-
ज्ञस्य सर्वशक्तेर्वाङ्मनसापरिच्छेदानन्दस्य जोषाधिपस्य कृत्स्नस्य प्रशा-
सितुः परस्य ब्रह्मणो वेदनोपदेशवाक्येषु दर्शनात् १ “अपहतपाप्मा विजरो
विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासस्त्यकामस्त्यसङ्कल्पः” २ “तदैक्षत
यद्दुःस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत” ३ “यस्सर्वज्ञस्सर्ववित्” ४ “पराऽस्य
शक्तिर्विधिधैव भूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च” ५ “स एको ब्रह्मण
आनन्दः” ६ “यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह आनन्दं ब्रह्मणो
विद्वान् न विमेति कुतश्चेति” ७ “एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेप
भूतपाल एष सेतुर्विधरणः” ८ “स कारुण्यं करणाधिपाधिपो नचास्य
कश्चिज्जनिता नचाधिपः” ९ “एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्या-
चन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः (एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि चावापृ-
थिव्यौ विधृते तिष्ठतः)” १० “भीपास्माद्धातः पवते । भीपोदेति सूर्यः ।
भीपास्मादग्निश्चेन्द्रश्च । मृत्युर्भावति पञ्चमः” इत्यादिषु । तस्माद्वेदनोपदे-
शशब्देषु कर्तुः प्रत्यगात्मनः स्मृतकल्पस्याविद्यादिद्वेयसम्बन्धयोग्यस्य
गन्धोऽपि नास्तीति परमपुरुषविषयाया विद्यायास्तत्प्राप्तिरूपममृतत्वं तत्रतत्र
भूयमाणं फलमिति विद्यातः पुरुषार्थ इति सुस्पष्टम् ॥ ८ ॥

सिद्धान्त्यपि निरस्यन्ते—

तुल्यं तु दर्शनम् । ३ । ४ । ९ ॥

यदुक्तं—ब्रह्मविदां कर्मानुष्ठानदर्शनाद्विद्या कर्माङ्गम्—इति; तन्न
विद्याया अनङ्गत्वेऽपि तुल्यं दर्शनम्, ब्रह्मविदां कर्मानुष्ठानदर्शनमनैका-
न्तिकमित्यर्थः, अननुष्ठानस्यापि दर्शनात् । दृश्यते हि ब्रह्मविदां कर्म-

१. वा. ८-१-२ ॥—२. वा. १-२-३ ॥—३. सु. १-१-४ ॥—

४. रवे. १-८ ॥—५. तै. आन. ८-४ ॥—६. तै. आन. ४-१ ॥—७. वृ.

६-४-१२ ॥—८. रवे. १-४ ॥—९. वृ. २-८-४ ॥—१०. कुण्डलितो वाक्यशेषः

वेनुचितकोशेषु न दृश्यते ॥—१०. तै. आ. ८-१ ॥

त्यागः १“ऋपयः कावपेयाः किमर्था वयमप्येष्यामहे किमर्था वयं य-
क्ष्यामहे” इत्यादौ । अतो ब्रह्मविदां कर्मत्यागदर्शनात् विद्या कर्माङ्गम् ।
कथमिदमुपपद्यते-ब्रह्मविदां कर्मानुष्ठानमननुष्ठानञ्च ? फलाभिसन्धिरहि-
तस्य यज्ञादिकर्मणो ब्रह्मविद्याङ्गत्वात्तथाविधस्य कर्मणोऽनुष्ठानदर्शनमुप-
पद्यते । वक्ष्यति च २“सर्वपिच्छा च यज्ञादिभ्रुतेरश्ववत्” इति । फलार्थस्य
तस्यैव यज्ञादेः कर्मणो मोक्षैकफलब्रह्मविद्याविरोधित्वात्तस्याननुष्ठानदर्शन-
मुपपन्नतरम् । विद्यायाः कर्माङ्गत्वे कर्मत्यागः कथमपि नोपपद्यते ॥ ६ ॥

यदुक्तं-भृत्यैव विद्यायाः कर्माङ्गत्वमवगम्यते इति, तत्राह—

असार्वात्रिकी । ३ । ४ । १० ॥

न सर्वविद्याविषयेयं भृतिः; अपितूद्गीथविद्याविषयैव १“यदेव
विशया करोति” इति यच्छब्दस्यानिर्धारितविशेषस्य ४“ उद्गीथमुपासीत”
इति प्रस्तुतोद्गीथविशेषनिष्ठत्वात् । नहि यत्करोति, तद्विषयेति सम्ब-
ध्यते; यदेव विशया करोति, तदेव वीर्यवत्तरमिति विशया क्रियमाणं
यच्छब्देन निर्दिश्य तस्य हि वीर्यवत्तरत्वमुच्यते ॥ १० ॥

यद्येदमुक्तं २“तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते” इति विद्याकर्मणो-
स्साहित्यदर्शनाद्विद्या कर्माङ्गम्-इति; तत्राह—

विभागश्शतवत् । ३ । ४ । ११ ॥

२“तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते” इत्यत्रोक्तेन न्यायेन विद्याकर्म-
णोर्भिन्नफलत्वाद्विद्या स्वस्मै फलाय समन्वारभेते, कर्म च स्वस्मै फला-
येति विभागो द्रष्टव्यः । शतवत्—यथा क्षेत्ररत्नविक्रयिणं शतद्वयमन्वेती-
त्युक्ते क्षेत्रार्थं शतम्, रत्नार्थं शतमिति विभागः प्रतीयते; तथेहापि ॥

अध्ययनमात्रवतः । ३ । ४ । १२ ॥

यदुक्तं विद्यावतः कर्मविधानाद्विद्या कर्माङ्गम्-इति; नैतद्युक्तम्,
 १“वेदमधीत्य” इत्यध्ययनमात्रवतो विधानात् । नचाध्ययनविधिरेवार्थ-
 बोधे प्रवर्तयति, आधानवदध्ययनस्याक्षरराशिग्रहणमात्रे पर्यवसानात् ।
 गृहीतस्य च स्वाध्यायस्य फलवत्कर्माययोधित्वदर्शनात्तन्निर्णयफले तदर्थ-
 विचारे पुरुषः स्वयमेव प्रवर्तते; ततः कर्मार्थी कर्मज्ञाने प्रवर्तते, मोक्षार्थी
 च ब्रह्मज्ञान इति न विद्या कर्माङ्गम् । यद्यप्यध्ययनविधिरेवार्थावबोधे
 प्रवर्तयति ; तथापि न विद्या कर्माङ्गम्, अर्थज्ञानादर्थान्तरत्वाद्विद्यायाः ।
 यथा ज्योतिष्टोमादिकर्मस्वरूपविज्ञानात्फलसाधनभूतं कर्मानुष्ठानमर्थान्त-
 रम् ; तथाऽर्थज्ञानरूपाद्ब्रह्मस्वरूपविज्ञानादर्थान्तरमेव ध्यानापासनादि-
 शब्दवाच्या पुरुषार्थसाधनभूता विद्येति न तस्याः कर्मसम्बन्धगन्धो
 विद्यते ॥ १२ ॥

नाविशेषात् । ३ । ४ । १३ ॥

यद्योक्तं २“कुर्वन्नेवेह कर्माणि” इत्यात्मविद् ज्ञानाद्वयावर्त्य याव-
 जीवं कर्मानुष्ठाने नियमयतीति; तन्नोपपद्यते ; अविशेषात्-नह्ययं नियमः
 फलसाधनभूतस्वतन्त्रकर्मविषय इति विशेषहेतुरस्ति, विद्याङ्गभूतकर्मविष-
 यतयाऽप्युपपत्तेः । ३“कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः” इति
 च विदुषस्त्वाप्रयाणादुपासनस्यानुवर्तमानत्वान् ॥ १३ ॥

एवमर्थस्वाभाव्येन बोधं परिहृत्य २“कुर्वन्नेवेह कर्माणि” इत्यस्य
 वाक्यस्यार्थमाह—

स्तुतयेऽनुमतिवा । ३ । ४ । १४ ॥

वाशब्दोऽवधारणार्थः ; २“ईशावास्यमिदं सर्वम्” इति विद्या-
 प्रकरणाद्विद्यास्तुतये सर्वदा कर्मानुष्ठानानुमतिरियम् । विद्यामाहात्म्यात्स-
 र्वदा कर्म कुर्वन्नपि न क्षिप्यते कर्मभिरिति हि विद्या स्तुता भवति ।

वाक्यशेषश्चैवमेव दर्शयति-१“एवं त्वयि नान्यधेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे” इति । अतो न कर्माङ्गं विद्या ॥ १४ ॥

कामकारेण चैके । ३ । ४ । १५ ॥

अपि चैवमेके शास्त्रिनः कामकारेण ब्रह्मविद्यानिष्ठस्य गार्हस्थ्य-
त्यागमधीयते २“किं प्रजया करिष्यामो येषां नोयमात्माऽयं लोकः”
इति । त्रिदुषो विरक्तस्य कामकारेण गार्हस्थ्यकर्मत्यागं श्रुयद्विदं वचनं
ब्रह्मविद्यायाः कर्मानङ्गत्वं दर्शयति । यज्ञादिकर्मानङ्गत्वेहि विद्यायाः वि-
द्यानिष्ठस्य कामकारेण गार्हस्थ्यत्यागो न सम्भवति । अतो न विद्या
कर्माङ्गम् ॥ १५ ॥

उपमर्दं च । ३ । ४ । १६ ॥

पुण्यापुण्यरूपस्य समस्तसांसारिकदुःखमूलस्य कर्मणो ब्रह्मवि-
द्यायोपमर्दं च प्रतिवेद्यान्तमधीयते । १“भिद्यते हृदयप्रन्थिरिद्धिगन्ते सर्व-
संशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परायरे” इत्यादिकम् । तद्वि-
द्यायाः कर्माङ्गत्वे न सङ्गच्छते ॥ १६ ॥

ऊर्ध्वरेतस्सु च शब्दे हि । ३ । ४ । १७ ॥

ऊर्ध्वरेतस्स्वाभमेपु ब्रह्मविद्यादर्शनात्तोष्यमिहोत्रदर्शपूर्णमासादिक-
र्माभावाच्च न विद्या कर्माङ्गम् । ननूर्ध्वरेतस आभमा न सन्त्येव ४“ याव-
ज्जीवममिहोत्रं जुहोति” इत्यादिनाऽमिहोत्रदर्शपूर्णमासादीनां यावज्जी-
वाधिकारभ्रुतेः, श्रुतिविरुद्धानां स्मृतीनां चाप्रामाण्यात् । अत आह-श-
ब्दे हि-इति । वैदिक एव हि शब्दे ते दृश्यन्ते ५“प्रयो धर्मस्कन्धाः” ६, ये
चेमेऽरण्ये भद्रा तप इत्युपासते” २“एतमयं प्रजाजिनो लोकमिच्छन्तः

१. ईशा. १-२ ॥—२. घृ. ४-४-२२ ॥—३. सु. २-२-८ ॥—४. आप-
स्तम्बधौत. ३-१४-८ ॥ बह्वच इति शाबरः ॥—५. ला. २-२३-१ ॥—६. ला-
२ १०-१ ॥

प्रव्रजन्ति" इत्यादी । यावज्जीवभुतिस्त्वविरक्तयिषया ॥ १७ ॥

परामर्शं जैमिनिरचोदनाच्चापवदति हि । ३ । ४ । १८ ॥

यदिदं १ "त्रयो धर्मस्कन्धाः" इत्यादौ वैदिके शब्दे ऊर्ध्वरेतस आभमा दृश्यन्ते ; अतस्ते सन्त्येवेति ; नैतदुपपद्यते ; यतः १ "त्रयो धर्मस्कन्धाः" इत्यादिषु वाक्येषु तेषामाभमाणां परामर्शमात्रं क्रियते-अनुवाद-मात्रमित्यर्थः । कुत एतत् १ अचोदनात्-अविधानादित्यर्थः । न ह्यत्र विधिशब्दः भूयते ; १ "त्रयो धर्मस्कन्धाः" इत्यादिना हि प्रकृतं प्रणयेन ब्रह्मोपासनं स्तूयते, १ "ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति" इत्युपसंहारात् । अतोऽन्यार्थमनुवादमात्रमत्र क्रियते तेषामाभमाणाम् । २ "ये चेमेऽरण्ये भद्रा तप इत्युपासते" इति च देवयानविधिपरत्वात्तत्रापि नाभमान्तरविधिसम्भवः । अपि चापवदति हि भुतिराभमान्तरं १ 'वीरहा या एष देवानां योऽभिमुद्रासयते" इत्यादिष्वा । अत ऊर्ध्वरेतस आभमा न सन्तीति जैमिनिराचार्यो मन्यते ॥ १८ ॥

अनुष्ठेयं वादरायणस्साम्यभ्रुतेः । ३ । ४ । १९ ॥

गृहस्थाभ्रमयदाभमान्तरमप्यनुष्ठेयं भगवान् वादरायणो मन्यते । कुतः १ साम्यभ्रुतेः-उपादेयतयाऽभिमतगृहस्थाभ्रमसाम्यं हि तेषामप्याभमाणां भूयते । १ "त्रयो धर्मस्कन्धाः" इत्यादिषु ब्रह्मसंस्थस्तुत्यर्थतया सङ्कीर्तनं गृहस्थाभ्रमस्येवरेयां च समानम् ; अथ गृहस्थाभ्रमस्यानुवादः प्राप्नो सत्यामेव संभवतीति तस्य प्राप्तिरचरयाभ्युपेत्येति मतम् ; तद्विदरेषामपि समानमन्यत्राभिनिवेशान् । नच गार्हस्थ्यधर्म एव १ "यद्वोऽध्ययनं दानं तपो ब्रह्मचर्यम् इति सर्वैरशब्दैरभिधीयते, ब्रह्मचर्यतपसोर्गृहस्थस्यैव सम्भवादिति युक्तम्, १ "त्रयो धर्मस्कन्धाः" इति त्रिष्वेन संगृह्य १ "प्रथमो...द्वितीयः...तृतीयः" इति विभागवचनानुपपत्तेः । अतः

१“यज्ञोऽध्ययनं दानम्” इति गृहस्थाश्रम उच्यते । अध्ययनशब्दो वेदा-
भ्यासपरः । तपश्शब्देन वैलानसपारिग्राज्ययोर्ग्रहणम्, उभयोः तपः प्र-
धानत्वात् । तपश्शब्दो हि कायक्लेशो रुद्धः; स च द्वयोरपि समानः । ब्रह्म-
चारिधर्म एव ब्रह्मचर्यशब्देनाभिधीयते । १“ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति” इति
परत्र भूयमाणो ब्रह्मसंस्थशब्दो यौगिकः सर्वाश्रमसाधारणः, सर्वेषामा-
श्रमिणां ब्रह्मसंस्थासम्भवात् । ब्रह्मणि संस्था-संस्थितिः ब्रह्मसंस्थत्यम् ;
तच्च सर्वेषां सम्भवत्येव । ब्रह्मनिष्ठाविकलाः केवलाश्रमिणः पुण्यलोक-
भाजः; तेष्वेव ब्रह्मनिष्ठोऽमृतत्वभागभवति । तदेतद्विस्पष्टमुक्तं भगवता
पराशरेण २“प्राजापत्यं ब्राह्मणानाम्” इत्यारभ्य ३ “ब्राह्मं संन्यासिनां
स्मृतम्” इत्यन्तेन वर्णानामाश्रमाणां च केवलानां ब्रह्मलोकप्राप्त्यन्तं फ-
लमभिधाय ४“एकान्तिनस्सदा ब्रह्मध्यायिनो योगिनो हि ये । तेषां
तत्परमं स्थानं यद्वै पश्यन्ति मूरयः” इति तेष्वेव ब्रह्मनिष्ठानां ब्रह्मप्राप्ति-
मभिधायता । अतो गृहस्थाश्रमतुल्याः ऊर्ध्वरेतस आश्रमा अपि दृश्यन्त
इति तेऽप्यनुष्ठेयाः । ५“ये चेमेऽरण्ये भट्टा तप इत्युपासते” इति च अ-
रण्ये इति तपः प्रधानाश्रमप्राप्त्यपेक्षत्वाद्देवयानविधानस्य तत्रापि तत्प्राप्ति-
रङ्गीकरणीया ॥ १ ॥

परामर्शपक्षे विधानपक्षे च गृहस्थाश्रमतुल्यमेवामप्यनुष्ठेयत्वमित्यु-
पपाद्य विधिरेवायमाश्रमाणां सर्वेषां, नात्रुपाद्य इत्युपपादयितुमाह—

विधिर्वा धारणावत । ३ । ४ । २० ॥

वा शब्दोऽवधारणार्थः । विधिरेवायमाश्रमाणां; धारणावत-यथा
दिष्टाग्निहोत्रे ६“अथस्तात्समिधं धारयन्ननुद्रवेदुपरि हि देवेभ्यो धारयति”
इत्यत्रानुयादसरूपादपि धाक्यादुपरि धारणस्याप्राप्तत्वाद्विधिरार्थीयते;
तदुक्तं शेषलक्षणे ७“विधिस्तु धारणेऽपूर्वत्वान्” इति; तथाऽत्राप्यप्राप्त-

त्वाद्धिधरेवाभयणीयः । १ “ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत् गृहाद्वनी भूत्वा
प्रव्रजेत् यदिवेतरथा ब्रह्मचर्यविष्य प्रव्रजेत् गृहाद्वा वनाद्वा यदहरेव विर-
जेत् तदहरेव प्रव्रजेत्” इति जायालानामाभमधिधिमसन्तमिव कृत्वैतेष्व-
न्यपरेष्वपि वाक्येष्वभाभमप्राप्तिरवश्याभयणीयेत्युपपादितम् । एवमाभ-
मान्तरविधानादृणभुतिर्यावज्जीवभुतिरपचाद्भुतिश्चाविरक्तविषया एवेति
वेदितव्याः । अन्यः ब्रह्मविदः कर्मणामाप्रयाणादवश्यकर्तव्यताविधा-
यिन्यः भूतयः स्मृतयश्च स्वस्वाभमधर्मविषयाः । अत ऊर्ध्वरेतस्सु च ब्र-
ह्मविद्याविधानाद्विज्ञातः पुरुषार्थ इति सिद्धम् ॥ २० ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये पुरुषार्थाधिकरणम् ॥ १ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये स्तुतिमात्राधिकरणम् ॥ २ ॥)

स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेन्नापूर्वत्वात् ३ ४।२१॥

इदमिदानीं चिन्त्यते २ “स एष रसानां रसतमः परमः परा-
भ्योऽग्रमो यदुद्गीथः” इति एवंजातीयकानि वाक्यानि कृत्ववयवभू-
तोद्गीथादिस्तुतिमात्रपराणि, आहोस्त्रिदुद्गांधादिषु रसतमादिदृष्टिविधा-
नार्थानीति । अत्र प्रतिपादितमुपासनपरत्वमङ्गीकृत्योपासनस्य पुरुषार्थ-
त्वेन क्रतुपूपादानानियम उक्तः । किं युक्तम् ? स्तुतिमात्रपराणीति ।
कुतः ? उद्गीथाद्युपादानात् । कृत्वद्भूतानि उद्गीथादीन्युपादाय तेषां र-
सतमादित्वं प्रतिपादितम् ; यथा जुहादीनां पृथिव्यादित्वं प्रतिपादयतो
वचनस्य ३ “इयमेव जुहुः स्वर्गो लोक आहवनीयः” इत्यादिकस्य तत्स्तु-
तिमात्रपरत्वम् , तथेहापि । तदिदमाराद्धे-स्तुतिमात्रमुपादानादितिचेत्-
इति । उद्गीथाद्युपादानात्तत्स्तुतिमात्रमेवैषां वाक्यानां विवक्षितमिति चेत्-

—(सिद्धान्तः)—

अत्रोत्तरं—नापूर्वत्वात्—इति । न स्तुतिमात्रत्वमुपपद्यते; कुतः ?
 अपूर्वत्वात्—अप्रामत्त्वात् । न मुद्गीथादयो रसतमादितया प्रमाणान्तरेण
 प्रतिपन्नाः; येन तत्प्राशस्त्ययुद्धयुत्पत्त्यर्थं रसतमादित्वेनानूशेरन् । नचो-
 द्गीथादिविधिरत्र सन्निहितः; येन १“इयमेव जुहूस्वर्गो लोक आहव-
 नीयः” इत्यादियत्तदेकवाक्यत्वेन ययाकयाचन विधया तत्स्तुतिपरत्व-
 माभीयेत । अतः क्रतुवीर्यवत्तरत्वादिफलसिद्ध्यर्थमुद्गीथादिषु रसतमा-
 दिदृष्टिविधानमेव न्याय्यम् ॥ २१ ॥

भावशब्दाच्च । ३ । ४ । २२ ॥

२“उपासीत” इत्यादिभावशब्दाच्च विधिपरत्वमेव न्याय्यम् ।
 विधिप्रत्यययुक्तो हि क्रिया शब्दो विधेयमेव स्वार्थमथगमयति । तस्मादु-
 पासनविधानार्था एतारभुतयः ॥ २२ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये स्तुतिमात्राधिकरणम् ॥ २ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये पारिप्लवार्थाधिकरणम् ॥ ३ ॥)

पारिप्लवार्था इति चेन्न विशेषितत्वात् । ३।४।२३॥

३ ‘प्रतर्दनो ह वै देवोदामिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम’ ४ ‘इवं-
 तकेतुर्हारुणेय आस’ इत्येवमादीनि वेदान्तेष्वारूपाणानि किं पारिप्लव-
 प्रयोगार्थानि, उत विद्याविशेषप्रतिपादनार्थानीति चिन्तायाम् ५ “आ-
 रूपाणानि शंसन्ति” इत्याख्यानातां पारिप्लवे विनियोगाच्च विद्याप्रधा-
 नत्वं न्याय्यमिति चेत्—

—(सिद्धान्तः)—

न सर्वाण्यारूपाणानि पारिप्लवप्रयोगे विनियोगमर्हन्ति; कुतः ? विशेषितत्वाद्विनियोगस्य । १“आरूपाणानि शंसन्ति” इत्युक्त्वा तत्रैव २“मनुर्वैषस्वतो राजा” इत्यादिना मन्वादीनामारूपाणानि विशेष्यन्ते ; अतस्तेषामेव तत्र विनियोग इति गम्यते । तस्मात् सर्वा वेदान्तेष्वारूपाण्यनभूतयः पारिप्लवप्रयोगार्थाः; अपि तु विद्याविध्यार्थाः ॥ २३ ॥

तथा चैकवाक्योपबन्धात् । ३ । ४ । २४ ॥

३“आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः” इत्यादिविधिनैकवाक्यतयोपबन्धाच्चारूपाणानां विद्याविध्यर्थान्येव तानीति गम्यते; यथा ४“सोऽरोदीत्” इत्येवमादेः कर्मविध्यर्थत्वम् ; न पारिप्लवार्थत्वम् ॥ २४ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये पारिप्लवार्थाधिकरणम् ॥ ३ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अग्नीन्धनाद्यधिकरणम् ॥ ४ ॥)

अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा । ३ । ४ । २५ ॥

स्तुतिप्रसङ्गादवान्तरसङ्गतिविशेषेणार्थद्वयं चिन्तितम् । विद्यायन्त ऊर्ध्वरेतस आभमिणस्सन्तीत्युक्तम् ५“ ऊर्ध्वरेतसु च शब्दे हि ” इत्यादिभिस्सूत्रैः । इदानीमूर्ध्वरेतसो यज्ञाद्यभावात्तदङ्गिका विद्या न सम्भवतीत्याशङ्क्याह—अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा—इति । यत ऊर्ध्वरेतस आभमिणां विद्यासम्बन्धित्वेन भूत्या परिगृह्यन्ते ६“ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति” ७“य चेमेऽरण्ये भद्रा तप इत्युपासते” ८“एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति” ९“यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति ” इत्यादिकया ;

१. ॥—२. ॥—३. वृ. १-२-६ ॥—४. यजु. १-२-१ ॥—५. शारी.

३-४-१० ॥—६. छा. २-२३-१ ॥—७. छा. २-१०-१ ॥—८. वृ. ६-४-२२ ॥

९. कउ. १-२-१२ ॥

अत एवोर्ध्वरेतसु विद्या अग्नीन्धनाद्यनपेक्षा—अग्नीन्धनम्—अग्नयाधानम्; आधानपूर्वकाग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादिकर्मानपेक्षा तेषु विद्या । केवलस्याभ्रमविहितकर्मपेक्षेत्यर्थः ॥ २५ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अग्नीन्धनाधिकरणम् ॥ ४ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये सर्वापेक्षाधिकरणम् ॥ ५ ॥)

सर्वापेक्षा च यज्ञादिभूतेरश्ववत् । ३ । ४ । २६ ॥

यदि विद्या यज्ञाद्यनपेक्षैवास्तुतत्वं साधयति; तर्हि गृहस्थेष्वपि तदनपेक्षैव साधयितुमर्हति, यज्ञादिभूतिरपि १“विविदिषन्ति” इति शब्दात्कर्मणो वेदानाङ्गतां न प्रतिपादयतीति—

—(सिद्धान्तः)—

अत आह—सर्वापेक्षा—इति । अग्निहोत्रादिसर्वकर्मपेक्षैव विद्या कर्मवत्सु गृहस्थेषु; कुतः ? यज्ञादिभूतेः । १“तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन” इत्यादिना यज्ञादयो हि विद्याङ्गत्वेन भूयन्ते । यज्ञादिना विविदिषन्ति वेदितुमिच्छन्ति, यज्ञादिभिर्बेदनं प्राप्नुमिच्छन्तीत्यर्थः । यज्ञादीनां ज्ञानसाधनत्वे सत्येव यज्ञादिभिः ज्ञानं प्राप्नुमिच्छन्तीति व्यपदेश उपपद्यते; यथा असंर्हन्नसाधनत्वे सति असिना त्रिषांसतीति व्यपदेशः अतो यज्ञादीनां ज्ञानसाधनत्वमवगम्यते । ज्ञानं च वाक्यार्थज्ञानादर्थान्तरभूतं ध्यानोपासनादिशब्दवाच्यं विशदतमप्रत्यक्षतापन्नस्मृतिरूपं निरतिशयप्रियमहरहरभ्यासाधेयातिशयमाप्रयाणदनुवर्तमानं मोक्षसाधनमित्युक्तमस्माभिः पूर्वमेव; वक्ष्यति च २“आवृत्तिरसकृदुपदेशान्” इत्यादिना । एवं रूपं च ध्यानमहरहरनुष्ठीयमानैर्नित्यनैमित्तिककर्मभिः परमपुरुषाराधनरूपैः

परमपुरुषप्रसादद्वारेण जायत इति यज्ञादिना विविदिषन्तीति शास्त्रेण प्रतिपाद्यते । अतः कर्मवत्सु गृहस्थेषु यज्ञादिनित्यनैमित्तिकसर्वकर्मापेक्षा विना । अश्वत्—यथा गमनसाधनभूतोऽश्वः स्वपरिकरवन्धपरिकर्मापेक्षः; एवं मोक्षसाधनभूताऽपि विना नित्यनैमित्तिककर्मपरिकरापेक्षा । तदिदमाह स्वयमेव भगवान् १ “यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तन् । यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्” २ “यतः प्रयुक्तिर्मूतानां येन सर्वमिदं ततम् । स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः” इति ॥ २६ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये सर्वापेक्षाधिकरणम् ॥ ५ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये शमदमाद्यधिकरणम् ॥ ६ ॥)

शमदमाद्युपेतस्स्यात्तथापि तु तद्विधेस्तदङ्गतया
तेषामप्यवश्यानुष्ठेयत्वात् । ३ । ४ । २७ ॥

गृहस्थस्य शमदमादीन्यप्यनुष्ठेयानि, उत नेति चिन्तायाम्—आन्तर्याम्यकरणव्यापाररूपत्वात्कर्मानुष्ठानस्य, शमदमादीनां तद्विपरीतरूपत्वाच्चाननुष्ठेयानि—

—(सिद्धान्तः)—

इति प्राप्त उच्यते—यद्यपि गृहस्थः करणव्यापाररूपकर्मसु प्रयुक्तः, तथाऽपि स विद्वान् शमदमाद्युपेतस्स्यात् । कुतः ? तदङ्गतया तद्विधेः—विनाङ्गतया तेषां विधेः १ “तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिष्ठुस्समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवाऽऽत्मानं पश्येत्” इति । विज्ञोत्पत्तेश्चित्तमभानरूपत्वेन दृष्टपरिकरत्वाच्चमादीनां, विज्ञानिर्गुत्तये तेषां—शमादीनामप्यवश्यानुष्ठेयत्वाच्च तान्यप्यनुष्ठेयानि । नच करणव्यापारतन्-

विपर्ययरूपत्वेन कर्मणां शमदमादीनां च परस्परविरोधः, भिन्नविषयत्वा-
त्विहितेषु करणव्यापारः, अविहितेषु प्रयोजनशून्येषु च तदुपशम इति ।
नच करणव्यापाररूपकर्मसु धर्तमानस्य यासनावशाच्छ्रमादीनामुपादेय-
त्वसम्भवः, विहितानां कर्मणां परमपुरुषाराधनतया तत्प्रसादद्वारेण
निखिलविपरीतवासनोच्छेदहेतुत्वात् । अतो गृहस्थस्य शमदमादयोऽप्य-
नुष्ठेयाः ॥ २७ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये शमदमाधिकरणम् ॥ ६ ॥

—(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये सर्वाज्ञानुमत्यधिकरणम् ॥७॥)—

सर्वाज्ञानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात् । ३। ४। २८ ॥

वाजिनां छन्दोगानां च प्राणविद्यायां १“न ह वा अस्यानन्नं द-
ग्धं भवति नानन्नं परिगृहीतं भवति” २“न ह वा एषंविद्वि किञ्चनानन्नं
भवति” इति प्राणविदः सर्वाज्ञानुमतिः सङ्कीर्त्यते; किमियं प्राणविद्यानि-
ष्ठस्य सर्वाज्ञानुमतिः सर्वदा, उत प्राणात्ययापत्ताविति विशये, विशेषा-
नुपादानात्सर्वदा—

—(सिद्धान्तः)—

इति प्राप्त उच्यते-प्राणात्यये-इति । चशब्दोऽवधारणे; प्राणात्य-
यापत्तावेवेत्यर्थः । कुतः? तद्दर्शनात्—दृश्यते ह्यन्यत्र ब्रह्मविदामपि प्रा-
णात्ययापत्तावेव सर्वाज्ञाभ्यनुज्ञा ; किं पुनः प्राणविदः । उपस्तिः कि-
ल चाक्रायणो ब्रह्मविदप्रेसरो मटचीहतेषु कुरुषु दुर्भिक्षदूषितेष्विभ्यग्रामे
वसन्ननशनेन प्राणसंशयमापन्नो ब्रह्मविद्यानिष्पत्तये प्राणानामनवसाद-
माकाङ्क्षमाण इभ्यं कुरुमापान् खादन्तं भिक्षमाणस्तेन च उच्छिष्टेभ्योऽ-
न्ये न विद्यन्त इति प्रत्युक्तः पुनरपि ३“एतेषां मे वेदि” इत्युक्त्वा तेन-

चेभ्येनोच्छिष्टेभ्य आदाय दत्तान् कुल्माषान् प्रतिगृह्यानुपानप्रतिग्रहमि-
भ्येनार्थितः १ 'उच्छिष्टं वै मे पीतं स्यात्' इति वदंश्चाक्रायणः किमेते
कुल्माषा अनुच्छिष्टा इति इम्येन पर्यनुयुक्तः १ "न वा अजीविष्यमिमा-
नस्यादन्...कामो म उदपानम्" इति कुल्माषास्वादने स्वस्य प्राणसंशया-
पत्तेस्तावन्मात्रस्वादनेन धृतप्राणस्य स्वस्योच्छिष्टोदकपानं कामकारितं
निषिद्धं स्यादित्युक्त्वा स्वस्वादितशेषं जायायै दत्त्वा तथा च रक्षितान-
परेर्गुर्याजनेनार्जिजीपया जिगमिषुः पुनरपि प्राणसंशयमापन्नस्तानेवे-
भ्योच्छिष्टान् स्योच्छिष्टभूतान् पर्युपितांश्चस्वाद । अतो ब्रह्मविदामपि
प्राणसंशय एव सर्वान्नानुमतिदर्शनादत्राविशेषेण कीर्तितमपि प्राणविद-
स्सर्वाङ्गीनत्वं प्राणात्ययापत्तावेवेति निश्चीयते ॥ २८ ॥

अवाधाच्च । ३ । ४ । २९ ॥

२ "आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः" इति ब्रह्म-
विशोत्पत्तावाहारशुद्धिविधानावाधादपि ब्रह्मविदां सर्वाङ्गीनत्वमापद्विप-
यमवगम्यते । एवं ब्रह्मविदामतिशयितशक्तीनामपि सर्वाङ्गीनत्वस्यापद्वि-
पयत्वात्प्राणविदोऽल्पशक्तेः सर्वान्नानुमतिरापद्विपयैव ॥ २९ ॥

अपि स्मर्यते ३ । ४ । ३० ॥

अपि च आपद्विपयमेव सर्वाङ्गीनत्वं ब्रह्मविदामन्येषां च स्मर्यते
— ३ "प्राणसंशयमापन्नो योऽन्नमस्ति यत्स्ततः । लिप्यते न स पापेन प-
द्मपत्रमिवाम्भसा" इति ॥ ३० ॥

शब्दश्चातोऽकामकारे । ३ । ४ । ३१ ॥

यतो ब्रह्मविदामन्येषां च सर्वाङ्गीनत्वमापद्विपयमेव; अत एव
सर्वेषामकामकारे शब्दः-कामकारस्य प्रतिषेधकः शब्दो वर्तते । अस्ति
हि कठानां संहितायां कामकारस्य प्रतिषेधकः शब्दः श्वत्साद्ब्राह्मण-

सुरां न पिबति पाप्मना १“नोत्सृजा इति” इति । पाप्मना संस्पृष्टो न भवानीति मत्वा ब्राह्मणः सुरां न पिबतीत्यर्थः ॥ ३१ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसामाष्ये सर्वाभानुमत्यधिकरणम् ॥ ७ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसामाष्ये विहितत्वाधिकरणम् ॥८॥)

विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि । ३ । ४ । ३२ ॥

यज्ञादिकर्माङ्गिका ब्रह्मविद्येत्युक्तम्; तानि च यज्ञादीनि कर्मा-
ण्यमुमुक्षुणा केवलाभमिषाऽप्यनुष्ठेयानि, उत नेति चिन्तायां, विद्या-
ज्ञानां सतां २ केवलाभमशेषत्वे नित्यानित्यसंयोगविरोधः प्रसज्यत इ-
ति यज्ञादीनां ३ केवलाभमधर्मत्वं न सम्भवति—

—[सिद्धान्तः]—

इति प्राप्त उच्यते—आश्रमकर्मापि—इति । आश्रमस्य कर्मापि भव-
ति । केवलाभमिषापि अनुष्ठेयानीत्यर्थः । कुतः ? ४“यावज्जीवमग्निहो-
त्रं जुहोति” इत्यादिना विहितत्वान्—जीवननिमित्ततया नित्यवद्विदि-
तत्वादित्यर्थः ॥ ३२ ॥

तथा विद्याङ्गतया च ४ ‘तमेतं वेदानुवचनेन’ इत्यादिना विहित-
त्वाद्विद्याशेषतयाप्यनुष्ठेयानीत्याह—

सहकारित्वेन च । ३ । ४ । ३३ ॥

विशोत्पत्तिद्वारेण विद्यामहकारितयाऽप्यनुष्ठेयानि । अग्निहोत्रादी-
नामिव जीवनाधिकार स्वर्गाधिकारवन् विनियोगपृथक्त्वेनोभयार्थत्वं न
विरुध्यत इत्यर्थः ॥ ३३ ॥

१. नोत्सृजा इति, पा ॥—२. केवलाभमिशेषत्वे, पा ॥—३. केवला-
भमिधर्मत्वं, पा ॥—४ ॥

तद्वदेव कर्मान्तरत्वमपि नास्तीत्याह—

सर्वथापि त एवोभयलिङ्गात् । ३ । ४ । ३४ ॥

सर्वथा-विश्वार्थत्वे आश्रमार्थत्वेऽपि, त एव यज्ञादय इति प्रति-
पत्तव्यम्; न कर्मस्वरूपभेद इत्यर्थः । कुतः ? उभयलिङ्गान्-उभयत्र
श्रुतौ यज्ञादिशब्दैः प्रत्यभिज्ञाप्य विनियोगात्, कर्मस्वरूपभेदे प्रमाणा-
भावाच्च ॥ ३४ ॥

अनभिभवं च दर्शयति । ३ । ४ । ३५ ॥

१“धर्मेण पापमपनुवति” इत्यादिभिश्च तानेव यज्ञादिधर्माभिर्वि-
श्य तैर्विज्ञाया अनभिभवं—पापकर्मभिरुत्पत्तिप्रतिबन्धाभावं दर्शयति ।
अहरहरनुव्रियमानैर्हि यज्ञादिभिर्विशुद्धेऽन्तःकरणे प्रत्यहं प्रकृष्यमाणा
विशोत्पद्यते । अतस्त एवोभयत्र यज्ञादयः ॥ ३५ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये विहितत्वाधिकरणम् ॥ ८ ॥

श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये विधुराधिकरणम् ॥ ९ ॥

अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः । ३ । ४ । ३६ ॥

चतुर्णामाभिमिणां ब्रह्मविद्यायामधिकारोऽस्ति; विद्यासहकारिण
आभमधर्मा इति चोक्तम् । ये पुनराभमानन्तरा वर्तन्ते विधुरादयः; तेषां
ब्रह्मविद्यायामधिकारोऽस्ति, नचेति विशये—आभमधर्मेति कर्तव्यता-
कत्वादिज्ञायाः, अनाभमिणां चाभमधर्माभावाभास्त्यधिकारः—

—(सिद्धान्तः)—

इति प्राप्त उच्यते-अन्तराचापितु-इति । तुशब्दः पक्षव्यापृत्त्यर्थः;
चशब्दोऽवधारणे अन्तरा वर्तमानानाम्-अनाभमिणामपि विद्याया-

मधिकारोऽस्त्येव । कुतः ? तदुष्टेः-दृश्यते हि रैक्यभीष्मसंवर्तादीनामना-
श्रमिणामपि ब्रह्मविद्यानिष्ठत्वम् नचाश्रमधर्मेरेव विद्यानुग्रह इति शक्यं
वक्तुम्, १“यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन” इति दानादीनामाश्रमेषु
२अनैकान्तिकानामप्यनुमाहकत्वदर्शनात् । यथोध्यरेतासु विद्यानिष्ठत्वदर्-
शनादग्निहोत्रादित्यतिरिक्तेरेव विद्यानुग्रहः क्रियते; तथाऽनाश्रमिष्वपि
विद्यादर्शनादश्रमानियतैर्जपोपवासदानदेवताराधनादिभिर्विद्यानुग्रहश-
क्यते कर्तुम् ॥ ३६ ॥

अपि स्मर्यते । ३४ । ३७ ।

अपिच अनाश्रमिणामपि जपादिभिरेव विद्यानुग्रहः स्मर्यते
३“जप्येनापि च संसिध्येद्ब्राह्मणो नात्र संशयः । कुर्यादन्यन्न य कुर्या-
न्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते” इति । संसिध्येन—जपाद्यनुगृहीतया विद्याया
सिद्धो भवतीत्यर्थः ॥ ३७ ॥

विशेषानुग्रहश्च । ३४ । ४ । ३८ ।

न केवलं न्यायस्मृतिभ्यामयमर्थस्तावनीयः; ध्रूयते चानाश्रमनिय-
तैर्धर्मविशेषैर्विद्यानुग्रहः ४“तपसा ब्रह्मचर्येण भद्रया विद्यायाऽऽत्मानम-
न्विष्येत्” इति ॥ ३८ ॥

अतस्त्वितरज्ज्यायो लिङ्गाच्च । ३४ । ४ । ३९ ॥

तुशब्दोऽवधारणे; अतः—अनाश्रमित्वान् इतरन्—आश्रमित्वमेव
उच्यते; अनाश्रमित्वमापद्विषयम् ; शक्तस्य त्वाश्रमित्वमेवोपादेयमित्यर्थः;
भूयोधर्मकाल्पधर्मकयोरनुल्यकार्यत्वात्; लिङ्गाच्च—स्मृतेरित्यर्थः । स्मर्यते
च शक्तं प्रत्याश्रमस्थोपादेयत्वम् ५“अनाश्रमो न निष्ठेत्तु दिनमेकमपि
द्विजः” इत्यादेना । निवृत्तब्रह्मचर्यस्य मृतभार्यस्य च अद्वैतागमं मति
वारात्ताम आपन् ॥ ३९ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये विधुराधिकरणम् ॥ ६ ॥

१. य. १-४-२२ ॥—२. अनेकागतां, पा ॥—३. मनु. २. ८७ ॥—

४. प्रश्नोप. १-१० ॥—५ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये तद्भूताधिकरणम् ॥ १० ॥)

तद्भूतस्य तु नातद्भावो जैमिनेरपि नियमा-
तद्रूपाभावेभ्यः । ३ । ४ । ४० ॥

नैष्ठिकवैखानसपरिप्राजकाभमेभ्यः प्रच्युतानामपि ब्रह्मविद्याया-
मधिकारोऽस्ति, नेति चिन्तायां--विधुरादिवदनाभमेकान्तैर्दानादिभि-
र्विद्यानुग्रहसम्भवादस्त्यधिकारः—

—(सिद्धान्तः)—

इति प्राप्त उच्यते-तद्भूतस्य तु नातद्भावः-इति । तुराज्यः पञ्चव्या-
घ्रस्यर्थः; तद्भूतस्य—नैष्ठिकाद्याभमनिष्ठस्य, नातद्भावः-अतथाभावं, अ-
नाभमित्वेनावस्थानं न सम्भवति; कुतः ? तद्रूपाभावेभ्यो नियमात्-तद्रू-
पाणि तेषां नैष्ठिकादीनां रूपाणि-वेपाः, धर्मा इत्यर्थः; तेषामभावाः-तद्रू-
पाभावाः; तेभ्यः शास्त्रैर्नियमात् । नैष्ठिकाद्याभमप्रविष्टान् स्वाभमधर्मनि-
ष्ठृतिभ्यो नियच्छन्ति हि शास्त्राणि ? “ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी वृत्ती-
योत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्” इति, २ “अरण्यमियात्ततो न
पुनरेयात्” इति, ३ “सन्त्यस्याग्निं न पुनरावर्तयेत्” इति च । अतो विधु-
रादिवत् नैष्ठिकादीनामनाभमित्वेनावस्थानासम्भवात् तानधिकरोति ब्र-
ह्मविद्या; जैमिनेरपि-इत्यविगानं दर्शयन्नुक्तं स्वाभिमतं द्रढयति ॥४०॥

अथ स्यात्—नैष्ठिकादीनां ब्रह्मचर्यात्प्रच्युतानां प्रायश्चित्तादधि-
कारस्तम्भवति; अस्ति च प्रायश्चित्तमधिकारलक्षणे निरूपितम् ४ “अ-
वकीर्षिपशुञ्च तद्वन्” इति अतः प्रच्युतब्रह्मचर्यस्य प्रायश्चित्तसम्भवा-
त्कृतप्रायश्चित्तो ब्रह्मविद्यायामधिकरिष्यति-इति; तत्राह—

नचाधिकारिकमपि पतनानुमानात्तद- योगात् । ३ । ४ । ४१ ॥

अधिकारलक्षणोक्तमपि प्रायश्चित्तं नैष्ठिकादीनां तद्भ्रष्टानां न सम्भवति; कुतः ? पतनानुमानात्तदयोगात्—नैष्ठिकादीनां प्रच्युतानां पतनस्युतेस्तस्य प्रायश्चित्तस्यासम्भवात्—१“आरूढो नैष्ठिकं धर्मं यस्तु प्रच्यवते द्विजः । प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुष्येत्स आत्महा” इति । अतोऽधिकारिलक्षणोक्तं प्रायश्चित्तमितरब्रह्मचारिविषयम् ॥ ४१ ॥

उपपूर्वमपीत्येके भावमशनवत्तादुक्तम् । ३ । ४ । ४२ ॥

नैष्ठिकादीनां ब्रह्मचर्यप्रच्यवनमुपपूर्वम्—उपपातकम्. महापातकेष्वपरिगणितत्वादिति तत्र प्रायश्चित्तास्य भावं—विद्यमानतामप्येके आचार्या मन्यन्ते; अशनवत्—यथा मध्यनादिनिषेधस्तत्प्रायश्चित्तं चोपकुर्वाणस्य नैष्ठिकादीनां च समानम् ; तदुक्तं स्मृतिकारैः २ “उत्तरेषां चैतद्विरोधि” इति । गुरुकुलवासिनो यदुक्तं, तत्स्वाभ्रमाविरोध्युत्तरेषामप्याभ्रमिणां भवतीत्यर्थः । तद्वदिहापि ब्रह्मचर्यप्रच्यवने प्रायश्चित्तसम्भवाद्ब्रह्मविद्यायोग्यताप्यस्ति ॥ ४२ ॥

बहिस्तूभयधापि स्मृतेराचाराच्च । ३ । ४ । ४३ ॥

तुशब्दो मतान्तरव्यापृत्त्यर्थः; उपपातकत्वे महापातकत्वेऽप्येते यदिर्भूता एव ब्रह्मविद्याधिकारिभ्यः; ब्रह्मविद्यामनधिकृता इत्यर्थः । कुतः ? स्मृतेः—पूर्वोक्तान् पतनस्मरणात् । यद्यपि कलमपनिर्हरणाय कैश्चिद्वचनैः प्रायश्चित्ताधिकारो विन्यते तथापि कर्माधिकारानुगुणशुद्धिहेतुप्रायश्चित्तं न सम्भवति, ४“प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुष्येत्स आत्महा”

१. आग्नेय, १४-२-२३ । --२. गौत, १-प्र. ३-अ. ४ सू. ॥

३. तद्भूतावात्, पा. ॥—४ ॥

इति स्मृतेरित्यर्थः । आचाराद्य-शिक्षा हि नैष्ठिकादीन् भद्रान् कृत-
प्रायश्चित्तानपि वर्जयन्ति, तेभ्यो ब्रह्मविद्यादिकं नोपदिशन्ति; अतस्ते-
षां नास्ति ब्रह्मविद्यायामधिकारः ॥ ४३ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये तद्भूताधिकरणम् ॥ १० ॥

[श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये स्वाम्यधिकरणम् ॥ ११ ॥]

स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः । ३ । ४ । ४४ ॥

कर्माङ्गाभ्याद्यद्गोधाद्युपासनानि किं यजमानकर्तृकाणि, उतत्वि-
कर्तृकाणीति चिन्तायां-यजमानकर्तृकाणीत्यात्रेयो मन्यते; कुतः? फल-
श्रुते-वेदान्तविहितेषु द्वादशुपासनेषु फलोपासनयोरेकाभयत्वदर्शना-
दिह च क्रतुफलाप्रतिबन्धरूपस्योद्गोधाद्युपासनफलस्य यजमानाभयत्वभ-
वणादित्यर्थः । न च गोदोहनादिवद्भाभयत्वेन यजमानकर्तृकत्वास-
म्भवः; गोदोहनादिषु ह्यव्ययकर्तृकप्रणयनाभयगोदोहनोपादानमन्येना-
शक्यम् । इह तद्गतकर्तृकेऽप्युद्गोधादे तस्योद्गोधादेः अरसतमत्वानुस-
न्धानंयजमानेनैव कर्तुं शक्यते ॥ ४४ ॥

-[सिद्धान्तः]-

इति प्राप्तेऽभिधीयते-

आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परि-
क्रियते । ३ । ४ । ४५ ॥

आर्त्विज्यम्-अर्त्विजःकर्माद्गोधाद्युपासनमित्यौडुलोमिराचार्योम-
न्यते, कुतः? तस्मै हि-प्रयोजनाय अर्त्विक्परिक्रियते, फलसाधनभूतस्य-

साङ्गस्य क्रतोरुपादानायेत्यर्थः । कर्मविधिषु १“ऋत्विजो वृणीते” २“ऋत्विग्भ्यो दक्षिणां ददाति” इति ऋत्विक्कर्तृकत्वशास्त्रेण फलसाधनभूतं साङ्गं कर्म ऋत्विग्भिरनुष्ठेयमित्यवगम्यते; तदन्तर्गतानि कायिकानि मानसानि च कर्माणि ऋत्विक्कर्तृकाण्येव; नच शक्त्यशक्ती तस्य निश्चयनम् । यशस्युद्गीधानुपासनं पुरुषार्थः, तथापि क्रत्वधिकृताधिकारत्वात्क्रतोश्च साङ्गस्य ऋत्विक्कर्तृकत्वात्, ३“यदेव विनया करोति...तदेव वीर्यवत्तरम्” इति ऋत्विक्कर्तृकक्रियोपयोगित्वेन विनायास्तदेककर्तृकत्वभवणात्, ऋत्विक्कर्तृकाण्येतानि; दहरादिपूपासनेषु ऋत्विक्कर्तृकत्वाभवणात् ४“शास्त्रफलं प्रयोक्तारि” इति न्यायाच्च फलिकर्तृकत्वमेव ॥ ४५ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये स्वाम्यधिकरणम् ॥ ११ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये सहकार्यन्तरविध्यधिकरणम् ॥ १२ ॥)

सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्या-
दिवत् । ३ । ४ । ४६ ॥

५“तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विण्ण बाल्येन तिष्ठारसेन् बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विण्णाय मुनिः” इत्यत्र बाल्यपाण्डित्यवन्मौनमपि विधीयते, उत्तानूयत इति विषये-मौनपाण्डित्यशब्दयोः ज्ञानार्थत्वात्, ५“पाण्डित्यं निर्विण्ण” इति विहितमेव ज्ञानम् ५“अथ मुनिः” इत्यनूयते; विधिशब्दो नञ्च भूयत इति ॥

—(सिद्धान्तः)—

एवं प्राप्ते ब्रूमः—सहकार्यन्तरविधिः—इति । तद्वतः—विद्यावतः ;

१. अ. १. १-३-७ ॥—२. ॥—३. अ. १-१-१० ॥—४. प. मी.

३-७-१८ ॥—५. पृ. ४-४-१ ॥

विध्यादिवत्-विधीयते इति यज्ञादिस्सर्वाभमधर्मः शमदमादिश्च विधिशा-
 ख्येनोच्यते; आदिशाख्येन भवणमनने गृह्येते; सहकार्यन्तरविधिरित्यत्रापि
 विधीयत इति विधिः सहकार्यन्तरं विधिरचेति सहकार्यन्तरविधिः; एत-
 दुक्तं भवति-यथा १“तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विधिविपन्ति यज्ञेन
 दानेन” इत्यादिना २“शान्तो दान्तः” इत्यादिना च सहकारी यज्ञादि-
 शमदमादिश्च विधीयते; यथाच ३“भोतव्यो मन्तव्य” इति भवणमन-
 ने चार्थप्राप्ते विद्यासहकारित्वेन गृह्येते; तथा ४“तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं
 निर्विण” इत्यादिना पाण्डित्यं, बाल्यं, मौनमिति त्रितयं विद्यायास्सह-
 कार्यन्तरं विधीयते-इति । मौनं च पाण्डित्यादर्थान्तरमित्याह-पक्षेणेति ।
 मुनिशब्दस्य पक्षेण प्रकृष्टमननशीले व्यासादौ प्रयोगदर्शनात् मौनं पा-
 ण्डित्यबाल्ययोर्द्वयोस्मृतीयम् । यद्यपि ४“अथ मुनि” इत्यत्र विधिप्रत्य-
 यो न भूयते; तथापि मौनस्याप्राप्तत्वादिधेयत्वमङ्गीकरणीयम्-अथ मु-
 निस्स्यात्-इति । इदं च मौनं भवणप्रतिष्ठार्थान्मननान्दर्थान्तरभूतमुपास-
 नालम्बनस्य पुनःपुनरसंशीलनं तद्भावनारूपम् । तदेवं वाक्यार्थः—
 ब्राह्मणः-विद्यावान् पाण्डित्यं निर्विण-उपास्यं ब्रह्मतत्त्वं परिशुद्धं प-
 रिपूर्णं च विदित्वा भवणमननाभ्यामप्राप्तं वेदनं प्रतिलभ्येत्यर्थः; तच्च
 भगवद्भक्तिकृतसत्त्वविबुद्धिकृतम्; यद्योक्तं ५“नाहं वेदैः ” इत्यारभ्य
 ५“भक्त्या त्वनन्यया शक्यः...प्राप्तुम्” इति । भुक्तिश्च ६“यस्य देवे परा
 भक्तिः” ७“नायमात्मा प्रवचनेन” इत्यादिका । बाल्येन तिष्ठासेन्; बा-
 ल्यस्वरूपं चानन्तरमेव यक्ष्यते; बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विणाथ मु-
 निस्स्यात्-बाल्यपाण्डित्यं यथाबहुपादाय परिशुद्धे परिपूर्णं ब्रह्मणि मन-
 नशीलो भवेन्, निदिध्यासनरूपविद्यावाप्तये । एवमेव त्रितयोपादानेन

१. वृ. ६-४-२२ ॥—२. वृ. ६-४-२३ ॥—३. वृ. ४-४-२ ॥—४. वृ.

२-२-१ ॥—५. गी. ११-२३-२४ ॥—६. उपे. ६-अ. २३ ॥—७. वृ.

२-२३ ॥

लब्धविशो भवतीत्याह १ 'अमौनं च मौनं च निर्विघ्नाथ ब्राह्मणः' इति । अमौनं मौनेतरसहकारिकलापः ; तं च मौनं च यथावदुपादानो विद्याकाष्टां तदेकनिष्पाशां लभेतेत्यर्थः । १ "स ब्राह्मणः केन स्यात्" इति उक्तादुपायात्किमन्योऽप्युपायोऽस्तीति पृष्टे १ "येन म्यारेनेदश ग-य" इति-येन मौनपर्यन्तेन ब्राह्मणस्यादित्युक्तम्, तेनैवेदशस्यानः न केनाप्यन्येनोपायेनेति परिहृतम् । अतस्सर्वेष्वभ्रमेपु स्थितस्य त्रिदुपां यज्ञादिस्वाभ्रमभ्रमं यत्पारिडित्यादिकं मौनवृतीयं विद्यायास्सहकार्यन्तरं विधीयते ॥ ४६ ॥

अथ स्यात्-यदि सर्वेष्वभ्रमेपु स्थितानां त्रिदुपां तत्तदाभ्रमधर्म-सहकारिणी मौनवृतीयसचिवा विद्या ब्रह्मप्राप्तिसाधनमुच्यते ; कथं त-र्हि छान्दोग्ये २ 'अभिसमावृत्य कुटुम्बे शुची देशे' इत्यारभ्य २ "स स्व-त्वेवं वर्तयन्त्यावदायुषं ब्रह्मलोकं भिसम्पद्यते न च पुनरावर्तते" इति यावदायुषं गार्हस्थ्यधर्मेण स्थितिर्दर्शनमुपपद्यते ; अत आह-

कृत्स्नभावात्त गृहिणोपसंहारः । ३ । ४ । ४७ ॥

तुशब्दश्रोगं व्यावर्तयति ; कृत्स्नभावान्-कृत्स्नेपु भावान्, कृत्स्नेष्वभ्रमेपु विद्यायास्सद्भावान् गृहिणोऽप्यस्तीनि तेनोपसंहारः ; तस्मात्सर्वाभ्रमधर्मप्रदर्शनार्थं गृहिणोपसंहार इत्यभिप्रायः ॥ ४७ ॥

तथैतस्मिन्नपि वाक्ये १ "ब्राह्मणः पुत्रेपण्यायाश्च वित्तेपण्यायाश्च लोकेपण्यायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरति" इति पारिव्राज्यैकान्त-धर्मं प्रतिपाद्य १ "तस्माद्ब्राह्मणः पारिडित्यं निर्विघ्नं" इत्यादिना पारिव्रा-ज्यधर्मस्थितिहेतुकमौनवृतीयसहकारिविधानं प्रदर्शनार्थमित्याह-

मौनवदितरेषामप्युपदेशात् । ३ । ४ । ४८ ॥

सर्वेपणाविनिर्मुक्तस्य भिक्षाचरणपूर्वकमौनोपदेशः सर्वेपामाभ्रम-
धर्माणां प्रदर्शनार्थः; कुतः ? एवं विधमौनोपदेशवदितरेपामाभ्रमिणाम-
पि १ “त्रयो धर्मस्कन्धाः” इत्यारभ्य १ “ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति” इति-
ब्रह्मप्राप्त्युपदेशात् । उपपादितश्च पूर्वमेव ब्रह्मसंस्थशब्दः सर्वाभ्रमिसा-
धारण इति । अतस्सुप्रसूक्तं-यज्ञादिसर्वाभ्रमधर्मवन्मौनतृतीयः पाण्डित्या-
दिविंशासहकारित्वेन निधीयते—इति ॥ ४८ ॥

इति भीशारीरकमीमांसाभाष्ये सहकार्यन्तरविध्यधिकरणम् ॥ १२ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अनाविष्काराधिकरणम् ॥ १३ ॥)

अनाविष्कुर्वन्नन्वयात् । ३ । ४ । ४९ ॥

१ “तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विघ्नं बाल्येन तिष्ठामेत्” इत्यत्र
विदुषा बाल्यमुपादेयतया भुतम् । बालस्य भावः, कर्म वा बाल्यम् । बा-
लभावस्य घटावस्थाविशेषस्यानुपादेयत्वात्कर्मवेद् गृह्यते । तत्र किं बा-
लस्य कर्म कामचारादिकं सर्वं विदुषोपादेयम् ; उत ङम्भादिरहितत्वमे-
वेति विशये विशेषाभावात्सर्वमुपादेयम् ; नियमशास्त्राणि च विशेषवि-
धानाऽनेन बाध्यन्त इति ॥

—(सिद्धान्तः)—

एवं प्राप्तेऽभिधीयते—अनाविष्कुर्वन्निति । बालस्य यत्स्वभावा-
नाविष्काररूपं कर्म; तदुपादयानो यत्तेत विद्वान् । कुतः ? अन्वयान्—
तस्यैवान्वयान् । २ “बाल्येन तिष्ठामेत्” इत्यस्मिन्विधौ तस्यैव ह्यन्वयस-
म्भवः; इतरेषां विद्याविशेषादिव्यवधानान् ३ नाधिरतो दुश्चरितान्नाशा-

न्तो नासमाहितः । नाशान्तमानसो वापि प्रशानेनैनमाप्नुयात्” १ “आ-
हारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः” इत्यादिषु ॥ ४६ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अनाविष्काराधिकरणम् ॥ १३ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये ऐहिकाधिकरणम् ॥ १४ ॥)

—:४:—

ऐहिकमप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात् । ३ । ४ । ५० ॥

द्विविधा विद्या—अभ्युदयफला, मुक्तिफला च । तत्राभ्युदयफ-
ला स्वसाधनभूतैः पुण्यकर्मभिः पुण्यकर्मानन्तरमेव उत्पद्यते, ज्ञानान्तरं
कालान्तरे चेन्ननियम इति संशयः । पूर्वकृतैः पुण्यकर्मभिर्हि विद्वान् जा-
यते; यथोक्तं भगवता २ “चतुर्विधा भजन्ते मां जनास्मुकृतिनोऽर्जुन”
इति । साधने निवृत्ते विलम्बहेत्वभावादनन्तरमेव—

—[सिद्धान्तः]—

इति प्राप्त उच्यते—ऐहिकमप्रस्तुतप्रतिबन्धे—इति । ऐहिकम्—अभ्युद-
यफलमुपासनम्, अप्रस्तुतप्रतिबन्धे—अप्रस्तुतं—प्रयत्नकर्मान्तराप्रतिबन्धे स-
त्यनन्तरम्, प्रतिबन्धे सति तदुत्तरकालमित्यनियमः । कुतः ? तद्दर्श-
नान्—दृश्यते हि प्रयत्नकर्मान्तरेण कर्मफलप्रतिबन्धाभ्युपगमः श्रुतौ ३ “य-
देव विद्याया करोति भद्रयोपनिषदा तदेव धीर्यवत्तरम्” इत्युद्गीथविद्या
युक्तस्य कर्मणः फलाप्रतिबन्धविवरणम् ॥ ५० ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये ऐहिकाधिकरणम् ॥ १४ ॥

[श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये मुक्तिफलाधिकरणम् ॥१५॥]

—*—

एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृतेस्तदवस्था-
वधृतेः । ३ । ४ । ५१ ॥

मुक्तिफलस्याप्युपासनस्य स्वसाधनभूतैरतिशयितकर्मभिरुत्पत्ता-
वेवमेव का. नियमः, तस्यापि पूर्ववत्प्रतिबन्धाभावात्प्रतिबन्धसमाप्तिरूपा-
वस्थावधृतेः—अत्रापि तस्य हेतोस्समानत्वादित्यर्थः ॥

सर्वेभ्यः कर्मभ्यो मुक्तिफलविनासाधनस्य कर्मणः प्रबलत्वात्प्र-
तिबन्धासम्भव इत्यधिकाशङ्का ॥

तत्रापि ब्रह्मविद्वपचाराणां पूर्वकृतानां प्रबलानां सम्भवात्प्रति-
बन्धसम्भव इति परिहारः । द्विरुक्तिरध्यायपरिसमाप्तिं शोतयति ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये मुक्तिफलाधिकरणम् ॥ १५ ॥

—*—

इति श्रीभगवद्रामानुजविरचिते शारीरकमीमांसाभाष्ये

तृतीयस्याध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

समाप्तब्राह्मणः ॥ ३ ॥

—*—

ॐ श्रीमते रामानुजाय नमः ॐ

श्रीमदगवद्रामानुजविरचिते—

श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये

(चतुर्थाध्याये—प्रथमः पादः—आवृत्त्यधिकरणम् ॥ १ ॥)

आवृत्तिरसकृदुपदेशात् । ४ । १ । १ ॥

तृतीयेऽध्याये साधनेस्सह विद्या चिन्तिता । अथेदानीं विद्या-
स्वरूपविशोधनपूर्वकं विद्याफलं चिन्त्यते । तत्र १“ब्रह्मविदानोति प
रम्” २“तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति” ३“ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति”
४“यदा परयः परयते रुक्मवर्णम्” इत्यादि वेदान्तवाक्येषु ब्रह्मप्राप्तिसा-
धनतया विहितं वेदनं किं सकृत्कृतमेव शास्त्रार्थः, उतासकृदावृत्तमिति
संशयः । किं युक्तम् ? सकृत्कृतमिति; १“ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति” इति
वेदनमात्रस्यैव विधानान्, असकृदावृत्तौ प्रमाणाभावात् । नचावधा-
तादिवद्वेदनस्य ब्रह्मापरोक्ष्यं प्रति दृष्टोपायत्वाभावत्कार्यमावृत्तिरिति शक्यं
वक्तुम्, वेदनस्य दृष्टोपायत्वाभावात् । ज्योतिष्टोमादिकर्माणि, वे-
दान्तविहितं च वेदनं परमपुरुषाराधनरूपम्, आराधिताच्च परमपुरुषा-
द्धर्मार्थकाममोक्षाख्यपुरुषार्थावाप्तिरिति हि २“फलमत उपपत्तेः” इत्यत्रः
प्रतिपादितम् । अतो ज्योतिष्टोमादिवद्यथाशब्दं सकृत्कृतमेव शास्त्रार्थः—

—(सिद्धान्तः)—

इति प्राप्ते प्रचक्ष्महे—आवृत्तिरसकृन्—इति । असकृदावृत्तमेव वेदनं

१. श्रु. भाष. १-१ ॥—२. ग्ये. ३-८ ॥—३. सु. २-२-६ ॥—

४. सु. ३-१-३ ॥—५. शारी. ३-२-३७ ॥

शास्त्रार्थः; कुतः ? उपदेशात्—ध्यानोपासनपर्यायेण वेदनशब्देनोपदेशान् । तत्पर्यायत्वं च विशुपास्तिध्यायतोनामेकस्मिन्विषये वेदनोपदेशपरवाक्येषु प्रयोगादवगम्यते । तथाहि १ “मनो ब्रह्मेत्युपासीन् इत्युपासिनोपक्रान्तेऽर्थः २ “भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद” इति विदिनोपसंह्रियते; तथा ३ “यस्तद्वेद यत्स वेद स मयैतदुक्तः” इत्युपक्रमे विदिनांक्तं रैकस्य ज्ञानम् ४ “अनु म एतां भगवो देवतां शाधि यां देवतामुपास्ते” इत्युपासिनोपसंह्रियते; तथा ५ “ब्रह्मविदाप्नोति परम्” इत्यादिवाक्यसमानार्थेषु वाक्येषु ६ “आत्मा वा अरे ब्रह्मव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः” ७ “ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः” इत्यादिषु ध्यायतिना वेदनमभिधीयते; ध्यानं च चिन्तनम्; चिन्तनं च स्मृतिसन्ततिरूपम्; न स्मृतिमात्रम्; उपास्तिरपि तदेकार्थः, एकाग्रचित्तवृत्तिर्नैरन्तर्ये प्रयोगदर्शनात्; तदुभयैकार्थ्यान् असकृदावृत्तसन्ततस्मृतिरिह ८ “ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति” ९ “ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपापैः” इत्यादिषु वेदनादिशब्दैरभिधीयते इति निश्चीयते ॥ १ ॥

लिङ्गाच्च । ४ । १ । २ ॥

लिङ्गं—स्मृतिः । स्मृतेऽध्यायमर्थोऽवगम्यते । स्मर्यते हि मोक्षसाधनभूतं वेदनं स्मृतिसन्ततिरूपं १ “तद्रूपप्रत्यये चैका सन्ततिश्चान्यनिस्मृता । तद्व्यानं प्रथमैष्यद्भिर्गङ्गा निष्पाद्यते तथा” इति तस्मादसकृदावृत्तमेव वेदनं शास्त्रार्थः ॥ २ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये आयुष्यधिकरणम् ॥ १ ॥

१. ङा. ३-१८-१ ॥ २. ङा. ३-१८-३. ४, २, ३ ॥ ३. ङा. ४-१-४ ॥

४. ङा. ४-२-२ ॥ ५. तै. आन. १-१ ॥ ६. मृ. ४-४-२ ॥ ७. मु. ३-३-८ ॥

८. मु. ३-२-४ ॥ ९. श्वे. १-८ ॥ १०. यिष्णु. १-७-२१ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये आत्मत्वोपासनाधिकरणम् ॥२॥)



आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च । ४ । १ । ३ ॥

इदमिदानीं चिन्त्यते—किमुपास्यं ब्रह्मोपासितुरन्यत्वेनोपास्यम्,
उतोपासितुरात्मत्वेन—इति । किं युक्तम् ?; अन्यत्वेनेति । कुतः ? उपा-
सितुः प्रत्यगात्मानोऽर्थान्तरत्वात् ब्रह्मणः । अर्थान्तरत्वं च ? “अधिकं
तु भेदनिर्देशात्” २ “अधिकोपदेशात्” ३ “नेतरोऽनुपपत्तेः” इत्यादिपू-
पादितम् । यथावस्थितं च ब्रह्मोपास्यम् ; अथोपासने हि ब्रह्मप्राप्ति-
रप्ययथाभूता स्यात्—४ यथाकतुरश्मिन् लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रे-
त्य भवति” इति न्यायान् । अतोऽन्यत्वेनोपास्यमिति ॥

—[सिद्धान्तः]—

एवं प्राप्तोऽभिधीयते—आत्मेति तु—इति । तुशब्दोऽवधारणे; उ-
पासितुरात्मत्वेयोपास्यम्, उपासिता प्रत्यगात्मा स्वशरीरस्य स्वयं यथा
आत्मा; तथा स्वात्मनोऽपि परं ब्रह्मात्मत्वेयोपासीतित्यर्थः । कुतः ? एवं
तूपगच्छन्ति पूर्वं उपासितारः ५ “त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते अहं
वै त्यमसि” इति । उपासितुरर्थान्तरभूतं ब्रह्मोपासितारोऽहमिति कथम-
भ्युपगच्छन्तीत्यत्राह—ग्राहयन्ति च—इति । इममर्थमविरुद्धमुपासितृन् ग्राह-
यन्ति शास्त्राणि—तान् प्रत्युपपादयन्तीत्यर्थः । ६ “य आत्मनि तिष्ठन्ना-
त्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्याऽत्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यम-
यति स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः” इति; तथा ७ सन्मूलास्तोम्येमास्त-
र्वाः प्रजास्तदायतनास्तत्प्रतिष्ठाः ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्” ८ “सर्वं खल्विदं

१. शारी. २-१-२२ ॥ २. शारी. ३-४-८ ॥ ३. शारी. १-१-१७ ॥

४. छा. ३-१४-१ ॥ ५. ॥ ६. बृ. २-७-२२. माध्यन्दिनशाखा ॥ ७. छा.
१-८-४ ॥ ८. छा. ३-१४-१ ॥

ब्रह्म तज्जलानिति" इति च सर्वस्य चिदचिद्वस्तुनस्तज्जत्वात्तज्जत्वात्तदन-
त्वात्तन्नियाम्यत्वात्तच्छरीरत्वाच्च सर्वस्यायमात्मा; अतस्स त आत्मा; अ-
तो यथा प्रत्यगात्मनस्स्वशरीरं प्रत्यात्मत्वात् 'देवोऽहं मनुष्योऽहम्' इत्यनु-
सन्धानम्; तथा प्रत्यगात्मनोऽप्यात्मत्वात्परमात्मनस्तस्याप्यहमित्येवानु-
सन्धानं युक्तमिति । एवं शास्त्रैरुपपादितं सर्वबुद्धीनां ब्रह्मैकनिष्ठत्वेन
सर्वशब्दानां ब्रह्मैकनिष्ठत्वमभ्युपगच्छन्तः १ "त्वं वा अहमस्मि भगवो
देवते अहं वै त्वमसि भगवो देवते" इति व्यतिकरेणोक्तवन्तः । एवं च
२ "अथ योऽन्यां देवतामुपास्ते अन्योऽसाधन्योऽहमस्मीति न स वेद"
३ "अकृत्स्नो ह्येव आत्मेत्येवोपासीत्" ४ "सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्राऽत्मन-
स्सर्वं वेद" इत्यात्मत्वानुसन्धाननिषेधः, ५ "पृथगात्मानं प्रेरितार च
मत्वा" इति पृथक्त्वानुसन्धानविधानं चाविरुद्धम्; अहमिति स्वात्मत-
याऽनुसन्धानादन्यत्त्वानुसन्धाननिषेधो रक्षितः; स्वशरीरात्स्वात्मनोऽ-
धिकत्वानुसन्धानवत्स्वात्मनोऽपि परमात्मनोऽधिकत्वानुसन्धानात्पृथ-
क्त्वानुसन्धानविधानं च रक्षितम् । अधिकस्य ब्रह्मणः प्रत्यगात्मन आ-
त्मत्वात्तस्य च ब्रह्मशरीरत्वान्निषेधवाक्ये ३ "अकृत्स्नो ह्येवः" इत्युक्तम् ।
अत उपासितुरात्मत्वेन ब्रह्मोपास्यमिति स्थितम् ॥ ३ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये आत्मत्वोपासनाधिकरणम् ॥ २ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये प्रतीकाधिकरणम् ॥ ३ ॥)

—: X :—

न प्रतीके न हि सः ४ । १ । ४ ॥

६ "मनो ब्रह्मेत्युपासीत" ७ "स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते" इत्या-
दिप्रतीकोपासनेष्वप्यात्मत्वानुसन्धानं कार्यम्, उत न-इति चिन्तायां
६ "मनो ब्रह्मेत्युपासीत" इति ब्रह्मोपासनत्यसाम्याद्ब्रह्मणोपासितुरा-
त्मत्वादात्मैत्येवोपासीतेति ।

१. ॥ २. गृ. ३-४-१० ॥ ३. ॥ ४. गृ. ६-२-७ ॥ ५. स्व. १-६ ॥

६. छा. ३-१८-१ ॥ ७. छा. ७-१-२ ॥

—(सिद्धान्तः)—

एवं प्राप्तेऽभिधीयते—न प्रतीके—इति । प्रतीके नात्मत्वानुसन्धानं कार्यम्; न हि सा—ननुपासितुरात्मा प्रतीकः । प्रतीकोपासनेषु प्रतीक एवोपास्यः; न ब्रह्म । ब्रह्म तु तत्र दृष्टिबिरोधमात्रम् । प्रतीकोपासनं हि नाम अत्रब्रह्मणि ब्रह्मदृष्ट्याऽनुसन्धानम्; तत्रोपास्यस्य प्रतीकस्योपासितुरात्मत्वाभावात् तथाऽनुसन्धेयम् ॥ ४ ॥

नन्वत्रापि ब्रह्मैवोपास्यम्; ब्रह्मण उपास्यत्वसम्भवे मनआदीनामचेतनानामल्पराक्षीनां चोपास्यत्वाभयणस्यान्यान्यत्वात् । अतो मनआदिदृष्ट्या ब्रह्मैवोपास्यमिति; अत आह—

ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् । ४ । १ । ५ ॥

मनआदिषु ब्रह्मदृष्टिरेव युक्ता; न ब्रह्मणि मनआदिदृष्टिः, ब्रह्मणो मनआदिभ्य उत्कर्षात्; तेषां च विपर्ययात् । उत्कृष्टे हि राजनिभृत्यदृष्टिः प्रत्यवायकरी; भृत्ये तु राजदृष्टिरभ्युदयाय ॥ ५ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये प्रतीकाधिकरणम् ॥ ३ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये आदित्यादिमत्यधिकरणम् ॥)

आदित्यादिमत्यश्चाङ्ग उपपत्तेः । ४ । १ । ६ ।

१ 'य एवासौ तपति तमुद्गीथमुपासीत' इत्यादिषु कर्माङ्गाभ्येषु पासनेषु संशयः—किमुद्गीथादौ कर्माङ्गे आदित्यादिदृष्टिः कर्तव्या, उतादित्यादिषूद्गीथादिदृष्टिः—इति । उत्कृष्टदृष्टिर्निरुद्धे कर्तव्येति न्यायात्, उद्गीथादीनां च फलसाधनभूतकर्माङ्गत्वेनाफलेभ्य आदित्यादिभ्यः उत्कृष्टत्वादादित्यादिषूद्गीथादिदृष्टिः—

—(सिद्धान्तः)—

इति प्राप्तेऽभिधीयते—आदित्यादिमतयश्चाङ्गे—इति । चशब्दोऽवधारणे; क्रत्वङ्गे उद्गीथादावादित्यादिष्टय एव कार्याः; कुतः ? उपपत्तेः—आदित्यादीनामेवोत्कृष्टत्वोपपत्तेः; आदित्यादिदेवसाराधनद्वारेण हि कर्मणामपि फलसाधनत्वम्; अतस्तद्वष्टिरुद्गीथाङ्गङ्गे ॥ ६ ॥

इतिश्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये आदित्यादिमत्यधिकरणम् ॥ ४ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये आसीनाधिकरणम् ॥ ५ ॥)

आसीनस्सम्भवात् ! ४ । १ । ७ ।

मोक्षसाधनतया वेदान्तशास्त्रैर्विहितं ज्ञानं ध्यानोपासनादिराद्य बाध्यमसकृदावृत्तं सन्ततस्मृतिरूपमित्युक्तम् । तदनुतिष्ठमासीनशरयानस्तिष्ठन् गच्छंश्च विशेषाभावादनियमेनानुतिष्ठेत्—

—(सिद्धान्तः)—

इति प्राप्त उच्यते—आसीनः—इति । आसीन उपासनमनुतिष्ठेत् ; कुतः ? सम्भवात्—आसीनस्यैव ह्येकामचित्ततासम्भवः; स्थितिगत्योः प्रयत्नसापेक्षत्वात्, शयने च निद्रासम्भवात् । पश्चार्धधारणप्रयत्ननिवृत्तये सापाभये आसीनः कुर्यान् ॥ ७ ॥

ध्यानाच्च । ४ । १ । ८ ॥

१“निदिध्यासितव्यः” इति ध्यानरूपत्वादुपासनस्य, एकामचित्तताऽवश्यमाविनी । ध्यानं हि विजातीयप्रत्ययान्तराव्यवहितमेकचित्तनमित्युक्तम् ॥ ८ ॥

अचलत्वं चापेक्ष्य । ४ । १ । ९ ॥

१ निश्चलत्वं चापेक्ष्य पृथिव्यन्तरिक्षादिषु ध्यानवाचोयुक्तिर्दृश्यते
२“ध्यायतीव पृथिवी, ध्यायतीवान्तरिक्षं, ध्यायतीव शौः, ध्यायन्तीवापो,
ध्यायन्तीव पर्वताः” इति । अतः पृथिवीपर्वतादियदेकाग्रचित्ततया
निश्चलत्वमुपासकस्यासीनस्यैव सम्भवेत् ॥ ६ ॥

स्मरन्ति च । ४ । १ । १० ॥

स्मरन्ति चासीनस्यैव ध्यानं ३“शुची देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमा-
सनमात्मनः । नात्युभिर्भुतं नातिनीचं चेलाजिनकुशोत्तरम् । तत्रैकाग्रं
मनः कृत्वा यतचित्तोन्मिषक्रियः । उपविश्याऽसने युञ्ज्यायोगमात्मविशु-
द्धये” इति ॥ १० ॥

यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् । ४ । १ । ११ ॥

एकाग्रतातिरिक्तदेशकालविशेषाभ्रवणादेकाग्रतानुकूलो यो देशः
कालश्च, स एवोपासनस्थ देशः कालश्च । ४“समे शुची शर्करावद्वि-
वालुकाविबर्जिते” इति वचनमेकाग्रतैकान्तदेशमाह; न तु देशं निय-
च्छति. ४“मनोऽनुकूले” इति वाक्यशेषान् ॥ ११ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये आसीनाधिकरणम् ॥ ५ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये आप्रयाणाधिकरणम् ॥ ६ ॥)

आप्रयाणात्तत्रापि हि दृष्टम् । ४ । १ । १२ ॥

तद्विद्वन्मपवर्गसाधनमुत्कृष्टं मुपासनमेकाग्र एव संपाद्यम्, उता-
प्रयाणात्प्रत्यहमनुवर्तनीयमिति विशये—एकस्मिन्नेवाहनि शास्त्रार्थस्य कृत-
त्वात्तावतैव परिसमापनीयम्—

—(सिद्धान्तः)—

इति प्राप्त उच्यते-आप्रयाणात्—इति । आमरणादनुवर्तनीयम् ;
कुतः ? तत्रापि हि दृष्टम्-उपासनोद्योगप्रभृत्याप्रयाणान्मध्ये यः कालः,
तत्र सर्वत्रापि दृष्टमुपासनं १ “स खल्वेवं वर्तयन्वावशायुषं ब्रह्मलोकम-
भिसम्पद्यते” इति ॥ १२ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये आप्रयाणाधिकरणम् ॥ ६ ॥

श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये तदधिगमाधिकरणम् ॥ ७ ॥

तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशो तद्व्यप-
देशात् । ४ । १ । १३ ॥

एवं विद्यास्वरूपं विशोध्य विद्याफलं चिन्तयितुमारभते; ब्रह्म-
विद्याप्राप्ती पुरुषस्योत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ भूयेते १ “तद्यथा पुष्कर-
पलाश आपो न क्षिप्यन्ते एवमेवंविदि पापं कर्म न क्षिप्यते” २ “त-
स्यैवाऽऽत्मा पदविशं विदित्वा न कर्मणा लिप्यते पापकेन” इत्युत्तराधा-
श्लेषः ४ “तद्यथेपीकतूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूय-
न्ते” ५ “क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे” इति पूर्वाघवि-
नाशः । एतावदश्लेषविनाशौ विद्याफलभूतावुपपद्येते, नेति संशयः । किं
युक्तम् ? नोपपद्येते इति । कुतः ? ६ “नामुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिश-
तैरपि” इत्यादिशास्त्रविरोधान् । अश्लेषविनाशव्यपदेशस्तु मोक्षसाधन-
भूतविद्याविधायिवाक्यशेषगतः कथञ्चिद्विद्यास्तुतिप्रतिपादनेनाप्युपपद्य-
ते । न च विद्या पूर्वोत्तराघयोः प्रायश्चित्ततया विधीयते; येन प्रायश्चि-

ने. ब्रा. ३।१२।-४

१. छा. ८-१५-१ ॥—२. छा. ४-१५-३ ॥—३. ॥—४. छा. २-२४-३ ॥

—५. मु. २-२ ८ ॥—६. ब्रह्मवैवर्ते. प्रकृतिसप्तके, २१-म, ७०-श्लो ॥—

तेनापविनाश उच्यते । विद्या हि १“ब्रह्मविदाप्नोति परम्” २“ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति ” इति ब्रह्मप्राप्त्युपायतया विधीयते । अतो विद्यार्थ-
वानोऽयमपविनाशश्लेषव्यपदेश इति ॥

—(सिद्धान्तः)—

एवं प्राप्तेऽभिधीयते-तदधिगमे-इति । विद्याप्राप्तो पुरुषस्य वि-
द्यामाहात्म्यादुत्तरपूर्यापयोरश्लेषविनाशावुपपद्यते ; कुतः एवंविधं हि
विद्यामाहात्म्यमवगम्यते १“ एवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते ” ४“ एवं
हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते ” इत्यादिव्यपदेशात् । न च ५“नाशुक्तं
क्षीयते कर्म” इत्यनेन शास्त्रेणास्य विरोधः, भिन्नविषयत्वात् । तद्वि क-
र्मणां फलजननसामर्थ्यद्रष्टुमविषयम् ; एतत्तूत्पन्नाया विद्यायाः प्राक्कृ-
तानां पाप्मानां फलजननशक्तिविनाशसामर्थ्यमुत्पत्त्यमानानां च फल-
जननशक्त्युत्पत्तिप्रतिबन्धकरणसामर्थ्यं च प्रतिपादयतीति द्वयोर्विषयो
भिद्यते । यथा अग्निजलयोरौष्ण्यतन्त्रियारणसामर्थ्यविषययोर्द्वयोः प्रमा-
णयोरपि विषयभेदात्प्रामाण्यम् ; एवमत्रापीति न कश्चिद्विरोधः । अ-
थस्याश्लेषकरणं-वैदिककर्मायोग्यतावासनाप्रत्यवायहेतुशक्त्युत्पत्तिप्रति-
बन्धकरणम् । अधानि हि कृतानि पुरुषस्य वैदिककर्मायोग्यतां, स-
जातीयकर्मान्तरारम्भरुचिं, प्रत्यवायं च कुर्वन्ति । अधस्य विनाशक-
रणम्-उत्पन्नायास्तच्छक्तेर्विनाशकरणम् । शक्तिरपि परमपुरुषाप्रतीतिरेव ।
तदेवं विद्या वेदितुर्वैद्यात्यर्थप्रियत्वेन स्वयमपि निरतिशयप्रिया सती
वेशभूतपरमपुरुषाराधनस्वरूपा पूर्वकृतपसञ्चयजनितपरमपुरुषाप्रतीतिवि-
नाशयति ; सैव विद्या स्योत्पत्त्युत्तरकालभाव्यघनिभित्तपरमपुरुषाप्रतीत्यु-
त्पत्तिं च प्रतिबध्नाति । तदिदमश्लेषवचनं प्रामादिकविषयं मन्तव्यम् ;

१. तै. आम. १-१॥—२. मु. ३-२-६ ॥—३. बृ. ४-१० ३ ॥—४. पृ.

४-२४-३ ॥—५. महावैवर्ते, प्रकृतिलक्षणे, २१-७० ॥

१“नाविरतो दुश्चरितान्” इत्यादिभिश्चास्त्रैराप्रयाणादहरपरूपपद्यमानाया
उत्तरोत्तरातिशयभागिन्याः विद्यायाः दुश्चरितविरतिनिष्पाद्यत्वावगमात् ॥
इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये तदधिगमाधिकरणम् ॥ ७ ॥

श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये इतराधिकरणम् ॥ ८ ॥

इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु । ४ । १ । १४ ॥

उत्तरपूर्याधयोर्विगया अश्लेषविनाशाबुक्तौ ; इतरस्य-पुण्यस्यापि.
पण्यम्-उक्तेन न्यायेनाश्लेषविनाशौ विगया स्याताम्, विगाफलविरोधि-
त्यसामान्याद्व्यपदेशाच्च । भवति च व्यपदेशः-उभे सुकृतदुष्कृते निर्दि-
श्य २“सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्ते” इति, ३“तत्सुकृतदुष्कृते धूनुते”
इतिच । मुमुक्षोरतिष्ठफलत्वात्सुकृतस्यापि पाप्मशब्देन व्यपदेशः । सुकृ-
तस्यापि शास्त्रीयत्वात्फलस्य केषांचिद्विष्टत्वदर्शनाच्च विद्याया अविरो-
धशङ्कां निवर्तयितुमतिदेशः । ननु विदुषोऽपि सेतिकर्तव्यताकोपासननिवृ-
त्तये वृष्ट्यन्नादिकत्तानीष्टान्येव ; कथं तेषां विरोधाद्विनाश उच्यते ; तत्राह
-पाते तु-इति । शरीरपाते तु तेषां विनाशः ; शरीरपातादूर्ध्वं तु विद्यानु-
गुणवृष्टफलानि सुकृतानि नश्यन्तांश्चर्यः ॥ १४ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये इतराधिकरणम् ॥ ८ ॥

श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अनारब्धकार्याधिकरणम् ॥ ३ ॥

अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः । ४ । १ । १५ ॥

ब्रह्मविद्योत्पत्तेः पूर्वोत्तरभाषिनोऽस्मुकृतदुष्कृतयोर श्लेषविनाशाबुक्तौ ;

ततः पूर्वभाविनोः सुकृतदुष्कृतयोः किमविशेषेण विनाशः, उता-
नारब्धकार्ययोरेवेति विशये १ 'सर्वे पाप्मानः प्रवृन्ते' इति विनाश-
स्वाविशेषभ्रवणाद्विगत्युत्तरकालभाविन्याश्च शरीरस्थितेः कुलालप-
क्रममणादिवत्संस्कारवशादप्युपपत्तोरविशेषेण—

—(सिद्धान्तः)—

इतिप्राप्ते उच्यते—अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे—इति विगत्युत्तरोः
पूर्वे सुकृतदुष्कृते अनारब्धकार्ये—अप्रयुक्तफले एव विगया विनश्यतः ;
कृतः ? तद्वधेः—२ "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोदये अथ सम्पत्स्ये"
इति शरीरपातविलम्बावधिभूतेः । न च पुण्यापुण्यकर्मजन्यभगवत्प्रोत्थ-
प्रीतिव्यतिरेकेण शरीरस्थितिहेतुभूतसंस्कारसद्भावे प्रमाणमस्ति ॥ १५ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अनारब्धकार्याधिकरणम् ॥ ६ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अग्निहोत्राद्यधिकरणम् ॥)

अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात् । ४।१।१६

'इतरस्याप्येवमसंश्लेषः' इति विगायलात्सुकृतस्याप्यसंश्लेष उक्तः,
अग्निहोत्रादीनां नित्यनैमित्तिकानां स्वाभ्रमधर्माणामपि सुकृतत्वसामा-
न्येन तत्फलस्याश्लेषादनिच्छतोऽननुष्ठाने प्राप्ति उच्यते—

—[सिद्धान्तः]—

अग्निहोत्रादि तु—इति । तुशब्दस्सुकृतान्तरेभ्यो विशेषणार्थः; अ-
ग्निहोत्राद्याभ्रमधर्माः फलाश्लेषासम्भवादनुष्ठेया एव ; तदसम्भवाच्च त-
त्कार्यार्थत्वात्तत्त्वम् ; विगायत्यकार्यायैव हि विदुषोऽग्निहोत्रागनुष्ठानम् ;
कथमिदमवगम्यते ? तद्दर्शनात् ; दृश्यते हि ३ "तमेतं वेदानुवचनेन प्राप्त-

णा विविदिपन्ति यज्ञेन दाणेन तपसाऽनाशकेन" इत्यादिनाऽग्निहोत्रादीनां विद्यासाधनत्वम् । विद्यायाश्चाप्रयाणादभ्यासाधेयातिशयाया अहरहरुत्पाद्यत्वात्तदुत्पत्त्यर्थमाश्रमकर्माप्यहरहरनुष्ठेयमेव; अन्यथाऽऽश्रमकर्मलोपे दूषितान्तःकरणस्य विद्योत्पत्तिरेव न स्यात् ॥ १६ ॥

यदि अग्निहोत्रादिसाधुकृत्या विद्योत्पत्त्यर्थाः, विद्योत्पत्तौः प्राचीनं च सुकृतं १ "यावत्सम्पातमुपित्वा" २ "प्राप्यान्तं कर्मणः" इत्यनुभवेन विनष्टम्; मुक्तशिष्टं च प्रारब्धफलम्; ३ "सुहृदस्साधुकृत्याम्" इत्यस्य को विषयः ? तत्राह—

अतोऽन्यापि ह्येकेषामुभयोः । ४ । १ । १७ ॥

अतः—अग्निहोत्रादिसाधुकृत्यायाः विद्योत्पत्त्यर्थायाः अन्यापि विद्याधिगमात्पूर्वोत्तरयोरुभयोरपि पुण्यकर्मणोः प्रबलकर्मप्रतिबद्धफला साधुकृत्याऽनन्ता सम्भवत्येव; तद्विषयमिदमेकेषां शास्त्रिणां वचनं ३ "सस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदस्साधुकृत्याम्" इति । विद्ययाऽरलोपविनाशभूतिश्च तद्विषया ॥ १७ ॥

अनुष्ठितस्यापि कर्मणः फलप्रतिबन्धसम्भवं पूर्वोक्तं स्मारयति—

यदेव विद्ययेति हि । ४ । १ । १८ ॥

४ "यदेव विद्यया करोति...तदेव धीर्यवत्तरम्" इत्युद्गीथविद्यायाः क्रतुफलाप्रतिबन्धफलत्ववचनेनानुष्ठितस्यापि कर्मणः फलप्रतिबन्धस्सूच्यते हि । अतो विदुषोऽनुष्ठितप्रतिबद्धफलविषयं ३ "सुहृदस्साधुकृत्याम्" इति शाटपायनकम् ॥ १८ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अग्निहोत्राद्यधिकरणम् ॥ १० ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये इतरक्षपणाधिकरणम् ॥)

भोगेन त्वितरे क्षपयित्वाऽथ संपद्यते । ४।१।१९॥

ययोः पुण्यपापयोरस्लेपविनाशावुक्तौ, ताभ्यामितरे आरब्धकार्यं पुण्यपापे किं विनाशोनिशरीरावसानं. उत तच्छरीरावसाने शरीरान्त-
रावसाने वेत्यनियम इति संशये १“तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये”
इति तच्छरीरविमोक्षावसानत्वभ्रवणात्तदवसाने—

—(सिद्धान्तः)—

इति प्राप्त उच्यते—भोगेन तु-उनि । तुशब्दः पक्षव्यापृत्त्यर्थः; इतरे
आरब्धकार्यं पुण्यपापे स्वारब्धफलभोगेन क्षपयित्वा तत्फलभोगसमा-
प्त्यनन्तरं ब्रह्म सम्पद्यते; ते च पुण्यपापे मक्षशीरोपभोग्यफले चेत्-
तच्छरीरावसाने सम्पद्यते; अनेकशरीरभोग्यफले चेत्-तदवसाने सम्प-
द्यते, भोगेनैव क्षपयितव्यत्वादारब्धफलयोः कर्मणोः । १“तस्य तावदेव
चिरं यावन्न विमोक्ष्ये” इति च भोगेन तयोः कर्मणोः विमोक्ष उच्यते,
वेद्यायिनियमाभयणान् । तदेवं ब्रह्मविनायाः प्रागनुष्ठितमभुक्तफलमना-
रब्धफलं पुण्यपापरूपं कर्मानादिकालसंचितमनन्तं विनामाहात्म्याद्वित-
श्यति; विनाशोत्तरकालमनुष्ठितं च न श्लिष्यति; तत्र पुण्यरूपं सर्वं
विदुषस्सुहृदो गृह्णन्ति, पापं च द्विपन्त इति निरवगमम् ॥ १६ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये इतरक्षपणाधिकरणम् ॥ ११ ॥

इति श्रीभगवद्भामानुजविरचिते शारीरकमीमांसाभाष्ये

चतुर्थस्याध्यायस्य प्रथमः पादः ॥ १ ॥

—❦—

ॐ श्रीमते रामानुजाय नमः ॐ

श्रीभगवद्रामानुजविरचिते-

श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये

(चतुर्थाध्याये - द्वितीयः पादः - वागधिकरणम् ॥१॥)

वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च । ४ । २ । १ ॥

इदानीं विदुषो गतिप्रकारं चिन्तयितुमारभते । प्रथमं तावदुक्ता-
न्तिश्चिन्त्यते । तत्रेदमाम्नायते १ “अस्य सौम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि
सम्पद्यते मनः प्राणो प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम्” इति । अत्र
“वाङ्मनसि सम्पद्यते” इति वाचो मनसि सम्पत्तिभूतिः किं वाग्युत्ति-
मात्रविषया, उत वाग्विषयेति प्रशये; युत्तिमात्रविषयेति युक्तम् । कुतः ?
मनसो वाक्प्रकृतित्वाभावात्तत्र वाक्स्वरूपसम्पत्त्यसम्भवात् । वागादि-
युत्तीनां मनोऽधीनत्वेन युत्तिसम्पत्तिभूतिः कथंचिदुपपद्यत इति ॥

एवं प्राप्तेऽभिधीयते वाङ्मनसि-इति । वाक्स्वरूपमेव मनसि सम्प-
द्यते । कुतः ? दर्शनात्-दृश्यते हि वागिन्द्रिय उपरतेऽपि मनः प्रयुत्तिः ।
युत्तिमात्रसम्पत्त्यापि तदुपपद्यत इति चेन्-सत्राह-शब्दाद्येति । १ “वाङ्म-
नसि सम्पद्यते” इति वाक्स्वरूपसम्पत्तावेव हि शब्दः न युत्तिमात्रसम्पत्तौ ।
नहि तदानीं वृत्त्युपरमे वागिन्द्रियं प्रमाणात्तरेणोपलभ्यते; येन युत्तिमा-
त्रमेव सम्पद्यत इत्युच्येत । यदुक्तं मनसो वाक्प्रकृतित्वाभावाद्वाचो मन-
सि सम्पत्तिर्नोपपद्यत इति; तत् १ “वाङ्मनसि सम्पद्यते” इति वचना-
न्मनसा वाक्संयुज्यते; नतु तत्र लीयत इति परिहर्तव्यम् ॥ १ ॥

अत एव सर्वाण्यनु । ४ । २ । २ ॥

यतो वाचो मनसा संयोगमात्रं सम्पत्तिः; न तु क्षयः; अत एव वाचमनु सर्वेषामिन्द्रियाणां मनसि सम्पत्तिभूतिरुपपद्यते, १ "तस्मादुप-
शान्ततेजा अपुनर्भवमिन्द्रियैर्भनसि सम्पद्यमानैः" इति ॥ २ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये वागधिकरणम् ॥ १ ॥

—(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये मनोधिकरणम् ॥ २ ॥)—

तन्मनः प्राण उत्तरात् । ४ । २ । ३ ॥

तत्-सर्वेन्द्रियसंयुक्तं मनः प्राणैः सम्पद्यते-प्राणैर्न संयुज्यते; न म-
नोयृत्तिमात्रम् । कुतः ? उत्तरात्—२ "मनः प्राणैः" इति वाक्यात् ।

अधिकाशङ्का तु—३ "अन्नमयं हि सोम्य मनः" इति वचनान्मनसोऽ-
न्नप्रकृतित्वमवगम्यते; अन्नस्य च ४ "ता अन्नमसृजन्त" इत्यन्नमयत्वं सि-
द्धम्, ४ "आपोमयः प्राणः" इति चाप्रकृतित्वं प्राणस्यावगम्यते, अतो
मनः प्राणैः सम्पद्यत इत्यत्र प्राणशब्देन प्राणप्रकृतिभूता अपो निर्दिश्य
तासु मनस्सम्पत्तिप्रतिपादने परम्परया स्वकारणे क्षय इति सम्पत्तिवच-
नमुपपन्नं भवति-इति ॥

परिहारस्तु ४ "अन्नमयं हि सोम्य मनः, आपोमयः प्राणः" इति
मनः प्राणयोरन्नेनाग्निआप्यायनमुच्यते; न तत्प्रकृतित्वम्, 'आहङ्कारिक-
त्वान्मनसः, आकाशविकारत्वाच्च प्राणस्य ।' प्राणशब्देनापां लक्षणा च
स्यात्-इति ॥ ३ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये मनोधिकरणम् ॥ २ ॥

—(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अध्यक्षाधिकरणम् ॥ ३ ॥)—

सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः । ४ । २ । ४ ॥

यथा १ “वाङ्मनसि सम्पद्यते, मनः प्राणो” इति वचनानुरोधेन मनः प्राणयोरेव वाङ्मनसयोस्सम्पत्तिः; तथा २ “प्राणस्तेजसि” इति वचना-
त्तेजस्येव प्राणस्सम्पद्यते—

—[सिद्धान्तः]—

इति ग्राम उच्यते—सोऽध्यक्षे—इति । सः प्राणः, अध्यक्षे करणाधिपे जीवे सम्पद्यते । कुतः? तदुपगमादिभ्यः—प्राणस्य जीवोपगमस्तावच्छ्रूयते ३ ‘एवमेवेममात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायन्ति’ इति; तथा जीवेन सह प्राणस्योत्क्रान्तिः भूयते ४ ‘तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति’ इति; प्रतिष्ठा च जीवेन सह भूयते ५ ‘कस्मिन्नुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामि’ इति । एवं जीवेन संयुज्य तेन सह तेजस्सम्पत्तिरिह ६ “प्राणस्तेजसि” इत्युच्यते; यथा यमुनायाः गङ्गायां संयुज्य सागरगमनेऽपि ‘यमुना सागरं गच्छति’ इति वचो न विरुध्यते, तद्वत् ॥ ४ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अध्यक्षाधिकरणम् ॥ ३ ॥

—(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये भूताधिकरणम् ॥ ४ ॥)—

भूतेषु तच्छ्रुतेः । ४ । २ । ५ ॥

६ “प्राणस्तेजसि” इति जीवसंयुक्तस्य प्राणस्य तेजसि सम्पत्तिरुक्तः,

सा सम्पत्तिः किं तेजोमात्रे, उत संहतेषु सर्वेषु भूतेष्विति विशये
तेजोमात्रभ्रवणात्तेजसि—

—(सिद्धान्तः)—

इति प्राप्त उच्यते—भूतेषु-इति । भूतेषु-सम्पद्यते । कुतः ? तच्छ्रुतेः
१“पृथिवीमय आपोमयः...तेजोमयः” इति जीवस्य सञ्चरतस्सर्वभूतमय-
त्वश्रुतेः ॥ ५ ॥

ननु तेजःप्रभृतिष्वेकैकस्मिन् क्रमेण सम्पत्तावपि १“पृथिवीमयः”
इत्यादिका भुतिरुपपद्यते, अत आह—

नैकस्मिन् दर्शयतो हि । ४ । २ । ६ ॥

नैकस्मिन्, एकैकस्य कार्याक्षमत्वात् । दर्शयतो ह्यक्षमत्वं भुति-
स्मृती २“अनेन जीवेनाऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि तासां
त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि” इति नामरूपव्याकरणयोग्यत्वाय त्रिवृ-
त्करणमुपदिश्यते । ३“नानाधीर्याः पृथग्भूताः ततस्ते संहतिं विना । नाश-
कुचवन् प्रजारम्भण्डुमसमागम्य कृत्वाः । समेत्यान्योन्यसंयोगं परस्पर-
समाभयाः । महदाया विशेषान्ता ह्यण्डमुत्पादयन्ति ते” इति । अतः
४“प्राणस्तेजसि” इति तेजशब्देन भूतान्तरसंसृष्टमेव तेजोऽभिधीयते ।
अतो भूतेष्वेव सम्पत्तिः ॥ ६ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये भूताधिकरणम् ॥ ४ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये आसृत्युपक्रमाधिकरणम् ॥)

समाना चासृत्युपक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य । ४ । २ । ७ ॥

इयमुक्तान्तिः किं विद्वद्विदुषोस्समाना, उतायिदुष एवेति चि-

१. प. १-४ ५ ॥—२. पां १-३-२, ३ ॥—३. विष्णु. १-अ. २-घ.

२२ २३ ॥—४. पा. १-अ ६ ॥

न्तायाम्, अविदुष एवेति प्राप्तम् । कुतः ? विदुषोऽत्रैवामृतत्ववचना-
दुत्क्रान्त्यभावात् । विदुषो ह्यत्रैवामृतत्वं भाव्यते-१ 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते
कामा येऽस्य हृदि स्थिताः । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समरनुते"
इति ॥

—(सिद्धान्तः)—

एवं प्राप्तेऽभिधीयते—समानाचाऽस्त्युपक्रमात्—इति । विदुषोऽ-
प्यास्त्युपक्रमादुत्क्रान्तिस्समाना । आस्त्युपक्रमात्—आगत्युपक्रमात्,
नाडीप्रवेशात्प्रागित्यर्थः । विदुषोऽपि हि नाडीविशेषेणोत्क्रम्य गतिः
भूयते—२“शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धनिमभिनिस्सृतैका ।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति” इति । एवं
नाडीविशेषेण गतिभ्रष्टाद्विदुषोऽप्युत्क्रान्तिरवर्जनीया । सा च नाडीप्रवे-
शात्प्राग्विशेषाभ्रष्टात्समाना । तत्प्रवेशदशाया च विशेषः भूयते ३“तेन
प्रद्योतेनैव आत्मा निष्कामति चक्षुषो वा मूर्ध्ना वा अन्येभ्यो वा शरीर-
देशेभ्य इति । ४“शतं चैका च हृदयस्य” इत्यनया भुक्त्याध्यान्मूर्ध्ना
निष्क्रमणं विद्वद्विषयम् ; इतरद्विद्वद्विषयम् । यदुक्तं—विदुषोऽत्रैवामृ-
तत्वं भाव्यते—इति; तत्रोच्यते—अमृतत्वं चानुपोष्य—इति । चराचरोऽवधार-
णम् । अनुपोष्य—शरीरेन्द्रियादिसम्यन्धमदग्धैव, यदमृतत्वम्—उत्तरपू-
र्वाचयोरश्लेषविनाशरूपं प्राप्यते; तदुच्यते ५“यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते”
इत्यादिकया भुक्त्येत्यर्थः । ६“अत्र ब्रह्म समरनुते” इति च उपासनवेत्तायां
यो ब्रह्मानुभवः; तद्विषयमित्यभिप्रायः ॥ ७ ॥

तदापीतेस्संसार व्यपदेशात् । ४ । २ । ८ ॥

अवरयं च तत्—अमृतत्वमदग्धदंष्ट्रसम्यन्धस्यैवेति विज्ञेयम् । कु-
तः ? आपीतेः संसारव्यपदेशात्—अपीतिः—अप्ययः, ब्रह्मप्राप्तिः । सा

१. कठ. २-६-१४ ॥—२. कठ. २-६-१६ ॥—३. वृ. ४-४-२ ॥

४. कठ. २-६-१६ ॥—५. कठ. २-६-१४ ॥

चार्षिणादिना मार्गेण देशविशेषं गत्वेति वक्ष्यते । आतदवस्थाप्राप्तेः संसारः—देहसम्बन्धलक्षणो हि व्यपदिश्यते—१“तस्य तावदेव धिरं यावन्न विमोक्षयेऽथ सम्पत्स्ये” इति २“अथ इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात्प्रमुच्य । धृत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसम्भवानि” इति च ॥ ८ ॥

सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः । ४ । २ । ९ ।

इतश्च विदुषोऽपि बन्धो नात्र दग्धः; यतस्सूक्ष्मं शरीरमनुवर्तते । कुत इदमवगम्यते; प्रमाणतस्तथोपलब्धेः—उपलभ्यते हि देवयानेन यथा गच्छतो विदुषः ३“तं प्रतिगृह्णात्” ४“सत्यं गृह्णात्” इति चन्द्रमसा मन्दादवचनेन शरीरसद्भावः । अतस्सूक्ष्मशरीरमनुवर्तते । अतश्च बन्धो न दग्धः ॥ ९ ॥

नोपमर्देनातः । ४ । २ । १० ॥

अतः ५“यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते” इति वचनं न बन्धोपमर्देनामृतस्य वदति ॥ १० ॥

अस्यैव चोपपत्तेरूपमा । ४ । २ । ११ ॥

अस्य—सूक्ष्मशरीरस्य कचिद्विद्यमानत्वोपपत्तेर्विदुषः प्रक्रान्तमरणस्य मरणात्प्रागूपमा स्थूले शरीरे क्वाचित्क उपलभ्यते । नच स्थूलस्यैव शरीरस्यायमूपमा, अन्यत्रानुपलब्धेः । ततोऽप्यणः कचिदुपलब्धिर्विदुषोऽप्यसूक्ष्मशरीरस्योत्क्रान्तिनिबन्धनेति गम्यते । तस्माद्विदुषोऽप्यामृत्युपक्रमात्समानोत्क्रान्तिरिति मुच्यते ॥ ११ ॥

१. छा. १-१४-२ ॥—२. छा. ८-१३-१ ॥—३. कौ. १-२ ॥—४ ॥

५. कठ २-१-१४ ॥

पुनरपि विदुष उक्कान्तिर्न सम्भवतीत्याशङ्क्य परिह्रियते—

प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात्स्पष्टो ह्येके-

षाम् । ४ । २ । १२ ॥

यदुक्तं विदुषोऽप्युक्कान्तिस्समानेति; तन्नोपपद्यते, विदुष उक्का-
न्तिप्रतिषेधान् । तथाहि १“स एतास्तेजोमात्रास्समभ्याददानो ह्ययमेवा-
न्यपक्रमति” इत्युपक्रम्य १ “तेन प्रयोतेनैव आत्मा निष्कामति तमुक्का-
मन्तं प्राणोऽनूत्कामति” इत्यविदुष उक्कान्तिप्रकारमभिधाय २ “अन्य-
न्नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते” इति देहान्तरपरिग्रहं चाभिधाय ३ “प्रा-
प्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किंचेद् करोत्ययम् । तस्माज्ज्ञोकात्पुनरेत्यस्मै लोकाय
कर्मणे इति तु कामयमानः” इत्यविद्वद्विषयं परिसमाप्य ३ “अथाकामयमा-
नो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामः न तस्य प्राणा उत्कामन्ति
ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्नोति” इति विदुष उक्कान्तिः प्रतिपिष्यते । तथा पू-
र्वत्र आर्तभागप्रश्नेऽपि विदुष उक्कान्तिप्रतिषेधो दृश्यते ४ “अप पुनर्भृत्यं
जयति” इति विद्वत्सं प्रस्तुत्य ४ “ग्राहवल्फ्येति होवाच यत्रायं पुरुषो
म्रियते उदस्मात्प्राणाः क्रामन्त्याहो न” इति वृष्टः ४ “नेति होवाच याज्ञव-
ल्क्योऽत्रैव समवलीयन्ते स उच्छ्रययत्याध्मातो मृतः शेते” इति । अतो
विद्वानिहैवाभृतत्वं प्राप्नोतीति चेत्-तन्न, शारीरान्-प्रत्यगात्मनः प्राणानामु-
क्कान्तिर्ह्यत्र प्रतिपिष्यते; न शारीरान् ५ “न तस्य प्राणा उत्कामन्ति” इ-
त्यत्र तच्छब्देन ५ “अथाकामयमानः” इति प्रकृतशरीर एव परामृश्यते;
नाभृतं शरीरम् । ५ “तस्य” इति पठ्या प्राणानां सम्बन्धित्वेन शारीरो
निर्विष्टः; नतूक्कान्त्यपादानत्वेन; उक्कान्त्यपादानं तु शरीर मेवेति चेत्—
न, अपादानापेक्षायामभुताच्छरीरात्सम्बन्धितया भुतस्यात्मन एव सन्नि-
हितत्वेनापादानतयापि प्राप्नोत्वान् । किञ्च प्राणानां जीवसम्बन्धितयैव

प्रज्ञातानां तत्सम्बन्धकथनं प्रयोजनाभावात्सम्बन्धमात्रवाचिन्या पदया
 अपादानमेव विशेष इति निश्चीयते । यथा 'नटस्य शृणोति' इति । नचात्र
 विवक्षितव्यं—स्पष्टो लोकैषां—माध्यन्दिनानामाभ्यासे शारीरो जीव एवा-
 पादानमिति १ "योऽकामो निष्काम आप्तकामो आत्मकाम न तस्मात्प्रा-
 णा उत्क्रामन्ति" इति । शारीरात्प्राणानामुत्क्रान्तिप्रसङ्गाभावाच्चान्येषां-
 नोपपन्नत इति चेन्न, २ "तस्य तावदेव चिरम्" इति विदुषश्शरीरवियोग-
 काले ब्रह्मसम्पत्तिवचनेन प्राणानामपि तस्मिन् काले शारीराद्विदुषो वि-
 योगः प्रसज्यते; ततश्च देवयानेन पथा ब्रह्मसम्पत्तिर्नोपपद्यत इति । १ "न
 तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति" देवयानेन पथा ब्रह्मप्राप्तेः प्राग्जीवाद्विदुषोऽपि
 प्राणा न विस्त्रिप्यन्तीत्युच्यते । आर्तभागप्रश्नोऽपि यदा विद्वद्विषयः तदा
 अयमेव परिहारः; स त्वविद्वद्विषयः, तत्र प्रश्नप्रतिवचनयोः ब्रह्मविद्याप्र-
 सङ्गादर्शनात्; तत्र हि ब्रह्मतिप्रदरूपेणेन्द्रियेन्द्रियार्थस्यभावः, अपामग्न्य-
 ज्ञत्वं, त्रियमाणस्य जीवस्य प्राणापरिहारात्, सृतस्य नामवाच्यकीर्त्यनु-
 धृतिः, तस्य च पुण्यपापानुगुणगतिप्राप्तिरित्येतेऽर्थाः प्रश्नपूर्वकं प्रत्युक्ताः ।
 तत्र च १ "अप पुनर्मुक्त्यु जयति" इति अपामग्न्यज्ञत्वज्ञानादग्निजय एव मु-
 क्त्युजय उच्यते । असौ नात्र विदुषः प्रसङ्गः । अविदुषस्तु प्राणानुत्क्रान्ति
 वचनं—स्थूलदेहवत्प्राणा न मुञ्चन्ति, अपि तु भूतसूक्ष्मवज्जीवं परिष्वज्य
 गच्छन्ति—इति प्रतिपादयतीति निरवयवम् ॥ १२ ॥

स्मर्यते च । ४ । २ । १३ ॥

स्मर्यते च विदुषोऽपि मूर्धन्यनाड्योत्क्रान्तिः ४ "ऊर्ध्वमेकः स्थित-
 स्तेषां यो भिरवा सूर्यमण्डलम् । ब्रह्मलोकमतिक्रम्य तेन याति परां
 गतिम्" इति ॥ १३ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये आसृत्युपक्रममाधिकरणम् ॥ ५ ॥

—(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये परसम्पत्त्यधिकरणम् ॥६॥)—

तानि परं तथाह्यह । ४ । २ । १४ ॥

सकरग्रामः सम्राजः करणाध्यक्षः प्रत्यगात्मा उत्क्रान्तिबेलायां तेजःप्रभृतिभूतसूक्ष्मेषु सम्पद्यत इत्युक्तम् ; सैषा सम्पत्तिर्विदुषो न विद्यत इत्याशङ्क्य परिहृतम् ; तानि पुनर्जीवपरिप्यक्तानि भूतसूक्ष्माणि किं यथाकर्म यथाविशं च स्वकार्याय गच्छन्ति, उत परमात्मनि सम्पद्यन्त इति विशये मध्ये परमात्मसम्पत्तौ सुखदुःखोपभोगरूपकार्यदर्शनान्, तदुपभोगानुगुण्येन यथाकर्म यथाविशं च गच्छन्ति—

—(सिद्धान्तः)—

इति प्राप्त उच्यते—तानि परे—इति । तानि परस्मिन्मात्मनि सम्पद्यन्ते; कुतः ? तथाह्यह भुतिः—“तेजः परस्यां देवतायाम्” इति । यथाह भुतिस्तदनुगुणं कार्यं कल्प्यमित्यर्थः । सुषुप्तिप्रलययोर्यथा परमात्मसम्पत्त्या सुखदुःखोपभोगायासविभ्रमः; तद्वदिहापि ॥ १४ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये परसम्पत्त्यधिकरणम् ॥६॥

—(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अविभागाधिकरणम् ॥७॥)—

अविभोगो वचनात् । ४ । २ । १५ ॥

संयं परमात्मनि सम्पत्तिः किं प्राकृतलयवत्कारणापत्तिरूपा, उत—“वाङ्मनसि” इत्यादिवद्विभागरूपेति चिन्तायां—परमात्मनस्सर्वेषां योनिभूतत्वात्कारणापत्तिरूपा—

—(सिद्धान्तः)—

इति प्राप्त उच्यते-अविभागः-इति । अपृथग्भावः-पृथग्व्यवहारान-
र्हसंसर्ग इत्यर्थः । कुतः? वचनान् १“तेजः परस्यां देवतायाम्” इत्यत्रापि
१“बाह्मनसि सम्पश्यते” इत्यतस्सम्पश्यत इति वचनस्यानुपपन्नम्, तस्य
च संसर्गविशेषवाचित्वान्, अनुपपत्तस्याभिधानवैरूप्ये प्रमाणाभावात्,
उत्क्रान्तिवैलयां कारणापत्तिप्रयोजनाभावात् पुनस्तत्रान्यत्वादिसृष्ट्य-
वचनाच्च ॥ १५ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अविभागाधिकरणम् ॥ ७ ॥

—(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये तदोकोधिकरणम् ॥ ८ ॥)—

तदोकोऽग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारा विद्यासामर्थ्या-
त्तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीतशता-
धिक्रिया । ४ । २ । १६ ॥

एवं गत्युपक्रमावधि विद्वद्विदुषोस्समानाकार उत्क्रान्तिप्रकार
उक्तः; इदानीं विदुषो विशेष उच्यते । तत्रेदमाश्रयते-२“शतं चैका च
इदमस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिस्सृतैका । तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति ।
विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति” इति । अनया नाडीनां शनाधिक्रिया
मूर्धन्यनाड्यैव विदुषो गमनम्, अन्याभिरेषचाविदुषो गमनमित्ययं नि-
यम उपपद्यते, नेति संशयः । किं युक्तम् ? नियमो नापपद्यत इति । कु-
तः ? नाडीनां भूयस्त्वादितिसूक्ष्मत्वाच्च द्विविवेचतया पुरुषेणोपादानुमश-
क्यत्वात् । २“तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति”
इति यादृच्छिकीमुत्क्रान्तिमनुवदतीति युक्तमिति ॥

—(सिद्धान्तः)—

एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे—शंताधिकया—इति । विद्वान् शंताधिकया मूर्धन्यैव नाङ्घ्र्योत्क्रामति । नचास्याः विदुषो दुर्विवेचत्वम्; विद्वान्हि प-
रमपुरुषाराधनभूतात्यर्थप्रियविद्यासामर्थ्याद्विद्यारोपभूततयाऽऽत्मनोऽत्य-
र्थप्रियगत्यनुस्मरणयोगाच्च प्रसम्भेन हार्देन परमपुरुषेणानुगृहीतो भवति;
ततश्च तदौकः-तस्य जीवस्य स्थानं हृदयम्, अग्रज्वलनं भवति-अग्रे ज्य-
वलनं प्रकाशनं यस्य, तद्विद्वमग्रज्वलनम् । परमपुरुषप्रसादात्प्रकाशितद्वारो
विद्वान् तां नार्द्धी विजानातीति तथा विदुषो गतिरुपपद्यते ॥ १६ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये तदौकोधिकरणम् ॥ ८ ॥

—[श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये रश्म्यनुसाराधिकरणम् ॥ १६ ॥]—

रश्म्यनुसारी । ४ । २ । १७ ॥

विदुषो हृदयाच्छंताधिकया मूर्धन्यनाङ्घ्रा निर्गतस्यादित्यरश्मी-
ननुसृत्यादित्यमण्डलगतिः भूयते—१ “अथ यत्रैदस्मान्छरीरदुत्क्राम-
त्यथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते” इति । तत्र रश्म्यनुसारेणैवेत्ययं गति-
नियमस्तस्मभवति, नेति चिन्तायां-निशि सृतस्य विदुषो रश्म्यनुसारा-
सम्भवाद् नियमः । वचनन्तु पक्षप्राप्तविषयम्--

—[सिद्धान्तः]—

इति प्राप्त उच्यते-रश्म्यनुसारी-इति । रश्म्यनुसार्यैव विद्वान्-
र्ध्वं गच्छति; कुतः? १ “अथैतैरेव रश्मिभिः” इत्यवधारणम्; पाक्षिकत्वे
ह्येवकारोऽनर्थकस्यान । यदुक्तं निशि सृतस्य रश्म्यसम्भवाद् रश्मीननु-
सृत्य गमनं नापपन्न इति; सन्न, निशयपि पूर्वैरश्म्यनुसारात्सम्भवति;

लक्ष्यते हि निश्यपि निदायसमये ऊष्मोपलब्ध्या रश्मिसद्भावः; हेम-
न्तादौ तु हिमाभिभवादुदुर्दिनं द्योष्मानुपलम्भः; भ्रूयते च नाडीरश्मीनां
सर्वदाऽन्योन्यान्वयः—१“तथा महापथ आतत उभो ग्रामी गच्छतीमं
चामुं च एषमेवैत आदित्यस्य रश्मय उभौ लोकौ गच्छन्तीमं चामुं च
अमुष्मादादित्यात्प्रतायन्ते त आसु नाडीषु सृग्माः आभ्यो नाडीभ्यः प्र-
तायन्ते तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृग्माः” इति । तस्मान्निश्यपि रश्मिसम्भवान्नि-
शि मृतानामपि विदुषां रश्म्यनुसारेणैव ब्रह्मप्राप्तिरस्त्येव ॥१७॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये रश्म्यनुसाराधिकरणम् ॥ ६ ॥

—[श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये निशाधिकरणम् ॥१०॥]—

निशि नेतिचेन्न सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वादर्श-
यति च । ४ । २ । १८ ॥

इदमिदानीं चिन्त्यते—विदुषो निशि मृतस्य ब्रह्मप्राप्तिरस्ति, ने-
ति । यद्यपि निशायां सूर्यरश्मिसम्भवाद्रश्म्यनुसारेण गतिर्निशायामपि
सम्भवति; तथापि निशामरणस्य शास्त्रेषु गहितत्वात्परमपुरुषार्थं लक्षण-
ब्रह्मप्राप्तिर्निशामृतस्य न सम्भवति । शास्त्रेषु दिवामरणं प्रशस्तम्, विप-
रीतं निशामरणं “दिव्यं च शुक्लपक्षश्च उत्तरायणमेव च । सुमूर्पतां प्र-
शस्तानि विपरीतं तु गहितम्” इति । दिवामरणनिशामरणयोः प्रशस्तत्व-
विपरीतत्वे चोत्तमाधमगतिहेतुत्वेन स्थानाम् । अतो निशि मरणमधो-
गति हेतुत्वाच्च ब्रह्मप्राप्तिहेतुरिति चेन्-तन्न । विदुषः कर्मसम्बन्धस्य या-
वद्देहभावित्वान् । एतदुक्तं भवति-अनारब्धकार्याणामधोगति हेतुभूतानां
कर्मणां विनामसम्बन्धेनैव विनाशादुत्तरेणां चाश्लेषात्प्रारब्धकार्यस्य च
चरमवेद्देहावधित्वाच्चदन्धहेत्वभावाद्विदुषो निशामृतस्यापि ब्रह्मप्राप्तिस्मि-

द्वेय । दर्शयति च श्रुतिः १“तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ
सम्पत्स्ये” इति २“दिवा च शुक्लपक्षश्च” इत्यादिवचनमविद्वद्विषयम् ॥
इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये निशाधिकरणम् ॥ १० ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये दक्षिणायनाधिकरणम् ॥ ११ ॥)

अतश्चायनेऽपि दक्षिणे । ४ । २ । १९ ॥

निशि मृतस्यापि विदुषो ब्रह्मप्राप्तौ यो हेतुरुक्तः, तत एव हेतो-
र्दक्षिणेऽप्ययने मृतस्य ब्रह्मप्राप्तिस्सिद्धा ॥

अधिका शङ्का तु ३“अथ यां दक्षिणे प्रमीयते पिष्टणामेव महि-
मानं गत्वा चन्द्रमसस्तायुज्यं गच्छति” इति दक्षिणायने मृतस्य च-
न्द्रप्राप्तिश्रवणान् चन्द्रं प्राप्तानां च ४“तेषां यद्वा तत्पर्यवैत्यथैतमेवाध्वानं
पुनर्निवर्तन्ते” इति पुनरावृत्तिश्रवणान्, भीष्मादीनां च ब्रह्मविद्यानिष्ठा-
नामुत्तरायणप्रतीक्षादर्शनादक्षिणायने मृतस्य ब्रह्मप्राप्तिर्न सम्भवति-इति ।

परिहारस्तु—अविदुषां पितृयाणेन पथा चन्द्रं प्राप्तानामेव पुनरा-
वृत्तिः, विदुषस्तु चन्द्रं प्राप्तस्यापि ३“तस्माद्ब्रह्मणो महिमानमाप्नोति” इति
वाक्यशेषात्तस्य दक्षिणायनमृतस्य चन्द्रप्राप्तिः ब्रह्म प्रपित्सतो विभ्रमहेतु-
मात्रमिति गम्यते; वाक्यशेषाभावेऽपि पूर्वोक्तदेव यन्महेत्वभावान् विदु-
षश्चन्द्रं प्राप्तस्यापि ब्रह्मप्राप्तिरनिवार्या । भीष्मादीनां योगप्रभावात् स्वच्छ-
न्दमरणानां धर्मप्रवर्तनायां उत्तरायणप्राशस्त्यप्रदर्शनार्थस्तथाविधाचारः ॥

ननु च विदुषां मुमुर्षून् प्रति पुनरावृत्तिहेतुत्वेन कालविशेषविधि-
र्दृश्यते ५“यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव यागिनः । प्रयाता यान्ति तं
कालं वदयामि भगवतर्पणम् । अग्निर्ज्योतिरुद्दृश्युक्तः पणमासा उत्तरायणम् ।

१. छा. ६-१४-२ ॥—२. ॥—३. तै. जा. २-२-अनु ॥—४. छा.
४-१०-२ ॥—५. गी. ८-२३, २४ ॥

तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥ १ धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः
पण्मासा दक्षिणायनम् । तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते । शुक्लः
कृष्णे गतीं ह्येतं जगतश्शाश्वते मते । एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽऽवर्तनं
पुनः” इति; तत्राह—

योगिनः प्रति स्मर्येते स्मार्ते चैते । ४ । २ । २० ॥

नात्र मुमूर्षून् प्रति मरणकालविशेषोपादानं स्मर्यते; अपितु यो-
गिनः-योगनिष्ठान् प्रति स्मार्ते-स्मृतिविषयभूते-स्मर्तव्ये देवयानपितृया-
णाख्ये गती स्मर्येते-योगाद्भक्त्याऽनुदिनं स्मर्तुम् । तथा ह्युपसंहारः १“नैवे
मृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन । तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगमुक्तो
भवार्जुन” इति । २“अग्निर्ज्योतिः” १“धूमो रात्रिः” इति च देवयान-
पितृयाण्ये प्रतिभिज्ञायेते । उपक्रमे च २“यत्र काले तु” इति कालशब्दः
कालाभिमानिदेवतातिथाद्विकपरः, अग्रयादेः कालत्यासम्भवात् । अतः
१“तेऽर्चिपमभिसम्भवन्ति” इति विहितदेवयानानुस्मृतिरत्र विद्यानि-
ष्ठान् प्रति विधीयते, न मुमूर्षून् प्रति मरणकालविशेषः ॥ २० ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये दक्षिणायनाधिकरणम् ॥ ११ ॥

इति श्रीभगवद्रामानुजविरचिते श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये
चतुर्थस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

श्रीमते रामानुजाय नमः.

श्रीभगवद्रामानुजधिरचिते

श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये

—(चतुर्थाध्याये-तृतीयः पादः-अर्चिराद्यधिकरणम् ॥ १ ॥)—

अर्चिरादिना तत्प्रथितेः । ४ । ३ । १ ॥

विदुष उक्तान्तस्य नाडीयिशेषेण हार्दानुप्रदाद्गत्युपक्रम उक्तः ।
तस्य गच्छतो मार्ग इदानीं निर्णयिते । तत्र भुक्तिषु मार्गप्रकाराः बहुधा
आम्नायन्ते, छान्दोग्ये तावत् १“यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्य-
न्ते एवमेवंविदि पाप कर्म न श्लिष्यते” इत्युपक्रम्य ब्रह्मविद्यामुपदि-
श्याम्नायते २“अथ यदु चैवास्मिन्बृच्छव्यं कुर्यन्ति यदुच न अर्चिपमेवा-
भिसम्भवन्ति अर्चिपोऽहरह आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षागान् पदुन्-
इहेति मासांस्तान् मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यमादित्याश्चन्द्रमसं
चन्द्रमसो विष्णुतं तत्पुरुषोऽमानवः । स एतान् ब्रह्म गमयत्येव देवपथो
ब्रह्म पथः एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमायतं नावर्तन्ते” इति । तथाऽ-
त्रैवाष्टमे ३“अथैतरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रयते” इति कौपीतकिनश्च देव-
यानमार्गमन्यथाऽधीयते ४“स एतं देवयानं पन्थानमापद्यामिलोकमाग-
च्छति स वायुलोकं स वरुणलोकं स आदित्यलोकं स इन्द्रलोकं स प्र-
जापतिलोकं स ब्रह्मलोकम्” इति । तथा बृहदारण्यके ५“य एवमेतद्वि-
दुर्येचेमेऽरण्ये भट्ठा सत्यमुपासते तेऽर्चिपमभिसम्भवन्ति अर्चिपोऽहरह

अपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षागान् पणमासानुदङ्खदित्य एति मासेभ्यो देवलोकं देवलोकादादित्यमादित्याद्वैश्वतं यैश्वतात्पुरुषोऽमानवस्स एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति" इति । तत्रैव पुनरन्यथा १ "यदा ये पुरुषोऽस्मा-
ल्लोकांस्प्रैति स वायुमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा रथचक्रस्य खं तेन स ऊर्ध्वमाक्रमते स आदित्यमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा आडम्बरस्य खं तेन स ऊर्ध्वमाक्रमते स चन्द्रमसमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा दुन्दुभेः खम्" इत्यादि । तत्र संशयः—किमचिरादिरे-
क एव मार्ग आभिश्श्रुतिभिः प्रतिपाद्यत इति, तेनैव ब्रह्म गच्छति विद्वान्-
उत तस्मादन्येऽन्यत्र मार्गा इति, तैर्वाऽनेन वेत्यनियमः—इति । किं यु-
क्तम् ? अनियम इति । कुतः ? अनेकरूपत्वाच्चैरपेक्ष्याच्चैति ॥

(—सिद्धान्तः—)

एवं प्राप्तेऽभिधीयते—अचिरादिना—इति । अचिरादिरेक एव मार्ग-
स्सर्वत्र प्रतिपाद्यत । अतोऽचिरादिनैव गच्छति । कुतः ? तत्प्रधितः—
तस्यैव सर्वत्र प्रधितः । प्रधितिः—प्रसिद्धिः, तस्यैव सर्वत्र प्रत्यभिज्ञानादि-
त्यर्थः प्रत्यभिज्ञानात्स एव मार्गस्सर्वत्र न्यूनाधिकभावेन प्रतिपाद्यत इति
त्रिद्यागुणोपसंहारवदन्यत्रोक्तानामन्यत्रोपसंहारः क्रियते । छान्दोग्ये ता-
वदुपकोसलविद्यायां पञ्चाग्निविद्यायां चैकरूप एवास्मायते; वाजसने-
यके च पञ्चाग्निविद्यायां तथैवाचिरादिः अल्पान्तर अस्मायते; अतस्त-
त्रापि स एवेति प्रतीयते । अन्यत्रापि सर्वत्राग्न्यादित्यादयः प्रत्यभि-
ज्ञायन्ते ॥ १ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अचिरागधिकरणम् ॥ १ ॥

—(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये वाय्वधिकरणम् ॥ २ ॥)—

वायुमब्दादविशेषविशेषाभ्याम् । ४ । ३ । २ ॥

अर्चिरादिनैव गच्छन्ति विद्वांस इत्युक्तम् ; तत्रार्चिरादिके मार्गे
छन्दोगाः मासादित्ययोरन्तराले संवत्सरमधीयते-१ : मासेभ्यः संवत्सरं
संवत्सरादादित्यम्” इति । वाजसनेयिनस्तु तयोरेवान्तराले देवलोकं
२ “मासेभ्यो देवलोकं देवलोकादादित्यम्” इति । उभयत्रापि मार्गस्थै-
कत्वादुभायुभयत्रोपसंहार्यौ । तत्र मासादूर्ध्वमभिहितयोस्संवत्सरदेवलोक-
योः पञ्चम्याऽभिहितस्य श्रौतक्रमस्य तुल्यत्वेऽहि १ “अर्चिपोऽद्धरद्ध आपू-
र्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान् पशुदङ्घ्रेतिमासांस्तान्” इत्यधिककालानां
न्यूनकालेभ्य उत्तरोत्तरत्वेन निवेशदर्शनात्संवत्सरस्यैव मासादनन्तरं
बुद्धौ विपरियुक्तेः संवत्सर एव मासादूर्ध्वं निवेशयितव्य इति तत ऊर्ध्वं
देवलोक इति निश्चीयते । अन्यत्र वाजसनेयिनः ३ “यदा वै पुरुषोऽस्मा-
ल्लोकात्प्रति स वायुमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते” यथा रथ-
चक्रस्य खं तेन स ऊर्ध्वमाक्रमते स आदित्यमागच्छति” इत्यादित्या-
त्पूर्वं वायुमधीयते । कौपीतकिनस्तु ४ “स एतं देवयानं पन्थानमापशा-
ग्निलोकमागच्छति स वायुलोकम्” इत्यग्निलोकशब्दनिर्दिष्टादर्चिपः परं
वायुमधीयते । तत्र कौपीतकिनां पाठक्रमेणार्चिपः परत्वेन प्राप्तस्य वा-
चोर्वाजसनेयिनां ३ “तेन स ऊर्ध्वमाक्रमते स आदित्यमागच्छति” इ-
त्यूर्ध्वशब्दनिर्दिष्टश्रौतक्रमेण पाठक्रमादयलीयसा आदित्यात्पूर्वं प्रवेशो
निश्चीयते । अत आदित्यात्पूर्वं संवत्सरादूर्ध्वं देवलोकं वायुञ्च प्राप्तौ ।
तत्रेदं चिन्त्यते--किं देवलोकं वायुश्चाध्वान्तरभूतौ यद्येष्टक्रमेण विद्वा-
नभिगच्छेन्, उतानर्थान्तरत्वेन संवत्सरादूर्ध्वं देवलोकं सन्तं वायुम-
भिगच्छेन्-इति । किं युक्तम् ? भिन्नार्थत्वम्, प्रसिद्धेः । भिन्नार्थत्वेनो-

१. छ. -४-१६-२॥--२. घ. ८-२-१६॥--३. घ. ७-१०-१॥--४.
की. १. अ. २॥

भ्यर्शब्देन पञ्चम्या चोभयोस्संवत्सरादित्यान्तराले श्रुतिक्रमेण प्राप्तत्वात्,
विशेषाभावाच्च यथेष्टम्—

—(सिद्धान्तः)—

इति प्राप्त उच्यते—वायुमश्नात्—इति । वायुं संवत्सरादूर्ध्वमभिग-
च्छेत् । कुतः ? अविशेषविशेषाभ्यां वायोरेव निर्दिष्टत्वात् । देवलोक-
शब्दो हि अविशेषेण—सामान्येन देवानां लोक इत्यनेन रूपेण वायुम-
भिधत्ते । १“स वायुमागच्छति तस्मै स तत्र” इति वायुशब्दो विशे-
षेण वायुमभिधत्ते । अतो देवलोकवायुशब्दाभ्याम् अविशेषविशेषाभ्यां
वायुरेवाभिधीयत इति संवत्सरादूर्ध्वं वायुमेवाभिगच्छेत् । कौपीतकिनां
वायुलोकशब्दश्चाग्निलोकशब्दवन् वायुश्चासौ लोकश्चेति व्युत्पत्त्या वायु-
मेवाभिधत्ते । वायुश्च देवानामावासभूत इत्यन्यत्र भूयते २“योऽयं पव-
त एष देवानां गृहाः” इति ॥ २ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये वाय्वधिकरणम् ॥ २ ॥

—(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये वरुणाधिकरणम् ॥ ३ ॥)—

तटितोऽधि वरुणस्सम्बन्धात् । ४ । ३ । ३ ॥

कौपीतकिनां १“स एतं देवयानं पन्थानमापणाग्निलोकमागच्छति स
वायुलोकं स वरुणलोकं स आदित्यलोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकं स
ब्रह्मलोकम्” इत्यत्राग्निलोकशब्दस्यार्चिःपर्यायत्वेन प्राथम्यमभिगीतम् ।
वायोश्च संवत्सरादूर्ध्वं निवेश उक्तः । आदित्यस्याप्यत्र प्राप्तपाठक्रमवा-
धेन ४“देवलोकदादित्यमादित्याद्वैद्युतम्” इति याज्ञसनेयकोक्तश्रुति-
क्रमदेवलोकशब्दाभिहिताद्वायोरुपरि निवेशस्मिद्धः । इदानीं वरुण्यन्त्रा-

दिपु चिन्ता । किमेते वरुणादयो यथापाठं चायोरुर्ध्वं निवेशयितव्याः, आहोस्त्रिद्विगुतोऽधीति विशये, अर्चिः प्रभृतिषु सर्वेषु १ “अर्चिपोऽहः” इत्यादिभ्रुतिक्रमोपरोधाद्विगुतः परस्ताच्च २ “तत्पुरुषोऽमानवस्स गन्तव्यं ब्रह्म गमयति” इति विगुत्पुरुषस्य ब्रह्मगमयितृत्वभ्रवणाच्च सर्वत्रावकाशाभावेनाप्राप्तौ च उपदेशार्थैयर्ध्यायावश्यं कस्यचिन्दाध्यत्ये पाठक्रमानुरोधेन चायोरनन्तरं वरुणो निवेशयितव्यः । यागत्रादित्ययोः क्रमस्य बाधितत्वेनेन्द्रप्रजापती अपि ह्यत्रैव निवेशयितव्यौ—

—(सिद्धान्तः)—

इति प्राप्ति उच्यते—तद्विगुतोऽधि वरुणः इति । वरुणस्तावद्विगुत उपरिष्टाभिर्वेशयितव्यः । कुतः ? सम्बन्धान्—मेघोदरवर्षित्वाद्विगुतो वरुणेन सम्बन्धो लोकवेदयोः प्रसिद्धः । एतदुक्तं भवति—वरुणादीनामुपदेशार्थैयर्ध्याय कचिन्निवे शयितव्यत्वे सति पाठक्रमार्थक्रमस्य बलीयम्त्वाद्विगुतोऽधि वरुणो निवेशयितव्यः; ततश्चामानवस्य गमयितृत्वं व्यवधानसहमित्यवगम्यते । तस्य च व्यवधानसहत्वादिन्द्रादेशोपदिष्टस्यावश्यनिवेशयितव्यस्य वरुणादुपर्युपदिष्टत्वादागन्तूनामन्ते निवेशयितव्यत्वाच्च वरुणादुपरीन्द्रादिनिवेशयितव्य इति ॥३॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये वरुणाधिकरणम् ॥३॥

—(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये आतिवाहिकाधिकरणम् ॥)—

आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात् । १ । ३ । ४ ॥

इदमिदानीं चिन्त्यते—किमर्चिरादयो मार्गचिह्नभूताः, उत भो-

गभूमयः, अथवा विदुषां ब्रह्म प्रेप्सतामतिबोद्धारः-इति । किं तावद्युक्तम्? मार्गचिह्नभूता इति । कुतः ? उपदेशस्य तथाविधत्वान् ; दृश्यते हि लोके ग्रामादीन् प्रति गन्तॄणामेवंविधो दैशिकैरुपदेशः—‘इतो निष्कम्यामु-
कं वृक्षममुकां नदीममुकं च पर्वतपारथं गत्वाऽमुकं ग्रामं गच्छ’ इति ।
अथवा भोगभूमयः, एतागस्युः, कालविशेषतया प्रसिद्धानामहरादीनां
मार्गचिह्नत्वानुपपत्तोरन्यस्य च मार्गचिह्नभूतस्यैतेषामनभिधायकत्वान् ।
भोग भूमित्वं च १ “एत एव लोका यदहोरात्रायर्वमासा मासा ऋतव-
स्संघत्सराः” इत्यहरादीनां लोकस्थवचनादुपपद्यते । अत एव च कौ-
पीतकिनः २ “अग्निलोकमागच्छति” इत्यादिना लोकशब्दानुविधानेना-
चिरादीन् पठन्तीति ॥

—(सिद्धान्तः)—

एवं प्राप्ते ब्रह्मः-आतिवाहिकाः-इति । विदुषामविवाहे परमपुरुषेण
नियुक्ताः आतिवाहिकाः देवताविशेषा एतेऽर्चिरादयः । कुतः ? तल्लि-
ङ्गान्-अतिवहन्नलिङ्गान् । अतिवहनं हि गन्तॄणां गमयितृत्वम् । गम-
यितृत्वं च ३ “तत्पुरुषोऽमानयस्स एनान् ब्रह्म गमयति” इत्युपसंहारे
भूयमाणं पूर्वेषामप्यविशेषभुतानां स एव सम्यन्ध इति गमयति । वद-
न्ति चार्चिरादयः शब्दाः अर्चिरात्मात्मभूतानभिमानिदेवताविशेषान् ।
४ “तं पृथिव्यग्रवीन्” इति च ॥ ४ ॥

यद्येवं ३ “तत्पुरुषोऽमानयस्स एनान् ब्रह्म गमयति” इति वै-
श्वदेवस्यैव पुरुषस्य ब्रह्मगमयितृत्वभुतैर्धिद्युतः परेषां वरुणादीनां कथमा-
तिवाहिकत्वेनान्वय इत्यग्राह—

वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः । ४ । ३ । ५ ॥

ततः विद्युत उपरि, वैद्युतेन—अमानयेनैवातिवाहिकेन विदुषा-

१. तै. न. ८०-प्र. ३ । २. कौ. १-अ ॥—३. द्वा. ४-१२-२, १ ॥

४. यजु. २-२-२ ॥

मात्राप्रप्राप्तेर्गमनम् । कुतः ? तच्छ्रुतेः ? “स एतान् ब्रह्म गमयति” इति तस्यैव गमयितृत्वश्रुतेः । वरुणादयस्त्वनुग्राहका इति तेषामप्यातिवाहिकत्वेनान्वयो विद्यत एव ॥ ५ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये आतिवाहिककरणम् ॥ ४ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये कार्याधिकरणम् ॥५॥)

कार्यं वादरिरस्य गत्युपपत्तेः । ४ । ३ । ६ ॥

अर्चिरादिनैव गच्छति विद्वान् ; अर्चिरादिरमानवान्तश्च गण आतिवाहिको विद्वांसं ब्रह्म गमयतीत्युक्तम् । इदमिदानीं चिन्त्यते । किमयमर्चिरादिको गणः कार्यं हिरण्यगर्भमुपासीनाभ्यति, उत परमेव ब्रह्मोपासीनान्, अथ परं ब्रह्मोपासीनान् प्रत्यगात्मानं ब्रह्मात्मकतयोपासीनांश्च-इति विशये-कार्यमुपासीनानेव गमयतीति वादरिराचार्यो मन्यते । कुतः ? अस्य-हिरण्यगर्भमुपासीनस्यैव गत्युपपत्तेः ; न हि परिपूर्णं सर्वज्ञं सर्वगतं सर्वात्मभूतं परं ब्रह्मोपासीनस्य तत्प्राप्तये देशान्तरगतिरुपपद्यते, प्राप्तत्वादेव ; नित्यप्राप्तपरब्रह्मविषयाधिष्ठानिष्टुप्तिमात्रमेव हि परविद्याकार्यम् । कार्यं तु हिरण्यगर्भरूपं ब्रह्मोपासीनस्य परिच्छिन्नदेशवर्तिप्राप्त्यर्थं गमनमुपपद्यते । अतोऽर्चिरादिरातिवाहिकगणस्तमेव नयति ॥ ६ ॥

विशेषितत्वाच्च । ४ । ३ । ७ ॥

२“पुरुषोऽमानह एत्य ब्रह्मलोकान्गमयति” इति लोकशब्देन बहुवचनेन च लोकविशेषवर्तिनं हिरण्यगर्भमुपासीनमेवामानवो गमयतीति विशेष्यते । किञ्च ३“प्रजापतेस्सभां वेश्म प्रपद्ये; इति कार्यस्य हिरण्यगर्भस्य समीपगमनमर्चिरादिना गतः प्रत्यभिसन्धत्तं ॥ ७ ॥

नन्वेवं १“तत्पुरुषोऽमानयः” २“स एनान् ब्रह्म गमयति” इत्ययं निर्देशो नोपपद्यते; हिरण्यगर्भनयने हि स एनान् ब्रह्माणं गमयति’ इति निर्देष्टव्यं स्यात्; अत आह—

सामीप्यात् तद्व्यपदेशः । ४ । ३ । ८ ॥

३‘ यो ब्रह्माणं विदधाति’ इति हिरण्यगर्भस्य प्रथमजत्वेन ब्रह्म-सामीप्यात्तस्य ब्रह्मशब्देन व्यपदेश इति गत्यनुपपत्तिविशेषणादिभिरु-क्तैर्हेतुभिर्निश्चीयत इत्यर्थः ॥ ८ ॥

अथ स्यात्—अर्चिरादिना हिरण्यगर्भप्राप्तौ २“एष देवपथो ब्रह्म-पथ एतेन प्रतिपाद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते” ४“तयोर्ध्वमायन्न-मृतत्वमेति” ५ इत्यमृतत्वप्राप्त्यपुनरावृत्तिव्यपदेशो नोपपद्यते, हिरण्यगर्भ-स्य कार्यभूतस्य द्विपरार्थकालावसाने विनाशशस्त्रात् ६“आ ब्रह्मभुवना-ल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन” इति वचनाद्विरण्यगर्भं प्राप्तस्य पुनरावृत्तोरव-र्जनीयत्वान्—इति; अत्राह—

**कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधा-
नात् । ४ । ३ । ९ ॥**

कार्यस्य-ब्रह्मलोकस्यात्यये तदध्यक्षेण-हिरण्यगर्भेणाधिकारिके-णावसिताधिकारेण विदुषा सह स्वयमपि तत्राभिगतविणः; अतः—कार्या-द्ब्रह्मलोकान् परं ब्रह्म प्राप्नोतीत्यर्चिरादिना गतस्यामृतत्वप्राप्त्यपुनरावृ-त्त्यभिधानात् ७“ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले परामृतात्परिमुच्यन्ति सर्वे” इति वचनाच्चावगम्यते ॥ ९ ॥

१. वा. ४-१२-२ ॥—२. वा. ४-१२-६ ॥—३. श्वे. ६-१८ ॥—४. ऋ. ४-६-१६ ॥—५. इत्यमृतत्वापुनरावृत्तिव्यपदेशः पा ॥ ६. जी. ८-१६ ॥
७. तै. जा. १०-अनु-२४ ॥

स्मृतेश्च । ४ । ३ । १० ॥

स्मृतेऽध्यायमर्थोऽवगम्यते-१'ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिस-
ज्जरे । परस्यान्ते कृतात्मनः प्रविशन्ति परं पदम्' इति । अतः कार्यमुपा-
सीनमेवाचिरादिको गणो नयतीति वादरेर्मतम् ॥ १० ॥

अत्र जैमिनिः पञ्चान्तरपरिग्रहेण प्रत्यवतिष्ठते-

परं जैमिनिर्मुख्यत्वात् । ४ । ३ । ११ ॥

परं ब्रह्मोपासीनानाचिरादिर्नयतीति जैमिनिराचार्यो मन्यते; कुतः?
मुख्यत्वात्-२'तत्पुरुषोऽमनवस्स एनान् ब्रह्म गमयति" इति ब्रह्मश-
ब्दस्य परस्मिन्नेव ब्रह्मणि मुख्यत्वात् । प्रमाणान्तरेण कार्यत्वं निश्चये
सत्येव हि लाक्षणिकत्वं युक्तम् । न च गमनानुपपत्तिः प्रमाणम्, पर-
स्य ब्रह्मणस्सर्वगतत्वेऽपि विदुषो विशिष्टदेशगतस्यैवाविद्यानिवृत्तिशा-
स्त्रान् । यथा हि विशोत्पत्तिर्यर्णाभमधर्मशौचाचारवंशकालाद्यपेक्षा ३'त-
मेतं वेशानुवचनेन" इत्यादिशास्त्रादवगम्यते, तथा निश्शेषाविद्यनिवर्त-
नरूपविद्यानिष्पत्तिरपि विशिष्टदेशगतिमापेक्षेति गतिशास्त्रादवगम्यते ।
विदुष उक्तान्तिप्रतिषेधादि तु पूर्वमेव परिद्वतम् । यत्तु ४ "ब्रह्मलोकान्"
इति लोकशब्दबहुवचनाभ्यां विशेषणात्कार्यभूतद्विरण्यगर्भप्रतीतिरिति;
तदयुक्तम्, निपादस्वपतिन्यायेन ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोक इति कर्मधा-
रयस्यैव युक्तत्वात्, अर्थस्य चैकत्वं निश्चिते बहुवचनस्य ५ "अदितिः
पाशान्" इतिबहुवचनेः; परस्य ब्रह्मणः परिपूर्णस्य सर्वगतस्य सत्यसङ्क-
ल्पस्य स्वेच्छापरिकल्पिताः स्वासाधारणा अप्राकृताश्च लोका नात्यन्ताय
न सन्ति, भुविस्मृतीतिहासपुराणप्रामाण्यात् ॥ ११ ॥

१. इमं पुराणे. पूर्वज. १२-२६४ ॥ २. अ. ४-१५-५, ६ ॥ ३. ४.
६-४-२२ ॥ ४. वृ. ८-२-१५ ॥ ५. ॥

दर्शनाच्च । ४ । ३ । १२ ॥

दर्शयति श्रुतिः मूर्धन्यनाड्या निष्क्रम्य देवयानेन गतस्य परब्र-
ह्मप्राप्तिम् १“एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्यातिरूपसम्पन्न
स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते” इति ॥१२॥

यदुक्तं २“प्रजापतेस्सभां वेश्म प्रपद्ये” इत्यर्चिरादिना गतस्य कार्ये
प्रत्यभिसन्धिर्दृश्यत इति तत्रोत्तरं—

न च कार्ये प्रत्याभिसन्धिः । ४ । ३ । १३ ॥

न चायं प्रत्यभिसन्धिः कार्ये हिरण्यगर्भे; अपि तु परस्मिन्नेव ब्र-
ह्मणि, वाक्यशेषे २“यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानाम्” इति तस्याभिस-
न्धातुस्सर्वाविद्याविमोक्तपूर्वकसर्वात्मभावाभिसन्धानान्, ३ “अथ इव
रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात्प्रमुच्य । धूत्या शरीरमकुतं कृत्वा
त्मा ब्रह्मलोकमभिसम्भवामि” इत्यभिसम्भाव्यस्य ब्रह्मलोकस्याकृतत्वं
भ्रष्टणान्, सर्ववन्धविनिर्मोकस्य च साक्षाच्छ्रवणान् । अतः परमेव ब्र-
ह्मोपासोनमर्चिरादिरातिवाहिको गणो नयतीति जैमिनेर्मतम् ॥ १३ ॥

इदानीं वादरायणस्तु भगवान् स्वमतेन सिद्धान्तमाह—

अप्रतीकालम्बनान्नयतीति वादरायण उभयधा च दोषात्तत्कृतुश्च । ४ । ३ । १४ ॥

अप्रतीकालम्बनान् प्रतीकालम्बनव्यतिरिक्तान् नयत्यर्चिरादि-
रातिवाहिको गण इति भगवान् वादरायणो मन्यते; एतदुक्तं भवति—

कार्यमुपासीनान्नयतीति नायं पक्षस्सम्भवति; परमेवोपासीनानित्ययमपि नियमो नास्ति; न च प्रतीकालम्बनानपि नयति; अपितु ये परं ब्रह्मोपासते, ये चात्मानं प्रकृतिवियुक्तं ब्रह्मात्मकमुपासते; तानुभयविधाञ्जयति; ये तु ब्रह्मकार्यान्तर्भूतनामादिकं वस्तु देवदत्तादिषु सिद्धादिदृष्टि-
यत् ब्रह्मदृष्ट्या, केवलं वा तत्तद्वस्तुपासते, न ताञ्जयति । अतः परं ब्रह्मोपासीनानात्मानं च प्रकृतिवियुक्तं ब्रह्मात्मकमुपासीनान्नयति-इति । कुतः ? उभयथा च दोषान् । कार्यमुपासीनान्नयतीति पक्षे १ “अस्माच्छरीरात्स-
मुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य” इत्यादिकाः श्रुतयः प्रकुप्येयुः; परमेवोपासीनानिति नियमे २ “तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये धृद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिमम्भवन्ति” इति पञ्चाग्निविद्दोऽर्चिरादिर्गणो नयतीति श्रुतिः प्रकुप्येन् । अतः उभयस्मिन्नपि पक्षे दोषस्त्यान् । तस्मादुभयविधा-
न्नयतीति । तदेतदाह-तत्क्रतुश्च-इति । तत्क्रतुः-तथोपासीनस्तथैव प्राप्नोतीत्यर्थः, ३ “यथाक्रतुरस्मिन् लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति” ४ “तं यथायथोपासते” इति न्यायान् । पञ्चाग्निविद्दोऽप्यर्चिरादिना गतिश्च-
वृणान्, अर्चिरादिना गतस्य ब्रह्मप्राप्त्यपुनरावृत्तिश्चवृणात् । अत एव तत्क्रतुन्यायात्प्रकृतिविनिर्मुक्तब्रह्मात्मकात्मानुसन्धानं सिद्धम् । नामादि-
प्राणपर्यन्तप्रतीकालम्बनानां नूभयविधश्रुतिसिद्धां पासनाभावाच्चिन्मि-
धोपामने तत्क्रतुन्यायाच्चार्चिरादिना गतिर्ब्रह्मप्राप्तिश्च न विद्यते ॥ १४ ॥

नमिमं विशेषं श्रुति रेव दर्शयतीत्याह—

विशेषञ्च दर्शयति । ४ । ३ । १५ ॥

५ “यावज्जानो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति” इत्यादिका श्रु-

१. छा. ८-३-४ ॥—२. छा. २-१०-१ ॥—३. छा. ३-१४-१ ॥—४ ॥

५. छा. ७-१-२ ॥

तिः १ नामादिप्राणपर्यन्तप्रतीकमुपासीनानां गत्यनपेक्षं परिमितकलविशेषं च दर्शयति; तस्मादचिन्मिश्रं कंचलं चाग्निद्वस्तु ब्रह्मदृष्ट्या नद्वियोगेन च य उपासते, न तान् नयति, अपितु परं ब्रह्मापासीनानात्मानं च प्रकृतिवियुक्तं ब्रह्मात्मकमुपासीनानातिबाहिकं गणं नयतीति सिद्धम् ॥

इति शरीरकमीमांसाभाष्ये कार्याधिकरणम् ॥ ५ ॥

इति भगवद्रामानुजविरचिते शरीरकमीमांसाभाष्ये
चतुर्थस्याध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

—:—

श्रीमते रामानुजाय नमः.

श्रीभगवद्रामानुजधिरचिते

श्रीशारिरकमीमांसाभाष्ये

—(चतुर्थाध्याये-चतुर्थः पादः-सम्पद्याविर्भावधिकरणम् ॥१॥)—

सम्पद्याविर्भावस्वेनशब्दात् । ४ । ४ । १ ॥

परं ब्रह्मोपासीतानामात्मानं च प्रकृतिवियुक्तं ब्रह्मात्मकमुपासी-
नानामर्चिरादिना मार्गेणापुनरावृत्तिलक्षणा गतिरुक्ता; इदानीं मुक्ताना-
मैश्वर्यप्रकारं चिन्तयितुमारभते । इदमागन्नायते-१“एवमेवैष संप्रसादोऽ-
स्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पन्नं स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते”
इति । किमस्माच्छरीरात्समुत्थाय परज्योतिरुपसम्पन्नस्य देवादिरूपव-
त्साध्येन रूपेण सम्यन्धोऽनेन वाक्येन प्रतिपाद्यते, उत स्वाभाविकस्य
स्वरूपस्याविर्भाव इति संशये, साध्येन रूपेण सम्यन्ध इति युक्तम् । अ-
न्यथा ह्यपुरुषार्थावबोधित्वं मोक्षशान्त्रस्य स्थानं, स्वरूपस्य स्वतोऽपुरु-
षार्थत्वदर्शनान् । न हि मुपुप्रौ देहेन्द्रियव्यापारेषूपरतेषु केवलस्यात्मस्व-
रूपस्य पुरुषार्थसम्यन्धो दृश्यते; न च दुःस्वनिवृत्तिमात्रं परं ज्योतिरु-
पसम्पन्नस्य पुरुषार्थः, येन स्वरूपाविर्भाव एव मोक्षः इत्युच्येत; २“स
एको ब्रह्मण आनन्दः । भोग्रियस्य चाकामहतस्य” ३“रसं ह्येवायं ल-
ब्ध्वाऽनन्दी भवति” इत्यादिभ्यो मुक्तस्य सुखानन्त्यभयणान् । नचापरि-
च्छिन्नानन्दरूपधन्यमेवायं स्वरूपम्, तच्च संसारदशायामविद्यया तिरो-
हितं परं ज्योतिरुपसम्पन्नस्याविर्भावतीति शक्यं वक्तुम्, ज्ञानस्वरूपस्य

तिरोधानासम्भवात् । प्रकाशपर्यायस्य ज्ञानस्य तिरोधानं तद्विनाश एवे-
ति हि पूर्वमेवोक्तम् । नच प्रकाशमात्रस्याऽनन्दता सम्भवति; मुख्यस्वरू-
पता ह्यानन्दस्वरूपता; मुख्यस्वरूपत्वं चात्मनोऽनुकूलत्वम्; प्रकाशमा-
त्रात्मवादिनः कस्य प्रकाशोऽनुकूलवेदनीयो भवेदिति प्रकाशमात्रात्मवा-
दिनः कथंचिदप्यानन्दस्वरूपता दुरुपपादा । स्वरूपापत्तिमात्रे च साध्यं
स्वरूपस्य नित्यनिष्पन्नत्वादुपसम्पन्नस्य १ “स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते”
इति वचनमनर्थकं स्यात् । अतोऽपूर्वेण साध्यं रूपेण सम्पद्यते । एवं
च १ “अभिनिष्पद्यते” इति वचनं मुख्यार्थमेव भवति । १ “स्वेन रूपेण”
इत्यप्यानन्दैकान्तेन स्वासाधारणेनाभिनिष्पद्यते इति सङ्गच्छत इति ॥

—(सिद्धान्तः)—

एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे-सम्पन्नाविर्भावः-इति । अयं प्रत्यगात्माऽर्चिरा-
दिना परं ज्योतिरुपसम्पद्य यं दशाधिशेषमापद्यते, स स्वरूपाविर्भाव-
रूपः ; नापूर्वाकारोत्पत्तिरूपः । कुतः ? स्वेन शब्दान् १ “स्वेन रूपेण” इति
विशेषणोपादानादित्यर्थः । आगन्तुकधिशेषपरिग्रहे हि १ “स्वेन रूपेण”
इति विशेषणमनर्थकं स्यात्, अविशेषणेऽपि तस्य स्वकीयरूपत्वमिद्वेः ॥

यत्तुक्तं स्वरूपस्य नित्यप्राप्त्यान् १ “उपसम्पन्नाभिनिष्पद्यते”
इति वचनमनर्थकमिति-तत्रोत्तरं-

मुक्तः प्रतिज्ञानात् । ४ । ४ । २ ॥

कर्मसम्यग्भवतत्कृतदेहादिनिर्मुक्तः स्वाभाविकरूपेणावस्थितोऽत्र
१ “स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते” इत्युच्यते । अतो नित्यप्राप्तस्यापि स्वरूपस्य
कर्मरूपाविद्यातिरोहितस्य तिरोधाननिवृत्तिरत्राभिनिष्पन्निरुच्यते । कुतः ?
प्रतिज्ञानान्-मा हि प्रतिपाद्यतया प्रतिज्ञाता । कुत इदमवगम्यते ? २ “य
आत्मा” इति प्रकृतं प्रत्यगात्मानं जागरितावयवस्थावितयविनिर्मुक्तं,

प्रियाप्रियहेतुभूतकर्मारब्धशरीरविनिर्मुक्तं च प्रतिपादयितुम् १“एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि” इति पुनःपुनरुक्त्या २“एवमेवैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते” इत्यभिधानात् । अतः कर्मणा सम्बद्धस्य परं ज्योतिरुपसम्पद्य बन्ध-
निवृत्तिरूपा मुक्तिः स्वेन रूपेणाभिनिष्पत्तिरुच्यते । स्वरूपाविर्भावोऽप्य-
भिनिष्पत्तिशब्दो दृश्यते, ‘युक्त्याऽयमर्थो निष्पद्यते’ इत्यादिषु ॥ २ ॥

यद्योक्तम्-आत्मस्वरूपस्य सुषुप्तावपुरुषार्थत्वदर्शनात्स्वरूपाविर्भा-
वे मोक्षशास्त्रस्यापुरुषार्थबोधित्वं स्यादिति कृत्वा देवाद्यवस्थावत्सुख-
सम्बन्धवस्थान्तरप्राप्तिरभिनिष्पत्तिः-इति ; तत्रोत्तरम्-

आत्मा प्रकरणात् । ४ । ४ । ३ ॥

स्वरूपेणैवायमात्मा अपहृतपाप्मत्वादिसत्यसङ्कल्पत्यपर्यन्तगुणकः
प्रकरणादवगम्यते ; ३“य आत्माऽपहृतपाप्मा विजरो विमृशुर्बिशोको
विजिघत्सोऽपिपासस्तत्यक्कामस्तत्यसङ्कल्पः” इति हि प्रजापतिवाक्यप्र-
काशः ; इदं च प्रकरणं प्रत्यगात्मविषयमिति ४“उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूप-
स्तु” इत्यत्र प्रतिपादितम् । अतोऽपहृतपाप्मत्वादिस्वरूप एवायमात्मा सं-
सारदशायां कर्माख्याविद्यया तिरोहितस्वरूपः परं ज्योतिरुपसम्पद्यावि-
र्भूतस्वरूपो भवति । अतः प्रत्यगात्मनोऽपहृतपाप्मत्वादयस्स्वाभाविका
गुणाः परं ज्योतिरुपसम्पन्नस्याविर्भवन्ति ; नोत्पद्यन्ते ; यथोक्तं भगवता
शौनकेनापि ५“यथा न क्रियते ज्योत्स्ना मलप्रक्षालनान्मण्येः । श्लोपप्र-
क्षालणान्न ज्ञानमात्मनः क्रियते तथा । यथादपानकरणात्क्रियते न जला-
म्बरम् । सदेव नीयते व्यक्तिसप्ततस्तम्भवः कुतः । तथा देयगुणध्वंसा-
द्वयोधादयो गुणाः । प्रकाशयन्ते न जन्यन्ते नित्या एवात्मनां हि ते”
इति । अतो ज्ञानानन्दादिगुणानां कर्मणा आत्मानि सङ्कुचितानां परं

१. छा. ८-४-३ ॥--२. छा. ८-१२-२ ॥--३. छा. ८-७-१ ॥--

४. शारी. १-३-१८ ॥--५. विष्णुधर्म. १०४, ४२, ४९, ४७ ॥

ज्योतिरुपसम्पन्न कर्मरूपबन्धक्षये विकासरूपाधिर्भावो नानुपपन्न इति
सुस्पृक्तं—सम्पन्नाविर्भावः—इति ॥ ३ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये सम्पन्नाविर्भावाधिकरणम् ॥ १ ॥

—(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अविभागेन दृष्टत्वाधिकरणम् ॥)—

अविभागेन दृष्टत्वात् । ४ । ४ । ४ ॥

किमयं परं ज्योतिरुपसम्पन्नः सर्वबन्धविनिर्मुक्तः प्रत्यगात्मा स्वा-
त्मानं परमात्मनः पृथग्भूतमनुभवति, उत तत्प्रकारतया तदविभक्तम्—इति
विशये १“सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता” २“यदा
पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमोशं पुरुषं ब्रह्मयानिम् । तदा विद्वान् पु-
ण्यपापे विभूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति” ३“इदं ज्ञानमपाभित्य मम
साधर्म्यमागताः । सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च” इत्यादि-
भुतिस्मृतिभ्यां मुक्तस्य परेण सादित्यसाम्यसाधर्म्यावगमात् पृथग्भूतम-
नुभवति—

—(सिद्धान्तः)—

इति प्राप्त उच्यते—अविभागेन—इति । परस्माद्ब्रह्मणः स्वात्मानमविभा-
गेनानुभवति मुक्तः । कुतः ? दृष्टत्वात्—परब्रह्मोपसम्पत्त्या नियुक्ताविशा-
तिरोधानस्य याथातथ्येन स्वात्मनो दृष्टत्वात् । स्वात्मनः स्वरूपं हि ४“त-
त्त्वमसि” ५“अयमात्मा ब्रह्म” ४“मेतदात्म्यमिदं सर्वं” ६“सर्वं ख-
ल्विदं ब्रह्म” इत्यादिसामानाधिकरण्यनिर्देशैः ७“य आत्मानि विप्रजा-
त्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्याऽत्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमय-
ति स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः” ८“अन्तः प्रथिप्रशस्ता जनानां सर्वा-
त्मा” इत्यादिभिश्च परमात्मात्मकं तच्छरीरतया तत्प्रकारभूतमिति प्रति-

पादितम् १ “अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः” इत्यत्र । अतोऽधिभागेन ‘अहं ब्रह्माणि’ इत्येवानुभवति । साम्यसाधर्म्यव्यपदेशो ब्रह्मप्रकारभूतस्यैव प्रत्यगात्मनः स्वरूपं तत्सममिति देवादिप्राकृतस्वरूपप्रहाणेन ब्रह्मसमानशुद्धिं प्रतिपादयति । सहभ्रुतिस्त्वेवंभूतस्य प्रत्यगात्मनः प्रकारिणा ब्रह्मणा सह तद्गुणानुभवं प्रतिपादयतीति न कश्चिद्विरोधः । ब्रह्मप्रकारतया तदधिभागोक्तेर्हि २ “सङ्कल्पादेव तच्छ्रुतेः” इत्यादि न विरुध्यते, ३ “अधिकन्तु भेदनिर्देशान्” ४ “अधिकोपदेशान्” इत्यादि च ॥ ४ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अधिभागेनदृष्टत्वाधिकरणम् ॥२॥

—(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये ब्राह्माधिकरणम् ॥ ३)—

ब्राह्मेण जैमिनिरूपन्यासादिभ्यः । ४ । ४ । ५ ॥

प्रत्यगात्मनः परं ज्योतिरूपसम्पन्नं निवृत्ततिरोधानस्य स्वरूपाधिर्भावः पश्यत्युक्तम् । तत्र येन स्वरूपेणायमाधिर्भवति; तत्स्वरूपं भ्रुतिवैविध्याद्विचार्यते । किमपहतपाप्मत्वादिकमेवास्य स्वरूपमिति तेन रूपेणायमाधिर्भवति, उत विज्ञानमात्रमेवेति तेन रूपेण, अधोभयोरविरोध इत्युभयरूपेणेति । किं नावत्प्राप्तम् ? ब्राह्मेणेति जैमिनिराचार्यो मन्यते । ब्राह्मेण-अपहतपाप्मत्वादिनेत्यर्थः । अपहतपाप्मत्वादयो हि दहरवाक्ये ब्रह्मसम्यन्धितया धृताः । ब्राह्मेणेति कुतोऽवगम्यते ? उपन्यासादिभ्यः; उपन्यस्यन्ने हि ब्रह्मगुणाः अपहतपाप्मत्वादयः प्रत्यगात्मनोऽपि प्रजापतिवाक्ये ५ “य आत्माऽपहनपाप्मा” इत्यादिना ५ “सत्यसङ्कल्पः” इत्यन्तेन । आदिशब्देन सत्यसङ्कल्पत्वादिरुणायत्ता जज्ञणादयः ६ “जज्ञत्क्रीडन्नममाणः” इत्यादिवाक्यायगता व्यवहारा गृह्यन्ते । अतः पश्य

१. शारी. १-४-२२ ॥—२. शारी. ४-४-८ ॥—३. शारी. २-१-२२ ॥

४. शारी. ३-४-८ ॥—५. छ. ८-३-१ ॥—६. छ. ८-१-२-३ ॥

उपन्यासादिभ्यः प्रत्यगात्मनो विज्ञानमात्रस्वरूपत्वं न सम्भवतीति जैमि-
नेर्मतम् ॥ ५ ॥

चिति तन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलौ-

मिः । ४ । ४ । ६ ॥

१ चैतन्यमात्रमेवास्य स्वरूपमिति तेन रूपेणाधिर्भवतीत्यौडुलोमि-
राचार्यो मन्यते । कुतः ? तदात्मकत्वान्-तावन्मात्रात्मकत्वादस्य प्रत्य-
गात्मनः । २ “स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽद्याहः कृत्स्नो रसघन एव
एवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तरोऽद्याहः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव” ३ “विज्ञान
घन एव” इत्यवधारणान् विज्ञानमात्रमेवास्य स्वरूपमित्यवगम्यते ।
अतोऽस्य गुणान्तराभाधान् ४ “अपहृतपाप्मा” इत्यादयः शब्दाः विष्ठा-
रमुखदुःखाद्यविद्यात्मकधर्मव्यावृत्तिपरा इति चिति तन्मात्ररूपेणाधिर्भाव
इत्यौडुलोमेर्मतम् ॥ ६ ॥

सम्प्रति भगवान् यादरायणः स्वमतेन सिद्धान्तमाह—

एवमप्युपन्यासात्पूर्वभावादविरोधं वादरा-

यणः । ४ । ४ । ७ ॥

एवमपि—विज्ञानमात्रस्वरूपत्वप्रतिपारने सत्यपि, मत्स्यकामत्वा-
दीनां पूर्वोक्तानां गुणानामविरोधं यादरायण आचार्यो मन्यते । कुतः ?
उपन्यासात्पूर्वभाधान्-अपनिषद्वात् ४ “य आत्माऽपहृतपाप्मा” इत्या-
द्युपन्यासात्प्रमाणान् पूर्वेषाम्-अपहृतपाप्मत्वसत्यकामत्वादीनामपि भा-
वान्-विगमानत्वात् । तुल्यप्रमाणकानामिन्तरेतरबाधो न युज्यते इत्यर्थः ।
नच वस्तुविरोधादपहृतपाप्मत्वादीनामविद्यापरिकल्पितत्वं न्याय्यम्,

१. चैतन्यमात्रमेवात्मनः पा ॥—२. वृ. ६-२-१३ ॥—३. वृ. ४-४ १२ ॥

विशेषाभावात् 'विपरीतं कस्मान्न भवति' इति न्यायात् । तुल्यवस्तुत्वे
 तदवयवस्यावधारणस्यान्यपरत्वमेव न्याय्यम् । एवमप्यविरोध इत्यभ्यु-
 पगम्य वदन् ज्ञानमात्रमेवास्य स्वरूपं नान्यत्किञ्चिदस्त्येत्ययमर्थः १ "वि-
 ज्ञानघन एव" इत्यादिभिर्न प्रतिपाद्यत इति मन्यते । कस्तर्हि २ "विज्ञानघन
 एव" इत्यवधारणस्यार्थः ? कृत्स्नोऽप्यात्मा जडव्याघृतस्वप्रकाशः
 नान्यायत्तप्रकाशः स्वल्पोऽपि प्रदेशोऽस्तीत्ययमर्थो वाक्यादेव सुव्यक्तः
 ३ "स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽद्याहः कृत्स्नो रसघन एव एवं वा अरेऽ-
 यमात्माऽनन्तरोऽद्याहः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव" इति । नचैवं प्रत्यगात्मनो
 धर्मिस्वरूपस्य कृत्स्नस्य विज्ञानघनत्वेऽप्यपहतपाप्मत्वसत्यसङ्कल्पत्वादिध-
 र्मसम्बन्धो वाक्यान्तरावगतो विरुध्यते; यथा सैन्धवघनस्य कृत्स्नस्य
 रसघनत्वे रसनेन्द्रियावगते चक्षुरावगताः रूपकाठिन्यादयो न विरु-
 ध्यन्ते । इदमत्र वाक्यतात्पर्यं—यथा रसवत्स्वाम्रफलादिषु त्यगादिप्रदेश-
 भेदेन रसभेदे सत्यपि सैन्धवघनस्य सर्वत्रैकरसत्वम् ; तथाऽऽत्मनोऽपि
 सर्वत्र विज्ञानस्वरूपत्वम् ; स्वप्रकारास्वरूपत्वमित्यर्थः ॥ ७ ॥

इति भीशारीरकमीमांसाभाष्ये ब्राह्माधिकरणम् ॥ ३ ॥

(भीशारीरकमीमांसाभाष्ये संकल्पाधिकरणम् ॥ ४ ॥)

संकल्पादेव तच्छ्रुतेः । ४ । ४ । ८ ॥

मुक्तः परं ब्रह्मोपसम्पन्न ज्ञानस्वरूपोऽपहतपाप्मत्वादिसत्यसङ्कल्प-
 त्वपर्यन्तगुणक आविर्भवतीत्युक्तम् ; तमधिकृत्य सत्यसङ्कल्पत्वप्रयुक्त
 व्यवहाराः भूयन्ते ४ "स तत्र पर्येति जज्ञन्क्रोडजममाणः स्त्रीभिर्वा
 यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा" इति । किमस्य ज्ञात्यादिप्राप्तिः प्रयजान्तरसापेक्षा,

१. वृ. ४-४-१२ ॥—२. वृ. ४-४-१२ ॥—३. वृ. ५-४-१३ ॥

४. वा. ८-१२-३ ॥

उत परमपुरुषस्येव सङ्कल्पमात्रादेव भवतीति विशये; लोके राजादीनां सत्यसंकल्पत्वेन व्ययद्वियमाणानां कार्यनिष्पादने प्रयत्नान्तरसापेक्षत्वदर्शनादस्यापि तत्सापेक्षा—

—(सिद्धान्तः)—

इति प्राप्त उच्यते—सङ्कल्पादेव—इति । कुनः ? तच्छ्रुतेः १ “स यदि पितृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य पितरसमुत्तिष्ठन्ति” इति हि सङ्कल्पादेव पित्रादीनां समुत्थानं भूयते । नच प्रयत्नान्तरसापेक्षत्वाभिधायि ध्रुत्यन्तरं दृश्यते; येनास्य “सङ्कल्पादेव” इत्यवधारणस्य २ “विज्ञानधन एव” इतिवद्व्यवस्थापनं क्रियते ॥ ८ ॥

अत एव चानन्याधिपतिः । ४ । ४ । ९ ॥

यतो मुक्तस्सत्यसङ्कल्पः; अत एवानन्याधिपतिश्च । अन्याधिपतित्वं हि विधिनिषेधयोग्यत्वम् । विधिनिषेधयोग्यत्वे हि प्रतिदत्तसङ्कल्पत्वं भवेत् । अतस्सत्यसङ्कल्पत्वध्रुत्यैवानन्याधिपतित्वं च सिद्धम् । अत एव ३ “स स्वराद्भवति” इत्युच्यते ॥ ६ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये सङ्कल्पाधिकरणम् ॥ ४ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अभावाधिकरणम् ॥ ५ ॥)

अभावं वादरिराह ह्येवम् । ४ । ४ । १० ॥

किं मुक्तस्य देहेन्द्रियाणि न सन्ति, उत सन्ति, अथवा यथासङ्कल्पं सन्ति न सन्तिचेति विशये-शरीरेन्द्रियाणामभावं वादरिराचार्या मन्यते; कुनः ? आह शेषं—४ “नह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रियो-

१. पा. ८-२-१ ॥—२. वृ. ४-४-१२ ॥—३. पा. ७-२५-२ ॥

४. पा. ८-१२-१, २ ॥

रपहतिरस्ति । अशरीरं वा ध सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः" इति शरीर-
सम्बन्धे दुःखस्यावर्जनीयत्वमभिधाय १ "अस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं
उद्योतिरुपसम्पन्नं स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इति मुक्तस्याशरीरत्वं ह्याह
भ्रुतिः ॥ १० ॥

भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् । ४ । ४ । ११ ॥

मुक्तस्य शरीरेन्द्रियभावं जैमिनिराचार्यो मन्यते, कुतः ? विकल्पा-
मननात्-विधिः कल्पां विकल्पः; वैविध्यमित्यर्थः, २ "स एकधा
भवति त्रिधा भवति, पञ्चधा सप्तधा" इत्यादिभ्रुतेः । आत्मन एकस्या-
नेकधाभावासम्भवात् त्रिधाभावादयः शरीरनिबन्धना इत्यवगम्यते ।
अशरीरत्ववचनं तु कर्मनिमित्तशरीराभावपरम्; तदेव हि शरीरं प्रिया-
प्रियहेतुः ॥ ११ ॥

भगवांस्तु वादरायणः स्वमतेन सिद्धान्तमाह—

द्वादशाहवदुभयविधं वादरायणोऽतः । ४ । ४ । १२ ॥

'सकृत्पादेव' इत्येतद्वत्शब्देन परामृश्यते; अत एव सकृत्पात्,
उभयविधं सशरीरमशरीरं च मुक्तं भगवान् वादरायणो मन्यते; एवञ्चो-
भयां भ्रुतिरुपपद्यते; द्वादशाहवत्—यथा ३ "द्वादशाहमृद्धिकामा उपेयुः"
४ "द्वादशाहेन प्रजाकामं याजयेत्" इत्युपैतियजतिचादनाभ्यां सकृत्पभेदेन
सत्रमहीनं च भवति ॥ १२ ॥

यदा शरीराद्युपकरणवत्त्वम्; तदा तानि शरीराद्युपकरणानि स्वे-
नैव सृष्टानीति नास्ति नियम इत्याह—

तन्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः । ४ । ४ । १३ ॥

स्वेनैव सृष्टतनुप्रभृत्युपकरणाभावे परमपुरुषसृष्टैरुपकरणैर्भोगो-
पपत्तेः सत्यसकृत्पोऽपि स्वयं न सृजति । यथा स्वप्ने ५ अथ स्थानं

१. छा. ८. १२-१, २ ॥—२. छा. ७. २१-२ ॥—३ ॥—४ ॥—५, गू.

रथयो गान् पथस्सृजते” इत्यारभ्य १ “अथ वेशन्तान् पुष्करिण्यः चवन्यः
सृजते स हि कर्ता” इति २ “य एषु सुप्तेषु जागति कर्मकामं पुरुषो नि-
र्मिमाणः तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते तस्मिन् लोकारिभ्रतास्सर्वे
तदु नात्येति कथन” इति ईश्वरसृष्टैः रथागुपकरणैर्जीवां भुङ्क्तेः तथा मु-
क्तोऽपि लीलाप्रवृत्तेनेश्वरेण सृष्टैः पितृलोकादिभिर्लोलारसं भुङ्क्ते ॥१३॥

भावे जाग्रद्वत् । ४ । ४ । १४ ॥

स्वसङ्कल्पादेव सृष्टतनुप्रभृतिपितृलोकाद्युपकरणभावे जाग्रत्पुरुष-
भोगवन्मुक्तोऽपि लोलारसं भुङ्क्ते; परमुपपुरुषोऽपि लीलार्थं दशरथवसु-
देवादिपितृलोकादिकमात्मनः सृष्ट्वा तैर्मनुष्यवर्मलीलारसं यथा भुङ्क्ते;
तथा मुक्तानामपि स्वजीलार्थे पितृलोकादिकं स्वयमेव सृजति कदाचिन्;
कदाचिन् मुक्ताः सः स्वसङ्कल्पवशात्परमपुरुषतोलावर्तगत्स्वीते लोकादिकं
स्वयमेव सृजन्तीति सर्वमुपपन्नम् ॥ १४ ॥

तन्वात्माऽणुपरिमाण इत्युक्तम् ; कथमनेकशरीरेष्वेकस्याणोरा-
त्माभिमानसम्भव इत्यग्राह—

प्रदीपवदावेशस्तथाहि दर्शयति । ४ । ४ । १५ ॥

यथा प्रदीपस्यैकस्यैकस्मिन्देशे वर्तमानस्य स्वप्रभया देशान्तरावेशः
तथाऽऽत्मनोऽप्येकदेहस्थितस्यैव स्वप्रभारूपेण चैतन्येन सर्वशरीरावेशो
नानुपपन्नः; यथा चैकस्मिन्नपि देहे हृदयाण्येकप्रदेशवर्तिनोऽपि चैतन्य-
व्याप्त्या सर्वस्मिन् देहे आत्माभिमानः, तद्वन् । इयान्विशेषः—अमुक्तस्य
कर्मणा सङ्कुचितज्ञानस्य देहान्तरेषु आत्माभिमानानुगुणव्याप्तिर्न सम्भव-
ति; मुक्तस्य त्वसङ्कुचितज्ञानस्य यथासङ्कल्पमात्माभिमानानुगुणा व्याप्तिः
‘इदम्’ इति ग्रहणानुगुणा च नानुपपन्ना । तथाहि दर्शयति ३ ‘बालाग्रशत
भागस्य शतधा कल्पितस्य च । भागो जीवस्स विज्ञेयस्स चानन्त्याय कल्पने’
इति । अमुक्तस्य कर्म नियामकम् ; मुक्तस्य तु स्वेच्छेति विशेषः ॥

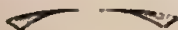
ननु परं ब्रह्म प्राप्तस्यान्तराहङ्गज्ञानलोपं दर्शयति भुतिः १“प्रा-
ज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तं न ब्रह्म किञ्चन वेद नान्तरम्” इति; तत्कथं
मुक्तस्य सार्वज्ञ्यमुच्यते ? तत्रोत्तरं—

स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं

हि । ४ । ४ । १६ ॥

नेदं वचनं मुक्तविषयम् ; अपितु स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षम् । स्वाप्य-
यः—सुपुप्तिः; सम्पत्तिश्च—मरणम्, २“बाह्मनसि सम्पद्यते” इत्यारभ्य २“नि-
जः परम्यां देयतायाम्” इति वचनात् । तयोश्चायस्योः प्राज्ञप्राप्तिर्निस्स-
म्बोधत्वं च विद्येते । अतस्तयोरन्यतरापेक्षमिदं वचनम् । सुपुप्तिमरण-
योर्निस्सम्बोधत्वं, मुक्तस्य च सर्वज्ञत्वमाविष्कृतं हि भुत्या ३“नाहं
खल्वयमेवं सम्प्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो ण्वेमानि भूतानि वि-
नाशमेषापीतो भवति नाहमत्र भोग्यं पश्यामि” इति सुपुप्तिष्वेलायां
निस्सम्बोधत्वमुक्तत्वा तस्मिन्नेव वाक्ये मुक्तमधिकृत्य ४“स वा एष हि-
ज्येन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते य एते ब्रह्मलोके” इति
सर्वज्ञत्वमुच्यते । तथा ५“सर्वं ह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वशः”
इति च स्पष्टमेव सर्वज्ञत्वमुच्यते । तथा मरणे च निस्सम्बोधत्वम् ६“ए-
तेभ्यो भूतेभ्यस्ममुत्थाय तान्येवानु विनश्यति” इत्युक्तम् । विनश्यति-
नपश्यतोत्यर्थः । अतः ७“प्राज्ञेनाऽत्मना” इति वचनं स्वाप्ययसम्पत्त्यो-
रन्यतरापेक्षम् ॥ १६ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अभावाधिकरणम् ॥ १० ॥



१. वृ. १-२-२१ ॥— २. धा. १-८-१ ॥— ३. धा. ८-११-२ ॥

४. धा. ८-१२-२ ॥— ५. धा. ७-२१-२ ॥— ६. वृ. ४-४-१२ ॥

७. वृ. १-२-२१ ॥

—(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये जगद्व्यापारवर्जाधिकरणम् ॥)—

जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहित- त्वाच्च । ४ । ४ । १७ ॥

किं मुक्तस्यैश्वर्यं जगत्सृष्ट्यादि परमपुरुषासाधारणं सर्वैश्वर्य-
मपि, उत तद्वहितं केवलपरमपुरुषानुभवविषयमिति संशयः । किं युक्तम् ?
जगदीश्वरत्वमपीति । कुतः ? १ “निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति” इति
परमपुरुषेण परमसाम्यापत्तिश्चुतेः, सत्यसङ्कल्पत्वश्चुतेः । नहि परमसा-
म्यसत्यसङ्कल्पत्वे सर्वैश्वरासाधारणजगन्नियमनेन विनोपपद्येते । अत-
स्त्यसङ्कल्पत्वपरमसाम्योपपत्तये समस्तजगन्नियमनरूपमपि मुक्तस्यै-
श्वर्यमिति ॥

—(सिद्धान्तः)—

एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे-जगद्व्यापारवर्जम्-इति । जगद्व्यापारः-निखि-
लचेतनाचेतनस्वरूपस्थितिप्रवृत्तिभेदनियमनम् । तद्वर्जं निरस्तनिखिलति-
रोथानस्य निर्व्याजब्रह्मानुभवरूपं मुक्तस्यैश्वर्यम् । कुतः ? प्रकरणान्-नि-
खिलजगन्नियमनं हि परं ब्रह्म प्रकृत्याऽस्मायते २ “यतो वा इमानि
भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजि-
ज्ञासस्व तद्ब्रह्म” इति । यणेनन्निखिलजगन्नियमनं मुक्तनामपि साधारणं
स्यात्, ततश्चेदं जगदीश्वरत्वरूपं ब्रह्मलक्षणं न सङ्गच्छते ; असाधारण-
स्य हि लक्षणत्वम् । तथा ३ “सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं
तदैक्षत बह्वृ स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽमृजत” ४ “ब्रह्म वा इदमेकमेवाग्र
आसीत् तदेकं सन्न व्यभवत् तच्छ्रेयोरूपमत्यमृजत क्वत्रं यान्येतानि दे-
वक्षत्राणि इन्द्रो वरुणस्सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरोशान इति”

१. मु. १-१-३ ॥—२. तै. अग. १-अनु ॥—३. धा. १-२-१ ॥

४. नृ. १-४-११ ॥

१“आत्मा वा इदमेकएवाम् आसीत् नान्यत्किंचन मिपन् स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति स इमान् लोकानसृजत” २“एको ह वै नारा-
यण आसीन्न ब्रह्मा नेशानो नेमे आयापृथिवी न नक्षत्राणि नापो ना-
ग्निर्न सोमो न सूर्यः स एकाकी न रमेत तस्य ध्यानान्तस्थस्यैका कन्या
दशेन्द्रियाणि” इत्यादिषु । ३“यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरः”
इत्यारभ्य ४ “य आत्मनि तिष्ठन्” इत्यादिषु च निखिलजगन्निगम-
नं परमपुरुषं प्रकृत्यैव ध्रूयते । असन्निहितत्वाच्च-नचैतेषु निखिलजगन्नि-
गमनप्रसङ्गेषु मुक्तस्य सन्निधानमस्ति; येन जगद्व्यापारस्तस्यापि स्यात् ॥

प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकारिकमण्ड-

लस्थोक्तेः । ४ । ४ । १८ ॥

५ “स स्वराद्भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति”
६ “इमान् लोकान् कामाग्नी कामरूप्यनुसंचरन्” इति प्रत्यक्षेण-भुत्या
मुक्तस्य जगद्व्यापार उपदिश्यते; अतो न जगद्व्यापारवर्जमिति चेत्-
तन्न, आधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः; आधिकारिकाः-अधिकारेषु नियुक्ता
द्विरण्यगर्भादयः; मण्डलानि तेषां लोकाः; तत्स्थाः-भोगाः मुक्तस्याकर्मव-
श्यस्य भवन्तीत्ययमर्थः ७ “तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति”
इत्यादिनोच्यते । अकर्मप्रतिदत्तज्ञानो मुक्तो विकारलोकान् ब्रह्मविभूति-
भूताननुभूय यथाकामं वृष्यतीत्यर्थः । तदेवं विकारान्तर्धर्तिनः आधि-
कारिकमण्डलस्थान् सर्वान् भोगान् ब्रह्मविभूतिभूताननुभवतीत्यनेन वा-
क्येनोच्यते; न जगद्व्यापारः ॥ १८ ॥

यदि संसारिवन्मुक्तोऽपि विकारान्तर्धर्तिनो भोगान् भुङ्क्ते, तर्हि
यद्वस्थेय मुक्तस्याप्यन्तर्धर्तव्यं भाग्यजातमल्पं च स्यात्; तत्राह—

१. ऐत. १-१ ॥—२. महो. १-अ १ ॥—३. य. २-३-३ ॥—४. उतपथ.
१४-२-३० ॥—५. ए. ७-२२-२ ॥—६. त. अणु. १०-२ ॥

विकारावर्ति च तथाहि स्थितिमाह . ४ । ४ । १९॥

विकारे—जन्मादिके न वर्तते इति विकारावर्ति; निर्धूतनिखिलविकारं निखिलहेयप्रत्यनीककल्याणैकतानं, निरतिशयानन्दं, परं ब्रह्म सविभूतिकं, सफलकल्याणगुणमनुभवति मुक्तः । तद्विभूत्यन्तर्गतत्वेन विकारवर्तिनां लोकनामपि मुक्तभोग्यत्वम् । तथाहि परस्मिन् ब्रह्मणि निर्धूतकारेऽन्यधिकातिशयानन्दे मुक्तस्यानुभविष्यत्वेन स्थितिमाह भुतिः—
 १“यदा होवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते अथ सोऽभयं गतो भवति” १ “रसो वै सः रसं होवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति” इत्यादिका । तद्विभूतिभूतं च जगत्तत्रैव वर्तते २“तस्मिन् लोकारिभतास्सर्वे तद्गु नात्येति कञ्चन” इति भुतेः । अतस्सविभूतिकं ब्रह्मानुभवन्विकारान्तर्धर्तिनः आधिकारिकमण्डलस्थानपि भोगान् भुङ्क्त इति ३“सर्वेषु लोकेषु कामचारः” इत्यादिनोच्यते; न मुक्तस्य जगद्व्यापारः ॥ १६ ॥

दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने । ४ । ४ । २० ॥

अस्य प्रत्यगान्मनो मुक्तस्य नियाम्यभूतस्य नियन्तृभूतपरमपुरुपासाधारणं जगद्व्यापाररूपं नियमनं न सम्भवतीत्युक्तम्; निखिलजगन्नियमनरूपो व्यापारः परमपुरुपासाधारण इति दर्शयतः भुतिस्मृती-
 ४ “भीपाऽस्माद्वातः पचते भीपोदेति सूर्यः भीपाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धापति पञ्चमः” इति ५“एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः” इत्यादि; तथा ६“एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुविंशरण एषां लोकानामसंभेदाय” इति

१. तै. आन. ७-२, १ ॥ २. कड. २-२-८ ॥ ३. छा. ७-२२-२ ॥

४. तै. आन. ८-१ ॥ ५. बृ. २-८-२ ॥ ६. बृ. २-४-२२ ॥

च श्रुतिः । स्मृतिरपि १“मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिस्सूयते सचराचरम् । हेतु-
नाऽनेन कौन्तेय जगद्धि परिवर्तते” इति, २“विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन
स्थितो जगत्” इति च । तथा मुक्तस्य सत्यसङ्कल्पत्वादिपूर्वकस्याप्या-
नन्दस्य परमपुरुष एव हेतुरिति श्रुतिस्मृती दर्शयतः ३“एष ह्येवानन्द-
याति” ४“मां च याऽध्यमिचारेण भक्तियोगेन सेवते । स गुणान्
समतीत्येतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते । ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहममृतम्याव्ययस्य
च । शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्यच” इति । यथाप्यपहृतपा-
प्मत्वादिस्सत्यसङ्कल्पत्वपर्यन्तो गुणगणः प्रत्यगात्मनः स्वाभाविक एवा-
धिभूतः, तथाऽपि तस्य तथाविधत्वमेव परमपुरुषायत्तम् ; तस्य नित्यास्थि-
तिश्च तदायत्ता; परमपुरुषस्यैतन्नित्यतायाः नित्येष्टत्यान्नित्यतया वर्तत
इति न कश्चिद्विरोधः । एवमेव परमपुरुषभोगोपकरणस्य लीलोपकरण-
स्य च नित्यतया शास्त्रायगतस्य परमपुरुषस्य नित्येष्टत्वादेव तथाऽव-
स्थानमस्तीति शास्त्रादवगम्यते । अतो मुक्तस्य सत्यसङ्कल्पत्वं परमपुरु-
षसाम्यं च जगद्व्यापारवर्जम् ॥ २० ॥

भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च । ४ । ४ । २१ ॥

ब्रह्मयाथात्थानुभवरूपभोगमात्रे मुक्तस्य ब्रह्मसाम्यप्रतिपादनाच्च
लिङ्गाज्जगद्व्यापारवर्जमित्यवगम्यते ५ ‘सोऽर्जुने सर्वान् कामान् सह
ब्रह्मणा विपश्चिता” इति । अतो मुक्तस्य परमपुरुषसाम्यं सत्यसङ्कल्प-
त्वं च परमपुरुषसाधारणनिखिलजगन्नियमनश्रुत्यानुगुण्येन वर्णनीयमि-
ति जगद्व्यापारवर्जमेव मुक्तैश्वर्यम् ॥ २१ ॥

१. गी. ६-१० ॥—२. गी. १०-४२ ॥—३. तै. आन. ७-२१ ॥

गी. १४-२६, २७ ।—४. तै. आन. १-२ ॥

यदि परमपुरुषायत्तं मुक्तैश्वर्यम्, तर्हि तस्य स्वतन्त्रत्वेन तत्सङ्क-
ल्पान्मुक्तस्य पुनरावृत्तिः १ सम्भवाशङ्केत्यत्राह—

अनावृत्तिश्शब्दादनावृत्तिश्शब्दात् ॥४॥४॥२२॥

यथा निखिलहेयप्रत्यनीककल्याणैकतानो जगज्जन्मादिकारणं स-
मस्तवस्तुविलक्षणस्सर्वज्ञस्सत्यसङ्कल्पः; आश्रितयात्सल्यैकजलधिः परम-
कारुणिको निरस्तसमाभ्यधिकसम्भावनः परब्रह्माभिधानः परमपुरु-
षोऽस्तीति शब्दादवगम्यते; एवमहरहरनुष्ठीयमानवर्णाश्रमधर्मानुगृहीतत-
दुपासनरूपतत्समाराधनप्रीतः उपासीनाननादिकालप्रवृत्तानन्तदुत्तरकर्म-
सञ्चयरूपाविद्यां विनिवर्त्य स्वयाथात्म्यानुभवरूपानवधिकातिशयानन्दं
प्राप्य पुनर्नावर्तयतीत्यपि शब्दादेवावगम्यते । शब्दश्च २ “स स्वधेवं
वर्तयन्वावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पश्यते न च पुनरावर्तते न च पुनरा-
वर्तते” इत्यादिकः । तथा च भगवता स्वयमेवोक्तं ३ “मामुपेत्य पुनर्जन्म
दुःखालयमशारवतम् । नाप्नुवन्ति महात्मानस्संसिद्धिं परमां गताः ।
आब्रह्मभुवनालोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन । मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म
न विद्यते” इति । नचोच्छिन्नकर्मबन्धस्यासङ्कुचितज्ञानस्य परब्रह्मानुभ-
वैकस्यभावस्य तदेकप्रियस्यानवधिकातिशयानन्दं ब्रह्मानुभवतोऽन्यापे-
क्षातदर्भारम्भासम्भवात्पुनरावृत्तिशङ्का । न च परमपुरुषस्सत्यसङ्क-
ल्पोऽत्यर्थप्रियं ज्ञानिनं लब्ध्वा कदाचिदावर्तयिष्यति, य एवमाह—
४ “प्रियो हि ज्ञाननोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः । उदारास्सर्व एवैतं
ज्ञानीत्वात्मैव मे मतम् ॥ आस्थितस्सहि युष्मद्गता मामेवानुत्तमां गतिम् ।
यद्गतां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपश्यते ॥ वागुदेवस्सर्वमिति स महा-

१. सम्भावनाशङ्के पा ॥—२. उ. ८-१२-१ ॥—३. गी. ८-१२, १६ ॥

४. गी ७-१७, १८, १९ ॥

त्मा सुदुर्लभः" इति । सूत्राभ्यासशस्त्रपरिसमाप्तिं द्योतयति । इति
सर्वं समञ्जसम् ॥ २२ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये जगन्नापारवर्जाधिकरणम् ॥ ६ ॥

—♦♦♦—

इति श्रीभगवद्रामानुजविरचिते शारीरकमीमांसाभाष्ये

चतुर्थस्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

समाप्तश्चाध्यायः ॥ ४ ॥

शास्त्रं च परिसमाप्तम् ॥

—♦—

अविस्तृतास्सुगम्भीरा रामानुजमुतेर्गिरः ।

दर्शयन्तु प्रसादेन स्वं भावमखिलं दृढम् ॥

—♦—

श्रीमते रामानुजाय नमः

—♦♦♦—

शास्त्रेऽस्मिन् सूत्रसंख्या— ५४५

अधिकरण संख्या— १५६

—♦—

ॐ श्रीमते रामानुजाय नमः ॐ

अधिकरणासारावली.

श्रीमान्वेङ्कटनाथार्यः कवितार्किककेसरी ।

वेदान्ताचार्यवर्यो मे सन्निधत्तां सदा हृदि ॥

स्वस्ति धीरङ्गमर्तुः किमपि दधददं शासनन्तत्प्रसक्त्ये
सत्यैकालम्य भाष्यं यतिपतिकथितं शश्वदद्वयाप्य युक्तान् ।
विश्वस्मिन्नामरूपाण्यनुविहितवता तेन देवेन दत्तां
वेदान्ताचार्यसंज्ञामवहितबहुवित्सार्थमन्वर्थयामि ॥१॥

श्रीमङ्कयां स्यादसावित्यनुपधि वरदाचार्यरामानुजाभ्यां
सम्यग्दृष्टेन सर्वसद्वनिशितधिया वेङ्कटेशेन फलतः ।
सेव्योऽसौ शान्तचित्तैः भयणरसनया शान्तिलामार्थिभिर्वा
सिद्धिशशरीरकार्ये सहजबहुगुणः स्रग्धरादुग्धराशिः ॥२॥

त्रय्यन्तस्वान्तःखादिन्यधिकरणगणे पौनरुक्त्योक्तयाधौ
मन्दत्यासङ्गतत्वे विशयमफलतां मानपाथं च मन्तृन् ।
विङ्मोहल्लामदीनान् दिनकरकिरणभेणिकेयोज्ज्वलानां
हृद्या पद्यावलीयं हृदयमधिगता सावधानान्धिनोतु ॥३॥

गम्भीरे ग्रहभागे गणयितुमखिलं कः प्रवीणः प्रमेयं !
विङ्मात्रं दर्शयन्त्यहमिह निपुणैः प्राप्यमध्यक्षणीयः ।
मा भूत्तिशेषसिद्धिस्तदपि गुणविदः स्फीतनिरसीमरत्ने
मध्येहारं निधेयम्महति जहति किम्भौक्तिकं लब्धमध्या ? ४

वेदार्थन्यायचिन्त्ये प्रथममधिगतः कर्मवर्गः प्रमाणैः
 भेदैरङ्गैः प्रयुक्त्या क्रमविरचनयाऽथाधिकृत्याऽतिदिष्ट्या ।
 तत्राशौर्ध्वेशेषैस्तदनु तवनुयत्यूहतः प्राप्तवाचैः
 तन्त्रेणाथ प्रसक्त्या तत उपरि चतुर्लक्षणी देवतार्था ॥ ५

प्राग्वर्मेऽल्पास्थिरार्थे प्राशमितविशये तादृशाराध्ययुक्तेऽ-
 थातश्शारीरकांशे बहुविधमहिमं ब्रह्म मीमांसितव्यम् ।
 कृत्स्नस्याध्यायसाङ्गाध्ययनसमुद्दितापातयुष्यैव कर्म
 त्यक्त्याऽऽदौब्रह्मचिन्तां किमिति न कुरुतान्तश्च तुल्लोक्त्ययाधात्

प्राप्येयं प्राक्त्रिवर्गे सफल्यतनतोपासनाङ्गत्वतोऽपि
 व्याख्यारूपेऽत्र शास्त्रे क्रमनियतिरसौ स्याद्य मुख्यक्रमेण ।
 मानस्यादिविचार्यः पुरत इह तथा वाक्येधात्पदार्थो
 दृष्टान्तभ्रंषमेयाद्यदि मधु सयिधे यानु चात्रि किमर्थः ॥ ७

व्याचक्षुः केऽपि तोषत्रयहतिमितरे साधनानां चतुष्कं
 काण्डेऽस्मिन् पूर्ववृत्तं कथयति निगमः कर्मविन्ताफलन्तत् ।
 साङ्गाधीतिर्हि सूत्रं विषयमवसरः क्वात्र तन्त्रन्तरादे-
 रौचित्यस्थापितोऽयं क्रम इह न पुनर्भोदनासंप्रयुक्तः ॥ ८

नित्यप्राप्तस्य कण्ठस्थितकनकनयान्निर्विषेस्य लब्धि-
 मिध्याभूतं निवर्त्य श्रुतिशफलभुवः प्रेक्षणात्तन्निवृत्तिः
 कर्मैवक्योपयुक्तं प्रतिभटमपि तद्वृत्ततोक्तिर्मदुक्ते
 प्राप्ताप्रेति प्रलापे प्रनियचनगतिर्भाषिता विस्तरेण ॥ ९

मीमांसायाः कथन्धं कतिचन जगृह्णान्द्रूपं शिरोऽन्ये
 किन्तैरन्तर्विरोधप्रमुपितमतिमिवाङ्गकल्पभ्रमद्विः ।
 स्वाध्यायाध्यायकालस्यैव स्वविधिपरविधिप्रेरणा तावदास्तां
 कृत्स्नापातप्रतीतो किमिति कृतधियः कृत्स्नचिन्ताय कुर्युः ॥ १०

प्राचीतस्यैकरूपप्रयत्ननियतादेकरूपोपकारा-

द्विधास्थानैक्यसिद्धौ क्रमनियतियुताफारुक्ष्यैकप्रवन्धम् ।

अध्यायादिधिवाधान्तरविषयफलाद्यन्यताऽत्राप्यभेत्तौ

तत्तुल्यः कर्तृभेदः कल्पिलकलुषैः कल्पितोऽर्थे विरोधः ॥ ११

तत्तद्वैशिष्ट्यभेदाद्यदगणि मिदुरा देवता पूर्वभागे

संज्ञार्थपस्यामात्रादपि कथमियताऽधीतयष्ट्यभङ्गः ? ।

उद्देश्याकारभेदोऽस्त्ययमिह द्विषामुक्तिभिस्ते प्रयोगे

दीर्घत्वं त्वत्तवेद्यान्मितिचरमतया द्रव्यतो देवतायाः ॥ १२

जैमिन्युक्तं विरुद्धं यदिह बहुविधन्दर्शितं सूत्रकारै-

स्तस्माच्चैकशास्त्र्यं दृढकृतमिति न ब्रह्मसंवादादप्यदयात् ।

तन्नस्तात्पर्यभेदैधिदतिपरिहृतिः काण्डयत्काण्डयोस्स्यात्

वाह्यत्वेपार्थगूडाशयवचनभवद्भ्रान्तिशान्त्यादिसिद्धेः ॥ १३

आक्षिप्य स्थापनीयाः कतिचिदिह नयाः पूर्वकाण्डप्रणीताः

केचिद्व्युत्पादिनीयाः क्वचिदप्यद्वयं ख्याप्यमौत्सर्गिकस्य ।

इत्थं सर्वत्र चिन्ताक्रम इति समतां योक्ष्य मध्यस्थदृष्ट्या

शास्त्रैक्ये पौनरुक्त्यप्रभृतिपरिहृतिस्सावधानैर्विभाव्या ॥ १४

वृत्तिग्रन्थे तु जैमिन्युपरचिततया षोडशाध्यय्युपात्ता

सङ्कर्षः काशकृत्स्नप्रभव इति कथं तत्परिहृताकरोतिः ।

अत्र ग्रन्थमदुक्तो न ययमिह मुञ्चा वाधितुं किञ्चिद्वर्णा

निर्वाहस्तूपचारात् क्वचिदिह घटते लोकतात्पर्ययोगः ॥ १५

सौग्री सप्तया । शुभशीरधिकृतिगणना रविन्मयी ब्रह्मकाण्डे

तादर्थ्येऽनन्तरत्वेऽप्यधिकरणमिहा नान्यसारेः प्रकल्प्या ।

१ अक्षोर्म्याशाऽदिकाष्ठादिरदमुनियस्सूर्यद्रितत्वातिशक्य-
 दैरक्तैः प्रयाजैरिदं भवति रसैः पादनीतिप्रबन्धः ॥
 शास्त्रं त्वेतत्समन्वित्यविहृत्तिकरणप्राप्तिचिन्ताप्रधानं-
 रक्षयायैषोडशाङ्घ्रिद्वियुगभिदुरं पट्कमेवादिनीत्या ।
 तत्रायं यत्किं सिद्धं विषयमपि परन्तत्प्रतिद्वन्द्वियुगं
 स्वप्राप्तेस्साधनं च स्वयमिति हि परं ब्रह्म तत्रापि चिन्त्यम् ॥ १७
 तत्राद्येऽत्यन्तगूढाविशदविशदसुस्पष्टजीवाविद्याचः
 पञ्चात्मसूत्रादिकैरक्षतिरहितदतिः कर्तव्यान्नेन्द्रियादेः :
 दोषादोषौ तुनीये भयभृदितरयोर्मकिरफ़ानि चायो-
 पासारोहप्रमाथोक्तमसरणिफलान्यन्तिमे चिन्तितानि ॥ १८
 अष्टा देहो सनिष्ठो निरवधिमहिमापास्तवाद्यधितासः
 स्वात्मादेरिन्द्रियादेरुचितजननकृत्संमृती तन्त्रयादी ।
 निर्दोषत्वादिरम्यो बहुभजनपदं सार्हकर्मप्रसागः
 पापच्छिद्रप्रह्वनाडीगतिफ़दतिवहन् साध्यवद्वात्र धेयः ॥ १९
 विधुत्तयाऽधीत्य वेदान्निधियलविरताश्वज्जादेव रागान्
 कृत्स्नं मीमांसमानाः क्रमत इति परब्रह्मचिन्तामन्तरन्ति ।
 प्राप्ते तुयं युगेऽस्मिन् परिमितबलधीप्राणनद्विज्जदृष्ट्या
 कालक्षेपाक्षमत्यात् कतिञ्चन कृतिनर्शाध्रमन्ते रमन्ते ॥ २०
 रागान्मीमांसते चेत् स्वयमिह यनतां किं गुरुफ़त्येतिचेन्न
 ब्रह्मज्ञानासये मुख्यभिगमनधिधेस्तेन नत्थोपदेशान् ।
 सहिष्याचार्यवत्ये प्रथयति च परब्रह्मचित्तिन्तथान्या-
 प्याचार्यादित्यधीते नियमविधिरसौ निश्चिनो नीतिविद्धिः ॥ २१

१. अष्ट-११, उर्मि-६, आशा-१०, । वसु-८ उर्मि-९, अष्टि-८, तद-१-२९,
 अ-हि-८, काष्ठ-१०, द्विर-८, मुनि-७, । अतिशक्य-१२, अष्टैः-११, अष्टैः
 । ११, प्रयाजैः-२, रसैः-६,

सिद्धे व्युत्पत्तिराद्या न भवति न च धीर्लक्षणाशुज्यतेऽस्मिन्
किं शास्त्रेणान्यसिद्धे न च निशमयितुस्तिष्ठयोधे फलं स्यात् ।
ब्रह्मण्येवमन्मानान्युपनिषद् इति स्तम्भिते तद्विचारे
शास्त्रारम्भं चतुस्सूत्र्यघटयदुचितैर्न्यायभेदैश्चतुर्भिः ॥ २२

सिद्धे व्युत्पत्त्यभावे स्वरिव फलतया लक्ष्यमङ्गो न लभ्यं
ब्रह्मान्योक्त्यानुमानप्रमितमपि भवत्यंशतश्शास्त्रयेद्यम् ।
विध्यर्थत्वेऽप्यवाधात्परविषयव्यवस्थार्थमानं भवेदि-
त्यन्वारुह्योक्तिर्न्यन्न हि सद्गतं श्रुजुस्सूत्रकृद्वागदूकः ॥ २३

द्वाभ्यामादौ प्रतीतिप्रजननमुदितं सिद्धरूपे परस्मिन्
द्वाभ्यां वैफल्यशङ्का तदनु परिहृता शास्त्रतज्जन्यशुद्ध्योः ।
श्रीचिन्म्यानेकभाष्यस्वरसगतिमती प्राक्तनी धर्तनीयं
शास्त्रारम्भार्थमेकं प्रितयमपि परं शास्त्रमित्याहुरेके ॥ २४

यत्तत्तेनैश्वर्यैरगणि यकुलभृत्किङ्करीरक्ष्यपकारि
व्यासार्थैर्न्यासि च द्विश्रुतमिति विशदं विष्णुचित्तैर्विवरे ।
अथौप्यं शेषकल्पादहमपि विवृणो वादिहंसाम्बुवाहान्
अद्वा निर्धार्यतेऽतश्चतुरधिकरणी ब्रह्मचिन्तोपयुक्ता ॥ २५

व्यक्तकल्पात्राद्यतुर्यावभिदधति नयौ केचिदप्राप्तमेतत्
बोधासिद्धौ कथं तत्फलमिदं विमृशेत् सिद्धवत्कारमान्यात् ।
मथ्यौ द्वौ रूपनामप्रजननविषयो यद्विदुस्तच्च मन्दं
सत्युक्तेऽपेक्षितेऽर्थे विफलविमजनं नोचितं नोतिसूत्रे ॥ २६

इति शास्त्रावतारः ॥

—(अथ जिज्ञासाधिकरणम्)—

कार्ये व्युत्पत्तिराद्या नियतमिति गिरस्तत्परा एव सर्वा
नान्या चेदेऽपि नीतिस्तत उपनिषदामूपरप्रायतैव ।
नातस्तद्वेद्यमीमांसनमुचितमिति प्रत्ययस्थीयमाने
सिद्धे व्युत्पत्तिमाद्यां बहुमुखमवयन् ब्रह्म जिज्ञास्यमाह ॥ २७

अद्भुत्या निर्दिशन्तः किमपिकिमपि तद्वाचकांशैः प्रयुक्तैः
यातान् व्युत्पादयन्ति क्रममवमिलितज्ञापकत्वं विदन्तः ।
सङ्गतास्ते पदानां विदधति च धियं क्वापि सिद्धे विशिष्टे
कर्तव्ये क्वापि चेति कश्चिदिह नियतिश्शब्दशक्तेर्न कल्प्या ॥ २८

संसारेऽभनादिसिद्धे मुहुरनुमयतस्सञ्चिमास्संस्क्रियास्स्यु-
स्संस्कारोद्बोधकाश्च स्वयमुपनिषत्प्रकम्प्यात्प्रवाहात् ।
तत्तज्जातीयभेदग्रहणसमुचिता वृत्तयस्तन्निदानाः
तद्वत्स्याच्छिन्नकादिध्यवहृतिषु शिशोरैर्दमर्थादिवोधः ॥ २९

दक्षैराधोरणापरनुमितिविचिधस्त्रयसासोपयोगैः
शिक्षामेषा विचित्रा गजविहगमुखान् ग्राहयद्भिः प्रयुक्ताः ।
तस्मात्सार्थो मनुष्यप्रभृतिषु च तथाभूतशिक्षाविशेषः
कल्पो भाष्योदिता यत्र यदि कथमसौ कल्पतेऽन्योऽपि मार्गः ॥

कस्मैचित्तिमद्भमर्थं कमपि कथयितुं चेष्टया चोद्यमानः
तस्मै तं वक्ति तद्धीसमधिपयतया शिक्षतं तद्वचोऽन्यः ।
आदिष्टो बोधनार्थं यद्वि वितनुते तत्तदर्थं हि युक्तं
तद्वाक्यात्सिद्धयेदी प्रयततइति चेदस्त्यनादेशिकन्तन् ॥ ३१

पुत्रस्तेऽभुव सपौऽयमिति यच्चनतः प्रीत्यमीत्यादिलिङ्गैः
तद्योग्यार्थन्तद्वृत्तं विषयनियतिरासक्तिपूर्वः क्वचित्स्यात् ।

आद्यापोद्धापमेदात् प्रतिपदनियता शक्तिरप्यत्र सिद्धेयत्
 भूयोदृष्ट्यादिसाक्षाद्यकमिदं यच्चसः कार्यपक्षाविशिष्टम् ॥३॥
 कार्यं व्युत्पत्तिराद्या भवतु तदपि किं शक्वितात्पर्यसिद्धेः
 प्राग्व्युत्पत्तिः क्रियायां नृवचसि निगमे त्वन्यथेत्यभ्युपैपि ।
 स्वाध्याऽतो नन्यथासिद्धयनुगमनियतैस्सत्प्रयोगैर्दिं शक्तिः
 कोऽसौ पाञ्चालइत्याशुचितविरतिकं सिद्धमात्रेऽपि धाव्यम् ३३
 दुःखासंभिन्नदेशप्रभृतिफलतया चोदनास्येव सिद्धं
 श्रौतत्यादार्थवादिव्यपि भवति फलं रात्रिसधे प्रतिष्ठा ।
 अङ्गीकुर्मो निषेधानुगुणमिति तथाऽनर्थकृत्वं निषेद्धये
 विद्वयर्थरूपतस्स्यादयितथविपया ब्रह्मधीरर्थवादैः ॥३४॥

इति जिज्ञासाधिकरणम् ॥ १ ॥

—(अथ जन्माद्यधिकरणम्)—

जन्मानैवेद्विशेष्यं भवति बहुलताथौपलक्ष्यं ग्रहीपि
 ज्ञाताज्ञातादिद्वैःस्थं व्यतिपजति न चालक्षिते स्यात्परीक्षा ।
 उद्दिष्टग्रहचिन्ता तत इह कथमित्यत्र हेतुत्यलक्ष्यः
 पुंसूक्तादिप्रसिद्धो गुणानिधिरघजिद्ग्रहणशब्दार्थ उक्तः ॥३५॥
 नाना चेन्नक्षत्राणि स्वरसभिदुरता ग्रहणि स्याद्विशेष्ये
 खण्डो मुण्डश्च गौरित्यभिलपनसमा धर्मिशब्देकताऽत्र ।
 तेप्येकं चेद्यथाऽन्यत्समुदितमफलं स्याद्व्यवच्छेद्यहानेः
 खण्डत्वादिक्रमाच्चेत्यसद्विद्वत्तः खण्डतादेर्विशेषात् ॥३६॥
 तत्तत्सप्रत्यनीकव्युदसननियतं भेदकं नान्यथाधि
 व्याघातः कालभेदात् भवति जननस्थापनप्यंसनानाम् ।

प्रत्येकं लक्षणत्वं सुयचमिह बहुदाहतिर्धामहिम्ने
संभूयाप्याहुरेके फलमपि च तद्वाराङ्गितार्थव्युदासः ॥३७॥

ज्ञातं चेन्नोपलक्ष्यन्नच यदि नतरां लक्षमयोगाप्रतीतेः
ज्ञाताज्ञातांश भेदस्त्विह दुरभिलपो लक्षणेनैव वेद्ये ।

ब्रह्मत्वं ब्रह्मशब्दान्वितिरपि चिद्वितेऽन्यत्र नोचेन्न शङ्का
मैयन्नानागमोद्यद्विशेषमनतः भोमति ब्रह्मतोके ॥३८॥

यावन्नक्षयायबोधं यद्यवगतिरतो लक्षणान्तद्विशेष्यं
यस्याबोधेऽपि पञ्चाद्यवगतिरिदं स्यात्कुतो नोपलक्ष्यम् ।
तस्माद्द्वेषापि भाष्येऽनुमतिरनुचितेत्याशयादस्य बोधं
मोक्षार्थोपास्यभेदे ह्युभयमपि समन्वेति विद्याविकल्पात् ॥३९॥

चन्द्रे शखेव शान्ते महसि तद्वगतं लक्षणं कारणस्थं
सत्यज्ञानादिवाक्यैरपमृदितगुणान्तद्विभातीति द्विभाः ।

एकत्रार्थो विशेष्ये प्रतिपदनियतायर्ज्वतत्तन्निमित्त-
द्वारावृत्ति पदानामिह विदुररुणाशुक्तिवन्न्यायवृद्धाः ॥

इति जन्माणधिकरणम् ॥ २ ॥

—(अथ शास्त्रयोन्यधिकरणम्)—

पीतावीतप्रयोग कमनियतिमती कार्यता विश्वमेतत्
सर्वत्रेन प्रफुल्लं गमयति विफलस्यत्र शास्त्रैर्विचारः ।
इत्युच्यते लघुत्यानुमितियशतः कर्मजैर्भययुक्तो
विश्वाभिन्नादिनीत्या स्फुरति विभुमिदाम्प्रयच्छास्त्रवेद्यम् ४१

क्षित्यार्थं कार्यतायैः फटकमकुटयन् कर्तृपूर्वं स कर्ता
सिद्धेयद्वारावदप्रभृतिजनकदक् सर्वशक्तिश्च मैयम् ।

धोत्राद्यैस्तौरमादिग्रहणकचिरियन्तादृशव्याप्त्यभावात्
 सर्वं हेतुज्ञ परयेत् घटकदिदं न चाकर्तृता तावताऽस्य ॥ ४२
 कार्यत्वात् स्याद्विधादास्पदमिवमखिलं सर्वयित् कर्तृपूयं
 यन्नैवन्तद्धि नैवं पुरुषवदिति नानन्यथासिद्धयमायात् ।
 हेतावेतादृशात्मन्यचिदुरभिदुरं द्यातिसिद्ध्यादिदोःस्थ-
 न्तद्भक्ते लक्षणां नामगणि गमनिका तत्त्वमुकाकलापे ॥ ४३
 यद्यप्यात्मान्तरादेरनुमितिरनघा लिङ्गभेदेस्तथाऽपि
 प्रत्यक्षव्याप्तिशैली न खलु शिथिलिता कुत्रचित्पक्षभेदे ।
 आम्नाये त्यद्भुतोक्तिर्न भवति वितथा तादृशासोक्तनीत्या
 वाधाभावादिसाम्याद्विहितमिति भवेन्नौकयत् गौणतादिः ॥ ४४
 नन्याम्नायप्रधानाः क्वचिदनुकथयन्त्यस्मद्वेदशकाः
 कार्यैः कर्ताऽनुमेयः पर इति तदभिप्रेतु जन्मादिव्याप्यम् ।
 तस्माद्वीशानुमानत्यजनमनुचितं वैदिकस्येति चेन्न
 काव्यौचित्योपदेशाद्यत इति च सदाशुक्तिसिद्धानुयादात् ॥ ४५
 इति शास्त्रयोन्यधिकरणम् ॥ ४ H

—(अथ समन्वयाधिकरणम् ॥ ४ ॥)—

कर्तव्ये ह्यर्थ उक्ते निशमयितुफलं सिद्धरूपं तु न स्यात्
 प्रीत्या साफल्यकलसौ वितथमपि वचः किन्न दृष्टन्तर्दर्थम् ।
 विद्यार्थत्वेऽन्यदृष्टेर्विषययदन्तं तत् परीक्ष्यन्न भावी-
 त्याक्षेपेऽनन्यशेषे निरवधिकसुखे शास्त्रतात्पर्यमाह ॥ ४६ ॥
 तात्पर्यं ब्रह्मतत्वेऽप्यनिहतविधिनाऽप्येकवाक्यत्वपक्षे
 भेदेऽपि स्यादसिद्धेर्न भवति बलिभुगदन्तसङ्गयोक्तिसाम्यम् ।
 स्याद्वार्थत्वं भृपात्यक्षममिति न मृपेत्युदने प्रीत्ययोगा-
 द्दालोपच्छदनादिव्यपि विषयनथाभावाद्युद्धयैव हयः ॥ ४७

यत्प्रीत्यर्थं यच्चस्तथिखिलमनृतमित्यर्थकप्राप्यचाफ्यं
सत्योक्त्यानन्ददृष्टेर्न च विदितिरिदाद्धयक्षतशशास्त्रतो वा ।
तेनानन्यार्थसिद्धोक्त्यनृतविषयताशङ्कनस्तम्भनेन
अप्यन्तास्त्यनिस्थाद्भुतपरमपरब्रह्मनिष्ठाः प्रमाणम् ॥४८॥

ब्रह्मैके निष्प्रपञ्चीकरणविधिपदं ध्यानधिष्यर्थमन्ये
निर्धर्मोद्वैतवाक्योपचरितभितरे सिध्यतीति द्रुवन्ति ।
तेषामेषां सपक्षस्यचनविद्वद्विद्याकुलानेकजल्पाः
कल्पोऽयं बाह्यकल्पः कृतमनिपरिपत्तोऽमर्धैरमर्दि ॥४९॥

कन्यार्था ह्यर्थवादस्तुतिमुखमुन्नतः स्थापितः प्रागिदानीं
स्यातन्प्रेण प्रमाणी क्रियत इति ततः काण्डयोस्स्याद्विरोधः ।
न स्यात्सामान्यतो हि प्रथममभिदधे मानतास्थापनार्थं
केषांचिरस्वार्थतोक्ता स्यत इदमुभगे बोधमात्रात्पुमर्थं ॥५०॥

त्रेधा सर्वत्र वेदे नियतविभजने चोदनाद्यंशभेदै-
ध्यापारोऽप्यर्थवादा मुनिभिरभिहिता ब्राह्मणांश्च रोपाः ।
अत्रातच्छेषतोको स्मृतिद्वितिरिति चेद्विद्विदत्तोत्तरन्तत्
सामान्योक्तिर्हि सत्यं तत उपरि यथामन्त्रविध्यन्यतोक्तिः ॥५१॥

आम्नातैरैहिकार्थैरविगुणसफलैरशाकुनज्यातिपाद्यैः
पारत्रिण्या प्रवृत्त्याऽप्यतिनिपुणधियामागमाभ्वासिद्धौ ।

शब्दे तस्माच्च बांधे सति परविषये दोषवाद्यव्यपेते
मानं तत्र सन्नोऽसौ न कथमितरथा नैगमाध्यापलापः ॥५२॥

शास्त्रारम्भोपपत्त्यै चतुरधिकरणीपेदिकेयं प्रवृत्ता
लक्ष्यस्योक्तं विशेषद्वयमिह घटने वक्ष्यमाणोपजीवि ।
सद्ग्राह्यानुक्तिरेव पर इति हि यदेन्कारणत्वाधिकारे
वक्ष्यत्यस्य द्विलिङ्गाद्यधिकृतिषु पुनस्तादृशानन्दतादीन् ॥५३॥

आत्मन्येवं परस्मिन्न कृत इति मिते विश्वहेतुत्वलक्षणे
शास्त्रैकस्थापनीये निरूपधिपरमप्रेमयोग्ये प्रसक्ते ।
ईदृक्तत्त्वं स्याद्यथाहं प्रकृतिपुरुषयोर्नानुमानाद्ययोग्यौ
कुःत्वास्पृष्टौ च सावित्यथ परकथनं बोधयति क्रमेण ॥५४॥
इति समन्वायाधिकरणम् ॥५॥

—(अथेक्षत्यधिकरणम् ॥ ५ ॥

गौणेष्वसाहचर्यान्नि तु बहुभयनप्रेक्षणं नैव मुख्यं
दृष्टान्ताद्यैरिदमात्मनुमितिरचितस्तादृशाज्जन्म युक्तं ।
सच्छब्दस्तेन मूलप्रकृतिमधिकृतिं दशादरेदित्ययुक्तं
भृत्याऽन्येषां निरोधात्त्वदभिमतनिरस्कारिलिङ्गादिभिश्च ॥५५॥
ज्ञाते ह्येकत्र सर्वं विदितमिति मयस्त्यैक्यसिद्धयं प्रतिज्ञा
मृत्तकार्यादयश्च त्रयइह कथितास्तस्य दृष्टान्तभेदाः ।
तेनाप्यकानुमानं कथितमिति कृत्रांस्फुरितं हेत्वनुक्ते-
स्सारूप्यावेष्ट हेतोरपरि परिहृतेरत्र संभावनाक्तेः ॥ ५६ ॥
आदेशात्मस्वशब्दैरनितरशरणैस्त्वन्नवैक्योपदेशा-
जीवेन स्येन साहंकरणमनद्वयोऽविद्गणस्य प्रवेशान् ।
एकज्ञानेन सर्वविदितमितिगिरा सर्वतादात्म्यवाचा
शास्त्राविद्यान्तरादेरपि बहुभविता विश्वविद्विभ्वमूर्तिः* ॥५७॥
इतीक्षत्यधिकरणम् ॥ ५ ॥

—(आनन्दमयाधिकरणम् ॥ ७ ॥)—

मुख्येक्षा यशभीष्टा भवतु तदुचिते सा पुनर्त्रायितस्ये
सद्विद्यायां हि शब्दैस्त्रिभिरुपरि सतस्तस्य अर्थव्यमुक्तम् ।

इत्युदाहुज्जिहानं प्रशमयितुमथ प्रस्तुतो विश्वकर्ता
जीवस्याप्यन्तरात्मा निरुपधिकमहानन्दयुस्तथाप्यतेऽत्र ॥ ५८ ॥

दृष्टः पूर्वं विकारे मयडिति चरमेऽप्येवमस्त्वित्युक्तं
मद्देय तद्गद्गदपटेः प्रचुरमिह वदेत् प्रत्ययोऽन्यस्यवाधात् ।
आनन्दप्राचुरी च प्रकृतपरसुखाल्पत्वलब्धावधित्वा-
द्दुःखाल्पत्वानपेक्षा परदुरितमिदंशालितुस्तद्विरोधात् ॥ ५९ ॥

आत्मा तस्यैव पदेत्युदितमनितरात्मत्वमस्यैव वक्तुं
शारीरोक्तिश्च तस्मिन्निखिलतनुत्रया स्यात्सङ्कोचवृत्तिः ।
शोध्यत्वन्तस्तदर्थानुगुणमिति विभोस्तत्प्रसाद्यत्वमात्रं
प्राप्येऽस्मिन्प्राप्तिरूपा परयिद् उपसंक्रान्तिरानन्दसिन्धौ ॥ ६० ॥

निर्वेदेऽस्मिन्निरंशे न हि भवति शिरःपक्षपुच्छादि किञ्चि-
त्तस्मात्पुच्छं प्रतिप्लेत्युदितमिह परं ब्रह्म भातीति चेन्न ।
सोदापुच्छस्त्वपस्तुतिर्यदि कथमितरन्नानुमन्येत कल्प्यं
ब्रह्मण्यात्मप्रतिष्ठा वचनमनितराधारताभ्यापनाय ॥ ६१ ॥

इत्यानन्दमयाधिकरणम् ॥ ६ ॥

—(अथान्तरधिकरणम् ॥ ७ ॥)—

भूयिष्ठानन्तपुण्योपत्रयवत्तसमुद्बुद्धपूर्वोक्तमूर्त्तां
शक्रादिन्यायतस्स्यात् त्रिगुणननुभृतामीश्वराणां प्रवाहः ।
तथाकर्मोत्पदिष्याकृतिजनिमदिमा शासिता सर्वपुंसां
नित्यभीष्टेभ्यश्चिन्त्ये श्रुत इति स य इत्युक्त एवैष एकः ॥ ६ ॥
सर्वेभ्यः कल्मषेभ्यः ह्युदित इति वक्ष्यन्तरादित्यविद्या
तस्माच्छेषाभ्यनुज्ञानयत इति विभोः पुण्ययोगोऽभ्यु मैवम् ।

आम्नातोऽनन्यशास्यस्त्वयशपरफलस्ताधुना नैव भूयान्
स्यात्पुण्ये लवमयोगादपि न सुकृतमित्यादिना पाप्मशब्दः ॥६३॥

प्रख्यातं शुद्धसत्त्वं किमपि तदनघं द्रव्यमव्यक्ततोऽन्य-
त्तत्त्वरूपं रूपमैशं दिवि कनति तथा शेषशेषाशनायैः ।
नित्यं तत्सूरिसेव्यं परतरमजहत्स्वस्वभायस्स देवः
पुंसां संसारशान्त्यै विपरिणमयति व्यूहपूर्वैर्विभागैः ॥६४॥

देहत्वात् सप्तधातुत्रिमलमघमयन्दुःसकृन्नाशयुक्तं
सांशत्वादेच्च हेतोरिति यत्रि तदसद्वर्तिमानेन बाधात् ।
बाधरशास्त्रैक्येण कचिदपि न भवेदन्यथाऽतिप्रसङ्गात्
यत्तु स्वेच्छावतारेष्वभिनयति तदप्यासुरोपप्लवार्थम् ॥६५॥

इत्थं विद्यात्रयेण स्थिरस्वरविद्विदेहिनस्सर्वहेतो-
रव्यक्ताज्जीयतत्त्वादपि समधिकना यद्यपि स्यात्तथापि ।
उत्थानद्वारभेदान् क्रमत इह मृदूपक्रमान् कूरनिष्ठान्
अद्भ्यायेऽस्मिन्निकन्धघ्नधिकरणगणैस्तद्गुणानुद्गृणाति ॥६६॥

शब्दैस्सद्ग्रन्थमुख्यैश्श्रुतिशिरसि मितं कारणं किञ्चिदेकं
सङ्ख्याभ्यासरूपैरतदननुगुणैश्चिन्तितश्चिद्विशेषः ।
भूताकाशादिशब्दाजननसमुचितैर्नामभिः कारणस्यैः
क्षिप्त्वा तत्पादशेषश्रुतिसमुद्भयनासम्भयोक्त्या भुनक्ति ॥६७॥

आकाशप्राणशब्दावनितरगतिकौ रुढिभङ्गेन नैयौ
ज्यातिशब्दस्तु रूढ्या प्रथयति पुरुषं दिव्यतेजोविशिष्टम् ।
प्रख्यातेन्द्रिदिशब्दस्तदनु नियमितस्तद्विशिष्टप्रवृत्त्ये-
त्येवं स्यात् पेटिकेया द्विकयुगलवती शब्दवृत्तिक्रमेण ॥६८॥

—(अथाकाशाधिकरणम् ॥८॥)—

अथाकाशस्त्वशेषप्रमयविलयभूस्तस्मिन् दृष्टस्वनास्त्रा
निर्दिष्टस्तैत्तिरीयेऽप्यनितरजनितस्वात्मनस्तस्मद्योक्त्या ।
मैवं सिद्धानुवादे ह्ययमथ च परप्राप्यतादिर्न तस्मि-
स्तत्कर्तात्मा विपश्चिच्छ्रुत इति विद्वता स्वात्मनस्तत्प्रसूतिः ॥६६॥

इत्याकाशाधिकरणम् ॥८॥

—(अथ प्राणाधिकरणम् ॥९॥)—

प्राणायत्तं हि देहादिकमिह विदितं तेन तत्कारणत्वं
भृत्युक्तं रुद्धिरात्स्या सुदृढमिति न तद्वयोमयत् साधनीयम् ।
तच्च प्राणस्य काष्ठादिषु महिमहतेः पूर्ववच्चानुवादाद्
आकाशोक्तेरिद्योक्ते भगवति निखिलप्राणनस्यापि दृष्टेः ॥७०॥
नोक्तिं व्याहन्ति लिङ्गं किमपि भवति तु यथातत्स्थानुशूलं
शब्दश्चानन्यनिष्ठश्चरति इति न परो ज्योतिराद्युक्तिष्वेव ।
विश्वोत्पत्त्युक्त्यभावेऽप्यवगतमिह तल्लिङ्गमित्याक्षिपन्तं
रुन्वेऽथाधिक्रियाम्बां तदुचितचिद्विद्वर्गवैशिष्ट्ययुक्त्या ॥७१॥

इति प्राणाधिकरणम् ॥ ९ ॥

—(अथ ज्योतिरधिकरणम् ॥१०॥)—

कौत्सेयज्योतिर्यैक्यं कथितमिह परज्योतिरस्तस्य विश्वो-
पादानत्वं च विद्यान्तरविदितमतः कारणं घटिरस्तु ।
मैवं पुंसूक्तवाक्योदितपरपुरुषप्रत्यभिज्ञतपवाधान्
गायत्र्युक्तिस्तु साम्यादपि च निगदितास्तस्य भूतादिपादाः ॥७२॥

उत्थानं ज्योतिरादावधिकरणयुगे कारणध्यातल्लिङ्गा-
दित्याभाष्यान्यलिङ्गं सवच्चसि विदितं नेति भाष्यं कथं स्यात् ।

इत्थं विश्वादिलिङ्गं सविद न तु परामीष्टलिङ्गं समस्तो-
त्युत्पश्यन् पूर्वपक्षी व्यवहरति तथा व्याहृतस्तत्र शङ्कया ॥५३॥

इति ज्योतिरधिकरणम् ॥१०॥

—(अथेन्द्रप्राणाधिकरणम् ॥११॥)—

विद्या प्रातर्दनी सा वदति दिततमोपास्तिकमेन्द्रमेव
ख्यातप्राणेन्द्रचिदाभितमपि तदसौ विश्वकर्तेति चेन्न ।

ग्रह्य त्रेधा शुपास्यं बहुविधचिदचित्कञ्चुकं स्वात्मना च
प्राणेन्द्रप्रक्रमोऽपि प्रबलतरमहायाग्यवैषट्क्यमग्नः ॥५४॥

यल्लिङ्गं कारणैकस्थितमिति कथितं ज्योतिषीन्द्रे च तत्तु
प्रख्यातान्यैकनिष्ठं प्रथममितमतस्तन्मुखोत्थित्योगः ।

अप्राप्ते तद्विमर्शं प्रकृतशिथिलता नेति चेत्सत्यमेतत्
विष्णुत्पत्त्यादिनीतिभ्रमत इह पुरोवाद्मुन्प्रेक्ष्य शङ्कया ॥५५॥

ज्योतिःप्राणेन्द्रशब्दाः परतरविषयाः कारणव्यासधर्मा-
दित्येतत्साध्यमीषां बहुविहनिमती ख्यानमात्रे तु वृत्तिः ।

नत्कौक्ष्यानलात्मा कथित इह तथा ध्यानतस्तत्कलाप्यै
मुख्यप्राणादिलिङ्गं तदुपहितपरोपासनान्मोक्षणाय ॥५६॥

कार्यं यत्कर्मवश्यं यद्यपि दृढमितं तन्निरुद्धैस्तु शब्दैः
निर्दिष्टे ब्रह्मणि स्यात्कचिदगतिदना रुद्धिरैन्द्रीनयेन ।

तल्लिङ्गानन्यथासिद्धयधिगमनबलात्तद्विशिष्टे धियज्ञा
स्यादीशे ज्योतिरिन्द्रायभिलपनपदेऽहंत्वमादीरिते च ॥५७॥

स्वेच्छातस्सर्वहेतुशुभगुणविभवान्तनिस्सीमदर्थ-
शुशुद्धाकर्मोत्थनित्याकृतिरनुपधिकाकाशनादिस्वभायः ।

सप्राणाप्राणमेवैक्यतिमिदुरजगत्प्राणनो दिव्यदीतिः
 प्राणेन्द्राद्यन्तरात्मा प्रभुरधिकरणैस्सप्तभिः प्रत्यपादि ॥ ७८
 इति कवितार्किकसिंहस्य सर्वतन्त्रस्वतन्त्रस्य श्रीमद्वेङ्कटनाथस्य
 येदान्ताचार्यस्य कृतिषु अधिकरणसारावल्यां
 प्रथमस्याध्यायस्य प्रथमः पादः.

—(अथ प्रथमस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥)—

अत्रायोगान्ययोगस्यपनयननयैर्ब्रह्मपात्रिपादी-
 भागारूढैर्मुद्रपक्रमकठिनपरैः प्राय आद्ये प्रसादयम् ।
 कृत्वाक्षोपोपशान्त्यै प्रथम इह ततः पाद उक्तस्त्रिपादी
 काचित्काक्षोपपूर्वालिलकलहसमुन्मूलनाय प्रणीता ॥ १
 अस्यष्टस्पष्टरूपस्फुटतरचिद्विचित्रिद्वयद्वयविन्ता
 भाष्ये दीपावतारेऽप्यमणि नयगणैस्सम्प्रवृत्ता त्रिपाद्याम् ।
 अत्यन्तास्पष्टलिङ्गान्वितविषयमुशन्त्याद्यपादं तु केचित्
 तत्रेदन्तारतम्यं नियतनिजबलैः कर्मतार्तीयमानैः ॥ २
 पूर्यत्रासिद्धरूपैस्त्वमतिविरचितोद्गीतिभिः पूर्वपक्ष-
 स्तिद्धैस्साधारणैरप्युपधिनियमितैः प्रत्यवस्था द्वितीये ।
 स्पष्टासाधारणत्वाद्परपरमतानूक्तिकर्त्तृपरथेति
 न्यायैकत्रिशब्द प्रतिचरणयिमत्तन्वितान्येषणीया ॥ ३
 विश्यं पादं द्वितीये यपुरिति कथयंश्चिन्त्यते धाक्ययगो
 विभ्याधारस्त आत्मैत्यभिलपनपरस्तर्कणीयस्त्वनाये ।
 तुर्यं साहचर्यादिपक्षोदितपरिपठनधान्तिरुन्मूलनीये-
 त्येवं केचित्त्रिपादी जगदुरयमपि धोतुबुद्धेसमाधिः ॥ ४

—(अथ सर्वत्रप्रसिद्धयधिकरणम् ॥ १२ ॥)—

यस्य प्राणरशरीरं स खलु दिततमोपास्तिकर्मप्रसक्त-
स्तस्मिन्जीवस्यशङ्कां जगदुपजनके सौति शशिदृश्ययिष्या ।
पूर्वन्यायाच्च युक्तन्दमनमिह महावाक्यतः प्रक्रमस्ये-
त्युत्थाने प्रक्रमोक्तानुगुणमिति महावाक्यमेकीकरोति ॥ ५
अन्यारुह्यात्र भेदं प्रथममधिकृतिर्भाषिता किंनिमित्तं
विचैकत्वेऽनुयादः पर इह गुणविद्वयर्थमेवेति युक्तम् ।
सत्यं ब्रह्मानुमत्य कश्चिदुपनिषदि कापि कल्पे विचादे
चिन्तैपोदाहृतिस्स्यात्परमतरचितेत्यर्थसिद्धिस्तु योदया ॥ ६
सर्वत्वं कर्मभिस्सर्वैर्जनिमति घटते ब्रह्मशब्दोऽप्रचैवे-
त्यल्पस्थानोऽल्पमानस्सुखतद्वितरभुग्जीव पयेति चेन्न ।
तज्जत्यादेरनूक्तेर्येविधगुणभिदादर्शनात्सर्वतादे-
स्त्वारस्यादप्यणुत्वं ह्युपधिकृतमिद्वोपास्तये ज्यायसि स्यात् ॥ ७
इति सर्वत्रप्रसिद्धयधिकरणम् ॥ १२ ॥

—(अथात्तृधिकरणम् ॥ १३ ॥)—

अप्ता खल्वोदनादेर्मयभुगिति कठधृत्यधीतोऽप्यसौ स्या-
न्न स्यान्मृत्यूपलिकस्थिरचरनिखिलप्राप्ततस्तत्त्वयोक्तेः ।
जीवव्यावर्तनं च प्रकरणविदितं भोक्तृतोक्तिर्द्वयोस्तु
प्रेर्यत्वप्रेरकत्वप्रतिनियतरसाच्छ्रिनीत्याऽथवा स्यात् ॥ ८
सत्त्वं स्याद्वरपनभन्न स इति विभजनात्प्रेर्यधीतन्तु सत्त्वं
बुद्धिः प्राणोऽथवेति त्वृतमिह पिबतोर्जीव एकस्तयोभेत् ।
मैयं जन्ती तु सत्त्वधुतिरियमुचिता कर्मभुङ्क्ष्नाप्यनभन्न
तत्प्रश्नप्रक्रमोऽन्याशय इदमपि चाभाषि पूर्वापरान्गैः ॥ ९

इत्यत्रधिकरणम् ॥ १३ ॥

—(अधान्तराधिकरणम् ॥ १४ ॥)—

यद्वृत्तादेर्य एषोऽक्षिणि पुरुष इति श्रूयमाणोऽस्तु जीवो
यद्वाऽक्षोर्देवताऽर्कः प्रतिकृतिरथवा तत्र दृश्येति चेन्न ।
एतद्वद्वैतदेवामृतमभयमिदं कं स्मृत्याद्यधीते-
स्संयद्दामत्यमुख्यैस्स्थितिनयतिप्रज्ञाच्चिराद्युक्तितश्च ॥ १०
स्थातन्त्योत्तंसितासु श्रुतिषु न फलवस्यैव वेद्यस्थवावः
कल्याणालोकनादेरिव विधिवलतो वेदनस्यार्थवत्त्वात् ।
तस्मादद्वयन्तरस्यः प्रतिकृतिपुरुषो युज्यते पृथक्पक्षे
सेयं पूर्वापरास्वप्यधिकृतिषु यथासम्भवं नीतिरूपा ॥ ११
पूर्वन्यायेऽग्निविद्या पुरत उपनता मध्यतस्त्वत्र तस्मा-
त्तद्वन्न ब्रह्मविद्यानुगतिरिति भवेदक्षिणविद्या ततोऽन्या ।
मैयं विच्छित्तिरङ्गैर्न हि भवति मिता चाङ्गताऽनेकधाऽस्याः
प्रोक्तं च ब्रह्मविद्यानुगुणमिह फलं प्राक्तु न ब्रह्मदृष्टिः ॥ १२
इत्यन्तराधिकरणम् ॥ १४ ॥

— — —

—(अधान्तर्याम्यधिकरणम् ॥ १५ ॥)—

अन्तर्यामी स जीवो यद्विधिकरणात्तधीवृत्त्यनूक्ते-
र्नान्यो द्रष्टेति चोक्तेरिति यदि न नियन्त्रन्तरस्य व्युदासात् ।
द्रष्टृत्वार्थं च तत्तद्विषयघटितधीरूपमीशे हि मुख्यं
तद्वर्माः काण्वमाद्यपन्दिनपठितिगतास्तस्य चात्मा शरीरम् ॥ १३
स्थानैक्यादत्र शालाद्वयपरिपठितायात्माविज्ञानशब्दा-
येकार्थावित्यकम्प्यन्तदपि कथयतो बुद्धिमेवेत्यपार्थः ।
लोकाम्नायप्रतिज्ञाघोरबुगमत इमां चेतने ह्येकतानां
याधः केनापि नास्मिन्मघति च सत इत्यादिभिस्तामरस्यम् ॥ १४

इत्यन्तर्याम्यधिकरणम् ॥ १५ ॥

— — —

—(अथादृश्यत्वादिगुणकाधिकरणम् ॥ १६ ॥)—

दृश्यत्वादेर्निषेधो विकृतिमति भवत्यक्षरे सन्निकर्षात्
पञ्चम्युक्ताक्षरन्तत्तदवधिकपरः पञ्चविंशोऽस्तु मा भूत् ।
सर्वज्ञत्वादिदृष्टेः प्रथमसमुदितं त्यक्षरं ब्रह्म शुद्धं
पश्चादुक्तन्तु जीवादि कमवधितया भेदस्तत्परोक्तेः ॥ १५ ॥

इत्यदृश्यत्वादिगुणकाधिकरणम् ॥ १६ ॥



—(अथ वैश्वानराधिकरणम् ॥ १७ ॥)—

स्पर्शलोकादित्यवाताम्बरसलिलमहीरूपमूर्त्तादिस्तृप्त्या
ध्येयो वैश्वानरात्मा स्थिरबहुविशयश्शब्दलिङ्गादिसाम्यात् ।
मैवं ब्रह्मेत्यधीतेर्भुवनतनुतया योगतस्त्वग्निशब्दं
वैशिष्ट्याद्वा क्रियाङ्गं स्ववपुषि परधीर्गार्हपत्यादिधोश्च ॥ १६ ॥

अन्यस्मिन्नन्यदृष्ट्या न भवति विदुषां क्वापि निश्चयेऽसति-
स्तस्माद्वैश्वानरोऽसौ न पर इति फलं त्वन्नसिद्ध्यादि मैवम् ।
ब्रह्मैव ह्यन्यदृष्ट्यन्वितघटितमिदं ब्रह्मशब्दाद्यभावात्
सर्वाग्रध्वंस उक्तः फलमपि परमं ब्रह्म च व्याप्तमज्ञम् ॥ १७ ॥

त्रिध्वजोपासितृणां मितहृदयगुहाश्चान्तरिचिन्त्य उक्तो
विश्वान्तर्यामितादेर्विपुलपरिमितश्चिन्तनीयस्त्वयेऽथ ।
पदसु ब्रह्मात्मशब्दा पुरुषवदमपि क्षेत्रज्ञप्रपञ्च-
व्याघृते विभ्यहेतौ प्रकरणनियमाध्यामवृत्त्या नमन्ति ॥ १८ ॥

तज्ज्ञत्वादेर्हि सर्वं जगद्भिगदितं ब्रह्माभावेन पूर्णं
सर्वान्तर्यामिता च प्रभयितुरुदिता सर्वतद्देहिता च ।
तस्माद्विरच्यैकवाधप्रभृतिबहुविधापार्थक्यमन्वयमाणा-
बुद्ध्यां योक्तिजालं नितिलमिदं नयैस्त्वग्रकारो निरासः ॥ १९ ॥

स्याधीनाशेषसत्तास्थितियंतनतया सर्वभावेन तिष्ठन्
 प्रस्ताशेषोऽक्षितित्यस्थितिरखिलतनुः कक्षिताभ्यादिगात्रः ।
 खलोकाद्यङ्गवैधानरः पदविषयो लक्षणस्याविमस्य
 प्रोक्तः पादे द्वितीये श्रुति निकरशिरश्शेखरः श्रीनिवासः ॥ २०
 इति कवितार्किकसिंहस्य सर्वतन्त्रस्वतन्त्रस्य श्रीमद्वेङ्कटनाथस्य
 वेदान्ताचार्यस्य कृतिषु अधिकरणसारावल्यां
 प्रथमस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ २१ ॥

—(अथ प्रथमस्याध्यायस्य तृतीयः पादः ॥)—

—० x ०—

स्पष्टैर्जीवादिलिङ्गै र्युतमिह हि ब्रह्मसाक्षयते ब्रह्मनिष्ठं
 मध्येऽप्राधिक्रियां किमिति न तत्तत्प्रसङ्गात्तदुक्तेः ।
 किञ्चास्यामर्धलोकायतिकनिरसनं प्रस्तुतार्थोपयुक्तं
 ब्रह्मोत्कर्षश्च सिद्ध्यद्गलति दिविपदां कारणैक्यभ्रमश्च ॥ १
 न्यायास्तत्तैव साक्षात् परविषयतया सङ्गटन्तेऽत्र पादे
 सर्वाधारस्त आत्मा स्वमहिमनिलयस्तत्र तात्पर्यभूमिः ।
 तत्सिद्ध्यै शासनाय कथितमिह मिथस्स्यूतमालोचनीयं
 सर्वेशत्वं च पटुप्रमितनयमितं पञ्चिमन्यायरचयम् ॥ २
 सिद्धं प्रागेव मुण्डोपनिषदि परमं ब्रह्म तद्धर्मभेदै-
 र्भेदोक्तेश्चेत्यकारणं किमिति पुनरिमां विष्टपेपम्पिनष्टि ।
 सत्यं क्षेत्रज्ञधर्मः पदभिरुपनता प्रक्रियाभेदशङ्का
 प्रख्याप्य प्रत्यभिज्ञामपुनरुदयमुन्मूल्यते शब्दपूर्वैः ॥ ३
 यस्मिन्नेतन्मनोऽन्यैस्तद्व करणगणैर्जायते यच्च नाना
 नाध्याधारश्च योऽन्तर्धरित सकरणी कर्ममांकेति क्षेत्र ।
 धिश्वाधारात्मभावादमृतविनरणांमुक्तमृष्यत्ववादात्
 प्रागुक्तप्रक्रियैक्यादनशनसहितात् काशनाथान्यसिद्धेः ॥ ४

१ व्याप्ते तत्राक्षमोतं यदि किमिह ततो जन्म चास्येच्छुयोक्त-
आदीचक्रस्य नाभिर्भवति च स परो हार्दरूपेण तिष्ठन् ।
निष्कम्पव्यापिनोऽन्तश्चरणमपि शुभैर्विग्रहैरस्ति लोके
सौशालाम्नातवद्वा चरणमिदमपि स्यादधिष्ठानमात्रम् ॥१॥

इति धुम्वाद्यधिकरणम् ॥ १ ॥

—४—

—(अथ भूमाधिकरणम् ॥ २ ॥)—

आत्मदानाभिलाषादनुपरतशुचे नारदाय प्रयुक्तं
प्राणैः सानत्कुमारं धिरमति यत्नतं हिंसनाहंस्स जीवः ।
अल्पप्रत्यर्थिभूमा निरयधिकतुस्रोऽप्येव एवेति चेन्न
प्राणायामात्सत्यशब्दादितमधिकतयापास्यमत्र क्षुपात्तम् ॥६॥
नामाद्याशान्तयेष्टे प्रतिवचनवशान् प्रश्नतद्वाधिकोक्ते
प्राणैः विध्वान्तिदृष्ट्या भवतु तदवधिः प्रस्तुतात्मोपदेशः ।
मैवं जातो हि नामादिष्विह परमादात्मनः प्राण उक्तः
सस्यादित्यत्र तत्स्यादिति न विषट्नात् स्वारसिष्या विभक्तेः ॥७॥
प्राणव्रष्टाऽतिषाक्षी तदनुबदनतश्चोदितस्सत्यवाक्-
स्तस्मात्सर्वाहमर्थस्सकलजनयिता प्राण एवेति चेन्न ।
एष स्थित्यन्यतोक्तेरतिवदनकृतः प्राक्तनादस्य तद्वन्
तत्त्वन्योऽस्त्यग्निहोत्री स्वमहिमनिलये ह्यत्र धर्मोपपत्तिः ॥८॥
नामाक्षी वाक्च तस्योपरि तद्वन् मनश्चाथ सद्रूपनामा
चित्तं ध्यानं च तस्मादुपलमपि च ततस्स्याच्च विप्रानपूर्वम् ।
अन्नं तोयं च तेजो गगनमपि ततो मन्मथस्यास्तथाशा
प्राणस्सत्यः परात्मा सकलनियमिता गम्यते भूमवाक्ये ॥९॥

इति भूमाधिकरणम् ॥ २ ॥

—(अथाक्षराधिकरणम् ॥ ३ ॥)—

प्रख्याताकाशपूर्वस्वविकृतिवदनावक्षराख्यं प्रधानं
तस्याप्याकाशतोक्तौ धृतनिखिलजगत् क्षेत्रितस्थन्तु तस्यात् ।
मैवन्द्रष्टृत्वपूर्वैरनितरनियतैश्शासनायत्तधृत्या
किञ्च द्रष्टृन्तरस्य व्युदसनमिदं तत्तुल्यतद्द्रष्टृपोहः ॥ १० ॥

इत्यक्षराधिकरणम् ॥ ३ ॥

—(अथेक्षतिकर्माधिकरणम् ॥ ४ ॥)—

लक्ष्मीभृतोऽयमेकः खलु पुरुष इह ध्यायतेरीक्षतेश्च
क्षेत्रज्ञस्तोऽयमण्डाधिप इतरपरात्स्वान्यजीयात्परोऽसौ ।
नो चेद्भौमादिभोगप्रकरणविहितिर्बोमवीतीत्ययुक्तं
तस्मिञ् शान्तामृतस्यप्रभृतिपरगुणवशात्पनूक्त्योरयोगात् ॥११॥
नन्वत्रोद्धारमात्राश्रयफलगणनाकृढभूम्यन्तरिक्ष-
प्रत्यासत्त्या निवासस्सरसिजवसतेर्ब्रह्मलोकोऽस्तु मैवम् ।
पापोन्मुक्तेन लभ्यो ह्ययमिह कथितस्सूर्यसम्पत्तिपूर्वं
सोढव्यो मद्भयलोकैर्घ्यवधिरिति समस्तस्समाधानमार्गः ॥१२॥

इतीक्षतिकर्माधिकरणम् ॥ ४ ॥

—(अथ दहराधिकरणम् ॥ ५ ॥)—

दहं ह्रस्वण्डरीके गगनमभिहितन्तैस्तिरीयधृतौ य-
च्छब्दोगैस्तत्र गीतं यदपि च दहराकाश इत्येतदेकम् ।
भूतार्थं तत् प्रसिद्धेर्महिमत इति न प्रत्यनीकैरनेकैः
धीती च स्यात् प्रसिद्धिर्मगयति पत्निनी लिङ्गवर्गेस्तनाथा ॥१३॥
वाद्याकाशश्च यायानयमपि हि तथेत्येतद्वह्निप्रमीशं
सत्यात्मप्राणशब्दा नभसि न कथमप्यग्नयं प्राप्नुवन्ति ।

कामाधारश्च योऽसौ समगणि दहराकाशवान्वाऽत्र नित्य-
स्तस्यैव होय आत्मेत्यनुचदनमतस्तद्गुणाश्चिन्त्यकामाः ॥१४॥

सर्वेशाधारतोक्त्या भवतु च हृदयप्योम तद्वाज्यधीतं
छान्दोग्यस्थो निपादस्थपतिनयपदं ब्रह्मलोकादिशब्दः ।

आपस्तम्बश्च धैमाजनपुरमवद्ब्रह्म सर्वात्मभूतं
पूस्तस्य प्राग्निनस्त्युस्तदपि तदपि हि स्यात् पुरं सर्वथासान् ॥१५॥

जीवस्तर्ह्येव आत्मा गुणगणघटनात्तत्परामर्शदृष्टे-
रल्पत्वाद्युक्तित्वेत्थसदनुपधिकात्सत्यसद्भूपतादेः ।

विरवैकाधारतादेरपि स मनु परो ब्रह्मतौपाधिकी स्यात्
प्राजापत्यात्तु वाक्यात्परसमदशया तद्गुणोक्तिर्विमुक्ते ॥१६॥

ब्रह्माकाशोऽपवर्गप्रद इति गदितुं सम्प्रसादोक्तिरत्र
प्राजापत्ये तु वाक्ये परपरिपठनं प्राप्यनिष्कर्षणार्थम् ।

आकाङ्क्षाद्यैस्तदेवं परतदितरयोरभियते वाक्ययुग्मे
युक्तान्योन्यवाद्यप्रभृतिकमिह तत्सामरस्यं हि सौत्रम् ॥१७॥

इति दहराधिकरणम् ॥ ५ ॥

—(अथ प्रमिताधिकरणम् ॥ ६ ॥)—

प्राणेशोऽङ्गुष्ठमात्रः कचिदनुकथितस्सञ्चरन् कर्मभिः स्वै-
रन्यत्राङ्गुष्ठमात्रं पुरुषमपि यमो निश्चरुपेति दृष्टम् ।

तस्मादेतत्प्रमाणप्रभितमुपनिषज्जीवमाहेत्ययुनः

वाक्यस्थेशानतादेर्नरहृदयपरिच्छित्तितस्तद्धि मानम् ॥१८॥

नद्याङ्गुष्ठप्रमाणं हृदयमखिलज्ञन्त्याध्ययन्तत् परस्मि-
न्व्याप्ते तन्मानतोक्तिः कचिदिति मनुजाधिक्रियोक्तिप्रसङ्गे ।

सूत्रद्वन्द्वद्वयान्तस्त्रिभिरधिकरणैश्चिन्त्यते तद्विशेष-
स्तार्तयैस्स्थापनोपा त्वयजिगमिपिता नेतिकर्तव्यताऽत्र ॥१६॥

इति प्रमिताधिकरणम् ॥ ६ ॥

—(अथैतद्गर्भे देवसाधिकरणम् ॥५॥)—

शब्दात्मा लौकिकार्थाकृतिरियमथवा देवतातो न तस्या
ब्रह्मोपासेत्यनार्यं भुतपरिहरणं कल्पनं चाभुतस्य ।
यिभ्वस्त्रा च मा भूवनुमिति विषयस्तत्परैस्त्वेव शास्त्रै-
र्निर्वाचैस्स्थापितः प्राक्स्वयमपि विमुना नैव शक्यापलायः ॥२०॥
सामर्थ्यं देवतानामुचिततनुभूतामर्थित्वं तापभाजां
सम्पद्येतेति तासामपि भयति परोपास्तिवर्गाधिकारः ।
क्यातम्मन्त्रार्थं वादप्रभृतिषु निखिलं दोषवाद्याद्यभावे
मिध्येत्युद्योपयन्तस्त्वत इह कथिताम्मानतां प्रस्मरन्ति ॥२१॥
द्वेषा वृत्तिः स्तुतौ स्यात् स्वपरगुणमुत्सी प्राक्तनी तावद्व्या
निर्धार्यः पश्चिमायामपि निपुणधियाम्मुष्यधर्मेकदेशः ।
रुच्यर्यायां च तस्यामनृतकथनतो रोचना नह्यमुग्धे
भूतार्ये का स्तुतिस्स्यादिति मुनिगदिता गौणतादेर्निवृत्त्यै ॥२२॥
नानावेदातिशक्ताः कथमिह युगपत्कर्मसन्निधयनर्हा-
स्तत्तद्वृत्तान्तसत्त्वे भुतिषु भयति नानित्ययोगः प्रवाहात् ।
काण्डादौ कर्त्तव्यादः प्रवचननियतां वेदनित्यत्वसिद्धे-
रीशः प्राचीनरूपक्रमत उपदिशेद्वर्णसर्गेऽपि वेदान् ॥२३॥
वेदानामीशवृत्त्या क्रमनियमवृत्तिः कल्पमेवे यदीष्टा
मन्त्रांशानान्तथा स्यान्न कलु तदुचितं ग्रीहिसोमादिसाम्यात् ।
इत्थं विद्वदर्थवादक्रम इति नियमे पाक्षिके वा तथात्वे
पक्षोऽसावाक्षपादः परमतपरिपत्कोदिमाटीकतायः ॥२४॥

सौदम्यास्तुत्याभिघारात् १ सहकुदपनयाच्छादकादान्यपर्या-
 दत्वास्तस्याऽतिदूराद्वलयवदभिभवानुद्भवाक्षोपघातैः ।
 नेदपन्ते घर्तमानान्यपि हि सुरगणस्तद्वदन्तर्दिशक्तेः
 प्रख्यातास्सिद्धिभेदा अपि जननतपोयोगमन्त्रौषधीभ्यः ॥२५॥
 इत्येतद्गर्भे देवताधिकरणम् ॥५॥

—(अथैतद्गर्भे मध्वधिकरणम् ॥८॥)—

स्यादेयं देवमात्रे मनुज इव परोपास्तिमात्रे तथापि
 स्वस्यैवाराध्यभावस्त्वपदमपि फलं यत्र नात्राधिकारः ।
 मैवं सर्वान्तरात्ना स्वतनुभृदिति चोपासते मुक्तिकामाः
 कामादायतंते तु स्वपदमपि फलं कल्पमन्वन्तरादौ ॥२६॥
 इत्येतद्गर्भे मध्वधिकरणम् ॥ ८ ॥

—(अथैतद्गर्भे अपशूद्राधिकरणम् ॥ ९ ॥)—

जैमिन्युक्तापशूद्राधिकरणसरखेर्नास्ति विद्याग्निलब्धिः
 शूद्रादीनान्तथापि स्मृतपरमजनाधिक्रिया जाघटीति ।
 श्रोतृत्वाद्भाक्तादेस्त्वजनिसमुचितैः कर्मभिश्चेत्ययुक्तं
 प्राप्ते ब्रह्मोपदेशे ह्युपनयनपरामर्शनादि प्रसिद्धम् ॥२७॥
 शूद्राणां भारतादेश्चभयणमनुमतं पापशान्त्यादिसिद्ध्यै
 वैशार्थापालयुद्धिर्यदनधिकरणा नोपपृष्टे तैस्तैः ।
 विद्यास्थानानि शूत्रैर्मुदमिदकययत् पाण्डवाय द्विसप्ता-
 प्यस्त्रपृष्ठाणि तस्माच्च द्वि विकलधियां स्यादुपासाधिकारः ॥२८॥
 गीतं शूद्रादिकानामपि परमजनं केवलं स्याद्धर्म-
 र्थमभ्याधस्तुलाष्टुग्यदुर इति च ते प्राग्भवाम्याससिद्धाः ।

यक्ता शूद्रेति ज्ञानधुतिमभिमुखयञ् शोकमस्य व्यनक्ति
 क्षत्रप्रेषादिलिङ्गेस्फुटतरविदितं क्षत्रियत्वं हि तस्य ॥२६॥
 धूत्येति प्रान्यवाक्यप्रकृत इह भवेन्मुक्त आकाशनामा
 बन्धेऽसौ नामरूपे बद्धति तदनु च ब्रह्मभावे जहाति ।
 इत्यन्याय्यं पुरोकः पुनरयमभिसम्माध्य पय ह्युपात्तो
 ब्रह्मात्मन ह्यवस्था धृतिषु च युगपज्जाज्ञतादिर्विभक्तः ॥३०॥
 विश्वात्मानन्तभूमा नियमनधृतिर्कृन्मुक्तमोग्यस्वभावो
 ददस्याधारसर्वो हृदयपरिमितावस्थया सर्वयन्ता ।
 देवादीनामुपास्यो वस्तुमुन्नविबुधैस्त्वात्मभावेन सेव्य-
 रशूद्राद्योपास्यनर्हः प्रभुरिह बुबुधे नामरूपैरुक्तार्ता ॥ ३१ ॥

इति कवितार्किकसिंहस्य सर्वतन्त्रस्वतन्त्रस्य श्रीमद्वेङ्कटनाथस्य
 वेदान्ताचार्यस्य कृतिषु अधिकरणसारावल्यां
 प्रथमस्याध्यायस्य तृतीयः पादः ॥३॥

—(सथ प्रथमस्याध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥)—

निर्णीतं वाक्यजातं परधिपयतया स्पष्टजीवादिलिङ्गं
 सत्तच्छायानुसारि प्रथयति तु यच्चस्तत्परन्तुर्यपादे ।
 पद्भिर्द्वाभ्यां च तत्र प्रशमयति नयैस्साङ्ख्ययोगोक्तशङ्कां
 बद्धौ जाघट इत्थं कथितनिगमनं त्वष्ट्रं केचिदूचुः ॥१॥
 द्वाभ्यां क्षेप्यं प्रधानं कपिलमतमथ त्वेकतोऽन्योकसङ्ख्या
 तुर्येणाध्याकृतोक्तेरपि विभुरवधिस्थाप्यते द्वारवृत्त्या ।
 शुद्धाशुद्धौ च जीवावधिकरणयुगेऽनन्तरं वारण्यौ
 शेषन्तप्रान्तरोक्तेभ्यरनिरसनकृत्तुर्यपादाष्टकेऽस्मिन् ॥२॥
 अज्ञाद्यव्यक्तनिष्ठं जडमथ पुरुषन्तत्त्वकाष्ठां विविच्य
 धूने यज्ञी कठानां परमतपठितां प्रक्रियामित्यनुक्तम् ।

१ तत्र स्थाने कया षोडशविधवशीकार्यमुच्यते मोक्ते-
 शान्तात्मा विष्णुरुक्तः पर इह पुरुषः प्रत्यभिज्ञाप्यते च ॥ १ ॥
 न ह्यर्था इन्द्रियाणां प्रकृतिरथ मनोदेतुरेवाग्रचेष्टं
 बुद्धिश्चैतन्न सूते न च मयति महाज्ञायते बुद्धिसंग्रः ।
 मोक्षतुर्युक्तम् महत्त्वम् महति न हि भवेदात्मता पारिशेष्या-
 त्स्य व्यक्तोक्तिश्शरीरे तदिह न कपिलप्रक्रियाप्रत्यभिज्ञा ॥ ४ ॥
 इत्यानुमानिकाधिकरणम् ॥ १ ॥

—(अथ चमसाधिकरणम् ॥ २ ॥)—

स्वातन्त्र्येण ह्यजाया निखिलजनकता सूच्यते कापि चाक्ये
 षड्वोऽजस्तत्र शेते त्यजति पुनरिमां भुक् भोगामजोऽन्यः ।
 इत्युक्तेस्तान्त्रिकी सा गिर्यमिति यदि नाजात्यमात्राभिधाना-
 दस्वातन्त्र्यप्रतिपक्षेऽस्त्यजतिरपि परप्रेर्यतामोपदन्ध्यात् ॥ २ ॥
 इति चमसाधिकरणम् ॥ २ ॥

—(अथ संख्योपसंग्रहाधिकरणम् ॥ ३ ॥)—

यस्मिन् २ पञ्चेति चाक्ये परपरिगणिता विंशतिः पञ्चयुक्ता
 प्रोक्ता सप्तम्यधीतस्त्विह पुरुषगणोऽनन्यनिष्ठोऽस्तु मैवम् ।
 आकाशस्य स्वान्ता पृथगनुकथनात् सप्तमीशक्त्यवाधात्
 पद्मिचशोऽह्यत्र स्याभय इति विधितोऽनूयते ब्रह्मतामैः ॥ ६ ॥
 संक्षोपाधिस्समासो ह्ययमिति निगमे सप्तसप्तयिनीत्या
 प्राणाद्यन्तर्मनोन्तं प्रकरणनियतं पञ्चकं धीन्द्रियाण्यम् ।
 व्योतिश्शब्देन शास्त्रान्तरविदितमिदं न्यूनवादस्तु पूर्णं
 घ्राणं घक्त्ययशब्दो रसनमपि सद प्राणशब्दस्त्वयर्थः ॥ ७ ॥
 इति सङ्ख्योपसंग्रहाधिकरणम् ॥ ३ ॥

—(अथ कारणत्वाधिकरणम् ॥ ४ ॥)—

विभ्वोपादानधक्त्री भुतिषु सदसद्व्याकृतोक्तिः परोक्ते
 ह्यव्यक्तेऽन्येति तस्मात्तदितरद्वलिलं नेयमत्रेति चेन्न ।
 यत्रासत्त्वादि दृष्टं प्रकरणविदितन्तत्र सत्यज्ञतायां
 सिद्धं स्यादित्यधीतं स्थिरमपि तद्विहाषाध्य आत्मादिशब्दः ॥८॥
 आसीदग्रे त्यसद्वा इदमिति विलयायस्थतामात्रमुक्तं
 नैवासीत् किञ्चिदित्याद्यपि विलयपरं शून्यतादेर्निषेधात् ।
 सत्यस्याव्याकृतत्वं विभजनविरहात्तादृशावस्थतत्तद्
 द्रव्यस्तोमान्तरात्मा तद्विद् सदसद्व्याकृताद्युक्तिर्वाच्यः ॥९॥

इति कारणत्वाधिकरणम् ॥ ४ ॥

—(अथ जगद्धाचित्वाधिकरणम् ॥ ५ ॥)—

यस्यैतत्कर्म येद्यस्त इति वचनतः कर्मवश्यप्रतीतेः
 कर्ता पुंसां सपथ सकृतपरिणतेरित्युपक्रान्तिभङ्गम् ।
 बालाकपञ्चाततत्त्वान्तरमुपदिशतः स्याद्विहाजातशत्रो-
 स्तज्ज्ञातोक्तिर्निरर्था जगति कृततया कर्मशब्दोऽत्र मुख्यः ॥१०॥
 एवं जीवातिरिक्ते प्रकरणनियते तत्र यज्जीयमुख्य-
 प्राणायानं न तेन क्षतिरिह हि तथा तद्विशिष्टे सुपासा ।
 प्राणस्य प्राणभाजोऽप्यधिकरणतया वाज्रियाप्येकनीत्या
 प्रह्लादस्यै तदन्यप्रकथनमिति हि स्थापना सार्यमौमी ॥११॥

इति जगद्धाचित्वाधिकरणम् ॥ ५ ॥

—(धावयान्वयाधिकरणम् ॥ ६ ॥)—

पत्यादीनां प्रियत्वं भुतिरनुयदनि ह्यात्मनः कामसिद्ध्यै
 तेनासौ पुण्यपापंदिनफलभुनक्ति प्रकमादिप्रतीपम् ।

तत्तद्भोगप्रदानुः प्रथयति हि विभोः कामतत्त्वप्रियत्वं
 दृष्टव्यश्चैव मुक्त्यै भुतिनिकरमितः प्रत्यभिज्ञाप्यतेऽत्र ॥१२॥
 व्युत्पत्त्या ह्यात्मशब्दः प्रथयति परमं ब्रह्म यद्वा समासात्
 सार्थोऽयं जीवशब्दो भवति च परमं द्वारवृत्त्येति पक्षाः ।
 व्यक्त्यैक्यादाश्चरमरूपो निरुपधिकदशाद्वैततत्त्वबौद्धलोमि-
 स्तत्त्वत्वात्काशकृत्स्नः परविषयतया जीवशब्दं जगात् ॥१३॥
 भेदोपाधिव्यपाये भवभृदयमियाद्ब्रह्मतामित्युक्तं
 नित्यन्तर्देवदृष्टेरतिपतितभवे साम्यसाधर्म्यशब्दात् ।
 सृत्तकार्यक्रमश्च भुतिशतविहसस्तेन जीवोक्तिमीशे
 तत्त्वत्वात्काशकृत्स्नो यदिह निरवद्व्याससिद्धान्त एव ॥१४॥
 इति चाख्यानव्याधिकरणम् ॥६॥

—(अथ प्रकृत्यधिकरणम् ॥ ७ ॥)—

सृत्पिण्डादेः कुलालप्रभृतिरिदं पृथक्कद्वेवाविकर्ता
 नोपादानं विकारैर्विरह्यत इति न द्वारमात्रे विकारात् ।
 मृद्दृष्टान्तादिमात्राश्च विकृतिरसौ स्यात् परस्य स्वरूपे
 वेदद्वारोर्णनामिप्रभृतिविकृतिव्यव्यापृतेर्दर्शितत्वात् ॥१५॥
 स्वज्ञानार्थं स्वजन्यं भवति सृजति च स्वान्यसंयोगमीश-
 स्संयोगे मूर्तनिष्ठे प्रकृतिरपि हि नत्स्यान्नमिसं क्रियातः ।
 एकस्यादौ बहुस्यामिति बहुमयनं सौमरिन्यायसिद्धं
 भेदाभेदधुतीनामविदतिरिदं च स्याद्विशिष्टैक्ययोगात् ॥१६॥
 कार्येण्ये हि प्रतिज्ञा तदनुगुण उदाहारि दृष्टान्तवर्गः
 स्रष्टुस्स्यामित्यभिप्रां भुतिरिदं वनतां वृक्षतार्क्षि च यकि ।
 आत्मानं चैव एव स्वयमकुरुत तद्भूतयोनित्यमुक्तं
 तस्मात्कर्ताऽपि देवः प्रकृतिरपि भवेत् सर्वतस्यान्तरात्मा ॥१७॥

नोपादानं निमित्तं किमपि तद्विपरत्कारणन्तद्धि धिग्रो
यद्वा सिद्धं निमित्तं न भजति तदुपादानतामित्ययुक्तम् ।
इष्टादाकारमेवादुभयघटनतो लोकयेदानुरोधे
सिद्धे स्वच्छन्दस्वल्पमप्रणयनकुसृतिः पाकविन्ताविपाकः ॥१८॥
उपस्था तत्त्वान्तराणां विलयमथ तमस्येकतामात्रमुक्तं
प्रोक्तं चानादितादि प्रकृतिपुरुषयोर्वैतद्वेदिषाक्यैः ।
लीयेते तौ परस्मिन्निति तु लयवचस्यावयवस्तोयनीत्या
तेनासौ भोक्तृभोग्यप्रभृतिकवचिताद्विभ्रसृष्टिस्तमीची ॥१९॥

इति प्रकृत्यधिकरणम् ॥५॥

—(अथ सर्वव्याख्यानाधिकरणम् ॥ ८ ॥)—

अग्नेसंयर्तनं मातृवितथवचसि कापि हैरण्यगर्भं
प्रस्तारोयस्वकार्यं तमसि च शिव एवेति केचित्पठन्ति ।
एतादृग्याक्यवर्गस्फुटमवदधिकाशङ्कनस्तम्भनार्थं
प्रागुक्तास्तीतिभेदानतिदिशति परं शिष्यशिक्षैकचित्तः ॥२०॥
विश्वेशं धीपतिश्चेद्भवति कथमसौ प्राणमात्राधिकारी
दूरं गत्यापि दुःखद्विधिशिनतुलया घट्टकुट्यां प्रमातम् ।
मैवं मत्स्यादिमावेष्ट्विष निजविभवानुक्रियानाट्यमेत-
द्व्यङ्गेशस्त्रष्टरि स्यान्निरयधिकघृहत्पोरुपेपूरुये नः ॥ २१ ॥
सांबधोक्तप्रक्रियोक्तेस्तादृभिमतसृजेस्तत्प्रसंख्यानकल्पतेः
स्तत्प्रोक्तादयाकृतैष्यात्सृजिनवचनात्तत्फलावयवयोगात् ।
भेदात्कर्तृ प्रकृत्योर्दुर्हिणशिवमुत्सानेकहेतुभुतेष्व
क्षिप्तं पादत्रयोक्तं भुतिद्वयसमुद्घाटनादन्वरक्षत् ॥२२॥

जिज्ञास्यत्येन सिद्धेस्त्विच्छरचिदचिद्वेदिनि प्रकृतस्ये
 भ्रुत्याद्यैरेव सूक्तो स्वरसगतिरियं कारयाम्नायवाचाम् ।
 याधं रोधं च याज्ञान्तरमिदं बहुधा यर्णयन्तो मुसल्या
 निष्काल्यैरपरस्ताभिपदुपनिषदां निश्चलत्यप्रसिद्ध्यै ॥२३॥

आद्यौ जिज्ञास्यताऽऽस्तां बहुविद्वतिदता सद्यतां लक्षणोक्तिः
 मृष्यामशशास्त्रयोनिप्रलपितमपि चस्स्यात् समन्वित्यपोक्तिः ।
 सूत्रैरेतैस्स्फुटार्थैस्सविषयवचनैर्निर्दिशेपैक्यवक्षे
 मुष्येक्षाद्यैस्सधर्मः प्रकृतिपुरुषतो भेदभावः कथं स्यात् ॥२४॥

इति कवितार्किकसिंहस्य सर्वतन्त्रस्वतन्त्रस्य श्रीमद्वेङ्कटनाथस्य
 वेदान्ताचार्यस्य कृतिषु अधिकरणसारावल्यां
 प्रथमस्याध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥१॥

॥ समाप्तश्चाध्यायः ॥

• श्रीमते रामानुजाय नमः •

आधिकरणासारावली



—(अथ द्वितीयस्याध्यायस्य प्रथमः पोदः)—

स्मृत्यधिकरणम् ॥

• तत्सादृशकर्मतन्त्रक्रमनिपुणमद्वायुद्विसन्तोषसिद्धि-
र्यथप्युक्तेन लभ्या तत्रपि मृदुधियां हेतुकास्कन्वशङ्की ।
• स्थूणाज्जातक्रमेण स्थिरयति कथितं ग्रहणः कारणत्वं
कार्यत्वं यस्य यादृक्कृतिभिरवगतं तस्य तत्सादृशश्च ॥१॥
पादद्वन्द्वं द्वितीये परिहरति परे कारणे यादृशीडां
कार्यद्वारेण पादान्तरयुगमुदयत्यान्तरज्ञोभशान्त्यै ।
हेतुत्वायोगभङ्गः प्रथममिह विमोस्तस्य सार्वत्रिकत्वा-
योगक्षेपः परस्तात् कलति स च भवेच्छ्रौतनिश्चयं विहाय ॥२॥
तन्त्रच्छायाविदाने स्वयमुपनिषदामान्यपर्ये निरुद्धे
तन्त्रेभ्यो दुर्बलत्वात्तदनुसरणमित्युज्जिहीते परोऽद्य ।
इत्थं सत्यत्र तत्तस्मृतिनयः पृतनातिक्रमन्तत्तदर्थः
प्रत्यस्त्रैर्यारयित्वा द्रढयति चलितं पादतः प्राच्यमर्थम् ॥३॥
निर्णतिं कर्मकाण्डे स्मृतिनयविद्वती निश्चलत्वं भुतीनां
वर्चा तत्सिद्धयेऽसौ पुनरिति विफलः स्याद्द्वितीयाद्यपादः ।
मैवं गम्भीरनानाभुतिशिखरपरिच्छेद्यदुर्बोधताया-
मातोक्त्या तर्कतश्च क्षममनुसरणं पश्यतो ह्यत्र भङ्गः ॥४॥
द्वाभ्यां स्मृत्या विरोधं परिहरति तत्तत्स्वष्टमिस्तर्कबाधं
तेनोपादानभायं द्रढयति तु विमोः कर्तृतान्तद्वयं च ।

तत्तत्क्षेपास्तुलाप्रश्नयनमनसमुत्तामनीतः प्रवृत्ते
 शङ्कायर्गोपरीक्षा समनिहितमतिः पक्षपातं कण्ठद्वि ॥५॥
 स्मर्ता भृत्यैव गीतः कपिलऋषिरसौ वामुदेवांशभूतः
 ख्यातो रामायणादौ प्रविधिनिपुणधीर्वक्ति वेदान्ततत्त्वम् ।
 तस्मादस्मद्विदुरे भ्रुतिशिरसि तदुक्त्यैव निष्कर्षणं स्या-
 द्वा स्यादेकार्थमन्याद्यनघयद्गुगिरा तत्र तत्त्वार्थसिद्धेः ॥६॥

—(अथ योगप्रत्युक्त्यधिकरणम् ॥ २ ॥)—

वेदान् पूर्वं विधाताऽलभत भगवतस्सर्वविद्यानिशुक्तो
 धानीशश्चैव तस्मात्तदुदितचिद्विद्वत् कम्पनं वेदमूर्धनः ।
 मैवन्तस्यापि वेदापहृतिमुख्यविपदर्शनात् क्षेपिभाषायां
 श्रान्त्यादिस्सम्भवेदित्यगतिकविषये पूर्ववन्निर्वाहः ॥७॥

—(अथ विलक्षणत्वाधिकरणम् ॥३॥)—

विश्वं त्रैगुण्ययत् स्यात् त्रिगुणत उदितसासमादित्ययुक्तं
 सर्वाकारेण साम्यं कचिदपि न भवेत् केनचित् साम्यमिष्टम् ।
 भग्ना हेतुव्ययं चित्तगुणसमता गोमयाद्वृश्चिकार्या
 स्थूलत्वं यातिचयः प्रकृतितनुरतस्सर्वचोद्यां समर्दः ॥८॥
 ईक्षा तादृग्वद् स्यामिति सति पठिता ते ब्रह्मोऽपाञ्च दृष्टा
 सालक्षणं ततस्स्याज्जगत इति मृदुप्रज्ञपार्षद्वचोच्ये ।
 तत्तन्मूर्तेः परस्येक्षणमिदमिति तद्वाक्यभाषापलापी
 सामान्येनाभिमानिष्यवहरणमिदं व्याहरन् पूर्वपक्षी ॥९॥

—(अथ शिष्टापरिग्रहाधिकरणम् ॥१॥)—

संवादादक्षपादक्षपणककणभुग्भिन्नुपक्षेप्यगूनां
 विभ्यन्तद्वेतुकं स्यादिति मृदुमतिभिश्चाधराहकमोक्तौ ।

अन्योन्यव्याहृतार्थस्वपुटितकुहनायुक्तिदोषापनुत्स्यै
भाति त्रैव्यन्तसूर्यः प्रतिमततिमिरस्तोमकुक्षिमरिर्नः ॥१०॥

—(अथ भोक्त्रापत्त्यधिकरणम् ॥१॥)—

एको यस्यास्ति देहस्स भवति विविधानन्तदुःसैकमोक्ता
विश्यं देहः प्रभोरचेत् स कथमतिपतेद्विभ्यदुःखानुभूतिम् ।
इत्थं जीवेशसीमामपलपितुमनाः कौशभाजा भुतीनां
सन्नाद्भृत्यादिनीत्या शममिह लभतां साम्यवैषम्यदर्शी ॥११॥

—(आधारम्भणाधिकरणम् ॥ ६ ॥)—

कार्यं धर्मैर्विरुद्धैः कट इव शकटात् कारणद्रव्यतोऽन्य-
द्वयापारः कारकाणां विफल इतरथेत्यर्द्धवेनाशिकोक्ती ।
द्रव्यैक्येऽप्यस्तु सर्वं तदभिमतदशामेदतोऽसङ्गुतिश्चे-
त्यद्वयज्ञानाद्यव्याघात भुतिकथितजगद्ब्रह्मतादात्म्यमुक्तम् ॥१२॥
मायोपाधिस्रशक्तिव्यतिकरितपरब्रह्ममूलः प्रपञ्चो
येवान्तेऽन्यद्वितीयभूतिमयितथयन्यत्र तत्तद्विशिष्टे ।
अप्राधान्यात्तथा नः प्रकृतिपुरुषयोरन्तरात्मप्रधाने
वाक्येऽस्मिन् स्थूलसूक्ष्मान्यय इति जगतोऽनन्यभावोपपत्तिः ॥
विध्वारम्भे शिवतै शकलपरिणतिं शक्तिशेषस्य सृतिं
व्यक्तयुल्लासौ विसृष्टिं विकृतिमनियतां तत्त्वपंक्तौ च सृष्टिम् ।
तत्तद्वाक्यैकदेशे स्वरस इति मुग्धा कल्पयन्तन्तु मुग्धा-
स्मर्धभृत्यैकरस्यप्रणयिभिरभरीनकिरे तत्त्वविद्धिः ॥१३॥

—(अथेतरव्यपदेशाधिकरणम् ॥ ७ ॥)—

उक्तेऽनन्यत्वपक्षे चिदपि परिणतिर्ग्रन्थगस्यात्ततस्त-
ज्जीर्णकथं तत्त्वमस्याद्यगनमहतन्दुःखसिन्धुश्च जीवः ।
अघ्नान्तस्तु स्यदुःखं न मृजति न च तन्मूलीदृषाप्यस्य मयं
तात्स्थेनानन्यतांतेस्तदपिचिदचितोस्तच्छरीरत्वमिद्वेः ॥१४॥

—(अथोपसंहारदर्शनाधिकरणम् ॥ ८ ॥)—

शक्तौ कर्तृ प्रकृत्योरुपकरणगणोपस्थितौ कार्यकृत्व-
न्तस्मादग्रे सदेकं किमुपकरणयेदित्यसच्छ्रुतिमेवात् ।
क्षीरापस्कान्तलूतात्रिदशमुनिमुषान्वीक्ष्य तोष्टव्यमस्मिन्
संकल्पादेव जीवो नुदति निजयपुर्विभ्यरूपस्तथेशः ॥१६॥

—(अथ कृत्स्नप्रसवत्यधिकरणम् ॥ ९ ॥)—

कृत्स्नं कार्यात्मना चेत् परिणमति परं नावशिष्येत किञ्चि-
यगंशाक्षिप्कलत्यभुतिविहितरिवं स्याद्विशिष्टेऽपि तस्मिन् ।
ग्रहोपादानतैद्यं न घटत इति चेन्न स्वप्नेषु साम्या-
त्तन्मानात्तदगृहीतौ भुतिमितमिति तल्लोकवत् स्वीकुरुष्या ॥ ५ ॥
संयोगाख्यं हि कार्यं विभुनदिरयोस्स्यादणूनामिमथो या
कात्स्न्येनांशेन वा तद्विहतमिति यदन् शून्यवादे निमज्जेत् ।
सांख्योऽपि प्राह विभ्र्यां प्रकृतिमिति कथन्न्यूनसृष्टिस्ततस्स्या-
न्मायादिष्वेवमूह्यं निगमनिगदितात्पक्षना पद्धतिनः ॥१८॥

—(अथ प्रयोजनवत्त्वाधिकरणम् ॥ १० ॥)—

आत्मार्षं विभ्यसृष्टिः कथमपि सततावाप्तकामस्य न स्यात्
कारुण्याद्दुःखसृष्टिर्न भवति न च सा सर्वशक्तेश्चिकित्सा ।
सर्वज्ञस्यात्मवृत्तस्तदिह न जगतो हेतुरित्यन्धबोधं
लीलासौ लोकवत्स्यादभिमतिसमये सिद्धितस्याप्तकामः ॥१६॥
विभ्यन्दुःखैकतानं विषममपि सदा निर्ममाणस्य लीला
संजायेतात्मवृत्तक्रमत इति भवेच्चिदयत्वादिदोषः ।
मैवं बीजांकुरादिकमपि मभयानादिकर्मोपभाजां
जीवानां सौति तत्तत्कलमिति कुरुणासाम्ययोरप्रहाणान् ॥२०॥

दृष्टन्यायेन विश्वप्रजनकचिदचित्तस्वभेदकल्लसौ .
 स्पष्टप्रत्यर्थिधर्मोपनयननियतव्याप्तिधैयाकुली स्यात् ।
 अत्यन्तादृष्टमर्थं भणितुमधिकृताच्छास्त्रतस्सर्वकर्तु-
 स्सिद्धौ पाथाद्यनर्हप्रमितपरवती सर्वधर्मोपपत्तिः ॥२१॥

सांख्यस्मृत्या विरोधाद्विधिमतविद्वतेः कार्यधैरुष्यतोस्मि-
 न्नैकार्थानेकतन्त्रोदितविद्वत्तया देहभोगाधियुक्त्या ।
 कार्योपादानभेदात् स्वद्वितविद्वतितः कारकस्तोम हानेः
 कृत्स्नांशाद्यद्वयाधान् कृतिधिकलतयाप्युत्थितं प्रत्यधिद्वयत् ॥२२

इति कवितार्किकसिंहस्य सर्वतन्त्रस्वतन्त्रस्य श्रीमद्वेङ्कटनाथस्य
 वेदान्ताचार्यस्य कृतिषु अधिकरणसारावल्ल्यां
 द्वितीयस्याध्यायस्य प्रथमः पादः ॥१॥

—(अथ द्वितीयस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥)—

रचनानुपपत्त्यधिकरणम् ॥ १ ॥

वाचाभावादकम्पे स्थितवति निगमैर्ब्रह्महेतुन्यथादे
 भूयः किं धीनरागो यदति परपरोवाद्मत्रेत्युक्तम् ।
 प्रस्थानप्राच्यतैकप्रतिसमयभयन्मन्दसन्देहशान्त्यै
 तुल्यत्यभ्रान्तिसिद्धा प्रकरणसमता तर्कपादे द्वि चार्या ॥१॥
 पद्भ्यिशालम्भिसांख्यं स्फुटतरपठितं भारते योगतुल्यं
 तत्स्थत्वात् पञ्चविंशस्त्विति च निगादेनरत्नर्वनत्त्वान्तरात्मा ।
 तस्मात् सेशाननः प्रभृतिभिर्मभिगतं स्थापयित्वाथ सूत्रैः
 पक्षं त्योशानपेक्षं प्रनियदति नयैरुत्कटप्रत्यवापम् ॥२॥
 अद्वयतादीन्पदार्थाननुमिनिमुलतस्स्थापयन्तस्त्वबुद्ध्या
 पदविंशत्तत्त्ववादप्रभृतिषु न कथं सङ्गमिच्छन्ति सांख्याः ।

स्याद्याकर्मोद्भवन्तल्लिखितमपि परब्रह्मवत्तत्समस्य ॥१७॥

मोक्षेपुण्याद्यभावात्तदुपधिक्यपुर्वजितस्य न दूष्यं
तस्मिन्दुःखार्हं देहत्यजि च शुभवपुस्तस्त्वपत्तोप्यबादयः ।

इत्थं सत्यत्र मुक्तस्थितिर्हि मुनिना कीदृशी सूत्रिता स्या-
न्मैयं स्वच्छन्ददेहप्रदत्तनियमस्यापनेऽग्रामिसन्धेः ॥१८॥

नानादेहा यदि स्पूर्युगपदधिगतब्रह्मसाम्यस्य पुंस-
स्तेषां व्याप्तस्वरूपान्ध्रय उचित इति प्राक्तनाद्युत्पदानम् ।
नैतद्धीव्याप्तिसिद्धेर्भवति न जगदादेशवाक्यनिदाना
सौमर्यादौ प्रकृतां गतिमपवदितुं न क्षमं ब्रह्मसाम्यम् ॥१९॥

देहानां योगपथे बहुषु कथमणुधार्कोऽस्त्वेव मुक्त-
श्चैतन्यद्वारतश्चेत् सकलमपि तदा धारयेद्व्याप्तबोधः ।
मैवमुक्तस्य शक्तिर्नियमितविषया त्विच्छया सर्वशक्तेः
प्राकाट्ययोगशक्त्या बहून्नुभजने कर्मबन्धोऽप्यपेक्ष्यः ॥२०॥

शक्तिः क्षेत्रज्ञसंज्ञा मुनिभिरभिदधे येषिता कर्मभिस्त्वैः
पुंसोऽनंशाप युद्धिर्बहुविधविकृतिस्सीकृतैव स चास्तु ।
वालाग्रेन्यादिवाक्यास्तदयमणुरपि स्यादनन्तोऽपि मुक्तौ
न स्याज्जैनादिभंगे परिहृतविकृतेरैकरूप्यानपायात् ॥२१॥

जीयस्यैकैकशो'दि त्यजनत उदितो वृत्तशान्तासु शोष-
स्तस्माद्वारकं स्यादपगतचरणे मुख्यमानन्त्यमस्मिन् ।
मैयं शाखासु भोगाश्रयनियतिकरोपाधिनाशः प्रदाणं
क्षेत्रादिन्यायतोऽसाधिमिति विरहात् स्यादधीतो जहातिः ॥२२॥

एकोऽनेकः परस्मात् पृथगपृथगपि स्वस्वरूपेण मुक्त-
स्वामीष्टाशेषभोक्ता स्वयमिति पृथुकक्षीपयथे भ्रमन्ति ।
तेऽन्वीक्ष्य स्वोक्तिपाथं धृतिशतविदति न तदुक्तस्यान्यपर्यं

एष्टन्यायेन विषयप्रजनकचिदचित्सत्त्वमेदकूलतो
स्वेष्टप्रत्यर्थिधर्मोपनयननियतव्याप्तियैयाकुली स्यात् ।
अत्यन्तादृष्टमर्थं भणितुमधिकृताच्छास्त्रतत्सर्वकतु-
स्तिद्धौ पाधाद्यनर्हप्रभितपरवती सर्वधर्मोपपत्तिः ॥२१॥

सांख्यस्मृत्या विरोधाद्विधिमतविद्वतेः कार्यधैरूढयतोस्मि-
न्नेकाथानिकतन्त्रोदितविद्वततया देहभोगावियुक्त्या ।
कार्योपादानभेदान् स्वहितविद्वतितः कारकस्तोम हानेः
कृत्स्नांशायुद्वाधान् कृतिधिकलतयाप्युत्थितं प्रत्यधिद्वयत् ॥२२

इति फभितार्किकमिहस्य सर्वतन्त्रस्वतन्त्रस्य श्रीमद्वैकुण्ठनाथस्य
वेदान्ताचार्यस्य कृतिषु अधिकरणसाराध्याम्
द्वितीयस्याध्यायस्य प्रथमः पादः ॥१॥

—(अथ द्वितीयस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥)—

रचनानुपपत्त्यधिकरणम् ॥ १ ॥

पात्राभावादकम्पे स्थिरयति निगमैर्ब्रह्महेतुभ्यवादे
भूयः किं धीतरागो यदति परपरोवादमन्त्रेत्ययुक्तम् ।
प्रस्थानप्राच्यनैकप्रतिसमयभयन्मन्दसन्देहशान्त्यै
तुल्यत्वभ्रान्तिसिद्धा प्रकरणसमता तर्कपादे हि वार्या ॥१॥
पञ्चविंशालम्बिसांख्यं स्फुटतरपठितं भारते योगतुल्यं
तत्स्थित्यात् पञ्चविंशस्त्विति च निगदिनर नयनत्त्वान्तरात्मा ।
तस्मात् सेशाननन्त्रं धर्मिसमधिगतं स्थापयित्वाथ सूत्रैः
पक्षं त्वीशानपक्षं प्रतिपद्यति नयैरुक्तप्रत्यवायम् ॥२॥
अव्यक्तादीन्पदार्थाननुमितिमुच्यतस्त्वापयन्तस्त्वयुद्धया
पद्त्रिंशत्तत्त्वयाद्प्रभृतिषु न कथं सङ्गमिच्छन्ति सांख्यः ।

तुल्यादोषोपपत्तीश्रुतिनियतिमुक्तां कल्पनास्सम्भ्रान्तो
दृष्टमापद्गुपीरन् लघुमनुमिनुयुशेषमिच्छन्ति शास्त्रात् ॥३॥

कार्यं किञ्चित् कुचिन्दप्रभृतिरिचितन्दश्यतेऽन्यच्च सर्वं
कर्त्रायत्तं भुतन्तत् फयचिदपि न पराधीनताभङ्गदष्टिः ।

पङ्क्त्यन्धकारपाथस्तृणजलव्रतटिद्वाच्ययस्कः।न्तपूर्वः
दृष्टाभूतेन त्यविष्टं फलति तद्वलितं चेतनाधिष्ठितं नः ॥ ४ ॥

नन्वत्राचेतमानां स्वसमुचितयिधौ कर्त्रधीनत्वमुक्तं
शास्त्रारम्भे विधातुर्व्यनुददनुमितिं किं परस्त्वकारः ।
पृच्छेयं नातितुच्छा शृणु तद्वद्वितस्सर्वकृत्तानुमातुं
नापद्भोतुं च शक्यस्तदुभयनियमादर्शनादित्यमस्त ॥ ५ ॥

सत्त्वाद्यान् द्रव्यभेदांस्त्रिगुणमितिसमाहारतः कल्पयन्त-
स्तेषां नित्यं विभुत्वे समविपमदशाद्यत्र कीदृग्वदेयुः ।
अन्योन्याभ्यासफलसिः प्रकृतिपुरुषयोर्मोङ्गमोक्षोपपत्त्यै
च्छायावत्त्याविनीत्या कथमियमुभयाचेतनत्वे घटेत् ॥ ६ ॥

पुंसां भोगापवर्गप्रभृति फलमिदन्तश्च सर्वं प्रधाने
दृष्टृत्वादेश्च फलसिः पुरुष इह पृथग्द्रष्टृतादिश्च-बुद्धौ ।
मुक्त्यै बद्धस्य शास्त्रं सुनिरकृत ततो नित्यमुक्तोऽस्मि चेत्या-
द्यन्योन्याव्यादनोक्तिं वृत्तपरिणये जैनभक्ता जपन्तु ॥ ७ ॥

—(अथ महरीर्षाधिकरणम् ॥ २ ॥)—

कल्प्योपादानं कं परममद्वधित्विष्य नानाविधाण
पादानौघस्य दृष्टात् समधिकत्वपुनः कल्पनेऽनिष्टमाह ।
प्राज्ञाधिष्ठानजन्यप्रकृतिपरिणतिः प्राङ्मिरस्ताथ सेरं
सूत्रमाणुव्रन्यमूलद्वयणुकमुखजगत्सृष्टिपदं पिनाष्टि ॥ ८ ॥

प्रागेवारम्भणोक्तावपद्वनविषया प्रागसद्वद्रव्यफलुतिः
काणादानामिश्रानां क्षिपति बहुमुखं कारणप्रक्रियांशम् ।
त्रेधा हेतौ विभक्ते त्वनुमितिशरणैस्तत्तदंशैर्यथाहं
व्याघातादीन्विक्लपक्रमविबिधगतीन् व्याहरत्यत्र सूत्रैः ॥६॥

दृष्टस्याणोः प्रसूति द्वयणुकमणुमपि स्थापयन्तोऽनुमित्या
दृष्टाकारानुसारात् निरवयवताद्यत्र वक्तुं क्षमेरन् ।
सर्वं सङ्गोत सूत्रमे प्रमितिपरधतां जालकालोकलक्ष्ये
तद्भागान् स्थापयेद्वा स्मृतिरफलतया त्वान्यपर्येषु नेया ॥१०॥

विभान्तिर्न क्वचिच्छेदययनियद्दानन्त्यतो मानसाम्यं
मापक्षोणीभृतोस्स्यादिति यदि तद्वसत्तारतम्यावन्ते ।
वैषम्यं पञ्चमासप्रभृतिषु नियतं न ह्यनन्तेष्वनिष्टं
पारावर्यञ्च जात्योन किमनुकथितं व्यक्त्यनन्तत्वसाम्ये ॥११॥

नादृष्टं किञ्चिद्व्यचक्षुतिसरणिषुपान्देवतानुग्रहादे-
रन्यत्वे तस्य तज्जैरचिक्रयतनयन् फलुतिरादौ व्युवस्ता ।
यत्ने यत्नानपेक्षां न किमनुमनुते स्याददृष्टेऽपि तद्वत्
भूतस्यादृष्ट्यादे द्वयणुकदणुगतादृष्टकम्पोऽत्र लूनः ॥१२॥

नित्यं सम्बन्धमेके निजगदुरपृथक्सिद्धसर्वांनुवृत्तं
नित्यं नित्येष्वनित्येष्वपि कतिचिदिमन्तावदायुष्कमाहुः !
तत्तद्वद्वन्धसमावप्रतिनियतिमुक्तां स्यान्न तेन व्यवस्था
गुर्या त्वन्यस्य फलुतिः कथमधिकजुषां मानवस्या न दोषः ॥१३॥

निर्धूते सूत्रकारैरवयविपरमाण्यात्मके द्रव्यवर्गे
विशेष्यं व्याप्त्येकलक्ष्यं परममद्वयसत् स्यादथाद्रव्यमेव ।
मैयन्तृष्टाणुतत्संज्ञति ठदुमयसम्बन्धसिद्धेरयाधा-
दागन्तुक्षोषितायै भुतिरपि जगदारम्भणं ब्रम्भणीति ॥१४॥

—(अथ समुदायाधिकरणम् ॥ ३ ॥)—

वाह्योकाचारभागश्च्युतिविहतिवशाज्जमिनीये निरस्त-
स्तस्वांशन्तर्कितन्तैः प्रतिपद्यति गुरुर्जमिनेरत्र पादे ।
निधूते तत्र पूर्वं निरुपचिकनयैरर्थवेनाशिकोके
पञ्चान्वेनाशिकानां जिनगिरिशमतक्षेपतः प्राक् क्षियोति ॥१५॥

बुद्धोऽसौ स्वायत्तारैस्सह परिगणितः धीधरेण स्वशास्त्रे
सर्वज्ञो नैव मुखेन च निखिलसुहृद्विप्रलिप्सेत कश्चित् ।
तस्मात् बुद्धोक्तमन्त्रे भजति भिदुरतां सास्त्वतादीति चेन्न
स्वाभीष्टप्रत्यनीकप्रमथनमनसा मोहनादिप्रवृत्तेः ॥१६॥

दुर्यारा मोहनेच्छा निखिलजनयितुः केन मोहोऽन्यथा न-
स्तस्मात्कर्मानुरूपन्दिशति फलमसौ तत्त्वबोधं घ्नमं वा ।
स्योक्त्यादेस्सिद्धमेतन्निरुपधि विपमो नैव तस्मात् समोक्तिः
कारुण्याद्विप्रलिप्सा न यदि वृजिनजं नेशनिष्णं फलं स्यात् ॥१७॥

कद्व्यो बोद्धेति सर्वं सुगतमतविदो बोध्यमध्यक्षमेके
बुध्याकारानुमेयं कतिचन कतिचित् बोध्यमिष्यात्वमाहुः ।
तत्तुह्यन्यापतोऽन्ये धियमपि जगदुः संवृतेरेव सिद्धां-
तान्सर्वास्तर्कमानंशंति दितिजगुरुनय धैमापिकादीन् ॥१८॥

एकद्वयादिस्वभावैर्यदगुभिरथवा तत्तदेकस्वभावं
क्षोणीदेहादिपुञ्जप्रसृतिरिति समाभाषि धैमापिकेण ।
प्रानादानादि तत्र क्षणभिदुरतया बोध्यबुद्धयोर्न सिद्धये-
धिर्याधा प्रत्यभिप्राप्यनुमितिमथनी शेषमन्यत्र सूक्तम् ॥१९॥

बोधेष्वाकारमेवं निजमुपरितनेष्वर्पयन् प्राक्तनोऽर्थ-
स्तद्वैविध्यानुमेयः कचिदपि न तदाध्यक्षतेति प्रजल्पन् ।
प्राक् पञ्चाश प्रवृत्तैर्विहतिबहुलतां गौरवञ्च द्रुवाणैः
शिक्षादक्षैस्सगृह्यैर्दमित उपशमं यातु सौत्रान्तिकाख्यः ॥२०॥

—(अथोपलब्ध्यधिकरणम् ॥ ४ ॥)—

न प्राज्ञप्रादुर्भावो स्तः कचिदपि विविधानादिसन्तानचित्रो
बुद्धपात्मा त्रयात्मकोऽद्य स्फुरति भवदशातिक्रमे स्वात्मनैव ।
योगाचारोक्तिरित्थं विषयविषयिणोर्बोधयाधौ समानौ
मन्थानैर्चरणीया स्वपरविभजनाद्यत्र न कापि सिद्ध्येत् ॥२१॥
बुद्ध्यैक्यं बोध्यबोधोर्न घटत इह ते सत्ययोरन्ययोर्वा
भिन्नत्वे प्राज्ञलक्ष्मणमभिमन्यते नात्र चित्रैषमर्थ्यम् ।
चित्रान्द्रव्यं गुणं वा किमपि न च विदुः केऽपि भिन्नैकरूपं
तेनात्मव्यातिवादे स्थितिमिह भजतु स्वप्रकाशत्वमात्रे ॥२२॥

—(अथ सर्वधानुपपत्त्यधिकरणम् ॥ ५ ॥)—

सत्त्वेऽसत्त्वे द्वये च द्वितयपरिहृतावप्यनिष्टप्रसङ्गै-
स्सर्वं शुन्यश्चतुष्कोट्यतिगतमिति नामानतस्त्येष्टवादात् ।
अक्षोभ्यन्तत् प्रज्ञाणे परमतमसती संघृतिर्नार्थसिद्ध्यै
तस्मादित्थं निषेधो निरुपधिक इह काप्यदृष्टो न कल्प्यः ॥२३॥
प्राक्पश्चात् सत्त्वहानेर्गगनकुसुमवत् स्यान्न मद्ध्येऽपि कार्य-
म्भवेन्तत्रैव दृष्टेर्न यदि कथमसौ मध्यकार्यादिशब्दः ।
कार्यारम्भे निदानं विकृतिप्रदुत नेत्यादिचिन्तापि वन्ध्या
सामग्र्या कार्यसिद्धेर्भजति च गुणतां १कारणस्यानवस्था ॥२४॥
साध्यं हेतुस्तदङ्गप्रभृति च यदि वस्संघुतेरेव सिध्ये-
दस्मद्व्याप्यानुरोधादिह न कथमसिद्ध्यादिवोपा भवेयुः ।
तत्र प्रामाण्यबुद्धिर्न यदि पठत तन्मानमित्यस्मदुक्तिं
वस्तुस्थित्या न मानन्तदिति यदि समं तन्मतस्थापकेऽपि ॥२५॥
अव्यातिस्थन्यथाधीर्विषयरहितधीस्तानधिष्ठानबुद्धि-
र्वाह्यार्थाकारयोगस्सदसदितरधीश्शून्यधीरात्मधीश्च ।

भ्रान्तौ सर्वत्र तत्तत्परमतकथकैरादृताः पक्षमेवः
प्रायो बुद्धिर्यथार्था श्रुतिविदमिमता क्वापि भेदाप्रदादि ॥२६॥

—(एकस्मिन्नसम्भवाधिकरणम् ॥ ६ ॥)—

संवादात् क्वापि भागे जिनमुनियचसद्वशेषमप्यस्तु मान-
न्तस्मात्तेनोपरोध्योपनिषदिति कश्चिदुल्लुञ्चनानान्दुराशा ।
धैर्यस्यापि दृष्टेर्न यदि सुगतयोगेवमेवास्तु सत्या
तेनान्योन्यं निरोधात् पुरुषवचनयोरप्रकम्प्या धुनिर्नः ॥२७॥
सधासन्न द्वयञ्च द्वितयसमधिकन्तश्च पूर्वैस्सहेति
स्यादसौत्यादियाच्चा परिहितगगनैर्गीयते सप्तमङ्गी ।
व्याघातस्तैर्यदीष्टस्वसमयविदितिर्यद्यनिष्टः परोक्तो-
स्तद्वाक्यैर्न क्षतिस्त्यान्न च निरुपधिकः क्वाप्यसत्त्वादियोगः २=

• बुद्धिदासौ यथाहं प्रतितनु भविनान्देहमङ्ग विमान-
म्मुक्तौ नित्योर्ध्वयानप्रभृति गुरुतया नित्यपातं क्षमादेः ।
धमदेर्व्यापकत्वं गगनचक्षुषा तादृशं पुद्गलव-
न्दुस्तर्कैः कल्पयन्तश्श्रुतिनयकुशलैर्दूरमुत्सारणीयाः ॥२८॥

—(अथ पशुपत्यधिकरणम् ॥ ७ ॥)—

सर्वं जानाति रुद्ररधुतिषु च महितस्सत्यवाची च दृष्टः
प्रख्यातस्तद्व्यस्तञ्च कश्चिदुपनिषदीत्यस्तु मानन्तदुक्तिः ।
मैवन्नेवेन नैत्यप्रमथनरुचिना मोहशास्त्राणि कुर्वि-
त्यादिष्टो ह्येष तन्त्रं निजमकृत ततस्तन्न शिष्टोपजीव्यम् ॥३०॥

प्राजापत्ये हि वाक्ये प्रकटमुपनिषत् प्राह देहात्मयावं
चक्रे लोकायतन्तत् सुरगुरुभजन्मोहनत्वं मुकुन्दः ।
कण्वस्थानं च लोकायतिकपरिवृद्धा भारतेंऽपि प्रगीताः
कार्याय विप्रलम्भस्तदिदं पशुपतैस्तद्वेयोपपन्नः ॥३१॥

शैवाद्याख्याविशेषैः पशुपतिसमयस्याणतुर्धान्यथा वा

श्रुत्यान्योन्यं च बाधस्स्फुट इह तदसौ शाब्दुष्टार्ह उक्तः ।
 अग्राह्यान् १भैतिकानामनुसृतनिगमास्सस्मरुस्तत्प्रविष्टान्
 तत्त्वेऽप्यत्राभ्यधात्यं सुगतजिनमतानन्तरोक्तिः क्रमात्ता ॥३२॥
 निष्ठा सर्वेषु नारायण इति यचनाद्धेत्यहन्तव्यतोके-
 र्मान्त्योक्त्या च तन्त्रान्तरमपि महितं वेदवद्भारतादौ ।
 नातो बोद्धादिवत्तन्निरसनमिति चेत् सत्यमंशे तु बाध-
 स्यान्नासौ पञ्चरात्रे कचिदपि तदिह स्वीकृतिर्वैवतुल्या ॥३३॥
 दृश्यन्ते संगृहीता जगति हि समयास्ते च राज्ञानुपात्या-
 स्तस्मात्तः पक्षपातः क्यचिदनुचित इत्यर्मकप्रायचोगम् ।
 मुग्धैरन्ये गृहीता भवतु समयसंरक्षणोक्तिश्च धर्म्यं
 निष्ठैक्योक्तिस्तद्व्यग्रहविहितपरा तद्विरुद्धोक्तिदृष्टे ॥३४॥

—(अथोत्पत्त्यसम्भवाधिकरणम् ॥ ८ ॥)—

प्रामाण्यं कर्मकाण्डस्मृतिनयवशतस्सात्त्वतस्यापि सिद्धं
 पावेऽस्मिन् संगतिश्च प्रतिमतदमने नास्त्यमुष्येति चेन्न ।
 प्रत्यर्थित्वं निरोधममपनयता पञ्चरात्रस्य वार्यं
 दुस्तर्काद्युत्थितोक्त्या तदितरसमयेधित्यनुस्यूतसिद्धिः ॥३५॥
 दृष्टास्मिन्वेदनिन्देत्यनभिमतमृषेस्सात्त्वते वैदिकत्वं
 मयं वैशद्यमूलस्तुतिपरवचने वेदवैरस्यहानेः ।
 संगृह्याम्नायसारं प्रणयति भगवांस्तद्धि भक्तानुकम्पी
 धीतस्मार्तादियथा व्यमज्जदिह विभुर्वैदिकन्तान्त्रिकं च ॥३६॥
 वेदानां मानतोकेस्तदनुसरणतत्त्वस्य तन्मूलतोक्त्या
 व्यावृत्तिर्भाति शास्त्रागमत इति न तत्तुल्यभायोक्तिरार्या ।
 का हानिः क्षुद्रविशाशबलमिति यथा तादृशे वेदभागे
 मोक्षस्य प्रत्ययार्थं स्वगणित परं सात्त्वते सिद्धिभेदाः ॥३७॥

जीवस्योत्पत्तिमाह प्रथयति च मनो जीवतत्त्वप्रसूत-
न्तद्याहंकारहेतुं व्यपदिशति ततः पञ्चरात्रं मानम् ।
मैवं जीवादिषाचो ह्यभिदधति विभोर्व्यूहमेदानिहात-
स्तत्तत्तत्त्याभिमानाश्रयतिमधिगता तेषु तत्तत्समाख्या ॥३८॥

जीवोऽत्रानाद्यनन्तः कथित इति तदुत्पत्तिपक्षो न हीष्ट-
श्शब्दस्संकर्यणादिर्न कथमपि समन्वेति जीवादिमात्रे ।
भ्रीतस्तृष्टिकमश्च स्वयमनुपठितस्तद्विरुद्धं कल्प-
न्तस्माच्छ्रुत्या मिथो वा न विदितिरिह तत्तन्त्रतात्पर्यदृष्टेः ॥३९॥

सांख्या वैशेषिकाश्च भुतिपरिपठितन्धर्ममैच्छन् तत्त्वं
तत्त्वाचारौ तु युद्धक्षपणकपशुपत्युक्तिषु भुत्यपेतौ ।
वेदोपस्कारिणिष्णुस्मृतिवद्वितथे पञ्चरात्रावगतन्त्रे
तत्त्वं त्रय्यन्तसिद्धं चरणमपि समं गृह्यमेवादिनीत्या ॥ ४० ॥

स्मर्यन्ते पञ्चयष्टा शुनिधिरपि नमस्कारमन्त्रेण शूत्रे
तन्नाधीतं हविष्कृतप्रभृतिपत्रमिहाप्यंशतोऽस्याधिकारः ।
योज्या दक्षोक्तकालक्रमगतिरभिगत्यादिभेदे तदुक्ते
ग्राह्यं पञ्चिष्टिसोमप्रभृतिवद्विहितं युक्तितस्सङ्गतम् ॥ ४१ ॥

जातावाचार्यशब्दः कचिदिति न तथाचार्यदेवो भवेत्या-
द्याम्नाते तत्प्रतीतिस्स्मृतिषु नियमिताज्ञाप्रवृत्तेः ।
तद्वत् स्यात् सास्यतादावगतिकविषये रुढिभङ्गो न दोषः
विप्रादेरत्र शास्त्रे स्थितिरपि बहुधा भारतादौ प्रसिद्धा ॥४२॥

योगास्ताह्वयभ्युदासात् कणचरदमनावृक्षपादानुयाता
बीदोन्माथेन लोकायतमुपितधियो जैनभङ्गास्तदुत्थाः ।
पत्युस्तन्त्रे पशूनां प्रकटितविद्वतां तादृशापशुनिष्ठा
ध्यस्तास्तत्तुल्यतर्कागमशरभृतया साकमस्मिन् कुटुम्भिः ॥४३॥

पादेऽस्मिन् कापिलस्यैः कणमुगनुगतैर्बुद्धवैभाषिकाद्यै-
योगाचाराभिधानैस्सुगतप्रतरदृशून्यवादप्रसक्तैः ।

अहंत्सिद्धान्तमक्तैः पञ्चगतिसमयस्थापिभिन्नोपरोधं
क्षिप्वाथो पञ्चरात्रे ध्रुतिपथमवदत् पञ्चमास्नायदर्शी ॥ ४६ ॥

इति श्रीकवितार्किकसिंहस्य सर्वतन्त्रम्बतन्त्रस्य श्रीमद्वेङ्कटनाथस्य
वेदान्ताचार्यस्य कृतिषु अधिकरणसारावल्यां
द्वितीयस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥२॥

—(अथ द्वितीयस्याध्यायस्य तृतीयः पादः)—

उपोद्घातः ॥

सर्वं साहचर्यास्तु नित्यं क्षणिकमखिलमप्यत्र वैभाषिकाद्या
नित्यानित्यं समस्तं जिनपरिपठितां सप्तमङ्गीं पठन्तः ।
नित्यानित्ये विभज्याप्यभिदधति विपर्ययस्य वैशेषिकाद्या-
मधुन्युत्थांस्तान् निरुन्धन् ध्रुतिभिरय वियत्प्राणपादौ युनक्ति ॥
वियदधिकरणम् ॥ १ ॥

पूर्ववाधिक्रियायां पुरुषजनियचो नित्यतोत्तया निरुद्धं
व्योमोत्पत्तौ तथैव स्थितिरिति वचसोर्व्याहतौ वक्ति कश्चित् ।
सिद्धान्ती व्योमसृष्टिर्निगमशतमिता नान्यथा सिद्धिरस्यां
पायुष्योमामृतोक्तिर्जनिविधिविहितेत्पुकिषैषम्याह ॥ २ ॥
तेजः प्राथम्यहृष्टेरमृतवचनतोऽनंशकद्रव्यमाया-
द्वयोमन्युत्पत्तिवाकस्यादुपहितविषयैवात्मनीवेति चेन्न ।
प्राथम्यस्याधुतत्वात् प्रथमपठनतः कश्चिन्मेऽन्येन बाधात्
किंवा मत्प्रीतिरुत्पत्त्यं । तस्मिन् पदमिहानेकवाक्यैककथत्वात् ॥३॥
यौकससत्कार्यवादध्रुतिभिरनुमतो नायवध्यस्तिः सुग-
स्तत्तद्द्रव्येषु नामान्तरमजनसहायस्यया सृष्टिवाक् ।

इष्टाश्चक्ष्वाद्यवस्थास्तत्र निरवयवद्रव्ययुग्मोऽपि तस्मात्
ध्योमन्युत्पत्तिरुक्ता ध्रुतिषु तदितरोत्पत्तितुल्या न बाधया ॥४॥

—(अथ तेजोधिकरणम् ॥ २ ॥)—

कूटस्थाद्ब्रह्मणस्स्याज्जगदखिलमिदं पुत्रपौत्रादिनीते-
रेतस्मात् प्राण इत्याद्यपि सुगममिदेत्यादिरुद्धोऽय मोहः ।
प्राणस्वान्तादिपाठक्रमत इतरसंक्षोभणेऽतिप्रसङ्गा-
दीक्षानुस्यूतिदृष्टेः प्रथममिव परं सौति तत्तच्छरीरम् ॥५॥

—(अथात्माधिकरणम् ॥ ३ ॥)—

द्रव्यं सर्वं हि नित्यं कथितमवयविद्रव्यमग्नेन पूर्णं
नित्यत्वं सूत्रकारः पुनरपि पुरुषे किं विशिष्यामिधत्ते ।
सत्यद्यामान्तरार्द्धमिह नुवति दशां चेतनस्यानुपाधेः
प्रत्यक्षव्यवस्थधर्मां तद्विह नियमितौ शाश्वतौ क्षेत्रिणोऽपि ॥६॥

सच्छब्दार्थातिरिक्तं जनिमदखिलमित्येतदात्म्यादिसिद्धं
श्रोता सृष्टिश्च जीवे निरवयवनयस्त्यस्यरादौ निरस्तः ।
जीयोत्पत्तितत्तत्स्यादिति न सदकृताभ्यागमादिप्रसङ्गा-
दित्यत्वाज्जस्वकण्ठोक्तिभिरपि जननं त्वस्य देहादियोगः ॥७॥

देहात्मन्ये जनिस्स्यान्न तदिह घटते जातमात्रस्य रागात्
ज्ञाने किञ्चादिमेघोपलशयलपटप्रक्रियाप्यत्र दुस्स्था ।
देहे गेहादितुल्या ममरुतिरनघा दोषतत्त्वैक्यमोहः
क्षिप्तं चैक्यानुमानं बलवदनुमितेश्शास्त्रतत्त्वैक्यम् ॥८॥

देहं देहातिरेके तद्व्यधिनियतप्राणबुद्धयन्तरूपं
धीसन्तानं च नित्यं प्रलयविलयिनं स्यान्नुमप्यापवर्गात् ।
द्विण्डीराभं सवधाययितथयिरुतौ जीवमिच्छन्त इत्थं
निर्धूता दूरमत्र ध्रुतिमिरितरवद्वाधदोषोज्झनाभिः ॥९॥

— (अथ साधिकरणम् ॥ ४ ॥) —

कैश्चिज्ज्ञानतन्मार्गं कथितमुपधिजा ज्ञातृतेयात्मनोऽन्यै-
स्तत्रास्नायादिबाधं प्रथयति विविधं ज्ञोऽत इत्यादिसूत्रैः ।
पूर्वन्यायादमुष्मिन् जनितयरहिते नित्यबोधेऽत्र चोक्ते
संकोचाद्यर्हयुद्धेर्विकृतिवचनमप्यस्य सद्धारकं स्यात् ॥१०॥

ज्ञातृत्वं ज्ञानता च ध्रुतिमिरमिदधे नात्र पक्षे पताम-
स्सर्वथात्मा न भायात् किमिति न निगमैर्देहिनोऽणुत्वसिद्धेः ।
स्वाभासैकस्वभूतेरविशदमद्वसस्सर्वथा भानमिष्टं
धीसंकोचात् सुषुप्तिप्रभृतिषु विशदोल्लेखमात्रोपरोधः ॥११॥

धर्मस्ये त्वेवकारे त्रिविधमपि भवेत्तद्वयच्छेदकत्वं
धर्मित्यस्यान्वये स्यात्तद्वितरयिष्ये तस्य धर्मस्य हानिः ।
जानात्येवेत्यबोद्धा न भवति जडता ज्ञानमात्रोक्तिवार्या
ज्ञानालोपादियाक्यानुगुणविषयतां यात्यसाधेवकारः ॥१२॥

उत्क्रान्तिस्पन्दनाणूपमितिवचनतोऽणीयसशक्तिलामे
धीभूम्ना योगयत्नं स्ववययनयतोऽनेकमूर्तिप्रहेऽपि ।
यत्रास्नातं विभुत्वं परविषयमिदं भाति तात्पर्यलिंगं-
जंवि व्यापित्वयादो मतिमहिमपरस्त्वच्छ्रुताद्याशयो या ॥१३॥

— (अथ कर्त्रधिकरणम् ॥ ५ ॥) —

ज्ञातृत्वं पुंस इत्थं भवतु तदपि नामुष्य कर्तृत्वसिद्धि-
श्रुत्याद्यैस्तन्निषेधाद्विकृतिविरहितश्चेत्यसदृष्टवाधात् ।
कर्तृत्वापद्वोक्तेरविकृतिवचसोऽप्यान्यपर्यं हि गीतं
कर्ताशास्त्रार्थवत्यास्तदयमिदं न च स्यादबोद्धुर्नियोगः ॥१४॥

किञ्च स्वोक्त्यादिमज्ञो निगदिनुरहमः कर्तृताया निषेधो
यद्यन्यस्याहमर्थात्तदिहमपनिषद्देदिनरितद्वसादयम् ।

भोक्तृत्वस्याप्यभावे प्रसजति गितथं बन्धमोक्षादिशास्त्रं
प्राणादानाद्विहारात् प्रकृतिसमधिकोऽस्माति योगाच्च कर्ता ॥१५॥

ध्यापारपानवाङ्मनाप्रशकनयतनायोगयुक्तिस्तु मन्दा
कार्ये सामग्र्यपेक्षे विधितदितरयोर्लोकसिद्धा प्रवृत्तिः ।
सार्थं शास्त्रं द्वितात्तया नियतिनियमिता शास्त्रयोग्या दशा सा
ज्ञाता कर्ता च भोक्ता तदयमिदं पुमान् भाति सर्वैः प्रमात्यैः ॥१६॥

—(अथ परायत्ताधिकरणम् ॥ ६ ॥)—

कर्ता न ह्यन्यतन्त्रस्मरति खलु तथा पाणिनिश्चान्यथा चेत्
आज्ञा कुर्यान्न कुर्यादिति तु निगलिते धावनदेशयत् स्यात्
मेवं कर्माक्षकालप्रकृतिपरवशे कर्तृणां तत्फलं च
सौकृत्यान्मेशमात्रे ध्रुतिशतविदिते द्वेष इत्थं दुरन्तः ॥१७॥

साधारण्येन हेतुस्सलिलमिव विभुस्सर्वकार्याङ्कुराणां
धैर्यम्यं त्वाविरिञ्चात् प्रतिनियतफलैः प्राणिनां कर्मबीजैः ।
साम्यं स्वस्य स्वगीतं श्रुतमपि तद्विहाधोनिनीपादिभेद
स्तादृक्प्रमाणरूपं फलमिति नियतोऽनादिरेव प्रवादः ॥१८॥

काले दुःखोपशान्तिजनयन्ति भगवान् व्याजमाप्राचलम्भो
या दुःखापाचिकीर्णा परदिनमनसस्सैव तस्यानुकम्पा ।
दत्ते देहादियोगं दिशति च निगमं वृत्तिः वेदान्तसारं
निस्सीमानन्दयागं निरुपधि समयं सौति पुंसान्तयेव ॥१९॥

दोषस्याग्निप्रदांशो यमयितुरिति चेन्नोपमर्दानहत्वात्
स्वानिष्टक्षेत्रे हि प्रसजति न पदानिष्टमस्य प्रतीपम् ।
कारुण्यं सावकाशं कचिदिति कथितं साक्षिनाद्यञ्च सुस्थं
दृष्टे चैतस्वाभावे फलद इति धिया युगयते तत्प्रवृत्तिः ॥२०॥

प्रत्यङ्मुक्तात्माहमर्थः प्रमितिपरवतां कर्तृतादिभ्य तस्मिन्
 स्वेच्छापूर्वप्रवृत्तेरयमविदधिकस्तावदीशानतुल्यः ।
 ईशस्तु स्वेच्छयैव प्रयतत इति तन्निष्पन्नमन्यत्समस्तं
 सारध्यादिकमेण प्रतिनियतगतिस्स्यात् त्रयाणां प्रवृत्तिः ॥२१॥
 कर्तृत्वं स्यात् कदाचित् करणवति परप्रेरणानिर्व्यपेक्ष-
 ओचेत् तन्निष्पन्नाद्यं कथमिति यदि न स्वेष्टपक्षेऽपि साम्यात् ।
 स्वेनापध्यप्रवृत्तन्नहि पुनरपि तत् कारयेयुर्दयार्द्रा-
 स्तच्चेत्तस्य स्वमादितरपि न किं निष्फलोऽधीतभङ्गः ॥२२॥
 क्षेत्रज्ञानां समानां विषयमयतनता तादृशादृष्टमेदा-
 आदृष्टं त्वन्यदिष्टं नियमनमिदया शासितुस्तत्र भाष्यः ।
 साक्षित्याद्यभ्यसेतुस्समनिगममितं प्रेरकत्वस्य रुन्धे
 भाष्यादिग्रन्थलेशोऽप्यवहितमनसामैवमर्थ्यं भजेत ॥२३॥
 कर्ता देवः फलानां न तु करणभृतः प्रेरकश्चेत्ययुक्तं
 सर्वश्रुत्यादिकोपात्तं भवति फलं कर्मणः पापचर्या
 कर्माधीनं तु चिन्ताद्यपि हि भवभृतो भाषितं भाष्यकारै-
 र्जन्तूनान्देवतानामपि करणगणाधिष्ठितं वदयतीत्यम् ॥ २४ ॥

—(अथांशाधिकरम् ॥ ७ ॥)—

जीवादत्यन्तभिन्नः पर इति बहुधा व्याहरन् सूत्रकारो
 भेदाभेदश्रुतीनां घटकनिगमतश्चात्रयं च व्यपोदम् ।
 उक्ताक्षेपे समाधावपि न समाधिको हेतुरत्रास्ति सत्यं
 पादांशायुक्तिश्रुत्याद्वहुकुमतिमत्तत्त्वितये त्वंश्चिन्ता ॥ २५ ॥
 अंशत्वं रामकृष्णप्रभृतिषु घटतां विग्रहांशाधिकारा-
 ज्ञीये ब्रह्मांशतोक्तिर्न हि निरययवं ब्रह्म वक्तुर्घटंत ।

ब्रह्मादिश्चित्समिष्टः प्रतिपुरुषमिदं त्वंशता चेत्ययुक्तं
विश्वरूपदुर्बहु स्यामिति बहुभवनध्यातुरेकत्वसिद्धेः ॥ २६ ॥

व्योमैकं स्यादयदागैः पृथगुपधिमणैर्ब्रह्म यत्तंशमेव-
न्तत्रोपाधिव्यपायं भयभृदयमियाद्ब्रह्मतामित्ययुक्तम् ।

स्नानार्थारम्भदौस्थ्यात् प्रतिनियतगुणप्रत्यभिज्ञावहष्टे-
यिद्वन्नाच्छिन्नांश्चिन्तोदितयद्विद्वतेस्साम्यशब्दाच्च मुक्तौ ॥ २७ ॥

मायोदन्त्यपारे प्रतिफलति सृपावीचिषु ब्रह्मचन्द्र-
शङ्कायांशास्तस्य जीवा इति कतिचिदुशन्नयंतदुन्मसगीतम् ।

न ब्रह्मद्रष्टृतेषामचिदपि हि तथा स्वेन कल्प्यो न जीवः
फलप्तेः प्राक् स्वात्महानेस्त्रितयसमधिकः कल्पकस्त्वत्र सृज्यः ॥ २८ ॥

सन्मात्रं ब्रह्म सर्गानुगतमिदं पुनर्नित्यसिद्धास्त्रयांशाः
जीवेशाच्चित्प्रमेदादिति च कतिचनेदं च नोदञ्चनीयम् ।

सत्तामात्रानुवृत्तेस्तदधिकवपुषश्शासितुर्ब्रह्मतोके-
र्ब्रह्मत्रैविध्यवाक्यं निरवयवतया निश्चितेऽन्याशयं स्यात् ॥ २९ ॥

मेरोरंशः किरीटप्रभृतिनिरिति नपात्रित्यभिन्नेऽशंतोकि-
स्साज्ञात्याद्यत्वमूला गमयितुमुचितेत्यागमासन्नपक्षे ।

अंशोकिस्स्यादमुल्या स हि निपुणधियामेकवस्त्वेकदेश-
स्तस्माज्जीवो विशिष्टे भगवति गुणवत्तत्प्रकारेण उक्तः ॥ ३० ॥

उक्तं नित्योपलब्धिप्रभृति परमते पूर्णमेव ह्यनिष्टं
भूयस्तादृक्प्रसङ्गः प्रकथित इह किं भोगसङ्कीर्णतादेः ।

मैवं पूर्णं हि बाह्यप्रसूतिमशमयत्साम्प्रतं ब्रह्मचाद-
व्याजोत्सिकान् कुहपीन् परिहृतिरिति च स्याद्भविष्यन्मतेषु ॥

मिथ्याज्ञानादिचक्रे मरुति भगवद्गूर्णमानस्य जन्तोः
प्रत्येकत्त्वप्रयोधान्मवपरिहरणे सर्वतन्त्राधिगीते ।

शुद्धात्मज्ञानगर्भां परमजनमिदामङ्गमेदांश्च यद्य-
म्भोमांसारम्भसिध्यद्वपुषमपि पुनश्शोधयामास जीवम् ॥३२॥
फलसिर्व्योमादिकेऽपि क्रममुचि च विभोः प्राच्यतस्यैर्विशिष्टा-
जीवस्यापाधिकौ तु प्रजननविलयौ चिद्वधमज्ञातृतास्य ।

कर्तृत्वं पारतन्त्र्यं गुणतनुनयतो विभ्वरूपांशतात्वे-
त्याम्नायान्योन्यबाधव्यपनयनवियत्पादसाध्यानि सप्त ॥३३॥

इति श्रीकवितार्किकसिंहस्य सर्वतन्त्रस्वतन्त्रस्य श्रीमद्वेङ्कटनाथस्य
वेदान्ताचार्यस्य कृतिषु अधिकरणसारावल्यां
द्वितीयस्याध्यायस्य तृतीयः पादः ॥३॥



—(अथ द्वितीयस्याध्यायस्य चतुर्थः पादः)—

उपोद्घातः ॥



अक्षाशुत्पत्त्यनूक्तौ नहि फलमधिकाशङ्कनं त्वन्न मन्द-
न्तत्संशयादेः परीक्षाप्यनुकृतयलिभुम्दन्तचिन्तेति चेन्न
पतेष्वग्रहकार्यं किमपि कथयतां बाधनेनार्थवत्त्वा-
त्तत्साक्षान्संगतिरस्यात् प्रथमचरमयोर्मध्यमानां प्रसङ्गात् ॥ १ ॥
अष्टावत्राधिकाराः प्रथममिदं वियजीतिरुक्तेन्द्रियाणा-
न्तेजोयस्रोक्तनीतिन्द्रद्वयति चरमे व्यष्टिभेदस्य सृष्टौ ।
संख्यामानाश्चिन्तास्यपि तदुपहितोपासनाद्यैः फलं त्याज्यं
प्राणादिभ्यः प्रमाता पृथगिति विशदीकर्तुमप्येष पादः ॥२॥

प्राणोत्पत्त्यधिकरणम् ॥ १ ॥

अग्रे सत्तासृष्येणां शुनिरमिदधती प्राणतां वक्ति तेपा-
न्नाय प्रक्षेप बाध्यं बहुवचनद्वयेन नित्यान्नमिद्विः ।
मैथन्तत्सृष्टिशक्याद्वद्वयचनमिदं पाशनीत्येव नेयं
प्राणयित्ये परात्मन्यपि हि सुघटितं तन्निरुपत्यादिसाम्यात् ॥३॥

—(अथ सप्तगत्याधिकरणम् ॥ २ ॥)—

सप्त प्राणाभ्यन्तीत्युदितमभिहितास्ते विशिष्यापि योने
तस्मात् सप्तेन्द्रियाणीत्यसदधिकयचोदितोऽत्रान्यपर्यात् ।
सप्तैषां सार्विकाहंकरणपरिणतद्रव्यता चाविशिष्टा
मेवेनोक्तिः प्रधाने मनसि फलवती कर्मबोधेन्द्रियेभ्यः ॥४॥
देहव्याप्येकमक्षं कतिचिदकथयन् भागतो भिन्नकृत्यं
केचित् कमेन्द्रियाणि भूतिपथयिमुन्यास्तत्पुत्रः क्षुद्रतर्कः ।
क्षेत्रज्ञस्यादुरेके सह करणगणं युद्धयद्द्वारचिरे-
रन्ये तं चित्तयजं निजगदुरिति तानर्थतोऽत्र व्युदास ॥५॥

—(अथ प्राणाणुत्वाधिकरणम् ॥ ३ ॥)—

सर्वध्यानन्त्यवादान् परिमितिनियमानुक्तित्वेन्द्रियाणां
व्याप्तिस्सिद्धेति चेन्न प्रयदखिलतनूत्क्रान्तिगत्यागतिभ्यः ।
चृत्त्या दूरस्थधीस्याद्भजनविधिगरेऽनन्ततोक्तिस्स्वकार्यैः
कन्दस्थानां च तत्तत्तनुषु यिकृतिमद्द्रव्यभावात् पृथुत्यम् ॥६॥

—(अथ वायुक्रियाधिकरणम् ॥ ४ ॥)—

प्राणः प्रागुक्तनीत्या परजनित इति स्थापितो वायुमात्र-
न्देहान्तस्तत्क्रिया वा स इति न पृथगुत्पत्तिवादात् सदास्य ।
द्रव्यत्यन्द्रव्यवर्गे पठनत उचितन्नैय तत्त्वान्तरं स्या-
त्तोजस्त्ये वायव्यवस्थास्यजनयद्दिह तस्यागदानेः कदापि ॥७॥

—(अथ भेदाणुत्वाधिकरणम् ॥ ५ ॥)—

उक्तः प्राणस्त्रिलोक्या सम इति स जगद्व्यापकोऽस्त्वित्युक्तं
जीवाक्षन्यायतस्तत्सद्वपठिततनुत्क्रान्तिगत्याद्यभावात् ।
स्तुत्यर्था सर्वसाम्यभूतिरिह करणसंभृत्पादितो
देहेऽनन्वोपकारस्फुरति च दशधा धृतिभेदैर्विभक्तः ॥८॥

—(अथ ज्योतिराद्यधिष्ठानाधिकरणम् ॥ ६ ॥)—

भोक्तृणान्देयतानामपि तनुकरणाधिष्ठितिनैशतन्त्रा
तत्स्यातन्त्र्यप्रदानादिति न तनुभृतस्तच्छरीरं हि सर्वे ।
नित्ये तत्पारतन्त्र्ये क्यचिदपि न भवेद्राजसामन्तनीतिः
प्राणन्यायात् प्रभुत्पन्तदिह परवशं चेतनानां स्वराफये ॥६॥

—(अथेन्द्रियाधिकरणम् ॥ ७ ॥)—

प्राणोऽपि स्याद्भृमीकं भृशमुपकरणात्तेषु मुख्यत्ववादा-
वुत्क्रान्त्यादौ च साक्षादिति यदि न १पृथक्कृद्गतस्तस्य भेदात् ।
कण्ठोक्तादिन्द्रियन्वान्मनसि तु घटते गोयलोबर्दनीति-
र्न प्राणै सात्त्विकाहंकरणविकृतिता शब्दशान्यादि मन्दम् ॥७॥

—(अथ संज्ञामूर्तिक्लृप्त्यधिकरणम् ॥ ८ ॥)—

मन्याणैस्स्मर्यतेऽसौ सरसिजवसतिर्व्यष्टिनामादिकर्ता
जीवेनानुप्रविश्येत्यपि कथितमतः प्रेप्यकृत्यक्रमोऽत्र ।
तन्नैकोऽहि प्रवेष्टा त्रिवृतमकृत च व्याकरोदित्यधीत-
स्तत्तज्जीवान्तरात्मा सृजति स भगवांस्तदृशं कार्यजातम् ॥८॥

या जीवेनात्मनेति भुतिरियमपि न ब्रह्मजीवैक्यमाह
प्राणैकोऽन्तरात्मा यपुरितरदिति स्वायिभेदाभिधानात् ।
तेनेशस्तद्विशिष्टस्वकरणकतयानुप्रवेशेऽपि कर्ता
जीवे तत्कर्तृतायामिह न हि घटते त्याभुतिः कर्तृभेदात् ॥९॥

अग्न्यादावण्डमध्यस्थितिमति कथितं रूपभेदैस्त्रिवृत्त्वं
तेजोयथाशितोकावपि विशदमिदन्तेन येषास्त्रिवृत्कृत् ।
मैवं ब्रह्माण्डसृष्टिर्भवतु कथमसावत्रिवृत्कारपूर्वा
भुक्तेऽन्नादी विधोक्ता परिणतिरितरत्, सन्निकृष्टेः प्रदष्टिः ॥१०॥

निगमनम् ॥

अक्षाणां जन्मसंख्यापरिमितय इह प्राणवायोस्वरूप-
न्तत्सौहर्म्यन्देयतादेस्तदुभयविषयाधिष्ठितौ पारतन्त्र्यम् ।
प्राणस्यानिन्द्रियत्वं यदुपि चिदचिद्व्यष्टिनामादिवाचा-
स्पञ्जीकर्तुः सनाभिप्रभवकवचितादृचिरे प्राणवादे ॥१४॥

नित्यत्वं व्योम्नि धाताद्यणुषु च पुरुषेऽप्यज्ञताक्षीनपार्थांश्च
भोग्राक्षो भूतताणं मनसि च विभुतां नित्यतत्त्वान्तरत्यम् ।
प्राणेष्व्यात्मादिभावं स्वप्ननियमनस्वैरितां सर्गिवृन्दे
येधस्युन्मुक्तयन्त्रक्रासपि घृतां पादयुग्मेऽत्र भङ्गः ॥१५॥

तर्करापातसत्यैरविद्वत्कथने व्यावृत्तिः स्थापिता स्यात्
सम्यग्मिर्घस्तुः श्रुत्या तद्विति यदि तदा स्वाभिमानोपरोधः ।
तेनाद्वयायो विरोधप्रशमनकृदसौ यौद्वयन्धोर्विद्व-
त्सौत्री तर्काप्रतिष्ठा श्रुतिपथविमुखस्वैरवादेषु योज्या ॥१६॥

इति श्रीकवितार्किकसिंहस्य सर्वतन्त्रस्वतन्त्रस्य भीमद्वेष्ट-
नाथस्य वेदान्ताचार्यस्य कृतिषु अधिकरणसारावल्या
द्वितीयस्याध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

॥ समाप्तध्यायः ॥ २ ॥

—:—

श्रीमते रामानुजायनमः

अधिकरणसारावली

—(अथ तृतीयास्याध्यायस्य प्रथमः पादः)—

उपोद्घातः ॥

साध्या मुक्तिर्नचेत्स्यात्प्रसजति विफला साधनादुपायकृत्ति-
रसाध्या चेन्नभ्वरी स्यात् कथमिह पुनरावृत्तिशून्योऽपवर्गः ।
मैथं ब्रह्मानुभूतिः परमजनयता प्रागसिद्धैय साध्या
धीसंकोचप्रशाशस्त्वयमिति च भवत्युत्तरावध्यतीता ॥ १

पादाभ्यामत्र पूर्वं जनयति भविनां ब्रह्मविद्याधिकारं
पश्चात्तेषामुमाभ्यां यद्वति बहुविधान्तामरोपैस्सङ्गातैः ।
एवमर्थादौ विरक्तिं निरर्वाचविमये पूरुपेवाभिलापं
विद्यामेदायलम्बन्तदुपकरणमप्याह पादः क्रमेण ॥ २ ॥

संसारोद्विग्नचेतास्तनुभृदधिकरोत्पन्न शारीरकांशे
चैराग्यार्थस्तु पादः किमिति पुनरसौ सूत्रकारैर्निषेद्धः ।
सत्यं प्राप्यान्तराणां निरयगणतुलारोपणमुत्तयुपाय-
प्रारम्भेऽभ्यर्दितं स्यात्स्वरत इह खलु स्पष्टदृष्टस्योधः ॥ ३ ॥

तदन्तरप्रतिपत्त्यधिकरणम् ॥ १ ॥

देहाद्यं भाग्यनीत्या द्विधि भुयि च गतौ तत्रतत्रैव लभ्यं
प्राणार्थैर्भूतसूक्ष्मैरपि किमह मुधा पूर्वदेहाद्गृहीतेः ।
जीवस्याणोर्गतिं च स्वयमुपजनयेद्दीधरः प्राणनीत्या
मैथं स्वच्छन्दकृत्ये भुतिमितनियतौ गौरवोक्तेरयुक्तेः ॥ ४ ॥

नानाजोनीयराशिं व्यपदिशति जनो भूयतांशस्य नास्मा
प्राचुर्यादेवमापः पुरुषयचस इत्युच्यते भूतवर्गः ।

व्यष्टिं पञ्चीकृतैस्तैस्त्वृजति द्वि स विभुस्तारमग्नं पुनञ्च
अद्वाशब्दस्त्विहापः कथयति निगमे तत्समाख्यायदुक्तेः ॥ ५ ॥

द्यौः पर्जन्योऽथ पृथ्वी तदनु च पुरुषो योषिदित्येवमेतान्
पञ्चाग्नीन् करुपयित्वा परिकरसद्वितांस्तेषु पञ्चाग्निविणा ।

अद्वाख्यं भूतसूचनं कमपरिणतितस्सोमयर्पाधरेतो-
रुपं द्रव्यं सजीवन्तनुधरमरुतो जुहतीति द्रव्येति ॥ ६ ॥

—(अथ कृतात्ययाधिकरणम् ॥७॥)—

इष्टापूर्तादिरूपन्तनुमुदिह शुभं कर्म यत्किञ्च कुर्यात्
भुक्त्वा कृत्स्नन्तवन्ते पुनरवनिमियादित्यसदृष्टव्याधान् ।
फात्स्न्येनेत्यधृतत्वात् सुकृतफलतया धृतिभेदाद्यधीते-
स्तास्मात् प्रारब्धशेषैस्तदितरसद्वितैरायतत् स्वर्गपान्थः ॥ ७ ॥

धूमं रात्रि च पक्षं तिमिरकलुपितन्दक्षिणावृत्तिमासान्
पञ्चाङ्गोक्तं पितृणां गगनमपि मृतश्चन्द्रमभ्येति कर्मा ।
प्रत्यावृत्तौ तु चन्द्राद्गगनसततगौ धूममन्नं च मेघं
ग्रीष्मादीन्याति रेतस्सिचमथ जननीं यात नाचक्रवर्ती ॥८॥

आचारांशस्य सादृश्यं चरणवचनतो जातिभोगादिकं स्यात्
कर्माचारी विमर्कौ धृतित इति न सदृगत्यभावात्तथोक्तेः ।

मुख्यं वृत्त्या द्वि कर्मण्यपि चरणवचो नैकदेये निरोद्धयं
जात्यादिः कर्मभेदप्रभव इति मिते चिन्त्याचारसादृश्यम् ॥९॥

प्राप्ताचारान्तिवृत्तौ प्रतिपदमृपयस्सस्मरुः प्रत्यवायान्
प्राचीनाहःप्रणाशन्तदनुसरणतः पुण्यकर्माहतां च ।

नानस्सत्कर्ममात्रात् विदिष इति धिया तत्परित्यागशङ्का
नह्याचारप्रदीये सदृतिजलसमशोधको वेदवर्गः ॥ १० ॥

—(अथानिष्टाधिकार्यधिकरणम् ॥ ३ ॥)—

सर्वेषाम्नेहपाते सति नियमवती चन्द्रमःप्राकिरुक्ता
तस्मात् पापोत्तराणां निरयगतिपुरस्कारिणी सेति चेन्न ।
लोकस्संपूर्यते तैर्न पर इति गिरा संकुचेत् सर्वशब्द-
स्ते तत्तद्यातनान्ते तत् इह सहसा कुरिस्तां यान्ति योनिम् ॥११

जन्मप्राप्तिर्जरायुप्रभृतिषु भविनां कर्मपाकैर्विचित्रा
भृगिष्ठैः पुण्यपापैस्त्वपयवदनवती पञ्चमादुत्यपेक्षा
तद्वद्धूमादिमार्गाः कति कति च शुभैरुत्कटैर्देहपाते
दिष्यं रूपं विमानादिकमपि सपदि प्राप्य याताः प्रसिद्धाः ॥१२॥

—(अथ तत्स्वामान्यापत्त्यधिकरणम् ॥ ४ ॥)—

आहुत्योर्देहवत्त्वं प्रथमचरमयोर्निर्विवादं तथा स्या-
ज्जन्मेवाकाशवायुप्रभृतिषु भवतेरन्वयादित्यसारम् ।
रेतस्सिग्मावनीत्या पृथगगिलपनानर्हतामोत्रमत्र
शुभोः पुण्यप्रसादप' फलमिह पठितं नास्ति भोगश्च मध्ये ॥१३

—(अथ नातिचिराधिकरणम् ॥ ५ ॥)—

व्योमादिस्थित्यवस्था चिरमचिरमिति व्यक्तनिर्देशद्वाने-
शशुक्लावस्थानयास्यादनियतिरिति न सारसिक्ताः प्रवृत्तेः ।
ग्रीष्मादिभ्यो हि दुर्निष्प्रपत्तरमिति तु श्रूयते तेन पूर्वं
शीघ्रं तत्तदशायास्त्यजनमिति परिधायते वाक्यशक्त्या ॥१४॥

—(अथान्याधिष्ठिताधिकरणम् ॥ ६ ॥)—

जन्म ग्रीष्मादिनाम्ना भुतमिह तदिदं देवमर्त्यवत्स्या-
न्नैरात्म्यं स्थावरान्वायव भिन्नमथिदस्यापयन्तीति चेन्न ।
पुण्य स्यैव प्रवृत्ते फलपरिगणने स्थावरत्वोक्त्यवगा
त्रेतस्सिग्वर्ष्मणीय शुपचरति जनिं स्थावरेऽप्यन्यदेहे ॥ १५ ॥

हिंसायोगादशुद्धं श्रुतिविहितमपि न्याप्यमिष्टादिकन्तत्
पापांशं ग्रीहिभावप्रभृतिषु सुकृती भुंक्त इत्यप्ययुक्तम् ।
उक्ता मन्त्रार्थवादैः पशुहितमिति सा तद्विक्रिस्तावदेपा
ग्रूते यद्वे घधोऽसावयध इति मनुस्त्वौति निन्दा विद्वान्यत् ॥

कर्तुर्दोषन्विशेत्संघपनमिह पशोस्तत्कतोऽधोपकुर्यात्
तस्मादस्मिन्निषेधं क्षिपति न विधिरित्यमुयन् सांख्यमक्ताः ।
निधूते पश्वनर्थे न खलु तद्विहितं पिष्टपश्यादिकल्प-
स्तत्तत्कासाधिकारिप्रतिनियत इति यथापि न स्याद्विरोधः ॥१७॥

किञ्चोत्सर्गापवादक्रममिह जहतः कोटशी नित्यहिंसा
शुद्धं न क्वापि सिद्धये सद्य हि विधिपदं स्पष्टतन्निषेधम् ।
यत्रासत्यादि धैर्यं तदनु च विहिता विष्कृतिस्तन्निमित्ता
तत्रागत्या तथा स्यादितरपदधवा केवलन्तन्निमित्तम् ॥ १८ ॥

अस्मिष्टं विप्रहास्यैर्नभ इव मुसलैः क्षेत्रिणं १ केचिदूचुः
कर्माकर्तारमेयं फलमपि विविधोपाधिभेदैकनिष्ठम् ।
अव्यक्तस्यापवर्गं भवभुजमपि ज्ञानादिमुक्तस्य भावं
तेषामिस्थं मनीषां बहिरकृत नयैरेप यैराग्यपादः ॥ १९ ॥

पादे स्वर्धाप्यदस्मिन्वपुरिह विजदद्भूतसूक्ष्मैस्तद्देयात्
मुक्तस्यर्गोऽवरोहेदनुशयसहितो मात्रया भिन्नमार्गः ।
चन्द्रप्राप्त्यादि न स्यान्निरयपथजुषामभ्यराशौ सदृक्तं
तस्माच्छीघ्रोऽवरोहः परवपुनि परं ग्रीहिपूर्वेषु यो गः ॥२०॥

इति भीकवित्तार्किकसिंहस्य सर्वतन्त्रस्ततन्त्रस्य भीमदंष्ट्रनाथस्य
वेदान्ताचार्यस्य कृतिषु अधिकरणसारावल्यां
तृतीयस्याध्यायस्य प्रथमः पादः ॥३॥



—(अथ तृतीयस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः)—

उपोद्घातः ॥

—३—

ब्रह्मैव स्वैस्वभावैर्वर्णमुल्लमयदत् प्राक्तनाध्याययुग्मे
तस्येहाकृष्य चिन्ता किमिति पुनरसौ साधनाध्यायमध्ये ।
मैथं विद्याः प्रमेत्तुं विशदयति परं तद्धि तद्रूपमेवा-
स्तिद्वोपायादिभावं प्रथयति च विमोः प्राप्यतृष्णाप्रथिम्ने ॥ १ ॥

नैर्गुण्यं ब्रह्मणश्चेद्विदध इह गुणैर्ग्रह्यविद्याविभागाः
सोऽस्त्येतैः कल्पितैश्चेच्छ्रुतिमर्ताबद्धतिर्नात्र दृष्टिक्रमोऽपि ।
निर्दोषत्वं च नित्यं यदि वदसि मुधा दोषशान्त्यर्थं यतः
कल्प्यं चेद्गुणता स्यात् प्रकृतिरिति परक्षितये चैव पादः ॥ २ ॥

किंचादौ चिन्त्यभावः प्रमितिविषयता स्वप्रमत्यं सुखत्वं
विश्वाधिष्ठानता च स्वग्रहमयनधीर्निर्विशेषे कथं स्यात् ।
सर्वधृत्यर्थद्वानिः स्वयन्नविहतिस्तत्त्वमानैश्च बाधो
मायावैयात्यभाजामिति सगुणदशोपास्तियादश्च दुस्स्थः ॥ ३ ॥

त्यक्तं दोषैर्गुणाख्यं यदि पुनरिह तद्ब्रह्म चिन्त्येन पादे
जीयस्वप्नाद्यवस्थामननमथकथं जाग्रदीतीति चेन्न ।
स्यामार्थस्त्रष्टृभावप्रभृतिबहुविधग्रह्यमाहात्म्यसिद्धयै
जन्तोरस्य स्वमुकावतिपरयशतादतये चैतन्त्र ॥ ४ ॥

पादस्यास्याद्यमर्थं कतिचिदधिजगुः पूर्वपादस्य शेषं
पश्चादर्थन्तु साक्षादनुबद्धितमुदास्त्यर्थतत्तद्गुणोक्तेः ।
पेतन्नातीय इह्यं शयलितकथने चानुरीयैपरीत्या-
द्व्यल्लोकी जीयदोषग्रह इह तु मुष्णं तत्प्रतिद्वन्द्वसिद्धेः ॥ ५ ॥

स्वप्नेऽर्थास्सन्तु सृष्टास्तदपि बहुविधा दुस्त्यजा भ्रान्तिरथ
प्रध्वस्तानामदानांतिनयदनुनवात्स्थापितादिभ्रमाश्च ।
सत्यं ध्रुत्यादिसिद्धे ध्रुतपरिहरणायोगतस्सृष्टिमात्रं
सीकृत्यांशे तु बाधाङ्गमपि हि यथाजागरं न क्षिपामः ॥६॥

कश्चियोगप्रभावाग्निजपरभवनस्यैरसंचारनीत्या
निष्क्रान्तः पूर्वदेहाद्विशति पश्यपुः पूर्वमाप्नोति भूयः ।
इत्थं स्वप्नेऽप्युदन्तस्थितिरिति कतिचिच्छ्वासवृत्त्यान्यथाऽन्यं
चित्तोद्यद्गीप्रसृत्येतरतनुभजने सौमिन्यायसिद्धेः ॥ ७ ॥

—(सन्ध्याधिकरणम् ॥ १ ॥)—

उक्तं पत्या प्रजानां भयिनि दृढरवत् सत्यसङ्कल्पताद्यं
पुत्रादेशचैप कर्ता प्रकृत इह सृजेत स्यात्प्रमर्त्यं च मैयम् ।
मुक्तौ तादृगुणोक्तेरनभिमतसमुत्पादनादेरयोगान्
स्यप्रानां सूत्रकत्वादपि निष्प्रलजगतकर्तुरेयापि सृष्टिः ॥ ८ ॥

कामकामं विधातेत्यपि गमुलुचितोऽनूचते चेश इत्थं
सोऽयं सुप्तेषु जागर्त्यपि विशदमिदं संपरिष्वङ्गवाक्यात् ।
तत्तत्कालावसानाः कतिकति नियता जागरेऽप्यर्थभेदा-
स्तत्तत्कर्मानुरूपं फलचितरणमित्येतदप्युक्तमात्रैः ॥ ९ ॥
मायामात्रोक्तिलाभाच्छ्रुतिमुखसुगता विश्वमिथ्यात्वमाहु-
श्चास्मास्मिन्ने तदेभिः कथितमिह ततोऽसङ्गतत्वादिदुरस्थम् ।
मायाशब्दो न मिथ्यायत्रन उपचरत्वत्र तत् किन्ततस्स्यात्
सत्येऽस्मादौ प्रयोगाद्बुचितनियमने सोऽयमाश्चर्यतार्थः ॥ १० ॥

—(अथ तदभावाधिकरणम् ॥ २ ॥)—

स्थानं जन्तोस्सुपुत्तौ ध्रुतिरनियमतो यकि नाढ्यः पुरीत-
ज्जायं प्रहोति तस्मादिह भवतु मिथो नैरपेक्ष्याद्विकल्पः ।
तत्र प्रासादस्तद्याशयनचदुपकृत्यन्तरैर्योजितानां

पक्षेपक्षे विकल्पः क्रमघटितचतुर्विधोऽप्युक्तो न युक्तः ॥ ११ ॥

—(अथ कर्मानुस्मृतिशब्दविध्यधिकरणम् ॥ ३ ॥)—

मुक्तिब्रह्मण्यपीतिर्जहदसुखगणा तादृशीयं सुपुति-
श्रुत्यैव व्याप्यतेऽतस्तदनु तनुष्टुद्वद्ध्यमानस्ततोऽन्यः ।
मैवं कर्मानुष्ठेस्स्मरणनियमतः पूर्वं एवेति शब्दा-
न्मोक्षोपायादिशिष्टेस्त्वपदनुयदनात् प्राप्य एव प्रबुद्धः ॥ १२ ॥

जीवानादिष्वमृचे दृश्यदनुकरणं लेप्स्यते चापवर्गे
स्वर्गाद्यर्थप्रवृत्तिः भुतिनयविदिता सौगताद्याश्च भग्नाः ।
कल्पान्तेऽप्येकतोक्तिर्नियमितविषया नामरूपप्रदायात्
भूयश्चिन्ता सुपुत्ते प्रलयसमदशासंजिह्वासाविजिह्वै ॥ १३ ॥

—(अथ मुग्धाधिकरणम् ॥ ४ ॥)—

जाग्रत्स्वप्नौ न बाह्याभ्रगमविरहितौ रक्षासपूर्णासुपुति-
स्तस्मान्मुग्धिर्मृतिस्स्यात् प्रशमितकरणप्राणवर्गेति चेन्न ।
मृत्यावेहेतुमेवात् स्थितिमृतिविशयावुत्थितेऽभ्यानियत्या
मर्तुं प्रक्रम्य मध्ये विरमति विधिनेत्यत्र तुर्यार्द्धमावः ॥ १४ ॥

पेटिकोपोद्धातः ॥

जन्तूनां जागरादिस्थितिषु भवति यद्वैशसं दर्शितं तत्
तत्तत्स्थानादियोगेऽप्यनघशुभगुणं ब्रह्म संशोद्धयतेऽद्य ।
संसर्गकपादिमूलान् परिहरति ततो दोषवर्गान्नुमाश्यां
हीनत्वौदार्यदानां परमपमयते नीनियुग्मेन नेतुः ॥ १५ ॥

नैर्गुण्यं निर्गुणोक्तेर्गुणवचनमिहाऽऽपि यद्यमार्थवाचो
नैर्गुण्यं यस्तुष्टुत्या तदितरत्रखिलं स्वाप्नमोगादितुल्यम् ।
इत्थं जीवेशभूमापहरणकुटनापादमोमुग्धमानान्
क्षेप्तुं न स्थानतोऽपीत्यधिकरणमधारभ्यतेऽनकशृङ्गम् ॥ १६ ॥

—(अथोभयलिङ्गाधिकरणम् ॥ ५ ॥)—

हेयं वस्तु स्वतो यत् स्थितिर्दिदं हि भवेदुःखकृत् स्वेच्छयापि
 त्याज्यत्वं नान्यथा स्यादिति न निरुपभेदेयमायस्य हानेः ।
 नित्यस्यातन्त्र्यमाजो भविन इव दशाभेरतो नाप्यवयं
 श्रुत्यैवैकत्र देहे परतदितरयोश्चुक्षयशुद्धी साधीते ॥ १७ ॥
 ब्रह्मक्षत्रादिदेहेष्वणुरिव विभुरप्यात्मभावेन तिष्ठ-
 त्तत्तच्छब्दाभिलष्यस्तादिह स न कथं तत्तदादेशयशयः ।
 मैवं न क्षाप्यतेऽसावविदितधिरदाच्छासितृत्वात् शस्यः
 किञ्चिज्ज्ञो ह्यन्यतन्त्रो जगति द्वितविदा बोद्धयते प्रेर्यते च ॥ १८ ॥
 उरसर्गेणापवादं न खलु नयविदः क्षोभणीयं क्षमन्ते
 तस्माद्ब्राह्मे गुणादौ विधिविषयमतिक्रम्य तिष्ठेन्निषेधः ।
 एवं शान्ते धिरोधे नहि समविषयापच्छिद्वा न्यायसिद्धि-
 र्दृष्टो नित्यं निषेधः पर इह च ततस्स्यादुपक्रान्तिनीतिः ॥ १९ ॥
 सत्यं कार्यस्य गोपायति कथमसत्सद्भवेदित्यधीति-
 र्द्रव्यान्यत्वं हि कार्ये व्यपनयति परम्भृत्तिकेत्येवशब्दः ।
 अन्तर्भावाद्विशिष्टे भगवति जगतां नेह नानेति युक्तं
 निर्विष्टेयत्त्वशङ्कां प्रशमयति परे नेतिनेतीतिचोक्तिः ॥ २० ॥
 तत्तद्वस्तुप्रदेशे सकलगुणतया पूर्णदृश्यः परात्मा
 वृद्धिह्रासादिभेदोक्तिस्त इति हि जलाधारसूर्योपमोक्तिः
 अस्पर्शादाहतिश्चेन्नहि घटकरकाकाशदृष्टान्तयुक्ति
 तस्माद्ब्रह्म द्विलिङ्गं द्विविधविभवमित्येव येदन्तपक्षः ॥ २१ ॥

—(अथाहिकुण्डलाधिकरणम् ॥ ६ ॥)—

विभ्यस्त्रष्टस्सदुःखप्रजननमिह न स्वांशतोऽविस्वयल्लती
 मृत्तत्कार्यादिकं च स्वरसमिह बहुदाहृतं सप्रतिष्ठम् ।
 तस्मादव्याकृतादिविहरणनियता विभिन्येवेति चेद्य

स्वांशे मौक्त्यं धितन्यन्यद्वरति भगवानित्यनर्थान्नोद्वात् ॥२२॥
 कश्चिद्वित्यादिदंशो विविधविकृतिमान्महशीत्यादुरेके
 फेनादिन्यायतोऽन्ये सति विकृतिवशाज्जासत्सर्वज्ञभागान् ।
 चन्द्रज्योत्स्नादिनीत्या कतिचिदिदं जगद्भ्रमणोरैकजात्यं
 सर्वे ते सर्वधेदस्थरसगतिहतेरत्र विज्ञासनीयाः ॥ २३ ॥

—(अथ पराधिकरणम् ॥ ७ ॥)—

सेतुं तीर्थेण्यधीतेर्मितमिति वचनात् प्राप्यसंश्रितोक्ते-
 रन्याधिक्यधुतेरप्यतिवहननयात् कारणं प्रापकं स्यात् ।
 प्राप्यं त्वन्यद्वेदित्यसदनयधिके कारणे प्राप्यतोके-
 स्तेतुत्याद्युक्तिरस्मिन् बहुभिरयिक्ततां वृत्तिमङ्गोक्तरोतु ॥२४॥
 सेतुत्यं सेतुतुल्याद्विधरणनियमाद्वन्धनाद्वात्र युक्तं
 व्याप्तेऽप्यास्मन्नुपाधेः परिमितिधचनं सार्थकं सूत्रितं प्राक् ।
 चातुष्पथं च तत्तच्छ्रुतिभिरनुगुणं कल्प्यतेऽनन्तभूम्न-
 स्स्थस्येत्येवामृतस्येत्यभिहितमथवा मुक्तिरेवामृतं स्यात् ॥२५॥
 अन्यस्याधिक्यवादे परमवधितया कारणं यत्र दृष्टं
 तत्र अव्याकृतादिस्तदवधिरितरापेक्षयाऽसौ परश्च ।
 यस्माद्वन्यत्परं नेत्यभिहितविषये तत्परोक्तेरयुक्ते-
 रेवंत्यादित्यनूक्तिस्तत इति यदि वा व्याप्यमुक्तं तदस्तु ॥ २६॥

—(अथ फजाधिकरणम् ॥ ८ ॥)—

आराद्धयः कर्मकाण्डस्थितनयनिबद्धस्थापितानां क्रियाणा-
 मध्यक्षो देवतानामनुपधिमहिमा मध्यकाण्डोदितानाम् ।
 अत्राप्येतावतोको भवमयवकितप्राप्त्युपास्त्येकलक्ष्य-
 स्तत्तच्छास्त्रार्थयोग्यं विशति फलमिति स्थाप्यतेऽथात्युदारः ॥
 कृष्याग्नेर्मर्दनादेरपि भवति फलं द्वारतो वाऽन्यथावा
 धर्माणां साधनत्वं भुतिभिरवगतं शोपबाधोन्मिताभिः ।

तस्मादीशप्रसादात् फलमिति तु यच्चस्तत्प्रशंसेति चेन्न
धौताराध्यप्रसादस्यजनकदनतोऽपूर्वफलत्वेरयोगात् ॥२८॥

यद्यप्याराध्यमूलं फलमिति फलितं देवताधिक्रियायां
कर्मपेक्षा तथोक्ता फलजननपरप्रेरणादौ तथापि ।
साक्षित्वानादरत्यप्रभृतिपरगुणं प्रेक्ष्य तत्प्रीणनादौ
शङ्कतद्गैर्निम्नडांस्त्वरयितुमधुना तादृशोदारतोकिः ॥२९॥

सम्राजस्सानुकम्पात् पितुर्गवितयिदस्लाभ्यभाजो यदान्यात्
स्थाने विन्दन्ति पुत्रा नियतकृचिभिदायन्त्रितास्तन्तमर्थम् ।
तत्र प्राप्यं स्वतो यद्विद्वतिरिद्ध यतस्तत्प्रशान्तिश्च यस्मा-
देयं यद्वा विशेषाद्मनमपि यथालोकमत्रापि तत् स्यात् ॥३०॥

शुद्धानन्दे तदिस्थं शुभगुणजलधौ सत्यनित्यसदेहे
देवीभूपायुधाद्यै रतिशयिनि कनद्गोगलीलाधिभूता ।
शेषित्वाधारभावप्रभृतिपट्टविधस्थास्तुसंयन्धदीप्ते
दृष्टिस्वर्गापवर्गप्रसधितरि हरौ निर्निमेषा ध्रुतिर्नः ॥३१॥

पादे स्वप्नार्थहेतुस्तदयमिदं सुपुण्याभृतिस्तुमगोमा
मुग्धोद्बोधादिकर्ता त्यनघशुभगुणोऽत्रिद्विरंशी सवेदैः ।
पारम्यस्यैकसीमा सकलफलद इत्युच्यते भक्तिमून्ने
सत्ये त्वेवं गुणादायथ परभजने रूपभेदादि चिन्त्यम् ॥३२॥

इति श्रीकवितार्किकसिंहस्य सर्वतन्त्रम्बतन्त्रस्य भीमद्वेष्टनाथस्य
वेदान्ताचार्यस्य कृतिषु अधिकरणसारावल्यां
तृतीयस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥३॥

—(अथ तृतीयस्याध्यायस्य तृतीयः पादः ॥)—

उपोद्घातः ॥

तत्त्वज्ञानानुबिद्धं हिततममनघं मोक्षयमाणस्य यक्तुं

तस्ये निर्दूष्य तर्कज्वरजनितमहासन्निपातप्रलापान् ।
निष्पन्ने तत्त्वबोधे न किमपि विदुषा साद्वयमित्युद्गूढयो
यावज्जीवानुवर्त्यं मुररिपुमजनं मुक्तिलाभाय धत्ति ॥१॥

भीमाम्यो यातनाभ्यः पितृपथगमनावर्तनादेव विश्व-
सृष्ट्यां कृष्णामृताब्धौ परिणयति परां यावता तावदुक्तम् ।
इत्थं लब्धाधिकारः परमधिकुरुते साधने यत्र साङ्गे
पादद्वन्द्वे परस्मिन्निह बहुभिदावर्षरं निर्गृहीति ॥ २ ॥

एकस्मिन्नेव पादे निपुणनयकृता न द्वयोस्तर्कणं स्यात्
भेदाभेदश्च नैको विषय इह भवेदन्यद्वा न प्रसङ्गात् ।
तस्मादस्मिन्प्रकीर्णा नयविततिरिति प्रेक्षितग्रन्थचोद्ये
वेद्यावच्छिद्यविद्यानियमकृदयमित्यैवमर्थ्यं समर्थ्यम् ॥३॥

आख्यावन्तं गुणानां निजगदुरुपसंदारतः पादमेतं
विद्यैक्यार्थं तदस्मिन्नपचदनतया भेदचिन्ता प्रसक्ता ।
इत्थं शुभ्रपुशद्भामिह शिथिलयितुं भाषितं भाष्यकारै-
स्तद्भेदाभेदमीमांसनमिति विषयस्तत्र चोक्तोऽनुवृत्तः ॥४॥

निस्सीमानन्दनाडिन्धमनिरुपधिकानन्तसंपदगुणोद्ये
विद्याभेदैर्विमज्य प्रणिधिरिह यदि प्राप्तिरप्यंशतस्स्यात् ।
मैवं तैरेव धर्मस्तद्वितरसहितैः पूर्णकामस्य पूर्णं
प्राप्यं ब्रह्मैव नान्यत् किमपि कलमतस्तत्कतुन्यायसिद्धिः ॥५॥

सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरम् ॥ १ ॥

भेदरशब्दान्तराद्यैर्विधिषु नियमितः कर्मकाण्डे द्वितीये
संयोगार्थक्यतोऽन्यत्समुद्ध्यनियतात् सैव विद्यासु नीतिः ।
आदौ तेनैव शास्त्रान्तरनयमुदितं बोधनावेरमंदा-
च्छ्रुत्यैवाशिष्य भूयः प्रतिसमधिगतं भेदकान्यार्थतोऽन्त्या ॥६॥

शाखास्तु प्रक्रियान्या भवणमपि पुनर्दृष्टमत्राविशेषं
विद्याभेदस्ततस्स्यादिति न तदुभयं युक्तमध्यतुभेदात् ।
तेषामेवेति वाक्यात् कचिदुपजनिता भेदशब्दा त्वयुक्ता
स्याध्याये ब्राह्मविद्यापदमिदं हि मवेत्तद्व्यतेनान्ययोक्तेः ॥ ७ ॥

रूपैकवादैक्यसिद्धौ किमितरदुपसंहार्यमन्यो गुणश्चेद्-
भेदो न स्याद्विकल्प्यं तदिह किमफलातेन चिन्तेति चेन्न ।
वेद्याकारैक्यमेक्यं दिशति तदधिकं किंचिदाकृष्यतेऽङ्गं
कर्मण्यप्येकमेव ह्युपहृतिविषयो भेदकांशातिरिक्तः ॥ ८ ॥

—(अन्यथात्वाधिकरणम् ॥ २ ॥)—

प्राग्वच्छास्त्रविभेदेऽप्युपशमितभिदा तादृगुद्गीथविद्या
स्यादेका चोद्गीथैस्तदुद्गीथमयथा रूपभेदोपलभ्येः ।
गाता गेयं च गेये सकलमसकलं चेति वैषम्यसिद्धौ
शेषाभेदोऽप्यभेदं न गमयति भिदा त्वेकभेदेऽपि सिद्धयेत् ॥ ९ ॥

छन्दोगोद्गीथशब्दस्तद्व्ययधपरः प्रक्रमाविप्रसिद्धेः
कृत्स्नोद्गीथामिधायी प्रकरणनियमाभावतो वाजिनां स्यात् ।
उद्गीथोक्तिश्च नैषामुपचरणवती गातरि प्रक्रमस्या
तत्कर्त्रा साधनीये द्विपदुपशमने तत्फलत्वोक्त्यवाधात् ॥ १० ॥

यद्यप्यब्रह्मविद्या परपरिभयनागैहिकार्थप्रयुक्ता
न ब्राह्मा मोक्षशास्त्रे तदपि समतया तत्परीक्षेति केचित् ।
काम्या विद्याभ्यनिष्ठव्यपनयनमुखैर्ब्रह्मविशोऽयुक्तै-
स्तत्तत्साध्यप्रभेदैर्भवति समुचितालोचनेत्याश्रुत्ये ॥ ११ ॥

अद्यातब्रह्मतत्त्वः कथमिद्य विमृशेत् कुत्रचिद्ब्रह्मवर्ति
तस्मात्तत्तादृशीनां समुचितमगतेरत्र मीमांसनं स्यात् ।
आदद्भ्युः कर्मणां च स्वकलपितरणे वीर्यवत्यातिरेकं

धर्मानन्धामिधानं तदुभयवचनं चेति परमन्नि केचित् ।
 ज्ञानोक्तौ चैयमेतत्तदितरसमता यावतास्यान्न शङ्कया
 तावद्धर्मानुवृत्तिर्वदुभयज्ञाने धर्मणि स्थाप्यतेऽत्र ॥१॥

—(अथ कार्याख्यानाधिकरणम् ॥ ५ ॥)—

आचामेदित्यपूर्वाचमनमिह विधेः प्राणविद्यायतस्या
 नैवं स्मृत्यादिसिद्धे परमनुविदिता प्राणयासस्त्वदृष्टिः ।
 मुञ्जीतेत्यादिनीत्या विधिरपि घटने प्राप्तघात्यर्थनिष्ठः
 प्रागुक्ता प्राणविद्या तदिदमयसरे चिन्तितं त्वद्गमस्याः ॥१६॥
 आदायन्ते च यासः परिधिरभिहितो मन्यतिश्चात्र दृष्ट्यै
 सा चाराध्यप्रियार्था स्तुतिरिदं न भवेद्गत्वभावाभिनन्द्या ।
 युक्तश्चापूर्वभावात् परिदधतिगिरा तद्विधानामिसन्धिः
 प्राणश्चाराधनीयः परिहितवसनो युज्यते सङ्गिरद्भिः ॥२०॥

—(अथ समानाधिकरणम् ॥ ६ ॥)—

शालैक्येऽध्येतृभेदो न भवति न गुण- कश्चिदन्यो विधेय-
 स्तस्मादुक्ताविशेषध्वन्यमिह पुनः किं न विद्यां विभिन्नात् ।
 मैवं यद्यप्यनूक्तिर्न तु गुणविधये कल्पते स्यात्तथापि
 द्यत्तयै सौकर्यतश्च न्यसनसमसनन्यायतस्त्वैक्यसिद्धेः ॥२१॥
 छन्दगैर्वाजिभिश्च स्फुटमनुपठिता भाति शाण्डिल्यविद्या
 भेदाभेदायमर्शस्त्विह किमिति न सन्दर्शितो भाष्यकारैः ।
 तद्ग्रन्थो यत्रयत्राधिकपरिपठनं तत्रतत्राधिकाना-
 मन्तर्भावादियुक्तावनधिकमधिकं चेति साधारणोक्तोः ॥२२॥
 स्थानद्वन्द्वे यशित्वप्रभृतियिरदितावाजिभिस्तद्व्याघा-
 धीता शाण्डिल्यविद्या तदिह मिदुरता कल्पनीयेति चेन्न ।
 आरण्योक्तं यशित्वाद्यपि खलु यिततिस्सत्यसङ्कल्पनायाः
 साधीतान्नेरहस्येऽयधिकविरहतो नात्र विद्यैक्ययाधः ॥२३॥

—(अथ सम्यन्धाधिकरणम् ॥ ७ ॥)—

अद्यादित्योपलक्ष्ये भगवति भजनं चोदनादेरमेदा-
देकं स्यात्तेन नाम्नोरनियतिरिति न स्थानतो रूपभेदात् ।
स्थानं तत्स्थत्वबुद्ध्यै ह्युपदिशति न चेत् स्यान्नरूपातिदेश-
स्तस्मादकार्त्तियोगादहरहमिति तन्नामनो स्थापनीये ॥२४॥

—(अथ सम्भृत्यधिकरणम् ॥ ८ ॥)—

सम्भृत्यादिर्गुणीधः प्रकरणपठनाभायतस्तर्धविद्या-
सन्धीयेतेति चेन्न क्वचिदगतिकतो लिङ्गतस्थापितत्वात्
अल्पस्थानास्तु विद्यास्यघटितवतुपस्त्वोचितस्थानवृत्ते-
र्घुध्याप्तेरेकमन्त्रे सद्वपठनघशात् तत्समस्थानितोऽन्ये ॥२५॥

—(अथ पुरुषविद्याधिकरणम् ॥ ९ ॥)—

आख्यायिकादभेदः पुरुषविषययोर्विद्ययोरित्ययुक्तं
यदाद्याकारवत्प्लेतिह विषमतया रूपभेदप्रसिद्धेः ।
सादृश्यात्तैत्तिरीये परभजनफलमुक्तिरत्राप्यनुक्ता
छान्दोग्ये पूर्वमायुः फलमिति तु तयोर्माति संयोगभेदः ॥२६॥
स्पष्टे रूपादिभेदे हठममुपनतो नामसाम्यादिमात्रात्
पुंविद्यापूर्यपक्षां मृदुरिति विफलाऽधिक्रियैवेति चेन्न ।
अन्यैव न्यासविद्या प्रकरणपठिता तद्विधानप्रधाने
त्यस्मात्तन्त्यादिदिग्गै विभजनमनयोरित्यतीवार्थवत्त्वात् ॥२७॥
यशेयं यज्ञदृष्टिः परविदि पुरुषे चोद्यते सानुयन्ये
यज्ञस्यानङ्गभूतं कथमिह विधिधं कल्प्यते तत्रतत्र ।
तस्मान् प्रकान्तविद्यास्तुतिरियमुचितेत्याहुरेकेऽन्यथाऽन्ये
निष्ठम्येतद्दिग्धाणि प्रकृतमुद्यदिता सम्प्रदायस्तु विन्त्यः ।

—(अथ वेधाणधिकरणम् ॥ १० ॥)—

युज्येरन् ब्रह्मविद्यापरिसरपठिताश्च न इत्यादिमन्त्राः
तादर्थ्यात् सर्वविद्यास्थिति न तदुदिताधीतिशेषत्वलिङ्गात् ।
नो वेदन्येऽपि तद्वत् सविधपठनतस्सन्तु शुक्रं प्रविध्ये-
त्येयंप्रायास्तद्वर्था न च घटत इदं जिज्ञातो दुर्ध्वस्तयात् ॥ १६ ॥

—(अथ हान्यधिकरणम् ॥ ११ ॥)—

शाखे द्वे मुक्तिभाजः कचन कथयतः पुण्यपापप्रदानम्
मूलेऽन्या तत्प्रवेशं प्रियतद्वितरयोर्वायसंक्रान्तिकाले ।
दानं चोपायनं च क्वचिदिति पृथगाम्नातसंपर्कसिद्धि-
वाक्यं शास्त्रान्तरस्थम्भवति हि विविधाकारुक्त्या वाक्यशेषः ॥३०
इत्थं ब्रह्मकर्मसंज्ञनमितरसंक्रातिसम्युक्तमस्तु
स्याच्चिन्तायां व्यवस्था पृथगनुपठनादित्यसत् फलसिद्धौ स्स्थ्यात् ।
सर्वेषाम्मुक्तिभाजां द्वितयमपि यथोपास्ति सादृश्यं समानं
तच्चिन्तासौ तथा तन्महिमिवद् इति स्थापनीयोभयत्र ॥३१॥
कर्त्रा तेनैव भोग्यं शुभमितरविति स्थापितं कर्मकाण्डे ।
तस्माद्ब्रह्म कर्म द्विपति सुहृदि वा नापतेदित्युक्तम् ।
विद्यामाहात्म्यतो यद्विगतमिति विदुषः कर्म तत्साक्ष्यतुल्यं
विद्वत्प्रद्वेषमक्त्योः फलमिति कथने वाक्यतात्पर्यसिद्धेः ॥३२॥

—(अथ साम्परायाधिकरणम् ॥ १२ ॥)—

कर्माद्वृत्तिर्मुमुक्षोः क्वचिदुपनिषति ध्रूयते साम्पराये
मार्गेऽन्यस्यां द्विधैवं शकलश इह तच्चिन्तनं चास्तु मा मूत् ।
नह्युक्तं कर्मसादृश्यं पथि फलमथ गत्यर्थदेहानुवृत्ति
मुक्त्यै विधेयं कुर्याद्वदतिवचने पाठतोऽर्थो यत्नी च ॥ २३ ॥
निश्शेषं कर्म नश्येदिह यदि विदुषस्स्थूलदेहान्तमात्रे
विधाम्येत्तस्य तावद्विरभिति हि यच्चो मोर्ध्ववत्यं गतेस्स्यात् ।

गत्या सम्पद्य चाधिर्मयनमिति न सम्प्रोभवीतीत्युक्तं
स्याद्धीसङ्गोचमात्रस्थितिकृदनुगतस्त्वन्मसंस्कारयोगः ॥३४॥

—(अथानियमाधिकरणम् ॥ १३ ॥)—

पन्थास्स्यादर्विरादिः फलमिह निखिलब्रह्मविद्यासु मा या
प्रारम्भाधीतियोगात् प्रकरणनियता तस्य चिन्तेति चेन्न
सर्वासां तत्र इत्थं विदुरिति घञसाऽथात्र येचेति चोक्त्या
मार्गे साधारणेऽस्मिस्तदनुसरणतस्तद्वेदास्य चिन्ता ॥३५॥

देयोपावेयमार्गद्वितयमुपदिशन्मुक्तिदाता मुमुक्षो-
र्योगी यः कञ्चनैतत्सरणियुगलधिन्मुह्यते नेत्यगायत् ।
तस्माद्स्मादशाधीत्यविशदविशदीकर्तृवाक्यावमर्शान्
ब्रह्मप्राप्त्यर्हकृत्स्नप्रणिहितघटितं मार्गचिन्ताविधानम् ॥३६॥

ज्ञानाद्वैरर्विरादेरपि किमभिहितं चिन्तनं सूत्रकारै-
र्विद्याकृत्याश्लिष्यते यदि भवतु तदाऽनन्तरे पाद पतत् ।
मैवं विद्याकृतायामपि भजनमिवेवं च धीत्याविशेषात्
कर्मादिभ्यो विमर्कं कथयितुमिह तत्सूत्रं स्थानपाति ॥३७॥

—(अथाक्षरभ्यधिकरणम् ॥ १४ ॥)—

यस्यामस्थूलतादिः प्रपठित उचितं चिन्तनं तस्य तस्यां
नान्यस्याम्मानदानेन यदि नियमनं कस्य कुप्रेति चेन्न ।
हेतुत्वोन्मेयदोषव्यपनयनमिह ब्रह्मविद्यासु सर्वा-
स्वानन्दाधिक्रियोक्तक्रमनियमितमित्यस्य सार्थत्रिकत्वात् ॥३८॥

सत्यत्वाद्यैस्वरूपाय गतिरभिदिता सत्यविद्यानुवृत्त्या
भूयस्तत्तुल्यधर्मेऽधिकरणमिदं स्याद्वृत्त्यैवेति चेन्न ।
कैश्चिज्ज्ञातस्वरूपे क्वचिद्वितरगतं किञ्चिदन्यन्निषेधं
व्यावृत्त्या न स्वरूपाय गतिरत इति प्रेक्षणस्यात्र रोधात् ॥३९॥

व्यायर्त्यागन्त्यतस्तद्व्युदसनमपि हि स्यादनन्तन्ततस्त-
चिन्ता किञ्चिज्ज्ञसाद्वया जलधितरणवस्रोपदिश्येत मैवम् ।
तत्तत्सामान्यधर्मानुगमकयलिताशेषभेदोपदेशे
तादृक्चिन्तोपपत्तेरनवममिति वा गृह्यतां संगृहीतिः ॥४०॥

—(अथान्तरत्वाधिकरणम् ॥ १५ ॥)—

सूत्रस्वारस्याभावात् प्रथममसुभृतः पूर्वपक्षे निवेशः
सिद्धान्ते ब्रह्मणश्चेत्यधिकरणगतिस्तोकशङ्कापनुत्त्यै ।
साक्षाद्ब्रह्मेति वाप्यद्वयमयसृशतामन्यशक्यै न स्या-
दित्यालोच्यथा भाष्ये परविषयतया पूर्वपक्षोऽप्युपात्तः ॥४१॥
यत् साक्षादित्यमुष्मिन् भ्रुतिशिरसि परं ब्रह्म चेद्यं यदेवे-
त्येतस्मिन्नास्त्यथापि प्रतिवचनमिदा तत्र रूपं भिनत्ति ।
विद्याभिप्रष्टृभेदोऽप्ययमिति यदि नानूय भूयोऽनुयोगात्
पश्चादुक्तञ्च दोषात्पय इह न भिदां सौति साधारणत्वान् ॥४२॥
सद्विद्यायां तथा हि प्रतिवचनमिदा प्रश्नभेदानुसारा
द्विगैकत्वे विशेष्यं प्रकटयति परान्देवतामेव तत्र ।
तेनोपस्यः कदोलभ्युनमपि स च तत्संभृतं संकल्प्य
ध्यायेतां ब्रह्म सर्वान्तरमिति फलवत्तत्र सब्रह्मचर्यम् ॥४३॥

—(अथ कामाद्यधिकरणम् ॥ १६ ॥)—

आकाशं ताण्डिनस्तच्छ्रयितमधिजगुर्वाजिनस्तेन विद्या
मियोत्तात्रेति चेन्न द्विविध इह यतो ब्रह्मनिर्देश एव ।
सर्वाधारत्वपूर्वैः परतरविषयस्तामगाकाशशब्दो
विश्वेशाधारतोक्त्या नुपिरविषयताऽन्यत्र रूपन्तु नान्यत् ॥४४॥
चन्द्रोमानामुपास्यं प्रथितमिह गुणैरष्टभिर्ब्रह्म जुष्टं
तथान्येषां वशितवप्रभृतिघटितमित्यस्तु रूपस्य भेदः ।
मैवं यत्तद्वशित्वाद्यपि तदिह मिदा सत्यसद्व्युत्पत्तायाः

इत्यैकाग्र्यं निरुद्धं परमपि बहुरोपासनन्तद्वयम् ॥४५॥
 नन्वाकाशो गुणार्थैः परइतिदहराधिक्रियायां पुरोक्तं
 तस्माच्चान्यार्थशङ्केत्यधिकरणमिदं नाञ्जिहीतेति चेन्न ।
 व्योमातीतं निमित्तं दहरमिदमुपादानमित्युद्गुणन्तः
 पूर्वं क्षिप्ताः प्रसङ्गात् पुनरपि गमिताच्छिन्नमूलत्वमत्र ॥४६॥

—(अथ तन्निर्धारणानियमाधिकरणम् ॥ १७ ॥)—

उद्गोथादौ क्रियाङ्गे मञ्जनमपि भवेत् पर्यताद्युक्तीत्या
 कर्माङ्गन्तत्फलोक्तिस्त्विह नुतिरिति गोदोहनन्यायभङ्गम् ।
 स्वर्गादीनांफलत्वं क्रतुषु तदधिको ह्यत्र धीर्यातिरेकः
 पर्यत्यादौ न याप्यं वदति करणतां कर्म चाहानुपास्तौ ॥४७॥
 उद्गीथे प्राणदृष्टौ क्रतुघटितफलादन्यदुक्तं फलन्तत्
 स्वीकृत्य प्राग्विचारः स्थिति इति विदितः पूर्यपक्षोऽत्र मैवम् ।
 अत्रत्येऽनङ्गभावे स्थिरनिश्चितधियस्तत्र धियैक्यशङ्का
 त्यक्त्वाङ्गानङ्गभावौ पृथगपृथगिति स्याच्च पूर्वत्र चिन्ता ॥४८॥

—(अथ प्रदानाधिकरणम् ॥ १८ ॥)—

कामानेतांश्च सत्यानिति वचनबलाद्धर्म्युपास्तेर्विमक्ता
 धर्मोपास्तिस्तदर्थं गुणिपरिगणनं तन्त्रतोऽस्त्वित्युक्तम् ।
 तत्तद्वैशिष्ट्यमेवात् प्रतिविधिगुणिनश्चिन्तनावृत्तिरर्था
 राजत्याद्यैः पृथक्त्याद्वयति हि इविपो दानमावृत्तमिन्द्रे ॥४९॥
 तत्तद्भागप्रतीतेर्गुणघटितपरोपासना भोगहेतु-
 मुक्तिश्च स्यात् क्रमादित्यसद्वगुणयवस्यान्यपर्याभिधानात् ।
 शास्त्रेऽस्मिन्नासमाप्तेः क्व फलमभिहितं निर्गुणोपास्तिसादृश्यं
 नोच्छास्त्रं च प्रकल्प्यं गुणनियमनतः स्यातिमांश्चैव पादः ॥५०॥

प्रत्येकम्भेलनाद्वा बहुरपगुणगणेऽप्यत्र संचिन्तमाने
 गुण्यावृत्त्यर्थलब्धेः कथमिह तदनावृत्तिशङ्केति चेन्न ।

बुद्धयारोहे गुणानां यदवधि गुणिनां रूपमर्थ्यं ततोऽन्यत्
विशैकान्तन्तश्चावृत्त्यनुपदिततदावृत्तिचिन्ताप्रवृत्तेः ॥ ५१ ॥

—(अथ लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणम् ॥ ११ ॥)—

प्रक्रान्ता दद्वयिद्या प्रकटमुपरि च ध्यायते तैत्तिरीये
तस्मादूर्ध्वानुवाकः प्रकृतधिययनिर्द्धारणार्थोऽस्तु मैवम् ।
तत्तद्विद्योदितैस्तैः परमिह पुरुषं प्रत्यभिज्ञाप्यशब्दैः
स्तस्मिन्पारायणत्वं वदन्धिकचलं प्रक्रियातो हि वाक्यम् ॥५२॥

वाक्यैस्सर्वार्थतायां नृहरभजनमप्यत्र भागीति सार्थ-
स्तल्लिङ्गोपेतभागो न च बहुभिरलं योद्धुमेकं कृतार्थम् ।
नैकस्यास्योपकुर्यात् प्रकरणमलसं किंच सर्वोपजीव्ये
तस्य तात्पर्यमत्र स्फुटमिति वितथा तत्परित्यागफलतिः ॥५३॥

आत्मैक्यं देवतैक्यं त्रिकसमधिकता तुल्यतैक्यं त्रयाणा-
मन्यत्रैश्वर्यमित्याद्यनिपुणफणितीराद्रियन्ते न सन्तः ।
अव्यन्तैरेककण्ठैस्तन्नुगुणमनुन्यासमुखशोक्तिभिश्च
श्रीमाधारायणो नः पतिरलिलतनुर्मुक्तिदो मुक्तभोग्यः ॥५४॥

—(अथ पूर्वविकल्पाधिकरणम् ॥ २० ॥)—

अङ्गं पूर्वप्रसक्तोष्टकचित्तसमुपस्थापितस्य क्रतोस्स्यात्
बुद्धयात्माऽभिर्मनश्चित्प्रभृतिरपि यथामानसं द्वादशाहे ।
तत्कार्यस्यातिदेशादिति न सदुद्दिनो ह्यत्र विद्यात्मकोऽङ्गो
श्रुत्याद्यैरेव तस्मिन्नुपकृतिसमताबोधनार्थोऽतिदेशः ॥५५॥

कल्प्या ह्यत्र क्रियात्मा क्रतुरपि तदपि प्रागुपात्ताङ्गशक्त्या
वाक्यस्थैश्चानुबन्धैरिह समुपनतो भानि विद्यामयस्तु ।
दूरस्थाकृष्टयोगात् स्वचचनपठिताकुष्टयोगोऽपलीया-

नप्राप्तेऽर्थे विधिर्ध्वं ह्यनुचदनसमेऽप्याधितं तद्वदत्र ॥५६॥

—(अथ शरीरेभावाधिकरणम् ॥ २१ ॥)—

तत्कालाकारिणस्यावहमिति भजने कञ्चुकस्यात्मनोर्धो-
 रासक्तेर्मांमुपास्थेत्युदितवदिति चेन्नान्यथा संनिकर्षात् ।
 शुद्धो ह्यात्माऽत्र सादृश्यः फलमतिरविनाभाविनी योद्भृकुत्स्ये
 युद्धपासन्नेऽन्तरङ्गे सति विधिनियता तत्कृतुन्यायसिद्धिः ॥५७॥
 कर्तुर्भोषतृत्यमात्रं गणयितुमुचितं दृष्टमोगार्थयत्ने
 स्वर्गाद्यर्थेऽन्यदेहानुगतिरपि परं स्याधिकारानुविद्धा ।
 मुक्त्यर्थे प्राप्यवस्थाप्रणिधिकथनतस्तत्कृतुन्यायधाचा
 चिन्त्यस्य प्राप्यतार्थो गमित इति कुतोऽतिप्रसङ्गादिशङ्का ॥५८॥
 विद्याभेदेषु वेद्याकृतिविषमतया यावदुक्ते विचिन्त्ये
 प्राप्यं सर्वोपपन्नं तत्र इह कथमप्राप्यचिन्तानिषेधः ।
 नस्माद्वदस्य चिन्तास्तिथि न कलुषितो न ह्यहंशब्दमुख्यः
 प्राज्ञापत्त्यास्तु वाक्यादकलुष्यदशया भावनीयत्वसिद्धिः ॥५९॥

—(अथाज्ञावबद्धाधिकरणम् ॥ २२ ॥)—

उद्गीथादेर्विशेषे भजनविधिरसौ स्यात् स्वप्नानिध्यगीते-
 र्धं सर्वाङ्गभूतकतुमुखन इहाशेषसांनिध्यसिद्धेः ।
 स्नामान्यं व्यक्त्यपेक्षक्रियमपि नियमादर्शने ग्रीहिताव-
 च्छब्दप्रचोद्गीथमात्रं यदनि न तु भिदां द्वागनीतिस्तु नात्र ॥६०॥

—(अथ भूमज्यायस्त्वाधिकरणम् ॥ २३ ॥)—

व्यस्तो धैभ्यानरात्मा प्रनिनियनफलोदाहृतेऽध्वन्तनीयः
 न्नोपास्तौ फलोक्तिस्तुतिरिह यत्रि या कृत्स्नरूपोऽप्युपास्तः ।
 मैथं व्यस्तेषु दोषः पृथगनुकथितस्तत्फलोक्तिस्तुतिसंन्या-
 द्दृष्टं तदष्टकपालप्रभृतिषु च तथा तेन चिन्त्यस्समस्तः ॥६१॥
 सामस्त्यस्यैव योगे ब्रह्ममवति महायाक्यतात्पर्यवृत्त्या

व्यस्तेमेप्यंशाननूद्य स्तुतिनियतनयादान्यपर्यं फलोक्तेः ।
नामादीनानुपास्तौ फलमवधियताऽपेक्षितं भूमथाक्ये
नाप्येवं प्रत्यवायश्भुत इति विषमोदाहृतिर्नार्थसिद्ध्यै ॥ ६२ ॥

—(अथ शब्दादिभेदाधिकरणम् ॥ २५ ॥)—

सर्वासु ग्रह्य चेयं फलमपि खलु तद्ग्रह्यविशेषेति चाख्या
ध्यानाद्युक्त्येकलक्ष्ये विधिरपि भजने सर्वविशैक्यमित्यम् ।
तद्याख्यारूपभेदासदुपहितविधौ तेन वैशिष्ट्यसिद्धे-
र्मिधम्मन्वादिविद्याफलमिदं च पृथक्काम्यविद्यासु चैवम् ॥ ६३ ॥
नानाशब्दादिभेदादिति कथमवदत् सूत्रकृच्छ्रव्यसाम्ये
नह्येते यागदानादय इव भिदुरा भक्तिविधान्तिसिद्धेः ।
सत्यं शब्दस्य भेदस्त्वयमुपचरितो रूपभेदद्रष्टिम्ना
ज्ञानं यथाविधेयं करणमिह जगुस्तस्मिन्नासेऽभिसन्धिः ॥ ६४ ॥
यद्या शब्दादिभेदादिति तु कथयता सूत्रकारेण सम्यङ्-
न्यासोपासे विभक्ते यजनद्वयनच्छब्दभेदादभावात् ।
आख्यारूपादिभेदश्भुत इतरसमः किञ्च भिन्नोऽधिकार-
श्शीघ्रप्राप्त्यादिभिस्स्यात् जगुरिति च मधूपासनादौ व्ययस्थाम् ॥

—(अथ विकल्पाधिकरणम् ॥ २५ ॥)—

ज्योतिष्टोमाग्निहोत्रप्रभृतिवदधिकानन्दसिद्ध्यै समुच्चि-
त्यैतास्त्युग्रह्यविद्या न च भजनविधिः कश्चिदेकं प्रति स्यात् ।
कतुर्न्ताः कालभेदे क्षममिति न मिथोयासनास्थैर्यवाधात्
सम्पूर्णग्रह्यलक्ष्यै पृथगिह च विधिः प्रायणान्ते समाधौ ॥ ६६ ॥
रूपादीनां विशेषैर्ननु परमभजनन्नैकरूपं विभक्तं
सामग्रीभेदस्तत्फलमपि विषमं सम्मतन्यायतस्स्यात् ।
न स्यात् सर्वासु विद्यासुपि हि फलतया वक्ष्यते मोगसाम्यं

प्राप्यैष्यं च प्रसिद्धं बहुसरणिज्जुषां लोकतो वेदतश्च ॥ ६७ ॥

—(अथ यथाश्रयभावाधिकरणम् ॥ २६ ॥)—

तत्तद्विशासु तादृक्फलतरतमतां वारयित्वा प्रसङ्गात्
प्रागुक्तोद्गीथविद्याफलमथ पुनराक्षिप्य गाढीकरोति ।
मामृदुक्तं स्ववाक्ये फलमिदं तु न सा पर्यामय्यादिनीतिः
स्पष्टा खल्वत्र विद्याफलकरणतया वर्तमानोक्तितोऽपि ॥ ६८ ॥

तादर्थ्यं नात्र कर्मधुतिरयमयेदाध्यात्मममात्रा-
द्विद्याद्धानौ च युक्तं प्रतिविधियचनं तत्फलार्थप्रसङ्गे ।
तारे सौपासनेऽस्तु स्तवनमनुगवाप्तावता सातु नाङ्गं
प्राग्वक्तव्यस्य हित्या वच इदमुपरि स्थापनीयप्रसक्त्यै ॥ ६९ ॥

विद्यैष्योद्गीथविद्याद्वितय विभजनप्राणविद्यैकभावा-
स्सर्वास्थानन्दातदेर्गुणिवदनुगतिः प्राणवासस्त्वदृष्टिः ।
शाण्डिल्यैष्यं विभज्य स्थितिरहरद्वयोस्सम्भृतेस्स्थानसीमा
पुंविद्याया विभेदोऽभ्यननियततो शश्रुत्यादिकानाम् ॥ ७० ॥

दानाश्रन्योन्ययोगस्तदुचितसमयो देवयानाविसाम्यं
सर्वत्रास्थूलतादिष्यतिहरणमथानेकशिष्यधुतानाम् ।
द्वयोपास्त्येकभावो गुणफलविधिरुद्गीथमाधित्य दृष्टौ
गुण्यावृत्तिर्गुणार्था निखिलपरत्तरोपास्तिवेगावसायः ॥ ७१ ॥

विद्यारूपा मनश्चित्तप्रभृतय उचितज्ञानरूपकतुस्थाः
क्षेत्री शुद्धोऽनुचिन्त्यः क्रतुगुणसकलोद्गीथपूर्वेषु दृष्टिः ।
सामस्त्येनैव यैभ्यानरमजनमथानेकविद्योपपत्ति
मोक्षार्थानां विकल्पः पुनरनियतिरुद्गीथदृष्टेरिदोचे ॥ ७२ ॥

इति श्रीकवितार्किकसिंहस्य सत्यतन्त्रस्वतन्त्रस्य भीयद्वेष्टनाथस्य
वेदान्ताचार्यस्य कृतिषु अधिकरणसारावल्यां
तृतीयस्याध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

—(अथ तृतीयस्याध्याय चतुर्थः पादः ॥)—

उपोद्घातः ॥

कर्म प्राप्तिवन्तयित्वा ननु परममथ ब्रह्म जिज्ञास्यमुक्तं
पादे विनाशकृतोक्तिः पुनरिह वितथाऽनेकधा त्याज्यतोक्तेः ।
मैवं कर्मैव तत्तद्गुणयुतविनियुक्त्यन्यभावेन भिन्नं
विद्यानिष्पत्तिहेतुः किमपि च सुकृतं स्याद्विवृत्तैकसंशयम् ॥१॥
त्यागः काम्यक्रियाणां फवचन परविदः फवाप्यनर्हक्रियाणां
स्वैकाधीनत्वबुद्धेः फविदनुपधिकस्वार्थबुद्धेश्च गीतः ।
अत्राहिसादिकानामघविहतिकृतां सर्वसाधारणानां
ब्रूते वर्णाश्रमादिप्रतिनियतिमतामप्युपास्त्यङ्गभावम् ॥२॥

—(अथ पुरुषार्थाधिकरणम् ॥ १ ॥)—

कर्तात्मा कर्मणांयस्तदधिकमिह न ब्रह्म तस्माभ्यस्वादी
तद्बुद्धयै योपयुक्तास्त्युरुपनिषद् इत्यर्थमीमांसकोक्ती ।
जीवान्यब्रह्मचिन्तात्मकमजनविधौ कर्मणामङ्गभावं
प्राह त्रिसान्यलिङ्गः क्लृपशमनतस्सत्त्वसंयुक्तैकानाम् ॥ ३ ॥
पादैरत्रैवमेकादशभिरपि परं ब्रह्म वेद्यं निरुद्धं
भूयः किं बुद्रलिङ्गैर्गंगनलिपिभिः क्षोभ्यते ब्रह्मविद्या ।
सत्यं सत्तादृगरूपभुतमतिकलद्वारासितच्छात्रडिम्भ-
स्तोमक्षेमाय जैमिन्यद्वयकथितं पञ्चमुत्तिष्ठत्य हन्ति ॥ ४ ॥
कुर्यन्नेवेति याक्यं परविदि नियतान्वारतांकिस्सहस्येऽ-
न्यारम्भो धीक्रियाभ्यामपि न नियमयेदङ्गतामङ्गितां वा ।
विशाण्यै क्रियाणां करणमनुबद्धाक्यमन्यार्थमुक्तं
नह्यंतद्ब्रह्मविद्यामनुववति नचोद्गीथविशाक्रियाङ्गम् ॥ ५ ॥
स्याध्यायप्राप्तये हाव्ययनमुदितमाधानयप्रोत्तराङ्ग

विद्याङ्गं चार्थबोधो भवतु यदधिका सा स्वरूपैः फलैश्च ।
 नित्यात्मज्ञानमात्रं क्रतुषु नियमतोऽपेक्षितं नान्यविद्या
 काम्यत्यागरसप्रविद्ये कथमिह भविता साहि यद्यङ्गमेवाम् ॥६॥
 नाङ्गं विद्या मखादेर्नहि तदधिकृतेष्वेव तामामन्ताम-
 स्यात्तत्तत्कर्मणां सेत्यपि न बहुविधाद्वैपरीत्योपदेशात् ।
 आवासैरुर्ध्वरेतोविधिरपि पठितोऽनूयतेऽन्यैश्च तस्मात्
 प्राप्तिप्राप्ताऽन्यथापि स्वयमिह तु विधिस्तन्निषेधस्तरागे ॥७॥

—(अथ स्तुतिमात्राधिकरणम् ॥ २ ॥)—

ब्रह्मादिस्तोत्रनीत्या भजतु रसतमाद्युक्तिरङ्गस्तुतिस्त्वं
 मैवं तत्तद्विधानप्रकरणरहितापूर्वनिर्देशयुक्तेः ।
 तत्तद्दृष्टैर्विधानं विविधमिह समालक्षितैतत्समीपे
 तेनानन्यार्थशिष्टे फलयति च विधिर्युज्यते कल्प्यमानः ॥८॥
 किञ्च प्राप्तेरभावात् सन्नुवदनं नाधिरोष्य स्तुतिर्वा
 युक्ता विध्येकयाक्यं गतिरियमगतेस्सात्र नासकिहानेः ।
 उत्कर्षं कल्प्यते चेदगतिकधिपये तत् प्रसङ्ग प्रसङ्गं
 मध्ये विद्याविधानां वचनमिदमिति स्यात्तु विध्यर्थमेतत् ॥९॥
 विध्यर्थत्वेऽपि युक्ता स्तुतिरियमसतः कीर्तनावित्ययुक्तं
 दृष्ट्युद्देशेऽतिचारादथ च विशयनं स्यादिति त्वर्भकोक्तिः ।
 नित्येऽस्मिन्नप्रमाणं प्रसजति निगमो युक्तिवार्थत्वपक्षे
 त्यित्थमाये युमुत्स्ये यच्च इह फलवद्दृष्टिविध्यर्थमेव ॥१०॥

—(अथ पारिप्लवाधिकरणम् ॥ ३ ॥)—

विद्यास्याख्यानभेदा विधिमहिमभृतास्सन्तु पारिसवार्था
 न स्युर्विद्याविधानैः प्रकरणपठितैरेकयाक्यत्यदृष्टेः ।
 मन्वाद्याख्यानमात्रं भवति च कथितं तत्र पारिसवार्थं
 तेनाकाङ्क्षानिवृत्तौ न तदधिकपराख्यानतादर्थ्यकक्षतिः ॥११॥

—(अथामोन्धानधिकरणम् ॥ ४ ॥)—

यथादेरङ्गमायास तदनधिकृतेष्वङ्गिनोऽधिक्रिया स्या-
द्विगैयनोर्ध्वरेतस्त्विति न बहुविधस्याधमाद्गार्हतांके ।
विद्यायोगश्चतुर्णां विधिरपि च समश्भूयते स्मर्यते च
प्रायेणैचित्यमृन्ता मुनिभिरभिहितं कापि मोक्षाधमत्वम् ॥१२॥

—(अथ सर्वपेक्षाधिकरणम् ॥ ५ ॥)—

त्यक्ते यज्ञाविधर्मे परमज्जनविधेरूर्ध्वरेतस्तु दृष्टा
विद्या तेनानपेक्षा गृहयति च भवेदित्यनालोचितोक्तिः ।
यज्ञेनेत्यादिकामिश्रतिभिरवगता ह्यस्य सातत्प्रसाध्या
जिज्ञासार्थत्वबाधो जिगमिपति पदेत्यादिनीत्या निवर्त्यः ॥१३॥
नान्विच्छार्थत्वद्वानिर्जिगमिपति पदेत्यादिके गत्यभावा-
च्छ्रुत्युक्तेऽस्मिस्तथा नेत्यसदिह च यतो गत्यभावस्समानः ।
इच्छा स्याद्धीविशेषात्तदनुपजनने कर्मभिस्सा न साध्यया
जिज्ञासां प्राप्नुभिच्छोर्न च न भवति तज्ज्ञानसिद्धिः पुरैच ॥१४॥
नन्वत्रेच्छानुवृत्तिं प्रति विहितमिदं कर्म योज्यं ततः किं
नेच्छार्थं धीविशेषप्रजननमुदितन्तावता धारितं स्यात् ।
प्रानार्थं कर्मविध्यन्तरमपि विविधं नापलापक्षमं ते
निक्षयानन्यायतोऽनस्त्यनुवदति विदेरिष्टतां सन्प्रयोगः ॥१५॥

—(अथ शमदमाद्यधिकरणम् ॥ ६ ॥)—

यथादिव्यापृतत्वादिनिभूतकरणे सर्वकालं गृहस्थे
शान्त्यादीनामयोगात्तदितरनियतास्ते गुणा इत्युक्तम् ।
प्रव्रज्यादिस्त्रितानामपि तदुपधिकानं कथमर्थप्रवृत्ते-
स्तत्सर्वं सद्यने चेत् सह तदपि फलाद्यज्जनं चात्र तुल्यं ॥१६॥
प्रज्ञातस्यापराधाः प्रभुमनुत्पत्ते लोकसिद्धैरुपायै-
रात्मार्हैरर्चयन्तः कामशमितरुपस्तस्य सेवां लभन्ते ।

इत्थं नः शास्त्रसिद्धैरिदमनिवृत्तिमिति स्वाधिकारे विमलै
निष्प्रसूहः प्रसादो निरुपधिसुहृदः श्रीधरस्याधिगम्यः ॥१७॥

—(अथ सर्वाज्ञानुमत्यधिकरणम् ॥ ७ ॥)—

आहारस्य व्ययस्या न भवति यचनात् प्राणविद्याधिकर्तुः
सामान्यस्थो निषेधो पलयति हि विधी संकुचेदित्युक्तम् ।
अङ्गत्वेनाविधेयस्यादनुमतिवचनं प्राणभङ्गप्रसङ्गे
पश्यैतत्प्राणनिष्ठादधिकमहिमनि ब्रह्मनिष्ठेऽप्युपलब्धौ ॥ १८ ॥

—(अथ विहितत्वाधिकरणम् ॥ ८ ॥)—

यद्यादेः कर्मणो हि धृतिभिरभिदधे' ब्रह्मविद्यात्कृमाव-
स्तस्याद्ब्रह्मनिष्ठे तदननुसरणात् स्थैरितैवास्तु मैवम् ।
नित्यतयापि सिद्धेस्तदुचितविनियुक्त्यन्यभाधानुसारा-
सन्त्रं काम्याग्निहोत्राग्नादिवदिह परविहित्यवर्गेऽपि योज्यम् ॥१९॥

—(अथ विधुराधिकरणम् ॥ ९ ॥)—

दारात्लाभे विरक्तेष्वर्दिमनि च भयेदन्तरेणाश्रमान्य
स्तस्मिन्निशेषधर्मत्यजि भवतु कथं ब्रह्मविद्येति चेन्न ।
सामान्यैर्वर्णधर्मैर्गुणनियतियुतैस्माहि तत्रापि साक्षा
भीष्मादौ दृष्टमेतच्चरुति तु वृपले गत्यभावादभावः ॥२०॥

—(अथ तद्भूताधिकरणम् ॥ १० ॥)—

आरूढो नैष्ठिकादिप्रयमथ पतितस्तत्परावर्तनाथ-
स्तत्रापि ब्रह्मविद्या भवतु सहकृता १ तत्तदर्थैस्त्वधर्मैः ।
मैव यद्यप्यभीच्छन्त्युपपत्तनमिदं शोभनं चास्त्यनेकं
सर्वाहं कीर्तनायं तदपि तदुचितो नैव तादृङ्निषेधात् ॥२१॥
प्रायश्चित्तं वदन्ति सुपपन्नमहापातयोर्ब्रह्मयोगं
प्राप्ते पाते प्रमादाद्विदधति मुनयो योगिनां योगमेव ।

तस्मादाकृष्टपातेऽप्यधिकृतिरिति नाचोदनीयं हि शास्त्रं
यावज्जीवन्तु तन्निष्कृतिरिति नियमस्सूत्रकाराद्यभीष्टः ॥ २२ ॥

यो बालं हन्ति यः स्त्रीं शरणमुपगतं यश्च यो वा कृतघ्नः
प्रायश्चित्तैर्विशुद्धानपि जगदुरिमान् साधुसंसृष्ट्यनर्हान्
स्मृत्याचारानुसारादिह च गतिरियं दर्शिता सूत्रकारैः
शास्त्रं नशशासनीयं यदि भवति सदा संप्लुतो धर्मसेतुः ॥ २३ ॥

ब्रह्मांशत्वे समाने गुणविषमतया शुद्धगशुद्धिस्वभावे-
वेदैर्योगादनुष्ठापपरिहरणमपि प्रेक्षणस्पर्शनादेः ।
इत्येवं सूत्रितं प्राक् पुनरिह विधिधालेपकज्ञोभशान्त्यै
सम्भ्यज्ञातात्मनोऽपि स्वतनुसमुचिताचारतः प्रत्यबोधि ॥ २४ ॥

—(अथ स्वाम्यधिकरणम् ॥ ११ H)—

उद्गीथादावुपास्तिर्भवति हि फलिनो यज्वनैवात्र शक्या
तस्मात्तत्कर्तृकासाधिति यदि न परिकीतकर्माश्रयत्वात् ।
ऋत्विक्साह्वया यथान्ये गुणफलविधयोऽनूयते चैवमेवा
शक्यत्वं नाप्युपाधिर्विधिबलनियतेः स्वाभिभूत्यक्रमोच ॥ २५ ॥

—(अथ सहकार्यन्तरविध्यधिकरणम् ॥ १२ ॥)—

मन्तव्यस्य धृते सत्यं मुनिरिति पागस्तु तस्यानुवादः
कश्चिन्नह्यत्र दृष्टो विधिरिति न पुरा परिदृतत्वस्य लब्धेः ।
ऊहापोद्दार्ढ्यता हि श्रवणमनननोऽनन्तरं परिदृतत्वं
मीनव्याप्तिः प्रकृष्टे मनन इति विमो धारणाद्युक्तिरेवा ॥ २६ ॥

—(अथानविष्काराधिकरणम् ॥ १३ ॥)—

शिष्टं बाल्येन तिष्ठासनमपि विदुषो बालकृत्यन्तद्वस्तु
प्राप्तुं बालस्य भावो न तु सुशक इति स्वरितास्येति चेन्न ।
बुद्धारित्रादमुं नाविरत इति वचस्सन्निरुद्धे ह्यनोऽस्मि-
न्माहात्म्यं स्वनिगूहेदिति मुनिविहिते बाल्यविध्याशयस्यात् ॥ २७ ॥

—(अथ वैहिकाधिष्ठिताधिकरणम् ॥ १४ ॥)—

भोगार्थोपासनानां स्वजनकसुकृतैस्तत्क्षणादुद्भवस्स्यात्
स्वर्गादिस्तत्र देहे न घटत इह तु स्वान्तशुद्धयोपपत्तिः ।
स्नानप्रायत्यनीतिस्तत इति न पुरा विघ्नसम्भावकोकेः
कारीयादी तद्वर्हेस्सगुणविरचितेऽप्यस्ति विघ्नः कदाचित् ॥२८॥

—(अथ मुक्तिफलाधिकरणम् ॥ १५ ॥)—

अस्तवन्यत्रान्तरायः प्रबलतममिदं सार्विकत्यागयुक्तं
कर्म प्रोक्तं निवृत्त्याद्वयमिति सपदि ब्रह्मविद्यां विदध्यात् ।
मैथं तस्माद्ब्रह्मविद्यान्यदि भवति परब्रह्मभक्तापराध-
स्तच्छ्रान्तौ तत्प्रसूतिस्स यदि न भट्टिति स्यात् परोपास्तिलाभः॥
विद्यार्थत्वं क्रियाणां व्यभिचरणवशान्नेति शङ्कापतुर्यै
प्रत्यूहानां च तूयं प्रशमनमुचितं सर्वदेति प्रसिद्ध्यै ।
निष्प्रत्यूहस्य सद्यः फलमिति च सनां तोषहेतोरमुष्मि-
न्यादान्ते न्यासिगतामनितमविषयी शास्त्रकर्त्राधिकारी ॥३०॥
प्रत्यूहस्य प्रसङ्गः क्षम इति परयित्कर्मणां तद्विधृत्यै
भोगार्थोपास्तिहेतुष्वयमनुकथितः किं मुधाप्रेति चेन्न ।
काम्ये निर्विघ्नशुद्धया पनयि मतिरतस्तत्र वैराग्यभूम्ने
तत्प्रत्यूहप्रसक्तिर्भवति फलवती स्याच्च विद्यार्थकाम्यम् ॥३१॥
विद्या कर्माङ्गिका स्याद्रसतममुषधीभोदिता प्राप्तपमाया
दाख्यानानां च विद्यायिधिसविधजुषां तद्विधानार्थतैव ।
विद्या साङ्गोर्ध्वरेतस्सपि गृहवति सा यद्गदानाद्यपेक्षा
शान्त्याद्यहो गृहस्थोऽप्यत्रिपदि विद्युपोऽप्यद्यशुद्ध्यैव सिद्धिः॥३२॥
एकं विद्याधिमार्थं १विधुरमवियुतं विद्याद्वयच्युतं न
क्रयङ्गे पूष्टिभूत्स्विकृतिरथ मुनिना चोदिता ध्यानसिद्ध्यै ।

कर्मप्राधान्यमन्ये निजगदुरपरे मुक्तिमिच्छन्त्यसाध्यां
 सर्वे तेऽप्यत्र कर्माङ्गकभजनविधिस्थापनोक्त्या निरस्ताः ॥३१॥
 यद्दुःखं वर्तते तत्क्षणमिदुरतया न स्वयत्नोपरोध्यं
 नातीतार्थं च यत्नो न च सुपरिहरं भाविहेतौ समग्रे ।
 दुःखात्यन्तोपरोधे करणविधिरतो व्यर्थ इत्यर्थरम्यं
 प्रायश्चित्त्या कृतानां परमकरणतो दुःखसामग्र्यगोदान् ॥३२॥
 राजद्विष्टादि सर्पाद्यपि परिहरांस च्छुश्रूयं विमर्षि
 प्रायश्चित्ताप्रवृत्तौ फलति दुस्तिमित्येवमीदात्मदं च्छु ।
 उत्प्रेक्षाकृदभावापजयशमनतः स्योक्तिसाफन्यामच्छन्
 पश्यंश्चावाततिर्यग्भयचकितगतिं जांपमित्यं जुपस्य ॥३३॥
 साध्यं वा साधनं वा स्वविद्वत्विषयैर्दुर्निरूपं धदन्त-
 स्तद्वद किं प्रवृत्ताः किमिति च विदधत्यन्वहं भोजनादीन् ।
 मुक्तेर्नित्यत्यसिद्धया भजनमफलात्मन्यप्यसत् प्रागसिद्धेः
 साङ्ग्यास्त्वयानुयाज्यास्तकरणदशया नित्यमुक्तिं गृणन्तः ॥३४॥
 मोक्षाभाय मुधा स्यात् सगरिकरामवं साधनं चिन्त्यमानं
 मुक्तिश्चेद्भ्रान्तिसिद्धा भ्रम इह भविता यावदात्मस्वरूपम् ।
 क्षेत्रज्ञे नित्यमुक्तं कथयितुरफलः साधनाध्याय इत्थं
 प्रभवंसात्मा हि मुक्तिर्नयविदभिमतता सा तु भाव्यात्मिकानः ॥३५॥
 सन्तत्यात्मा कपालप्रभृतिबहुविधावस्थयान्यत्र नाजं
 धीसङ्कोचप्रणाशो विकसनमतथाभूतमात्रागमात् स्यात् ।
 मभ्यन्तेऽन्ये तु धाराचहनमतिनयात् सन्ततिर्मुक्तियुजे-
 स्सामग्री चेभ्वरेच्छा प्रभृतिसमुद्रयस्स्यान्नावृत्तिरेवम् ॥३६॥
 इति श्रीकवितार्किकसिंहस्य सर्वतन्त्रस्यतन्त्रस्य धीयद्वेकद्विनाथस्य
 वेदान्ताचार्यस्य कृतिषु अधिकरणसारावल्यां
 तृतीयस्याध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥
 ॥ समाप्तश्चाध्यायः ॥ ३ ॥
 श्रीमते निगमान्तगुरवे नमः

—(अथ चतुर्थस्याध्यायस्य प्रथमः पादः ॥)—

उपोद्घातः ॥

इत्युत्पत्तिक्रमेण प्रथममभिहितो मुक्त्युपायस्सहाङ्गै-
स्तत्साध्यं सूत्रकारः फलमथ विदुषः पर्यमेदैर्घ्यनक्ति ।
स्थूले वेदेऽस्य सिद्ध्येशविह वदति तत् पादयुग्मेन पूर्वं
निष्क्रान्तस्याथ यस्यात् परिगणयति तत् पादयुग्मान्तरेण ॥१॥

सूक्ता प्रागेव विद्या किमिति पुनरिमां वक्ति यद्यस्ति शेषं
भूतामेतद्य पूर्वं नहि तदिह फले संघटेतेति चेन्न ।
मुक्त्यैर्घ्यैरसिद्धिं प्रकृततदधिनाभावमासन्नसिद्धिं
मुक्तावस्थासमं च स्थिरमजनरसं व्यक्तुमशक्नुवन्धः ॥ २ ॥

आवृत्त्याधिकरणम् ॥ १ ॥

शुद्धैरुक्तपृथग्मैस्सदनपचरणे ब्रह्मविद्या भवित्री-
त्युक्तं पूर्वाधिकारे विमृशति तु परं तत्स्वरूपं यथायत्न ।
प्रत्यक्षं वा स्मृतिर्वा सकृद्वदमसकृद्वेति नोक्तं पुरस्ता-
त्पावज्जीवानुवृत्तिप्रभृति च तदिहापौनरुक्त्यं सुबोधम् ॥३॥

काः मुक्तेरुपायः भूतिभिरभिहितं तस्य संख्या त्वनुका-
सौकर्यस्यात् सकृत्त्वे स्यत इह च मयेशारितार्थं विधीनाम् ।
सम्यक्त्वसदभ्युपगमं न पुनरनुगमान् प्राक्तनित्यप्यसारं
सामान्योपदेशेनोपे सति पशुनयनस्तत्र विभ्रान्तिसिद्धेः ॥४॥

किंचानेन्यादिनस्या विदिरिह वदति ध्यानशब्दार्थमेव
ध्याने योगासमोक्तिः परमजनतया वक्ति संवाम्मकत्वम् ।
येकार्थं विद्युपास्यां विचारितवया भूयते च प्रयोगः
कार्यं हेतोर्वा च भक्तोः फलरूपचरितो भक्तिमेदत्वपादः ॥५॥





